

---

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj )

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

---

# आर्थिक विकास के सिद्धान्त

मूल लेखक  
डॉ. ए. आर. एड्स



राजवादेमंडल प्रकाशन

प्रकाशक .

एनकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड  
दिल्ली



प्रथम सम्पकरण

जुलाई, १९६०



© १९६२, हिन्दी अनुवाद,

एनकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली



मूल्य

११ रुपये



## प्रस्तावना

श्री ल्यूईस की पुस्तक इस विषय पर मौलिक विचार प्रकट करने के लिए नहीं लिखी गई इसका उद्देश्य तो आर्थिक विकास के अध्ययन के लिए उचित रूप रेखा प्रस्तुत करना भर है। विद्वान् लेखक को यह पुस्तक लिखने की आवश्यकता इसलिए महसूस हुई कि आर्थिक विकास के सिद्धान्तों में एक बार फिर दिलचस्पी ली जाने लगी है। पिछली एक शताब्दी से आर्थिक विकास पर कोई व्यापक ग्रन्थ सामने नहीं आया। इस विषय पर अन्तिम बड़ा ग्रन्थ जॉन स्टुअर्ट मिल का "अर्थशास्त्र के सिद्धान्त" १८४८ में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद अर्थशास्त्रियों ने इतने व्यापक विषय पर कोई एक ग्रन्थ लिखना बुद्धिमत्ता पूर्ण नहीं समझा और आगे चलकर तो उन्होंने इस विषय के कई अंग अपनी क्षमता से परे समझकर छोड़ ही दिए। श्री ल्यूईस की पुस्तक आर्थिक विकास की समस्याओं के प्रति उनकी अदम्य जिज्ञासा की द्योतक तो है ही, साथ ही यह वर्तमान नीति-निर्धारकों की व्यावहारिक आवश्यकताओं को पूरा करने का एक विशिष्ट प्रयत्न भी है।

जिज्ञासा और व्यावहारिक आवश्यकता की जिम मिसो-जुली भावना से प्रेरित होकर यह पुस्तक लिखी गई है उसी से पुस्तक का स्वरूप भी निर्धारित हुआ है। जिज्ञासा की शक्ति के लिए मानव इतिहास की प्रक्रियाओं के दार्शनिक विवेचन की आवश्यकता होती है जब कि व्यावहारिक आवश्यकताओं को देखते हुए कर्तव्य निर्देश करनेवाली पुस्तक लिखी जानी चाहिए। घूँकि लेखक को दोनों पहलुओं में एकसी दिलचस्पी है अतः उन्होंने जो कुछ लिखा है उससे न तो केवल दर्शनशास्त्र में रुचि रखने वाले सन्तुष्ट होंगे और न ही उनका भना होगा जो यह चाहते हैं कि उन्हें बस यह बता दिया जाए कि आगे क्या करना है। हर पुस्तक अन्ततः उसके लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होता है जिसमें लेखक के व्यक्तित्व की समस्त विभिन्नताएँ समाविष्ट रहती हैं।

इस पुस्तक का अनुवाद मेरे लिए एक सुनीली घी। इतने गम्भीर विषय पर श्री ल्यूईस जैसे बड़े लेखक के बारीक विचारों और जटिल तर्कों को मुझे

भाषा में यथातथ्य प्रस्तुत कर देना आसान काम न था। अनुकरण के लिए मेरे सामने कोई उदाहरण भी न थे, क्योंकि अर्थशास्त्र के ऊँचे दर्जे के ग्रन्थों के अच्छे अनुवाद अभी तक सामने नहीं आए। ऐसी स्थिति में मुझे साहस का ही सहन था। सफलता-असफलता की चिन्ता छोड़कर मैं पुस्तक का भावानुवाद करता चला गया हूँ। सहज अनिबन्धित के प्रवाह में मैंने इस्तेमाल, शामिल, बेहतर, आवादी, गुआइना, खास आदि उर्दू के शब्द और पेटेंट, एक्ट, स्पलाई सोसाइटी आदि अंग्रेजी के शब्दों का अबाध प्रयोग किया है। शास्त्रीय और तकनीकी विषयों के अनुवाद की कोई सर्वमान्य शैली अभी तक प्रतिष्ठित नहीं हुई है, इसलिए मुझे आशा है कि शुद्धतावादी अनुवादक इसे भी एक प्रयोग के रूप में लेंगे।

पारिभाषिक शब्दों के चयन में मुझे अधिक कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि मैं भारत सरकार की अर्थशास्त्र विषयक पारिभाषिक शब्दावली तैयार करने वाली विशेषज्ञ समिति से शुरू से ही सम्बन्धित रहा हूँ। मैंने भरसक उक्त समिति द्वारा अनुमोदित शब्द ही इस्तेमाल किए हैं। हाँ, भाषा और अनिबन्धित की आवश्यकताओं को देखते हुए उनके रूप में कहीं-कहीं हेर-फेर कर दिया है; जहाँ पहले से अनुमोदित शब्द नहीं मिला वहाँ निस्संकोच नया शब्द गढ़ लिया है। पुस्तक के अन्त में एक व्यापक शब्दावली दे दी गई है जिसमें हिन्दी माध्यम अपनाने वालों को सुविधा होगी।

आशा है प्रस्तुत अनुवाद से अर्थशास्त्र के उच्च अध्ययन में हिन्दी के प्रवेश को बल मिलेगा।

नई दिल्ली,  
जुलाई, १९६२

—भवानीदत्त पंड्या

## विषय-सूची

### प्रस्तावना

१. परिचय . . . . . १
१. परिभाषाएँ  
 २. निरूपण पद्धति  
 ३. विन्यास  
 मन्दभं टिप्पणी
२. मितोपयोग की इच्छा ३१
१. पदार्थों के लिए आकांक्षा  
 (क) यतिरत्र  
 (ख) धन और सामाजिक हैमियत  
 (ग) आकांक्षाओं की नीमा
२. प्रयत्न का मूल्य  
 (क) काम के प्रति प्रवृत्ति  
 (ख) साह्य की भावना
३. साधन और उनके उपयोग के प्रयत्न  
 मन्दभं टिप्पणी
३. आर्थिक सस्थान . . . . . ७६
१. पारिश्रमिक का अधिकार  
 (क) अभौतिक पारिश्रमिक  
 (ख) सम्पत्ति की व्यवस्था  
 (ग) काम के लिए पारिश्रमिक
२. ध्यापार और विशेषज्ञता  
 (क) लाभ  
 (ख) बाजार का विस्तार  
 (ग) संगठन

३. आर्थिक स्वाधीनता

- (क) व्यष्टिवाद और सामूहिक कार्य
- (ख) उद्यम गतिशीलता
- (ग) बाजारों की स्वाधीनता

४. कुछ मुद्दे

- (क) धर्म
- (ख) दासत्व
- (ग) परिवार
- (घ) खेती का संगठन
- (ङ) बुट्टीर उद्योग

५. सांख्यिक परिवर्तन

- (क) परिवर्तन की प्रक्रिया
- (ख) परिवर्तन का चक्र  
सन्दर्भ टिप्पणी

४. ज्ञान ... .. २१६

१. ज्ञान में वृद्धि

- (क) विज्ञान-पूर्व के भोज
- (ख) आविष्कार और अनुसन्धान

२. नये विचारों की प्रयुक्ति

- (क) नवीन प्रक्रिया के प्रति रुचि
- (ख) ज्ञान और लाभ

३. प्रशिक्षण कार्यक्रम

- (क) अग्रताएँ
- (ख) वृद्धि-विस्तार
- (ग) उद्योगों की ओर रुझान
- (घ) व्यवसाय का प्रदग्ध  
सन्दर्भ टिप्पणी

५. पूंजी ... .. २६५

१. पूंजी सम्बन्धी आवश्यकताएँ

२. बचत

- (क) बचत की आवश्यकता  
(ख) आन्तरिक साधन  
(ग) बाह्य वित्त

३. निवेश

- (क) सांस्थानिक रचना  
(ख) मोड  
(ग) स्थायित्व  
(घ) दीर्घकालीन गतिरोध  
सन्दर्भ टिप्पणी

६ जनसंख्या और साधन

१. जनसंख्या और उत्पादन

- (क) जनसंख्या में वृद्धि  
(ख) आकार और उत्पादन  
(ग) धन

२. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

- (क) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार  
(ख) प्रवास  
(ग) साम्राज्यवाद  
सन्दर्भ टिप्पणी

७ सरकार

१ उद्यम की रूपरेखा

- (क) सरकार के कार्य  
(ख) उत्पादन कार्यक्रम

२ लोकक्षेत्र

- (क) लोक-क्षेत्र के कार्यक्रम  
(ख) राजकीय गमस्या

३. अधिकार और राजनीति

- (क) गतिरोध के कारण



३. आर्थिक स्वाधीनता

- (क) व्यष्टिवाद और सामूहिक कार्य
- (ख) उदग्र गतिशीलता
- (ग) बाजारों की स्वाधीनता

४. कुटुंब मुद्दे

- (क) धर्म
- (ख) दासत्व
- (ग) परिवार
- (घ) खेती का मगठन
- (ङ) बूटीर उद्योग

५. सांस्थानिक परिवर्तन

- (क) परिवर्तन की प्रक्रिया
- (ख) परिवर्तन का चक्र  
सन्दर्भ टिप्पणी

४. ज्ञान ... .. २१६

१. ज्ञान में वृद्धि

- (क) विज्ञान-पूर्व के ममाज
- (ख) आविष्कार और अनुसन्धान

२. नये विचारों की प्रपुष्टि

- (क) नवीन प्रक्रिया के प्रति रुचि
- (ख) ज्ञान और लाभ

३. प्रशिक्षण कार्यक्रम

- (क) श्रमताएँ
- (ख) वृषि विस्तार
- (ग) उद्योगों की श्रौर रचना
- (घ) व्यवसाय का प्रबन्ध  
सन्दर्भ टिप्पणी

५ पूँजी ... .. २६५

१. पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताएँ

२. षष्ठत

- (क) बचन की आवश्यकता
- (ख) आन्तरिक साधन
- (ग) बाह्य बिस

३. विवेक

- (क) सांख्यिक रचना
- (ख) मोड
- (ग) रघुपितृत्व
- (घ) दीर्घकालीन गतिरोध  
सन्दर्भ टिप्पणी

६. जनसंख्या और साधन

१. जनसंख्या और उत्पादन

- (क) जनसंख्या में वृद्धि
- (ख) आकार और उत्पादन
- (ग) घ-धे

२. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

- (क) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
- (ख) प्रवास
- (ग) सामाज्यवाद  
सन्दर्भ टिप्पणी

७. तारहार

१. उद्यम की रूपरेखा

- (क) नरवार के कार्य
- (ख) उत्पादन कार्यक्रम

२. लोकसेवा

- (क) लोक-व्यय के वायव्य
- (ख) राजकीय समस्या

३. अधिहार और राजनीति

- (क) गतिरोध के कारण

रिगिष्ट क्या आर्थिक विकास बाछनीय है ?	...	५४१
(क) आर्थिक विकास क लान		
(ख) प्रजनशील बनान		
(ग) सुनमण-कार की सुमस्याएं		
परिनायिक शब्दावली	.	५६१
चक्र		५७६

प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि इस पुस्तक की विषय वस्तु है। मैंने जो कुछ लिखा है वह इन शब्दों की यथानुसृत परिभाषाओं पर निर्भर नहीं है, फिर भी इन शब्दों के अर्थों पर विचार कर लेना उपयोगी होगा।

पहली बात जिसे ध्यान में रखना आवश्यक है, यह है कि हमारी विषय-वस्तु वृद्धि अथवा विकास है, न कि वितरण। हो सकता है कि उत्पादन में वृद्धि होने पर भी अधिकांश जनता गरीब होनी चली जाए। हमें वृद्धि और उत्पादन के वितरण के प्रापसी सम्बन्ध पर विचार तो करना होगा लेकिन हमारा मुख्य विषय वृद्धि है न कि वितरण।

दूसरे, हमारा सरोकार मुख्यतः उत्पादन से है न कि उपभोग से। वृद्धि के साथ साथ उपभोग में गिरावट भी आ सकती है जिसका कारण बचन में बढ़ोतरी या सरकार द्वारा अपने काम के लिए उत्पादन के अधिकाधिक भाग का उपयोग हो सकता है। यों तो हमें निश्चय ही उत्पादन, उपभोग, बचन और सम्भारों क्रिया-कलापों के प्रापसी सम्बन्ध की चर्चा करनी होगी, लेकिन हम इनका विचार उपभोग में वृद्धि की दृष्टि से न करके उत्पादन में वृद्धि की दृष्टि से करेंगे।

उत्पादन की परिभाषा करने का काम हम राष्ट्रीय आय के विभाजन का निर्धारण करने वाला पर छोड़ने हैं। एक वर्ग के उत्पादन में सुन्नता करने समय सूचना सम्बन्धी कई बड़िन समस्याएँ सामने आती हैं। एक बड़िन समस्या तो यह है कि उत्पादन किसको समझा जाए और किसको नहीं और उत्पादन की लागत में क्या मतलब है, क्या मूद्रा वितरण या विज्ञापन या यातायात पर बढ़ने हुए खर्च का उत्पादन में वृद्धि माना जा सकता है अथवा यह केवल बढ़ती हुई विशेषज्ञता की लागत है? जो काम पहले उपभोगवास्तु बनकर लेता था (जैसे चाँद मिचनी) वही काम अगर अब कारखानों में होने लगे तो क्या इसे उत्पादन में वृद्धि माना जा सकता है? हम इन समस्याओं का उत्पन्न इंगित करने हैं ताकि विद्वान्मण्डल

समीक्षक यह न कह सकें कि हमें इनके बारे में पता ही नहीं था। वैसे, हमें इन समस्याओं का समाधान नहीं खोजना है, चूंकि हमारा उद्देश्य उत्पादन मापना नहीं है बल्कि वृद्धि पर विचार करना है। इस पुस्तक की दृष्टि में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन की कोई भी मूल्य परिभाषा काम दे जाएगी।

हां, यह परिभाषा वस्तुओं और सेवाओं के बारे में होनी चाहिए—'आर्थिक' के अर्थवादी अर्थों में 'आर्थिक' उत्पादन को लेकर—उसका सम्बन्ध क्या होगा, अनुपेक्षा या सुख-असुख किमी प्रत्यक्ष में नहीं होना चाहिए। हो सकता है कि अधिक वस्तुओं और सेवाओं पर अधिकार करने की प्रक्रिया में किसी व्यक्ति का सुख बढ़ने की अपेक्षा घट रहा हो। व्यक्तियों के साथ ऐसा असुख हो जाता है और यही समूह, वह साथ भी हो सकता है। यह पुस्तक इस विषय पर प्रबन्ध नहीं है कि लोगो को अधिक वस्तुओं और सेवाओं की इच्छा रखनी चाहिए अथवा नहीं, इसका उद्देश्य तो केवल उन प्रक्रियाओं का अध्ययन करना है जिनसे अधिक वस्तुएं और सेवाएं उपलब्ध होती हैं। लेखक का विद्वान्त है कि अधिक वस्तुओं और सेवाओं का होना अच्छी बात है, लेकिन पुस्तक का विद्वान्त इस विद्वान्त पर आधारित नहीं है। इस बात पर जोर देने के लिए कि वर्तमान पुस्तक वृद्धि के बारे में है, न कि उत्पादन की वांछनीयता के बारे में, मैंने पुस्तक के अन्त में वांछनीयता पर अपने विचार एक परिशिष्ट के रूप में दे दिए हैं।

हमें उत्पादन और प्रतिव्यक्ति उत्पादन के अन्तर को भी स्पष्ट करना है। जनसंख्या और कुल उत्पादन के सम्बन्ध का विवेचन स्पष्ट रूप से हमारी विषय-वस्तु में शामिल है। वैसे हम केवल प्रति व्यक्ति उत्पादन पर ही विचार नहीं करेंगे चूंकि हमें काम के प्रदेक घण्टे का उत्पादन भी देखना है जो प्रति व्यक्ति उत्पादन से भिन्न हो सकता है, अगर लोग काम के घण्टे कम या अधिक कर दें या काम पर लगे लोगों की संख्या में कमी-बढ़ी हो जाए। हम इन सभी मुद्दों पर विचार करेंगे।

हमारे विद्वान्त की शर्त 'समूह' है। अधिकतर हम एक राष्ट्र को एक समूह मानते हैं—आन्ध्र के विशिष्ट अर्थों में समूह से हमारा तात्पर्य उन शर्तों से है जिसके क्रियाकलापों के बारे में विदेश व्यापार के आकड़े अलग में प्रकाशित किये जाते हैं या जिसकी जन-गणना अलग से की जाती है। यह एक मूल्य-परिभाषा है जिसके अनुसार समूह का अर्थ लगभग उन व्यक्तियों के समूह से है जिनका शासन प्रबन्ध किसी एक सरकार के हाथ में होता है। यहाँ शासन प्रबन्ध का उल्लेख करने समय हम उपनिवेशी सरकारों, स्थानीय सरकारों और 'विदेश' सरकार के विभिन्न प्रकारों के अन्तर को स्पष्ट करने के पक्ष में नहीं पड़ेगे। वैसे, हमारे विद्वान्त का अधिकांश अर्थ प्रकार के समूह, जैसे कहीं अन्य-सरकारों के समूह और कहीं-कहीं प्रादेशिक समूहों पर भी उतना ही लागू होगा।

अन्त में यह भी कह दें कि हम अक्षर मक्षिप्त शब्दावली का प्रयोग करेंगे। 'प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि' पुस्तक में बार-बार लिखने की दृष्टि से एक संख्या वाक्यांश है। हम अधिकतर केवल 'वृद्धि' या 'उत्पादन' शब्दों का ही प्रयोग करेंगे या विभिन्नता के लिए यदावदा 'उत्पत्ति' या 'विक्रम' भी कहेंगे। मक्षिप्त शब्द चाह जा भी प्रयोग किया जाय, लेकिन जब तक विशिष्ट रूप से कुछ उत्पादन का उल्लेख न हो या मदभं में ऐसा अर्थ न लगता हो, अक्षर तक मभी जगह 'प्रति व्यक्ति' उत्पादन ही समझना चाहिए।

प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि एक और तो उपलब्ध प्राकृतिक साधना पर निर्भर है और दूसरी ओर मानव व्यवहार पर। इस पुस्तक २. निरूपण पद्धति में मुख्यतया मानव व्यवहार पर ही विचार किया गया है, प्राकृतिक साधनों की चर्चा उभी सीमा तक की गई है जहाँ तक उसका प्रभाव मानव व्यवहार पर पड़ता है। यह मही है कि प्राकृतिक साधनों के अभाव में प्रति व्यक्ति उत्पादन में अधिक वृद्धि नहीं हो सकती और भिन्न भिन्न देशों के पास जितना धन है उसके अन्तर का अधिकांश प्राकृतिक साधनों को उपलब्ध मात्रा की बनी बची के कारण है। लेकिन साथ ही उन देशों के विकास के स्तरों में भी बड़ा अन्तर पाया जाता है जिनके पास लगभग समान प्राकृतिक साधन हैं, इसीलिए यह जानना आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न मानव व्यवहारों का आर्थिक विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है।

मानव व्यवहार का विरोध कई स्तरों पर करना होगा, चूंकि विकास में कुछ तो तात्कालिक कारण हैं और कुछ इन कारणों के भी कारण हैं। तात्कालिक कारण मुख्यतः तीन हैं। पहला मितोपयोग का प्रयत्न है, चाहे वह उत्पादन की लागत कम करने के रूप में हो या उनसे ही प्रयत्न और साधनों से पहले की अनेका अधिक उत्पादन करने के रूप में हो। मितोपयोग का यह प्रयत्न कई रूपों में प्रकट होता है, मुख्यकर प्रयोग में, जोखिम उठाने में, व्यावसायिक या भौगोलिक गतिशीलता और विशेषज्ञता में। मितोपयोग की इच्छा न होने से या रुढ़ि व्यवसाय व्यवहारों के इनके व्यक्त करने में बाधक होने के कारण यदि मितोपयोग के लिए प्रयत्न न किया जाए तो आर्थिक विकास नहीं होगा। दूसरी बात ज्ञान में वृद्धि और उसकी प्रयुक्ति है। यह प्रक्रिया सारे मानव इतिहास में होनी आई है, लेकिन पिछली सताब्दियों में उत्पादन जिस तेजी में बढ़ा है उसका प्रत्यक्ष कारण ज्ञान का त्वरित अक्षय और उत्पादन में उसकी प्रयुक्ति है। विकास का तीसरा कारण पूंजी और दूसरे भाषणों की प्रति व्यक्ति मात्रा में वृद्धि है। प्रत्यक्ष की दृष्टि से ये तीनों तात्कालिक कारण अलग-अलग दिखाई देने हैं लेकिन व्यवहार में अक्षर ये मिले रहते हैं।

विरोध के दूसरे कारण में हम इन तात्कालिक कारणों के मूल में जाकर

यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि ये कारण किमी समाज में कम और किसी में बहुत अधिक नियासील क्या होन है, इसी प्रकार इतिहास के कुछ कालों में इनकी सक्रियता अधिक और दूसरे काल में कम क्यों होनी है ? वृद्धि में सहयोग देने वाले य तत्त्व किन पर्यावरणों में अधिक पनपने है ? विश्लेषण का यह चरण कई हिस्सों में बँटा है । पहले हमें यह देखना होगा कि वे संस्थान कौनसे हैं जो विकास के अनुकूल हैं और वे कौनसे हैं जो प्रयत्न, नवीन प्रक्रिया या पूँजीनिवेश में बाधक हैं । इसके बाद हम विश्वासों का अध्ययन करेंगे और यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि क्या कारण है जो किमी राष्ट्र में वृद्धि के प्रतिकूल संस्थानों की अपेक्षा उसके अनुकूल संस्थान ही अधिक स्थापित होने हैं । इस प्रश्न का उत्तर हमें तब मिलता है जब हम विभिन्न समाजों द्वारा श्रम, सुरक्षा समानता, भाईचारे या धार्मिक मुक्ति आदि अर्थोन्नति सन्तोषों को दिये गए महत्त्व की तुलना में इन्हीं समाजों द्वारा वस्तुओं और सेवाओं को दिये गए महत्त्व का अध्ययन करते हैं । हमें यह भी मालूम करना आवश्यक है कि आध्यात्मिक और भौतिक मूल्यों में यदि कोई संघर्ष है तो कितना है और जीने की सही विधि में सम्बन्धित विशिष्ट विचार निर्धारित करने में संस्थाओं का किनना योग है । प्रकृति और पर्यावरण सम्बन्धी बातों का विवेचन हमने भी मूढम है । कुछ लोग वृद्धि के अनुकूल विश्वासों पर क्यों चलते हैं और दूसरे लोग उमके प्रतिकूल क्यों चलते हैं ? क्या विश्वासों और संस्थानों के भेद जातिगत या भौगोलिक है, अथवा यह बवल ऐतिहासिक संयोग ही है ?

ये सभी प्रश्न अनुकूलता में सम्बन्धित हैं । इनके माध्यम से हम यह जानना चाहेंगे कि वे संस्थान या विश्वास या पर्यावरण कौनसे हैं जो आर्थिक विकास के अनुकूल हैं ? लेकिन हमें इनके क्रमिक विकास पर भी विचार करना है । विश्वास और संस्थान किस प्रकार बदलते हैं ? विकास की अनुकूल या प्रतिकूल दिसाओं में इनके बदलने की प्रक्रिया क्या है ? स्वयं विकास की इन कारणों पर क्या प्रतिक्रिया होती है ? क्या विकास सचयशील है—सचयशील में हमारा तात्पर्य है कि क्या एक बार उमके शुरू होने पर विश्वास और संस्थान अपने-आप इसकी प्रगति के अनुकूल होने चले जाते हैं, या विकास स्वयं अपनी गति में बाधक होता है, अर्थात् क्या विकास के चरण आगे बढ़ते ही ऐसे विश्वास और संस्थान जन्म लेने लगते हैं जो वृद्धि को रोकने हों या उनकी गति को धीमा करते हों ? क्या मानवीय प्रवृत्तियों और संस्थानों में निम्न भिन्न शक्तियों में ऐसा उलट-फेर होता है जिन्से विकास की प्रक्रिया कभी आगे बढ़ती है तो कभी पीछे चली जाती है ?

विश्लेषण का यह क्षेत्र जो हमने चुना है अन्तर समाज-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में विभाजित माना जाता है । लेकिन इन प्रकार का विभाजन जब

भी किया गया उसका कोई फल नहीं निकला । शायद इसी विषय-विभाजन के आधार पर विकास के तात्कालिक कारणों की जांच करने की आशा अर्थशास्त्रियों में की गई हो, लेकिन उन्होंने इस ओर कभी-कभी ही ध्यान दिया है । अर्थशास्त्रियों के अध्ययन का विषय विदोषज्ञता और पूंजी रहा है । उन्होंने गतिशीलता, आविष्कार और जोखिम उठाने की प्रवृत्ति के महत्व पर भी जोर दिया है और मिनोपयोग की इच्छा से सम्बन्धित तर्कों का सावधानी से और ढंग से विश्लेषण किया है । कुछ अर्थशास्त्रियों ने संस्थानों के अध्ययन करने का प्रयास किया है, विशेषकर १९वीं शताब्दी के अर्थ शास्त्रियों ने लगान, ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार या मिश्रित पूंजी, कम्पनी सम्बन्धी कानून के उल्लेख किये हैं । बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अर्थशास्त्रियों ने इन विषयों में दिलचस्पी लेना छोड़ दिया और यहाँ तक अधिकारपूर्वक कहा जाने लगा कि इन विषयों पर विचार करना अर्थशास्त्रियों के लिए उचित नहीं है, यह सारा क्षेत्र समाजशास्त्रियों, इतिहासकारों, विश्वासों का अध्ययन करने वालों, विधिवेत्ताओं, जीव विज्ञानियों या भूगोलशास्त्रियों का है । लेकिन उन सबने इन विषयों पर केवल एक नजर ही डाली है और यहाँ-वहाँ इनके सम्बन्ध में एकाध बात कह दी है । ऐसा लगता है कि आर्थिक संस्थानों का अध्ययन समाजशास्त्रियों ने अर्थशास्त्रियों पर छोड़ दिया और अर्थशास्त्रियों ने यह विषय समाजशास्त्रियों पर छोड़ रखा है । ऐसी स्थिति में जबकि सामान्य प्रवृत्ति इस क्षेत्र को दूसरों पर छोड़ देने की है, यदि मैं इस विषय का सामान्य सर्वेक्षण करने का प्रयत्न करूँ तो मेरे साहस पर किसी को ईर्ष्या नहीं होगी । बल्कि अगर मैं इसके तत्त्वों और सम्भावनाओं का अच्छा चित्र भी प्रस्तुत कर सका तो शायद भविष्य में लोग इस पर और नाम करेंगे ।

अनुकूलता-सम्बन्धी प्रश्न प्रतिक विकास के प्रश्नों से अधिक सरल हैं । यह इसलिए है कि अर्थशास्त्र या गणित के सिद्धान्तों की भाँति अनुकूलता के प्रश्न भी सरल उदाहरणों के आधार पर परिणाम निकालकर हल किये जा सकते हैं । जैसे एक या दो सरल सामान्य निष्कर्षों के आधार पर यह कहना सुविज्ञ नहीं है कि कुछ अन्य विद्वानों और संस्थानों की अपेक्षा दूसरी दृष्टियाँ और संस्थान विकास में अधिक सहायक क्यों होने हैं । ये सामान्य निष्कर्ष इस प्रकार के हैं जैसे पूंजीनिवेश की प्रवृत्ति तब अधिक होती है जब व्यक्ति अधिक धन प्राप्त करना चाहते हैं, या अगर उन्हें पता होना है कि उनसे द्वारा बचाई धन-राशि सामान्य सम्पत्ति बरतार नहीं दी जाएगी और पूंजीनिवेश के बदले मिलने वाले लाभ का उपभोग वे स्वयं कर सकेंगे या उन्हें सहयोगी साधनों को खरीदने या किराये पर लेने की स्वतन्त्रता प्राप्त होगी । ऐसी घमत्साम्यों का, जो भाँवड़ों के रूप में रखी जा सकती हैं, अर्थात् जिन पर गणितीय विधि से



विचार किया जा सकता हो, अर्थशास्त्री नदा ही निगमन-रीति में अध्ययन करते रहे हैं। विद्वानों और मन्थानों की विकास के प्रति अनुकूलता गणित के अध्ययन का विषय नहीं है और यही कारण है कि हम पिछले कुछ वर्षों में इन मुद्दों पर विचार करने से कतराने रहे हैं। फिर भी निगमन रीति प्रयोग में लाई जा सकती है और उपयोगी भी है।

पिछले कुछ वर्षों में आर्थिक सिद्धान्तवादियों ने जो अच्छे प्रयत्न किये हैं उनमें अधिकांश आर्थिक विकास के न्यायिक पर हैं। पूँजीवादी मन्थान और आदना को आधार बनाकर अर्थशास्त्रियों ने गणितीय माडल बनाए हैं जो दोलन करने हैं या एक सीमा की दिशा में गणितीय रीति से बढ़ते हैं या अन्ततोगत्वा विकास में दीर्घकालीन गिरावट की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। ये परिणाम वृद्ध प्रवृत्ति, जन्मदर या पूँजीनिवेश सम्बन्धी निर्णयों के निर्धारक जैसे मामला के बारे में विभिन्न गुणों या प्राचनों के मध्य विभिन्न सम्बन्धों को मानकर प्राप्त किए जाते हैं। इस प्रकार के गणितीय प्रयत्नों के बाद अब आँकड़ों का आधार लेकर यह जानने की कोशिश हो रही है कि अमरीका और हमारे उन्नत देशों की अर्थ-व्यवस्था के हान के अनुभवों के साथ किन सम्बन्धों और गुणों का सर्वाधिक भेद है। यह कार्य मुख्यतया क्रमिक विकास की अपेक्षा अनुकूलता के क्षेत्र में आता है। इसके माध्यम से हमें यह जानकारी होनी है कि सम्बन्ध और प्रवृत्तियाँ क्या हैं और वे किन सीमा तक स्थायी विकास के अनुकूल हैं, इससे हमें यह पता नहीं चलता कि गुणों का वर्तमान रूप ऐसा क्यों है या वे समय पाकर बदलते क्यों हैं। हाँ, ये परिणाम अल्पकालीन विन्नेपण के अनिवार्य माधन अवश्य हैं। इनका प्रयोग हम उस समय करते हैं जब किसी समूह विशेष के ऐसे अपकालीन इतिहास की जाँच करनी होती है जिसमें आधारभूत मन्थानों और प्रवृत्तियों में हुए परिवर्तन नगण्य माने जा सकते हैं। लेकिन अगर हम प्रवृत्तियों में होने वाले परिवर्तनों का दीर्घकालीन अध्ययन करना हो या समूहों और देशों के बीच पाए जाने वाले भेदों के कारण मान्य करने हों तो अधिकतर वर्तमान काल के आर्थिक सिद्धान्तों की सीमाओं में आगे जाना होगा।

मन्थानों के विकास के प्रति अनुकूलता का विन्नेपण करते समय निगमन रीति का आश्रय लेने में पक्षपात का भय है जिससे बचना होगा। हम सभी में एक न्यायविक प्रवृत्ति यह है कि जिस समाज में हम परिचित हैं वहाँ जो बातें प्रचलित होती हैं उन्हीं को बाकी सब समाजों में भी प्रचलित मान लेते हैं। इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण व्यष्टिवाद और विकास का सम्बन्ध है। पश्चिम के पूँजीवादी समाजों में लोग बाकी हमारे समाजों की अपेक्षा थोड़े ही सामाजिक दायित्वों को मान्यता देते हैं और इसीलिए हम स्वभावतः यह मान लेते हैं कि मनुष्य मितोपयोग के लिए प्रयत्न उन स्थिति में अधिक करता है जब उसे

सकता है। हर अनुभवों समाजशास्त्री जानता है कि हमारे वर्तमान ज्ञान की सीमाओं को दखन हुए इन प्रश्नों का हम खोजना निश्चित रूप से असम्भव है, चाहेद चाहे भी कभी सम्भव नहीं होगा। वह तो इनमें ही मनुष्ट हो जाएगा कि इस पुस्तक में इन प्रश्नों की संक्षिप्त रूपरेखा कर दी जाए। हम सम्पानों और आर्थिक विकास की परम्पर अनुकूलता के विषय में बहुत-कुछ कह सकते हैं और प्रवृत्तियों और सम्पानों के सम्बन्धों के बारे में भी काफी-कुछ कहा जा सकता है, लेकिन जब हम स्वयं प्रवृत्तियों की खोज करना शुरू करते हैं और यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि क्या किम प्रयोग सम्भव है और क्या बदलती है, तो पायी बहुत दूर ही मानव-इतिहास का हमारा ज्ञान उदात्त द जाता है।

अनुकूलता के प्रश्नों की अस्थात्मिक विकास के प्रश्नों का समाधान और भी कठिन है चूँकि वहाँ निगमन रीति से और भी कम सहायता मिल पाती है। यह समझने के लिए कि कोई घटना क्यों और क्यों होती है हमें तथ्यों का सहाय लेना चाहिए, अर्थात् ऐतिहासिक सामग्री का आत्मन-रीति से उपयोग करना चाहिए।

हर अर्थशास्त्री एक ऐसी स्थिति से मुजुगता है जहाँ उसे आर्थिक सिद्धांत का निगमन आधार असंतोषजनक मालूम होता है और वह महसूस करता है कि इतिहास के तथ्यों का अध्ययन करने से आर्थिक प्रतियोगियों की और भी अच्छी तरह समझा जा सकता है। भावना करने-आयमें नहीं है, लेकिन इसके प्रेरणा पाकर इतिहास के तथ्यों को समझने के गभीर प्रयत्न चाहेद ही कभी किए जाते हैं। कारण यह है कि इतिहास के तथ्य ठीक-ठीक रूप में बहुत ही थोड़े मिलते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पहले तो बहुत ही थोड़े देगे ऐसे हैं और उनके भी हाल ही के कुछ जमाने ऐसे हैं जिनमें बारे में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है, जहाँ सामग्री बाकी है वहाँ भी इन घटनाओं के बारे में ठीक-ठीक नहीं जानते। दूसरी घटी महत्वपूर्ण बात यह है कि निदानदात्री जो 'तथ्य' चाहता है वह यह नहीं है कि घटनाएँ क्या थीं, वह तो यह जानना चाहता है कि अमुक घटनाएँ क्यों घटी, और इतिहास में यह उल्लेख मिल ही मिल जाए कि घटनाएँ क्या थी, पर इस पर शापद ही कभी प्रकाश डाला जाता है कि वे घटनाएँ क्यों घटीं। घटनाओं के कारणों के विषय में सत्कालीन लोगों के अपने विचार कहीं-कहीं लिखे मिलते हैं। लेकिन उन अधिकांश घटनाओं के बारे में जिनमें अर्थशास्त्रियों को दिलचस्पी होती है (मुख्यतः सम्पानों और निम्नियों में होने वाले अर्थिक परिवर्तन के बारे में), इतिहास के उस काल के लेखकों को अक्सर यह पता ही नहीं होता कि इस प्रकार की घटनाएँ या परिवर्तन ही नहीं हैं, और इसलिए ऐतिहासिक घटनाओं के कारणों के बारे में जो कुछ लिखा मिलता है उस पर पूरा विश्वास नहीं कर लेना चाहिए।

इस प्रकार इतिहास में हमें तथ्य नहीं मिलने के लिए एक काल-विशेष में क्या हुआ और क्यों हुआ, इस बारे में इतिहासकारों के मत मिलते हैं। कुछ निश्चित अपवादों को छोड़कर इतिहासकारों द्वारा दिये गए घटनाओं के विवरण काफी विश्वसनीय हैं। चूंकि ऐतिहासिक प्रमाणा की छानबीन करने में इतिहासकार कुशल होते हैं, लेकिन कोई घटना क्या घटी इसके बारे में इतिहासकार जो मत प्रकट करते हैं वे सामाजिक कारणाता के सम्बन्ध में उनके व्यक्तिगत सिद्धान्तों से प्रभावित होते हैं। वर्णन के लिए तथ्य चुनने समय वे किसे महत्वपूर्ण समझते हैं और किसे नहीं, यह भी उनकी व्यक्तिगत धारणाओं पर आधारित होता है। अधिकांश आर्थिक इतिहासकार आर्थिक घटनाओं को प्रस्तुत करते समय उन्हीं आर्थिक सिद्धान्तों का आश्रय लेते हैं जो पुस्तक लिखने समय प्रचलित होते हैं (इससे भी गई बीती स्थिति यह है जबकि वे उन सिद्धान्तों का आश्रय लेते हैं जो उन दिनों प्रचलित थे जब वे स्नानरूपक कथा में आर्थिक सिद्धान्तों का अध्ययन कर रहे थे)। जब भी कोई नया आर्थिक सिद्धान्त निरालन है तो उनमें प्रकाश में इतिहास को फिर से लिखने के लिए इतिहास सम्बन्धी अनेक नये तत्व लिखे जाते हैं। किसी घटना के बारे में अर्द्ध इतिहासकार का मन और उसे जो तथ्य मिले हैं वे किसे प्रावृत्तता के अनुकूल हैं, इस बारे में उसकी राय सदा उपयोगी है और उन्हें जानना अनिवार्य है। लेकिन यह धरय है कि सामाजिक सिद्धान्तवादी जब ऐतिहासिक तथ्यों की ओर आकर्षित होता है तो उनके अध्ययन का तरीका रमायनी या जीव विज्ञानी के तरीकों से बिलकुल भिन्न होता है।

हमारी कठिनाईयें यहीं समाप्त नहीं हो जाती। अगर यह भी सही सही पता हो कि घटना क्या थी, तब भी इन तथ्यों के आधार पर सामाजिक सिद्धान्त निर्धारित करना आसान नहीं। हर ऐतिहासिक घटना के कई महायत्न कारण होते हैं। उस घटना की कई बार पुनरावृत्ति हो सकती है, लेकिन कारणों का योग अक्सर भिन्न होता है, चूंकि इतिहास की ज्यों-की-त्यों पुनरावृत्ति नहीं हो सकती—ऐसा न हो सकने का एक कारण यह भी है कि बाद वाली घटना के साथ पिछली अनुरूप घटना की अपेक्षा आर्थिक इतिहास जुड़ा होता है। इसलिए यह निर्णय करना कठिन हो जाना है कि कौनसे कारण दूसरों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं। जिन घटनाओं का अध्ययन हमें करना है उन्हें मानना अगर सम्भव हो तो हम साम्यवादी विधि से ऐसा समीकरण तैयार कर सकते हैं जिसमें हर कारण का विनिष्ट महत्वाक (गुणांक) निर्धारित किया गया हो। अगर हम ऐसी घटनाओं का अध्ययन कर रहे हैं जो भागी नहीं जा सकती तो हमारे पास व्यक्तिगत निर्णय के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रह जाना। मानव-मस्तिष्क की सीमाएँ हमारे काम की ओर अधिक कठिन बना देती हैं।

कोई एक व्यक्ति निम्न-निम्न बातों को निम्न निम्न दशा के इतिहास का बर्णन जानकार नहीं हो सकता—अगर ऐतिहासिक तथ्य को ही तरह तरह भी हाथ में लिये एक व्यक्ति के लिए उन सबका ज्ञान करना सम्भव नहीं है। यदि यह नहीं कह सकता कि उनका सिद्धान्त इतनी बारीक घटनाओं की तुलना पर आनामि है कि उनके सामान्य सिद्धांतों पर महत् नहीं किया जा सकता। न बोर्ड यह कह सकता है कि उन जो तथ्य मिले हैं वे सब सही हैं और उनके लक्ष्य उन घटनाओं की बनीसी पर भी समत मिल नहीं किये जा सकते जो उन प्रकार की हैं कि उन जिन पर समत विचार नहीं किया है।

यह न कि तात्पर्य यह है कि समाज के प्रमुख विज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त इतनी सचार्थ से बनी सम्भव नहीं किए जा सकते हैं जितनी सचार्थ से रसायन-शास्त्र या जीव विज्ञान के सिद्धान्त पथ किए जा सकते हैं, कि यद्यपि दार्शनिक प्रयोग कब परते जा सकते हैं। यह अन्तर सम्भवतः केवल भाषा का है कि प्रकृति विज्ञानों के भी य सिद्धान्त जो अनुमानों पर अधिकाधिक आधारी है, नये तथ्यों की खोज होने पर भूटे पट जाते हैं। लेकिन इतिहास के तथ्यों की सचार्थ इतनी नश्वर होती है कि दोहराए जा सकते बने प्रयोगों के तथ्यों में और इनका क्या अन्तर है, यहाँ तक कि इन सिद्धान्तों को एक-दूसरे प्रकार का सिद्धान्त कहना ही उपयुक्त होगा।

इसका यह अर्थ नहीं है कि इन सामाजिक परिवर्तनों को समझने का प्रयत्न करना ही छोड़ दें। अनुपम स्वभाव ने ही जिज्ञासु है और यह उनकी प्रकृति के विरुद्ध है कि वह सोचना छोड़ दें। हमें दरअसल अपने सिद्धान्तों को परम तथ्य नहीं मानना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि इतिहास के अध्ययन पर आधारी बौद्ध भी प्राक्कल्पना पूरी तरह सच्ची नहीं हो सकती।

प्रमुख विज्ञान के सिद्धान्तों की रचना दो स्तरों पर आरम्भ होती है। निम्न स्तर पर हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि कुछ बातों में परिवर्तन किस प्रकार और क्यों होता है, ऊपर के स्तर पर हम भविष्य के बारे में पूर्वानुमान करते हैं। पहले स्तर का सम्बन्ध मुख्यतः सामाजिक सिद्धान्तवादियों से है, लेकिन दूसरे स्तर का अध्ययन करते समय सबसे अधिक जग आता है, पर साथ ही टर्नियों भी खूब होती हैं।

निम्न स्तर पर सामाजिक सिद्धान्तवादी महत्त्वपूर्ण चरों की जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करता है और यह पता लगाता है कि एक ही समय में और कालक्रम में इन चरों के परस्पर सम्बन्ध क्या हैं? ऊपर के स्तर पर उसे यह बताना होता है कि इन सभी चरों में किस प्रकार के परिवर्तन होंगे, क्या यही अतिनाई है जिसका कारण भविष्यवाणी करना सम्भव हो जाता है।

अधिकतर भविष्यवाणियों पद्धति चानुर्व से अधिक और बृहत् नहीं होती।

हम कहते हैं कि हमारा निष्पत्त 'ब' से 'ह' चरों के व्यवहार पर निर्भर है, अगर यह मान लिया जाए कि 'ब' से 'छ' तक चर स्थायी रहेंगे, और 'ज' से 'द' तक के चरों में किसी विशेष प्रकार के परिवर्तन होंगे तो हम भविष्यवाणी कर सकते हैं कि परिणाम अमुक अमुक होंगे। क्या होगा, इसकी भविष्यवाणी करने के लिए हमें यह जानना आवश्यक है कि सारे चर बिना प्रसार व्यवहार करेंगे, हम यह मानना चाहिए कि निवृत्त-भविष्य में युद्ध होने वाला है अथवा नहीं, या भूकम्प या दम्लुएजा का प्रकोप होने वाला है अथवा नहीं, या नाशुक समय में किसी प्रभावशाली व्यक्ति का जन्म अथवा मृत्यु होने वाला है या नहीं, या और ऐसी ही हजारों बातें, जो घटनाक्रम को प्रभावित करती हों, हमें पता होनी चाहिए। इनमें से बहुत-सी बातें पहले से नहीं जानी जा सकती, अगर इन्हीं पहले से जानना सम्भव भी होता तो किसी एक व्यक्ति का अस्तित्व ऐसे समीकरण तैयार नहीं कर सकता जिसमें भविष्य को निर्धारित करने वाले सभी सागो चर शामिल कर लिये गए हों। इसीलिए हम 'अगर' 'तब' जोड़कर कुछ अधूरी भविष्यवाणियाँ ही कर सकते हैं। आधुनिक गणितज्ञान की कुछ समस्याओं को हल करने समय प्रयोग किए जाने वाले अंतर-समीकरण, या जन-मर्या और अभावगत उत्पत्तिह्रास से चलकर अनिरोध तक के आर्थिक विकास का विश्लेषण करने वाला रिवाइडों का मिथान्त, या पश्चिमी पूंजीवाद में सामाजिक-विकास सम्बन्धी समीकरण के अनुमान ऐसी ही भविष्यवाणियों का उदाहरण हैं। इन पद्धतिवातियों को अस्मर आवश्यकता से अधिक प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया जाता है, चूँकि लेखक या तो सुदृढ़ समझते या दूसरों को यह समझाने में असफल रहते हैं कि ये अटकलवाजियाँ दिन कल्पनाओं पर आधारित हैं। भविष्य का सम्बन्ध में उनके पूर्वानुमान भी सही नहीं होते, चूँकि या तो गुणांक गलत होते हैं, या वे बदल गए होते हैं, या चूँकि चरों का परस्पर सम्बन्ध गलत होते हैं या वे बदल गए होते हैं, या चूँकि नये चर, जिन्हें पहले नगण्य समझा गया था, बाद में महत्वपूर्ण बन जाते हैं। अगर ये अटकलवाजियाँ गलत निकलें तो कोई काम की बात नहीं है, चूँकि जब हम यह जान लेंगे कि हमारी प्राक्कल्पनाएँ अपर्याप्त क्यों हैं तभी हम सामाजिक परिवर्तन के प्रकार और उनके कारणों को अधिक मर्चा के साथ समझने की आशा कर सकते हैं।

सामाजिक परिवर्तन किस प्रकार होते हैं इसका विवेचन वर्तमान पुस्तक में काफी आत्म विश्वास के साथ किया गया है, लेकिन भविष्य में इन परिवर्तनों की क्या दशा होगी यह बताने समय हमें अपनी बात पर न के बराबर विश्वास रहा है। परिवर्तन की प्रक्रिया के बारे में कुछ सुप्रतिष्ठित सामान्य निष्कर्ष हैं जिनका सम्बन्ध इस प्रकार की बातों से है, जैसे नवीन प्रक्रिया अधिकतर किन

लोगों के हाथ में होनी है, अनुकरण कौन लोग करते हैं, परिवर्तन का प्रतिरोध कहीं-कहीं होता है या विकास की तर्कयुक्त प्रक्रिया क्या होती है, आदि-आदि। लगता है ये सामान्य निष्कर्ष बनार के नभी देशों में लागू होने हैं, चूंकि दो हजार साल पहले सामाजिक परिवर्तन की जो प्रक्रिया थी, बहुत-बुद्ध वंसी ही आज भी है, और विकास के विभिन्न चरणों में होने पर भी अधिकांश समाजों में यह प्रक्रिया लगभग एक-सी है। यही कारण है कि इन मामलों पर निम्नने समय हम नारे मानव-इतिहास को आधार मान सकते हैं और ऐसा करने समय हमें सामाजिक संगठन के भिन्न-भिन्न चरणों के लिए भिन्न-भिन्न नियम बनाने की आवश्यकता नहीं होगी। यहाँ हमारी स्थिति लगभग वंसी ही है जैसी अनुकूलता की समस्याओं पर चर्चा करते समय होती है। सम्पत्ति या परिश्रम या सजाओ-त्पत्ति के बारे में मानवीय प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी भिन्न-भिन्न समाजों में इनकी समानता अवश्य है कि हम मानव-व्यवहार के कुछ सामान्य नियम निश्चित कर सकते हैं। हम यह बना सकते हैं कि अगर परिवर्तन हुए तो वे किस प्रकार के होंगे; हाँ, हम यह नहीं बना सकते कि परिवर्तन कौन-कौनसे होंगे।

निरूपण-पद्धति के बारे में उन परिचयात्मक दिवरण ने हमें यह जानने में आनाही होगी कि आर्थिक विकास-क्रम के अन्य विशेषणों की तुलना में प्रस्तुत पुस्तक के विशेषण का ढग अलग क्यों है। हमारी मान्यता है कि हम यह नहीं बना सकते कि किसी विशिष्ट सामाजिक पद्धति का विकास किस प्रकार होगा और इसीलिए रिवाजों, मार्कम, टायनवी, हेनसेन या शम्पीटर की भाँति हम समाज के श्रमिक विकास के नियमों के बारे में कोई सिद्धान्त निर्धारित नहीं कर सकते। हमारी मान्यता है कि आदिम अवस्था में सामनवाद और फिर विनिमय-व्यवस्था के विकास-चरण ऐसे नहीं हैं जिनसे होकर गुजरना हर समाज को आवश्यक है और इसीलिए हम कॉम्पे, मार्कम, हर्बर्टस्पेंगर या बेबर का भी अनुकरण नहीं कर सकते। हमारे अनुमान तो विशेषण के इन साधारण स्तर पर आधारित हैं कि धनी देशों ने विकास करने समय जो परिवर्तन अनुभव किये वही सम्भवतः निर्धन देश भी करेंगे, यदि इन देशों का विकास हुआ। कुछ प्रश्नों का उत्तर हम पर्याप्त आत्म-विश्वास के साथ दे सकते हैं, उदाहरण के लिए यह आनाही में कहा जा सकता है कि खेती के काम में जनसंख्या का जितना भाग इन समय लगा है उनका अनुपात कम होता जाएगा, या स्थिति-सम्बन्धों का स्थान सविदा-सम्बन्ध लेते चले जाएँगे। बहुत-सी दूसरी बातों का हमारे पास विश्वमनीय उत्तर नहीं है, जैसे कि हम यह नहीं कह सकते कि रहन-सहन का स्तर बढ़ने के साथ-साथ जन्म-दर गिरती चली जाएगी, या कि आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप बुद्ध अवश्य भावी है। पुस्तक के अधिकांश

में उन्नतिशील देशों में हुए परिवर्तनों का ज्ञान दिया गया है, और यह ज्ञान का प्रयोग किया गया है कि विरहित देशों का अनुकरण करना समय धनसात अविश्वसित देशों में भी ऐसे ही परिवर्तन हासिल करवा नहीं। उन्नति की प्रथम अवस्था को पहुँचने हेतु देशों के चार में हम यह नहीं कह सकते कि उन्नत भविष्य क्या होगा, बल्कि हमारी मान्यता है कि ऐसे कोई अनाटक नियम प्राप्त नहीं हैं और न उन्नत जानने के हमारे पास उपाय हैं जिनसे उपर मानव जाति का भविष्य निर्भर माना जा सके।

आर्थिक विभाग की विधी पुस्तक का विन्यास संगत अर्थों के अनुसार निर्धारित कर मानता है, बल्कि जिन विषयों का अध्ययन हमें चाहिए है व उन-  
द्वारा ही जिनकी निरन्तरता में सम्बन्धित है कि जिनके  
विधी विभाग में आरम्भ कर मानता है। यह पुस्तक  
मितोपयोग के प्रयोग की प्रतीति में आरम्भ की गई है

### ३ विन्यास

जिससे साथ उन विन्यासों और गणनाओं का भी अध्ययन किया गया है जिनके कारण मितोपयोग का प्रयोग कम या अधिक होता है। हमने पर्याप्त विन्यास-कार्य में ज्ञान के योग पर विचार किया गया है, और उन प्रतिपादों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिनके ज्ञान के मध्य और उन्नत विन्यास में गणना गिनती है। प्रति व्यक्ति ताप का अध्ययन पंजीय अध्ययन में आरम्भ किया गया है जिससे बाद एक अध्ययन जनगणना पर है। हमने बाद स्वभावतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की बारी धरती है। बल्कि भिन्न भिन्न स्थानों के लोगों की उपलब्ध साधनों के भिन्न भिन्न होने का परिणाम ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार है। आर्थिक विन्यास में सरकार का योग कोई स्वतंत्र विषय नहीं है। हमारा सम्बन्ध सम्बन्ध उपयुक्त सभी अध्ययनों में है, लेकिन सरकारों के योगदान के महत्त्व को हमने हुए हम पर एक अलग से अध्ययन निरन्तर ही भविष्यजनक समझा गया है। हर अध्ययन में विषय के प्रतिपादन का एक अनु-संग है, विभाग के प्रति अनुसूचना की दृष्टि से हमें आर्थिक सम्बन्धों, गणनाओं और विन्यासों में निर-परती है, और प्रति विभाग की दृष्टि से हम यह जानना चाहते हैं कि परिवर्तन क्यों होते हैं, किस प्रकार होते हैं और भविष्य में होने वाली घटनाओं के बारे में कोई पूर्वानुमान लगाए जा सकते हैं अथवा नहीं।

आर्थिक विभाग के विभिन्न कारणों के रूप में अपनी विषय अनु का विभाजन कर लेने के साथ ही हमें समय-समय पर इन कारणों के आर्थिक सम्बन्धों पर भी जोर देना होगा। विभाग की विधी एक दिशा में प्रवृत्ति होने के साथ उन्नत अध्ययन दिशाओं भी आगे बढ़ती हैं। मात्र तीव्र, विन्यास में अधिक पूर्ण उपलब्ध हुई तो हमारे भाग ही यह भी बल सम्भव है कि प्रोद्योगिकी में नयी-नयी बातों का समावेश होगा और सम्भवतः गणना और

मानव प्रवृत्तियाँ पर भी इनका प्रभाव पड़गा। अगर ज्ञान के क्षेत्र में कोई नयी खोज होनी है तो उसके पत्रस्वरूप पूँजीनिवेश में वृद्धि होनी है और तदनुसार मज्दूर भी प्रभावित होत हैं। यदि मज्दूर शिथिल कर दिए जाएँ तो मानव-प्रयत्न उट जाना है और उत्पादन में ज्ञान और पूँजी की प्रयुक्ति अधिक होने लगती है। सामाजिक परिवर्तन स्वभाव में सचयी होत हैं जिसके कारण विकास के विभिन्न पहलू एक-दूसरे को बल प्रदान करते हैं।

इन अंतर्मन्त्रों के बावजूद इन बातों पर जोर देने का चलन है कि कोई एक पहलू अन्य सभी में अधिक महत्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए, आदर्शमिथ और अनेक उदार अर्थशास्त्री यह समझते थे कि आर्थिक विकास के लिए सबसे आवश्यक वस्तु सही संस्थानों का होना है, यदि संस्थान अनुकूल हों तो प्रयत्न के लिए इच्छा या ज्ञान के संचय या पूँजी के संचय की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, चूंकि ये सब तो मानव की सहज प्रतिक्रियाएँ हैं जिन पर दोषपूर्ण संस्थानों द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं। दूसरी ओर मानवता का विचार था कि अविश्वसित देशों की सबसे बड़ी कठिनाई माँग की कमी है, इसे आज की तकनीकी भाषा में 'आराम की अपेक्षा आय का हीनमूल्यन' कहते हैं और अब भी अनेक लोग इस विचार के समर्थक हैं। एक सम्प्रदाय ऐसा भी है जिसके अनुसार विकास की सबसे बड़ी बाधा प्रौद्योगिकी का निम्न स्तर है, इसका एक उदाहरण राष्ट्रपति ट्रूमन का अविश्वसित देशों के लिए तैयार किया गया कार्यक्रम है, जिनके मूल में यही धारणा थी कि कम विकसित देशों को विकसित देशों से मुख्यतया तकनीकी सहायता ही दी जानी चाहिए। कुछ लोगों का यह भी विचार है कि पूँजी न होने से ही विकास रुकता है। उनका कहना है कि यदि पूँजी उपलब्ध की जा सके तो नवीन प्रौद्योगिकी विधियाँ भी लागू की जा सकती हैं, और आर्थिक विकास की प्रक्रिया में वे सभी संस्थान, जो विकास के प्रतिबन्ध होते हैं, खुद बदल जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं। इन सबके बाद एक ऐसा सम्प्रदाय भी है जो सारा महत्त्व प्राकृतिक साधनों को ही देता है। इनके विचार में प्रत्येक देश को उसके प्राकृतिक साधनों को देखते हुए जितनी पूँजी या जो संस्थान अपेक्षित होते हैं वे उस देश को अपने-आप उपलब्ध हो जाते हैं। इन विभिन्न मतों के अनुरूप 'कम विकसित' के अर्थ भी अनेक हो गए हैं। किसी की दृष्टि में वह देश कम विकसित है जिसकी प्रौद्योगिकी अन्य देशों की तुलना में पिछड़ी हुई है, कोई उस देश को कम विकसित मानते हैं जिसके संस्थान पूँजी-निवेश के अधिक प्रतिफल हों, कुछ लोग उन देशों को कम विकसित कहते हैं जिनकी प्रति व्यक्ति पूँजी संसार के अन्य भागों, जैसे पश्चिमी यूरोप, में कम है, या जहाँ प्रति व्यक्ति उत्पादन कम है या जहाँ के मूल्यवान प्राकृतिक साधनों (खनिज, जल, मिट्टी) का उपयोग अभी आरम्भ नहीं किया गया है। सम्भव है कि कोई देश इन



थरों में न केवल अन्व की अपेक्षा किमी एक शर्ष में अधिक प्रतिक्रियित हो, लेकिन व्यवहार में यह शर्ष इतने निरन्तर रूप से सम्बन्धित है कि किसी देश को अन्व थरों की वजाय किमी एक शर्ष में कम विकसित वह देश पर सामान्य किमी को कोई आपत्ति नहीं होगी ।

यह अवश्य नहीं है कि किसी विशेष स्थान पर किमी विशेष समय में विकास के लिए कोई एक वाधा अन्व सभी बाधाओं से अधिक बलवती सिद्ध होगी है । इसका एक कारण तो यह है कि विकास की गति किमी एक दिशा में ही सबसे अधिक निहित हो, या यह भी सम्भव है कि विकास की अनेक सम्स्याओं में स किमी एक समस्या को पहले हल करना सामान्य मान्य होता हो । उदाहरण के लिए, कुछ ऐसे देश हो सकते हैं जहाँ विकास के माध्य में इस समय सबसे बड़ी बाधा सम्पन्न है (जैसे घटिया सरकार या भूमिधारण के दोषपूर्ण नियम) । इन देशों में अगर सम्पन्न में उचित परिवर्तन कर दिये जाएँ तो ज्ञान और पूँजी में वृद्धि की आशा की जा सकती है, अन्यथा नहीं । ऐसे भी देश हो सकते हैं जहाँ प्रचलित सम्पन्न आर्थिक विकास में बाधक नहीं हैं लेकिन जहाँ की सबसे मुख्य समस्या पूँजी की कमी है । ऐसे भी देश हैं जहाँ विकास की दिशा में सबसे अधिक काम यह हो सकता है कि किसानों को रासायनिक खाद और अन्व बीज के रूप में नयी प्रौद्योगिकियों में परिचित कराया जाए । वहाँ का तात्पर्य यह है कि कभी कभी अन्व सम्स्याओं को छोड़कर किमी एक समस्या पर ध्यान केन्द्रित करना अधिक उचित है । जैसे यह एक सम्पन्न उद्योग हो है, चूँकि अगर प्राय एक गतिरोध दूर कर देंगे तो दूसरे गतिरोध उभरकर सामने आने लगेंगे । अगर किसान नये बीज और रासायनिक खादों का उपयोग करने लगे तो इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न अनिश्चित फसलों का व्यापार करने के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होगी, अगर पूँजी उपलब्ध हो जाती है तो कर्षक और दूसरे पूँजीनिवेश-सम्बन्धी कानूनों में उचित परिवर्तन कर लेंगे, अगर सम्पन्न भी अनुकूल बना दिये जाएँ तो विकास में बाधक कोई और तत्त्व उठ खड़ा होगा । इस प्रकार, मुफ्त किमी एक दिशा में कार्य प्रारम्भ करने हुए भी इस बात का ध्यान रहे कि अगर जंग पूरी तरह सफल होता है तो किछ पहलुओं को उभरने सम्बन्ध अधिक महत्व दिया है उभरने आना भी ऐसी सम्पन्न दिशाएँ होंगी जिनमें परिवर्तन अपेक्षित होगा ।

इस पुस्तक में विकास के विभिन्न कारणों को केवल निरूपण की दृष्टि में ही प्रस्तुत किया गया है । चूँकि ये कारण परस्पर संबद्ध हैं, इसलिए पुस्तक को ठीक-ठीक सम्बन्ध के लिए यह पूरी ही पढनी चाहिए, हर वाक्य, पैराग्राफ या अध्याय में जो कुछ कहा गया है वह संपुष्क में नहीं बरकरा बाँटो की मानकर ही लिया गया है, और यदि उसे अपने सम्बन्ध से प्रलग कर दिया जाए तो सम्भव

है कि उसके अर्थ गलत हो जाएँ। कुछ ऐसे विषय हैं जैसे कि धर्म, जिनकी चर्चा कई अध्यायों में होगी और हर बार उनका अध्ययन आर्थिक विज्ञान के किन्हीं भिन्न पहलुओं के मदमें में किया जाएगा। अविभाज्य विषय का विभाजित करने में थोड़ा भ्रम होना अवश्यभावी है। हमने पुस्तक के बनवने में अक्सर अन्यान्य मदमें दिए हैं ताकि भ्रम की गुंजायश कम-से-कम रहे लेकिन आगे पाठक विभी एक समस्या पर पूरे विचार जानना चाहें तो उसे पुस्तक के अन्त में दिए गए सूचक की सहायता लेनी चाहिए।

प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक मदमें-टिप्पणी दी गई है जिसमें उस अध्याय में जिन विषयों की चर्चा की गई है उनमें से कुछ के बारे में मदमें-ग्रन्थ बताए गए हैं। इन टिप्पणियों का उद्देश्य तत्सम्बन्धी समूचे मदमें टिप्पणी माहित्य का सर्वेक्षण नहीं है, इनमें केवल उन्हीं ग्रंथों के नाम दिए गए हैं जिनसे विद्यार्थी को विशेष सहायता मिलने की आशा की जा सकती है। इस पहली टिप्पणी में हम आर्थिक विज्ञान, इतिहास दर्शन और विशिष्ट देशों के अध्ययन पर लिखी गई सामान्य पुस्तकों के नामोन्लेख करेंगे।

१८वीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों में आर्थिक विज्ञान की समस्याओं के प्रति बड़ी दिलचस्पी थी और उस शताब्दी में जितने ग्रंथ प्रकाशित हुए उनमें से लगभग सभी में वर्तमान पुस्तक की मारी विषय-वस्तु का विवेचन किया गया है। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस विषय पर विचार करने की परंपरा समाप्त हो गई। जॉन स्टूअर्ट मिल की प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकॉनमी (अर्थशास्त्र के सिद्धान्त), लंदन, १८४८, उस परंपरा की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक थी, और आज भी पठनीय है। फ्रैंजरिफ लिमिट इतना बड़ा लेखक नहीं था, टॉरिफ-सम्बन्धी समस्याओं पर उसके विचार उदार थे, लेकिन उनकी पुस्तकों का अध्ययन इसलिए बड़ी दिलचस्पी का है क्योंकि जर्मन और अमेरिकी विचारधाराओं पर निरुद्ध का काफी प्रभाव पड़ा था, इनकी पुस्तक दो नेशनल सिस्टम ऑफ पॉलिटिकल इकॉनमी (अर्थशास्त्र की राष्ट्रीय प्रणाली), लंदन, १९०९, (पहले जर्मन भाषा में १८४४ में प्रकाशित हुई) पठनी चाहिए। कार्ल मार्क्स भी मस्थापन अर्थशास्त्रियों की परंपरा में थे, उन्होंने बहुत लिखा है, लेकिन अर्थशास्त्र सम्बन्धी उनकी पुस्तकें केवल विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं। सुबोध ज्ञान के लिए एक आधुनिक मार्क्सवादी पी० एम० स्वीजी की दो थ्योरी ऑफ कॅपिटलिस्ट डेवलपमेंट (पूँजीवादी विज्ञान का सिद्धान्त), न्यूयार्क, १९४०, पढ़ी जा सकती है।

बीसवीं शताब्दी का एकमात्र अर्थशास्त्री, जिन्होंने आर्थिक विज्ञान के सामान्य सर्वेक्षण का कुछ काम किया, जे० ए० शम्पीटर था, उनकी पुस्तक सोशलिरिज्म, कॅपिटलिज्म एंड डेमोक्रेसी (समाजवाद, पूँजीवाद और प्रभुत्व), न्यूयार्क,

१९४२ देलए । उनी दी थ्योरी ऑफ इकॉनामिक डेवलपमेंट (प्राथमिक विकास का सिद्धान्त), वैम्ब्रिज, १९३६ जो पहले १९१२ में जर्मन भाषा में प्रकाशित हुई थी, पुस्तक के शीपन को देखते हुए थोड़े से विषयों का ही विस्तारण प्रस्तुत करती है । डॉ० एम० वर्स्टीड का दी थ्योरी ऑफ इकॉनामिक चेन्ज (प्राथमिक परिवर्तन का सिद्धान्त), मारट्टीयल, १९६८ भी विषय का आशिक अध्ययन है । भारतीय समस्याओं में दिलचस्पी रखने वालों को डॉ० दत्त के दी इकॉनामिक ऑफ इन्फ्लैटिंग इन्फ्लेक्शन (घोचोगीकरण का अध्याय) बलवत्ता १९५२, में बहुत अच्छा वर्णन मिलेगा । डब्लू० उड्लू० रोस्टो की दी प्रोसेस ऑफ इकॉनामिक ग्रोथ (प्राथमिक विकास की प्रक्रिया), घातमफोर्ड १९५३ पढ़ति व अध्ययन की दृष्टि से काफी दिलचस्प है । एस०एच० प्रेंबेल की दी इकॉनामिक इम्पैक्ट ऑफ अडवेंचरलैड कट्टीज (बम विवसित देशों पर प्राथमिक गघात, घातमफोर्ड, १९५२, का अर्दाश राष्ट्रीय आय की परिभाषा और नाप से संबंधित है और बारी आधे में यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि पूंजी-रचना से ही प्राथमिक विकास होना निश्चित नहीं माना जा सता । सशिक्षित परिधय के लिए समुक्त राष्ट्र-संघ की मेजर्स फॉर दी इकॉनामिक डेवलपमेंट ऑफ अडवेंचरलैड कट्टीज (बम विवसित देशों के प्राथमिक विकास के लिए उपाय) न्यूयार्क, १९५१, देलए ।

धीलथी सताथरी में अध्यायियों की अपक्षा इतिहासकारों ने इन विषयों पर अधिय ध्यान दिया है । ए० जे० टॉपनबी की ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री (इतिहास का अध्ययन), लंदन, १९३४-६, सामान्य पाठक की समझ से परे है, लेकिन डी० सी० सोमरवेल ने टॉपनबीज स्टीड ऑफ हिस्ट्री (टॉपनबी का इतिहास का अध्ययन), लंदन १९४६, में एक ही पुस्तक में थडी खूबी के साथ टॉपनबी की पुस्तक का सार प्रस्तुत कर दिया है । टॉपनबी के काम के प्रति इतिहासकारों के सामान्य वैर के बावजूद सोमरवेल द्वारा प्रस्तुत सार पढ़न योग्य है । दूसरा बडा ऐतिहासिक सिद्धान्तवादी पी० सोरोकिन हैं, जिनके विगत कार्य को एफ० आर० कोर्बेल ने हिस्ट्री, सिविलाइजेशन एंड कल्चर (इतिहास, सभ्यता और संस्कृति), लंदन, १९५२, नामक अपनी पुस्तक में सशिक्षित रूप में प्रस्तुत किया है । मिडलान के प्रति इतिहासकारों के रग का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आर० जी० वॉरिंगवुड की दी आइडिया ऑफ हिस्ट्री (इतिहास का विचार), घातमफोर्ड १९६६, देलए । वार्से पांवर ने भी ऐतिहासिक सिद्धान्त और भविष्यवाणिया की चर्चा अपनी पुस्तक दी घोविन सोसाइटी एंड इट्स ऐनीमोस (सुता समाज और उसके समु), लंदन, १९४५, में की है । एम० जिन्सबर्ग की दी आइडिया ऑफ प्रोसेस (प्रक्रिया का विचार), लंदन, १९५३, भी देलए ।

प्राथमिक इतिहास के क्षेत्र में जिनका अध्ययन किया जाए उतना ही अच्छा है । पश्चिमी यूरोप और समुक्त राज्य अमेरिका के इतिहास पर अनेक प्रामाणिक

पुस्तकें हैं। मोवियन रूम के विषय में भी कुछ जानकारी रखनी चाहिए। रूमके बारे में सर्वाधिक विश्वमनीय ग्रंथों में ए० बर्गमन की पुस्तक 'सोवियत इकॉनामिक प्रोब्लम (सोवियत आर्थिक विकास)', इवान्टन १९५३ में उपलब्ध है। जापान का अच्छा परिचय प्राप्त करने के लिए ई० एच० नार्मन की पुस्तक 'जापान्स एमरजेंस एंड ए मांडर्न स्टेट (आधुनिक राज्य के रूप में जापान का उद्भव)', न्यूयार्क, १९४०, और जी० सी० एनन की 'ए शार्ट इकॉनामिक हिस्ट्री ऑफ जापान (जापान का संक्षिप्त आर्थिक इतिहास)', लंदन, १९४६, पढ़नी चाहिए। अगर हम ग्रीस और रोम के उन्धान और पत्तन को समझ सकें तो इस पुस्तक में उज्जट गढ़े सभी समस्याओं का समाधान हो सकता है। हालांकि इस विषय पर बहुत साहित्य मिलता है, लेकिन दुर्भाग्य से उसकी प्रामाणिकता अभी तक बड़ी मद्ति है। इस विषय पर आज तक जितने ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं उनमें से सर्वश्रेष्ठ कैम्ब्रिज एंशोर्ट हिस्ट्री (कैम्ब्रिज प्राचीन इतिहास), लंदन, विभिन्न विधिया का प्रकाशित ग्रंथमाला के संवर्धित खण्ड हैं। एम० गेम्बोवजेफ का 'प्राचीन ममार का पत्तन और उसकी आर्थिक व्याख्या' भी पढ़नी चाहिए जो इकॉनामिक हिस्ट्री रिव्यू (आर्थिक इतिहास समीक्षा), खण्ड दो, १९३० में प्रकाशित हुआ है।

आदिम जानियों के स्थानों का भी थोड़ा-सा परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इसके लिए सी० डी० फोर्ड की 'हैबिटेड, इकॉनमी एंड सोसाइटी (प्राकृतिक वान, ग्रंथ व्यवस्था और समाज)', लंदन, १९३४, थार० डालू० फर्थ की 'प्रिमिटिव पोलिनीशियन इकॉनामी (पोलिनीशिया की आदिम अर्थव्यवस्था)', लंदन, १९३६, एम० जे० हंसकोवित्ज की 'दी इकॉनामिक लाइफ ऑफ प्रिमिटिव पीपुल्स (आदिम लोगों का आर्थिक जीवन)', न्यूयार्क, १९४०, और, वी० मालिनो-वस्की की 'आर्गोनोट्स ऑफ दी वेस्टर्न पैसिफिक (पश्चिम प्रशांत के आर्गोनोट)', लंदन १९००, पढ़नी चाहिए।

धार्मिक या जातीय समूह) में भी मॉड्यूर हैं और एक ही देश में सिद्धान्त के भिन्न-भिन्न वाता में भी मानव व्यवहार बहुत बदलता रहा है। इन भेदों के तीन प्रयोग करना कारण है। पहला तो यह कि लोग आर्थिक पदार्थों का और उनको प्राप्त करने में किए जाने वाले प्रयत्नों का सापेक्षित मूल्य अलग अलग आकृत है दूसरा कारण यह है कि वही आर्थिक अवसर कम है और वही अधिक और नवम अंतिम कारण सम्मानना में सम्बन्धित है जो कि हम समाज में एक विशिष्ट सीमा तक आर्थिक प्रयत्नों का बटावा देते हैं। यह बटावा या तो इन प्रयत्नों की बाधाओं को दूर करने का रूप में ही सकता है या व्यक्ति को उसके प्रयत्नों के फल का उपभोग करने के लिए गारंटी का रूप में ही हो सकता है। किसी देश में दूसरे देशों की अपेक्षा आर्थिक प्रयत्न कम किए जाते हैं। यह अधिकतर नास्थानिक कारणों का ही परिणाम है और आर्थिक विकास में वृद्धि करने का इच्छक समाज-सुधारक प्रचार या बानून का आश्रय लेकर इन सम्मानों में उपयुक्त परिवर्तन करते हैं। वैसे, प्रयत्न की इच्छा कम-अधिक होने के शुद्ध मनोवैज्ञानिक कारण भी हैं और हम सबसे पहले इन्हीं का विवेचन करेंगे। यह कहना अनावश्यक है कि प्रवृत्तियाँ और उत्थान एक-दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं, हम उन्हें केवल विवेचन की दृष्टि से अलग मान रहे हैं।

जब हम कहते हैं कि एक विशिष्ट समूह पदार्थों की अन्तर्गता उन्हें प्राप्त करने के लिए अपेक्षित प्रयत्न को अधिक महत्त्व देता है तो हमारा ध्यान दो कारणों की ओर जाता है—या तो यह समूह पदार्थों और

१. पदार्थों के लिए सेवाओं को अधिक महत्त्व नहीं देता और या उन्हें प्राप्त करने के लिए जितना प्रयत्न आवश्यक है उस करने के लिए वे मनोवैज्ञानिक रूप से तैयार नहीं होते। प्रयत्न कारण के अन्तर्गत वस्तुओं को जो कम महत्त्व मिलता है वह चरित्व के कारण हो सकता है, या अन्य कामों को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देने से हो सकता है, या सीमित आकांक्षाएँ भी इसके लिए जिम्मेदार हो सकती हैं। द्वितीय कारण के अन्तर्गत हमें यह ध्यान रखना होगा कि आर्थिक प्रयत्न में केवल काम ही नहीं बल्कि गतिशीलता और उत्थान आदि अवसरों को खोजने और उनका उपयोग करने के सभी तरीके शामिल हैं। अब हम एक-एक करके इन सभी मामलों के प्रति मानव प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे :

(क) चरित्व—चरित्व के नियम यह मानते हैं कि अलग अलग साधनों की अपेक्षा कम वस्तुओं का उपभोग करना एक विनियम गुरु है। कई प्रकार में यह सिद्ध किया जाता है कि जीवन की सर्वश्रेष्ठ विधि यही है। पहले तो कुछ नियम ऐसे हैं जिनमें मनुष्य को अपनी समस्त प्राकृतिक इच्छाओं, जैसे भोजन, यौन-भावना, आराम और दूसरे सुखों पर नियम रखने के मन्व्य पर जोर दिया गया है; ये

## मितोपयोग की इच्छा

नियम प्राथमिक उन्नति के लिए उपयोग और दूसरे वर्गों को (सहायता) देते हैं। यत्न का दूसरा जोर इस बात पर है कि मनुष्य का जितना समय प्राथिक प्रयत्नों में खर्च होता है, वह भी ध्यान का धार्मिक क्रियाओं को दिया जाना चाहिए, वैसे सभी धर्मों का यह दृष्टिकोण नहीं है—किसी-किसी धर्म में ईश्वर को प्राप्त करने के लिए जितना महत्त्व प्रार्थना को दिया गया है उतना ही कम को भी प्राप्त है, और ऐसे धर्मों के अनुसार कर्म भी आत्मा की उन्नति का एक साधन हैं। यत्न का तीसरा जोर इस बात पर है कि प्राथिक प्रयत्न के दौरान मनुष्य अपने अन्य माध्यामों से सतप करता है, जिससे बचने का उपाय यही है कि लालमातों अधिन न बढ़ाई जाएँ और प्राथिक प्रावश्यकताएँ जितनी कम की जा सकें अच्छा है।

अधिकांश धर्मों में पुरोहितों, पेशेवर धर्मावलम्बियों, धर्मरक्षकों और उसके प्रचारकों से जिन आचार-विचारों के पालन की आशा की जाती है वे सामान्य गृहस्थ के आचार-विचारों से भिन्न होते हैं। पुरोहितों से प्राप्तों पर यही आशा की जाती है कि वे निर्धनता की तरह रहें। वैसे यह सिद्धान्त रूप में भी सत जगह निर्धारित नहीं है। उदाहरण के लिए अभीका में प्रचलित कुछ धर्म ऐसे हैं जिनमें पुरोहितों से अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक यत्न के पालन की आशा नहीं की जाती। जिन धर्मों के सिद्धान्तों में पुरोहितों के लिए अलग आचार-विचार निश्चित हैं वहाँ भी व्यवहार में कुछ और ही पाया जाता है। जंग, बहूत में पूजास्थलों में, जहाँ कि पुरोहितों से आदर्श यत्न का पालन करने की आशा की जाती है वहाँ भी मदिरा, खान-पान और ऐसी आराम की शिथिलता का ही आचरण देखने को मिलता है। सिद्धान्त और व्यवहार का यह भेद वहाँ अधिक देखने को मिलता है जहाँ पुरोहित और पूजा-स्थल में भेद किया जाता है। अगर नियम पूजा-स्थलों में धन-समृद्ध होने देने के विपरीत नहीं हैं—और चाहे ही ऐसा कोई धर्म हो जिसमें अपने पूजा-स्थल में धन-संचय को बुरा माना गया हो—तो फिर पुरोहितों में यह आशा करना अर्थात् है कि वे पूजा-स्थल के धन का प्रबन्ध करने समय स्वयं उमका बिनवृत्त उपयोग नहीं करेंगे।

पुरोहितों और साधारण गृहस्थों के लिए अलग-अलग नियम होने पर भी यह सम्भव नहीं है कि इनके आचार-विचार एक-दूसरे से अलग-अलग रहें। चूंकि पुरोहितों का जीवन पवित्रता का प्रतीक समझा जाता है और साधारण गृहस्थों-जन किसी-न-किसी रूप में उसके अनुकरण का प्रयत्न करने ही हैं। वैसे यत्न के मामले में आम आदमी से इतनी ही अपेक्षा की जाती है कि वह समय-समय पर, या निर्दिष्ट दिनों में, या निर्दिष्ट कार्यों में यत्न के विभिन्न रूपों (विशेष-कर उपवासों) पर आचरण करेंगे। यत्न के इन निर्धारित कार्यों के साथ ही स्वोहार या भोज के दिन भी जुड़े होने हैं जब कि धर्माचरण करने वाले इन भोगों

को भिन्न-भिन्न प्रकार से सामाजिक आकर्षणों में लिप्त होने के अवसर दिये जाते हैं। मूलतः इन उपवासों और उत्सवों का सम्बन्ध खेती के मौसमों से है, फल वृत्तार होन के पहले बाने काम में जबकि फसल का प्रभाव होता है उन दिनों उपवास रमे जाते हैं और फसल बट जान के बाद ईश्वर के प्रति वृत्तता प्रकट करने के लिए भोज दिये जाते हैं।

मनार में केवल वही देश एसे है जहां हिन्दुधर्म और बौद्ध धर्म का प्रभाव है, जिनमें साधारण गृहस्थ में भी यत्न के आदमी पर आचरण करने के लिए जोर दिया जाता है लेकिन शासक इन देशों में भी य आदेश मान आदमी के व्यवहार को प्रभावित नहीं करते। हाँ, यह ही सच्चा है कि ऐसे देशों में कुछ लोग, जो व्यवसाय द्वारा जीविकोपार्जन करने, वे भी पुरोहितों वाली दृष्टि करने लगते हैं, लेकिन ऐसा सभी जगह नहीं होता। यह समझ है कि व्यवसाय-वृत्ति छोड़कर पुरोहितों का काम करने वालों की संख्या किसी धर्म में अन्य धर्मों की अपेक्षा अधिक हो, और इस प्रकार अनेक व्यक्ति, जो कि आर्थिक कारणों में लाते, वे पुरोहित का काम करने लगें। यह भी ही सच्चा है कि गृहस्थों द्वारा जो धन पूँजी के रूप में रखा जाता वह पुरोहितों की इस बड़ी संख्या के भरपूर-भोगों में लग जाता हो। लेकिन यदि ऐसा है तो यह उन स्थानों पर धर्म के अधिक प्रभाव और पुरोहितों की जिन्दगी में आकर्षण होने से है। किसी धर्म में पूजा करने के लिए पेशेवर व्यक्तियों की बड़ी संख्या में आकर्षित करने की शक्ति दूसरी बात है, और उस धर्म में यत्न के गुरुओं पर कितना जोर दिया जाता है यह फल भी है। एक-दूसरे से पृथक् सत्रहवीं शताब्दी के स्पेन और फ्रांस के विद्रोह के बारे में यह आरोप लगाया जाता है कि उनके आर्थिक विद्रोह का कारण वहाँ पुरोहितों की अधिकता है, लेकिन इस आरोप का सम्बन्ध इस प्रश्न से है कि पूँजी-निर्माण के लिए उपलब्ध साधनों की मात्रा जिन बातों पर आधारित है, सामान्य गृहस्थ के व्यवहार पर यत्न के प्रभाव से इस आरोप का सम्बन्ध नहीं है।

यह माननीय से कहा जा सकता है कि सामान्य गृहस्थ के व्यवहार पर यत्न का बहुत बड़ा प्रभाव होता है। मनार के किसी भी देश में आम लोग अपने जीवन का स्तर बढ़ाने के लिए अवसरों का उपयोग करने में इसलिए नहीं हिचकते कि अपने वर्तमान रहन-सहन के स्तर को लँका उठाने से उनकी धाना कलुषित हो जाएगी। यह बात दूसरी है कि वे प्रयत्न करना न चाहते हों, लेकिन यह बिलकुल अलग बात है जिस पर कि हम बाद में विचार करेंगे। अगर बिना प्रयत्न किये ही उपभोग करने के लिए आर्थिक वस्तुएँ मिल जाएँ तो शासक बहुत ही घड़े ऐसे सामान्य जीव मिलेंगे जो भुक्ति में बाधक समझकर उनके उपभोग से इनकार कर दें। इसी प्रकार यदि मान्य या दर्मा के जिनानों की

अच्छी उपज देने वाले बीज या सामाजिक माद दिये जाएँ तो धार्मिक दृष्टि से उन्हें बेनी के काम में इन वस्तुओं का प्रयोग करने में कोई बाधा नहीं होगी, और अच्छी बेनी से प्राप्त लाभ का उपभोग करना भी घम विरुद्ध नहीं सम्भवा जाएगा। यह तो ही सत्यता है कि किसी धर्म में कुछ निर्दिष्ट पदों या धर्मों में जीवन-निर्वाह करने का नियम हो—इस पर हम बाद में विचार करेंगे—लेकिन ऐसा किसी धर्म में नहीं है कि अगर पाप क्रिये वगैरे जीवन का म्ग ऊँचा किया जा सके तो भी उसका नियम किया जाए।

(ख) धन और सामाजिक हैमियत—अधिकतर मनुष्यों में पतिव्रत व प्रतिप्राप्तपंग की अपेक्षा धन के प्रति आकर्षण अधिक पाया जाता है चाहे उसका उद्देश्य सना प्राप्त करना ही या सामाजिक हैमियत बढ़ाना हो।

लोग सामान्यतः ऐसी वस्तुओं का उपभोग करना पसंद करते हैं जो सामान्य पहुँच के बाहर होती हैं। इस धुन में कई बार तो मनुष्य ऐसी चीजें प्राप्त करने की इच्छा करता है जिनका वह उपभोग भी नहीं कर पाता। बहुत से लोगों के पास ऐसी चीजें रहती हैं जिनका उनके लिए कोई उपयोग नहीं है लेकिन जो केवल उनकी हैमियत बढ़ाने की दृष्टि में लामो गई हैं—साहित्य में ऐसे उदाहरणों की भरमार है, जैसे उन धर्म में पियानो मौजूद बताया गया है जिनका पर भी आदमी पियानो बजाना नहीं जानता, ऐसे लक्षणियों का उल्लेख है जिनमें भाषुकता नाम को भी नहीं है लेकिन उनकी अपनी निजी चित्रवीथियाँ हैं, मास, या दूध के लिए नहीं बल्कि नबीले में अपनी प्रतिष्ठा के प्रदर्शन के लिए प्रत्येक व्यक्तियों द्वारा मँवनी पाते जाने की भी चर्चा की गई है, दिग्ग-दिग्गार बरबाद करने या विगाहने के लिए वस्तुएँ ले आईं जानी थी, और इसी प्रकार के और भी उदाहरण हैं जहाँ व्यक्तिगत उपभोग के बजाय केवल प्रदर्शन के लिए पदार्थ इकट्ठे करने की कोशिश की जाती थी। इस प्रकार के प्रदर्शन अधिकतर के लोग करते हैं जो निचले सामाजिक वर्ग में अगर वे वर्ग में आ रहे होते हैं और जिन्हें अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा की मांग बिठानी होगी है। औद्योगिक देशों में हाल ही में धनी बने हुए लोग इस प्रकार की प्रवृत्ति का प्रदर्शन अधिक करते हैं। उपनिवेशी देशों में, जहाँ कि शासक-वर्ग की जाति शासितों से भिन्न होती है, प्रमाण देगा जाना है कि मध्यम और उच्च वर्ग के लोग ऐसी वस्तुओं का बहुतायत में उपभोग करते हैं जिनमें उनकी विशिष्टता मान्य पड़े। इस प्रकार के यह दिखाना चाहते हैं कि उनकी राष्ट्रीयता के लोगों में भी उनकी ही महानता है जितनी कि उनके शासकों में है और वे शासक वर्ग में किसी बात में कम नहीं हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर वे शासक-वर्ग के लोगों जिनके बड़े-बड़े मकान बनवाते हैं, उनकी ही बनी गाड़ियाँ खरीवें और ऐसी ही गावदार दावने देते हैं। इस प्रकार के देशों में सामाजिक वर्ग के लोग इनपर दृष्टि में "दूर" में "।



और जिस धन को बचाकर वे पूंजी के रूप में प्रयोग करके अपने देश को आर्थिक रूप से मजबूत बना सकते थे वह धन व्यर्थ बह जाता है।

कुछ लोग सत्ता प्राप्त करने के लिए भी धन की आकांक्षा करते हैं—चाहे यह सत्ता रिश्तेदार देने की सामर्थ्य के रूप में हो या राजनीतिक अधिकार, कर्मचारियों पर अधिकार या अन्य प्रकार के अधिकारों के रूप में हो।

बैंगन, सत्ता या प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए धन-सचय ही सबसे सरल साधन नहीं है। आधुनिक पंजाबी समाज में कोई भी अमीर व्यक्ति बड़े-बड़े सामाजिक महत्त्व वाले लोगों में उठ खंड सकता है। लेकिन अन्य अनेक समुदायों में ऐसी बात नहीं है। उदाहरण के लिए हिन्दू समाज में पुराहितों को ही सबसे अधिक सम्मान मिलता है, इसी प्रकार चीन में भी पहले सबसे अधिक आदर का पात्र विद्वान ही समझा जाता था। कहीं-कहीं सन्त आर्थिक प्रतिष्ठा योद्धा को मिलती है या कहीं ऊँचे परिवार में जन्म लेने वाले ही उंची नज़र से देखे जाते हैं। जिस देश में जिस प्रकार के लोगों को सबसे अधिक सम्मान प्राप्त होगा वहाँ के उच्चमी युवक उसी प्रकार के अनुरूप पैग अपनाएंगे, चाहे वह पैग बुद्ध-मन्त्रिणी हो, गिद्धार हो, धार्मिक हो या दफ्तर की नौकरी हो। वे आर्थिक काम-धन्धों में सभी लगना पसंद करेंगे अगर उन्हें यह निश्चय हो कि आर्थिक क्षेत्र के सफल व्यक्तियों को सर्वाधिक सम्मान मिलेगा। सोवियत संघ के आरम्भिक दिनों में आर्थिक सफलताओं को नगण्य समझा जाता था, वहाँ पार्टी के व्यक्तियों को या मजदूर संघ के कार्यकर्ताओं को या वैज्ञानिकों को ही ऊँचा सम्मान देने, कारखाने का मंत्री बनना नौका समझा जाता था। आज बात बिल्कुल दूसरी है। सफल मैनेजर बहुत उँचा वेतन पाता है, उसे आवास और मनोरंजन की विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं, अब उसे अपने कारखाने के मजदूरों से दबकर नहीं रहना पड़ना और वह बड़े-से-बड़े सामाजिक सम्मान वाले लोगों के साथ उठ-खंड सकता है।

एक कारण तो यह है जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि कुछ देशों में दूसरों की अपेक्षा धन के प्रति आकांक्षा अधिक पायी जाती है, और धन के प्रति जितना आकर्षण होगा उसे प्राप्त करने का उतना ही प्रयत्न किया जाएगा। वैसे, धन के प्रति आकांक्षा में माना के भेद ही पाए जाते हैं अन्यथा मसाले के हर देश में धनी लोगों की आदर और प्रतिष्ठा मिलती ही है। कहीं-कहीं धन सचय करने वालों को उल्टा प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो जाती बल्कि उनसे अगली पीढ़ी को समाज में सम्मान मिल पाता है। फिर भी धन-सचय के प्रयत्न की सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के अन्य साधनों से सदा ही स्पर्धा रहती है और समाज के बुद्धिमान और उच्चमी युवकों का कितना अनुपात आर्थिक क्रियाओं में लगता है, यह इस पर निर्भर है कि उस

समाज में धन-सचय और दूसरी सामाजिक क्रियाएँ को कितना कितना महत्त्व दिया जाता है। उदाहरण के लिए कुछ लोगों का विश्वास है कि इंग्लैंड की अर्थशास्त्र-श्रेयस्विता म धनी लोगों का सम्मान अधिक है और वहाँ में धनी लोगों को इंग्लैंड में भी कम प्रतिष्ठा मिलती है। इसी लोगों का यह भी कथन है कि जिन देशों का आर्थिक विकास कितना अधिक हो चुका होगा वहाँ धन की प्रतिष्ठा उतनी ही अधिक बढ़ती जाएगी। इसी प्रकार औद्योगिक क्रियाएँ के अधिकार सफल और असफल विज्ञानियों में यह जानने की कोशिश की गई है कि शान्ति के ठीक पहले वहाँ ऊँचे पदान के लोगों विद्वानों और सैनिक-बर्ग की अर्थशास्त्रिक वर्गों को कितनी प्रतिष्ठा मिली हुई थी। उदाहरण के लिए, चीन और जापान की तुलना करते समय कहा जाता है कि इन देशों में व्यापारिक वर्गों को प्राप्त प्रतिष्ठा म अन्तर था इतनीसे पिछने कई भी शान्ति में इन देशों का आर्थिक इतिहास भी इतना भिन्न रहा है। इसी प्रकार के उदाहरण ऐतिहासिक के जमाने का इंग्लैंड और स्पेन हैं। स्पेन में व्यापारियों को ऊँची नज़र से नहीं देखा जाता था, इसलिए मोनार्की और मन्त्रियों शताब्दियों में स्पेन आर्थिक अवसरों का उपयोग करने में नितास्त असफल रहा।

एक समय ऐसा भी था जब अन्तर यह कह दिया जाता था कि पश्चिम के देशों में धनी लोगों को जो ऊँचा सम्मान प्राप्त है वह सुधार और प्रति सुधार के दिनों ईसाई धर्म में हुए परिवर्तनों के कारण है। यह बहुत कुछ सही है कि मध्य युग में ईसाई धर्म न व्यापारिक वर्ग में लगे हुए लोगों को बहुत धिक्कारा था, और यदि कोई व्यक्ति अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा या अपने परिवार को ऊँचा उठाने के लिए धनी बनने की इच्छा करता था तो उसे पारी की गज़ा दी जाती थी। बारहवीं शताब्दी के लगभग जबकि समुद्र-व्यापार बढ़ना शुरू हुआ तो धन का महत्त्व समझा जाने लगा, और अब तो धन सचय के अवसरों को बढ़ाने का बड़ा महत्त्व माना जाता है। जैसे-जैसे धन बढ़ता गया उसका सम्मान भी बढ़ता चला गया, और सुधार के युग में बहुत पहले ही ईसाई धर्मशास्त्री अपने उपदेशों में इस प्रकार के परिवर्तन करने लग गए थे जिनमें यह प्रमाण दिया जा सके कि व्यापार और सूदखोरी आवश्यक रूप से पाप कर्म नहीं है। पन्द्रहवीं शताब्दी में, जबकि सुधार का युग आरम्भ हुआ धर्मोपदेश बहुत कुछ इनके अनुकूल हो चुके थे। धार्मिक परिवर्तन और आर्थिक परिवर्तन के परस्पर सम्बन्ध का यह एक दिनकल्प उदाहरण है जिनके बारे में हम अध्याय ३ (पृष्ठ ४ [ब]) में विस्तार से विचार करेंगे। चूंकि धर्म में धार्मिक परिवर्तन का शक्तिशाली मिलना है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि आर्थिक प्रवृत्तियों केवल धार्मिक बानों पर ही निर्भर हैं। दूसरी ओर, आर्थिक नहीं तो केवल इनो कारण कि धार्मिक

परिवर्तन होने में समय लगता है, यह कहा जा सकता है कि धार्मिक विद्वानों का आर्थिक व्यवहार पर मदा ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

लगभग हरेक समाज में धन, प्रतिष्ठा और मता का आपस में निकट सम्बन्ध है। हाँ, इस बात को लेकर मौलिक अन्तर पाए जाते हैं कि धनी लोग अपने धन का क्या उपयोग करते हैं, और किन साधन में प्राप्त धन को अधिक प्रतिष्ठा मिलती है। पूर्व पूँजीवादी समाजों में धनी लोग अपना पैसा अनुत्पादक कामों में खर्च करते हैं जबकि पूँजीवादी समाजों में धन उत्पादक कामों में लगा दिया जाता है। आर्थिक प्रतिरोध वाले समाजों में और आर्थिक रूप से विकसित समाजों में आय की अनुमानना के विषय में अधिक अन्तर नहीं पाए जाते, लेकिन आर्थिक विकास की गति में इस बात से बड़ा फर्क पड़ता है कि धनी लोग अपनी आमदनी नौकर-चाकर रखने में और स्मारक बनाने में खर्च करते हैं या सिचार्ज के साधन, नवानों या और दूसरी उत्पादक विद्याओं में लगाने हैं। किसी देश का धनी या निर्धन होना आय की अनुमानना या धनी लोगों को प्राप्त प्रतिष्ठा की प्रतीति पर अधिक निर्भर है कि वहाँ के लोगों की उत्पादक कामों में पूँजी-निवेश-सम्बन्धी आदतें कैसी हैं। इसी प्रकार, धनियों को प्राप्त प्रतिष्ठा का यह भेद अधिक महत्त्वपूर्ण है कि देश में उन लोगों को अधिक सम्मान मिलता है जिन्होंने धन मुद कमाया है या जिनका धन उत्पादक कामों में लगा है, अथवा उन लोगों को अधिक प्रतिष्ठा मिली हुई है जिनके धनी होने का कारण भूमिस्वामित्व या अनराधिकार में मिली जमीन है। अधिकांश समाजों में जमींदारों का वर्ग अभिजात माना जाता है और यह केवल थोड़े-से ही समाजों में देवते को मिलना है कि वहाँ व्यापारिक काम-काज में पैसा कमाकर धनी बने हुए लोग उतने ही आदर के अधिकारी हो जाते हैं जिनका कि वे लोग जिनकी आमदनी का जरिया जमीन है—इस प्रकार की मान्यता केवल उन्हीं देशों में स्थापित हो सकी है जहाँ काफ़ी आर्थिक विकास हो चुका है। दरअसल किसी समाज के जीवन में वह समय अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता जबकि वहाँ धन की प्रतिष्ठा होने लगती है बल्कि वह मोठ अधिक बटी चीज है जबकि वहाँ उत्पादक कामों में लगा धन और उसमें प्राप्त आय को ऊँची नज़र से देखा जाने लगता है।

उत्पादक कामों में पूँजी-निवेश की प्रवृत्ति भिन्न भिन्न होने के बहुत से कारण हैं जिन पर हम अध्याय ५ (खंड ० [ख]) में विस्तार से चर्चा करेंगे। इन कारणों में से राष्ट्रीय आकांक्षा का भी कम महत्त्व नहीं है। वे देश, जो ऐतिहासिक दृष्टि में अधिक मजबूत बनना चाहते हैं, या जो स्वतंत्र बनना चाहते हैं, या जो उपनिवेश बनाने या दूसरे देशों को जीतने के इच्छुक हैं, अक्सर आर्थिक रूप से मजबूत बनने की कोशिश करते हैं, चूँकि यह युद्ध के लिए तो आवश्यक है ही। आज भी कई देशों में ऐसी राष्ट्रीय आकांक्षाएँ पाई जाती हैं। उपनिवेशों का,

या वे देश जो पहले उपनिवेश थे, वहाँ लगन से आर्थिक विकास के कार्यों की जाँच में लगे हैं और आर्थिक विकास के लिए योजना तैयार कर रहे हैं, बल्कि कुछ तो वे अपने देशवासियों के रहन सहन का स्तर ऊँचा करना चाहते हैं, और कुछ उन्हें अपनी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बढ़ानी है। सोवियत रूस में विस्तार के बड़े-बड़े कार्यक्रमों को अजाम देने में वहाँ की जनता न श्रम कर पट गई है। ब्रिटन में भी उत्पादन के महत्त्व पर जोर दिया जा रहा है, बल्कि यह दग भी प्रथम श्रेणी की मर्चिन के रूप में अपनी स्थिति बनाए रखना चाहता है। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आकाशाएँ बढ़ रही हैं, धन के प्रति प्रवृत्तियाँ में एक देश और दूसरे देश के बीच पाए जाते जाते अन्तर भी समाप्त होत जा रहे हैं, और आर्थिक अग्रगण्य की सम्भावनाएँ पर जो अध्यायन किए जा रहे हैं उनसे अप्रत्याशित परिणामों के फलस्वरूप में अन्तर और भी ज़रूरी लुप्त हो जाएँगे।

(ख) आकाशाओं की सीमा—हमने अन्तर यही प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि व्यवहार में यन्त्र आर्थिक प्रयत्न में बाधक नहीं होता, और यह भी कहा है कि चाहे निजी उपभोग के लिए या प्रतिष्ठा और मना प्राप्त करने के लिए, अधिकतर लोग धन की आकाशा रखते हैं, यद्यपि यह भी सही है कि भिन्न-भिन्न समाजों में अन्व प्रकार की उपलब्धियों की अपेक्षा धन को दिए जाने वाले सम्मान में अन्तर पाया जाता है। अब हम पदार्थों के लिए मनुष्य की आकाशा को सीमित करने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण बात पर विचार करेंगे। इस आकाशाओं की सीमा के नाम से पुकारा जा सकता है।

यहाँ हम कहना यह चाहते हैं कि व्यक्ति की आवश्यकता इसलिए सीमित होती है कि वह थोड़ी-सी चीजों के बारे में ही जानता है, और उन्हीं का उपभोग कर सकता है। आकाशाओं की यह सीमा भिन्न-भिन्न समाजों में अन्व-धन्य है और यह स्थूल पूँजी के मूल्य, मर्चिन मासूहिनिक धानी, धातुओं और नियंत्रणों और लोगों के अज्ञान पर निर्भर होती है।

स्थूल पूँजी में हमारा तात्पर्य स्थूल पर्यावरण से है जो सिन्हीं विशेष चीजों के उपभोग के लिए आवश्यक होता है। दुर्गा सम्बन्ध प्रवृत्ति से भी है और मानव-वास्तुय से भी। उदाहरण के लिए जिन लोगों के आगपाग धानी नहीं है उन्हें तांबों की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। धूम प्रदूषण में आदमकीम कोई नहीं मानता, न विप्लव-रगीर देशों में समूर की आवश्यकता होती है। जिन लोगों के मकान छोटे और अंधेरे हैं वे फर्नीचर की आवश्यकता प्रकट नहीं करते। विज्ञानों की चीजें—घामांगोन, घुनाई की मशीनें, टोमटर, बिजली की भांड—यही इंसोमान नहीं की जा सकती जहाँ बिजली उपलब्ध नहीं है। किस देश में सड़क ही नहीं है वहाँ काग किग प्रकार धनाई जाएगी? करने का धर्म यह है कि अधिकार निर्धन देशों के पास मर्चिन स्थूल पूँजी इतनी नहीं होती कि

वहाँ के लोग अनेक प्रकार की चीजों को माँग कर लेंगे। हर आदमी का घर छोटा-सा होता है जिसमें न विजली होती है, न गैस और न जन-व्यवस्था। अन्य प्रकार की पंजी का भी इसी प्रकार अभाव होता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति केवल थोड़ी-सी ही चीजें खरीद और इस्तमाल कर सकता है।

सांस्कृतिक धाती में हमारा आशय किसी समाज द्वारा सचित्र ज्ञान की पृष्ठभूमि में है। उदाहरण के लिए रिता पट जैसे आदमी को अन्वयान-विताओं, या ऐसी ही और दूसरी चीजों को उद्योग नहीं होती जिनका आनन्द पटे-लिखे लोग ही ले सकते हैं। अगर किसी देश की संस्कृति लोगों की दृष्टि में समृद्ध नहीं है तो वहाँ बाघों की माँग थोड़ी होगी, और न वहाँ लोगों के कार्यक्रम ही अधिक प्राथोक्ति किए जाने लगे। इसी प्रकार धिएटर, मिनमा, खेन के लिए स्टेटिडम, नृत्य के लिए हाल और दूसरी ऐसी चीजें लोगों की संस्कृति के स्वरूप पर निर्भर होती हैं।

तीसरे, आदमों और निषेध भी आवश्यकताओं की सीमा निर्धारित करने हैं। गरीब लोगों में आमदनी का दो-तिहाई या इनमें भी अधिक खाने व कपड़े पर खर्च हो जाता है। लेकिन यही खर्च ऐसे हैं जिन पर सामाजिक परम्पराओं का महत्वपूर्ण प्रभाव होता है इसीलिए लोगों की खुशक में उन्नति करना मुश्किल होता है, विशेषकर तब जबकि कुछ ऐसे सुधार करने हों जिनके अन्तर्गत नये प्रकार की चीजें खाने को कहा जाए या कुछ चीजों को नये तरीके से बनाने पर जोर दिया जाए। इसी प्रकार आमतौर से पसन्द न किए जाने वाले पहनावे का प्रचलन भी थोड़ा ही हो पाता है।

अज्ञान के कारण भी आवश्यकताएँ सीमित रह जाती हैं। स्थूल पृष्ठभूमि, साम्प्रतिक पृष्ठभूमि और आदतों तथा निषेधों की सीमाओं के बावजूद अनेक पदार्थ ऐसे बच रहते हैं जिनके बारे में अगर लोगों को पता हो तो वे उन्हें खरीदना चाहेंगे और उन्हें खरीदने के लिए प्रयत्न करेंगे। लेकिन जानबूझी धीमे-धीमे बढ़ती है।

कुछ कारण हैं जिनमें पिछड़े हुए समाजों में लोग बहुत कम काम करते हैं, और ऊँची मजदूरी का प्रलोभन देने के बावजूद वे नये नये काम हाथ में लेने को तैयार नहीं होते। इन नये कामों के प्रति उन्हें इसलिए आकर्षण नहीं होता चूंकि वे यह नहीं जानते कि अपनी बढ़ी हुई आमदनी का किस प्रकार उपयोग करेंगे। अगर शास्त्रीय भाषा में कहें तो अपनी बढ़ी हुई आमदनी को खर्च करके उन्हें जो वस्तुएँ प्राप्त हो सकेंगी उनकी सीमान्त तुष्टि थोड़ी ही होगी। यही कारण है कि पाश्चात्य देशवासियों की तुलना में पिछड़े हुए देशों के लोग अपनी बढ़ती हुई आमदनी को गलत तरीके से खर्च कर देते हैं। वे लोग उस प्रकार पैसा खर्च नहीं करते जिस प्रकार एक पाश्चात्य देशवासी करता है। वे उन नयी-नयी चीजों

को गरीबने की योगिता नहीं करेंगे जो उनके पास पढ़ने नहीं थी, बल्कि पढ़ने जो चीजें उनके पास थी उन्हीं की माशाएँ और बढ़ा लेंगे—शराय अधिक लिएंग वीवियाँ अधिक रखेंगे और कपड़ों पर अधिक खर्च कर देंगे।

अगर आवश्यकताएँ मीमिन हों तो यह सम्भावित है कि प्रति घंटा पारि-  
श्रमिक बढ़ने के साथ-साथ लोग काम के घंटे कम कर देंगे। हमें विपरीत अगर  
आवश्यकताएँ बढ़ती जा सकती हों तो सिद्धान्त रूप में यह कहा जा सकता है  
कि प्रति घंटा पारिश्रमिक बढ़ने पर लोग और अधिक घंटे काम करना आरम्भ  
कर देंगे। माँगा की लोच पर विचार करते समय हम आपत्कालीन लोच और  
दीर्घकालीन लोच में भेद करना होगा। आपत्काल के संदर्भ में मनुष्य की क्षमता  
रहन सहन के स्तर के बारे में एक धारणा धनी होती है और वह उसी स्तर का  
काम करना चाहता है। उसके वर्ग का यह स्तर परम्परा में निर्धारित होता है।  
यदि कमाई बढ़ जाए तो उसकी तात्कालिक प्रतिक्रिया काम करने की होती है  
और अगर कमाई घट जाए तो उसकी तात्कालिक प्रतिक्रिया अधिक काम करने  
की होती है। हाँ दीर्घकाल में उसके रहन-सहन का स्तर घट-बढ़ सकता है।  
अगर उसे अधिक काम करने में बाध अनुभव होता होगा तो वह अपना स्तर  
नीचा करने का काम के घंटे कम कर देगा। अगर उसे परिश्रम कम पटता होगा  
तो वह अपने रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाएगा, और फिर अधिक समय तक  
काम करने लगेगा। कारण यह है कि रहन-सहन का स्तर ही परम्परा में निर्धा-  
रित नहीं होता बल्कि काम के घंटे भी परम्परा में नियत होते हैं। काम के  
घंटों में काफी परिवर्तन कर लेने पर भी तात्कालिक परिणाम के रूप में रहन-  
सहन का स्तर न तो गिरता है और न ऊँचा उठता है, लेकिन दीर्घकाल में स्तर  
बाफी बदल जाता है और काम के घंटे फिर पिछली परम्परा के अनुसार हो  
जाते हैं।

आदिम समाजों में यदि आमदनी परम्परागत स्तर में अधिक बढ़ जाए तो  
उसका उपभोग अधिक उन्नत समाजों की भाँति नहीं किया जा सकता किं-  
न्तु आदिम समाज में घा के सम्भावित उपयोग भी मीमिन होते हैं। वहाँ ऐसी  
चीजों की माँग हो सकती है जिनमें आदमी की मँहन बढ़ें, जैसे सादरियों में  
पुँदल बनाने की मँहन बढ़ती है, बरतूब के जगिये भोजन या रभा के लिए  
जगती जानवरों को मारने में सामाजी होती है, तापावों में पानी इकट्ठा कर  
देना भी सुविधाजनक होता है। बड़ी हुई आमदनी के बाद पर अपने माधियों  
की अनेका अधिक सत्ता हथियार्ह जा सकती है—उँचे पदों के लिए चुनाव जीत  
कर, गिदपत देकर, दाम करीदकर या स्याज पर स्या उठाकर। हमें अनादा  
प्रदर्शन के लिए भी चीजें मरीदी जा सकती हैं, बड़ी-बड़ी दारों दी जा सकती  
हैं, अधिक बीवियाँ रखी जा सकती हैं, अधिक बगड़े या जेवर गरीदे जा सकते

हैं बड़-बड़े मकड़बरे बनवाए जा सकन हैं या विनाग के कारनामो से ग्रामोद-प्रमोद करके अपने साधियों को प्रभावित किया जा सकता है। विनाग के इन कारनामो में अपनी ही चीजें बरबाद कर देना भी शामिल है (जैसे पोलिनेशिया में मछली पकड़ने की नावें नष्ट कर दी जाती थीं)। कुछ समय के लिए बेकार की नयी-नयी चीजों की मांग भी हो सकती है जिनका उद्देश्य कौतूहल शान्त करना भी हो सकता है और प्रदर्शन भी। ये प्रवृत्तियाँ हर समाज में पाई जाती हैं, भले ही वे विकास की दिशा में भी अवस्था में हो। आदिम और उन्नत समाजो में एक अन्तर तो यह है कि उन्नत समाजो में बड़ी हुई ग्रामदनी में लरीदी गई नयी-नयी वस्तुओं का उपभोग सही रूप में किया जा सकता है, न कि प्रदर्शन की भावना से या सत्ता हथियाने या काम बम करने की दृष्टि से। आदिम और उन्नत समाजो में दूसरा भेद यह होता है कि जो समाज जिनना ही अधिक उन्नत होगा वहाँ उतने ही अधिक प्रकार की वस्तुएँ उपभोग के लिए उपलब्ध होंगी।

जैसे-जैसे स्थूल उपस्कर बटने जाते हैं, मस्तिष्क जटिल होती जाती है, परम्पराओं का नियंत्रण घटता जाता है, और वस्तुओं के बारे में जानकारी बटती जाती है, जैसे-जैसे आवश्यकताओं में भी विस्तार होना जाता है। इनमें से अन्तिम बात आवश्यकताओं के विस्तार की कुजी के समान है चूँकि नयी वस्तुओं की जानकारी होने पर ही परम्पराएँ ध्वस्त होती हैं और स्थूल पर्यावरण बदलते हैं। अतः यह समझने के लिए कि आवश्यकताएँ अधिक लचीली किस प्रकार हो जाती हैं, हम यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि नयी चीजों के बारे में जानकारी किस प्रकार बटती है।

जानकारी अनुकरण से बटती है। कभी-कभी नयी चीजें केवल आग्रह करने में ही विक जाती हैं। घर को नये सिरे से मजाने वाला या दूसरे देश से नयी-नयी वस्तुएँ लाने वाला विदेशी यह कहकर चीजें देखने का प्रयत्न कर सकता है कि उन्हें एक बार आज़मा कर देना जाए, लेकिन ये चीजें लोकप्रिय तब तक नहीं हो सकती जब तक कि लोग दूसरों को इनका उपयोग करने हुए न देख लें। ये दूसरे लोग अक्सर वे होते हैं जिनकी हैसियत समाज में अपेक्षाकृत ऊँची होती है जिसके कारण लोग उनका अनुकरण करना पसन्द करते हैं। इसमें अपवाद भी हैं, टेचीविजन का प्रचार हर जगह ऊँची हैसियत वालों की अपेक्षा सामान्य लोगों में अधिक हुआ है। लेकिन आम नियम यही है कि नयी चीजों का प्रयोग पहले उच्च वर्ग करता है—चूँकि एक तो वह पहले-पहल उनका खर्च बरदाश्त कर सकते हैं और दूसरे, सामाजिक परम्पराएँ भी उनके लिए बाधक नहीं होती—और बाद में यही चीजें निम्नवर्ग के लोग इस्तेमाल करने लगते हैं।

इस प्रकार, विस्तार का गति, अन्य बातों के साथ-साथ उच्च और निम्नवर्ग के सम्बन्धों पर भी निर्भर है। यहाँ हमें देखना होगा कि दोनों वर्ग के लोग मिल जुलकर रहने हैं, ताकि गरीब लोग यह जान सकें कि अमीरों की वस्तुषा का उपभोग कर रहे हैं, अथवा अमीर लोग शहर या देश के किसी अलग हिस्से में रहते हैं, और अपने आराम का समय निजी बनवा और दूसरे स्थानों में गुजारते हैं और दूसरे वर्ग के लोगों से मिलना पसन्द नहीं करते। यह इस पर भी निर्भर है कि अमीर लोग गरीबों को अपनी नकल करने के लिए बड़ा दान देते हैं अथवा नहीं, या कि ऐसा नियम अथवा प्रथाएँ तो नहीं बनीं हूँ जिनके कारण गरीबों को उन चीजों का उपभोग करने में बाधा पड़नी हो या अमीर लोग दम्तेमान करने हैं। यह सामाजिक गतिशीलता की मात्रा पर भी निर्भर है। यदि शहर लोगों को समाज के निम्नवर्ग से उच्च वर्ग में जाना सरल होगा तो ऊँचे वर्गों में जान वाले लोग अमीरों के प्रयाग में धान वाली चीजों का उपभोग करके यह दिखाने की कोशिश करेंगे कि समाज में उनका सम्मान बढ़ रहा है। समाज के अन्दर प्रजातन्त्र की भावना जितनी ही अधिक होगी यानी सामाजिक स्तर पर लोग जितने ही अधिक धुन-मिलकर रहते होंगे, अथवा के रूप में आवश्यकताएँ भी उतनी ही अधिक लचीली बन जाएँगी।

अन्य बढिनाडो की अपेक्षा जानकारी में वृद्धि ही इस बात के लिए अधिक जिम्मेदार है कि भिन्न-भिन्न समाजों में नयी चीजों का प्रयाग किस गति में बढ़ता है। आदिम समाजों में नयी चीजों के बारे में अज्ञान की अपेक्षा शायद उपस्कर की बगैरे और निरक्षरता-जैसे सांस्कृतिक दारिद्र्य के कारण ही आवश्यकताएँ सीमित रहती हैं। यह बात उन दिनों नहीं थी जबकि आदिम समाजों के देश विदेशियों के सम्पर्क में नहीं आ पाए थे। इस ही विदेशी लोग उन्नी के बीच ऐसे ऊँचे और दीर्घ उत्पन्न करने वाले भौतिक स्तर का जीवन बिताने हैं कि उनकी देखादेखी वहाँ के आदिवासी भी अधिक धानदानी खर्च करने के तरीके निबाल सकते हैं, बसने कि उनके मरान छोटे न हो और उनके घरों में बिजली, गैस और पानी की व्यवस्था हो। उनसे बड़ी हुई धानदानी का अधिकान अर्द्ध मरान बनाने और पनीर गरीबों पर खर्च हो जाना है। दूसरी ओर, इगर्ज-जैसे देश में निम्नवर्ग की धाराधाराओं की सीमा घटने से बेहतर लोगों का अनुकरण न करने की भावना में नियन्त्रित होनी है, वे अमीरों द्वारा दम्तेमान में धाने वाली चीजों से देखीपौन, बार, शॉलर या कीमती कपड़ों को प्राप्त करने की परवाह ही नहीं करते। इस उदासीनता का कारण यह है कि उन देशों में जहाँ की सामाजिक (राजनीतिक नहीं) परम्पराएँ अज्ञानाधिकारी हैं, वहाँ का निम्नवर्ग अपने जीवन के भौतिक स्तर से सन्तुष्ट रहता है। इसके विपरीत अमीरों के निम्नवर्ग की भावना



उपटी पाई जाती है ।

यह ता मनुष्या की धन के प्रति प्रवृत्ति की बात रही । अब हम धन प्राप्त करने के लिए अपक्षित प्रयत्न के प्रति मानव-प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे । बात यह है कि प्रयत्न को लेकर लोगों की

२. प्रयत्न का मूल्य प्रवृत्तियाँ भिन्न शर्तों ता धन के प्रति एक-सी प्रवृत्ति ज्ञान पर भी नाग उनकी प्राप्ति के लिए एक-जैसा प्रयत्न नहीं करेंगे ।

उमे हम उन प्रकार भी कह सकते हैं कि मनुष्य धन के अनाया और वस्तुओं को भी महत्व देते हैं । व आगम का महत्वपूर्ण मयभने है आपस के मधुर सम्बन्धों का भी कायम रखना पसन्द करते हैं जो कि धन के प्रति बुरी तरह पीछे पड़ जाने से बचता है । उनके लिए अपने मित्रों और सम्बन्धियों का साथ भी मूल्यवान् होता है जिसे अच्छे आर्थिक अवसरों की खोज में बाहर चले जाने के कारण छोटना पड़ सकता है, और उनके मन में उस प्रकार की ~~खिन्नता~~ भी होती है जिनके कारण वे सभी सम्बन्ध अवसरों का पूरा-पूरा फायदा नहीं उठा पाते ।

(क) काम के प्रति प्रवृत्ति—पहले हम काम के प्रति प्रवृत्ति पर विचार करेंगे । पदार्थों की एक-सी आवासा होने पर भी मनुष्य काम की अपेक्षा बटिन काम को करने की प्रवृत्ति लोगों में कम होती है । यह वस्तुपरक भी है और विषयपरक भी ।

वस्तुपरक दृष्टिकोण में कोई काम तब अधिक दुष्कर माना जाएगा जबकि उससे एक व्यक्ति को हमारे की अपेक्षा अधिक श्रम करना अनुभव हो । इस श्रम का कारण यह भी हो सकता है कि उस व्यक्ति का शारीरिक गठन, या स्वास्थ्य, या पर्यावरण हमारे व्यक्ति में भिन्न है । विषयपरक दृष्टि से काम तब अधिक दुष्कर कहा जाएगा जबकि उसे करने वाले के जीवन का दृष्टिकोण ही काम करने के विरुद्ध हो ।

शारीरिक गठन भिन्न भिन्न जातियों में, और एक ही जाति के भिन्न-भिन्न लोगों की अलग अलग होती है । उदाहरण के लिए, नीग्रो लोगों को स्वाधीनता देने के बाद जब भारत के लोग वेस्ट इण्डिया ली जाये गए तो वागान के मानिकों ने भारतीयों को काम की नियमितता के मामले में तो पसन्द किया, लेकिन जहाँ तक शारीरिक शक्ति का सवाल था वहाँ नीग्रो ही बेहतर माने गए । यह ठीक ठीक कहना मुश्किल है कि शारीरिक गठन का अन्तर मरुतक या पर्यावरण पर जहाँ तक निर्भर है, और जीवात्मक अनु-वर्धिता से इसका सम्बन्ध कितना है । कुछ भी हो, उपर्युक्त उदाहरण के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि काम करने की इच्छा और शारीरिक

मस्तिष्क में प्रतिबन्ध गह-मध्यम है।

अधिकतर अतिरिक्त देना के निदानियों के जन्मों तक जान का मुख्य कारण वायुद पीठिय आहार की कमी और दुबन बना देन वाली लम्बी बीमारियाँ हैं। वायु-कारण के दम चक्र में छुटकाग पाया मुक्तिम हाता है, चूँकि पोषाहार की कमी और बीमारी में उत्पादकता घटती है और उत्पादकता घटने में ही पोषाहार में कमी और बीमारियाँ का भय पैदा होता है। एसी परिस्थिति में काम करने वाली अधिकांश पंजीवाधी कर्मों का अनुभव है कि अपने कर्मचारियों के भाजन और स्वास्थ्य का ध्यान करने में कर्मों का साधन होता है। केन्द्रीय अर्थशास्त्र में गान मोरने का काम करने वाली कुछ कर्मों में लामा का गान में भजन में पहले कुछ दिन तक अर्द्धी गुणक गिनाता है। गान सादन वाली कर्मों के अलावा और भी बहुत सी कर्मों एसी हैं जो गन्तुविन गानत मुक्त देती हैं या दाह्य का गाना बंटती हैं या अपने कर्मचारियों को उम्दा गुणक देन की दृष्टि में भाजन पर होन पान उनके गन में, और नहीं तो अपने धार में कुछ गन ही दान देती हैं। इसी प्रकार, गुणक दवाज और मजदूरों के लिए स्वास्थ्ययुक्त वातावरण छुटाने में भी उत्पादकता घटती है। अमरीका और दक्षिण अमेरिका उम्दा औद्योगिक दवा में भी बहुत सी कर्मों दोपहर का गाना कर्मों देन पर देना मान्यद समझती हैं। जिन कर्मों में महिला कर्मचारियों की मर्या अतिरिक्त होती है वहाँ दम वात का गान ध्यान गया जाना है, चूँकि महिलाओं के बारे में लोगों का कहना है कि उनमें अपने बच्चों के उपर गनने के लिए या अपने कर्मों या दूसरी चीजों का धननाम करने के लिए अपने लाने के गन में बंटती करन की प्रवृत्ति होती है।

जिस पर्यावरण में प्रादमी काम करता है उगवा घर में काम में पैदा होने वाली धरान पर पड़ता है। उदाहरण के लिए अतिरिक्त छुट्टे और अधिक्त गरम स्थान में रहना बन्दना है, सामान्य प्रादमी-महिन ६०° फारेनहाइट और ७५° फारेनहाइट तापक्रमों के बीच शरीर गनने अच्छी तरह काम करता है। इसी कारण काम की दृष्टि में उष्ण बटियन की तुलना में शीतोष्ण बटियन अच्छे रहते हैं। आधुनिक पर्यटन-गण्डन के विशेषी भी दम वात पर जोर देन है कि उचित गाननी, लाम और वातन, बीच बीच में आराम करने के लिए समय, बैठने की उचित व्यवस्था, अनायतक हरकतों में बचाव, और गुणक परिस्थितियों का उत्पादकता पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। यदि काम करने समय के साथ अनुकूल न हो तब भी काम में पान अधिक्त मान्य होती है और काम करने में मान्य भी नहीं पाता, दम विषय पर भी धम उद्योग-मनोविज्ञानी विचार करने लगे हैं। अनुकूल परिस्थितियों

कर्म को भी उतना ही महत्त्व दिया जाता है, चूंकि कर्म में भी आत्मा अनु-  
शासित होती है और इसके अन्तर्गत हर व्यक्ति का यह नैतिक वर्तन्य भी है  
कि ईश्वर में मिली प्रतिभा और भावनों का अपने भावियों की भलाई में  
अस्वार्थित उपयोग करे। फिर भी, आर्थिक मामला में धर्म का महत्त्व  
कितना है यह बहना अस्मर वदित होता है। इस इतिहास का पहला कारण,  
जिस पर हम पहले भी प्राण डाल चुके हैं यह है कि विभिन्न धर्मों में पूजा-  
होना और सामान्य गृहस्थों के आचार-विचार अलग-अलग निर्धारित किए  
गए हैं। यदि किसी धर्म में पुरोहितों के लिए पूजा-यात्रा का विधान हो  
और आम लोगों के लिए कर्म में प्रवृत्त रहने की आज्ञा हो, और प्रायः यही  
विधान होता है, तो उस समुदाय के आर्थिक प्रयत्नों पर दुःप्रभाव पैदा नहीं  
पड़ेगा यदि अधिकांश लोग पुरोहितों का जीवन व्ययमान पग जाते। अतः ही  
धर्म गृहस्थों लोगों को ध्यान-पूजा करने पर जोर देता है और आर्थिक काम-  
धर्मों को हटाना हो, तब भी यह अनुमान लगाया मुश्किल ही है कि एक  
धर्मोपदेशों का प्रभाव कितना है, चूंकि धर्मधर्म न जान पर भी बहुत से  
लोग धर्म-धर्म के अन्तर्गत का लाभ उठाने में नहीं चरते। इसमें भी धर्म  
एक गृहस्थ प्रवृत्त यह है कि कोई समुदाय किसी निवृत्ति-प्रधान धर्म को ग्रहण  
करो कर लेता है। समुदाय के जीवनव्ययन के तरीके जंग होते हैं उन्हीं  
के अनुकूल धर्मोपदेश भी डाल किये जाते हैं, इसलिए यह बहना कि धर्म की  
और से प्रोत्साहन न होने के कारण ही लोग महत्त्व नहीं करते, मोक्ष का  
नहीं माना जा सकता, यह भी हो सकता है कि समाज का परिवर्तन और  
सामाजिक परिस्थितियों के ही हैं कि जिनमें बहुत परिश्रम का महत्त्व फिर  
गया हो, और इसी कारण धर्म की ओर से काम करने पर जोर न दिया  
जाता हो।

यह टीका-टीका नहीं कहा जा सकता कि ये परिस्थितियाँ क्या हैं जिन  
पर काम की प्रवृत्ति का धर्म-प्रवृत्त होना निर्भर है। कुछ लोग जीवामय  
भेदों की बात करते हैं, काम के अधिक न होने या उत्पादक न होने की बात  
भी कही जाती है और समुदाय के सामाजिक ढाँचे को भी इसके लिए जिम्मे-  
दार ठहराया जाता है। इन कारणों का विवेचन करने समय यह ध्यान  
रखना आवश्यक है कि जिन परिस्थितियों के कारण काम के प्रति कोई प्रवृत्ति  
पैदा होती है उनमें और उन्नत प्रवृत्ति के बीच बात का व्यवधान होता है।  
कहने का अर्थ यह है कि अगर हम यह जानना चाहे कि किसी समुदाय में  
प्रचलित विद्याओं के कारण क्या है तो हमें उस समुदाय की वर्तमान  
जीवामय रचना, या सामाजिक ढाँचे, या किसी ऐसी ही बात पर ध्यान न  
देकर दशादशियों या भाषा दशा पाते ही उन परिस्थितियों का विवेचन करना

चाहिए जबकि उन समाज की परम्पराओं का निर्माण किया जा रहा था ।

पहले हम जीवात्मक कारण पर विचार कर लें । कुछ लोगों में दूसरों की अपेक्षा ऊर्जा या काम करने का स्वभाव अधिक होता है । ये गुण जीवात्मक आनुवंशिकता की दान हैं जिनका पर्यावरण में सम्बन्ध नहीं है । लगभग लोग ऐसे हैं जो निश्चित रूप में यह मानते हैं कि कुछ जातियाँ या देशों में दूसरों की अपेक्षा जीवात्मक दृष्टि से उद्योगी व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है । ऐसे भी लोग हैं जो जिनके अनुसार जीवात्मक दृष्टि में उद्योगी व्यक्तियों या जाति-लोगों का वितरण जातियों के अनुसार नहीं पाया जाता और इस प्रकार के जा-अन्तर-द्वन्द्व में आते हैं वे लोगों के स्थूल पर्यावरण और सांस्कृतिक परम्परा पर ही आधारित हैं ।

समाज के वैज्ञानिकों में से अधिकांश का कहना है कि जातिगत जीवात्मकता और मानव-प्रवृत्तियों का कोई प्रामाणिक सम्बन्ध नहीं है । पर प्रमाण उपलब्ध न होने हुए भी यदि हम सीमित स्थानों की जाँच करें तो कुछ ऐसे सिद्धान्त निर्धारित कर सकते हैं जिनमें मचाई मान्य पड़ती है । जैसे अगर किसी देश में बार-बार आपत्तियाँ या ऐसे मसूठ उपस्थित होने हों जिनके कारण केवल जीवात्मक रूप में भयानक लोग ही जिन्दा बच पाते हों और बाकी सब मर जाते हों, तो यह कहा जा सकता है कि ऊर्जा की दृष्टि से इन मनुष्यों की जीवात्मक आनुवंशिकता निरन्तर सुधरती चली जाएगी । लेकिन इनमें भी कटिनाई यह है कि हम उन परिस्थितियों की परिभाषा निश्चित नहीं कर सकते जिनमें कि जीवित बचे हुए और मृत लोगों की संख्या का अन्तर जीवात्मक आनुवंशिकता से प्राप्त ऊर्जा पर निर्भर होता है, अधिकांश संकटों में लोगों के जिन्दा बच रहने का समान श्रेय उनकी शिक्षा, चतुराई और भाग्य को भी होता है । एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार उन देश के लोग अधिक ऊर्जावान् होते हैं जहाँ आप्रवासी बसते हैं जबकि उन देश के लोगो में कम ऊर्जा होती है जो बहुत दिनों से वहाँ बसा हुआ है (वैसे तो सभी देशों में लोग बाहर से आकर ही बसे हैं) । चूँकि आप्रवासी जिन लोगों को अपने पीछे छोड़ आते हैं उनकी अपेक्षा अधिक उद्यमी होते हैं और चूँकि एक देश में दूसरे देश तक पहुँचने में और वहाँ जाकर बसने में जो बाधाएँ होती हैं उनके दौरान इनके कमजोर लोग अधिकतर समाप्त हो जाते हैं । लेकिन यह निश्चय करना मुश्किल है कि जो लोग एक देश से दूसरे देश में जाकर सफलता से बस जाते हैं उनकी सामर्थ्य का मुख्य स्रोत जीवात्मक सम्पन्नता ही है । यह तो ठीक है कि इन लोगों में पीछे छोड़कर आये हुए अपने साथियों की या जिन लोगों के बीच जाकर ये बसते हैं उनकी अपेक्षा शक्ति अधिक होती है, लेकिन इसका कारण यह भी माना जा सकता है कि इन लोगों

पर अपेक्षाकृत अधिक बाट पडता है और उनका सामना करने के लिए दृष्ट अपेक्षाकृत अधिक शौर्य में काम लेना पड़ता है।

समूह की प्रवृत्तियाँ के भेदों में जीवन्मया कारण का योग न तो स्वीकार किया जा सकता है और न ही उसे अस्वीकार कर सकते हैं। यह तो हम निश्चित रूप में कहते हैं एक जाति दूसरी जाति में श्रेष्ठ नहीं होती, नूँकि किसी एक जाति के गाँ राग दूसरी जाति के मंत्र लोग से अच्छा काम करके नहीं दिया सकते। जहाँ तक विभिन्न समूहों के बीच अच्छे साधारण और पटिया लोग के मिलन का प्रश्न है, हम हम समय कुछ करने की स्थिति में नहीं हैं। इसीलिए समूहों के अन्तरों को समझने समय हम केवल स्थूल और सामूहिक पर्यावरण के भेदों का ही आश्रय लेंगे।

अब हम काम की अराजकता पर विचार करेंगे। हम पहले ही लिए चुके हैं कि काम स्वयं भी दुःख हो सकता है, या काम करने वाले की शारीरिक स्थिति के कारण भी दुःख महसूस कर सकता है या यह भी हो सकता है कि जिस स्थूल या सामाजिक पर्यावरण में वह काम किया जाता हो वे अनुकूल न हों। हम पहले ही लिए चुके हैं कि ऐसी परिस्थितियों में लोग काम बंद करते हैं। लेकिन हम मुग्ध या अज्ञान परिस्थितियों में विद्यमान काम की मात्रा के रक्षण पर यह जानना चाहें कि इन अलग-अलग परिस्थितियों में काम के प्रति प्रवृत्ति किस-किस प्रकार की पैदा होती है तो हमें उत्तर बिलकुल उलटा मिलेगा। अगर काम अराजक होना तो लोगों के अन्दर यह भावना पैदा होगी कि जिन्दा रहने-भर के लिए काम राखी-बेराखी करना ही है, चूँकि जो लोग ऐसा नहीं कर पाएँगे वे जीवित नहीं रह सकेंगे। ऐसी परिस्थितियों में माता-पिता अपनी मर्तानों को यह गिनाये सकते हैं कि कर्म पुण्य रूप है और कर्म, कर्म के लिए करना चाहिए भले ही वह अराजक हों। यह परम्परा परिस्थितियों बदल जाने के बाद भी कायम रह सकती है और काम की अराजकता समाप्त हो जाने के बावजूद लोग पहले-जैसी दृढ़ भावना के साथ ही काम करने रह सकते हैं।

तबतक यहाँ कुछ उन कामों के बारे में कहा जा सकता है जो अपेक्षाकृत अनुत्पादक हैं, जैसे, उन देशों में, जहाँ जीवनयापन गरल है, काम करना पुण्य कार्य नहीं समझा जाता, चूँकि मनुष्यों की यह धारणा है कि वे जो शीघ्र अनिवार्य है उसे ही पुण्य रूप मानते हैं। दूसरी ओर, जिन देशों में जीवनयापन अत्यन्त कठिन है वहाँ भी लोगों के अन्दर प्रयत्न करने का उगाह नहीं होता। इन दोनों परिस्थितियों के बीच वाले देशों में जहाँ जीवन कठिन तो है पर बहुत कठिन नहीं है, वहाँ कर्म की पूजा होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ उचित प्रयत्न करने अन्तः नगीचे में रहा जा सकता

है, परन्तु बिना इनका प्रयत्न किये जीवित रहना ही मुश्किल है, वहाँ कर्म को थका की दृष्टि से देखा जाता है। जीवन-यापन में कठिनाई अधिकाधिक आवादी, जमीन की मामूली उर्वरता, बार-बार पटने वाले सूखे, या नृशत्रुओं, या और दूसरे दुर्भाग्यों के कारण पैदा हो सकती है। ऐसे देशों में अच्छों को कर्म के प्रति पूजा-नाव रखना निम्नवाया जाता है और उन लोगों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं जो मेहनत न कर सकने के कारण निधन बने रहे। ये बन्धे अपनी सन्तानों में भी यही सम्कार छोटकर जाते हैं।

पर्यावरण पर आधारित जितने भी समाधान हैं उनमें इन बात का उल्लेख नहीं मिलता कि प्रवृत्तियाँ स्थायी क्यों नहीं होती, एक ही देश में भिन्न-भिन्न कालों में परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियाँ देखने में आती हैं। प्रवृत्तियों में अन्तर के ऐतिहासिक कारण भी हैं और पर्यावरण-सम्बन्धी कारण भी। अर्थात् अगर हम पर्यावरण-सम्बन्धी कारणों पर विचार कर रहे हों तो हमें यह भी देखना चाहिए कि प्रवृत्तियों के जिन भेदों पर हम प्रकाश डालना चाहते हैं उनके लिए उत्तरदायी पर्यावरण कब और क्यों बदले। जिन समाधानों के अनुसार प्रवृत्तियों में अन्तर जलवायु भिन्न होने के कारण पाया जाता है उनकी सचाई तो और भी मंदिग्ध है, चूंकि एक ही देश में इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों में प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे से बार्गी भिन्न पाई जाती हैं; इसीलिए इन प्रकार के समाधान देने वाले लोग रोम साम्राज्य की अवस्था का कारण बताने समय वहाँ जलवायु में हुए परिवर्तन की भी चर्चा करते हैं। उल्लेख्य काम करने की परम्पराओं का पर्यावरणमूलक समाधान देने वाले अधिकतर यह कहते हैं कि इस प्रकार की परम्परारत समुदाय की ऐतिहासिक आघात लगने पर जन्म लेती हैं। ये आघात लोगों को अधिक-से-अधिक सहन-शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए बाध्य करते हैं, जैसे मुद्द में पराजय, दुर्भिक्ष, या बड़े पैमाने पर प्रवास के कष्टों को सहने के लिए लोगों के अन्दर एकदम विकट माहम का संचार होता है। वैसे, ऐतिहासिक संकट के कारण ही लोगों के अन्दर दृढ़ इच्छा-शक्ति उत्पन्न नहीं हो जाती है, चूंकि यदि हम इस बात को नहीं मान लें तो यह केवल समोग की बात रह जाएगी कि कष्ट पटने पर कुछ समुदाय निराश और निश्चलाहित हो जाते हैं, और कुछ समुदायों में माहम और प्रेरणा उत्पन्न हो जाती है।

एक अन्य प्रकार का समाधान देने वाले लोग कार्य के प्रति समुदाय की प्रवृत्ति का सम्बन्ध उनके उच्च-वर्ग के व्यवहार से जोड़ते हैं। इन समाधान के अनुसार उन समुदायों के लोग काम की अधिकाधिक आदर की दृष्टि से देखते हैं जहाँ कि अमीर लोग बाहिल का जीवन व्यतीत करने के स्थान पर परम्परा से ही काम करने के आदी होते हैं। चूंकि मनुष्य अपने से बेहतर

सामाजिक स्थिति के लोगों का अनुकरण करने हैं, इसलिए यदि उच्च वर्ग के लोग काम करना बुरा समझते हैं तो उनके नीचे की स्थिति वाले भी कम-से-कम काम करना चाहते। उदाहरण के लिए, घमरीका के दाग ममुदायो में बागान के मानित अपना अधिकतर समय विरानि या मौज-मस्ती में गुर्च करने थे, और वहाँ दूरस्थ स्वामित्व का बोलबाला था। परिणाम यह है कि आज भी वहाँ मध्य और अधि-वर्ग के लोग काम की अपेक्षा पैसा चंगूक करने में ही अधिक आनन्द लेते हैं। शायद उनके दिमाग में यह कहना मजबूत है कि उन्होंने कष्ट-परम्परा में यह विचार गूँथ रोप दिया है कि काम केवल दामा के लिए ही है। यह अन्तर समतावादी और समतावादी समाजों का नहीं है बल्कि उन समाजों का है जहाँ अभीर लोग काम करते हैं और जहाँ वे काटिनी की जिन्दगी बिताते हैं। उदाहरण के लिए अमरीका में, चाहे सार्वजनिक मजदूरी होकर ही नहीं, अभीर लोग भी अक्सर काम करते हैं। जयवि दृष्टान्त में बहुत दिनों में यह परम्परा रही है, जो कि अत्यन्त लाभदायक है कि अभीर लोगों के लिए अनुकरणीय जीवन विचार लेने, सोचने का अभ्यास करने और मछलियाँ पकड़ने का ही है। यह बात नहीं है कि अमरीकी अधि-श्रिष्टि अधि-वर्ग की अपेक्षा अधि-वर्ग काम करता है—अमन में काम तो यह कम ही घण्टे करता है—लेकिन इसका के प्रमाण मौजूद है कि अमरीकी अधि-वर्ग जब काम करता है तो हटकर करता है। कुछ लोग अन्तर को काम के प्रति प्रवृत्तियों के अन्तर का परिणाम मानते हैं और उनके अनुसार वे इन पर निर्भर हैं कि मजदूर लोगों से अपना समय बिना प्रसार व्यतीत करने की धारणा की जाती है। इन तुलना में हमने जो तथ्य प्रस्तुत किये हैं वे सब विवादप्रस्त हैं, लेकिन इनमें तर्क की समझने में गह्रायता मिलती है।

कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा काम करने में अधिक उत्सुक क्यों करते हैं इससे चाहे जो कारण हों, लेकिन यह अवश्य नहीं है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और समूहों में काम के प्रति प्रवृत्ति में अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर काम के घण्टों के रूप में ही प्रकट नहीं होता बल्कि काम की बढ़ती हुई उत्पादकता के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में भी दिखाई देता है। व्यवहार में, प्रति घण्टा काम का उत्पादन बढ़ा देने का शीघ्रकारी प्रभाव मदा यही होता है कि काम के घण्टे कम हो जाते हैं। (मिडलान्त की दृष्टि में काम के घण्टे घट भी गवने हैं और बढ़ भी गवने हैं।) यह हम औद्योगिक देशों की तुलना करने भी देना गवने है। काम के घण्टे बढ़ने कम उम्र देश में पाए जाते हैं जहाँ प्रति व्यक्ति उत्पादकता बढ़ने अधिक होती है। यह ही देश के परिवर्तों की परम्परा तुलना करने भी यह देखा जा सकता है कि पारिश्रमिक बढ़ने के साथ-साथ काम के घण्टे कम हो जाते हैं। यह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया

है। चूंकि आराम भी एमो चीज है जिसमें जीवन में सुख मिलता है, इसलिए मनुष्य बड़ी हुई उगादकता का कुछ अंग अन्य चीजों पर व्यय करत है और कुछ आराम पर। इसके अलावा आनन्दापभोग की दृष्टि में आराम और आर्थिक पदार्थ एन्-दमर के पूरक हैं चूंकि जैसे जैसे व्यक्ति का पान धन घटना जाता है वह अधिक आराम करने की ओर आकर्षित होता जाता है। दीर्घ-काल में आप देखेंगे कि अनुकूल परिस्थितियों की अपेक्षा मजदूरी कम मिलने की हालत में लोग अधिक महत्त्व में काम करते हैं, वगैरे कि उनकी वास्तविक कमाई इतनी काफी है कि उसमें अच्छा स्वास्थ्य और उत्पादन-शक्ति कायम रखी जा सक। इन मामलों में निम्न निम्न समूहों में जो अन्तर पाए जाते हैं वे एक आराम का धन का प्रति उनकी आकांक्षा की तीव्रता पर निर्भर है और दूसरी ओर आराम का प्रति आकांक्षा की तीव्रता पर।

जब पश्चिमी देशों के उद्यमकर्ता पहले-पहल आदिम देशों में पहुँचे तो उन्हें धार्मिक मिलन में बड़ी कठिनाई अनुभव हुई। वहाँ के निवासियों अपने परम्परागत स्तरों में सन्तुष्ट थे, और उन्हें अधिक आमदनी का लालच देकर काम पर लगाना सम्भव न था। इसलिए जोर-शवरदस्ती करना आवश्यक समझा गया। दास खरीद लिये गए, या दूर के देशों से करारबद्ध मजदूर लाये गए। आदिवासियों पर ऊँचे ऊँचे कर लगाये गए ताकि वे अपनी अवमंथ्यता त्यागने पर मजबूर हो जाएँ। इन करों की अदायगी केवल नकद द्रव्य देकर की जा सकती थी और यह धन किसी विदेशी के मातहत काम करके ही पैदा करना होता था। इन आदिवासियों को व्यापारिक फ़र्मों से उगाते से रोका गया, उनकी जमीनों भी छीन ली गई और उनके सरदारों को मजबूर किया गया कि वे अपने कबीले के युवकों को खानों या बागानों में काम करने के लिए भेजें। य जबरदस्तियाँ (दासता को छोड़कर) यूरोपीय शक्तियों द्वारा शामिल किसी-न किसी अफ्रीकी उपनिवेश में आज भी लागू हैं हालाँकि अब उनकी पहले जितनी आवश्यकता नहीं समझी जाती। अब आदिवासी स्वयं विदेशियों के रहन-सहन का अनुकरण करते हैं। अफ्रीका के निवासियों की आवश्यकताएँ नित-नई बढ़ रही हैं, और अब वे जबरदस्ती किये बिना ही काम करने को तत्पर रहते हैं।

हर देश का शासक-वर्ग अन्तर यह चाहता है कि लोग लगातार जम-कर काम करें, उदाहरण के लिए, प्रति सप्ताह औसतन चारोंस घण्टे या इससे भी अधिक काम करें। पूँजीपति और मालिक चाहते हैं कि जनमख्या कठिन परिश्रम करे, चूंकि मजदूरी की बहुतायत होगी तो उनकी औद्योगिक आकांक्षाएँ सरलता से पूरी हो जाएँगी, और उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ उन्हें लाभ भी अधिक होगा। सरकारें भी, चाहे वे प्रजातान्त्रिक हों या सत्तावादी,



अनुदार हो या शान्तिवादी सभी यह चाहती हैं कि लोग मेहनत करें वृत्ति उत्पादन करने के साथ साथ वर भी अधिक प्राप्त होने हैं। सरकार को मदा ही अधिक राजस्व की आवश्यकता होती है भले ही उनके उद्देश्य 'प्रजातान्त्रिक' हो, जैसे शिक्षा, जन-स्वास्थ्य, मचार और दूसरी सार्वजनिक सेवाओं में सुधार या अधिक सैनिक-शक्ति मचिन करने के 'साम्राज्यवादी' या 'प्रतिमाम्राज्यवादी' मनसूत्र हा या राजनीतिज्ञों की जेबे भरने के भ्रष्टाचारपूर्ण उपाय ही हा। ('शान्तिवादी' सरकारों के साथ होता यह है कि लोग उन्हें इमतिण निवाचित करते हैं कि इनकी श्रमिका की कम घण्ट काम करने की इच्छा के प्रति महानुभूति होती है, लेकिन सत्ता की जड़ मजबूत होने ही य सरकारें लोगों से काम के घण्टे बढ़ाने और जमकर मेहनत करने की अपील करने लगती हैं।) मानवनावादी, जिन्हें इन मामलों में कोई व्यक्तिगत दिलचस्पी नहीं होती, अक्सर इस भावना का समर्थन करते हैं कि लोग को अधिक श्रम करना ही उचित है, चूंकि वे निर्वनता और उनके परिणामों में घृणा करते हैं और चाहते हैं कि लोगों के रहन-सहन का एक उचित स्तर कायम किया जाए।

सैमे, अधिक घण्टे काम करने की इच्छा आर्थिक विकास के लिए आवश्यक शर्त नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि कम काम करने की अपेक्षा अधिक काम करने की दशा में ही लोगों के रहन सहन का स्तर अधिक ऊंचा रहेगा—शर्त यह है कि वे इतना अधिक काम न करने लगे कि उनकी उत्पादन-शक्ति ही कम हो जाए—लेकिन यह निश्चित नहीं है कि रहन-सहन का स्तर तैनी के साथ ऊंचा होगा। हमारे विचार का विषय उत्पादन की निरपेक्ष मात्रा ही नहीं है बल्कि उसकी वृद्धि की दर है। काम के घण्टों में छोटे-मोटे परिवर्तनों की बात छोड़ दें तो उत्पादन अक्सर इमतिण नहीं बढ़ता कि लोग अधिक मेहनत से काम करने लगते हैं, बल्कि इस कारण बढ़ता है कि लोगों की उत्पादन-कता में वृद्धि हो जाती है, वे ज्ञान और पूंजी की मात्राएँ बढ़ा देते हैं और विवेकता, व्यापार और पूंजी-निवेश के अनुकूल अवसरों का उपयोग अधिक करने लगते हैं।

लोगों के काम का स्तर चाहे जो हो लेकिन उत्पादनता बढ़ाने के अक्सर मदा विद्यमान रहते हैं। यह गही है कि इन अवसरों में में कुछ नियमित प्रयत्न की इच्छा पर निर्भर है, उदाहरण के लिए संघटनी का काम टीक रूप से चने, दुगके लिए मजदूरों की नियमित उपस्थिति और नियमित घण्टे काम करना आवश्यक है। अथ प्रकार के अक्सर श्रमिकों के अनाग्रह पर भी निर्भर है—जैसे कि वे गन को, या मन्नाशाला पाण्डों में, या बुनाने पर बर्भी भी काम करने के लिए बितन तत्पर हैं। यह अक्सर इन बात पर निर्भर नहीं है कि हर सादमी मान में कुछ बितने घण्ट काम करने के लिए तैयार है, हर

व्यक्ति काम के कुछ घण्टे पहले से निश्चित कर लेने के साथ ही नियमितता और अनाग्रह का भी पालन कर सकता है। अधिक उत्पादन के कुछ अवसर नष्ट भी हो जाते हैं, चूंकि कुछ ऐसे उद्योग चालू ही नहीं हो पाते जिनमें काम के अपेक्षित तरीके को लोग पसन्द नहीं करते। लेकिन वे उन उद्योगों में बड़ी उत्पादन शक्ति व साथ काम करते हैं जहाँ काम व नगरे के उनके अधिक अनुकूल होते हैं।

आर्थिक विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि लोग अन्तर्विवेक से काम करने के लिए इच्छुक हों। लेकिन यह बात अर्थिक घण्टे काम करने की इच्छा से भिन्न है। आदमी का जो भी काम करना हो उसे पूरा ध्यान के साथ करने के लिए तैयार रहना चाहिए। उसे अपनी पूरी योग्यता के साथ और ठीक ढंग से काम करना चाहिए और समय पर काम आरम्भ करके समय पर ही उसे समाप्त कर देना चाहिए। दुसरी बात है कि कुछ समुदायों में जहाँ लोग अपने बायदों को पूरी तरह निभाने का अधिक महत्त्व नहीं देते, वहाँ काम करने वालों में उपर्युक्त गुणों का अभाव पाया जाता है। आदिम समाजों में इसका कारण यह होता है कि लोगों को नयी-नयी आदतें टालनी होती हैं जो शुरू में उन्हें अजीब लगती हैं। जहाँ के लोग खेतों में, घड़ियों की मदद के बिना, अपनी गति से काम करने के आदी होते हैं, वहाँ यदि वे काम पर समय से या नियमित रूप में न पहुँच सकें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार जहाँ लोग भाईचारे और हैमियन पर आधारित सम्बन्धों के आदी हो चुकते हैं, वहाँ वे शुद्ध आर्थिक सम्बन्धों को निभाने में कठिनाई अनुभव करते हैं, और ऐसे समुदायों को सामान्य नैतिकता के साथ नये सविदाजनक सम्बन्ध निवाहने की आदत डालने में दो या तीन पीढ़ियाँ लग जाती हैं। अधिक उन्नत समाजों में समुदाय आन्तरिक विभेदों का शिकार हो सकता है 'मालिक वर्ग' 'कर्मचारी वर्ग' की घृणा की दृष्टि से देखें, या विक्रेताओं और खरीदारों के सम्बन्ध विगटे हुए हों तो सविदा के दूमरे पक्षों के प्रति नैतिक जिम्मेदारी की भावना समाप्त हो जाती है। जिन समाजों में प्रतियोगिता की भावना अधिक होती है वहाँ समय पाकर ये कमियाँ दूर हो जाती हैं। जो लोग सबसे अधिक अन्तर्विवेक से काम करते हैं वे लोग (अन्य बातें समान हों तो) अपने से कम गुण वाले साथियों की अपेक्षा अधिक सफल मिद्ध होते हैं, और उनका अनुकरण करने-करते समाज में नयी नैतिक परम्पराएँ मजबूती से स्थापित हो जाती हैं। लेकिन समाजों में प्रतियोगिता की भावना नदा ही नहीं पाई जाती, और उसे बढ़ावा देने वाली शक्तियाँ भी मन्दगामी हो सकती हैं।

एक तर्क यह भी है कि लम्बे घण्टा तक काम करने के इच्छुक व्यक्ति ही उपलब्ध अवसरों का उपयोग करने को तत्पर पाए जाते हैं, चूंकि जो लोग

अधिक घण्टे काम करने का बण्ट नहीं उठा सकते वे सबसे अधिक लाभदायक प्रवसने को बँदने का भी बण्ट नहीं उठाएँगे, और न निपमित रूप से और प्रगतिबिबेक में काम ही कर सकेंगे। वैसे इस तर्क में अधिक मार नहीं है। कई ऐसे लोग, जो अपने साथिया की अपेक्षा कम घण्टे काम करने का दृढ़ निश्चय किये रहते हैं सर्वाधिक लाभप्रद अवमरा को स्वीकृत न बडे बुझाए होने है। उदाहरण के लिए श्रीलोक देश के औद्योगिक कमचारी जितने घण्टे काम कर सकत है उष्ण देश के विमान उतनी मेहनत नहीं कर सकतें, लेकिन इसके बावजूद व प्रच्छे बाँज या रागायनिक गाद, का अधिक लाभदायक फसलें उगाने के अवमरा का पूरा उपयोग कर सकतें है। पहले यह भ्रम था कि गोल्ड कोस्ट का विमान समार का सबसे काटिल विमान है, लेकिन उसने थोटे ही समय में मुजारे लायक उत्पादन के रत से बढ़कर समार के सबसे बड कोके उद्योग की स्थापना कर दिखार्। इसी प्रकार युगाण्डा या इण्टोभेशिया के किसानो ने भी फसल बफास और खर की सेती में बडे उत्साह से उन्नति की है। कहना तो यह चाहिए कि जो व्यक्ति जितना ही कम काम करना पसन्द करता है वह अपने काम के घण्टे कम-से-कम वायम रखने के लिए ऐसे भी अवसरों को खोजने के लिए भी प्रयत्नशील रहता है जिनसे कि उसे सर्वाधिक लाभ होने की आशा हां। लेकिन यह विचार भी उतना ही भ्रमपूर्ण है। अधिक घण्टो तब काम करने और सर्वाधिक लाभप्रद प्रवसनों को खोजने की तत्परताओं में, मीधा या उल्टा, किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है।

तो, हम यह देस ही चुके हैं कि उत्पादकता बढ़ने के साथ-साथ लोग काम के घण्टे कम कर देने हैं। यदि उन् पदार्थों की अपेक्षा आराम की तब बढ़त अधिक हो तो, चरम परिस्थितियों में, जितनी तेजी से उत्पादकता बढ़ती है उतनी तेजी से ही काम के घण्ट कम होने जाते हैं। जो लोग ऐसी स्थिति में हैं उनके रहन-सहन का स्तर उत्पादकता बढ़ने पर भी वहीं-वही रहता है। फिर भी विवाम के चरण बढ़ते रहेंगे। विवाम की परिभाषा करत समय हमने कहा है कि प्रति थम घण्टा उत्पादन की मात्रा बढ़ता विवाम का चांत्क है। यही युक्तियुक्त परिभाषा है। यदि लोग अपनी बढ़ी हुई उत्पादकता की अधिक वस्तुओं की उत्पादन की अपेक्षा अधिक आराम पर खर्च कर देने हैं तो यह नहीं कहा जा सकता कि समाज का अधिक विवाम नहीं हो रहा।

उद्योगशीलता और अधिक विवाम में यदि कोई मह-सम्बन्ध है तो उसका पना लोगों के अन्दर उत्पादन पूंजी-निवेश की बढ़ती हुई योग्यता या इच्छा में ही चल सकता है। जो लोग अधिक परिश्रमी हैं उनकी आसानी कम मेहनत करने वालों की अपेक्षा अधिक होने हुए भी उनके पास उनके उपयोग के लिए

समय कम होता है, इसीलिए वे पूँजी-निवेश अधिक कर सकते हैं। यही बाधा नहीं है कि उनके अन्दर धन बचाने की इच्छा अधिक होनी चाहिए। यदि विमान मोना या जेवर खरीदने के लिए धन बचाने हैं तो इसमें आर्थिक विकास में महत्त्व नहीं मिलती। इसी प्रकार यदि वे और जमीन खरीदने के लिए धन बचाने हैं तो इसमें वृत्ति उत्पादन में वृद्धि न होकर केवल भूमि की कीमत और उसके स्वामित्व में परिवर्तन होता है। विकास के लिए सबसे आवश्यक चीज उत्पादक पूँजी का निमाण है जिसका अनिवार्य सम्बन्ध न तो काम करने की इच्छा से है और न बचाने की इच्छा से। सामान्य में इन बातों के कोई प्रमाण नहीं मिलते कि कठिन परिश्रम और उत्पादक पूँजीनिवेश साथ-साथ चलते हैं, उदाहरण के लिए मकड़ों माल में चीनिया के बारे में यह मसूदा है कि वे मजार के सबसे परिश्रमी लोग हैं, लेकिन यूरोप की अपेक्षा आवासी में वृद्धि की दर कम होने पर भी चीन में आर्थिक विकास नहीं हो सका। यदि हमारे सामने साथ-साथ रहने वाली दो जानियों के उदाहरण आते हैं, जिनमें से एक जानि दूसरी की अपेक्षा अधिक उद्योगशील होने के कारण अधिक सम्पन्न होती है, तो मावसानी से जांच करने पर वास्तविक अन्तर यही पता चलता है कि वह जाति दूसरी की अपेक्षा उत्पादक पूँजी-निमाण में अधिक तन्मयता के साथ लगी है। आर्थिक विकास के लिए कठिन परिश्रम और पूँजी-निमाण का योग सर्वश्रेष्ठ है, लेकिन जहाँ कठिन परिश्रम के बिना पूँजी-निमाण से ही उत्पादन में काफी वृद्धि की जा सकती है वहाँ पूँजी-निमाण के बिना अकेला कठिन परिश्रम विकास में कोई अधिक महत्त्व नहीं दे सकता।

अक्सरों को दूँटने और उनमें लान उठाने की इच्छा का और उत्पादक पूँजी-निवेश का सम्बन्ध काम के घण्टों में नहीं है। हाँ इसका सम्बन्ध उपलब्ध अवसरों के बारे में मनुष्य द्वारा किये गए विचारों की तीव्रता में अवश्य है और अधिक सोचना काफी हानिकारक है, चूँकि उसमें स्नायु उत्तेजित हो जाते हैं। व्यवसायियों को अक्सर पेट के ज्वर का रोग हो जाता है, जिसका कारण लम्बे घण्टों तक काम करना नहीं है बल्कि अपने काम के बारे में अधिक सोच-विचार करना ही है। थोड़ा-सा पैसा बचाना या कुछ और अधिक कमाने के उपाय व्यवसायियों को सोचने ही पड़ते हैं और चिन्तन की इन प्रक्रिया में बड़ी स्नायविक ऊर्जा खर्च होती है। वैसे, यह विचारणीय प्रश्न है कि चिन्तन वाछनीय है अथवा नहीं, अर्थात् क्या यह उचित है कि मनुष्य अधिक अवसरों के बारे में सदा गम्भीरतापूर्वक सोचता रहे और नीतिक उन्नति करता रहे, या कि श्रेयस्कर यही है कि इन सब बातों की विशेष चिन्ता न की जाए और निर्धनता कायम रखी जाए। कुछ समाजों में आर्थिक विकास स्वयं में ही लान-प्रद माना जाता है, और वहाँ के सुदृढ़ जीवन में उन्नति करने के लिए मोसदा

प्रयत्न करने हैं, जबकि दूसरे समाजों में लोग और बाना पर ध्यान देना पसन्द करने हैं—बुद्ध करने पर, कलाशा पर, या मिक बातचीत और दूसरे सामोद-प्रमादों का उपभोग करने पर ।

यह ता नहीं है कि अगर कोई व्यक्ति उत्पादना में वृद्धि करने के लिए प्रयत्न करना उपयोगी समझता है तो वह हमें सफल भी हो सकता है लेकिन ऐसा वायद ही नहीं पाया जाता है कि किसी समुदाय के अन्दर लोग आर्थिक अवसरों के प्रति भली प्रकार जागरूक हैं, और आर्थिक विकास के लिए तो यह आवश्यक भी नहीं है कि अधिकांश जनता अपने प्रति प्रवृत्त हो । आर्थिक विकास के लिए तो हम छोटे-से व्यक्ति ऐसे हाने चाहिए जो काम को शुरू करने के उच्छ्रित हों एक बार के सफलतापूर्वक प्रारम्भ कर दें तो फिर दूसरे लोग बिना अधिमान् भावों के उनका अनुकरण करने लगते हैं, वगैरे कि जाति-विरादरी या धर्म हमें बाधक न हों । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास जागरूक नृत्व पर निर्भर है । हाँ, अनुभवों की संख्या जितनी अधिक होगी और उन्हें अपना अनुभव दिवान के लिए जितना अधिक श्रेष्ठ मिलेगा, उतनी ही जल्दी समुदाय का आर्थिक विकास होगा, और समाज में पाए जाने वाले विशेष प्रकार के अनुभवों की संख्या और उन्हें उपलब्ध कार्यक्षेत्र के ही परिणाम हान है ।

(ख) साहस की भावना—जो लोग आर्थिक कौशल दिवाने के उच्छ्रित होने हैं उन्हें समाज कितना अवसर देना है, हमका विस्तेषण हम अपने अध्याय में करेंगे, उन अध्याय में अभी हमें आर्थिक अनुभव के प्रति व्यक्ति की दृष्टि पर ही चर्चा जारी रखनी है । व्यक्ति की दृष्टि कई रूपों में प्रकट होती है जिनमें सबसे महत्वपूर्ण रूपों पर विचार करना चाहिए । परम्परा और नियमों में अपने को सुख रखकर काम करने की दृष्टि जायस उठान की दृष्टि और एक स्थान में दूसरे स्थान पर आजादी के साथ आनन्द-जान की दृष्टि ही हमारे सबसे महत्वपूर्ण रूप हैं ।

परम्परा और नियम कई प्रकार में मनुष्य का अवसर का उपयोग करने में रोक्ता है । उदाहरण के लिए ये साधना के उपयोग में बाधक हो सकते हैं । पवित्र शास्त्र के प्रति हिन्दू की प्रवृत्ति हमका सर्वविधित उदाहरण है, हिन्दू नारायण मन्त्र की शायो को भी नहीं मानते और न उनकी मतानु-स्मिति रोक्ते हैं और उन लोगों में परमुखा की मरुता इतनी अधिक होती है कि उन्हें साधना विधान के लिए दूसरे हो जाता है । हमी पराग, पश्चिम के समुदायों में भी एक पूर्वाग्रह बना हुआ है जिसके कारण के मनुष्य के मन्त्र-मूल को मतों में ग्राह के यती इन्तेमान नहीं कर सकते, और परम्परामु मिट्टी में प्राप्त अनेक सुन्दरान मन्त्रिज पदार्थ प्रतिवर्ष समुद्र के गर्भ में चले जाते हैं ।

हर समुदाय में इस प्रकार के पूर्वाग्रह मौजूद हैं जिनके कारण वे अपने उन माधनों का पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर पाते जिन्हें पाकर दूसरे दंग खुल जाते हैं, लेकिन कुछ समाज में ये निषेध अन्य समाजों की अपेक्षा बहुत अधिक होते हैं।

आर्थिक विकास में इन समय सबसे अधिक बाधक माधम पशु-धन के प्रति लोगों के पूर्वाग्रह हैं। दासपूष भूमि-श्रवस्था के अनेक परिणामों के बाव में अनेक प्रयास में जा कुछ कहा गया है उसे मानते हुए भी ऐसा लगता है कि सभी जगह के किसान अपनी आर्थिक दशा सुधारने के इच्छुक हैं और उन सभी नयी प्रतियोगियों का जिनमें उनकी दशा में सुधार हो सकता है आसानी से अनजान व निए तैयार रहते हैं। वे बड़ी खुशी से नए बीज या रासायनिक खाद या मिर्चार्द की नयी सुविधाओं के कारण प्राप्त पानी, या अधिक आम देने वाली व्यापारिक फसल का उगाने के लिए तैयार हो जाते हैं। यह विचार प्रतिकूल बन ही है कि आर्थिक बाधों को दूर करने में समझने के कारण जिनसे आर्थिक विकास में बाधक होते हैं, किसान तो समझते नहीं उन्हें एक अज्ञानमय बर्तन हैं। लेकिन पशु-धन के बाव में किसानों का प्रति व्यक्त विचार गया उक्त विचार बहुत-कुछ सही है। एगिया और मशीन दोनों में किसानों के कुछ समुदाय ऐसे हैं जिनका पशु-धन के प्रति व्यापारिक दृष्टिकोण नहीं है, वे काम लेने और मान और दूध का उपयोग करने की दृष्टि से पशुओं का पूरा-पूरा फायदा नहीं उठा पाते और अनेक बेकार पशु पाले रहते हैं जिसके कारण वे धीरे-धीरे आर्थिक रूप से बरबाद हो जाते हैं। आर्थिक विकास की दृष्टि से यह बहुत बुरा है, चूंकि आर्थिक विकास बहुत कुछ खेती की उन्नति पर आश्रित है और अधिकांश पशु-पालन और कृषि के आदर्श संयोग पर ही निर्भर होता है।

दूसरी महत्व की चीज पारिवारिक जीवन में सम्बन्धित निषेध है। इनमें से मुख्य स्त्रियों द्वारा किए जा सकने वाले काम के प्रकार [अध्याय २, पृष्ठ २ (ख)] और नरत्व निग्रह [अध्याय ६, पृष्ठ १ (क)] हैं। सीमांत में ये पूर्वाग्रह आर्थिक विकास की प्रतियोगिता में स्वयं नष्ट हो जाते हैं लेकिन आर्थिक विकास के आरम्भिक चरणों में इनके कारण गहन-गहन का स्तर जारी गिरा हुआ रह सकता है। पशु-धन और परिवार के बाव में पूर्वाग्रह निर्भरता आधुनिक गवने की दिशा में धर्म की सरल हानिकारक देते हैं।

काम करने व कुछ परंपरागत तरीके भी होते हैं जिनका कारण सामाजिक अस्वीकृति के भय के कारण बनता पड़ता है। उदाहरण के लिए कुछ देशों में खेती के काम-काज पुरुषों द्वारा निरमित है, जो अपनी कुछ दिशाओं द्वारा यह बताते हैं कि बोट फसल बढ़ और वहाँ और जिन प्रकार दोनों हैं, खेती की सफलता के लिए इनसे धार्मिक कृपा कराना भी आवश्यक माना

जाता है। सम्पत्ता की उन्नति के साथ-साथ धर्म के दृग नियन्त्रण को प्रौद्योगिकी समाप्त कर देती है लेकिन और दूसरे बाधक सदा इसका स्थान लेने का प्रयत्न करते हैं। मध्य-युग की श्रेणिया द्वारा काम की तकनीकों का नियमन वैज्ञानिक उन्नति में बाधक धार्मिक कट्टरता से भिन्न नहीं है श्रेणियों का यह नियमन आज भी जारी है। सरकार भी तकनीकों को नियमित करने की इच्छा होती है जिगने उदाहरण सत्रहवीं शताब्दी में कोलबर्ट के आदेशों और लादमेवा के उद्गारा में समान रूप से मिलता है। आजादी के साथ काम करने की और सब दिशाओं में प्रयाग करने की इच्छा को मुक्त क्षेत्र मिनना पूरी तरह सम्भव नहीं है, लेकिन व्यक्तिगत प्रयाग को आजादी देने में कुछ समान दूसरा की अपेक्षा अल्प मात्रा में है।

धर्मों को लेकर भी लागू में पूर्वाग्रह पाया जाता है। मध्ययुग की गुग्-भ्रात के धर्मशास्त्री समझते थे कि सोडगर का पेशा ईसाई धर्म के प्रतिमुक्त है, और मूद पर रफा उठाने को ता के निश्चित ही पाप-कर्म मानते थे। उनकी उक्तियों का व्यावहारिक परिणाम क्या हुआ यह कहना मुश्किल है बाद में नगरों के विकास के साथ-साथ लाभदायक व्यापार की सुविधाएँ जैसे-जैसे बढ़ती गई धर्मशास्त्रियों के विचार नरम पड़ने गए। सोलहवीं शताब्दी में इसी प्रकार की दुर्भावना (यद्यपि इसके कारण दूसरे थे) स्पेन के अभिजात-वर्ग से थी, जो व्यापार को बड़ी नीची दृष्टि में देखते थे। कुछ इतिहासकारों का मत है कि इसी भावना के कारण स्पेन नये गतार (अमेरिका) में अपने स्वामित्व और आगान पहुँच का पूरा फायदा न उठा सका, महारानी एलिजाबेथ और उनके सहयोगियों में इस प्रकार के बाई पूर्वाग्रह थे भी सो के व्यापारिक उपक्रमों में निश्चय ही कभी बाधक नहीं बने। हर समुदाय में कुछ धर्म दूसरों की प्रशंसा निचले दर्ज के मान जाते हैं। इन निचले धर्मों को करने के लिए घर-घर विनाश निम्न-वर्ग मौजूद होता है। कभी-कभी परिस्थितियाँ ऐसी हो जाती हैं कि धार्मिक विकास के बड़े घर-घर केवल य ही काम प्रदान करते हैं, और तब इन पूर्वाग्रहों के कारण विकास रत जाता है। उदाहरण के लिए, यह इंग्लैंड का दुर्भाग्य है। यदि कुछ लोगों की राय में बड़ा कोषों की गान में काम करना सामाजिक दृष्टि में नीचा माना जाता है या यदि प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में काम करने वाले वैज्ञानिक 'मुद अनुसंधान में लगे वैज्ञानिकों की प्रशंसा नीचे स्तर के मान जाते हैं, या विश्वविद्यालयों के छात्रों की प्रशंसा किसी प्राप्ति प्राप्त स्नातक व्यावहारिक नौकरियों करना पसन्द नहीं करने। नृत्ति एक समुदाय के पूर्वाग्रह दूसरे से भिन्न होते हैं इसलिए जा काम एक समुदाय करना पसन्द नहीं करना, उसे दूसरे लोग दूसरों में प्रदान सेन है। जैसे नीचा जानि के वेस्ट इंडियन स्वतंत्र पेशों का प्रतिष्ठा-

अतः मानते हैं, इसी कारण आर्थिक और चीनी केन्द्र दृष्टियन व्यापार पर अधिकारिक नियन्त्रण करने का यह है ।

स्वयं धन्यता में ही कुछ उन तरह के काम होते हैं जिनके बारे में जागरूकता की आवश्यकता होती है । उदाहरण के लिए कम विकसित देशों के उद्योगियों के बारे में अधिकतर यह मिथ्यापन की जाती है कि वे जागरूकता के अभाव में काम करना पसन्द नहीं करते इसी प्रकार प्राथमिक पदार्थों पर जागरूकता अपने-आपसे एक कुम्भी ठहराना भी गुरु मानते हैं । यह विचारणा कि जागरूकता का काम समाज के निम्नतम के जागरूकता को बढ़ाना चाहिए अतः उन समुदायों में अधिक जागरूकता पैदा होनी चाहिए जो समाज की प्रतिष्ठाओं का अभाव अधिक रखती हैं । अतः आर्थिक जागरूकता मुख्यतः अधिक आवादी है । अधिक आवादी जाते-जाते देशों में उन प्रकार की परम्परा स्थापित हो जाती है कि गरीब लोगों का काम देना अर्थात् जो नैतिक बन्धन है, और उद्योगों अथवा उच्च शिक्षित के लोग जागरूकता का काम करने हैं तो उनकी प्रतिष्ठा केवल इसी कारण कम नहीं हो जाती कि हमने उनकी जाति नीची दिखायी देती है, बल्कि उनका नीचे जाति वाला का काम करने देना है और हृदय-शील भी समझा जाता है, या हमने यह भी प्रकट होता है कि जिनके प्रतिष्ठा-वान और धनी के शोषण चाहते हैं उनसे सम्बन्धित हैं नहीं । इस प्रकार की परम्पराएँ स्थायी रूप में अधिक जनसंख्या वाले समुदायों में देखी जाती हैं, लेकिन अधिक गतिशील समाजों में व्यक्तिवाद और स्वयंसेवा की जो विचार-धारा पाई जाती है उनमें मात्र उन परम्पराओं का अभाव नहीं रहता ।

लोगों में अपरिचितों के साथ आर्थिक सम्बन्ध रखने की उच्छा भी अत्यन्त-अत्यन्त होती है । साथ ही कौन अपरिचित है और कौन नहीं, उसे देखने में ध्यानपूर्वक भिन्न-भिन्न होती है । यदि कोई व्यक्ति केवल अपने मित्रों, या अपने जाति-भाइयों, या अपने गाँव के लोगों, या अपने देश, या विंग, या जाति, या धर्म, या राजनीतिक दल आदि के साथ ही व्यापार करना पसन्द करे तो हमें आर्थिक अवनति कम हो पाती है, इस प्रकार के प्रतिद्वन्द्व चारे जिस रूप में विद्यमान हो उनका उचित प्रभाव होता है, वे अत्यन्त आर्थिक सम्बन्धों के अव्यक्त दृष्टिकोण के देशों में सम्बन्धित हैं । आधुनिक पूँजीवादी समुदायों में नवविदा का मुख्य आशा कौनसे और विद्यमान होती है, और भाई-चारे या व्यक्तिगत गुणों, भलाई या दूसरे पर के भागदान होने या कोई विचार नहीं किया जाता, लेकिन दूसरे अधिकार समुदायों में नवविदा अधिकतर व्यक्तिगत सम्बन्ध ही समझा जाता है या कि सौदे में सम्बन्धित जाति की वृत्त व्यक्तित्व सम्बन्धों पर आर्थिक आशागति होता है । आधुनिक समाजों में भी अनेक अवसर-सम्बन्धों में व्यक्तिगत भावना समाविष्ट होती है, कुछ



गविदाएँ इस प्रकार की होती हैं कि उन्हें केवल एक व्यक्ति को बसाय करना अच्छा रहता है जितना बार-बार भरौसा हो कि वे ईमानदारों के साथ और बिना योग्य दिव्य काम पूरा कर देगे कभी-कभी विशेष व्यक्तिगत सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए बदल में दूसरों को भी तैयारी हो विशेष व्यक्तिगत सुविधाएँ देना आवश्यक होता है (विशेषकर अप्रुथतया मरुटिन वाजारा में जहाँ कि भाग्यहीन और भाग का अनुकूलन मदा नहीं बना रहता) और आर्थिक सुरक्षा की दृष्टि से परस्पर रक्षण प्रदान करने के लिए कभी-कभी अपने सम्बन्धियों अपनी जाति, लिंग या अपने किसी दूसरे प्रकार के समूह को नष्टायता देनी होती है। इन मामलों के अलावा जिनमें कि व्यवसाय में व्यक्तिगत भावना का समावेश संविदा करने वाले के लिए आर्थिक दृष्टि में लाभदायक होता है बाकी सब जगह व्यक्तिगत दृष्टिकोण ज्यादातर मनुष्य की भावना या पूर्वाग्रह के कारण ही बनता है। भाईचारे या राजनीति या धर्म या अन्य किसी भी कारण से इस भावना का समावेश हो लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि अव्यक्तिगत आर्थिक सम्बन्धों के अन्तर्गत आर्थिक विकास के अवसरों का उपयोग अधिन किया जा सकता है।

अब हम एक ऐसी बात पर विचार करें जिसकी चर्चा से गुजरने वाले को याद करने वाले लोग बड़ा दुःख अनुभव करते हैं। अधिकांश आदिम समाज हैसियत पर टिके हैं। इन समाजों में मनुष्यों की जो अधिकार प्राप्त होते हैं या जो आनाएँ होती हैं, वे समुदाय में उनकी हैसियत पर निर्भर होती हैं, न कि बाजार में उनके प्रतियोगितात्मक काम पर। इसलिए जब लोग अपनी सेवाएँ देते हैं अथवा देने के स्थान पर उन्हें अधिकतम मूल्य देने वाले व्यक्ति को बेचने लगते हैं, या जिन चीजों पर उनका परम्परा से अधिकार होता है वे बाजार में पहुँचने लगती हैं, तो ये व्यक्तिगत सम्बन्धों पर आधारित पुरानी रीतियों और रीतियों के विनष्ट होने के विरोध में विद्रोह करने लगते हैं, और पुरानी प्रथाओं के स्थान पर जो नयी बातें सामने आ रही होती हैं उन्हें लालच और आदर की बर्षा देना है। हर समाज में हैसियत के स्थान पर सविदा की स्थापना कान्तिकारी प्रक्रिया होती है। आचरण के पुराने मूल्य समाप्त हो जाते हैं, और नयी परम्पराओं की जड़ें जमने और उनके समाप्त होने तक नैतिक धर्मों में भी समुदाय विरही हर्ष स्थिति में रहना है। इससे केवल आर्थिक सम्बन्धों पर ही प्रभाव नहीं पड़ना, आर्थिक मामलों में हैसियत की भावना का लोप होने के साथ-साथ राजनीतिक मण्डलों और परिवारों में भी हैसियत के पुराने विचार दूर जाने हैं और इसके साथ-साथ हैसियत के पुराने अधिकारों के रक्षक आर्थिक उपदेशों, धर्मों स्वयं परमों को, शून्यता मिल जाती है। इसके बाद समुदाय की एकता तभी फिर से स्थापित हो

पानी है जबकि नये मविदात्मक दृष्टिकोण के आधार पर भाईचारे और राजनीतिक व्यवस्थाओं की परम्पराएँ बन चुकी हैं और नयी व्यवस्थाओं को स्वीकृति देने के लिए धर्म में या नैतिक आचार-संहिता में नये विचारों का समावेश या पुराने विचारों में आवश्यक सुधार हो जाना है। पश्चिमी यूरोप में इस प्रक्रिया के परिणाम निरन्तर म बहुत दिन लग सामाजिक मविदा के विचार पर आधारित नये राजनीतिक दमन के स्थापित होने में और उद-बोधन और प्राधिकार पर आधारित धर्म का मविदात्मक दृष्टिकोण में मल विटाने में काफी समय लगा। अभी यह प्रक्रिया पूरी नहीं हो पाई। दमनमल बीमारी मनाब्दी में फिर कुछ गमी प्रवृत्तियाँ देरन में आई हैं जो विभिन्न वर्गों के कतव्य और अधिकार निर्धारित करने वाले कानून बनाकर, और कानून द्वारा निर्धारित विधि के अनिश्चित अन्य तरीका में नौकरी, बिगयेदारों, बिगये मन्गीद, या विनी के मविदाएँ करने की आजादी पर अकुन लगाकर मविदा के स्थान पर हैमियन की भावना को फिर से महत्व दे रही हैं। कम विकसित देस अभी इस चर के आरम्भिक चरणों में ही हैं। कुछ अमीकी ममात्रो में राजनीतिक और वैवाहिक प्रणालियों को मविदात्मक आधार दिया जा चुका है। लेकिन, पश्चिमी ममार को छोड़कर, अधिकतर ममुदाओं में अत्यन्तक आधिक म्बन्धों को अपनाते समय उन लोगों की चुनौती का प्रतिरोध अवश्य करना होगा जिनकी हैमियन पर हमने आंच आती है। या, विचारों में एक आम तान्ति हो जाए, तो भी मविदात्मक म्बन्ध स्थापित हो सकने हैं।

साहन की भावना का दूसरा पहलू, जिसे कुछ लोग पसन्द नहीं करते, आधिक जीवन में प्रतियोगिता का प्रभाव है। मनुष्य की सभी क्रियाओं में प्रतियोगिता की भावना मौजूद रहती है, लोग मेल में अपना कौशल दिखाने में, या शिचार, या यौन आकर्षण या गायन, या और दूसरी बातों में अपने को दूसरों में अच्छा मिठ करने में प्रमग्नता अनुभव करते हैं, और राजनीतिक मना के लिए, या धार्मिक या सामाजिक नेतृत्व आदि के लिए सघर्ष बड़ा ही कद, हृदयहीन और अमीम होता है। वैसे, प्रतियोगिता करने समय मदा ही आचरण के कुछ नियमों का पालन करना होता है—वैसे कि राजनीतिक मना के लिए सघर्ष पर आचार-संहिता का नियमन होता है—और हमेशा कुछ ऐसे लोग रहते हैं जो प्रतियोगिता की भावना को आत्मा की उन्नति के लिए घातक ममभने हैं, और इमोलिए इमे जहाँ तक हो सके दवाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार के विचार अन्य क्षेत्रों की भाँति आधिक जीवन की प्रतियोगिता पर भी लागू होते हैं।

गुनारे की अर्प-यवस्था में, जहाँ कि विरोधना या व्यापार बहुत थोटा

होता है, वहाँ आर्थिक प्रतियोगिता की अधिक गुंजाइश नहीं होती, लेकिन बाजार की अर्थ-स्थवस्था में प्रतियोगिता हर क्षेत्र में पाई जाती है। भले ही एकाधिकारी उससे बचने का कितना ही प्रयत्न करें, चूंकि गरीबों को हमेशा ही अपना पैसा किसी और चीज पर खर्च करने की धोड़ी-बहुत धाजादी रहती है। विक्रेताओं के न चाहने पर भी जब तब गरीबों को चाहे जिस विक्रेता में सामान लेने की छूट रहती है, तब तब प्रतियोगिता अवश्य चलती है—यदि एक उद्योग के गारे ही विक्रेता मिल जाएं तो गरीबों की इस छूट पर अनुभव लग जाता है लेकिन यह अनुभव भी गरीबों की स्वतंत्रता को तब तक समाप्त नहीं कर सकता जब तक कि 'दूसरे उद्योगों' ( जैसे, टेलीविजन और सिनेमा ) द्वारा प्रतियोगिता चलती रहती है। इससे अतिरिक्त धन कुछ विक्रेता बढिया बिस्म का माल देकर या बीमल कम लेकर, या विज्ञापन, या केवल बेईमानी करने ही बाजार के अधिकांश पर नियंत्रण करना चाहते हैं तो प्रतियोगिता और भी उग्र हो जाती है। प्रतियोगिता में किमी-न-किमी दो तो आघात पहुँचता ही है। उदाहरण के लिए फैंटरी का मजदूर, जो सामान्य से अधिक उत्पादन दिखाता है, अपने दूसरे मादियों के लिए हानिकारक है चौर इससे बाकी लोगों की कार्य-शिथिलता प्रकट होती है, या मानिक इस व्यक्ति के काम को देखकर उत्पादन की सामान्य मात्रा बढ़ाना चाहता है, अथवा इस व्यक्ति के अधिक काम कर देने में दूसरों के पास काम कम रह जाता है, ये परिणाम अवश्यम्भावी नहीं हैं लेकिन कुछ परिस्थितियों में पैदा हो सकते हैं। इसी प्रकार, एक उद्योग के अन्तर्गत यदि कोई कम अकेले ही बाजार के अधिक भाग पर नियंत्रण करना चाहती है तो उसमें दूसरों को बढिनाई होनी है, और कुछ न दिवाला भी निरन्तर सकता है। अग्रे लोडें बगैर घामलेट बनाया भी तो नहीं जा सकता।

कुछ मामलों में अक्षमर्थ के पतन पर कोई प्रांगु नहीं बहाता। अमरीका, हम और जापान ( अन्य बातों में एक-दूसरे में बहुत भिन्न ) जैसे देशों में जमी हुई आमाओ को उखाड़ फेंकने में निर्दयता में काम लिया जाता है, और पिछली दशाब्दियों में इन देशों में आर्थिक विकास की जो प्रोत्साहन तीव्र गति रही है उसमें इस भावना के योग से इनकार नहीं किया जा सकता। कुछ अन्य देशों में आमाओ को बुगै तर्क बुचलना अस्स्य नहीं समझा जाता, बहुत अधिक विरोध या बहुत अधिक काम करने अपने प्रतियोगी को भागी बुचमान पहुँचाना बुगै शीर्ष समझी जाती है। अगरे अघ्याय में प्रयत्न पर साम्बानिक बाधाओं का अध्ययन करने समय हम इस विषय पर और अधिक विचार करना होगा, यहाँ तो हमें इस बात का गौरव भर कर दिया है कि प्रतियोगिता के मामले में लोगों की प्रवृत्तियाँ में कितना अन्तर है।

साहस की भावना का दमन पहलू जाविम के प्रति प्रवृत्ति है। जाविम उठाने की उच्छा मनुष्य की प्रवृत्ति उसी नामध्व और उसी परम्परा पर निर्भर होती है। मनुष्य की प्रवृत्तियों के भेद पर विचार करत समय हम व्यक्तिगत प्रवृत्ति को छोड़ देना होगा। सम्भव है कि भिन्न-भिन्न मनुष्यों के लोगों में जीवात्मक आनुवंशिकता में जाविम उठाने की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न हो लेकिन हमके बारे में भी हम उसमें आर्थिक कुछ नहीं कर सचन या विभिन्न मनुष्यों में उद्योगशीलता पर जीवात्मक आनुवंशिकता के प्रभाव के बारे में पहले कहें आए हैं।

जिन व्यक्ति की आर्थिक स्थिति जितनी ही मजबूत होती है जाविम उठाने की नामध्व भी उसमें उतनी ही अधिक पाई जाती है। उदाहरण के लिए हम दान की परवाह किए बिना कि मूत्र या दाढ़ या दूसरे कृषि-जन्म जाविम पैदा होने की स्थिति में परिणाम क्या होगा एक धनवान किसान बड़े पैमाने पर नए बीजों का उपयोग करके देव सकता है लेकिन वे किसान जो गुजारे-भर के लिए क्या पाने हैं उन बीजों का प्रयोग छोड़ने के लिए बड़ी मुश्किल में नैपार होते हैं जिनके बारे में उन्हें विश्वास होता है कि चाहे जैसी भी परिस्थिति पैदा हो, इन बीजों में औसतन कितनी ही कम नहीं लेकिन कुछ-कुछ पैदावार अवश्य हो जाएगी। वे लोग नए बीज इस्तेमाल करने का जाविम उठा ही नहीं सकते, बूँकि उससे औसत पैदावार चाहे जितनी बटने की आशा हो लेकिन किसान को यह भय बना रहेगा कि अगर एक साल परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो गईं तो उसे अजाल का सामना करना पड़ेगा। दूसरी ओर, अत्यन्त निर्धन लोग, जिनके पास जो बीजों के लिए कुछ है ही नहीं, उन लोगों की अपेक्षा अधिक साहसाँ सिद्ध होते हैं जो कुछ अच्छी आर्थिक स्थिति में होते हैं और जिन्हें असमर्थता की स्थिति में हानि होने का भय रहता है। उदाहरण के लिए, अगर यह अफवाह फैल जाए कि नौ नौन दूर पर सोना पाया गया है तो उन लोगों की अपेक्षा, जो कि थोटा-बहुत क्या रहे हैं और जिन्हें सोना न मिलने की दशा में वापस लौटने पर फिर काम मिलने का निश्चय नहीं है, वे लोग जाविम उठाकर जाने के लिए अधिक तयार होंगे जो फिरहाय बेकार हैं। इस प्रकार, जाविम उठाने की भावना बीज की नामध्व वालों की तुलना में साफ़ी पैसे वाले, या आर्थिक स्थिति में अग्रज अनुसूचित समुदायों में अधिक पाई जाती है।

परम्पराओं के भेद मायदा इससे ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। वर्तमान शताब्दी के इन्फ्लेण्ट के स्त्रुतों में भाषण दिवस के वक्ता इस बात पर जोर देते हुए सुनाई पड़ते हैं कि म्नातकों को अधिक सुरक्षित धन्यों में न जाकरप्रान अन्दर साहस की भावना उदमल करनी चाहिए, वे अपनी बात की पुष्टि के

## मितोपयोग की दृष्टि

निए ड्रेक और एनिडावेय बाव व लोगों और ब्रिटिश-उद्योग के मातृ-कारनामों का उल्लेख करने है। इन प्रकार के भाषण मध्ययुगीन इंग्लैंड में नहीं किये जाते थे, और माग्गो या श्वाभ म प्राज भी सुनने को नहीं मिलेंगे। जा बाव काम के बारे में है वही माहम पर भी लागू हानी है, कुछ देनों में युवकों को मियाया जाता है कि यह पुण्य रूप है लेकिन दूसरे देना में इन पर जोर नहीं दिया जाता। परम्पराओं में अन्तर क्या होता है यह बताना भी उनना ही कठिन है। चायद व दग ओ बट कठिन धन्या से जीवन-निर्वाह कर पाते हैं दूसरे देना की अपेक्षा जोखिम लेने में कम घबराने हैं। लेकिन सभी धन्ये कठिन हैं, वर्षा अनिश्चित होने के कारण भारत के किसान का जीवन उतना ही कठिन है जितना कि मछली पकड़ने या विदेशी व्यापार में लगे व्यक्तियों का होता है। परम्पराएँ जन्म चाहें जन्म लें, लेकिन वे अपनी पुष्टि स्वयं ही करती हैं, अर्थात् जिन देनों में सफलतापूर्वक जोखिम उठाने वाले लोगों के अनेक उल्लेख मिलते हैं वहाँ दूसरे राष्ट्रों की अपेक्षा आपविश्वास की भावना अधिक बलवती पाई जाती है।

विनामशील अर्थ-व्यवस्था में जोखिम उठाने की भावना का एक विशेष महत्त्वपूर्ण पहलू मनुष्य का अपना धन्य बदन देने की तत्परता है। पूरी तरह हैगिदन पर आधारित अर्थ-व्यवस्था में जाति-प्रथा के कारण दूर-प्रादमी वही काम करने के लिए विवश होता है जो उगत जन्म के समय में और उमरे पिता व जन्म के समय में उसके घर में होता आया है (मनी का काम करने की छूट हर जाति के लोगों का रखी है), और जिन समाजों में जाति का मान्यता नहीं भी मिली होती वहाँ भी तीव्र पारिवारिक भावना, या माता-पिता के प्रति भाव व कारण मलान अधिनतर ऐसे धर्मों में लगी रहती है जिनके लिए उनमें कोई प्रतिभा नहीं होनी या जिन धर्मों के अन्तर्गत वनों चीजों का मान्यता कम ही रही होनी है। पारिवारिक भावना के अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि जिन काम के लिए आदमी को प्रतिक्षण मिला हों उगके प्रति उगे विशेष आकर्षण हों, और वह उगे अपेक्षाकृत अधिक लाभ के धर्मों को अपनाते के लिए भी छोड़ना न चाहें। वे भी ऐसी चीजें हैं जिनके बारे में भिन्न-भिन्न समुदायों की परम्पराएँ अलग-अलग हानी हैं, कुछ में यह निश्चित माना जाता है कि दूर-प्रादमी जीवन-मर्यादा एक ही काम, यथासम्भव अपने पतन व्यवहार को ही, करना रहेगा, जबकि दूसरे समाजों में साहस की भावना बढाने पर बल दिया जाता है।

यदि धन्य बढाने के कारण प्रादमी को अपना घर छोड़कर कहीं दूर जाकर रहना पड़े तो वह उगके लिए सामानों में तैयार नहीं होता। लेकिन किसान के लिए सदा ही इन प्रकार की गतिशीलता परम्परा होती है, कम बो

हुए जिलों में नये-नये साधनों की खोज होती है, या पुराने जिलों के साधनों का उपयोग धुरु कर दिया जाता है, या मांग अथवा सप्टाई में कुछ परिवर्तन होने से ज्ञात साधनों के मूल्य बदल जाते हैं। आजकल कुछ सरकारें लोगों को काम के स्थान पर लेजाने की वजाय जहाँ लोग हैं उन्हें वही काम उपलब्ध करने का प्रयत्न करती हैं, और आर्थिक दृष्टि से इसमें कोई आपत्ति नहीं है यदि नये उद्योग पुराने स्थानों पर भी बिना किसी आर्थिक अमुविधा के लगाय जा सकते हैं। नये उद्योगों को पुराने स्थान पर लगाने का मसखन करने मसय कभी-कभी यह भी कहा जा सकता है कि पुराने स्थान में मजान, बिजली-सप्टाई स्कून और दूसरी आवश्यक सेवाओं के रूप में पूंजी लगी होती है, जिसे दूसरी जगह स्थानान्तरित करने में आर्थिक हानि होगी। यह तर्क थोड़ा युक्तिमगत अवश्य है लेकिन इसमें अधिक बल नहीं। चूंकि पूंजी का क्षय होना रहता है, और कभी-कभी कहीं-कहीं उसका पुनर्निर्माण करना ही पड़ता है। जो भी हा, ऐसे उद्योग, जो भूमि-निर्ज या जल पर निर्भर हैं, अधिकतर वही स्थापित करने पड़ते हैं जहाँ उक्त साधन उपलब्ध हैं।

स्थान बदलने की इच्छा असत भावना पर, असत दबाव पर और असत नये स्थान के प्रति आकर्षण पर निर्भर हाता है।

भावना अपने मस्वस्थिया, मित्रों, अपने घर, अपने जिले, या जीने के अपने तरीके के प्रति मोह के रूप में हो सकती है। यदि मनुष्य को जीवन का कोई नया मार्ग अपनाना पड़े तो उसे सबसे अधिक आघात पहुँचता है, उदाहरण के लिए छोटे समुदाय का कोई किमान अपना काम छोड़कर एक बड़े समुदाय में जाकर फैक्टरी में मजदूर बन जाए, या न्यान में काम करने लगे। यहाँ भी परम्परा सहायक होती है। यदि बहुत से लोग एक साथ परिवर्तन करें तो उनके लगभग एक मतान्दो वाद समुदाय के अन्य लोग भी इसके आदी हो जाते हैं। नये स्थान की परिस्थितिया के बारे में बाहर में समाचार मिलने रहते हैं, जिनके फलस्वरूप लोगों का मन दूर होता है, और नया उत्साह भी पैदा हो सकता है। इस भावना के बारे में इतना ही कहना काफी है कि जिन लोगों को स्थान बदलने की आदत होती है वे दूसरों की तुलना में आसानी से एक जगह को छोड़कर दूसरी जगह चले जाते हैं।

लोगों को बड़े पैमाने पर गतिशील बनाने के लिए अवसर कुछ दबाव की जरूरत पड़ती है। उन वृषि-प्रधान देशों में, जहाँ हर आदमी के पास गुजारे लायक काफी जमीन होती है, लोगों को अच्छे अवसरों का उपयोग करने के लिए तब तक तैयार नहीं किया जा सकता जब तक कोई ऐसी घटना न हो जाए जिसमें कि उनके वृषि-कार्यों की सुरक्षा में कमी आती हो। उदाहरण के लिए, दुर्भाग्य पड़ जाए, या आवादी अधिक हो जाए, या युद्ध, या और कोई

प्राकृतिक आपदा आ जाए। या जैसा कि अफ्रीका में हुआ है, सरकार द्वारा कर बढ़ा दिए जाएं, लोगों की जमीन छीन ली जाए या जोर-जबरदस्ती की जाए—अफ्रीका में इस प्रकार के दसकों के फलस्वरूप ही अमीरोंवासी अपने पुत्रों के दायरे छोड़कर मजदूरों वाले रोजगार परत लगे हैं। इन्टरनेट के सम्बन्धित संशोधनकारियों ने गवर्नर बड़े पुत्र का सम्पत्ति दिव्य जान के प्रभाव की नर्था करते हुए ये निष्कर्ष निकाले थे कि इन व्यक्तियों के परिणामस्वरूप उत्तराधिकारी के अतिरिक्त अन्य मन्तव्यों अतिरिक्त उत्तमों और ननिगील बन जाती हैं। पारिवारिक सम्बन्धियों की न्यूनताओं गगना भी शायद महत्वपूर्ण है। यदि किसी व्यक्ति को गुजरा के लिए अनन्त सम्पत्तियों या धनगत हा तो वह स्वयं अधिक प्रयत्न नहीं करेगा, और इमीरों का शायद विस्तृत परिवार प्रभावितों और स्वयं अधिक विरासत एक साथ नहीं पाए जाते। औद्योगिक समुदायों के लोगों में अधिक बेरोजगारी के क्षेत्रों में विरासतीय क्षेत्रों में जान की प्रवृत्ति पाई जाती है। बेकारी-बीमा की व्यवस्था के कारण अनिर्णयता में कुछ कमी हो सकती है, लेकिन अतिरिक्त नाय अरोजगार रहने की प्रेरणा रोजगार में लगना अधिक प्रयत्न करते हैं और बहुत ही कम वेतन पाने वाले मजदूरों को छोड़कर बाकी मामला में बेकारी-बीमा-व्यवस्था में मिलने वाले धन और नियमित रोजगार में मिलने वाली मजदूरी में काफी अन्तर होता है।

अन्य प्रोग्रामों के असफल होने में यह स्पष्ट हो गया है कि बड़े स्थान वाली गारपेंच होना चाहिए जहाँ लोगों को बाहर से लाने में सक्षम हो। बाहर से पाने वाला व्यक्ति मंत्रीपूण स्वयंसेवक, उचित आवास, धार्मिक सम्भावनाओं, और नयी तरह में जीवन व्यवस्थित करने के अवसर का आश्वासन चाहता है। केंद्रीय और दक्षिणी अफ्रीका की पाने वाले बड़े-बड़ी सम्पत्तियों, जिन्हें सामान्य अमीरियों का अपने दायरे छोड़कर गानों में मजदूरों के लिए बुझाने की जरूरत थी, शुरू में शायद ही इन प्रकार के कोई आश्वासन जुटानी थी, इसीलिए बाद में बड़े प्रकार के दबाव हासन पड़े। अन्त में वेतन, पत्नी और बच्चों को लाने में सक्षम के लिए, अच्छे मजान, उन्नति की सम्भावनाओं, और नगर के स्थायी जीवन की सुरक्षा का प्रयत्न सब इन सम्पत्तियों की धोर में पहले की अपेक्षा अधिक किया जाता है और इसीलिए सब अक्षम लोगों प्रकार के दबाव पाने को आवश्यकता नहीं होती। अतिरिक्त, सामान्य के बड़े औद्योगिक मजदूरों के पाने वाले, नगर की बड़ी धनियों में निवास करने उपकरणों में सक्षम देने के जा प्रयत्न किए जा रहे हैं उनमें भी विस्तृत यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। जो साथ ही उन्नतों में बग गए हैं वे फिर नए धान्य पाना चाहते हैं। उनमें सक्षम है कि नए

अपने निम्नो गृह की गतिषों, और वहाँ के शोक-शुभके की याद आती है, दग्धसल उन्हें काम पर जाने के लिए गेज जो यन्त्री पाना बग्गी पटती है उसे वे नामन्द करने है और यह भी बात है कि इन उपनगरी में नये मानुषाधिक जीवन का निर्माण करने के लिए सिनेमा, साविकनिक स्थान और सम्पूर्ण पर्याप्त मन्त्रा में रही है। ऐसे उपनगर के बारे में सिवायों बन मुनने में आती है जहाँ उनके साथ ही पंखटिग्या भी बना हुई है, और जहाँ कि निम्नो और सम्बन्धितों के समूह-के-समूह एक साथ स्थानान्तरित किए गए हैं, और नये मानुषाधिक जीवन की सब सुविधाएँ भी जुटा दी गई हैं। ऐसी के लिए लोगों को नयी जगहों पर जाकर बसाने में जो अन्तर्गतताएँ हुई हैं वे भी इसी का दूना उदाहरण हैं। अक्सर लोगों को हमीने दे दी जाती है लेकिन न सटके बनती हैं और न वहाँ पानी का थोटा इन्तजान किया जाता है, दिन लोगों को बचने के लिए भेजा जाता है उदका चुनाव भी बिना उनके कृपि-अनुभव या पूँजी को देखे हुए कल-जुलन कर दिया जाता है; बाद में सलाह, सहायता या सुगठन के बिना इन लोगों को स्वयं अपनी व्यवस्था करने के लिए छोड़ दिया जाता है। इस सन्दर्भ में इन्डोनेशिया का प्रनुभव बहूत-कुछ सिखाता है। १९३३ से पहले सरकार जावा के लोगों को मुमात्रा जाने के लिए अवसर देती थी, जहाँ कि उन्हें हमीन और आधिष्ठान सहायता मिलती थी, लेकिन बहूत थोड़े लोग इसका फायदा उठाते थे। उनके बाद ऐसी व्यवस्था की गई कि वहाँ जाने वाले लोग प्रत्यक्ष पैसा होने से कुछ ही पहले पहुँचे और अपने मरु के हस्तों, वहाँ पहले बसे हुए लोगों के वहाँ रहकर उनकी मददगारी करने हुए गुजारें। इस प्रकार उनके पास कुछ धन भी इकट्ठा हो जाता था, नये देश के बारे में तरह-तरह से अपने को अनुभूत बनाने का समय भी मिलता था, काम करते-करते आदम्बर सलाह मिलती रहती थी, और उपयोगी सम्पर्क स्थापित करने का मौका भी मिलता था। इस प्रणाली के अन्तर्गत यह भी आम्वासन दिया गया था कि नये बनने वालों को उनकी प्रकृत के समय सहायता दी जाएगी। परिणाम यह हुआ कि १९३६ और १९४० के बीच मुमात्रा जाने वाले लोगों की आधिष्ठानिक सुख्या लगभग दुगुनी हो गई, और उसके बाद भी प्रतिवर्ष बढ़ती रही, हातांकि बाद में सरकार ने प्रवासियों को दी जाने वाली आधिष्ठानिक सहायता में काशी बनी कर दी थी।

यह सही है कि जो व्यक्ति गतिशील होगा उसकी सम्पदा की सम्भावनाएँ भी अधिक होंगी, लेकिन आधिष्ठानिक विद्यास की दृष्टि से यह आदम्बर नहीं है कि हर आदमी में गतिशीलता हो। आधिष्ठानिक पणिस्तिपिना कुछ धीरे-धीरे ही बदलती हैं, और अधिष्ठानिक परिवर्तन उमान्त होते हैं। अतः नार माते जन-



मर्यादा का योद्धा ही अनुपात प्रतिबन्ध परिवर्तन के लिए तैयार हो तो काफी है। वैसे, यह धोड़ा-सा प्रतिबन्ध भी तब तक तैयार नहीं होगा जब तक कि नये स्थान के आकर्षण के साथ गतिशीलता की परम्परा या पुगाने स्थान पर अधिक दबाव का सम्बन्ध पैदा न हो।

साहस के दूसरे सभी पहलुओं पर भी यही बात लागू होती है। आर्थिक विकास की दृष्टि में यह आवश्यक नहीं है कि सभी लोग तैयार हो लेकिन नवीन प्रक्रिया लागू करने वालों की संख्या काफी होनी चाहिए। यह बहुत-बहुत दम पर निर्भर करता है कि सफलतापूर्वक नवीन प्रक्रिया लागू करने वालों की संख्या की श्रेणी में क्या सुस्कार और सम्मान दिया जाता है। हर समुदाय में कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति पहले से स्थापित मत या निहित स्वार्थों की प्रवृत्ति करने वाले के नये तरीके, उत्पादन की नयी चीजों या नये आर्थिक रूपों पर प्रयोग करने की होती है। कुछ समाज ऐसे लोगों की प्रगति की दृष्टि से देखते हैं और उन्हें बढ़ावा देते हैं, जबकि दूसरे समाजों में ऐसे लोगों की आक्रोशों की तरह बुझाने दिया जाता है। लेकिन आर्थिक विकास बहुत-बहुत दम पर निर्भर करता है कि दम प्रसार के साहसों लोगों का बोधन करने और उन्हें कार्य-क्षेत्र प्रदान करने के अनुकूल सामाजिक वातावरण है अथवा नहीं। हम इस विषय पर आगे के अध्यायों में फिर प्रकाश डालेंगे।

सबसे महत्वपूर्ण प्राकृतिक साधन जलवायु, शुद्ध जल उपजाऊ भूमि, उपयोगी मृत्तिका और वातावरण में सहायक भूमि का तत्त्व है। इनमें से कोई भी निरपेक्ष अर्थों में सम्पन्न या हीन नहीं बड़ा जा सकता, चूंकि इनमें से कोई भी चीज, जो आज उपयोग के प्रयत्न में उपयोगी नहीं होती है, बल बेकार हो जाती है।

साधन का मुख्य उसकी उपयोगिता में है और उपयोगिता रचि या टेक्नीक में परिवर्तन या नयी मशीनों के साथ-साथ मर्यादा बदलती रहती है। जब तक मनुष्य न कोयला जलाना नहीं सीखा था तब तक यह मूल्यवान साधन नहीं समझा जाता था, और आज कोई विद्वान्पूर्वक यह नहीं कह सकता कि दो सौ साल बाद कोयले का यही महत्त्व रहेगा अथवा नहीं। मान लें कि तब तक बड़े बाधक सम्बन्धों में जब तक अमरीका की मशीनें ने क्रिस्टल को स्थायी रूप में पैमाने का एक बहुत बड़ा बदलाव नहीं बना दिया। जमावट में ही एक उपजाऊ जमीन एक बड़ी सम्पत्ति मानी जाती थी, लेकिन अब यह बात नहीं, चूंकि मन्ने की मशीनें के लिए अनुकूल और बहुत ही जमीनों का पैदा शतक है। हम प्रकृत, जब हम यह कहते हैं कि कोई देश बड़ा साधन-सम्पन्न है तो हमारी यह बात बतलाता है।

और तकनीक के मन्दर्भ में ही अर्थपूर्ण मानी जाएगी। इसी तरह कोई देश, जो आज साधनों की दृष्टि से हीन समझा जाता है बाद में कभी बहुत सम्पन्न माना जा सकता है जिसका कारण यही होना आवश्यक नहीं है कि वहाँ नये साधनों का पता चला हो बल्कि यह भी हो सकता है कि वहाँ के ज्ञान साधनों का नये-नये कामों में उपयोग होना लगा हो।

इन कारणों से सीमा को ध्यान में रखते हुए इन बातों की जाँच करना बड़ा दिलचस्प है कि किसी देश के आर्थिक विकास की गति उसके प्राकृतिक साधनों की सम्पन्नता या हीनता पर कितनी निर्भर है। एक अर्थ में तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास और साधन एक-दूसरे पर आश्रित हैं। अन्य बातें समान मान लेते हैं, लोग हीन साधनों की अपेक्षा सम्पन्न साधनों का उपयोग ज्यादा अच्छी तरह कर सकते हैं। इसीलिए जिन देशों का सर्वाधिक आर्थिक अवसर प्राप्त होते हैं उनमें ही सर्वाधिक विकास की आशा की जाती है। हमारे के आर्थिक इतिहास का अधिकांश इन्हीं सीमा-सादी बातों के आधार पर लिखा जा सकता है। पुराने जमान में जबकि येनी ही मुख्य आर्थिक क्रिया थी, जंगल नदी-घाटियों में बसने अथवा उन्नति हुई। बाद में भी हम देख सकते हैं कि और स्थानों का महत्व जिन प्रकार बढ़ा, वही इसका कारण खनिजों की खोज थी ( जैसे, मलाया की टिन ), वहाँ खनिजों के उपयोग के नये तरीकों की खोज थी ( जैसे, मन्सूफ़ का तेल, ब्रिटेन का कोयला ), वहाँ व्यापार के मार्गों में परिवर्तन या ( जैसे, १८४२ के बाद पश्चिमी यूरोप के बन्दरगाह ), वही साधनों के नये साधनों की खोज थी ( जैसे, बँकाक का हवाई अड्डा )। यह भी वित्तकुल स्पष्ट है कि जिन देश के प्राकृतिक साधन जैसे होंगे, उन्हीं प्रकार और उन्हीं सीमा तक वह देश प्रगति कर सकेगा। वैसे, यह एकमात्र सीमा तो क्या, आरम्भिक सीमा तक नहीं है, बल्कि अन्य देश अपने वर्तमान साधनों का जिन प्रकार उपयोग कर रहे हैं उससे अच्छा कर सकते हैं। देश में उपलब्ध साधनों के मन्दर्भ में विकास की गति वहाँ के लोगों के व्यवहार और मानव-सम्पत्तियों पर निर्भर है, अर्थात् इन प्रकार की बातों पर, जैसे मानसिक ऊर्जा, भौतिक वस्तुओं के प्रति प्रवृत्ति, धन बचाने और उसे उत्पादक कामों में लगाने की इच्छा, या सम्पत्तियों की उदारता और नम्यता। प्राकृतिक साधन देश के विकास की दृष्टि निर्धारित करते हैं, उनकी चुनौती को स्वीकार करना या न करना मानव-मन्त्रिण के ऊपर है।

अतः साधनों और विकास के परस्पर-सम्बन्ध की जाँच का मुख्य काम यह देखना है कि साधन-सम्पन्नता और उनके उपयोग के लिए मनुष्य द्वारा किये गए प्रयत्नों के स्तर में क्या सम्बन्ध है। यदि दो देशों के मनुष्य एकसा

ही प्रयत्न करें तो साधन-साधन देना में प्रभावश्रुत देशों की प्रयत्ना आदि विचारों अधिन लेनी ग होगी। लेकिन हमें यह समझना है कि क्या कोई ऐसी नियम है कि जिन देशों में प्राकृतिक साधन अधिन है वहाँ के लोग निर्धन देशों की प्रयत्ना अधिन प्रयत्नशील होने दें या कि यात प्रिलकुल हमें उलटी है ?

केवल एक साधन' के बार में निर्दिष्ट रूप में उपाय दिया जा सकता है वह साधन है पट्टेच और बाकी साधनों के बार में सही रूप में बहुत ही कम कहा जा सकता है। सम्झना कि कुछ भी कहना कठिन है। पट्टेच का साधन इसलिए माना गया है कि इसका आधार देश के भौगोलिक लक्षण हान है— देश के धरातल का विन्यास, जलवायु नदियाँ, समुद्र में दूरी, बन्दरगाहों की गहिराई और जलवायु, ऊँच पहाड़ों-तैली अरण्य वायायों का होना या न होना देना और बाकी सभी सगार में बोच रंगिणानों या अशेष जगतों की स्थिति। आदि विचारों का प्रयत्न देना में पट्टेच का बड़ा निर्णयन योग होता है। हमें व्यापार में वृद्धि होनी है जिनके परिणामस्वरूप नयी-नयी चीजों की माँग बढ़ती है, आदि प्रयत्न को प्रोत्साहन मिलना है और विशेषता में वृद्धि होती है। हमें भिन्न-भिन्न रीति-रिवाजों और विचारों के योग आग में मिलने-जुलन है, जिनके कारण लोगों का मस्तिष्क प्रियशील रहता है, ज्ञान की वृद्धि में सहायता मिलती है और सम्मान उदार तथा नम्य बने रहते हैं। जिनके देश के लोगों का आदि बन बहुत-कुछ उत देना व दुर्गम या सुगम होने पर निर्भर है।

दूसरे नम्बर पर जलवायु आती है। ऐसा मानना जाता है कि सामान्य आर्द्रता के ताप ६० डिग्री से ७५ डिग्री फारेनहाइट तापक्रम में मनुष्य का शरीर सबसे अच्छी तरह काम कर सकता है लेकिन मानव-मस्तिष्क पर जलवायु का इतना स्पष्ट प्रभाव देना में नहीं आता। यह तो निश्चिन्त है कि बहुत अधिक ठण्डे या बहुत अधिक गरम देश अच्छे नहीं होते। हमें बावजूद पुगने जमान में गरम-दूगर में बहुत भिन्न जलवायु व देना में अपनी अपनी सम्भावनाओं की धारें बनाकर दिनाया था, इन देना में उष्ण कटिबंध की गरम नदी-घाटियाँ भी थी और पश्चिमी और गरम के ऊँच पहाड़ भी थे, और पश्चिम-उत्तरी यूरोप के ठण्डे प्रो अन्तर्गतम जाओ काल देना भी शामिल थे। कि यमान काल में गरम अधिन आदि विचारों की उपाय कटि-बंधों में हो रहा है, इसलिए यह कहा जाने लगा है कि आदि विचारों के लिए मौसम जलवायु बाधनीय है लेकिन विचारों और मौसम जलवायु का यह सम्बन्ध मानव-संज्ञान की बिलकुल हान ही की घटना है।

उपरोक्त भूमि आदि गरम साधनों का जहाँ तक सम्बन्ध है, विचारों

विषय यह है कि परिस्थितियों की बटिनाई में मनुष्य की चतुराई बटनी है या उसकी मानसिक ऊर्जा का क्षय होता है। वैसे माधना और ज्ञान की वृद्धि में इतना सम्बन्ध निश्चित है कि मनुष्य के पास जा कुछ ज्ञान है वह उसी का प्रयोग करना सीखता है। कोयला प्रौद्योगिकी का विकास उस समुदाय में नहीं होता जहाँ कोयला प्राप्य नहीं है, इसी प्रकार वह समुदाय स्थापत्य में उन्नति नहीं कर सकता जिसे अच्छा पत्थर उपलब्ध न हो। लेकिन अगर किसी समुदाय के पास कुछ माधन मौजूद है—और जब तक जोई माधन नहीं होंगे, समुदाय स्थापित ही नहीं हो सकता—तो उनकी सम्पन्नता और समुदाय के लोगों के उत्साह का स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित करना कठिन मालूम होता है। तर्क के आधार पर हम यह सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते, चूँकि साधन-सम्पन्नता की स्थिति में लोग कठिन भी बन सकते हैं और मेहनती भी बन सकते हैं। यहाँ ऐतिहासिक प्रमाण भी हमारी सहायता नहीं कर सकते, चूँकि सबसे माधनी वाले देशों में उत्साह की मात्रा न्यूनाधिक पाई जाती है, और चूँकि माधनों में जोई प्रत्यक्ष परिवर्तन हुए बिना एक ही देश के इतिहास के विभिन्न कालों में उत्साह की मात्रा कभी कम और कभी अधिक रही है।

कुछ लोगों ने चरित्र और धन्ये के बीच सम्बन्ध बनाने का तर्कशास्त्र ब्रह्म किया है। उनके अनुसार विमान और नान खोदने वाले 'मुन्त' होते हैं, मछली पकड़ने वाले, व्यापारी और नाविक 'माइसी' होते हैं, दम्तवार और शहरों में रहने वाले आम तौर पर पट्टु होते हैं। इन चरित्र-चित्रणों के आधार पर आर्थिक विकास और साधनों में यह सम्बन्ध बनाया जा सकता है कि अधिक आर्थिक विकास वही होगा जहाँ के लोग समुद्री धन्ये करते होंगे, या जहाँ वस्तुओं का विनिर्माण करते उन्हें दूसरे देशों के खाद्य-पदार्थों के बदले बेचने का काम किया जाता होगा। लेकिन इससे तो साधनों और विकास के बीच उल्टा रिश्ता कायम हो जाता है, चूँकि समुद्री धन्ये और विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात का काम अक्सर वे ही लोग करते हैं जिनके पास उपजाऊ भूमि इतनी काफी नहीं होती कि उससे अपने देश की खाद्य-सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी कर सकें। यह सामान्य निष्कर्ष केवल कुछ ही देशों पर टोक लागू होता है—इतिहास के केवल एक चरण में फिनिशियन या ग्रीक लोगों के बारे में—अन्य चरणों के बारे में यह टोक नहीं बैठता—और इनकात या मित्र-निवातियों के बारे में। हम उस 'नियम' को नियम के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते जो सब उदाहरणों पर लागू न होना हो।

यह तर्क अपेक्षाकृत अधिक नहीं मान्य होता है कि आर्थिक विकास के सचयी प्रभाव द्वारा साधनों का मानव-प्रयत्न पर प्रभाव पड़ता है। मान सीझिंग,

जिन्हीं एव पुराने देग में आकर लोग दो नये देगों में बसें और उनकी प्रवृत्तियाँ और मर्यादाएँ-जैसे हों, तो यदि एक देग में दूसरे नये देग की अपेक्षा अधिक साधन होंगे तो वह देश अधिक तेजी से आर्थिक विकास करेगा। प्रश्न यह है क्या हम स्वयंसेवा आर्थिक विकास से निवामियों की प्रवृत्तियों और मर्यादाओं में ऐसे परिवर्तन आएँगे जिसमें कि विकास की गति और बढ़े, या ऐसी बातें पैदा होंगी जिससे कि गति में अवरोध उत्पन्न हो, क्या समय पाकर सम्पूर्ण देश में निर्धन देग की अपेक्षा मानव-प्रयत्न बढ़ेंगे या कम हो जाएँगे ? कुछ लोगों के अनुसार लोग प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने के लिए और अधिक प्रयत्न करेंगे। अधिक आर्थिक विकास होने से उपभोग की नयी वस्तुओं की माँग बढ़ेगी। प्रौद्योगिक ज्ञान तेजी से बढ़ेगा जो कि एक गन्धर्वकी प्रक्रिया है जिसमें मनुष्य के मस्तिष्क में प्रयोग और माह्रम की इच्छा बलवती होती जाती है। सामाजिक गतिशीलता बढ़ेगी, और मर्यादा में अधिक नम्यता आणी। आर्थिक प्रसरण बढ़ने के साथ-साथ मानव-प्रयत्न भी बढ़ेंगे। दूसरे लोग हमने त्रिकुल उलटी बात कहते हैं। उनका तर्क है कि धन में वृद्धि होने से लोग आसुरिक हो जाएँगे, और काम करने की इच्छा कम होने लगेगी। अधिक दबाव की वमी से माह्रम और सीमित साधनों के अधिकतम उपयोग की आवश्यकता कम होती जाती है। धन में वृद्धि के साथ साथ आपसी ईर्ष्या जन्म लेती है। प्रजासत्तिका प्रमत्तोप बढ़ते हैं, आन्तरिक कलह होती है, और धन में गृह-गृह छिड़ जाता है। मनुष्यों की भाँति समाज भी 'घोटा होने के साथ-साथ काहिल' होता जाता है। यही बात हमारे से पैगम्बर, धार्मिक पुनरुत्थानवादी, फासिस्ट, तानाशाह मिन्य सत्तावादी स्त्रुन मास्टर और वे दूसरे लोग कहते आए हैं जो समाज को मनुष्य की आत्मा का हनन करने वालों में घटणी मानते हैं।

यदि इतिहास से उदाहरण लेकर इनका फैसला करना मुश्किल है तो मानव विज्ञान का आधार क्यों न लिया जाए ? हम जानते हैं कि कुछ आदिम समुदायों के पास दूसरे आदिम समुदायों की तुलना में प्राकृतिक साधन अधिक हैं। क्या कोई ऐसा प्रमाण है जो अधिक साधन-सम्पन्न हैं ? वे कम साधनों वाले लोगों की अपेक्षा अधिक मेहनत में, या अधिक बुद्धिमानी से काम करते हैं। दुर्भाग्य से जिस प्रकार अनुज्ञान इतिहासकार चुनकर आप इन प्रश्न का मनचाहा उत्तर निकाल सकते हैं, उन्हीं प्रकार अनुज्ञान मानव-विज्ञानों का आधार लेकर भी प्रायः नकारात्मक या सकारात्मक, जैसा चाहे, निष्कर्ष निकाल सकते हैं। यद्यपि वास्तव यह है कि साधनों और फल-सम्पन्नता में घटात्मक या नृणात्मक, बिना प्रचार या मोषा सह-सम्बन्ध नहीं है। कुछ साधन-सम्पन्न लोग अपने में गिरे हुए साधनों यातों की अपेक्षा अधिक प्रयत्न-

शील होना है और कुछ लोग जिनके पास कम साधन हैं अधिक मात्रा में वस्तुओं की अपेक्षा ज्यादा प्रयत्न करते हैं। किसी विशेष समुदाय के लोगों के जोरदार प्रयत्नों का कारण ढूँढते समय हम जीव-विज्ञान, भूगोल और मनोविज्ञान चाहें जिनमें सहायता ले लेकिन अन्त में इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि यह विश्व के उन राष्ट्रों में है जिनका अभी तक दरम्यान कोई समाधान नहीं निकाला जा सका है। मुझे तो लगता है कि सबसे अधिक तर्कमग्न इस उत्तर में है कि यह नैतृत्व के मयाग पर निर्भर है। यदि भाग्य में किसी समुदाय में, इतिहास के किसी नाजुक काल में कोई अच्छा नेता पैदा हो जाता है जो अपने दगा-वानियों की भावनाओं का समझन हुए उन्हें उचित पथ प्रदर्शन द्वारा मूर्त रूप देता है तो वह ऐसी परम्पराएँ उपाख्यान और मानक स्थापित कर सकता है जो लोगों को विचारधारा में समाविष्ट हो जाना है, और अनेक शताब्दियों तक उनके व्यवहार का नियमन करती हैं। एक सीमा तक ऐसे जीवात्मक मयाग कह सकते हैं। यह दृष्टिकोण विनकुल गलत मान्य होता है कि मनुष्य का मृजल उमकी चारों ओर की परिस्थितियाँ करती हैं, और नेता अपने समय-विशेष की रचना मात्र होते हैं। इन विचारों में महत्त्व रखने का अर्थ है कि हम यह भी विश्वास करें कि हर देश में हर नाग ऐसे लोग पैदा होते हैं जिनमें बोधोक्ति, बुद्ध और न्यूटन बनने की क्षमता होती है। नवजात्र मृजलगीत लोग किस देश में या किस काल में कितने पैदा होंगे यह एक विरल सांख्यिकीय संयोग है। स्थान और काल की परिस्थितियाँ इन लोगों के गुणों को समझने और उनका उपयोग करने में सहायक हो सकती हैं, लेकिन उनमें अज्ञान वस्तु को प्रस्तुत करने की सामर्थ्य नहीं होती, और वह समुदाय बहुत भाग्यशाली है जिसे समय पड़ने पर आवश्यकतानुसार नैतृत्व मिल जाए।

धर्म और आधुनिक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध पर बड़ा साहित्य उपलब्ध है, इसका परिचय देने वाली सर्वश्रेष्ठ पुस्तक आर० एच० टॉनी की रिस्लीजन एंड दी राइज ऑफ़ डेपिडलिज्म (धर्म और पूँजीवाद का उद्भव) द्वितीय संस्करण, लन्दन, १९३७ है, टेल-कोट फारमन की दी स्ट्रक्चर ऑफ़ सोशल एक्शन (सामाजिक क्रिया की रचना), न्यूयार्क, १९३७, में मर्रिस वेबर द्वारा दिए गए भाग्यीय, चीनी और यहुदी धर्मों के अध्ययन का विस्तृत माराल दविए देयर की मून पुस्तक जिसामेल्सी ऑफ़ सोरडो, जुर रिस्लीजनसोसियोलोजी, नव्ड २ और ३ टुविन्जेन, १९००-२१ का अंग्रेजी अनुवाद अभी तक नहीं निकला, एच० एच० गर्न और सी० ट्यू० मिन्स की प्रॉम मेस्स वेबर (मेस्स वेबर से), लन्दन, १९४७, भी पटिए। नये आवश्यकताओं के विचार पर एच० जी० वर्नेट की इन्वोवेशन, दो वेमिस ऑफ़ कल्चरल चेंज,

(नवीन प्रक्रिया सामूहिक परिवहन का आधार) न्यूयार्क, १९१३, ई० टोड्ट का कम विभिन्न क्षेत्रों में आरम्भिता का विस्तार जर्नल ऑफ पॉलिटेक्निकल इन्जिनरी (प्रबंधन का जर्नल) जून १९११, और टी० बेरन की डी प्योरी ऑफ डी लेनर बन्नाम (सावधान वग का विधान) न्यूयार्क १८९९, पढ़नी चाहिए। वृषि-प्रधान दशा में श्रौचोगिक कामों के लिए श्रमिक भरती करने की समस्याओं का उत्तम विवेचन उच्च० ई० मूर की इंडस्ट्रियलाइजेशन एण्ड लेबर (श्रौचोगीकरण और श्रमिक), न्यूयार्क १९११ में उपलब्ध है। थो० विनबग की रेत डिफरेंसेज (जातिमूलक भेद), न्यूयार्क १९३५, में उक्त समय तक के इस विषय के समस्त साहित्य का सर्वेक्षण मिलता। ई० हटिंग्टन की डी मेन स्प्रिंग ऑफ सिविलाइजेशन (गम्यता के मुख्य स्रोत) न्यूयार्क १९८४ में इस विषय पर विमान प्रवृत्तियों की भौगोलिक कारणों पर निर्भरता सबसे बाद की चीज है। इस विधान और प्रसिद्ध लेखकों के विनाल साहित्य का गाराण दिया हुआ है। पहले अध्याय के अन्त में ए० ज० टॉनरी की जिन पुस्तक का उल्लेख है व भी पढ़ें। लोगों को भूमि पर बगाने की समस्याओं पर मने दो लेखों में विचार दिया है भूमि पर बगाने की समस्याओं, कॅरिबियन इन्जिनियरिंग रिपोर्ट (कॅरिबियन आवास गमीक्षा) अक्टूबर १९४१, में, और भूमि पर बगाने के सम्बन्ध में विचार जर्नल ऑफ एपीकल्चरल इजानॉमिक्स (वृषि-प्रबंधन का जर्नल), जून, १९४८ में।

मिछने अध्याय में हमने आर्थिक विकास के लिए अभिन्न प्रयत्न के बारे में मनुष्य की इच्छा पर विचार किया। इन अध्याय में हम यह देखेंगे कि समुदाय के सम्मान विभिन्न रूप में इन प्रयत्नों के लिए कोश-श्रेष्ठ प्रदान करते हैं। दोनों बातें एक-दूसरे में आती नहीं हैं, अगर सम्मान अनुकूल होते हैं तो प्रयत्न करने की इच्छा को बलवत्ता मिलती है और उनमें वृद्धि होती है, इसी प्रकार यदि इच्छा बनवती हुई तो सम्मानों में स्वयं अनुकूल परिवर्तन होने लगते हैं। हमने इन दोनों बातों को केवल विस्लेषण की सुविधा के लिए अलग किया है।

सम्मान विकास में माधक हैं अथवा बाधक, यह इन पर निर्भर है कि वे आर्थिक प्रयत्नों के लिए कितना क्षेत्र प्रदान करते हैं, विरोधता के बिना अवसर उपलब्ध करते हैं और आर्थिक चालुपं प्रवृत्त करने की कितनी आजादी देते हैं। इनमें से हर मुद्दे पर हम बागी-बागी से विचार करेंगे। फिर कुछ सम्मानों के आर्थिक व्योरेवार विस्लेषण के बाद विकास के प्रति उनकी अनुकूलता की बात समाप्त कर सम्मानों के अर्थिक विकास और परिवर्तन की प्रक्रियाओं पर चर्चा करेंगे।

मनुष्य तब तक प्रयत्न नहीं करता जब तक कि उसे यह आश्वासन न मिले कि उसके प्रयत्नों का फल या तो स्वयं उसी के उपभोग के लिए होगा या उन लोगों को मिलेगा जिनके अधिचार को वह मान्यता देता है। इस अनुभाग के विचारणीय विषय का यह सुनिश्चारी नज़र है। मनाज-सुधारकों के अधिचार प्रयत्नों का उद्देश्य सम्मानों में इस प्रकार के परिवर्तन करना होता है जिनमें प्रयत्न की भावना को सुरक्षा मिले। लेकिन बात अपनी आजात नहीं है। हम बाने न मनभेद ही सकते हैं कि मनुष्य 'जिन लोगों के अधिचार को मान्यता देता है', और 'प्रयत्न' और उत्तम 'फल' क्या है।

१. पारिस्थितिक का अधिचार



(क) भ्रष्टाचार-परिष्कार—मूढोपिपासादी दासनिरा ने अन्तर-द्वय विचार को चुनौती दी है कि प्रत्येक को बढ़ावा देने के लिए भौतिक-पारि-श्रमिक और प्रयत्न के बीच निम्न-निम्न प्रकार का अनुपात जाना ही चाहिए। कुछ लोगो का कहना है कि मनुष्य एका प्राणी है या उसे एका बनाया जा सकता है कि वह मृजनात्मक प्रयत्न की सुशी के लिए या अपने साधियों की सेवा की सुशी के लिए ही काम कर सकता है दूसरे लोग जा दानी दृढ़ता से अपना मन प्रकट नहीं करते उनका कहना है कि यदि मनुष्य को सामाजिक मान्यता दी जाए तो भले ही उनमें भौतिक-पारि-श्रमिक सामान्य न हो लेकिन वह उसमें सम्बुद्ध हो जाएगा।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य को अपने काम में भौतिक-पारि-श्रमिक के प्रतिरिक्त अन्य प्रकार के सहाय भी प्राप्त होते हैं। कुछ ऐसे काम हैं जिनमें कि मृजनात्मक भाव्याभिव्यक्ति का अन्वय मिलता है। ऐसे काम बहुत थोड़ा या कभी-कभी बिना पारि-श्रमिक नियम ही कर दिए जाते हैं। लेकिन अधिपत-काम इस प्रकार के नहीं हैं। यही नहीं कि अधि-वास धन्ये इस तरह के नहीं है बल्कि आकर्षण धन्ये में भी अधिवास कार्य उपा देने वाला होता है। आन्त-पुत्र के पञ्चम आर्षेदान करने के बाद राजन को उससे उदात्त होने लगती है और अन्त-विद्यालय का अध्यापक भी धार-धार-एसे सेवक देते-दत्त बन जाता है। यदि समुदाय तागा को मन-साहे काम करने के लिए छोड़ दे तो अधि-तर काम होगा ही नहीं।

हाँ, यह सही है कि अपने साधियों की सेवा करने में काम का मजदूरी बढ़ जाता है। ए-न-एक परिस्थिति में—जैसे अपने पूजा-स्थान के लिए या अपने गाँव के लिए, या अचानक सकट अपने घर—लोग बहुत पाडा भौतिक-पारि-श्रमिक लेकर, या बिना पारि-श्रमिक नियम ही सुशी-मुशी काम करने को तैयार हो जाते हैं। लेकिन यह भी सत्य है कि अपने समूह के लोगों के साथ हमारे सम्बन्धों में उनके प्रति सेवा-भाव के अभाव और भी प्रवृत्तियाँ होती हैं जो हमें सेवा करने से रोक सकती हैं। कुछ लोगों में काम को दाता की बड़ी भारी प्रवृत्ति होती है, कुछ लोगों के अन्त-न्याय-भावना दानी उप हीं है कि वे अपने अन्त-से अधि-काम करना सम्भव नहीं कर सकते। ऐसे समूह में, जिनके साथ सम्बन्धों के अन्त-वडे अन्त-दरजे की सेवा भावना है, पाग सामूहिक प्रयत्न और सामूहिक पारि-श्रमिक में अपने अपने अन्त-दरजे से बराबरी नियम बिना काम करते रह सकते हैं। लेकिन छोटे-से परिवार के छोटे-से बड़े छोटे समूह ऐसे अन्त-दरजे अन्त-दरजे का प्रकार के अन्त-दरजे की ओर पर या बुनियादी ओर पर निर्माणा हो।

मूढोपिपासादियों की यह बात सही है कि मनुष्य काम या प्रति-पारि-

अर्थिक की चिन्ता बिना काम करने नष्ट करने हैं। यदि उन्हें यह आश्वासन हो कि उनके काम में सब लोगों का समान हित होगा और कोई एक ही व्यक्ति उनसे अधिक लाभान्वित नहीं होगा। ऐसे समुदाय में, जहाँ हर आदमी को लगभग बराबर पारिश्रमिक मिलता है। लोग इस बात को बुरा नहीं मानते कि कोई दूसरा आदमी उनके काम में लाभ उठा रहा है। लेकिन न तो उन्हें विशेष प्रयत्न करने की प्रेरणा अनुभव होती है और न वे अपने हिस्से के काम को टालने की प्रवृत्ति में दखन का कोई प्रयत्न करते हैं। यह व्यवस्था उत्तरी है कि कोई आदमी दूसरे के काम के फल का उपभोग न करे। लेकिन वे सब यही पर्याप्त नहीं है। क्योंकि जब तक हम प्रयत्नों के अन्तर्गत को देखते हुए उनके पारिश्रमिक में भी अन्तर नहीं करेंगे तब तक लोग अपनी प्रतिभा और मापनों को अपनी पूरी सामर्थ्य के अनुसार विकसित करने का कोई कष्ट नहीं उठाएंगे।

जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य उन स्थिति की अपेक्षा, जिनमें कि पारिश्रमिक काफी लोगों में बँट जाता है। उन स्थिति में अधिक प्रयत्न करता है। जबकि पारिश्रमिक केवल प्रयत्न करने वाले के ही काम में आता या उसके घनिष्ठ सम्बन्धियों को ही मिले, तो इनसे हमारा आशय यह नहीं होता कि मनुष्यों को अपने काम में मृदुल या सुलभ मिलना चाहनीय नहीं है, या कि मनुष्य अपने माधियों की सेवा करके प्रसन्न नहीं होते, या कि समाज द्वारा सम्मान दिलाकर काम को मान्यता देने से परिश्रम में मद्दत नहीं आती। वस्तुतः मनुष्य ऐसी स्थिति में और भी अधिक काम करते हैं जबकि उनका काम मृदुलात्मक हो, उन सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति में महत्वपूर्ण हो जिन्हें वे महत्त्व देते हैं, और उन काम को मान्यता दी जाए, लेकिन अगर काम का भौतिक पुनर्वाह रोग निरा जाए तो वे काम बन करने लगे। इस क्षेत्र को आज सबसे अधिक सोचियत रूप में माना जाता है। जब सोचियत रूप का उन्मत्त हुआ तो उसके मताओं का विश्वास या कि अगर लोगों की जमाई बगल कर दी जाए और बतल के अन्तर्गत के स्नातक पर सरकार की ओर से परदेसी और पदक दिये जाएँ तो आर्थिक प्रयत्न करने ही होते रहेंगे। अनुभव ने उनकी ये आशाएँ भटका दीं, और जब उनकी भौतिक बढने बड़ा उद्देश्य तीव्र गति में आर्थिक विकास करना हुआ तो सब के सामर्थ्य को फिर से जमाई में अन्तर करने पड़े और यह सुझाव देना ज़रूम माना जाने लगा कि काम की प्रवृत्ति के बावजूद हर आदमी को एवसा पारिश्रमिक दिया जाए।

आधुनिक बंध में समुदायवाद की शक्ति का आदर्श उदाहरण हाथ ही के वर्षों में देहाती क्षेत्रों में 'सामुदायिक विकास' आन्दोलन की प्रगति के रूप में देखने को मिलता है। उन योजनाओं के अन्तर्गत ग्रामीणों को गाँव के

विशेष हित के कामों में श्रमदान करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। ये काम सबक स्कूल बुएँ, सामुदायिक केन्द्र या दूसरी सार्वजनिक सम्पत्ति के निर्माण होने हैं। इन योजनाओं को कार्यरूप देने के लिए कोई समूह चाहिए योजना तैयार करने के लिए और उनके प्रति उत्साह पैदा करने के लिए सरकारी कर्मचारी उपलब्ध होना चाहिए और भागान की लागत और स्वयं गाँवों में प्राप्त कारीगरों की व्यवस्था के लिए गावजनिव धन का प्रबन्ध होना चाहिए। इन सबका प्रबन्ध हो जाने पर अनुभव से मिट्ट टाना है कि गाँव वाले इन स्थानीय गावजनिव कामों में मनुषी से श्रमदान करते हैं। शहर वालों के लिए सामान्य व्यष्टिवादी समाज के लोगों को, यह बात प्रतीत भी लगती है लेकिन छोटे गाँव में, जहाँ सब आदमी एक दूसरे को जानते हैं सामाजिक परिस्थितियों को सुधारण की दिशा में सामुदायिक कामों के लिए सामुदायिक प्रयत्न की भावना पैदा करना अत्यन्त प्रभावशाली मिट्ट हो सकती है। इनके पर भी इस प्रकार जो काम किए जा सकते हैं उनकी एक निश्चित सीमा है। पहली तो यह है कि ये काम स्थानीय हित के होना चाहिए गाँव वाले अपने गाँव को मुख्य मंडक से मितान के लिए एक छोटी मंडक बना सकते हैं लेकिन वे हर आदमी के उपयोग के लिए कोई मुख्य मंडक बनाने को तैयार नहीं होंगे, इसी प्रकार वे अपने गाँव के लिए जल निवारण व्यवस्था तैयार कर लेंगे, लेकिन अगर उन्हें पता हो कि उनके क्षेत्र से बाहर के लोगों को भी इसका लाभ पहुँचाना तो वे काम करने के लिए तैयार नहीं होंगे। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार के निर्माण-कार्यों में सारे गाँव को लाभ पहुँचाना चाहिए और बाकी लोगों की अपेक्षा कुछ पाँडे में आदमियों को ही प्रत्यक्ष रूप से अधिक लाभ नहीं मिलना चाहिए।

सामुदायिक विभाग की मर्यादाओं के उदाहरण में यह बनी घण्टी तरह समझा जा सकता है कि समूह के प्रति सेवा-भावना के रूप में प्रेरणाओं की क्या सीमाएँ हैं। यह सेवा भावना वहाँ तक पहुँच सकती है जहाँ है जहाँ कि आर्थिक परिस्थितियाँ स्थायी हानी हैं और जहाँ व्यक्तिगत प्रेरणा के बजाय दैनन्दिन क्रिया ही प्रशिक्षित होती है, इस प्रकार की परिस्थितियों में हर आदमी को पता रहता है कि उसे क्या करना है और उस उमर उमरे क्या लाभ होगा, और आर्थिक प्रणाली ठीक से चलती रहती है। यदि परिवर्तन इस प्रकार का हो कि उमरे हर व्यक्ति को लगभग एक-सा ही लाभ पहुँचाने की आशा हो तो प्राथमिक प्रणाली में भी अनुकूल परिस्थितें हो सकती हैं। बस, एकतर प्राथमिक विभाग में हर आदमी का एक-सा लाभ नहीं पहुँचाना, कुछ लोगों का दूसरों की अपेक्षा अधिक लाभ जाना है और अगर लोगों को पता चल जाए कि इसी प्रकार का लाभ मिलाने दूसरों का मिलना तो न तो है

पहले के मुकाबले अधिक प्रयत्न करने के लिए प्रेरित होंगे और न पहले के काम को छोड़कर कोई अन्य प्रकार का काम करने के लिए तैयार होंगे। आर्थिक विकास केवल इतन से ही नहीं हो जाता कि लोग प्रयत्न या पारिश्रमिक पर ध्यान दिये बिना पहले वाले काम को खुशी से करन चले जाएँ। विकास तब होता है जबकि विभिन्न व्यक्ति अपने काम के तरीके और काम की मात्रा में परिवर्तन लाने हैं और अधिकांशों के आदेशों के जरिए नवीन प्रक्रिया लागू करने की स्थिति में भी विकास के लिए यह आवश्यक होता है कि समुदाय के सदस्य बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार तत्काल अपने में आवश्यक समझन करने और नये अवसरों को खोजने और उनसे लाभ उठाने के लिए इच्छुक हों। हाँ, कुछ ममाज ऐसे हैं जो अपनी बठिन भौगोलिक परिस्थितियों और उपलब्ध प्रौद्योगिकी का देखते हुए जितनी उन्नति की जा सकती थी उतनी कर चुके हैं। उदाहरण के लिए, एस्कीमो जितना कर सकते थे कर चुके हैं, व्यक्तिवाद का और अधिक प्रचार उनके रहन-सहन की टेक्नीक में सुधार नहीं ला सकता, बल्कि आज्ञा-पालन और दायित्व के बन्धनों को गिथिल किया गया तो इसका प्रभाव उल्टा पड़ सकता है, अर्थात् उनके जीवित बने रहने के अवसर शायद और कम हो जाएँ। यदि और विकास करना सम्भव न हो तो व्यक्तिगत प्रेरणा का अभाव कोई बाधा नहीं होगी। वैसे, अधिकांश समुदायों में आर्थिक विकास की गुञ्जायदा रहनी ही है। अगर उनकी अपनी टेक्नीका में सुधार की गुञ्जाइदा नहीं है तो बाहर से नई टेक्नीकें लाकर लागू की जा सकती हैं, या विदेश-व्यापार से उत्पन्न नये अवसरों का लाभ उठाया जा सकता है। एक बार अगर हम स्थिरता से निरन्तर परिवर्तनशील परिस्थितियों में आ गए तो फिर समुदाय के प्रतिव्यक्ति के दायित्वों की भावना से ही काम चलना मुश्किल है, तब तो अपेक्षित परिवर्तन लाने के लिए व्यक्तिगत प्रयत्न और परिश्रम में निरन्तर का सम्बन्ध रखना होगा। व्यक्तिगत लाभ के अवसरों के सामने समाज के प्रति दायित्वों की भावना का टिके रहना बड़ा सन्दिग्ध भी है। जिन समाजों में तेजी से आर्थिक परिवर्तन होत है उनमें व्यक्तिवाद की भावना भी उतनी ही तेजी से बढ़ती है, और सम्भवतः इसे रोकने का कोई उपाय नहीं है।

(ख) सम्पत्ति की व्यवस्था—आर्थिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों में से एक पूँजी-निर्माण भी है और पूँजी निर्माण के लिए अनेकानेक परिस्थितियाँ में सम्पत्ति का कानून बना होना आवश्यक है। सम्पत्ति से इन्तारा तात्पर्य किसी माधन-विशेष का दूसरे लोगों द्वारा उपयोग न होना देना का कानूनी अधिकार है। यह अधिकार किसी व्यक्ति को भी मिल सकता है, या किसी नमूद या लोक-प्राधिकारी के पास भी हो सकता है, इसी प्रकार अधिकार में बहुत लोगों का

भी साभा हो सकता है या थोड़े लोगों का भी 'हैं' सकता है, अधिकार का उपयोग चाहे जो बरे लेकिन इसमें सबसे बुनियादी चीज दूमरा को उपयोग से वंचित करने का अधिकार है। हम इस बात पर इसलिए जोर दे रहे हैं कि सम्पत्ति का अर्थ अक्सर केवल निजी सम्पत्ति लगाया जाता है। वस्तुतः सरकार का युद्धपात उसी प्रकार एक सम्पत्ति है जैसे कि किसान की जमीन। युद्धपात को सम्पत्ति मानने का कारण यह है कि वावजूद इसके कि कुछ संश्लेषण प्रयोगों में युद्धपात 'सांगी जनता' की सम्पत्ति माना जाता है बहुत ही सामाजिक प्राथमिकताओं को छोड़कर कानूनन और व्यवहारन जनता के आम धर्मों का युद्धपात से किसी प्रकार का वास्ता नहीं होता।

पूँजीवादी, समाजवादी, सामन्तवादी और अन्य सभी प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं में सम्पत्ति की कानूनी संरक्षणता को मान्यता दी जाती है। अगर किसी साधन और उसके फल को सारी जनता के उपयोग में बचाने की व्यवस्था न की जाए तो निश्चय ही उसका दुरुपयोग होने लगेगा, और कोई धर्म उसके सुधार के लिए पूँजी-निवेश करना ठीक नहीं समझेगा। इसीलिए दुर्लभ सिद्ध होते ही सर साधनों को सम्पत्ति मानकर उन्हें कानूनी सुरक्षा प्रदान की जाती है। कुछ देशों में, जिनकी आबादी उनके साधनों की तुलना में बहुत थोड़ी हो, कुछ साधन अनेक सतादियों तक मुक्त रूप से उपयोग में लाए जा सकते हैं। लोगों को जितनी जरूरत हो जंगल से पेड़ काटने की छूट हो सकती है, नदियों में मुक्त मछलियाँ पकड़ने दिया जा सकता है, पानी के मनचाहे प्रयोग की सुविधा हो सकती है, या अपने पशुओं को सार्वजनिक जमीनों पर चराने की आजादी हो सकती है। लेकिन आबादी बढ़ने के साथ-साथ इन सब क्रियाओं पर नियंत्रण लग जाता है, ये सर साधन निजी सम्पत्ति बना दिए जाते हैं, या अगर इन्हें सार्वजनिक मान लिया जाता है तो इनका उपयोग सरकार या किसी अन्य शक्ति द्वारा साधनों के नियमित होता है।

जहाँ एक और सार्वजनिक सम्पत्ति को निजी दुरुपयोग में बचाना आवश्यक है वहाँ निजी सम्पत्ति को सार्वजनिक दुरुपयोग से बचाने की व्यवस्था भी उतनी ही जरूरी है। कानून और व्यवस्था की स्थापना आर्थिक विकास के लिए आवश्यक बुनियादी शर्तों में से एक है, और अनेक समुदायों का केवल हमीलिए पान हुआ है कि उनकी सरकारें शत्रुओं या धर्म लोगों की हस्तगतों से सम्पत्ति के स्वामियों की रक्षा करने के लिए दृष्टान्त नहीं थी या उनमें अर्थात्तित सामर्थ्य नहीं थी। यह तो यह है कि पूँजी-निवेश को प्रवृत्ति प्रमत्त उपद्रवों और शान्तियों के जमान में भी बनी रह सकती है। हाँ, अगर उपद्रव का काल बहुत लम्बा हो जाए तो पूँजी-निर्माण के स्थान पर बचन को अर्थ

करन की भावना पैदा होने लगती है। लोगों के विस्वाम को आघात पहुँचाने में जिस प्रकार डाकुओं और उपद्रवियों का योग होता है, उसी प्रकार मर-कारी नीति भी उनके लिए उत्तरदायी हो सकती है। पूँजी-निवेश करन वालों को यदि पहले में मालूम हो कि उन्हें किस प्रकार का कर अदा करना होगा और उसका भार कितना होगा तो वे भारी कर चुकाने के लिए भी तैयार हो सकते हैं लेकिन अगर मनमाने तरीके से कर लगाये जाएँ—जैसे कि दण्ड का जो भ्रमण शासक को पसन्द आ जाए वह उसे अपने कब्जे में ले ले, या जिन लोगों को वह चाहे उन्हें चुनकर घन देने के लिए मजबूर करे—ता लोगों के अन्दर अपने घन का छिपान की (प्रायः अनुत्पादक रूप में), निर्यात करन की या उपभोग कर लेने की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। (कगधान पर आगे अध्याय ७ में विचार किया गया है।)

समाज के हर भाग में सम्पत्ति एक मान्यता प्राप्त मस्थान है, बिना इसके मनुष्य-नानि शायद कोई उन्नति न कर पाती, क्योंकि तब मनुष्य को अपने पर्यावरण में सुधार करने के लिए कोई प्रेरणा ही न मिलती। वैसे इस मस्थान में दूसरा को उपयोग से वंचित रखने के बुनियादी अधिकार के अलावा और बातें भी शामिल हैं, और भिन्न-भिन्न समाजों में सम्पत्ति-सम्बन्धी कानूनों और प्रथाओं में भिन्न भिन्न प्रकार की जटिलताएँ हैं।

आर्थिक विकास की दृष्टि से सबसे बुनियादी आवश्यकता यह है कि पूँजी-निवेश करने वाले की इस बात का विस्वाम होना चाहिए कि उसे अपना 'घन वापस मिल जाएगा', तथा अपने द्रव्य का उपभोग न करके उसे पूँजी-निवेश में लगाने का कुछ मुआवजा भी मिलेगा। यह विस्वाम जितना निजी व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण है उतना ही सार्वजनिक प्राधिकारियों के लिए भी है, क्योंकि सरकारें भी तब तक पूँजी निवेश नहीं करती जब तक कि उनको अपने घन का पूरा मूल्य वापस मिलने की आशा नहीं होनी। पूँजी निवेश करने वाले का विस्वाम गलत सिद्ध हो सकता है, पूँजी निवेश करते समय उमन जितनी जोखिम का अन्दाजा किया था वह उससे ज्यादा निकल सकता है, और सम्भव है उसे अपना पैसा वापस भी न मिले, लेकिन पूँजी-निवेश करने समय उसे अपनी सम्भावनाओं पर विस्वास होना चाहिए। 'अपना घन वापस मिलने' की बात को और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। हो सकता है कोई व्यक्ति ऐसे माघन में पूँजी निवेश कर दे जिसकी उत्पत्ति बेचना न हो, लेकिन आने वाले समय में उसका निरन्तर उपयोग करना हो—उदाहरण के लिए, निजी व्यक्ति द्वारा मकान या दूसरे टिकाऊ उपभोक्ता पदार्थों में पूँजी-निवेश, और सरकारों द्वारा स्कूल, मन्दिर या सरकारी कार्यालयों के लिए इमारतों के निर्माण में पूँजी निवेश, या यह भी सम्भव है कि निजी व्यक्ति भावना में

प्रेरित होकर तर्जों दे दे अथवा यह जानते हुए भी कि शायद वापस नहीं होगा, सरकार राजनीतिक कारणों से ही तर्जों दे सकती है। यह मंत्र 'अपना शय्या वापस लिये' जैसा ही है क्योंकि पूंजी-निवेश करने वाले को यह मन्त्रोप होता है कि पूंजी-निवेश के बदले उसे संवेष्ट भौतिक, या भावनात्मक, या राजनीतिक लाभ मिल रहा है। शय्या वापस मिल मानव शक्ति के इस व्यापक अर्थ में हम कह सकते हैं कि पूंजी-निवेश को एक लाभ यह होनी चाहिए कि मनुष्य को इस बात का पता हो कि उसका पैसा वापस मिल जाएगा और धन का सुरक्षित उपभोग न करने उसे निवेश कर देने के बरतें छोड़ना-या क्षति रित्त मुद्रावला भी मिलेगा।

अगर पूंजी लगाने वाला अज्ञान ही काम में पूंजी लगा रहा है, जिससे कोई लाभोदाय या बचतकारी नहीं है, तो समस्या काफी गहरी है। अगर उसके साथ और लाभोदाय भी है, या उसने अपनी सम्पत्ति खरीदने पर उदासी हुई है, या उसने प्रयत्न के लिए बचतकारी रणें हुए हैं अथवा दूसरे लाभ उस पर काम कर रहे हैं तो इन सम्बन्धों के कारण जटिल समस्याएँ पैदा होती हैं। बात यह है कि साथ उसकी सम्पत्ति और दूसरों की सम्पत्ति की समुचित उत्पत्ति को धँसना होता है और अलग लाभोदायों के दिना में गहरे हो, जैसा कि एकलक्ष्य सदा ही होता है, तो सभी पक्षाओं को समुचित रूप से निष्पत्ति विषयों का पालन आवश्यक हो जाता है।

पहले लाभोदायों के सम्बन्ध पर विचार करें। यदि समुचित सम्पत्ति लाभोदायों के बीच बराबर बँटी हुई है तो हर लाभोदाय का अपने अपने मासिकों की अपेक्षा अधिक कुछ करने में दिलचस्पी नहीं होगी, उसकी दिलचस्पी होगी कि कम से-कम करे और सम्पत्ति में न अधिक-से अधिक घाट के—सम्पत्ति के लिए कुछ करना था, या प्रयत्न, या विचार, किसी प्रकार के योग के रूप में हो सकता है। पारिवारिक व्यवसाय भी इसी प्रकार के उदाहरण हैं। जहाँ परिवार के सदस्य शय्या में बर्तते होते हैं या परस्पर-निरोधी होते हैं यहाँ व्यवसाय अलग-एसी-लिए टूट जाता है कि कुछ सदस्य समुचित सम्पत्ति के अनुक्षण के लिए क्रियात्मक बन सकते हैं बरतें न उसमें नहीं अधिक धन इकट्ठे की कोशिश करते हैं। विमानों द्वारा महत्त्वपूर्ण के आधार पर मनी की मनीमें रणों के आरम्भिक प्रयत्न भी ऐसे ही उदाहरण हैं; यथा यह पता कि कुछ विमान मनीष को उसकी मासिकों के साथ इकोनाम नहीं करने में विनयी कि ये उन परिस्थितियों में बरतें यदि मनीमें उसकी क्षमता होगी, और इकोनाम यह आवश्यक समझा गया कि हर विमान को मुद मनीमें बर्तते की समुचित देने के बजाय प्रतिष्ठित विनयी रणें जारी विनयी उदर मनीमें बर्तते और उदर अनुक्षण का पर्याप्त उदर-

जाता है। समुदाय की अधिनायक सम्पत्ति योग-हान्डगा की जाती है जो उसके प्रबन्ध का जिम्मा निर्देशक का मौप दत्त है मरवार या दूसर तक प्राधिकरणों की सम्पत्ति भी कर्मचारियों के प्रबन्ध में रहती है। इन दोनों के लिए बटोर नियम बन हुए हैं जिनका उद्देश्य कर्मचारियों से स्वामियों के हित की रक्षा करना है। वैसे, ये नियम मदा कागजर नहीं हों। सावजनिक सम्पत्ति के विरुद्ध और निजी सम्पत्ति के समर्थन में यह भी कहा जाता है कि सम्पत्ति या निजी स्वामी मरवार के वेतन-भागी कर्मचारियों की तुलना में सम्पत्ति की देखभाल धार्मिक अच्छी तरह कर सयता है लेकिन यह सर्वथा निष्प्रभाव है क्योंकि बड़े पैमाने के संगठना और मिश्रित पूँजी कम्पनियों के विकास के साथ-साथ निजी सम्पत्ति का प्रबन्ध भी स्वामियों के हाथ में निकलकर वेतन-भागी कर्मचारियों के हाथ में चला गया है।

अन्त में हमारे समाज की कुछ मजदूर कठिन समस्याएँ उन लोगों के सम्पर्क में सम्बन्धित हैं जिनमें एक और सम्पत्ति के मालिक हैं और दूसरी और व लोग हैं जो दूसरे लोगों की सम्पत्ति पर मजदूरी तब तक काम करते हैं। दोनों ओर के अवरोधक हिमायतियों के तर्क प्रस्तुत करते हैं हम इस मध्य का मनाकरजब विचार प्रस्तुत कर सकते हैं। एक ओर कुछ ऐसे लोग मदा मिल जाते हैं जो दामत्व के समर्थक हैं, और जिनका कहना है कि मजदूर को बेचल अपने गुजारे लापर मिलना चाहिए और इसमें बेसी उत्पादन पूरे-का-पूरा सम्पत्ति के स्वामी का है। दूसरी ओर वे लोग हैं जिनके अनुसार उत्पादन काम का ही मनीषा है इसलिए 'श्रम का पूरा फल' मजदूर को मिलना चाहिए—उन लोगों के तर्क में कभी-कभी यह भी स्पष्ट नहीं बताया जाता कि इस पूरे पत्र में से पूँजी हानि के लिए श्रमिक निकाली जाएगी भयवा नहीं। इन दोनों विपरीत तर्कों के बीच उत्पादन के बंटवारे के लिए अनेक प्रस्ताव उपस्थित किए जाते हैं।

इस लण्ड में हमने जिन समस्याओं की चर्चा की है यह उनमें भिन्न है। पहले तो हमारा जोर इसी बात पर था कि सम्पत्ति पर जिसका नियंत्रण हो, चाहे वह स्वामी हो या किरायेदार हो या प्रबन्धक हो, उस सम्पत्ति के अनु-रक्षण और गुणों में दिनचर्या होनी चाहिए। उत्पादन में श्रमिक के हिस्से की समस्या सम्पत्ति के नियंत्रण के साथ अनिवार्य रूप से सम्बन्धित नहीं है, इसलिए हम इस पर अलग से विचार करेंगे।

(ग) काम के लिए धार्मिक—हम पहले यह चुके हैं कि लोग तब तक अपनी पूर्ण योग्यता में काम करने के लिए तयार नहीं होते हैं जब तक कि उन्हें यह निश्चय न हो कि काम के बदले मिलने वाला धार्मिक उनकी उपयोग में आएगा, या जिनके अधिकार को वे मान्यता देते हैं उन्हें मिलेगा। अब मनुष्यों के काम के धार्मिक को हमारे प्रतिपाद में अलग करना मुश्किल हो



रूप से जोर देना पड़ता है—यह प्रणाली चाहे उजरत के रूप में हो, या वॉनम या प्रौर किसी रूप में हो—ताकि काम न करने वाले माथी को दण्डित किया जा सके और अच्छा काम दिवाने वाले को पुरस्कृत किया जा सके।

सगठन के आकार में केवल यही एक समस्या पैदा नहीं होती बड़े-बड़े सहकारी सगठनों के प्रबन्ध की समस्या हममें कहीं अधिक विवट है। लोगों की बड़ी संख्या अनुशासन या प्राधिकार के बिना ठीक से काम नहीं कर सकती। किसी एक आदेशी को निर्णय लेने पड़ने है और उन्हें लागू करना होता है। सहकारी सगठन के सदस्य एक-ही हैसियत के सम्भेदात् हो सकते हैं, लेकिन उन्हें एकसा प्राधिकार नहीं दिया जा सकता। अगर उसी मर्यादा कापी हो तो उन्हें अपने प्राधिकार एक समिति को सौंपन हाने, और कोई कार्यकारी समिति तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि वह अपनी अधिवास सत्ता थोड़े-से लोगों को सौंप द और उन्हीं के बन्धा पर पूरी-पूरी जिम्मेदारी न छात द। परिणाम यह होता है कि अधिवास सहकारियों का निर्णय लेने में कोई योग नहीं होता और उन्हें केवलभोगी कर्मचारियों की भाँति ऊपर में मिले आदेशों का पालन करना हाता है। वे इस व्यवस्था में असन्तुष्ट हो उठते हैं। उन्हें साधन लाभ के बंटवारे से भी असन्तोष हो जाता है, दूसरों की तुलना में उन्हें अपना वेतन भी उचित नहीं जँचता, वे प्रबन्धक मण्डल के इस आदेश से भी सहमत नहीं होते कि लाभ के एक बड़े भाग को आरक्षित निधि, आकस्मिक खर्चों, या विस्तार कार्यक्रमों के लिए निवृत्त दिया जाए। थोड़े-चहुत समय में वे प्राधिकारियों को उखाड़ फेंकने है और सगठन में आन्तरिक विभेदों का बोलबाला हो जाता है। परिणामतः बड़े पैमाने पर चलाए जाने वाले सहकारी सगठन उन बड़ी-बड़ी फर्मों के साथ सफलतापूर्वक प्रतिपोगिता नहीं कर पाते जो सहकारिता के सिद्धान्त पर आधारित नहीं होती। इनके अर्थवाद कहीं-कहीं ही पाए जाते हैं। हम के सामूहिक फार्म नाम के ही सहकारी सगठन है, प्रबन्धक-सगठन की नियुक्ति कम्प्युनिसट पार्टी के सदस्य करते हैं जो हर सदस्य का काम निश्चित करता है, उगवें काम के अनुशासन देना है, और वेनी उत्पादन को नमार्द के अनुपात में बाँट देता है। सदस्यों को व्यक्तिगत हैसियत में प्रबन्धक-सगठन और उगवें नीति को बदलने का केवल मौखिक अधिकार प्राप्त हाता है। इजराइल में सामुदायिक फार्म अस्तुन प्रजातान्त्रिक है। उन पर केन्द्रीय एजेन्सी का दरमगन काफी बड़ा होता है, और वही उगवा पर्यक्षण करती है, लेकिन हममें फार्मों के स्वशासन के आन्तरिक अधिकारों में कहीं नहीं घटती। सदस्य-संख्या औसतन २५० होती है और सदस्यों को अपने काम के अनुपात में वेतन नहीं दिया जाता। अधिवास प्रेषकों का मतान है कि इन सामूहिक फार्मों की सफलता का कारण

टकराहल में बाहर में आवर बने हुए यद्दी विमानों की विशेष भावनाएँ हैं, दूसरा कारण दूर-दूर बसी हुई बस्तियों की नैतिक सुगन्ध में इन सामूहिक सगठनों का योग भी है। एक यद्दी राष्ट्रीय देग स्थापित करने की प्रक्रिया में जिन विशेष कष्टों और भावनाओं का प्राधान्य रहा है वे थोड़े-बहुत दिन में लुप्त हो जाएंगी, और तब भी अगर ये सामूहिक सगठन अपना आदिम समुदायवाद कायम रख सकें और अधिक सफलता कायम रख सकें तो यह मनुष्य के पिछले सब अनुभवों के विपरित होगा।

मनुष्यों के आदिम कार्य एक ही एक प्रकार के महकाने सगठन ही रहते जा सकते हैं। सबसे शुरू के दिन समाजों के बारे में हमें जानकारी है उनके कार्य का एक परिवार, या कबीला या शिल्पियों की श्रेणी या पुरोहितों अथवा और ऐसे ही दूसरे लोगों का वर्ग रहा है। पश्चिम का औद्योगिक पूँजीवाद साभेदारों के एकको में शुरू हुआ जिनमें शिल्पी साथ मिलकर काम करते थे, उन्नाद शिल्पियों द्वारा जर्मिनि नौकर रखने की प्रथा शायद मध्य-युग के बाद आरम्भ हुई। समूह बनाकर काम करने के अपने मान हैं, विशेषकर उन लोगों के लिए जो सिर्फ गुजारे के लायक कामा पाते हैं, या उनके लिए जो आराम या बार-बार आने वाले प्राकृतिक खतरों में डरते हुए जीवन बिताते हैं, ऐसी परिस्थिति-समूह का हर आदमी एक-दूसरे की मदद करता है और साथ-साथ काम करने में पारस्परिक सुरक्षण या बीमे-जैसी भावना आ जाती है। विमान अक्षर एक-दूसरे की उमीन पर काम करने के लिए अपने दल बना लेते हैं, और मकान बनाने समय, या उमीन माफ़ करने समय, या फसल बाटते समय एक-दूसरे की मदद करते हैं। लेकिन इन प्रकार का सगठन भाईचारे, या धार्मिक साहचर्य पर आधारित सामूहिक आस्था के मजबूत बन्धनों के बने रहने पर निर्भर होता है। अधिक व्यक्तिवादी भावनाओं के बढ़ने के साथ-साथ, या व्यापार या नवीन प्रक्रिया के बारे में लोगों की जागरूकता बढ़ने के साथ-साथ, या अधिक अवनत बटने पर, या बड़े पैमाने के सगठनों से होने वाले मान मात्रम होने पर समूह के प्रति आस्था की भावना टूटने लगती है। महकाने टग का उद्यम स्थिर समाजों के लिए बहुत अच्छा है, लेकिन गुजारे के लायक कामाई का निम्न-स्तर पर होते ही उत्पादक एक के रूप में (विपणन या उद्योग-समितियों की बात दूसरी है) के सगठन आसानी से नहीं टिक पाते।

प्रेरणा और प्राधिकार की समस्याएँ बड़े पैमाने के सभी सगठनों के सामने आती हैं, यहाँ तक कि वे सगठन भी इनमें अटूट नहीं हैं जिनमें अधिक अपनी ही सम्पत्ति पर काम करते हैं। हाँ, काम और स्वामित्व अलग अलग हाथों में होने से एक तीसरी समस्या और गनी हो जाती है जिसे आमदनी का

श्रम और सम्पत्ति के बीच बँटवारा कहते हैं। महत्कारी मगदना में सम्पत्ति को श्रमग मे कोई हिस्सा नहीं दिया जाता। मारी ग्रामदनी उन लोगों मे बाँट दी जाती है जो काम करते हैं और साथ ही सम्पत्ति के मागिक भी हूँते हैं। लेकिन पूँजीवादी और समाजवादी समाज में सम्पत्ति या तो पूँजीपति की होती है या सरकार की होती है और दोनों ही स्थितियों मे सम्पत्ति का स्वामी पारिश्रमिक के रूप में भी कुछ लेना चाहता है और काम के उपर नियंत्रण में भी हिस्सा लेने पर जोर देता है। यहाँ इस बात को खामतीर मे ध्यान मे रखना चाहिए कि सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण से इनमें से कोई समस्या नहीं सुलभती। समाजवादी मिद्धान्त के विराम का एन चरण ऐसा था जबकि समाजवादियों ने कहा था कि सम्पत्ति उन्ही लोगों के अधिकार में हानी चाहिए जो उम पर काम करते हैं—श्रमिक मणवाद के रूप में या श्रेणी समाजवाद, या श्रमिकों के नियंत्रण के रूप में इस प्रकार का समाजवाद महत्कारी उद्यम का ही दूसरा नाम है और उसके गामन तीन के बजाय केवल दो समस्याएँ रह जाती हैं। लेकिन यद्यर्थ मे रूप या रिट्टेन या अमरीका, या और जगह भी समाजवाद का श्रीमशेष इस रूप मे हुआ है कि सम्पत्ति को निजी स्वामियों मे लेकर श्रमिकों को नहीं बल्कि सरकार या दूसरे लाक-प्राधिकरणा को दे दिया गया है जो काम पर नियंत्रण भी रखती है और ग्रामदनी में हिस्सा भी लेती है। इस प्रकार की व्यवस्था में श्रमिक के विचारों में कितना परिवर्तन होता है यह राज्य के प्रति उसकी प्रवृत्ति पर निर्भर है। सम्भव है उमका विरवाम हो कि निजी स्वामी की श्रमेशा राज्य को हिस्सा देना और उमके नियंत्रण में काम करना ज्यादा अच्छा है, यह बहुत-कुछ इस पर निर्भर है कि श्रमिक के मन में किस प्रकार के विरवाम जमाये गए हैं। कुछ श्रमिक, जो अपनी सरकारों के प्रति भय और श्रमने मालिकों के प्रति मित्रता के वानावरण में पलकर बड़े हुए हैं, इस प्रकार के किमी भी परिवर्तन का विरोध करते हैं, दूसरी और ऐसे लोग हैं जिन्हें 'मालिक वर्ग' को घृणा की दृष्टि में देखने का पाठ पढाया गया है और उनके अन्दर 'प्रजातान्त्रिक राज्य' के प्रति सम्मान की भावना भरी गई है। लेकिन मने ही श्रमिक निजी मालिक के बजाय राज्य का स्वामिक पातद करे, और निजी मुनाफागोरी के स्थान पर राज्य की मुनाफागोरी बेतराम ममभे, यद्यर्थ में यह दोनों में से किमी को नहीं चाहता। कहने का तात्पर्य यह है कि महत्कारी उद्यम चाहे अपने मबंधेष्ट नियमित रूप में हो तो भी श्रमिक इस बात को अच्छी तरह समझता है कि उमने अपने श्रम का फल (चाहे इसका कुछ भी अर्थ हो) पूरा-पूरा नहीं मित रहा है, और उसकी यह भावना भी बनी रहती है कि 'मजदूरी लेकर काम करने वाले दाम' हमेंना

अपन पयवेक्षकों की आज्ञा का पालन करन के लिए ही बने होते हैं। अतः सरकार द्वारा चालित उद्यमों की समस्याएँ निजी उद्यमों की समस्याओं से विनोद भिन्न नहीं हैं, और अगर क्रिस्टल या दूसरे म्यानों की अपेक्षा हम में हम इसके इतने स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते तो इसका मुख्य कारण केवल यह है कि अग्रजातान्त्रिक समाज में श्रमिकों के विचार प्रकट किये जान की सामान्य मुविधा नहीं होती।

ग्रामदनी में हिम्मा बंटान सम्बन्धी सम्पत्ति के अधिकार को लेकर मनुष्य में शुरू में ही विचारात्तेजना पैदा जाती है। एक सम्प्रदाय का तर्क है कि धन की उत्पत्ति धर्म का परिणाम है और उस पर केवल श्रमिकों का अधिकार है, इसी विचार ने मूल्य के धर्म-सिद्धान्त को जन्म दिया। दूसरे सम्प्रदाय ने सम्पत्ति के हिस्से का समर्थन करने के लिए अनेक कारण प्रस्तुत किए हैं—जैम, सम्पत्ति रखना मनुष्य का महज अधिकार है, सम्पत्ति में सुधार की प्रेरणा प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है, मालयम के सिद्धान्त के अनुसार, निर्धन व्यक्ति सम्पत्ति की ग्रामदनी को अधिक बच्चे पैदा करके बरबाद कर देंगे, जबकि धनी लोग उनका फिर से निवेश करेंगे, बचत की मनोवैज्ञानिक लागत को मान्यता देनी चाहिए, उत्पादन के हर एक कारक को अपनी सीमान्त उत्पादिता प्राप्त करने का अधिकार है, और दूसरे अनेक विचार समर्थन में प्रकट किये जाते हैं। सरकार भी निजी स्वामी या उनके आर्थिक दारोनिकों की अपेक्षा कम पट्टे नहीं होती। यह मानकर कि कुछ पूँजी-निर्माण के लिए राष्ट्रीय धन के बीस प्रतिशत को जहल होनी है, और सरकार की चालू आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बीस प्रतिशत इसके अनिश्चित और चाहिए, बड़ों-में बड़ी समाजवादी सरकारें भट से कह देती हैं कि श्रमिकों को अपने परिश्रम का पूरा प्रतिफल मिलने की आशा नहीं करना चाहिए, या इसी बात को और सुन्दर ढंग से इस प्रकार कह दिया जाता है कि श्रमिकों को प्रत्यक्ष रूप में केवल साठ प्रतिशत लेकर ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए, और बाकी का चारों प्रतिशत अप्रत्यक्ष रूप से ऐसे कामों में लक्ष्य करने के लिए सरकार पर छोड़ देना चाहिए जो श्रमिकों के हित के नहीं या जिन्हें वे करने नहीं।

लगता है ये समस्याएँ बड़े पैमाने के सगठनों में सुलझाई नहीं जा सकती। मजदूरी देन की उन्नती दर और बोनस-प्रणालियाँ श्रमिकों में काम के प्रति उन्माह बटाने में सफल हो सकती हैं, और मान-सहभाजन की व्यवस्था से कुछ सहकारी उद्यम-जैमा वातावरण भी बन सकता है, लेकिन उत्पत्ति के दारेदार मस्या में इतने अधिक होत हैं कि वे एक-दूसरे की मेटनत और बढ़ते में मिले पारिश्रमिक की तुलना किये बिना ही एक-दूसरे का

विद्वान्म नहीं कर सकते। वे आप्त में एक-दूसरे के पारिथमिक को तुलना करते हैं, श्रमिक-वर्ग के पारिश्रमिक को पर्यवेशको या ऊपर के अमले के पारिश्रमिक से मिलाकर देखते हैं, और कुछ उत्पादन में से निजी पूंजीपति या सरकार द्वारा लिये गए हिस्से की समीक्षा करते हैं। दूसरे स्थानों या मौकों की अपेक्षा कुछ स्थानों या मौकों पर माभेदारा में श्रमिक और वा भगडा हो सकता है, वे इस बात पर कभी पूर्ण तरह महमत नहीं हो सकते कि सबके साथ न्याय किया जा रहा है चूंकि यह वाई नहीं बता सकता कि न्याय की वह परिभाषा कौनसी है जिसे सब लोग सदा स्वीकार करें। प्रेरणा की समस्या के समान ही प्राप्तिार की समस्या का समाधान भी अमम्भव है, बड़ी सम्थाओं में काम का मनोवैज्ञानिक उद्योग लादनाज होता है। मानव-मस्तिष्क अनुशासन नहीं चाहता, और कोई बडा संगठन अनुशासन, आत्ताकारिता और निष्ठा के बिना गफलतापूर्वक नहीं चल सकता। श्रमिकों को प्रबन्ध-समितियों में अापन चुन हुए प्रतिनिधि भेजने का अाप्तिार दिया जाता है, लेकिन अगर संगठन बहुत बडा हुआ तो श्रमिका की मध्या को देखते हुए उचित अनुपात में प्रतिनिधि नहीं चुने जा सकते, जा भी हो, एक बार प्रबन्ध-सम्बन्धी उत्तरदायित्वा में बंध जाने पर ये प्रतिनिधि स्वयं अनिवायं रूप में प्रबन्धकों का पक्ष लेने लगते हैं, क्योंकि उन्हें इस बात की समझ आ जाती है कि बडा संगठन नीचे के लोग सफलता में नहीं चला सकते। बडे संगठन में प्रबन्धक और श्रमिक के बीच विरोध की भावना पैदा होना उसी प्रकार अवश्यम्भावी है जिस प्रकार कि धर्मोपदेशक और साधारण गृहस्थ में, या सरकार और उगकी प्रजा में, या पिता और परिार में, या आम और निजी में। बात यह है कि हम सब अापन ही तरीके में काम करना चाहते हैं जबकि परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि हम अनिवायं रूप में अनेक ऐसे निर्णयों को मानना पडता है जिनमें बहुत दूर का भवे ही हो लेकिन प्रत्यक्ष रूप में हमारा कोई योग नहीं हाना, इसका अलावा इन निर्णयों के देने में हर एक की सुविधा का ध्यान भी नहीं रखा जाता। पति-स्विति ऐसी हो जाती है कि प्रबन्धकों को निरन्तर एक चुनौती का सामना करना पडता है—अपने अधीन कर्मियों की निष्ठा प्राप्त करने के लिए इन्हें तरह-तरह में उनका मयाल रचना हंता है (अपनी कार्यकुशलता भी गिद्ध करती होती है) और अपने संगठनों में समभौत और परस्पर सम्मान की ऐसी भावनाओं का समावेश करना होता है जो सुखी परिघारों में पाई जाती हैं। मैनिंग समूहों में पाए जाने वाले पदमोषान या दण्डविषान का अनुकरण ये लोग नहीं कर सकते, फिर भी बडे पैमाने के मयय और अयनार अपरिहार्य है।

स्वशासन के प्रति श्रमिक की इच्छा को शायद बहुत बड़ा चटाकर बताया जाता है उस अनिश्चयता के जिम्मेदार वे भी हैं जो फैक्टरी के अन्दर प्रजातन्त्र की स्थापना सम्भव मानते हैं और वे भी हैं जिनको भय है कि अगर यह तन्त्र स्थापित न हो सके तो औद्योगिक प्रणाली टिन्न भिन्न हो जाएगी। सभी श्रमिक उद्योग में स्वशासन नहीं चाहते शायद अधिकांश यही पसन्द करते हैं कि उनके बतव्यो का स्पष्ट निर्देश कर दिया जाए और मगटन के काम-बाज की जिम्मेदारियों से उनका कोई सम्बन्ध न रहे। सभी मानव-समाजों में, चाहे वे फैक्टरी हों या बाउटी हों मजदूर-नप हों, पूजा-स्थल हों या मरवारें हों, लोगों की एक छोटी-सी ही मर्यादा ऐसी होती है जो किसी पद के लिए उम्मेदवार बनना चाहते हैं या मगटन के काम-बाज में निरन्तर दिलचस्पी लेते हैं। आम लोग बड़ी खुशी के साथ मगटन में शामिल हो सकते हैं और चुनाव के समय मत देने भी आ सकते हैं—हालांकि मतदान के समय कभी-कभी बहुत ही थोड़े लोग मत देने के लिए आते हैं—लेकिन विचार-विमर्श या प्रबन्ध में सक्रिय रूप से भाग लेने की बात तो अलग, सामान्य मदस्यो को मगटन की गतिविधियों की जानकारी करायें रखना भी अत्यन्त बटिन सिद्ध होता है। इस आधार पर यह सोचा जा सकता है कि सक्रिय रूप से भाग लेने वाले अल्पमर्यादों की इच्छा उन्हें छोटी-छोटी फर्मों में भेजकर पूरी की जा सकती है जहाँ कि इस प्रकार के योगदान की गुञ्जाइश रहती है, और बड़े-बड़े प्रतिष्ठानों में केवल वे लोग रखे जा सकते हैं जिन्हें प्रबन्ध आदि में भाग लेने के प्रति कोई दिलचस्पी नहीं होती। लेकिन यह हो नहीं पाता। इसके विपरीत बड़े प्रतिष्ठानों में काफी लोग ऐसे आ जाते हैं जिनमें मगटन करने और पर्यवेक्षण की उत्कट इच्छा होती है, और वे बाकी लोगों को (अपनी मर्यादा में) आत्मरक्षा करने और गतिविधियों में भाग लेने के लिए या (जैसा कि कभी-कभी प्रबन्धक समझते हैं) भगड़े पैदा करने के लिए उकसाने लगते हैं।

यह सक्रिय अल्पमर्यादा मजदूरों में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने और उनमें मगटन की भावना पैदा करने का जो काम करती है उसमें लोगों के अन्दर मानव मामलों में मत स्थिर करने का काम भी तेजी से होता है। यद्यपि प्रणालियों की सफलता या असफलता बहुत-बहुत उनकी आन्तरिक प्रकृति पर निर्भर होती है, लेकिन इसका थोड़ा-बहुत सम्बन्ध इस बात से भी है कि मनुष्य ने इन प्रणालियों के बारे में, किस प्रकार के सिद्धान्त बनाए रखे हैं। बीसवीं शताब्दी में इतनी अधिक औद्योगिक अगति का कारण जितनी अन्य बातें हैं उतना ही प्रचार भी है। अमरीकी श्रमिक के मुकाबले सभी श्रमिक को कम आजादी मिली हुई है और उसे अपनी उत्पत्ति में से हिस्सा भी अपेक्षाकृत थोड़ा ही मिलता है, लेकिन यह प्रचार का ही परिणाम हो सकता है कि वह

अपनी स्थिति के प्रति सन्तोष प्रकट करने में अमरीकी श्रमिक से घ्राग रहता है, जबकि अमरीकी श्रमिक से अपेक्षाकृत बड़ी अच्छी हालत में होने पर भी उसके विरुद्ध उग्र प्रचार होने के कारण अग्रगन्तुष्ट रहता है। प्रचार की वजह से ही कोई भविष्यवाणी करना अमम्भव हो जाता है। स्पार्टकम के उमाने में रोम का अर्थशास्त्री विद्वान्मपूर्वक यह भविष्यवाणी कर सकता था कि ग्राम जनता दाम-प्रथा के टटन खिलाफ है कि यह जल्दी समाप्त हो जाएगी, लेकिन यथार्थ में यह पहले से भी अधिक मजबूती के साथ जड़ जमाए रही। इसी प्रकार, आज भी कोई यह भविष्यवाणी करने को प्रवृत्त हो सकता है कि सहकारी, निजी, या सरकारी स्वामित्व, सभी प्रकार के बड़े मगठन श्रमिकों को इनने बुरे लगन लगे हैं कि वे अग्रपक्ष हो जाएँगे, और जल्दी ही ऐसा समय आ जाएगा जबकि व्यक्तिगत सम्बन्धों पर आधारित छोटे-छोटे प्रतिष्ठान ही बच रहेगें, जिनमें न तो हड़तालें हुआ करेंगी और न बाजार में सफाई हासिल करने के लिए मक्कारी से भरी चालें खी जाया करेंगी। लेकिन यह भविष्य-वाणी भी गलत हो सकती है, चाकर अग्र सरकार उद्योगों का प्रबन्ध अपने हाथ में अधिकाधिक लेने लगे, और पूजा-म्यलों और मजदूर-मंत्रों के नेताओं की भाँति मजदूरों को इन बात का विद्वान्म दिवान का प्रयत्न करने लगे कि सरकार द्वारा प्रबन्ध हाथ में लेना एक ऐसा युनिवादी परिवर्तन है जिससे कि मजदूरों को तीनों लोनों की राससे मूल्यवान् सम्पत्ति मिल जाएगी। पूम फिर-वर हम पुन उमी बात पर आ जाते हैं जिससे यह लण्ड मुन् किया गया था कि "लोग तब तक अपनी पूरी योग्यता के साथ काम करने के लिए तत्पर नहीं होते जब तक कि उन्हें यह निश्चय न हो कि काम के बदले मिलने वाला पारिश्रमिक उन्ही के उपयोग में आएगा, या जिनके अधिकारों को वे मायना देने हैं उन्हें मिलेगा।" लेकिन उत्पादन के कितने अन्न को श्रमिक अपना उचित पारिश्रमिक मानते हैं और जिन लोगों को उनके उपयोग का अधिकारी सम-भने हैं, यह मुख्य रूप से विषयपरक मामला है जो इस पर निर्भर करता है कि आर्थिक प्रयत्न करने वालों में किस प्रकार के विद्वान्मों की जड़ जमायी गई है।

अब हम मर्यादा डाग व्यापार और विनोपजना के लिए दिए गए अन्नमरों पर विचार करें। व्यापार और विनोपजना का विद्वान्म आर्थिक विज्ञान का महत्वपूर्ण अंग है।

(क) साम—व्यापार के कारण विकास को बड़े प्रमाण में बढ़ावा मिलता है। विनोपजना को बढ़ावा देने से एक है। व्यापार से समुदाय में नवी चींटों का प्रवेश होता है जिससे मांग बढ़ती है, और इसी प्रक्रिया के दौरान मांग

के अन्दर अधिक काम करने की या अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से काम करने की इच्छा में भी वृद्धि हो सकती है। चूंकि बहुत से आदिम समाजों में आका-  
 खाएं नीमित होने के कारण आवश्यकताएँ थोड़ी ही होती हैं जिन्हें प्राप्त करने  
 के लिए प्रयत्न भी कम करने पड़ते हैं अतः व्यापार आरम्भ होने पर लोगों  
 के अन्दर कार्य का मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति में क्रांतिकारी परिवर्तन आ  
 सकता है। व्यापार के कारण समुदाय की कार्यशील पूँजी की आवश्यकता भी  
 कम हो जाती है। व्यापार के अभाव में हर घर को अपनी आवश्यकता की  
 सभी चीजों का भण्डार खुद रखना होता है। व्यापार आरम्भ होने पर जब  
 माँदागर केन्द्रीय गोदामों में माल के भण्डार रखने लगते हैं तो व्यक्ति के उप-  
 योग की तुलना में उसके भण्डार का अनुपात काफी कम हो जाता है। उन  
 देशों में जो कि गुजारे की अर्थव्यवस्था में चल रहे हैं, इन भण्डारों पर कभी-  
 कभी दस का जीवन-मरण निर्भर होता है, क्योंकि दुर्भिक्ष के समय देगी सामान  
 के इलाकों में अभावग्रस्त इलाकों को माल भेजने में व्यापार का ही हाथ होता  
 है। व्यापार से नये विचारों को भी जन्म मिलता है—उपभोग के नये प्रकार,  
 नयी टेक्नीकें, या सामाजिक सम्बन्धों के नये विचार उत्पन्न होते हैं। विदेशों  
 से आने वाले समाचार प्रचलित परम्पराओं को चुनौती देते हैं, और समुदाय  
 के व्यक्तियों को पहले से चले आने निषेधों की चिन्ता न करके नये तरीकों में  
 प्रयोग करने की आज़ादी मिलती है। यदि किसी देश के इतिहास का अध्ययन  
 करते समय हम देखें कि वहाँ अचानक बड़ी तेज़ी से विकास हुआ है, या  
 विरवासों या सामाजिक सम्बन्धों में बड़ा परिवर्तन आया है तो उसका कारण  
 लगभग हमेशा यही निकलता है कि वहाँ व्यापार के अवसरों में वृद्धि हुई थी।

व्यापार से विशेषज्ञता को भी बढ़ावा मिलता है, चूंकि श्रम का विभाजन  
 बाजार के विस्तार पर ही निर्भर है। आदम स्मिथ का कहना था कि विशेष-  
 ज्ञता के अन्तर्गत उत्पादन अच्छा होने का 'पहला कारण हर कर्मकार की  
 कुशलता में वृद्धि है, दूसरा कारण एक काम से दूसरा काम बदलने में जो  
 समय आमतौर में नष्ट होता है उसकी बचत है और अन्तिम कारण बहुत सी  
 मशीनों का आविष्कार है जो काम में महुँनियत पैदा करती हैं और मेहनत  
 बचाती हैं, और एक ही आदमी को कई आदिमियों का काम करने की सामर्थ्य  
 देती हैं।' स्मिथ ने श्रम के विभाजन को दतना अधिक महत्व दिया कि उसने  
 प्रौद्योगिकी के विकास और पूँजी की प्रयुक्ति का कारण भी श्रम का विभाजन  
 ही बताया। बाद के लेखकों ने इस कारण को चुनौती दी और कुछ लोगों  
 ने तो उल्टे ही तर्क प्रस्तुत किये कि विशेषज्ञता कारण नहीं बल्कि परिणाम  
 है। अब हम केवल यही मानकर मन्तुष्ट हैं कि विशेषज्ञता, ज्ञान और पूँजी  
 साथ साथ बढ़ते हैं।



बढ़ती हुई विशेषज्ञता जिस प्रकार एक प्राथमिक विद्वान् है, उसी प्रकार जीवात्मक श्रमिण विद्याया या विद्वान् भी मान्य होता है। जो भी हा, प्राथमिक विद्या के माध्यम से समस्त अन्वेषित है। लकिन इसकी जानियाँ भी हैं। जिस नाम में आदर्शों को विशेषज्ञता प्राप्त है यदि उसकी मांग कम हो जाए तो विशेषज्ञ का ज्ञान होना ही सम्भावना रहती है। मांग एक समय बदलती रहती है चूंकि लोगों की रुचि बदलती है या समी रहती है। और नयी चीजों के प्रचलन में पुरानी बागीचरी बहार हो जाती है। यदि विशेषज्ञ साईं दूसरे नाम न बन पाए तो उसकी आमदनी में भारी कमी हो जाती है। यही बात पूरे समुदाय पर भी लागू होती है। विशेषज्ञता जितनी ही अधिक होगी, व्यावसायिक गतिशीलता भी उतनी ही अधिक होगा जल्दी है, क्योंकि मांग में परिवर्तन होने पर यही सबसे अच्छा आत्मिक उपाय है। यदि व्यापार स्थिर भिन्न हो जाए और उसने कारण आश्चर्य व्यक्तियों को गानाई हो जाए, जैसा कि कुछ स्थानों पर, या भ्रष्ट या दूसरी धार विधि के समय में होता है, तो समुदाय को विशेषज्ञता के कारण ज्ञान उतनी पत्नी है। प्राथमिक-बाचीन भण्डार बनाकर गानाई की अस्थायी दायाओं का सुरक्षा करने की व्यवस्था की जा सकती है, जैसे समरीकी गानाई के लडाई की स्थिति में उपयोग करने के लिए भण्डार बनाये हैं। लेकिन अन्वेषित विशेषज्ञता के बचना भी नायद लाभकर हो है—उसकी मांग या ज्ञान चाहिए, यह जागिरा के विषयपर निर्धारण पर निर्भर है।

प्राथमिक विशेषज्ञता के दूसरे मतग मन्तुन का अभाव है। कृषि-बायें इसका स्पष्ट उदाहरण है। जिसमें एक फल में अन्वेषित विशेषज्ञता में जीवात्मक अगन्तुन पैदा हो सकता है, जिसमें परिणाम भूमि के गुणों की समानता या कौशलों और बीमारी की वृद्धि के रूप में मिलते हैं। भूमि के गुणों की रक्षा के लिए विमान फसलों के उचित हेर-फेर और मिनी-जुनी मीनों का महारा में सक्ता है, लेकिन कोई एक विमान अपने क्षेत्र के बाकी सब विमानों को एक ही तरह की मीनी करने में नहीं सक्ता और मीनों की रक्षा और बीमारी का मतग पैदा हो जाता है, अगर अस्थायी रूप में बहुत सामर्थ्य होना पर भी किसी प्रकार के लिए एक-ही मीनी उचित नहीं समझी जा रही तो उसे रोपने के लिए रोपण पर प्रतिबन्ध लगाकर या दूसरी फसलों को प्राथमिक गहायता देकर सामूहिक कार्यकारी की जानी चाहिए।

विशेषज्ञता में मानव-सम्बन्ध का मन्तुन भी विद्यमान है। जो व्यक्ति मान में काम करने का विशेषज्ञ है समार के प्रति उसका दृष्टिकोण कृषि-विशेषज्ञ में भिन्न होता है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न कामों में विशेषज्ञता होने में समूह के मीनों की विचारणाएँ भिन्न भिन्न हो जाती हैं, और दृष्टिकोण

और आर्थिक हितों को लेकर उनमें ऐसे मध्य पैदा हो जाते हैं जिनका समाधान नहीं मिलता। दृष्टिकोण और हितों के इन अन्तरो को अक्सर निन्दा भी जाती है। भाषण-दिवस के बच्चा अति विशेषता को बुरा बताते हैं और इस बात पर जोर देते हैं कि शिक्षा का आधार व्यापक होना चाहिए। लेकिन दृष्टिकोण और हितों की विभिन्नता से मनुष्य के सामुदायिक जीवन में ऐसे गुणों का समावेश होता है जो उन समुदाय में नहीं पाए जाते जहाँ सब आदमियों का एक ही धर्म और एक-जैसे अनुभव होते हैं। उनमें महलों की समस्याएँ तो बढती हैं पर साथ ही बौद्धिक विकास के अवसरों में भी वृद्धि होती है। चूँकि अनुभवों के मध्य से ही मनुष्य के विचार परिष्कृत होते हैं।

इसी प्रकार भौतिक हितों में मध्य होने का वन-संक्रमण यह परिणाम अदृश्य होता है कि समाज में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। यह उन लोगों के अनुभव भी सही है जिनके विचार में सारा इतिहास वर्ग-समूहों का परिणाम है, और तब भी ठीक बैठता है जबकि हम यह मान लें कि अगर हर व्यक्ति राष्ट्रीय आद्य के अपने हिस्से से सन्तुष्ट हो तो समाज में बहुत थोड़ा ही परिवर्तन होगा। कुछ लोग निरन्तर परिवर्तन से प्रसन्न नहीं होते और उनका कहना है कि सारा फिर उसी युग में लौट जाए जबकि हर आदमी अपने लिए खुद फलन तैयार करता था और अपना कपड़ा खुद बुनता था, तो वे बड़े खुश होंगे—क्या पता ऐसा मनार कभी था भी या नहीं। यहाँ हमें परिवर्तन या स्थिरता की बाध्यता पर विचार नहीं करना है। (इस विषय की चर्चा हम परिशिष्ट में करेंगे); यहाँ हमें यही कहना है कि समाज में निरन्तर परिवर्तन होने रहते हैं, और विशेषता इसमें सहायक होती है।

(ख) बाजार का विस्तार—बाजार जितना ही विस्तृत होगा विशेषता को सम्भावनाएँ भी उतनी ही अधिक होंगी। बाजार का आकार घर की आत्मनिर्भरता, जनसंख्या के आकार, संचार-साधनों के सम्पन्न, समुदाय के धन, रचियों के मानकीकरण और मनुष्य द्वारा व्यापार में लगाये गए लोगों पर निर्भर करता है।

आदिम समाज का घर लगभग पूरी तरह आत्मनिर्भर होता है। हर गाँव में कुछ-न-कुछ विशेषज्ञ दम्तवार होते हैं, लेकिन वे गाँव की आवश्यकताओं के केवल एक अंग को ही प्रति कर पाते हैं। समूचे गाँव की आत्मनिर्भरता का मुख्य कारण उसकी भू-भार की स्थिति होती है, लेकिन लोगों के धर्मों की आत्मनिर्भरता रचियों की स्थिति से सम्बन्धित होती है। आर्थिक विकास होने के साथ-साथ बहुत से ऐसे काम, जो पहले गाँवों में कर लेते थे, बाहर के लोग करने लाते हैं जो अधिक विशेषता और अधिक पूँजी के कारण उन कामों की अपेक्षागत अधिक बुगलता से करते हैं—ऐसे कामों के

उदाहरण पानी लाना, घनाज पीमना, वानना, बुनना और कपडे बनाना, बच्चों को पढ़ाना, बीमारों की देखभाल करना आदि हैं। जैसे-जैसे घर की स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले काम बाहर से होने लगते हैं वैसे-वैसे स्त्रियाँ भी घरों से बाहर आकर बाह्य प्रविष्टाना में काम करने लगती हैं। अधिक आदिम समाजों में लोग अपनी स्त्रियों को मजदूरी के लिए बाहर भेजना पसन्द नहीं करते। लेकिन जैसे-जैसे विशेष समाप्त होत जाते हैं, विपणनता बढ़ती जाती है, और राष्ट्रीय उत्पादन में काफी वृद्धि होने लगती है—स्त्रियाँ की स्वतन्त्रता में भी साथ-ही-साथ वृद्धि होती जाती है।

बाजार का आकार जनसंख्या के आकार पर भी निर्भर होता है। कुछ प्रकार के कामों में बड़े पैमाने पर उत्पादन के काफी फायदे हैं, खासकर विनिर्माण में, सांख्यिक उपयोग के कामों में, और कुछ खास तरह की सेवाओं में (शिक्षा, सांख्यिक स्वास्थ्य, सामूहिक मनोरंजन)। इस दृष्टि से देखने पर कई देशों की आबादी कम मालूम होगी, क्योंकि अगर उनकी आबादियाँ और अधिक होती तो वहाँ छोटे-छोटे और कम विशेषज्ञता वाले प्रतिष्ठानों में सामान बनाने के बजाय बड़े पैमाने पर चीजें बनाकर लोगों को और भी सस्ती दर पर दी जा सकती थी। वैसे, जनसंख्या के आकार की संकल्पना संख्या के साथ-साथ स्थान से भी सम्बन्धित है, और इसीलिए यह बहुत-बहुत संचार-माध्यमों पर भी निर्भर है। अगर यातायात की सुविधाएँ मुफ्त उपलब्ध होती तो छोटे-से-छोटे देश को भी विशेषज्ञता के सभी लाभ प्राप्त होने, चूँकि तब सारा सारा ही एक बाजार माना जाता, उस स्थिति में छोटे-से-छोटा देश भी विशेषज्ञता के आधार पर उत्पादन करके अपना बेसी माल दूसरों को बेच सकता था, और उपभोग के लिए जो चाहता बदले में मँगा सकता था। जनसंख्या से सम्बन्धित सम्बन्धों पर अध्याय ६ में विस्तार से विचार किया जाएगा।

संचार-माध्यमों की लागत और विस्तार की सीमा कुछ तो प्राकृतिक कारणों पर निर्भर है, और कुछ यातायात का काम करने वालों की उद्यमशीलता पर। कुछ सरकारें दूसरी सरकारों की अपेक्षा इस मामले में अपनी जिम्मेदारियों के प्रति अधिक जागरूक होती हैं। दरमसल, अधिकांश देशों ने इतिहास में प्रच्छेद सामक जिनने भी हुए हैं उन सभी की विवेकता थी कि वे बड़े उत्पादकों को साथ अपने यहाँ की सड़कों का विस्तार कराने थे। दूसरी ओर, बुरे सामकों के जमाने में सड़कों की हालत बहुत खराब रहा करती थी। संचार-माध्यमों का मस्ता और दूर-दूर तक फैला हुआ जाय किसी देश के लिए, प्राथमिक दृष्टि में, सबसे बड़ा बरदान होता है। रेल के आविष्कार में पहले जल-परिवहन ही अपेक्षाकृत मस्ता पड़ता था, और इसीलिए जिन देशों तक समुद्र या नदी-मार्ग बने हुए थे उनमें व्यापार और धन की सर्वाधिक वृद्धि हुई। यदि हम

वणिक्वादी-युग विदेश-व्यापार के प्रतिकारों का समर्थन करने वाले शास्त्रियों के लिए प्रसिद्ध है। लेकिन वणिक्वाद के दास्यता का मन्थन महत्त्वपूर्ण काय आन्तरिक एका के लक्षों पर जोर देता था। उनसे समय में आन्तरिक व्यापार के सम्बन्धीन रोधों को दूर करने के भी प्रयत्न किये गए। वणिक्-वादियों का काम निम्नलिखित नहीं रहा, धातु पर कोई नये करों का प्रयोग राजनीतिक प्राधिकरणों को—प्राणीय सरकार, काउंटी परिषद्, या नगरपालिकाओं को—द्वेषित लगान का अधिवार मिलना चाहिए। वणिक्वादी-युग का स्थान अग्रकट रूप में मुख्य व्यापार के युग में लिया, जिसका समय उन्नीसवीं शताब्दी का। यह युग सर्वश्रेष्ठ रहा। इस शताब्दी में गंगा के प्रायः हर दश में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के रोध कम किये गए, और शान्ति उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में यह प्रवृत्ति फिर से बढ़ाने लगी थी, लेकिन १६०० ईसवी में गिन्नी शताब्दियों की अन्त में व्यापारिक प्रतिकार बढ़ाये गये। विदेश-व्यापार को लेकर अन्त में वणिक्वादी युग की नीति समान-मूल्य राज्य प्रकट की जा रही है, इस विषय पर हम अन्त में ६ म विचार करेंगे।

(ग) संगठन—यथा ही अनुभव विदेश-व्यापार के प्रति हैं उनसे प्रेरणा का समन्वय करने के लिए किसी मन्त्र की आवश्यकता होगी है। बिना कुछ ठोस पैमाने पर प्रशासनिक आशा में ही काम चल सकता है। परन्तु, या सरकारों के विभाग, या फौजी दृष्टि के अन्त में काम करने वाले हर विदेश के अन्त-अन्त में यह बात दिया जाता है कि उसे क्या काम करना है, और यह प्रवृत्त-मन्त्र का काम होता है कि यह सब आदिमियों के काम का समन्वय-मन्त्र बिना अपने मन्त्रिक में रहे। लेकिन मन्त्रों समुदाय की प्रेरणा का समन्वय इस प्रकार नहीं किया जा सकता, बल्कि समुदाय की आवश्यकताओं और उनसे पूरा करने में साधन देने चाहिए। है कि उनमें मुद्रा केन्द्रीय समन्वय स्थापित करना सम्भव नहीं होगा। इनके स्थान पर व्यवस्था की प्रेरणा काकार द्वारा समन्वित होगी है। बीमों काकार और मीम द्वारा निर्धारित होगी है, और हर व्यवस्था बीमों को देखकर ही अपने उद्देश्य निश्चित करना है और इसी प्रेरणा में सब लोगों के उद्देश्य भी मन्त्र में चले हैं। हर समन्वय, बीम-मन्त्र सब सामाजिक मन्त्रों का समन्वय नहीं करता, दूसरे सभी सामाजिक मन्त्रों की नीति पर भी मन्त्र-मन्त्रों में है, और इनके प्रवृत्त पर भी उन लोगों के प्रवृत्तों का प्रभाव पड़ता है। ये दो आदिमों के अपने होने में बाधा रहते हैं। हर जगह बीम-मन्त्र विदेशी अधिवासियों या सरकारों के नियमन में रहता है, पर जब सब विदेश-व्यापार और व्यापार मन्त्र है सब सब बिना दश मन्त्र के काम करता है समन्वय है। मन्त्र की सरकार भी, या दूसरी सरकारों की मुद्रा

मे आर्थिक क्रिया का नियमन अधिक करती है, आर्थिक क्रियाओं के समन्वय के लिए कीमत-तन्त्र पर काफी निर्भर रहती है—इसी तन्त्र के फलस्वरूप दुर्लभ कौशल की मज्जाई को बढ़ावा मिलता है, कृषि उत्पादन बढ़ता है, दुर्लभ वस्तुओं के उपभोग पर अनुबंध रहता है राज्य के स्वामित्व में चलने वाले उद्योगों में कार्यकुशलता पैदा होती है, और वे सभी हमारे उद्देश्य पूरे होने हैं जो कम 'आयोजित' अर्थ-व्यवस्थाओं में भी कीमत द्वारा ही साधे जाते हैं।

कीमत-तन्त्र नियामक का काम नहीं कर सकता है जब लोग कीमत का प्रभाव अनुभव करें। उन्हें कीमतों में दिलचस्पी होनी चाहिए, चाहे वह उनके द्वारा किए जा सकने वाले परिश्रम की कीमत हो, या उन चीजों की कीमत हो जिन्हें वे तैयार कर सकते हैं, या खरीदी जा सकने वाली वस्तुओं की कीमत हो, या और किसी की हो, और उनके अन्दर कीमतों के अनुकूल परिवर्तन का लाभ उठाने के लिए अपने व्यवहार को बदलने की इच्छा होनी चाहिए। जिस सम्यता के लोग कीमतों से प्रभावित होते हैं उसे निम्नोक्त शब्दों में 'धनीय' या 'अर्जनशील' सम्यता कहा जा सकता है, लेकिन हमारी दिलचस्पी नैतिकता या निन्दा के प्रति नहीं है बल्कि आर्थिक विकास की परिस्थितियों के आवश्यक अध्ययन में है। विकास के लिए विशेषज्ञता आवश्यक है, विशेषज्ञता के लिए कीमत-तन्त्र द्वारा समन्वय अनिवार्य होता है और यह समन्वय तभी प्रभावशाली हो सकता है जबकि लोगों के अन्दर कीमत में परिवर्तन के प्रति प्रभावग्राह्यता हो। प्रभावग्राह्यता की मात्रा अधिकतर लोगों की आदत पर निर्भर होती है। वे लोग, जो अब तक केवल अपने गुजारे-भर का उत्पादन करते रहे हैं, जब पहले-पहल कीमत अर्थ-व्यवस्था से परिचित होते हैं तो शुरू में उनकी प्रभावग्राह्यता सीमित और अव्यवस्थित होती है। वे अबसरो का उपयोग नहीं कर पाते, चयन करना नहीं जानते, आसानी से धोखे में डाले जा सकते हैं, अस्थायी और स्थायी कीमत और परिवर्तनों के अन्तर को नहीं समझते, मौसमी और चक्रीय घट-बढ़ के बारे में नहीं जानते, मात्रापरक रिश्तायत से अनभिज्ञ होते हैं, और इसी प्रकार अन्य भेदों के प्रति ना-जानकार होते हैं। जिस प्रकार मनुष्य को संस्कृति के अन्य पहलुओं को सीखना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार बाजार की कीमत से प्रभावित होना भी सीखना होता है। जैसे-जैसे बाजार के बारे में जानकारी, उसका अभ्यास और उसकी चालों का अनुभव होता जाता है, वैसे-ही-वैसे पीढ़ियों की कीमत के प्रति प्रभावग्राह्यता बढ़ती चलती है।

विशेषज्ञता के कारण द्रव्य का उपयोग भी जरूरी हो जाता है, वस्तु-विनिमय विलंबुल शुरुआती विशेषज्ञता और व्यापार के साथ ही चल सकता है। वर्णमाला के आविष्कार, या जब चाहे आग जलाने की खोज की भाँति ही द्रव्य का आविष्कार भी मानव-जाति की महानतम उपलब्धियों में से एक है।

द्रव्य के अभाव में व्यापार सिमटकर नहीं बरबराकर रह जाएगा। द्रव्य के अभाव में हर घर की अपनी सभी चीजें इकट्ठी करके रखनी पड़ेंगी, खूबि उसे यह सुविधा प्राप्त नहीं होगी कि जब आवश्यकता है तब वे 'द्वीकृत-अणुकारों' (दूकानों) से गरीब जाए। और द्रव्य के अभाव में बज्र देने और पूँजीनिवेश के काम भी बहुत थोड़े रह जाएँगे।

दलता उपभोगी होने पर भी द्रव्य का आविष्कार दलता धीरे-धीरे करता है कि आज भी गमर के बड़े-बड़े भाग ऐसे हैं जहाँ द्रव्य अभी इस्तेमाल में आना शुरू ही हुआ है। उदाहरण के लिए, एशिया के कुछ बड़े राष्ट्रों में, जिनमें कि पिछले सारे ज्ञात इतिहास में द्रव्य का किसी-न-किसी रूप में उपयोग होना आया है आज भी मानव परिभाषा के अनुसार, चात्तीस प्रतिशत राष्ट्रीय उत्पादन का द्रव्य के माध्यम से विनिमय नहीं होता। द्रव्य का प्रयोग विशेषज्ञता और व्यापार से सम्बद्ध है, जिन लोगों के पास व्यापार करने के लिए बेसी सम्पुर्ण थोड़ी ही होती है उनके लिए द्रव्य का उपयोग भी थोड़ा ही होता है।

द्रव्य के उपयोग से बाजार का महत्त्व बढ़ता है, जिनके फलस्वरूप सामाजिक स्थानों में परिवर्तन होने है, इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण शायद यह है कि द्रव्य के उपयोग से मानव-प्रवृत्तियाँ बदलती हैं। समुदाय में एक बार द्रव्य का परिचलन होने लगे और बाजारों के लिए उत्पादन करना आम चीज हो जाए तो फिर प्राथमिक सम्बन्ध भी तेजी के साथ अत्यन्तव्य आधार ग्रहण करने लगते हैं। जैसे-जैसे द्रव्य का महत्त्व बढ़ता है, हैसियत और भाईचारा प्रभावहीन होने लगते हैं। गायों या भनाज के बोरे की अपेक्षा द्रव्य के रूप में धन का शक्य आसान होता है, धन 'अर्जनशील' प्रवृत्तियों—धन की आकांक्षा—का पालन आसान हो जाता है, और पालन होने के साथ ही ये प्रवृत्तियाँ बढ़ने भी लगती हैं। छापा उधार देने और मकदूरी देकर बसंकारी रखने के 'दूकानवासी' सम्पन्ना द्रव्यहीन व्यवस्था की अपेक्षा द्रव्य की अत्यन्तव्यता में प्राथमिक आसानी में बढ़ते हैं। अतः व्यापक परिवार-प्रणाली, या मुख्यतः हैमियत पर आश्रित प्रणालियाँ या ऐसी ही अन्य प्रणालियाँ जो उन समाजों में अस्वीकार्य पानी हैं जिनमें द्रव्य का उपयोग नहीं होता, द्रव्य का उपयोग करने के साथ-साथ प्रभावहीन होने लगती हैं।

दूसरी बात हम यह देखने है कि विशेषज्ञता और व्यापार के लिए समुचित बाजारों की आवश्यकता होती है। बाजार का होना प्राथमिक समुदाय का लक्षण है। जैसे समुदाय हमें जो बोर्ड-न-बोर्ड ऐसा स्थान प्रदान होता है जहाँ दूर-दूर तक योग्य साधन-सहाय, यथा-संभव सामान्य उपभोगिता पदार्थ गरीब सबको हैं। ऐतिहासिक विशेषज्ञता के लिए द्रव्य प्राथमिक प्रकार के बाजारों की जरूरत होती है—धन के बाजार, मकदूरी के बाजार, उमील के बाजार, विद्वानों मुद्राओं के

बाजार, बज्रों के बाजार, स्टॉक और शेयरों के बाजार और उन्हीं प्रकार के हमारे बाजार। इन बाजारों का रूप भिन्न-भिन्न होता है। हो सकता है कि एक व्यक्ति ही बाजार का रूप ग्रहण कर ले जिसे सम्भावनी नदीदारों और विदेशियों को मिलाने में विशेषज्ञता प्राप्त हो। इनका उदाहरण मकानों के एजेंट का कार्यालय है जो एक प्रकार का बाजार ही है। इसी प्रकार मन्व्यवस्था के विज्ञान का ज्ञान भी बाजार का एक रूप है। बाजारों की मर्याद और उनकी भिन्नता समुदाय के धनवान होने का लक्षण है। कमी-कमी व्यापार की सुविधा के लिए एक बाजार खोलने में ही धन में वृद्धि की जा सकती है, और यह भी हो सकता है कि बाजार के लायक पर्याप्त व्यापार का विस्तार होने से पहले ही किसी समुदाय में बाजार खोल दिए जाएं—जैसे कि कुछ निर्धन लोगों में शेयर-बाजार खोलने की चर्चा चल रही है।

विशेषज्ञता और आर्थिक इकाई के आधार का सम्बन्ध सुबोध नहीं है। कुछ लोगों का विश्वास है कि विशेषज्ञता से प्रभु का आधार बढ़ता है, अर्थिक ज्ञान का उपविभाजन होने से ज्ञानों की सख्या बढ़ती है और इसलिए समन्वित इकाई का आधार भी बढ़ता है। लेकिन ऐसा होना आवश्यक नहीं है क्योंकि विशेषज्ञों की जिज्ञासों का समन्वय बाजार द्वारा भी हो सकता है। जब कोई नयी चीज पहले-पहल बाजार में आती है तो इन चीजों को लाने वाली फर्म अधिकतर पुर्जों अपने कारखाने में ही तैयार करती है; लेकिन माँग बढ़ने के साथ-साथ भिन्न-भिन्न फर्म पुर्जों बनाने के काम में विशेषज्ञता हासिल कर लेती है। उदाहरण के लिए, अब मोटरकार बॉमियों भिन्न-भिन्न फर्मों द्वारा तैयार की जाती हैं, जिनमें से कोई-किसी तैयार करने में विशेषज्ञ हैं, या कोई-किसी ही बनाती हैं, या सामने के शीशे का काँच, या टायर या और बॉमियों प्रकार के सहायक पुर्जों तैयार करने की विशेषज्ञ होती हैं। तथाकथित 'मोटर-निर्माता' तो दूसरी फर्मों से पुर्जों खरीदकर उन्हें केवल जोड़ने का काम करता है। विशेषज्ञता का फर्म के आधार में वृद्धि पर इतना ही प्रभाव पड़ता है कि इसके फलस्वरूप बड़े ऐसे कार्य होते लगते हैं जिन्हें बड़े पैमाने पर ही किया जा सकता है, लेकिन जब-जब कोई कार्य घटक प्रक्रियाओं में विभाजित होता है, फर्म का आधार घटने लगता है।

इन प्रकार बड़े पैमाने का समन्वय विशेषज्ञता के अग्रतम परिणामों में से एक है। लोग विशेषज्ञता हासिल करते हैं तो उनकी प्रक्रियाओं का समन्वय करना पड़ता है और यह समन्वय या तो बाजार की प्रक्रियाओं के माध्यम हो सकता है या स्वयं फर्म के अन्दर किया जा सकता है। इस मामले में बाजार और फर्म की गति एक-दूसरे में विपरीत दिशाओं में होती है। बाजार जितना अधिक पूर्ण होता है, फर्म के अन्दर समन्वय करने की आवश्यकता उतनी ही कम होती है, जब-

कि बाजार जितना ही कम पूर्ण होता है उतना ही उद्यमकर्ता को विशेषज्ञों की क्रियाओं में समन्वय करने का अवसर मिलता है। यह सोचना गलत है कि विशेषज्ञता के सिद्धान्त बड़े पैमाने के संगठन के अनुकूल होते हैं। अच्छी तरह संगठित बाजारों में छोटी फर्म सरलतापूर्वक चल सकती है, क्योंकि उन्हें विशेषज्ञों की सलाह, इंजीनियरी सेवा पुर्जों, कच्चा माल और ऐसी ही चीजें सस्ती दर पर उपलब्ध होती हैं और वे अपना माल अन्तिम या मध्यवर्ती तरीकार को आमानी से बेच सकती है। बाजार जितना अच्छी तरह संगठित होगा, उतना ही हर फर्म को खुद कम काम करना होगा, और बड़े पैमाने पर संगठन के लाभ भी कम होंगे।

इसी का उपसिद्धान्त यह है कि अगर हम छोटे पैमाने के उद्यम को बढ़ावा देना चाहते हैं तो इसका सर्वोत्तम उपाय यह है कि छोटी फर्म के आसपास विशेषज्ञ सेवाओं और विपणन-एजेंसियों की व्यवस्था कर दी जाए, जो इतनी कार्यकुशल और सस्ती हो कि फर्म को छोटा होने के कारण ही हानियाँ न उठानी पड़ें। बड़ा संगठन अनुसन्धान कर सकता है, बड़ी राशियों में खरीद-बेच सकता है, स्पष्ट इकट्ठा कर सकता है, मानव-बस्तु तैयार कर सकता है, विज्ञापन का खर्च उठा सकता है, बड़िया-से-बड़िया विशेषज्ञ की सलाह प्राप्त कर सकता है, प्रादि-प्रादि। छोटा संगठन भी यह सब काम सफलतापूर्वक कर सकता है अगर उसके चारों ओर—निजी, सहकारी या प्राथमिक—एजेंसियाँ हों जो वे सारा काम संभाल सकें, जिसका निष्पादन बड़े पैमाने पर ही सम्भव है। इन स्थिति में छोटी फर्म उन बाजारों पर ध्यान केन्द्रित कर सकती है जो छोटे पैमाने पर अच्छी तरह किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, छोटी फर्म का विशेषज्ञ की सलाह कृषि-विस्तार-सेवा से, मानक बीज-गोदामों से, और ट्रेडर किराय पर देने वाली एजेंसी से लेने की सुविधा हो, और वह अपना माल ऐसी एजेंसी को बेच सके जो अनेक ऐसी फर्मों का माल इकट्ठा करके उसकी दर्जबन्दी, प्रक्रियाकरण, विज्ञापन और बड़ी राशियों में बेचने की व्यवस्था कर सके। यह सही नहीं है कि कार्यकुशलता या प्राथमिक विज्ञापन के हित में बड़े पैमाने पर उत्पादन करना ही हर फर्म के लिए आवश्यक है, लेकिन यह ठीक है कि विशेषज्ञता के लाभ प्राप्त करने के लिए फर्म के अन्दर ही या सुसंगठित बाजारों की रचना के अन्तर्गत बड़े पैमाने के लाभ उपलब्ध हों। सुसंगठित बाजार बड़ी फर्म का स्थान विम सीमा तक ग्रहण कर सकता है यह उद्योग की प्रकृति पर निर्भर है। रेल यातायात, इस्पात का निर्माण, और मोटरकार जोड़ों का काम छोटे पैमाने पर कुशलतापूर्वक करना बहुत मुश्किल होगा, जबकि छोटे पैमाने के उद्यम मजदूर यातायात, दुकानदारी, कुछ विविध कृषि-कार्य, और कुछ विनिर्माण-कार्य बड़े



अच्छी तरह कर सकते हैं। बाजार, मरकागिता आन्दोलन, या सरकारविरुद्ध ही क्रोधना के साथ छोटे एकाकी का पोषण करें लेकिन आर्थिक विकास के लिए बड़े पैमाने के उत्पादन में भी कुछ विन्नायक बना आवश्यक होता है।

बड़े पैमाने के संगठन का विन्नायक उपनय उद्यम-जीवन, और इस जीवन को प्राप्त उत्पादन के अन्य साधनों पर निर्भर है। उद्यमकर्ता निजी व्यक्ति भी हो सकते हैं या सरकारों कर्मचारी भी हो सकते हैं। दोनों परिस्थितियों में उद्यमकर्ता वितनी बड़ी फर्म का काम संभाल सकता है यह उनकी योग्यता, उनके अनुभव और उसे उपलब्ध तकनीकों पर आधारी है। पहले टेक्नीक को लें, बड़े पैमाने के संगठन ने संचार-साधना—लेखन-कला, टेलीफोन, वायर-लेस—गणना के साधनों—माल्यकीय पद्धतियों लेखाविधि—और प्रशासनिक सुविधियों—पदसोपान, समितियों और उन्नी प्रकार की दूसरी चीजों के आदिष्कार के साथ साथ प्रगति की है। उन नव आविष्कारों से कुशलता-पूर्ण कार्य के पैमाने में वृद्धि होती है। अधिकांश नव विकसित देशों में बहुत छोटे लोग ऐसे मिलते हैं जिन्हें बड़े पैमाने के प्रशासन या उनकी टेक्नीकों का अनुभव होता है। ऐसे देशों में बड़े पैमाने के संगठन की प्रेरणा छोटे संगठन ही उपयुक्त रहते हैं, क्योंकि देश के अन्दर अनुभव की कमी होती है और वे कार्य, जिन्हें अधिक उन्नत देश बड़े पैमाने पर करता मान्यता समझते हैं, पिछड़े हुए देशों में छोटे पैमाने पर संगठित करने में ही जान रहता है। आर्थिक विकास के चरण बढ़ने के साथ-साथ देश का प्रशासनिक अनुभव बढ़ता जाता है, और फिर बड़े पैमाने की पद्धतियाँ अधिक प्रभावपूर्ण रूप से और अनेक क्रियाओं में लागू की जा सकती हैं।

बड़े पैमाने के संगठन से जहाँ प्रवृत्तियों और सामाजिक रचनाओं में बड़े परिवर्तन होते हैं, और उसके कारण बड़ा अनलोप पैदा होता है, उनका बहुत से लोग इसे नापसन्द करते हैं, और वेबल उतना ही आर्थिक विकास उपयुक्त समझते हैं जिसमें संगठन का पैमाना न बढ़ता पड़े। यह प्रवृत्ति उन देशों के लिए उचित है जिनके प्राकृतिक साधन वृषि-योग्य भूमि तथा सीमित हैं, लेकिन जिस देश में स्थान खोदने या विनिर्माण के लिए काँची साधन मौजूद हैं वहाँ यदि बड़े पैमाने के उद्यम के विकास को रोका गया और उसे बढ़ावा न दिया गया तो निश्चय ही आर्थिक अवसरों पर रोक लग जाएगी।

(क) दृष्टिवाद और सामूहिक कार्य—पिछली कुछ शताब्दियों में पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका में प्रति व्यक्ति आय में जो वृद्धि हुई है उसका बहुत-कुछ श्रेय वहाँ की वर्तमान आर्थिक स्वाधीनता स्वाधीनता की है, अर्थात् सामाजिक हैसियत और धन्य बदलने की स्वतन्त्रता, अन्य देशों का

उपयोग करने और उत्पादन बढ़ाने या लागत कम करने की दृष्टि से उनके अनुपात निश्चित करने की छूट, और उन लोगों के साथ प्रतियोगिता करने के लिए व्यापार आरम्भ करने की स्वाधीनता जो पहले न उन व्यापारों में जमे हुए हैं। हम राष्ट्र में हम दत्त स्वाधीनताओं के मार्ग में आन वाली साम्यात्मिक अडचनों पर विचार करेंगे, लेकिन हमें पहले यह समझ लेना चाहिए कि व्यक्तिवाद ही निश्चित रूप में आर्थिक विकास का सबसे त्वरित उपाय नहीं है। सामूहिक क्रिया भी आवश्यक है और कुछ परिस्थितियों में उसके परिणाम भी जल्द निरालं हैं।

यदि और नहीं तो निजी क्रिया के पूरक का काम करने के लिए ही सरकार की क्रिया को सामूहिक क्रिया की आवश्यकता होती है। आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए सरकारों को व्यापक रूप से काम करना होता है जिसके बारे में अध्याय ७ में आर्थिक विस्तार से विचार किया जाएगा। निजी उद्यम की अयं-व्यवस्थाओं में भी सरकार मददों की देखभाल या अनुगमन को प्रोत्साहन देने से लेकर नये उद्यमों की हामी भरन या निजी व्यवसाय को पूर्वी जुटाने तक का काम कर सकती है। सरकार का वागदान एक सीमा तक निजी उद्यमशीलता की मात्रा और उसकी कौटि पर निर्भर होता है, लोग में काम शुरू करने की योग्यता जितनी ही कम होगी उद्यमशील सरकारों व्यवस्थाओं के ऊपर उतना ही आर्थिक भार पड़ेगा।

सरकारी क्रिया के अलावा राष्ट्रीय समकित की तीव्र भावना भी आर्थिक विकास में सहायक हो सकती है—हमसे कोई फल नहीं पड़ता कि काम निजी व्यक्ति शुरू करते हैं या सरकार। यदि किसी राष्ट्र के लोग नेतृत्व को उभारने और उसका अनुकरण करने के अभ्यस्त हैं तो वहाँ कुछ व्यक्तिवादी राष्ट्रों की अपेक्षा आर्थिक विकास के लिए अपेक्षित परिवर्तन वहाँ अधिक आसानी से लाए जा सकते हैं। राष्ट्रीय समकित कई रूपों में प्रकट हो सकती है जैसे यदि नयी टेक्नीकें शुरू करनी हों तो नवीन प्रक्रिया लागू करने वालों के एक बार पर मिद्ध कर देने पर कि नयी टेक्नीकें अधिक उत्पादक हैं, साम लोग बड़ी जल्दी से उन्हें अपना लेते हैं। इसी प्रकार, अगर बड़े पैमाने के प्रतिष्ठानों में ऐसे लोगों को लाकर काम शुरू करना हो जो पहले अरबी-भरती मरदों के मानिक थे, तो भी समकित के कारण नया अनुशासन बड़ी जल्दी लागू किया जा सकता है। अगर कुछ प्रतिष्ठान करने हों—उदाहरण के लिए अगर सरकार पूर्वी-निर्माण के भारी कार्यक्रम लागू करना चाहें—तो उन समुदायों की अपेक्षा, जहाँ लोग किसी सामान्य उद्देश्य के लिए अधिक आन्तरिक विवाद या मुद्दा-स्पीति उत्पन्न किए बिना हो पूर्वी-निर्माण में सहयोग देने की तैयार हों

जाएँगे। अग्र आदमी या सस्यानी—स्त्रियों की स्थिति, भूमि की चानूनी स्थिति, प्रवास के प्रति प्रवृत्ति आदि—में परिवर्तन करना हो तो वह भी बड़ी आसानी में हो जाता है। यही और दूसरी बातों पर भी लागू होता है। चीन और जापान के पिछले सो वर्षों के इतिहासों की तुलना करते हुए कुछ इतिहासकार चीन के उग्र व्यष्टिवाद और जापान के सामाजिक जीवन के 'अनुसामन' की तुलना पर बहुत जोर देने हैं। इन मन्व्यनामों का ठीक-ठीक अर्थ या ठीक-ठीक महत्त्व बताना बहुत कठिन है, लेकिन यह स्पष्ट है कि आर्थिक परिवर्तन का नेतृत्व थोड़े-से लोग करते हैं और बाद में बहुत से लोग उसका अनुकरण करते हैं, इसलिए यह सही मालूम होता है कि पूरे समाज के परिवर्तन की गति वहाँ की जनता में उद्यमशील व्यक्तियों का नेतृत्व स्वीकार करने की इच्छा पर निर्भर होती है।

सामूहिक क्रिया और समन्वय की भावना विकास के लिए आवश्यक ही नहीं है, कुछ परिस्थितियों में उनके परिणाम व्यष्टिवाद के अन्तर्गत उपलब्ध परिणामों से उत्कृष्ट भी होते हैं। सत्तावादी ढंग पर संगठित समूह अधिक व्यष्टिवादी समूह की अपेक्षा निश्चित उद्देश्यों को अधिक योग्यता के साथ प्राप्त कर लेता है। इन प्रकार का समूह शायद वे सब काम अच्छी तरह में कर सकता है जो एक योजना के अनुसार करने आवश्यक हो, जिसमें सफलता के लिए सबसे जरूरी बात लोगों के एक साथ मिलकर काम करने की होती है—यह उद्देश्य लड़ाई की तैयारी करना हो, या विनाश पर उदार मर्यादा नदी के प्रवाह को नियंत्रित करना हो, दावानल शान्त करना हो, या और कोई ऐसी क्रिया हो जिसमें सफलता के लिए यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि हर आदमी अगुआ से आदेश लेकर तदनुसार काम करे। यदि व्यक्तियों की अपेक्षा उनके अगुआ को इस बात का ज्ञान अधिक हो कि विकास के लिए कौनसे उपाय करने चाहिए तो संभव, सत्तावादी समूह द्वारा किया गया आर्थिक विकास उत्कृष्ट कोटि का भी होगा। अगुआ शिक्षा, उन्नत प्रौद्योगिकी, अछड़े बीजा का इस्तेमाल, पूंजी-निर्माण का ऊंचा स्तर, भू-धारण के अधिकार, या दानता, या एकाधिकार-जैसे सामाजिक मन्व्यों में परिवर्तन लाने पर जोर दे सकता है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि विकास आर्थिक चानुर्य की व्यक्तिगत स्वाधीनता पर निर्भर होता है, यदि इसका विकल्प यह हो कि लोगों को विकास के लिए आवश्यक काम करने को बाध्य किया जाएगा। आर्थिक मामलों में व्यक्तिगत स्वाधीनता इन्हीं विश्वास पर उत्कृष्ट मानी जाती है कि अगुआ के ज्ञान का भण्डार अपेक्षाकृत अधिक नहीं होता, और आर्थिक चानुर्य का एकाधिकार अगुआ को सौंपने की अपेक्षा यदि लोगों को अपने-अपने तरीके से प्रयत्न करने की छूट दे दी जाए तो उन्नति के उपाय अधिक खोजे जा सकते हैं।

जैसा कि हम अभी देखेंगे यह विद्वान् उन्नत समाजों के बारे में कभी नहीं है, लेकिन जहाँ तक पिछड़े हुए समाजों का संबंध है, जो अधिक उन्नत देशों की प्रगति का अनुकरण करने ही विकसित कर सकते हैं, वहाँ यह विश्वास ठीक नहीं बैठता। इसलिए अगर किसी पिछड़े हुए समाज की सरकार आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए तत्पर हो, और अगर उसमें मनस्वादाओं को अच्छी तरह समझने की क्षमता हो, तो उस समाज का आर्थिक विकास व्यक्तिवादी आधार की अपेक्षा सत्तावादी आधार पर अधिक जल्दी होगा। मारी कठिनाई अपेक्षित परिस्थितियों को लेकर है, सम्भव है कि सरकार समझदार हो, और सत्तावादी हो, और हृदय से ग्राम जनता की भलाई चाहती हो, लेकिन ये तीनों बातें एक ही सरकार में मिल जाएँ यह बड़ा मुश्किल है और इसे प्रपवाद-स्वरूप ही समझना चाहिए।

इस विवाद की अपेक्षा कि उद्योग का मंचालन सरकार करे या निजी उद्योगी, उपर्युक्त बातों का सम्बन्ध 'आयोजन' के वर्तमान विवाद से अधिक है। सामान्य चर्चाओं में इन दोनों मुद्दों का भेद धक्कर भुला दिया जाता है, लेकिन ये दोनों बिलकुल अलग-प्रलग हैं। केन्द्रीय आयोजन निजी या सरकारी दोनों अर्थ-व्यवस्थाओं में लागू किया जा सकता है, और इसी प्रकार सरकारी उद्यम को अर्थ-व्यवस्था आयोजन के अन्तर्गत भी चल सकती है और आयोजन के बिना भी चल सकती है। पहले हम उद्योग के सरकारी संचालन के बारे में कुछ चर्चा कर दें, उसके बाद आयोजन की समस्या पर विचार करेंगे।

उद्योगों के निजी या सरकारी संचालन के विवाद को लेकर बहुत सी समस्याएँ सामने आती हैं, इनमें से अधिकांश का हमारे विषय से सम्बन्ध नहीं है। विवाद का वाकी अर्थ का वितरण-सम्बन्धी प्रभावों से सम्बन्धित है, जिसके अन्तर्गत इन बातों पर विचार किया जाता है कि लाभ कमाने वाले निजी उद्यमकर्त्ताओं की अपेक्षा राज्य के कर्मचारियों पर राष्ट्रीय आय का अधिक भाग लक्ष्य होगा या कम। विवाद के दूसरे पक्ष का सम्बन्ध व्यक्तिगत स्वाधीनता पर पड़ने वाले प्रभावों से है—अर्थात् जिन समाजों में सम्पत्ति और पहलू राज्य के हाथों में होती है, उनमें उद्योगों के निजी या सरकारी संचालन का धर्मिक या उपभोक्ता की स्वाधीनता, या राजनीतिक स्वाधीनताओं पर क्या प्रभाव पड़ता है। हम तो इस समय विवाद के केवल उन्नीस पक्षों में दिलचस्पी है जिसका सम्बन्ध आर्थिक विकास पर पड़ने वाले प्रभावों में है।

यह विवाद प्रेरणाओं और आदर्शों की अनुपस्थिति के अभाव में उत्पन्न होता है। उद्यमकर्त्ता को, चाहे वह निजी व्यक्ति हो या सरकारी कर्मचारी, लागत कम करने के उपाय ढूँढ़ने, या नयी या बेहतर चीजें देख कर जनता की अधिकारिता में बाधा करने, या वितरण या सेवा में सुधार करने की प्रेरणा होती

उपलब्ध नहीं हो सकते। छाटे उत्पन्न, और विनोदपर वे जो नये-नये प्रयोग—  
नया वस्तु, नया आविष्कार आदि—करने के टुकड़ों है निजी उत्पन्न की प्रणाली  
की अपेक्षा हम व्यवस्था के अन्तर्गत धन प्राप्त करने में और भी अधिक कठि-  
नाई अनुभव करेंगे।

बहुत-कुछ इस पर निर्भर करना है कि माधना का नियंत्रण कितना विवे-  
क्षित है। यदि केन्द्रीय प्राधिकरण में अनुज्ञा लिये बिना कोई पूँजी, श्रमिक, या  
सामान प्राप्त करना सम्भव न हो तो उद्यमकर्त्ताओं के लिए आर्थिक चतुरंग की  
गुंजाइल थोड़ी रह जाती है, चाहे प्रणाली निजी उद्यम की हो या सरकारी स्वामित्व  
की। ऐसी स्थिति में केन्द्र द्वारा आयोजित अर्थ-व्यवस्था, चाहे वह निजी हो  
या सरकारी, आयोजका के निर्देशानुसार चलती है। निगिष्ट उद्देश्यों की निधि  
के लिए इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था आयोजनारहित अर्थ-व्यवस्था में अच्छी होती  
है, क्योंकि आयोजनारहित अर्थ-व्यवस्था के कोई निश्चित उद्देश्य नहीं होते।  
युद्ध-सामग्री तैयार करने के लिए आयोजित अर्थ-व्यवस्था बेहतर रहती है,  
और यही कारण है कि युद्ध के समय मारी अर्थ-व्यवस्थाओं की आयोजना  
बड़ी अच्छी हो जाती है। आयोजित अर्थ-व्यवस्था ऊँचे स्तर का पूँजी-निर्माण  
कराने के लिए या विनाश औद्योगिक क्षेत्र तैयार करने के लिए या अन्य  
निर्धारित उद्देश्यों—जैसे मरम्मतों की संचालन, मकानों का निर्माण आदि—  
के लिए अपेक्षाकृत अच्छी रहती है। आयोजनारहित अर्थ-व्यवस्था में  
आयोजित अर्थ-व्यवस्था केवल वहाँ निम्न कोटि की रह जाती है जहाँ कोई  
निश्चित लक्ष्य सामने नहीं होते, चूँकि उद्यमकर्त्ताओं के व्यक्तिगत निर्णय केन्द्रस्थ  
आयोजकों के निर्णय से टक्कर लेने वाले होते हैं, या उनसे भी बेहतर हो सकते हैं।  
ऐसी स्थिति में कोई एक निश्चित दिशा नहीं होती जिसमें अर्थ-व्यवस्था की  
मोड़ना अपेक्षित हो और इसलिए हर व्यक्ति को अपनी परिस्थितियों के अनु-  
सार प्राप्त साधनों का सबसे अच्छा उपयोग करने के लिए आजाद छोड़ देना  
हो सर्वश्रेष्ठ रहता है। यह जिस प्रकार निजी उद्यमकर्त्ताओं पर लागू होता है,  
उसी प्रकार सरकारी कर्मचारियों पर भी सही है। केवल इसी कारण कि  
किसी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत मारी औद्योगिक पूँजी राज्य के हो स्वामित्व में  
है, यह आवश्यक नहीं है कि उस अर्थ-व्यवस्था का केन्द्रीय आयोजन  
किया जाए; सरकार चाहे तो एक डेप्यर-होल्डर की भाँति काम करने  
का फैसला कर सकती है, और अपने कर्मचारियों की जिन माधनों में जा  
के चाहे उत्पादन करने की आजादी दे सकती है, साथ में केवल एक शर्त हो  
कि उत्पादित वस्तुएँ बाजार में लाय पर बिक सकें। अगर सरकार ही पूँजी  
का एक मात्र स्वामी हो तब भी वह इसका विवरण केन्द्रीय नियंत्रण के अधीन  
न रखकर बड़े प्रतियोगी एजेंसियों के माध्यम से कर सकती है। इसका

परिणाम यह होगा कि जिम फर्म को पंजी की आवश्यकता होगी उसे कई जगह कोशिश करने के अवसर मिल जाएंगे। आयोजना और सरकारी स्वामित्व एक ही चीज नहीं है। आयोजनारहित सरकारी उद्यम और भूनी प्रकार आयोजित निजी उद्यम, दोनों के ही उदाहरण मन्मार म मौजूद है।

एक निश्चित उद्देश्य और उद्देश्यहीनता, या उद्देश्यों की अनकता के बीच का अन्तर है उसका एक उपसिद्धान्त यह है कि आयोजित अग्रगामी देशों की अपेक्षा ऐसे देशों में कम हानिकारक होता है जो कि दूसरों के नतुत्व का अनुकरण-मात्र करत हैं। ब्रिटेन या अमरीका-जैसे उन्नत औद्योगिक देशों में कोई नहीं कह सकता कि अब में पचास वर्ष बाद किस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था होगी या हानी चाहिए। वीनमी नयी चीजे, जिनका अभी आविष्कार तक नहीं नहीं हुआ है, बाजार पर छा जाएंगी। परिवहन के कौनसे साधन अधिक महत्वपूर्ण बन जाएंगे, दूकानों का रूप क्या होगा, इत्यादि। यदि ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओं का केन्द्रीय आयोजन के शिक्जे में जकड़ दिया जाए, और एक केन्द्रीय कार्यालय के मुट्ठी-भर आदमियों को नियंत्रण करने का प्राधिकार दे जाए कि विकास की कितनी बातों का बढ़ावा देना है और किन्हीं दबाना है, तो हम बड़े विश्वास से कह सकते हैं कि विकास की गति धीमी हो जाएगी। अर्थात् हम यह तो विश्वास के साथ नहीं कह सकते कि उत्पादन नहीं बढ़ेगा, चूंकि पूंजी-निर्माण की मात्रा बढ़ सकती है लेकिन यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उत्पादन और उपभोग में बहुत परिवर्तन नहीं आएंगे और न बहुत सी नयी चीजे प्रचलित हो पाएंगी। पहले से चली आ रही वस्तुओं की मात्रा भले ही बढ़ जाए लेकिन नयी चीजे थोड़ी ही चल पाएंगी। इसके विपरीत उन देशों की परिस्थिति बिलकुल दूसरी होती है जो पिछड़े हुए हैं और अग्रगामी देशों द्वारा किसी चीज की उपयोगिता सिद्ध हो चुकने के दस पचास या सौ वर्ष बाद उनका अनुकरण-मात्र करने हैं। इन परिस्थितियों में भी बड़े केन्द्रीय नियन्त्रण से उन समूहों के मार्ग में बाधा आ सकती है जो टक्कीयों और संस्थानों के एक परिवारण से दूसरे परिवारण में आन पर आवश्यक होते हैं। लेकिन अग्रगामी देशों की अपेक्षा अनुगामी देशों में आयोजनों के नियंत्रण गलत होने की सम्भावना कम होती है, क्योंकि उनके सामने अनुकरण के लिए आदर्श पहले में ही उपस्थित रहते हैं।

बहुत-भुछ इस पर भी निर्भर है कि किसी समुदाय-विशेष ने लोक-प्रशासन की कला में कितनी पटुता प्राप्त कर ली है। अधिकांश सरकारी अष्ट और अनुसूचित होती आई हैं और हैं। ऐसी लोक-सेवा की स्थापना करना, जो अष्टाचार से अपेक्षाकृत मुक्त हो, अपेक्षाकृत कार्यकुशल हो और इन मामलों में ऊंचे स्तर वायम करने के लिए काफी इच्छुक हो, धीरे-धीरे ही आता है और थोड़े से

ही देण उभय गणन हो गये हैं। धन गणन के अधिकांश देणों में ही यदि लोक-स्वामित्व या केन्द्रीय आयोजन के नाम पर धार्मिक मामलों की गारी विभक्तिकारी वर्तमान प्रशासनो के हाथों में दे दी जाए तो धार्मिक विभाग निश्चय ही सम्भव हो जायगा। जिन देणों में सरकारें भ्रष्ट और अकुशल हैं वहाँ धार्मिक विभाग के लिए संश्लेष्य मांग निबन्धनीति का है। पार्यन्त प्रशासन की स्थापना के बाद ही निजी उद्यम और लोक-स्वामित्व या नियन्त्रण के सुवर्णमय गुणों का विवाद उठाया जा सकता है।

व्यवहार में सामंजस्य सम्मत्या निजी पक्ष और सरकारी विधा—आयोजन या राष्ट्रीयकरण—के बीच किसी एक को चुनने की नहीं है बल्कि इन दोनों का सबसे लाभप्रद मेल बिठाने की है। उन्नीसवीं शताब्दी में ही धार्मिक आयोजन या उद्योग के लोक-संचालन के पक्ष और विपक्ष में बहुत ही घाई है। और कुछ नहीं तो केवल विभाग की बदनी हुई दर को दृष्टि में रखकर ही यह तो व्यावहारिक रूप में स्पष्ट ही माना जा सकता है कि पहले की धार्मिक सरकारों को धार्मिक विभाग में अधिकाधिक योग देना चाहिए। भौतिक उन्नति में सफलता की दृष्टि में व्यक्तिगत प्रयत्नों के बल पर जो उन्नति कई शताब्दियों में की, उम्मीद धनुरण पिछड़े हुए देश अपनी सरकारों की सहायता में शायद कुछ शताब्दियों में ही कर लेंगे। धार्मिक जीवन में सरकार का योग बढ रहा है, और अभी कुछ समय तक बढ़ता रहेगा। इसमें उतलन सम्स्थाओं पर अध्याय ७ में विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा।

(ख) उच्च गतिशीलता—धार्मिक विभाग के माथ नीचे के स्तर में ऊपर और ऊपर के स्तर में नीचे, दोनों प्रकार की उच्च गतिशीलता धनुर बायी माथा में पाई जाती है। इसके कई कारण हैं।

पहला तो यह कि धनुर व्यवसाय, सरकार, विज्ञान और दूसरे क्षेत्रों के उच्च वर्गों में नीचे के नये लोग न आते रहे तो जीवात्मक और मासुतिक दोनों दृष्टियों में उच्च वर्गों का पतन होने लगता है। जीवात्मक पतन इसलिए होता है कि एक हृदार बुद्धिमान लोगों के धनुर एक हजार बच्चे हों तो उनमें सबके सब अपने पितामों के समान ही बुद्धिमान नहीं हो सकते। धनुर हम यह मानें कि किसी समुदाय के इतिहास में एक ऐसा समय आता है जबकि जीवात्मक रूप में श्रेष्ठ समूह उच्च वर्ग बन जाता है, और बाद में यह उच्च वर्ग अपनी सन्तानों के प्रताप प्रथम निजी वर्गों की सन्तान को उच्च वर्ग में प्रवेश नहीं करने देता, तो हम यह बायी विद्वान के माथ कह सकते हैं कि जीवात्मक श्रेष्ठता का पतन होने लगता है। जीवात्मक रूप में स्वयं दृष्टिकोण का उच्च वर्ग यह होता है जो अपने प्रथम वर्गों के निम्न वर्ग में अपने देगा है और स्वामी में अपने में निम्न वर्गों के अधिकांश गणन सदस्यों को उच्च वर्ग में सामान

कर लेता है। उम्मी प्रकार मास्कुतिक मसेचन भी आवश्यक है। परिवार पर आरारित श्रमगावकी वृत्ति वाला उच्च वर्ग प्रवसर किमी-न-किसी रूप म अपन पूवजा की पूजा करन लग जाता है। काम करन के पुगन तरीके पत्रित्र मान लिय जात हैं और परिवर्तनशील मसार म सफरता पान के लिए भी गुजर जमान म ही प्रेरणा लने के प्रयत्न किय जात हैं। इस प्रकार की भावना में वचन की सम्भावना तभी है जब उच्च वर्ग म निरन्तर ऐसे लाग शामिल किय जान रह निनका गुजर जमाना एसा नही रहा जिम पर गौरव करके प्रेरणा ली जा मके या जिनका जमाना एसा रहा है जिसे के भूल जान के इच्छुक हैं।

निकाम के हित म निम्न वर्ग से उच्च वर्ग के लोगों को लेने की बात समना के सवाला स विलकुल अलग है। समाज में सदा में ही उत्कृष्ट और निकृष्ट सामाजिक वर्ग रह हैं चूंकि समुदाय चाहे पूंजीवादी हों, समाजवादी हों, या साम्यवादी हों लेकिन उनके अन्दर हमेशा कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनको व्यवसाय, या सरकार, या धर्म, अथवा अन्य किसी क्षेत्र में दूसरे लोगों के ऊपर सत्ता रहती है। यहाँ हम इस विषय पर चर्चा नहीं कर रहे हैं कि ये विभाजन बने रहें या समाप्त हो जाएँ, चूंकि यदि सत्ता की समाप्ति हो जाए तो समाज का विकास रुक जाएगा, हमें तो यहाँ केवल यह देखना है कि जन्म या अन्य किसी दूसरे गुणों के आधार पर ऊँची जगहों के लिए लोगों के चुनने का विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। जिन लोगों को सत्ता का प्रयोग करना है उन्हें इसके लिए विशेष रूप से तैयार करने की आवश्यकता होती है। उन्हें बाकी लोगों की अपेक्षा लम्बे समय तक शिक्षा देनी होती है और प्रशिक्षण के दौरान और उसके बाद भी उन्हें विशेषाधिकार देने होते हैं। सम्भव है कुछ अमीर समुदाय अपने सब बच्चों को लम्बी और सरचीली शिक्षा दिला सकें, लेकिन अधिकांश समुदाय इतना नहीं कर सकते और इसलिए अपने को बाकी सबमें श्रेष्ठ सिद्ध नहीं कर सकते। अब प्रश्न हमारे सामने केवल यह रह जाता है कि विशेष शिक्षा जिन लोगों को दी जाए—योग्य पात्र चुनन समय उनके वर्ग का ध्यान रखा जाय या किन्हीं और बातों का।

अगर बच्चों को उनकी जीवात्मक मानुषिकता, बुद्धि-परीक्षण या और दूसरे तरीकों से नेतृत्व के लिए चुना जा सके तो परिवार की स्थिति के विशेषाधिकार से आर्थिक विकास का कोई सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। वैसे, तथ्य यह है कि मनुष्य के गुण बहुत-कुछ उनकी साम्बृतिक शिक्षा-दीक्षा पर भी निर्भर होते हैं। इनका कुछ अंग वह अपने मूल या दूसरे मस्थानों में मौजूदता है जिनका उसके परिवार में कोई सम्बन्ध नहीं होता, लेकिन वह अपने माता पिता से भी बहुत सीखता है और यह काफी महत्वपूर्ण है कि उनके



माता-पिता बौध है। जिन दशों में सामन्त-वर्ग और सामित जनता की सृष्टि बिलकुल अलग अलग है वहाँ यह चीज माफ देखने में आती है। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं शताब्दी में वेस्ट इंडीज में श्वेत शासक-वर्गों की सृष्टि उन्ही दिनों मुक्त किये गए अश्वेत दामो से बिलकुल भिन्न थी। श्वेत लोगों का कहना था कि सभी महत्वपूर्ण पद उनके बच्चों के लिए सुरक्षित रहे जाएँ जो श्वेत सृष्टि में पले हैं और वे इस बात पर जोर देते थे कि अगर उत्तरदायित्व के पद अश्वेत लोगों को दे दिये गए तो इन द्वीपों में फिर से बबरता का युग आ जाएगा। कहा जाता था कि अश्वेत लोगों की जीवात्मक योग्यता चाहे जितनी ऊँची हो लेकिन उनकी सांस्कृतिक विरामत बड़ी निरृष्ट है। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में वेस्ट इंडीज के श्वेत लोगों की सृष्टि भी उच्च स्तर की नहीं थी, उसकी अनैतिकता और कलात्मक निर्बलता के कारण अश्वेत लोग इस सृष्टि को नीची नजर से देखते थे, और उसकी पिछड़ी हुई टेकनीकों और व्यावसायिक गुणों के अभाव के कारण उन द्वीपों में निरन्तर निर्धनता कायम रही। फिर भी उस समय की अश्वेत सृष्टि से श्वेत लोगों की सृष्टि भ्रष्ट थी और यदि १८३८ में वहाँ व्यापक वयस्क मताधिकार लागू कर दिया गया होता तो वेस्ट इंडीज धाज की अपेक्षा बड़ी अधिक पिछड़ा हुआ होता। वैसे, हमारा विचारणीय विषय समता नहीं है बल्कि विशेषाधिकार वाले पदों के लिए लोगों के चुनाव करने की प्रणाली है। यदि कोई ऐसी प्रणाली निकाली जा सकती जिससे अपेक्षाकृत बुद्धिमान अश्वेतों को चुनकर उन्हें उत्तरदायित्व वाले पदों का विशेष प्रशिक्षण दिया जा सकता, तो यह नहीं कहा जा सकता कि उनके द्वीपों का जिन प्रचार सामान किया जा रहा था वे उससे बेहतर नहीं कर सकते थे। मार्टोमन शासकों ने इसी नीति का अनुसरण किया था, वे छोटी उम्र के ईसाई लोगों को चुनते थे और उन्हें उत्तरदायित्व के बड़े-बड़े पदों के लिए मुसलमानों के रूप में प्रशिक्षित करते थे, और अधिकांश इतिहासकारों ने इस साम्राज्य की सभ्यता का मूल इसी प्रणाली को बताया है। फ्रांस ने भी अपने प्रकीर्ण साम्राज्य के कुछ भागों में इसी प्रकार की नीतियाँ अपनायी हैं, उन्होंने चुने हुए अमीरियों को प्राचीन सृष्टि में प्रशिक्षित किया है और उनके लिए ऊँचे-से-ऊँचे पद तक पहुँचने के मार्ग मोक दिए हैं। इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यदि सामन्त-वर्ग और सामित वर्गों की सृष्टि अलग-अलग हो, तो भी सामित वर्ग के बच्चों को विशेष प्रशिक्षण देकर सर्वोच्च पदों तक जान देना लाभदायक हो होता। यह तो और भी जोर देकर कहा जा सकता है कि गमरूप समुदायों में, जिनके सभी सामाजिक वर्गों की सांस्कृतिक परंपराएँ बहुत-कुछ समान हो, उत्कृष्ट पदों के लिए उत्कृष्ट प्रशिक्षण वाले लोगों को चुनना तो ठीक है लेकिन

इन्हें ऊँचे वर्ग में जन्म लेने वाले लोगों के लिए सुरक्षित रखने का समर्थन नहीं किया जा सकता।

जब हम यह कहते हैं कि नीचे से नये लोग शामिल न करने पर उच्च वर्ग का अपकर्ष हो जाएगा तो हम यह मानकर चलते हैं कि उच्च वर्ग केवल अपनी ही समस्याओं को ऊँचे पद देते हैं। वैसे वे ऐसी व्यवस्था बन सकते हैं जिनमें बाकी गुजराइंग निकल जाए। उदाहरण के लिए दक्षिण अफ्रीका के रूप की श्वेत जनसंख्या पूरी जनसंख्या का लगभग दोन प्रतिशत है। इसलिए अगले ऊँचे पद केवल श्वेत लोगों के लिए ही खुले हों तो भी चुनाव की बाड़ी गुजराइंग नहीं है। बसमें कि नारे-ऊँ-नारे दोस लाख श्वेतों में पाठ्य हो। शायद इन प्रकार का समूह नया अपनी शक्ति बनाए रख सकता है—हर पीढ़ी में नये परिवार छोटी नभ पहुँचते रहें और कम समर्थ परिवार उन्हें आगे बढ़ने दें। उनके विपरीत वेस्ट इंडीज के श्वेत, जो कि वहाँ की जनसंख्या के तीन प्रतिशत से भी कम हैं। नैतत्व पर समर्थ एकाधिकार कायम नहीं रख सकते, नले ही शुरू में वे श्रेष्ठ औद्योगिक सम्पत्ति वाले लोग रहे हों, क्योंकि अगर एक परिवार में अममर्थ लोग पैदा होने लगे तो, संख्या में सीमित होने के कारण, उनका स्थान लेने के लिए निचले परिवारों के लोग उपलब्ध नहीं होंगे।

दूसरी ओर छोटा शानक-वर्ग आप्रवासन द्वारा भी अपने को बनाए रख सकता है। कम अल्पता में, जैसे कि उन क्रिटिक बन्धियों में जिनका शासन तो ब्रिटेन द्वारा होता है लेकिन वहाँ क्रिटिक लोग बनाये नहीं गए हर पीढ़ी में शानक-वर्ग नया चुनकर उन बन्धियों में से जाकर बनाया जाता है; यह वर्ग सब तक समाप्त रह सकता है जब तक समर्थ आप्रवासन उपलब्ध होते हैं।

उन शर्तों के साथ हम यह निर्णय दे सकते हैं कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी विकास सभी कायम रखा जा सकता है जबकि उत्तम-दायित्व के पद केवल थोड़े-थोड़े परिवारों के लोगों को ही न दिये जाएँ। यह बात सब को लागू होती है जब कि नया ग्रहण करते समय, विज्ञान की दृष्टि में, ये परिवार सर्वश्रेष्ठ रहे हो। उन समय स्थिति और भी खराब हो जाती है जब ये परिवार निष्पक्ष औद्योगिक सम्पत्ति वाले होते हैं, या फिर उनकी सामूहिक सम्पत्तियाँ विकास के अनुकूल नहीं होतीं। उच्च वर्गों की सम्पत्तियाँ अक्सर आदिष्ट विज्ञान के अनुकूल नहीं होतीं। नमाज के सर्वोच्च वर्ग में अनेक ऐसी चीजों के प्रति घृणा की भावना पाई जाती है जिन पर विज्ञान निर्भर है। हो सकता है उच्च वर्ग कायम और मितव्ययता की भावना को नीची नजर से देखता हो और अपना समय शिक्षा, गोरी घराने और नृत्य करने में बिताता हो और दिग्गो और साम्राज्यों की आनदनी से जीवन-निर्वाह करता हो; हो सकता

है उन्हें विद्या, विज्ञान और नयी टेक्नीको म कोई दिव्यशक्तो न हो, और यह भी सम्भव है कि वे योग्यता को हेतु मानकर वश का अधिक महत्त्व देने हो। यदि ऊँचे पद केवल एसी परम्पराओं में पले लागा का दिये जायें ता आर्थिक विकास नहीं होगा। लेकिन आर्थिकाश पूव-पूर्वावादी समाजो म अनिनात-वर्ग की परम्पराएँ ऐसी ही हैं।

इससे यह प्रश्न पैदा होता है कि आर्थिक विकास के लिए वर्तमान सामक-वर्ग को पदच्युत करन और उसके स्थान पर हमरे लागा को लान का आव-श्यकता पैदा हो सकती है। अपने दृष्टिकरण और परम्पराओं के कारण वर्त-मान, सामक-वर्ग विकास के प्रतिकूल मिद्र हो सकता है। अपनी आर्थिक मत्ता के आधारे का नाम मन्विकट देवकर भी वे लाग प्रतिकूल प्रवृत्ति अपना सकते हैं। विकास कभी-कभी वर्तमान आधारे को बल देता है लेकिन वह उन्हें कमजोर भी कर सकता है। इसका स्पष्ट उदाहरण उन वर्तमान सामक-वर्गों में पाया जाता है जिनकी आमदनी का जरिया भूमि या कृषि दाम-प्रचा है। आर्थिक विकास से भूमि का मूल्य बढ़ भी सकता है और घट भी सकता है। यदि मूल्य बढ़ने लगता है—खाने खादने या मिर्चाई-योजनाओं को कार्या-न्वित करने या धनवान पर्यटकों के लिए खेल का मैदान बनाने समय भूमि का मूल्य बढ़ता है—तो वर्तमान सामक-वर्ग विकास की गति म बाधक नहीं होता। लेकिन मजदूरों से सेती वर्गैरह के काम छुटवाकर उन्हें पंक्तिरुया में ले जाया जाए, या मत्ता काठ-वद्राथं आयात करने के लिए टैरिफ के रोषों को कम कर दिया जाए, या लोगों के अन्दर शिक्षा का प्रसार किया जाए (जिसे पनस्वरूप लोग अकसर यथापूर्व स्थिति में अम-तुष्ट हो जाते हैं) तो वर्तमान सामक-वर्ग इन योजनाओं के मार्ग में रोडे अटकाता है। अगर शिक्षा हम प्रसार किया जा रहा हो कि उससे वर्तमान सामक-वर्ग का धन कम हो रहा हो तो यह वर्ग उस विकास में गहायता नहीं देगा, बन्वि उसे रोजन के लिए प्रयत्न करने में अग्रणी रह्या। ऐसी परिस्थिति में विकास के लिए एक नया समूह जन्म लेगा, कानून, या टैरिफ, या शिक्षा-मदति, या विरजाम, या रहन-महन के तरीके बदलने की मत्ता प्राप्त करने के लिए पुराने और नवजात समूहों में मघर्ष होगा।

अंकि नये प्रकार की आर्थिक क्रियाओं के विकास का शुभाग्भ अक्षर हम नवज्ञान सामाजिक वर्ग द्वारा किया जाता है, इसलिए द्रुत आर्थिक विकास के कालों का विशेषण करने समय इतिहासकार हमेंगा वर्ग-रचना और वर्ग-वर्ति-शीलता का बनी गावधानी में अध्ययन करने हैं। अंके हम अध्ययन के कोई मोस्त-मादा ऐतिहासिक रूप मानने नहीं प्राता। यदि मजदूरों मत्ताओं के मिट्टेन और हम की तुलना की जाए ता हम देखेंगे कि मिट्टेन का समाज नहीं परिद्र

प्रगतिशील था क्योंकि जमींदारों के अभिजात-वर्गों को तुलना में मनु के व्यापारिक वर्ग को जितना सम्मान प्राप्त था उससे वही अधिक ब्रिटेन के सौदागरों और उद्योगपतियों को था, जिन्हें अपना चानुपेय दिव्यान के अनेक अवसर उपलब्ध थे। लेकिन अगर हम उन्नीसवीं शताब्दी के चीन और जापान की तुलना करें तो यह माननीय से नहीं कह सकते कि इन अर्थों में जापान का समाज चीन के समाज से अधिक प्रगतिशील था। दोनों देशों के व्यापारिक वर्गों को उपलब्ध अवसरों और उनकी हैनियों में कुछ अन्तर पाए जाते हैं लेकिन वे इतने नहीं हैं कि उन्हें उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम तृतीयभाग में हुए विकास के अन्तरो का कारण ठहराया जा सके। अगर जापान के उदाहरण को ब्रिटेन के उदाहरण में तुलना की जाए तो देखने में आता है कि वहाँ नई शताब्दियों की अवधि के दौरान धीरे-धीरे विकास करते हुए सामाजिक आधिपत्य प्राप्त करने वाले व्यापारिक वर्गों की अपेक्षा अभिजात-वर्गों की एक छोटी शाखा शान्तिकारी ढंग में उत्पन्न हुई है जो व्यापारिक वर्ग द्वारा सफलतापूर्वक औद्योगिक शान्ति कर देने के बाद उसे अपने आश्रय में ले लेती है। इससे यह प्रकट होता है कि आर्थिक परिणाम देने वाले सामाजिक परिवर्तन सदा व्यापारिक वर्गों द्वारा ही नहीं किये जाते—समकालीन प्रतिस्वाम्नाज्यवादी आन्दोलनों में राष्ट्रीय नेताओं और व्यापारिक नेताओं का अत्यन्त योगदान भी यही निश्चय करता है (नीचे ग्लॉब ५ (क) देखिए), लेकिन हमारे मुख्य विचारणीय विषय से, कि एक निरुद्ध समाज की अपेक्षा खुले हुए समाज में नये आर्थिक वर्गों को विकास करना अपेक्षाकृत सरल होता है, इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

आर्थिक विकास विरोध रूप से नीचे के वर्गों से लोगों को ऊपर उठाकर मध्य वर्गों का निर्माण करता है या उनमें विस्तार करता है, पर यह प्रक्रिया उन समाजों में नहीं हो सकती जहाँ ऊर्ध्व गतिशीलता के मार्ग में बाधाएँ होती हैं। मध्य वर्ग इसलिए बढ़ते हैं चूंकि विकास के माध्य-साध उत्पादन में ज्ञान की प्रयुक्ति और साधनों का अधिकाधिक समन्वय होता है। ज्ञान का संचय और उसकी प्रयुक्ति करने के लिए यह आवश्यक होता है कि उत्पादन में कुशल लोगों का अनुपात बढ़ाया जाए—जैसे, सभी प्रकार के इंजीनियर, वैज्ञानिक और एम. एम. लोग जिन्होंने कई वर्षों तक शिक्षण का प्रशिक्षण प्राप्त हो—साथ ही रहन-सहन के बढ़ते हुए स्तर के फलस्वरूप शान्ति के डॉक्टरों, अध्यापकों, सौजन्यों, और दूसरी कुशल सेवाओं की मांग होने लगती है। विकास के कारण समन्वय की आवश्यकता भी बढ़ जाती है। चूंकि विकास के माध्य-साध विवेकमत्ता बढ़ती है, और उत्पादन-बीजक में भी वृद्धि होती है, इसीलिए फार्मेशन, लेखाकार, प्रबन्धक और पर्यवेक्षण के पदों पर काम करने वाले

लोगों की आवश्यकता अधिक पड़ने लगती है। कालमात्रम की मदमें महत्वपूर्ण भविष्यवाणियों में से एक यह थी कि आर्थिक विकास के साथ-साथ पूंजीवादी भावित और श्रमिक की बीच की खाई बढ़ती चली जाएगी। लेकिन हुआ विपरीत इसमें उलटा है, और उमका कारण स्पष्ट है। कालमात्रम का विचार था कि सामाजिक स्तर-विन्यास पूरी तरह से उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के वितरण पर निर्भर है लेकिन हम देखते हैं कि मध्यवर्ग वर्गोंकी शान के सचय, विशेषज्ञता, ममत्वय और काम के पैमान की वृद्धि के कारण पैदा हुए उन कारणों का उत्पादन के साधनों के स्वामित्व में कोई सम्बन्ध नहीं है, और ये पूंजीवादी, समाजवादी या स्वामित्व की दूसरी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत समान रूप से श्रियाशील होते हैं।

इस प्रकार, हम उन समुदायों में जोरदार आर्थिक विकास हो सकने की आशा नहीं करते जिनमें दासता, जाति-प्रथा, विरादरी के विचार, सामाजिक वैभयप्रदर्शन, धार्मिक भेदभाव या और ऐसे ही कारणों में सामाजिक गतिशीलता में बाधाएँ प्राती हैं—हाँ, अगर विशेषाधिकार प्राप्त समूह कुल जन-गह्या को देखते हुए काफी बड़ा है या उमम प्राप्रवासी निरन्तर शामिल होने रहते हैं तो और बात है। लेकिन विशेषाधिकार-प्राप्त समूह के समय और उद्यमी बने रहने पर भी पूरे समुदाय की इस दृष्टि में तो हानि हानी ही है कि उनके निम्न वर्गों के प्रतिभावान लोगों का उपयोग नहीं हो पाता। बाकी बातें समान रहने पर, वह समुदाय जगमें कि गतिशीलता के मार्ग में बाधाएँ नहीं हैं उस समाज की अपेक्षा अधिक तेजी से विकास करेगा जिनके अधिकार सदस्यों को उन्नति के अवसर प्राप्त नहीं हैं।

व्यवहार में अपेक्षाकृत 'बुद्धिमान' अभिजात-वर्ग और अधिक नहीं तो अपनी सामर्थ्य बनाए रखने के लिए आवश्यक उदय गतिशीलता को स्वीकार करने हैं। हर वर्ग में थोड़ा धीमन दर्जे के और निम्न प्रतिभा वाले लोग होते हैं। 'बुद्धिमान' अभिजात वर्ग थोड़ा प्रतिभा वाले लोगों को प्रागे प्रागे और निरूट प्रतिभा वाले को नीचे निगजने देता है। सामर्थ्य बनाए रखने के लिए हम इनका ही आवश्यक है। साथ ही हम व्यवस्था से उच्च वर्ग के धीमन सदस्य निम्न वर्ग के धीमन सदस्यों में गुरझित भी बन रहते हैं। इस प्रकार समाज की यग-रचना बायम रहती है, क्योंकि निम्न वर्ग की धीमन प्रतिभा वाले लोग उच्च वर्ग की धीमन प्रतिभा वाले लोगों का स्थान नहीं ले पाते, लेकिन अभिजात-वर्ग में उच्छृष्ट लोगों को बराबर प्रागे बढ़ने की व्यवस्था रहती है। उच्च वर्गों की सामर्थ्य बनाए रखने के लिए खूबि थोड़ी-सी ही उदय गतिशीलता आवश्यक होती है, इसलिए वर्ग-रचना और आर्थिक विकास परस्पर प्रतिकूल नहीं है, बगल कि यह थोड़ी-सी गतिशीलता बनाए रखी

जाए। लेकिन सामाजिक शान्ति कायम रखना तब आसान होता है जब यह जाहिर हो कि यहूदियों या दृन्दियों या मजदूरों के सबसे होशियार वच्चे सर्वोच्च पदा पर निविष्ट पहुँच सकें हैं भले ही उनकी समस्या अपन वर्ग में विलकुल नगण्य हो और भले ही उनके वर्ग के अधिकांश औसत आदमी अपन ही स्थान पर बनाए रखे जाएँ। इन अपवादों को उन्नति के अवसर देने में अभिज्ञान-वर्ग चाहे जितनी महिष्णुता से काम ले लेकिन तथ्य यह है कि उद्वेग गतिशीलता के अवसरों पर रोक रहने में समुदाय के आर्थिक अवसर अवश्य कम हो जाते हैं।

इन सामान्य निष्कर्षों का एक आर्थिक अपवाद ध्यान देने लायक है। कुछ परिस्थितियों में किसी समूह के प्रति भेद-भाव का यह परिणाम भी हो सकता है कि वह उन क्षेत्रों में तेजी से उन्नति कर दिखाए जिनमें शामक-वर्ग को दिलचस्पी नहीं है। उदाहरण के लिए, अगर शामक वर्ग आर्थिक क्रिया को हेय समझता है, और साथ ही दूसरे समूह को वे काम नहीं करने देता जिन्हें शामक वर्ग ऊँचे काम समझता है—जैसे मैनिंग पेसे, मरकारी कामकाज और धार्मिक कर्म—तो नीचे नज़र से देखा जाने वाला समूह आर्थिक क्रिया के अवसरों का उपयोग करने में शक्ति लगाकर अपनी सामर्थ्य सिद्ध कर सकता है। इस मिलनिले में पश्चिमी यूरोप के यहूदियों का उदाहरण एकदम ध्यान में आता है। उन्होंने धनार्जन का काम ऐसे दिनों में हाथ में लिया था जब जीवनयापन का यह तरीका घृणा की दृष्टि से देखा जाता था, लेकिन यहूदियों के लिए शायद यही एक काम बच रहा था। अगर यहूदियों के विरुद्ध भेदभाव समाप्त कर दिए जाते तो वे बिना किसी बाधा के और पेसों, विज्ञान, कृषि, सेना आदि सामान्य जीविकाओं में अपनी योग्यता सिद्ध कर सकते थे, और तब वे दूसरे समूहों की अपेक्षा धनार्जन में अधिक कुशल शायद बन रहते, और प्रतिक्रिया-स्वरूप शायद वे भी इस काम को घृणा की दृष्टि से देखने लगते और इनके अनम्यस्त हो जाते। इसी प्रकार, दूसरे धर्म वाले होने के कारण पारसी लोग भारत के शासक-वर्ग में शामिल न हो सके, और वे आर्थिक क्रिया में जुट गए, और इस क्षेत्र में भारतीयों के मुकाबले अधिक कुशल हो गए। यह बात हम छोटे-छोटे आप्रवासी समूहों में भी देख सकते हैं जो अपन धर्म या जाति या किसी और अन्तर के कारण न तो ऊपर के वर्ग में खप पाते हैं और न निम्न वर्गों में शामिल हो पाते हैं, और अपने ही ढंग में जीविकोपार्जन के काम में लग जाते हैं—दक्षिण-पूर्वी एशिया के चीनी लोग इसका सर्वविदित उदाहरण हैं। आप्रवासियों और उनकी समस्याओं के बारे में हम अध्याय ६ में अधिक चर्चा करेंगे।

(ग) बाजारों की स्वाधीनता—आर्थिक क्रिया के लिए यह आवश्यक

है कि लोग द्रव्य देकर साधनों का उपयोग करने और इच्छानुसूल व्यापार करने के लिए स्वाधीन हो—ये निजी रूप से व्यापार करे या लोक-व्यवसायी के रूप में, यह एक भ्रमलक्ष्य समस्या है जिस पर हमने ऊपर पृष्ठ ३ (क) में विचार कर लिया है। यहाँ हम पहले साधना तक पहुँच और बाजारों तक पहुँच के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों पर विचार करेंगे।

साधनों तक पहुँच से हमारा आशय यह है कि उद्यमकर्ता को उत्पादन के साधन गरीबों, उधार लेने, या किराये पर लेने की आवश्यकता होनी चाहिए, चूँकि प्रादमों केवल अपने ही श्रम भूमि और पूँजी का उपयोग कर सकेगा तो विनोदता और बड़े पैमाने के उद्यम के साथ नहीं उठाए जा सकेंगे। इस पृष्ठ में सिवाय इस उल्लेख के कि यदि धर्म या प्रथा व्याज पर एपा उठाने के काम पर प्रतिबन्ध लगाएँ तो उमसे विक्रम की गति रहती है, हम पूँजी के बारे में अधिक कुछ नहीं कहेंगे, पूँजी की मास्थानिक समस्याएँ अध्याय ५ के लिए छोड़ दी गई हैं। इस पृष्ठ में हम भूमि और श्रम की पण्यता पर विचार करेंगे।

भूमि तक पहुँच होनी आवश्यक है। भूमि का माफीपट्टे पर मिलना ही सदा आवश्यक नहीं है, लेकिन लम्बी अवधि के लिए सुरक्षित पट्टे पर मिलना तो सम्भव होना ही चाहिए, विशेषकर यदि किसी उद्यम में दमरतो, गिवाई-बायों या गनिज-मुरगों आदि के रूप में भूमि पर लम्बी अवधि के लिए पूँजी-निवेश करना पड़ता हो। भू-धारणाधिकार की अधिप्राप्त प्रणालियों में भूमि उपलब्ध कराने की व्यवस्था होती है, इसीलिए अक्सर उमसे साथ साथ लगी रहती है। उदाहरण के लिए, जैसा कि हम में है लोगों को विधित या वस्तुतः जमीन दिये जाने की मनाही हो सकती है और यह केवल सामूहिक समझौते को ही प्राप्त हो सकती है या 'अजनबियों' को भूमि देने में इन्कार किया जा सकता है। य अजनबी आप्रवासी हो सकते हैं या किसी एक जाति या मत के लोग हो सकते हैं, या जैसा कि भारतमें के कुछ हिस्सों में है 'गैर-वृषक' भी हो सकते हैं (इस प्रकार की व्यवस्था का उद्देश्य महाजनों को सिमानों की जमीन गरीबों से राखना है)। विशेषकर अजनब भूमि के उपयोग की भोगोक्ति इच्छाकेबन्दी की जा रही है और यह भी सम्भव है कि 'नगर और देहात आयोजन' के नाम पर जमीन के उपयोग के बारे में प्रतिबन्ध लगा दिए जाएँ। या पट्टेदारों पर भी प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं, कुछ देशों में जमीन माफीपट्टे पर नहीं गरीबी जा सकती, उमके केवल पट्टे पर दिया जा सकता है, और जमीन के पट्टे की मियाद इतनी मुश्किल नहीं होती कि उम पर कुछ निश्चित प्रकार के 'जमीन पूँजी निवेश' किये जा सकें। अक्सर भूमि के स्वामिन्ध्व का निर्धारण किया जा मने तो

नी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। आधुनिक देशों में मानवसृजारी-सर्वेक्षण और भूमि-रजिस्ट्रियों की व्यवस्था है लेकिन अनेक स्थान ऐसे हैं जहाँ जमीन स्वामी दान वाले का उमकी हटो या बचन वाले का स्वामित्व का लेकर दाद में मुकदमेबाजी करनी पड़ती है। आर्थिक विकास के लिए निर्विवाद स्वामित्व बहुत आवश्यक है।

यद्यपि अधिकांश प्रणालियाँ इस प्रकार की व्यवस्था है कि भूमि के मालिक अगर चाहें तो अपनी जमीन बच नचन हैं लेकिन जमीन को बच दान या किराये पर उठाने का मामला में भिन्न भिन्न समुदाय के लोग की प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न पाई जाती हैं। भूमि स्वामित्व अक्सर पारिवारिक प्रतिष्ठा के साथ जुड़ा रहता है जिसके कारण लोग पीढ़ियों में अपने परिवार के स्वामित्व में चली आती जमीन को और जिसमें कमी-कमी उनके पुरखे भी गड़े हाने हैं छोड़ने के लिए तैयार नहीं हाने। भूमि-स्वामित्व सामाजिक और राजनीतिक हैसियत के साथ भी जुड़ा होता है, जिसके कारण लोग इसे मुख्यकर उत्पादन का साधन या धन का स्रोत नहीं मानते, बल्कि हैसियत का चिह्न समझते हैं, और उनकी धारणा होती है कि अगर भूमि पर प्रतिवर्ष काँची खर्च भी उठाना पड़े तो भी उस पर स्वामित्व बनाए रखना चाहिए। इस प्रकार की धारणाएँ गांधी उन देशों में ज्यादा प्रचलित होती हैं जहाँ भूमि का वितरण बड़ा असमान है, उदाहरण के लिए जहाँ सारी भूमि एक छोटे से अमीर वर्ग के स्वामित्व में होती है, वहाँ भूमि स्वामी-दान या किराये पर लेना अक्सर बड़ा आसान होता है जहाँ भूमि का स्वामित्व बहुत लोगों में बँटा रहता है। भूमि-स्वामित्व के साथ पारिवारिक या राजनीतिक भावनाओं के जुड़ जाने से उत्पादन के साधन के रूप में भूमि की गतिशीलता कम हो जाती है और इससे आर्थिक विकास में बाधा आती है। लोगों की ऐसी भावनाओं के कारण ही कुछ सरकारों को भावजनिक कामों या रेलों के लिए, या बड़ी आस्तियों को छोटे फार्मों में या छोटे फार्मों को बड़ी आस्तियों में बदलने के लिए भूमि की अनिवार्य वित्री लागू करते समय अपने अधिकारों का प्रयोग करना पड़ा है, इसी प्रकार चक्करी की योजनाओं या नगर-आयोजन की योजनाओं के निष्कर्ष में भूमि के अनिवार्य विनिमय पर अमल कराने के लिए भी अधिकारों का उपयोग करना पड़ा है। संसार में गांधी कोई भी देश ऐसा नहीं है जहाँ उत्पादन के साधन के रूप में ही भूमि का मूल्य अधिकतर उसे खरीदा-खेचा जाता हो और वहाँ उत्पादन का बढाने वाली योजनाओं का मार्ग में आधिकारिक कारण कठिनाई उपस्थित न करते हों।

जहाँ भूमि मुक्त होते से प्राकृतिक साधनों में कमी आने का खतरा हो



वहाँ भी सामाजिक हित को ध्यान में रखकर जमीन की प्राप्यता पर अनुसंधान लगाया जा सकता है। भूमि के कुछ उपयोग ऐसे हैं जो निश्चय ही प्राकृतिक साधनों का हानि करते हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण ग्यान खोदने का काम है, दूसरा उदाहरण उपजाऊ जमीन पर हवाई अड्डों का निर्माण या स्थान की सुन्दरता का नष्ट करने वाले कुरूप ढाँचों का पडा करना है। भूमि के कुछ दूसरे उपयोग भी विनाशक हो सकते हैं लेकिन एसा न जाना अनिवार्य नहीं है, येती इस प्रकार की जा सकती है जिसमें जमीन का उपजाऊपन बना रहे, और ख़ूबो बाटने का काम भी जगहों को नष्ट किए बिना किया जा सकता है, लेकिन भूमि का उपयोग करते वालों को न तो हमेशा टकनी दिलचस्पी होती है और न इनकी शक्ति या दूरदर्शिता होती है कि वे संरक्षण के उपायों पर भी ध्यान करते हैं। फिर भी इन आधारों पर जमीन देने से मना करना मदा मार्वाजनिक हित में नहीं होता। उदाहरण के लिए ग्यान खोदना मार्वाजनिक हित के लिए बाधनीय हो सकता है, चूंकि उगने प्राप्त घास और माधन (स्कून आदि) उत्पन्न करने में लगाई जा सकती है, या जमीन के किमी टुकड़े पर येनी की अपेक्षा हवाई अड्डा बनाना मार्वाजनिक दृष्टि में अधिक उपयोगी हो सकता है। लेकिन इन आधारों पर जमीन देने की मनाही अनिवार्य रूप में विकास के प्रतिबल नहीं होती। इसके विपरीत भूमि का नियन्त्रण विकास के लिए मूल रूप में आवश्यक हो सकता है। चूंकि बहुत से समुदायों को केवल इसीलिए बुरे दिन देखने पड़े हैं कि उन्होंने जमीन समाप्त करके, या जगह नष्ट करके, या दूसरी परिस्थितियाँ बनाने में घास का पुनर्निवेश किए बिना ही अपने गनिज-वसाखं समाप्त करके अपने प्राकृतिक साधन ख़राब कर लिए हैं। (देखिए अध्याय ६, सख १ (ग))

भूमि के बाद अब हम धर्म तक पहुँच की चर्चा करेंगे। अगर बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभ उठाने हैं तो धर्मियों की बड़ी शक्ति का सामूहिक, सरकारी या निजी उद्यमों के रूप में केन्द्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत संगठित करना होगा। और, चूंकि विकास के साथ परिवर्तन स्वाभाविक है इसलिए यह भी आवश्यक है कि धर्मिक गतिशील होने चाहिए—वे एक उद्यम में दूसरे उद्यम में आते जाते रहे। सत्तावादी राज्यों में इस प्रकार की गतिशीलता लागू करने के लिए प्रशासनिक आदेश जारी किए जा सकते हैं जिनमें धर्मियों को आदेश दिया जा सकता है कि उन्हें कहीं काम करना है। प्रजातान्त्रिक समाज भी मुद्र-बान में इस प्रकार के नियम लागू करते हैं। वैसे, मानिसान में प्रजातान्त्रिक समाज बाजार की प्रतियोगिता पर निर्भर रहने के लिए राज्य में येनी धर्मिक होने हैं वे नियंत्रित किए जाते हैं, और जिन उद्यमों की आवश्यकता होती है वे अपनी-अपनी मजदूरी की करें वगैरे।

के आधार पर श्रमिकों को काम पर लाते हैं।

व्यवहार में केवल मजदूरी पर आश्रित श्रमिक ही गतिशील होते हैं। ऐसे अनुदाय में श्रमिक मिलना बहुत कठिन होता है जहाँ हर आदमी के पास अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए काफ़ी जमीन होती है। इसलिए आर्थिक विकास के लिए आवश्यक शर्तों में एक भूमिहीन वर्ग की रचना भी एक शर्त है। इस वर्ग की रचना विज्ञानों से उनकी जमीन छीनकर की जा सकती है कुछ सीमा तक यही परिणाम ब्रिटेन के हदबन्दी आन्दोलन का था, भूमिहीन वर्ग की रचना अधिक आवादी के परिणामस्वरूप भी हो सकती है। यह रचना केवल पूंजीवादी देश के लिए ही आवश्यक हो, ऐसा नहीं है। बड़े पैमाने के सगठन पर आधारित कोई भी प्रणाली, जिसमें परिवर्तन निहित होता है, मजदूरों से जीविकोपार्जन करने वाले वर्ग पर निर्भर होनी चाहिए, अन्यथा आर्थिक विकास नहीं हो सकेगा। किसी भी परिस्थिति में प्रति व्यक्ति ऊँची आय और अधिक मात्रा भूमि पर आश्रित आवादी जिस प्रकार श्रमिकों की सपनाई की दृष्टि से एक-दूसरे के प्रतिवृत्त पड़ते हैं, उन्हीं प्रकार श्रमिकों की माँग की दृष्टि से भी परस्पर प्रतिवृत्त हैं। बात यह है कि प्रति व्यक्ति अधिक आय होने से उसका एक छोटा-सा अन्न ही भोजन पर खर्च होता है, या दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि आवादी के एक छोटे-से अन्न को ही खेती करने की आवश्यकता होती है। अनपेक्षा-जैसे कुछ देय में यदि आवादी का छज हिस्सा खेती का काम करना रहे तो देश की पूरी जनसंख्या के लिए अनाज जुटाया जा सकता है। यदि कोई देश विनिर्मित वस्तुओं के आयात के बढने अपने कृषि-पदार्थों का निर्यात करके ही जीविकोपार्जन करता है तो भी आर्थिक सतता के वर्तमान उच्च स्तरों को देखते हुए उसे अपनी जनसंख्या के एक-तिहाई से अधिक भाग को कृषि-कार्य पर नहीं लगाना पड़ेगा। लोगों की भूमि से पृथक् करने का जो विरोध हुआ है उससे राजनीतिक आवेश के लिए आधार और भूमि के प्रति आसक्ति प्रकट करने वाली काव्य-भावनाओं के लिए उपयोगी सामग्री प्रवर्धित होती है, लेकिन सम्पत्तियों तो उस अनुदाय को अकुशल ही कहेंगे जिसे अपनी जनसंख्या के अधिकांश को भूमि पर लगाए रखना आवश्यक प्रतीत होता हो। यह बात ध्यान देने योग्य है कि लोगों की भूमि से पृथक् करने के विरुद्ध जो आवाजें उठायी गई हैं उनमें से अधिकांश की सिकायत सर्व-हारा वर्ग के सगठन के विरुद्ध है। जैसे टैक्स लगाकर अमीरियों को अपने-आपके मने निकलकर खानों में काम करने के लिए बाध्य किए जाने से उत्पादन में भारी वृद्धि हुई है, इस वृद्धि को हम किसी भी मानक के अनुसार मापकर देख सकते हैं, इस वृद्धि के बावजूद यह सम्भव है कि अधिकांश अमीरों की दुर्नी हो, उनकी जमीनें बिना खेती किए पड़ी हो, उनके बीबी-बच्चे वर्ग के अधिकांश

समय आयेले और भूले रहते हो और उनके कर्बल का मगडन अपनी नैतिक आचरण सहिता-सहित घुरी तरह छिन भिन्न हो गया हो । जैसा कि हम परि-शिष्ट मे वहेगे उत्पादन में वृद्धि और सुख या कल्याण में वृद्धि मिलतुल एक ही चीज नहीं है । सौभाग्य से ये हमेसा एउ दूसरे के प्रतिरूल भी नहीं हती ।

श्रम की प्राप्यता में केवल भूमि का विवेचित्र स्वामित्व ही बाधा नहीं है बरिक् दाम-प्रथा, कृषि दामत्व, त्रिरादरी, जानि-मम्पन्धो पूर्वाग्रह, या धार्मिक भेद-भाव-जैसे सस्थान भी है जो लोगो को किन्ही विशेष धन्धो या मानिकों में बांधे रहते है, वे सस्थान भी श्रम की प्राप्यता में बाधन हैं जो व्यक्ति को अधिक पारिश्रमिक वाला काम ढूँढन में प्रेरणा लेने से रोकन हैं उदाहरण के लिए व्यापक परिवार-प्रथा, या उदार सामाजिक सुरक्षा व्यवस्थाएँ । इन सभी सस्थानो से श्रम की गतिशीलता कम होती है, और नयो कर्मों या नये उद्योगों के स्थापित होने या विकसित होन में कठिनाई होती है । यही कारण है कि नये उद्योगो के प्रवर्तन, चाहे वे सरकारे हो या निजी व्यक्ति, श्रमर इन सस्थानो के विरोधी होते है । कृषि-दासो का सबसे अच्छा मित्र वह मालिक होता है जो कोई नया उद्योग चलाना चाहता है, लेकिन उनके लिए श्रमिक नहीं जुटा पाता । दक्षिण अफ्रीका सभ या अमरीका के दक्षिणी राज्यों में नोब्रो लोगो की स्थिति बहुत जल्दी अच्छी हो सकती है यदि उन स्थाना में फेस्टरी उद्योगो का तेजी से विकास कर दिया जाए अन्य सभी उपायो की अपेक्षा यह उपाय सबसे ज्यादा कारगर होगा । यह भी एक कारण है जिसमें सक्रियशाली वर्ग गदा ही धार्मिक विकास का विरोध करत है चूंकि हमें परिणामस्वरूप पेड़ की जिस टाल पर ये लोग बैठे हैं उसी क कटने की नोयत मा जाती है ।

पूँजीवाद के आरम्भिक दिनों में श्रम की प्राप्यता पर राज्य का नियमन नहीं था, दासत्व या उनके अनुकरणो को छोडकर और जिन तरह में भी मालिक और श्रमिक चाहते थे एउ-दूसरे के साथ सविदा करन के लिए स्वतन्त्र थे । लेकिन अब काम की सविदा अन्तर दलों में बँधी हुंती है । सरकार की ओर से कई सविदाएँ नियिद्ध हैं उदाहरण के लिए बच्चों को रोडगार देना, या स्त्रियो को गान में काम पर लगाना रोक दिया गया है । कुछ दलों में काम के अधिकतम घण्टे या ग्यूनतम मजदूरी भी निर्धारित हैं । तिशुना को श्रमिक वा भी नियमन दिया जा सकता है । इसी प्रकार, मजदूर सघों के अधिकारो को सरक्षण दिया जा सकता है, और इसी प्रकार के और काम भी किए जा सकते हैं । कुछ नियम ऐसे हैं जिनमें धार्मिक विराम में बाधा आती है, लेकिन केवल इसी आधार पर उन्हें घुरा नहीं बनाया जा सकता ।

अब हम उपभक्तता तक पहुँच की समस्या पर विचार करेंगे । धार्मिक

हैं, कीमत के सम्बन्ध में बरतार होने हैं, सामाजिक होने हैं अन्वय तादृशमेव जारी किये जाने हैं और बाजार में प्रतियोगिता को बम करने के लिए दूमरी सभी सम्भव सरकीचे लड़ाई जाती है।

हालांकि यह गती है कि आर्थिक विकास परिवर्तन लाकर प्रतियोगिता का प्रतिरोध करने की शक्ति का बढ़ाता है लेकिन साथ ही यह भी गती है कि जो देश जितनी ही तेजी से आर्थिक विकास कर रहे होते हैं वहाँ उतनी ही अधिक तुल्यतर प्रतियोगिता होती है। इसका एक कारण यह भी है कि स्व-गति समाजों की अथवा विकासशील समाजों में हानि को रोकना अधिक आसान होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी उद्योग में अधिक पूँजी-निवेश कर देता है तो उस कुछ समय तक हानि उठानी पड़ सकती है, लेकिन समय में दीर्घकालीन वृद्धि हो रही होगी तो धीरे-धीरे माल गुलाई के बराबर हो जायगा और समय जितनी तेजी में बढ़ रही होगी इतने ही समय में कम हानि की स्थिति समाप्त हो जायगी। इसी प्रकार, अगर प्रतियोगिता में परिवर्तन होने के कारण किसी उद्योग में लगा व्यक्ति बेरोजगार हो जाता है तो विकासशील अर्थ-व्यवस्था में उसे वही दूमरी जगह प्राप्तानी में रोजगार मिल सकता है। तात्पर्य यह है कि एक और जहाँ विकास लोगों में जुम्बिन पैदा करता है, और उनके एक ही स्थान पर बने रहने के अवसर बम कर देता है, वहाँ दूमरी और यह निरन्तर ऐसे नये अवसर पैदा करता रहता है कि गतिस्व समाजों की तुलना में विकासशील समाजों में एकाधिकारी सरकार की आवश्यकता कम महसूस होती है। यही नहीं, जिन समाजों में आर्थिक विकास हो रहा होता है वहाँ ही एकाधिकार निश्चय ही हानिकारक होता है, और लोग उसका प्रतिरोध करने की भी काफी कोशिश करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्रुत आर्थिक विकास की अवस्था में अधिकार जनता प्रतियोगिता की भावना के पक्ष में होती है और सरकार द्वारा प्रतियोगिताओं को सरक्षण देने के जो प्रयत्न किये जाते हैं उनमें गहमन होती है।

दूमरे आर्थिक क्षेत्रों की अथवा आर्थिक विकास के क्षेत्र में एकाधिकार की हानियाँ अधिक स्पष्ट हैं। एकाधिकार के बारे में अर्थशास्त्रियों ने अब तक जो कुछ लिखा है उसका अधिकांश तम मुँह मुँह को ध्यान में रखकर लिखा गया है जिसका महत्व सामान्य लोगों को स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आता है, अर्थशास्त्रियों का आर्थिक मुख्यतः 'सामान्य' वाक्यांश पर पड़ोस वाले एकाधिकार के प्रभाव के बारे में है जो उन 'सामान्य' आयुर्वातिकाओं को छिन-भिन्न कर देता है जिनके आधार पर सामान्य का वितरण 'होना चाहिए'। सामान्य जनता असा समझदार होती है,

और उनकी अधिक दिव्यता गवाधिकार के उन परिणामों में होती है जो आय के वितरण को प्रभावित करने हैं। यह विषय ऐसा है जिसे एकाधिकार से मान उठाने वाले और उनसे शक्ति उठाने वाले लोगों के बीच व्यक्तिगत अधिमानों के प्रश्न से अलग करना सरल नहीं है। इस प्रकार अर्थ-आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाला ही एकाधिकार की चर्चा की जाए तो यह या तो अस्पष्ट होगी और आम जनता के काम की नहीं होगी या अलग-वास्तविक होगी तो समाज द्वारा एक समूह की अपेक्षा दूसरे समूह को दिये जाने वाले अधिमानों के अनिश्चित और कोई समाधान उसमें नहीं निश्चित मकेगा। उदाहरण के लिए अपनी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ लोग भूमि का एकाधिकार का उचित समर्थन हैं लेकिन व्यवसायियों के एकाधिकार के विरुद्ध शक्त है कुछ न्यायद्वारा व्यापारियों का एकाधिकार पसन्द करने हैं लेकिन विनिर्माताओं के एकाधिकार को पसन्द नहीं करते, कुछ लोग किसानों का एकाधिकार ठीक समझते हैं, लेकिन उद्योगपतियों का एकाधिकार खराब मानते हैं कुछ लोग पुस्तक-विक्रेताओं के एकाधिकार का पक्ष लेते हैं, लेकिन जर्जरों के एकाधिकार को हानिकार मानते हैं, आदि-आदि। एकाधिकार के बारे में लोगों का दृष्टिकोण अगर कुछ होता भी है तो शायद ऐसा ही होता है कि वे अपने एकाधिकारों की अपेक्षा अच्छे एकाधिकारों को पसन्द करते हैं। इसका शायद इस प्रकार व्यक्त करना सबसे सही मानना होता है कि लोग दुर्बलों के एकाधिकार का पक्ष लेते हैं और सबको के एकाधिकार को पसन्द नहीं करते, हालाँकि कुछ लोग इसे दूसरी तरफ भी व्यक्त करते हैं जिसमें यह भी शामिल होता है कि लोग कार्यकुशल व्यक्तियों का एकाधिकार अच्छा मानते हैं और अकुशल लोगों के एकाधिकार का विरोध करते हैं।

एकाधिकार और आय के वितरण पर पड़ने वाले उनके प्रभाव के प्रति लोगों के दृष्टिकोण चाहे जितने भिन्न हों, लेकिन आर्थिक विकास के अन्तर्गत समाज में अधिक आय को इस बात से महत्व पाए जाएँगे कि आर्थिक विकास का बढ़ावा देने वाले एकाधिकार अच्छे हैं और विकास में बाधक एकाधिकार बुरे हैं। इसका कारण यह है कि विकास के अन्तर्गत अधिक आय लोगों का यह आम विश्वास होता है कि विकास के फलस्वरूप उत्पन्न नयी सम्भावनाएँ राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण से उत्पन्न सम्भावनाओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। यदि प्रति व्यक्ति आय दो प्रतिशत प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ रही हो तो दस वर्ष में हर व्यक्ति की आर्थिक स्थिति बार्डेन प्रतिशत मुद्रा लागू—आर्थिक विकास बिना बिना ही लोगों में आय का पुनर्वितरण करने के बिना भी उपाय से इनके अर्द्ध परिणाम नहीं निश्चित

सकते। इस बात को भी ध्यान में रखने पर कि आर्थिक विकास स्वयं प्रति-योगिताजन्य हानियों से लोगों की रक्षा करता है यह बात आगामी के समय में साजानी है कि गतिरुद्ध समाजों की अपेक्षा गतिशील समाजों में प्रतियोगिता का अधिक स्वागत क्यों किया जाता है।

हम यह नहीं कहते कि एकाधिकार सदा ही आर्थिक विकास के प्रतिगुण होता है बल्कि शक्तिवादी लेखक और उनके बाद के एकाधिकार-समर्थक श्रमशास्त्रियों ने एकाधिकार का प्रबल समर्थन हमी आधार पर किया है कि आर्थिक विकास में एकाधिकार का योग अनिवार्य है। उन लोगों ने अपने तर्कों की जो सीमाएँ निर्धारित कर ली थीं उनसे कारण ही थे तब और प्रबल हो गए। एकाधिकार के पक्ष में उनके तर्कों के दो पहलू हैं। पहला तो यह है कि बड़े पैमाने के कुछ कार्यों को बुजलतापूर्वक चलाने के लिए एकाधिकार आवश्यक है। और दूसरा पहलू यह है कि विकास के आरम्भिक चरणों में एकाधिकार आवश्यक है।

यदि कोई उद्योग ऐसा है जिसमें कम की आन्तरिक मितव्ययिताओं के कारण उत्पादन बढ़ाने के माध्यमों से आसानी प्राप्त होती जाती है—उत्पादन उसी सीमा तक बढ़ाया जा सकता है जितना कि बाजार में उपलब्ध—तो कई फर्मों की अपेक्षा एक फर्म चलाना सस्ता पड़ेगा। लेकिन एकाधिकार के पक्ष में केवल यही बात निर्धारक नहीं है क्योंकि हमें यह भी पता है कि एकाधिकार के कारण पहले और उद्योग की भावना का ह्रास होता है। इसलिए अगर बड़े पैमाने के काम के लिए कोई मांग न हो तो क्षेत्रीयता में यही मर्यादा रहेगी कि यद्यपि उद्योग को प्रतियोगिता के माध्यम पर चलने दिया जाए, एकाधिकार के संरक्षण की भाँति में अन्ततः गतिरोध पैदा करने वाली प्रस्थायी प्रथम-व्यवस्था गन्ती करने में प्रतियोगिता की स्थिति नहीं अच्छा है। वैसे, हर मामले में पक्षापक्ष देखकर ही निर्णय करना चाहिए।

यदि बड़े पैमाने पर उत्पादन में हानि या तो लाभ बहुत काफी होवे तो प्रतियोगिता की प्रतिया ही एकाधिकार को जन्म दे रही। ऐसी स्थिति में बड़ी फर्म छोटी फर्मों को बाजार में निवाल बाहर करेगी—यह उन छोटी फर्मों पर लागू नहीं होगा जो इस प्रकार की चीजों को बेचने या ऐसी सेवाएँ बुझाने में विशेषज्ञ हैं जिनका बाजार सीमित होता है। जैसे कुछ ऐसी भी चीजें हैं जिनमें शुरू में ही एक फर्म का होना मर्यादा पड़ता है, उदाहरण के लिए गीम, या बिजली, या पानी के वितरण का प्रबन्ध करने वाली फर्म। ऐसे भी अनेक ऐसे हैं जिनमें किसी बड़ी फर्म के पड़े होने से नहीं बल्कि एक-दूसरे की प्रतियोगिता में चलने वाली दो या अधिक फर्मों के बीच संघर्ष हो जाने में प्रतियोगिता सामान्य हो जाती है। इस प्रकार के कारणों के परिणामस्वरूप कभी कभी

उत्पादन या वितरण की लागत में भी कमी हो जाती है। हालांकि इन करारों का मुख्य उद्देश्य या मुख्य प्रभाव शायद ही ऐसा होता है, उनका उद्देश्य और प्रभाव तो कीमतेँ बढ़ाकर उपभोक्ताओं का धन उत्पादकों की जेब में पहुँचाना होता है। इन करारों में कभी-कभी लागत में कमी हा जाती है विशेषकर तब जबकि इनके परिणामस्वरूप मानकीकरण या मरलीकरण हा जाता है। बात यह है कि ऐसे करारों के अभाव में कभी-कभी फर्मों का बाजार में अपनी स्थिति सुरक्षित रखने के लिए अनेक आकारों और रंग-रूपा की चीजें बनानी पड़ती हैं। अगर म यदि ऐसी व्यवस्था हा कि हर फर्म केवल थोड़े-से ही रंग-रूप की चीजें बनाने में विशेषज्ञ रहगी, तो इससे उत्पादन की लागत कम हो जाएगी। अगर हो जाने से बाजार में आने वाले रंग-रूपों की कुल संख्या में भी कमी हा सकती है, और बाजार को भौगोलिक आधार पर बाँटकर विपणन और यानामात का खर्चा भी कम किया जा सकता है। ऐसे करार, जिनका उद्देश्य लागत या कीमत कम करना होता है केवल अपवाद-स्वरूप ही पाए जाते हैं, पर इस प्रकार के कुछ करार हैं अवश्य।

बड़े आकार की फर्मों के लाभ का दूसरा पहलू यह है कि एकाधिकार विकास के लिए आवश्यक हैं, क्योंकि आजकल अनुसन्धान और विकास के लिए जिनके अधिक धन की आवश्यकता होती है वह केवल एकाधिकारी ही वहन कर सकते हैं। इस तर्क में कई उलझनें हैं जिनको अलग अलग देखना पड़ेगा। पहले तो यह सच नहीं है कि सभी नयी प्रक्रियाओं में अधिक खर्च की आवश्यकता होती है। आज भी थोड़े साधनों वाले लोग पढ़ता और अनुकूलन की पुरानी पद्धति का बखूबी प्रयोग करते हैं, और छोटी फर्मों काफी सीमा तक नवीन प्रक्रिया अमल में लाती हैं। खर्चीली खोजें बड़ी होती हैं जिनमें उच्च प्रशिक्षण-प्राप्त रसायनिकों या भौतिकशास्त्रियों के दल लगाने पड़ते हैं और अनुसन्धानकर्त्ताओं के ये दल अधिकतर रसायन और विद्युत्-दुर्जीनिपरी उद्योगों में ही देखने में आते हैं। इस्पात के निर्माण-जैसे कुछ दूसरे उद्योगों में भी उच्च प्रशिक्षण-प्राप्त अनुसन्धानकर्त्ता-दलों का रखना उपयुक्त रहता है, लेकिन बाकी अधिकांश उद्योगों में यांत्रिक शक्ति, और पट्टे एवं उर्वर मन्त्रिष्क आविष्कार के लिए सर्वोत्तम उपस्कर हैं। दूसरी बात यह है कि एकाधिकार और फर्मों का आकार एक ही चीज नहीं है। ग्राटेल या बाजार को बाँटने के सम्मन्धने आदि एकाधिकारी करार सम्बद्ध फर्मों के आकार पर निर्भर नहीं होते, और इनके अन्तर्गत समुक्त अनुसन्धान की मुविधा भी अक्सर नहीं दी जाती। इसलिए यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि कुछ उद्योगों में इस प्रकार के अनुसन्धान-कार्य होने हैं जिनका खर्चा उठाना छोटी या बीच के आकार की फर्मों के लिए सम्भव नहीं होता। अतः इन उद्योगों में बड़ी फर्मों की नवीन प्रक्रिया

लागू करना लाभकर रहता है। तीसरे, यदि अनुगन्धेत्सु महेश्वरिता के आधार पर, या सरकारी प्रयोगशालाओं में किया जाने लगे, जैसा कि रिट्रिब्यूट केंद्र कुछ विनिर्माण-उद्योगों में, और अधिकांश देशों में कृषि के बारे में किया जाता है, तो बड़ी फर्मों की यह लाभजनक स्थिति सम्पादित हो सकती है। यह सही है कि अनुगन्धान के लिए स्थापित बाहरी संगठन फर्मों के अपने अनुगन्धान-विभाग या स्थान पुरी तरह नहीं ले सकती क्योंकि आन्तरिक विभाग की फर्मों की दैनिक समस्याओं की अधिक जानकारी होती है और वह अपने बाय को तदनुकूल रूप दे सकता है। दूसरी ओर यह भी है कि दैनिक समस्याओं के समाधान के अधिक गर्वोंके अनुगन्धान की आवश्यकता नहीं होती, अधिक गर्वोंके लो मौलिक लिए दीर्घकालीन अनुगन्धान कार्य है जो विज्ञान के बढ़ते हुए चरणों पर निर्भर होता है और सहकारिता के आधार पर चलने वाली या सरकार द्वारा चलाई जाने वाली प्रयोगशालाओं में भी उतनी ही अच्छी तरह किया जा सकता है, बल्कि सहकारी या सरकारी प्रयोगशालाओं का एक प्रतिरिक्त लाभ यह भी होता है कि अनुगन्धान के परिणामों की जानकारी अनेकशास्त्र अधिक तेजी के साथ सम्पन्न उद्योग को कराई जा सकती है। जैसे हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि अनुगन्धान-कार्य केवल उन्हीं प्रयोगशालाओं में हो जो गाने उद्योग के लिए काम करती हैं, बड़ी फर्मों की प्रयोगशालाओं की भांति ही ये प्रयोगशालाएँ भी अधिक उपयोगी विद्वेषण में सम्पन्न हो सकती हैं। हम केवल यही कहना चाहते हैं कि छोटी फर्मों की हानियों को सरकारी संगठन स्थापित करके दूर किया जा सकता है। एकाधिकार का सम्पन्न करते समय अनुगन्धान की दुहाई नहीं दी जा सकती, चूंकि यदि अनुगन्धान में ही एकाधिकार की स्थापना कर दी गई तो वैज्ञानिक उन्नति निश्चित रूप से सम्पादित हो जाएगी। (इन समस्याओं पर और अधिक विचार अध्याय ८ गण्ड १ (ग) में किया जाएगा।)

साधारण के बारे में अभी हमारा तर्क दूरा नहीं हुआ है क्योंकि अनुगन्धान और विकास अलग-अलग चीजें हैं। यह सही है कि सामूहिक अनुगन्धान के भी वे ही परिणाम हो सकते हैं जो बड़ी फर्मों की प्रयोगशाला के हो। लेकिन यह भी सही है कि जब विभाग की स्थिति घा जाती है तो बड़ी फर्मों अधिक अनुकूल समस्या में होती है जो नवीन प्रक्रिया की व्यापारिक उपयोग में लाने के लिए विशेष भारी गर्वों को पहन कर सकती है। बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभों की भांति गर्वोंके नवीन प्रक्रिया में पैसा लगाने की योग्यता भी बड़ी फर्मों के निर्विवाद लाभों में से एक है। इन लाभों के कारण ही कभी-कभी एकाधिकार की स्थापना होती है, और कभी ऐसा भी होता है कि एकाधिकार की परिस्थितियों का निर्माण बिना के लाभ उद्योग हो नहीं जा सकते। कुछ



उद्योगों के बारे में शाब्द यह सही है कि एकाधिकार से विधान के उद्देश्य प्राप्त होते हैं, चूंकि प्रथम का आधार बचन से विधान होता है और आचार और एकाधिकार परस्पर-सम्बन्धित हैं। लेकिन नव उद्योगों और नव परिस्थितियों के बारे में इस प्रकार का कोई सामान्य नियम बना लेना अनुचित होगा।

उत्पादन-स्तर के सामान्य से सम्बन्धित इन प्रश्नों को छोड़ दें तो विधान के आरम्भिक चरणों में नव उद्योग का सुरक्षण देना वांछनीय हो सकता है, बशर्त कि यह सुरक्षण एक उचित छाया-सी अवधि के बाद उठा लिया जाए। इस विचार का कानूनी समर्थन सर्वप्रथम १९२८ के एकाधिकारों की सविधि के रूप में मिला। इस सविधि में दो परिस्थितियों के उद्देश्य विवाद के बाद यह व्यवस्था की गई कि राज्य की ओर से नव आविष्कारों का सुरक्षण दिया जा सकेगा, लेकिन यह एक निश्चित अवधि के बाद उठा लिया जाएगा। दूसरी पट्ट प्रणाली का उद्देश्य इसीसे हुआ। इन दिनों नव आविष्कार का अर्थ वह नहीं था जो आज है। तब इनमें और देश के आधार पर चलाय गए नव उद्योग भी शामिल माने जाते थे, भले ही वे उन दूसरे देशों में तकनीक की दृष्टि से कितने ही पुराने और नयी प्रकार जमे हुए हों। इस प्रणाली से अब हम 'द्वि-उद्योगों' का अर्थ करते हैं वह और पट्ट-सम्बन्धी विवादों में जो उन्हें आज तक प्रस्तुत किए जाते हैं वे सब एक सविधि में अन्यथा रूप से स्वीकार कर लिए गए थे।

कई शताब्दियों के बाद विवाद के बावजूद १९२८ के कानून का दृष्टिकोण सुधारा नहीं जा सका है। कुछ नव विचारों का सुरक्षण देना अनिवार्य आवश्यक है कि वह व्यापारिक दृष्टि के मानकर बनाने में जाती सर्वा आता है। यह सर्व अनुसंधान का विधान का हो सकता है, कार्य-वर्तियों को प्रशिक्षण देने का हो सकता है, या लोगों को नयी दन्तु से परिचित बनाने का भी हो सकता है। और इनके लिए न जाने कितने, ला-सेंस, उत्पादन या पेटेंटों के रूप में नव उद्योगों को सुरक्षण देने के लिए हमें उन्मत्त रहनी पड़ेगी है। कुछ परिस्थितियों में हर देश को उसके गुणों के आधार पर जाकर उद्योग-सुधार सम्मेलन के रूप और उनकी अवधि पर फैसला किया जा सकता है, जैसा कुछ ऐसे कम विकसित देशों में इन दिनों किया जा रहा है जहाँ नये विनिर्माण-उद्योगों को बढ़ावा देने की नीति प्रचलित है। अन्य परिस्थितियों में और विशेषकर उन विचारों पर फैसला करते समय को ऐतिहासिक देशों में पेटेंट सुरक्षण की मांग करते हैं, हर मानने पर अलग-अलग निर्णय लेना सम्भव नहीं है, कानून के अनुसार सभी को निश्चित वर्षों के लिए सुरक्षण दिया जाता है और वह सम्बद्ध पदों पर छोड़ दिया जाता है कि वे - अद्यतन में जाकर यह सिद्ध करें कि बीनसा विचार नया है और बीनसा नहीं है। पेटेंट-सम्बन्धी कानून के अर्थों के अर्थ में बहुत कुछ बना जा सकता

है—संरक्षण सिद्धि के लिए दिया जाए, संरक्षण का मात्र बोन हाना चाहिए, संरक्षण जिस विधि से आरम्भ हुआ आदि—लेकिन इस बुनियादी सिद्धान्त को ग्राम तौर से सभी मानते हैं कि कुछ नये विचार ऐसे हाने हैं जिनका यदि विचार करना हो तो उन्हें भीमन कारिगरी संरक्षण देना आवश्यक है।

इस पर भी ग्राम तौर से सब लोग सहमत हैं कि संरक्षण एवं निश्चित सर्वाधिक के लिए ही हाना चाहिए, अन्यथा इसमें विकास में रुकावट आती है। यह तब इस विचार पर आधारित है कि नया नयी माझे करने और उन्हे अमल में लाने के प्रयत्न तभी करना है जबकि उन पर ऐसा करने के लिए दबाव लगाया जाता है, बरना इस प्रकार के प्रयत्न अधिन नहीं किए जाते। एक दूसरा आधार यह भी है कि पुगनी फर्मा की अथवा नयी फर्मों का विचार लागू करने से अधिन सफल होती है। वास्तव यह है कि एक तो पुगनी फर्मों के लिए उलगाह बनाए रखना बहिन होता है और दूसरे भौतिक और बौद्धिक दोनों दृष्टियों से पुगनी फर्मों पुरानी तकनीक के साथ चिपकी होती हैं, और वर्तमान पूंजी नष्ट होने के डर से नयी दिशाओं में नहीं बढ़ पाती। मानव-स्ववहार के बारे में अन्त सामान्य निष्कर्षों की भाँति ही इन विचारों के भी अर्थवाद हो सकते हैं। नवीन प्रक्रिया लागू करने में कुछ कार्याधारी बहुत उलगाह दिखाने हैं, और कुछ पुगनी फर्मों भी आश्चर्यजनक रूप से प्रगतिशील बनी रहती हैं। लेकिन नवीन प्रक्रिया का अधिन बाजार में आने वाली नयी फर्मों के माध्यम से लागू होता है और बाकी अन्त पुगनी फर्मों प्रविधिगतिकों की दृष्टि में हार जाते हैं भय से लागू करती हैं। यह चाहिए है कि अन्त नयी फर्मों को भी बाजार में न आने दिया जाए ता नवीन प्रक्रिया की गति बहुत धीमी हो जायगी। आधुनिक विकास के लिए नयी फर्मों का बाजार में आने की आजादी आवश्यक है। अन्त जहाँ एक छोटे नवीन वा नवीनतम में संरक्षण देना आवश्यक है वहाँ दूसरी ओर पुगनी के विरुद्ध नये का संरक्षण देना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। गेटेष्ट संरक्षण से पहले उद्देश्य की पूर्ति होती है। पेटेष्ट कानून का दुष्प्रयोग रोकने के लिए उमरा समय-समय पर जो पुनरावलोकन किया जाता है उमसे दूसरे उद्देश्य की पूर्ति होती है। साथ ही एक ऐसे सामान्य प्रविधि-कार्याधारी कानून की भी आवश्यकता है जो अधिनकारी फर्मों या फर्मों के गगलनों द्वारा अधिन अधिन के बल पर नयी फर्मों को बाजार में आने से रोकने की कार्याधारी पर धनुष लगा सके। ये कार्याधारी इस प्रकार की होती हैं—स्टॉक सूचियों जारी करना, अन्त मोद करना, अधिन सफल, अधिन भेद, सफल के भागों का गोल, गगलनों के भागों का कार्याधारी आदि। इस कानून के निर्माण, निरन्तर और अधिन के लिए यह विचार भी आवश्यक है,

चूँकि कुछ परिस्थितियों में एकाधिकार विकास के लिए आवश्यक होता है जबकि दूसरी परिस्थितियों में इससे विकास में बाधा आती है। इस्वीनिष्ठ कानून की यह शान्ति प्रायः अधिक उल्लंघनपूर्ण और विनष्ट होती है, लेकिन कठिन होने में ही किसी काम का महत्त्व कम नहीं हो जाता।

उद्यमकर्ताओं की कमी व कारण नये विकासशील देशों में अक्सर एकाधिकार के प्रति भुत्ताव पाया जाता है। अधिक विकसित देशों की अपेक्षा इन देशों में पूँजी-निवेश अधिक जोखिमपूर्ण होता है, क्योंकि यहाँ की समस्याओं और सम्भावनाओं के बारे में जानकारी थोड़ी गहरी है और बार-बार पैदा होने वाले प्राथमिक मकड़ों के कम अनुभवों और कम पैसों वाले उद्यमकर्ता नष्ट हो जाते हैं। उपनिवेशों के व्यापार में यह माफ़ देखने में आता है, वहाँ का साथ व्यापार थोड़ी-सी बर्त और धनी प्रमों के हाथ में है, जापान के इतिहास में भी यह स्पष्ट हो जाता है जहाँ के साथे व्यापार पर थोड़े ही समय में केवल कुछ न्यासों ने अधिकार जमा लिया था। सफ़्त उद्यमकर्ता केवल उन्हीं उद्योगों पर अधिकार नहीं बनाए रहते जिनमें उन्हें पहले काम आरम्भ किया होता है, बल्कि वे एक उद्योग से दूसरे उद्योग में अपने हितों का विस्तार करने चल जाते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि एक ही टोकरी में सारे अण्डे रखना अधिक जोखिम की बात होती है, और दूसरा कारण यह है कि उद्यमकर्ता एक-दूसरे को मान सम्मान करके या एक-दूसरे का मान खरीदकर परस्पर सहयोग कर सकते हैं। इसीलिए प्राथमिक विकास की आरम्भिक अवस्थाओं में अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के बीच स्वाधिशो का प्रायः निकट सम्बन्ध पाया जाता है—उदाहरण के लिए बैंकिंग, बीमा, वाणिज्य, यातायात, होटल, अन्नवार, विनिर्माण आदि क्षेत्रों के उद्यमकर्ता एक-दूसरे की सहायता करते हैं। निस्सन्देह यहाँ कारण था कि कार्लमार्क्स, जिन्होंने पहले के लेखकों की और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ के पूँजीवाद के बारे में स्वयं अपने विचारों की आधार माना था, का यह विद्वान् था कि पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ एकाधिकार बढ़ना अवश्यम्भावी है। बाद की घटनाओं से उसकी यह भविष्यवाणी सब नहीं निकली (देखिए अध्याय ४, खण्ड ३ (ग))। वस्तुतः अर्थ-व्यवस्था के विकास के साथ-साथ उद्यमकर्ताओं की संख्या में भी वृद्धि हुई है और उनके अनुभव का आनन्द भी ज़रूर उठा है। ज़रूरतों अर्थ-व्यवस्था के बारे में जानकारी बढ़ती है, पूँजी-निवेश की जोखिम कम होती जाती है, और नये उद्योगों की समस्याओं से लोग अवगत होने लगते हैं। सब केवल थोड़े-से चतुर लोगों की ही प्राथमिक क्षेत्र पर अधिकार बनाए रखना आसान नहीं रहता, और एकाधिकार की परिस्थिति बनना और कायम रहना मुश्किल हो जाता है। दूसरे शब्दों में 'शुद्ध उद्योग' के तर्कों के समान ही

एनाधिकार के बारे में भी 'निम्न अर्थ-व्यवस्था' का तर्क है। लेकिन पूर्वोक्त तर्कों की भांति इसका भी केवल अस्थायी महत्त्व है और इनके साथ भी यह तर्क लगी हुई है कि अर्ध-दिन तक एनाधिकार बनाए रखने में अर्थ-व्यवस्था की शक्ति कम हो सकती है।

अतः हम एनाधिकार के पक्ष में दिए जाने वाले तर्कों पर भी विचार कर रहे हैं। त्रिमता आधार है कि विरामशील अर्थ व्यवस्था के लिए बचत और लाभों के उच्च स्तरों का होना आवश्यक है। हम तब के अनुसार राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग उन लोगों को देने के बजाय जाँ उन उपभोग पर खर्च कर देंगे, उन लोगों को देना वांछनीय है जो उनके बचाव के निवेश कर देंगे। हमें हम तब का बहुत दूर तक ले जाने की आवश्यकता नहीं है, उपभोग उत्पादन का पारिभ्रमिक है, और हमें अर्थ प्रयत्न करने का उम्माह पैदा होता है, प्रश्न केवल उपभोग की मात्रा का है। राष्ट्रीय आय के बचत और उपभोग के बीच विवरण का प्राथमिक विकास पर बना प्रभाव होता है, हम बार में बहुत वाद-विवाद होता रहा है जो अधिकांश उद्योगों पर आधारित है कि अगर उपभोग बहुत अधिक होगा तो निर्यात बहुत थोड़ा होगा, और अगर उपभोग बहुत थोड़ा होगा तो पूँजी-निवेश को बढ़ावा नहीं मिलेगा, लेकिन हम बात में गंभीर करने के कोई कारण नहीं जान पड़ते कि प्राथमिक विकास के कम-से-कम आरम्भिक चरणों में पूँजी निवेश के सारे अवसर समाप्त होना नहीं देना चाहिये। तब पूँजी-निवेश का उच्च स्तर काम में आ सकता है। यह मानने के बाद कि विकास और बचत के उच्च स्तर का परस्पर-विरोध नहीं है, प्रश्न यह रह जाता है कि बड़ी मात्रा में बचत करने के लिए लाभों का बड़ी मात्रा में होना नहीं आवश्यक है। यह गृहीत है कि पूँजी-निवेश के सारे अवसरों में बचत की प्रवृत्ति बहुत थोड़ी होती है। लेकिन यह भी आवश्यक नहीं है कि बचत पूरी तरह से व्यक्तिगत प्रयत्न पर ही निर्भर रहे। सरकार भी जनता पर कर लगाकर बचत करने वाले के रूप में काम कर सकती है। इन करों में प्राप्त आय को उपयोगी सेवाओं में पूँजी-निवेश करने या निजी उत्पादकों को उधार देने में लगाई जा सकती है। लेकिन अगर सरकार उत्पादक बाजारों के लिए बचत न कर सके या न करे तो यह सिद्ध-कुण्ड गृहीत है कि बचत का स्तर काफी ऊँचा रखने के लिए विरामशील अर्थ-व्यवस्था में लाभों का बड़ी मात्रा में होना अनिवार्य है। पर लाभ का एक आवश्यक रूप में एनाधिकार पर निर्भर नहीं है, अर्थ-व्यवस्था में लाभ का हिस्सा कुछ हितता हो यह एनाधिकार निश्चित नहीं करता, यह तो केवल एक पूँजीपति और दूसरे पूँजीपति के बीच लाभ के वितरण को निर्धारित करता है। अधिकांश मन्थानक अर्थ-व्यवस्था की सही तरह की पूँजीपति

बढाने के उपाय निवालेने की इच्छा हानी चाहिए । वस्तुधा के प्रति आकाशा इस कारण हो सकती है कि लोगों को भौतिक पदार्थों के उपभोग में आनन्द आता है, या इसलिए भी हो सकती है कि धन की मात्रा बढने के साथ सामाजिक सम्मान और शक्ति अधिका प्राप्त होने है । यही कारण है कि उन समाजों में विवाग अधिका तेजी से होना है जहाँ धन एकत्र करके ही गरलतापूर्वक ऊँची सामाजिक स्थिति तक पहुँचा जा सकता है । कुछ धर्म एते भी हैं जिनके अनुसार मेहनत और विवेक के साथ काम करने के अनुशासन से सुख प्राप्त की जा सकती है और कायकुशलता बढाना नैतिक गुण माना जाता है । ईसाई धर्म के कुछ सम्प्रदायों में बचन और उत्पादक निवेश के गुणों पर जोर दिया जाता है । लेकिन अधिकाग धर्मों में भी सिखाते हैं कि आय बढाने या जीवन घटाने के उपायों की अनन्त तोज की अपेक्षा मस्तिष्क का आत्मचिन्तन में लगाना अधिका अच्छा है, और प्रायः सभी धर्म भौतिक पदार्थों की आकाशा को बुरा बताते हैं ।

दूसरे, अधिका विकास के लिए प्रयोग करने की इच्छा का होना भी आवश्यक है । इसी के पनस्वरूप प्रौद्योगिकी सुपरती है और सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक प्रयुक्तिया में परिवर्तन होने हैं । प्रयोग करने की इच्छा वस्तुओं और घटनाओं के कारणों को तोज निवारण की इच्छा से सम्बन्धित है, जिसके लिए सर्व-शक्ति में विश्वास रखना आवश्यक है । जैसा पहले कहा जा चुका है, मध्ययुगीन ईसाई धर्मशास्त्री दम गिद्वान्त का प्रतिपादन बहुत करने थे कि स्वयं ईश्वर की सलाह सर्वमिद है और उगमे पश्चिम यूरोप में वैज्ञानिक अनुसन्धान के पुन स्थापन की नींव पडने में बड़ी गहायता मिली । विश्व के स्वरूप के बारे में यह प्रवृत्ति बहुत कम धर्मों में पाई जाती है ।

प्रयोग करने की इच्छा विश्व की प्रविशता के प्रति मनुष्य की प्रवृत्ति में भी सम्बन्धित है । जब तक लाग मनुष्य के शरीर का विच्छेदन करना अपवित्र कार्य समझते रहते हैं तब तक चिकित्सा-विज्ञान में अधिका उन्नति नहीं हो पाती । यदि पशुओं के जीवन का परित्र माना जाए तो जिज्ञा करने के लिए मनुष्य को गायों, उल्लानी बन्दरा, चहों, गिलहरिया, गोंधों, बीड़ों और जीवाणुओं में सपर्यं करने में बडा परिश्रम करना पडे । इसी प्रकार कुछ धार्मिक प्रवृत्तियाँ परिवार-सौमन के विच्छेद होती हैं और उनके कारण अनाधिकार, दुर्भिक्ष और निर्धनता की परिस्थितियाँ पैदा हो सकती हैं । अधिकाग प्रौद्योगिक उन्नति मनुष्य की दम प्रवृत्ति का परिणाम है कि सगार में जो कुछ है सब मनुष्य की सुविधा के लिए है, और अतः हित को देखते हुए मनुष्य उगमे जो चाहे परिवर्तन कर सकता है । यह प्रवृत्ति उन धर्मों के काफी अनुकूल पडती है जो मनुष्य को विश्व की बेन्दस्थ गता मानते हैं, लेकिन उन धर्मों के

अनुकूल नहीं पड़ती जो मनुष्य को परमात्मा का एक रूप—श्रीग वह भी एक छोटा-सा रूप—ही समझते हैं।

आर्थिक विकास के साथ अव्यक्तिक आर्थिक सम्बन्धों का विकास भी जुड़ा हुआ है जिनके आधार पर लोग भाईचारे, राष्ट्रीयता या विगदगी का विचार किये बिना ही दूसरे लोगों के साथ व्यवसाय करने हैं। इन अपरिचितों के प्रति किसी धर्म की धारणा क्या है यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि धर्म लोगों को अपरिचितों के साथ अच्छा व्यवहार करने के लिए प्रेरित कर—ईमानदारी में काम करने, नविदाया का ठीक से पालन करने आदि का विचार—तो हमने व्यापार और विरोधता को बढ़ावा मिलता है। दूसरी ओर अगर धर्म अलग-थलग है काफिरों को घृणा करने के लिए कहता है, और लोगों में एकता स्थापित करने के बजाय उनमें विभाजन पैदा करता है तो इनमें आर्थिक अवसर कम हो जाते हैं।

जहाँ तक सामाजिक सम्बन्धों का सम्बन्ध है, धर्म लगभग मरता ही बाधा बनता आया है। कारण यह है कि धर्म लगभग मरता ही आजाकारिता, वर्तमान और जिम्मेदारियों को सर्वोपरि मानता आया है, न्याय और न्याय के गुणों में तो ये ऊँची मानी ही जाती हैं। न्याय भावना का कभी-कभी अन्य भावनाओं से मघप हो जाता है जिसका निपटारा मुख्य रूप से धर्मनिरपेक्ष मता का काम होता है। इस प्रकार पारिवाहिक सम्बन्धों में, या गृहनीतिक या धार्मिक जिम्मेदारियों के मामले में धर्म यथापूर्व स्थिति कायम करने पर बहुत जोर देता है। लेकिन, जैसा कि हम देव चुके हैं, सर्वाधिक आर्थिक विकास तब होता है जब सामाजिक सम्बन्ध ऐसे हो जिनमें लोगों के अन्दर यह भावना पैदा हो कि उनके प्रयत्न का फल उन्हीं को मिल रहा है (और उनका शोषण नहीं किया जा रहा); जब व्यापार और विरोधता सम्भव हो (और आर्थिक सम्बन्ध अव्यक्तिक आधार पर हों), और जब लोगों को आर्थिक बौद्धिक के लिए आज्ञादी प्राप्त हो (उदर सामाजिक गतिशीलता-महित)। इनमें से कोई भी चीज धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिवृत्त नहीं है, फिर भी सामाजिक सम्बन्धों में यथापूर्व स्थिति का पक्ष लेने की धार्मिक प्रवृत्ति अथवा लक्ष्य किसी भी दिशा में किसी परिवर्तन के लिए प्रायः बाधक होती है। धर्म आर्थिक विकास या आर्थिक अव्यक्तिक दोनों में से किसी का पक्षपाती नहीं है। वह केवल सामाजिक स्थापित्व चाहता है। यदि समाज दास-प्रथा पर आधारित है तो धर्म दासों को आज्ञाकारिता का पाठ पटाएगा, लेकिन यदि समाज उच्च स्तर की उदर गतिशीलता का अन्वय है तो आर्थिक अवसरों पर प्रतिवन्ध लगाने के प्रयत्नों की निन्दा करने में पुगेहित सबसे आगे रहेंगे। इस सामान्य निष्कर्ष को बहुत ही सखी नहीं मान लेना चाहिए। लगभग इन

धर्म में हमें पैगम्बर हुए हैं जिन्होंने समय-समय पर यथापूर्व स्थिति के विरुद्ध आवाज उठाई है। अन्य धार्मिक पदाधिकारियों की तुलना में इनकी बातों का पूरा श्रभाव इसलिए नहीं पड़ पाता चूँकि वे लोग युग की गरबा और अभि-जात-वर्ग में मिते रहते हैं, लेकिन पैगम्बरों की परम्परा में इनका नहीं किया जा सकता और कभी-कभी इनकी आवाज निर्णायक होती है। यह सोचना भी गलत होगा कि एक मनुष्य के रूप में धर्म मनुष्य पर परिवर्तन में बाध होता है क्योंकि परिवर्तन ही जाने के परचात फिर से एकता के मूल में बाधन का महत्त्वपूर्ण कार्य भी धर्म ही करता है। आशाचारिता, वर्तमान भावना और जिम्मेदारी के बिना समाज नहीं चल सकता। समय बदलने के साथ-साथ हमारी जिम्मेदारियाँ बदल जाती हैं, और जिन लोगों के प्रति हम जिम्मेदार हैं वे भी बदल जाते हैं। अतः परिवर्तन के दौर के साथ नैतिक शिक्षा-भिन्नता की स्थिति भी आती है, चूँकि नये कल्पों का ठीक से बोध होने के पहले युगने कर्तव्य तोप हो जाते हैं। नैतिकता के मरझना और शिक्षा के ऊपर ही हम बात का भार होता है कि वे परिवर्तित मनुष्य के उपयुक्त नयी आचार-महिताओं का जन्म दे और उनका प्रचार करें।

अब तो की हम चर्चा से यह भ्रम मित्रनी है कि धर्म और आध्यात्मिकता एक-दूसरे के विरोधी हैं। लेकिन धर्म और विज्ञान का परस्पर विरोध वही देखने में आता है जहाँ हम उन लोगों के धार्मिक विचारों पर ध्या केन्द्रित करते हैं जो परिवर्तन के विरोधी हैं। हमारे विपरीत अगर हम उन लोगों के धर्म का देखें जो परिवर्तन करने में सहज करते हैं तो हमें मात्र ही होगा कि नवीन प्रक्रिया लागू करने में कभी-कभी धर्म का भी बड़ा प्रबल योग होता है। पहली बात तो यह है कि धार्मिक नेता हर प्रकार के परिवर्तन के विरोधी नहीं होते। वे हम प्रकार की नवीन प्रक्रिया का समर्थन कर सकते हैं जिसका उनके धार्मिक सिद्धान्तों से कोई मघप नहीं है—जैसे नये धर्म, कृत्रिम गार, या सामुदायिक विराग या मरुतारी ममिनियाँ—और तब धार्मिक समर्थन मिलने के कारण नवीन प्रक्रिया को और भी तेजी से लागू होने में सहयोग मिलती है। युगन धार्मिक नेताओं द्वारा नवीन प्रक्रिया का विरोध किये जाने के बावजूद धर्म नवीन प्रक्रिया को लागू करने की शक्ति के रूप में प्रकट हो सकता है। बात यह है कि नवीन प्रक्रिया लागू करने वालों का अकारण गुद का एक नया धर्म होता है, या युगने धर्म का एक नया स्वरूप होता है, जिसमें उन्हे भाग-दत्तन, प्रेरणा, या आचरण-भ्रित्ताओं मिलती हैं जो उन्हे बाकी समुदाय से भिन्न रगती हैं और जिन्हें वे समर्थन में लाई जाने वाली नवीन प्रक्रियाओं के साथ जुड़ा समझते हैं। द्रुत सामाजिक परिवर्तन के समयों में अकारण मरुतारीत्व उभर-पुखर होती है—यह बात सुगोचर में

पूर्वावाह के उद्भव के समय में दखने में आई थीं और अतीता की समकालीन घटनाओं में भी दखी जा सकती है—और धर्म द्वारा अर्थ की गई भूमिका की प्राकृत समय हम जिस प्रकार पुराने धर्म द्वारा प्रकट किये गए विरोध पर ध्यान देना चाहिए, उन्ही प्रकार नये धर्म द्वारा उत्पन्न उन्नाह को भी दृष्टि में रखना चाहिए ।

कतिपय धार्मिक अल्पमह्यका जैसे यहूदिया ह्यूजीताट क्वकर या पाग-सियो द्वारा अपने देश के विकास में किये गए योगदान पर भी अक्सर ध्यान जाता है । इस योगदान के कारण धार्मिक अल्पमह्यक मानसिक या शारीरिक रूप में विशेष जीवात्मक दटना बाने हो सकते हैं, चूंकि अपने ऊपर पड़ने वाले कष्टों के दौरान उनके कमजोर साथी पहले ही मर जाते हैं । जो बच रहते हैं वे धर्म के चेतन्य महत्त और आत्मानुशासन की परम्परा में शोधित, और आत्म-भरक्षण की युक्तियों में चतुर होते हैं । उनमें एक-दूसरे को सहायता करने की भावना भी पाई जाती है और यद्यपि मरने जैसी की सत्यां श्रौंन ने कम होने पर यह भावना सार समूह को नष्ट कर सकती है, लेकिन समूह के भाग्यशाली विकल्पों पर या उसके अन्दर श्रौंन से अधिक योग्य व्यक्ति होने पर परम्परा सहायता की प्रवृत्ति से सभी की उन्नति होती है । इन सम्बन्ध में जीवात्मक प्रभाव के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन परम्परा का प्रभाव अनिश्चित है । धार्मिक अल्पमह्यकों की राजनीतिक क्षेत्र में आग बढ़ने की, या उच्चतर सामाजिक पैगों (सुना, प्रशासन, विज्ञान आदि) में जाने की मनाही हो सकती है, और इन प्रकार अपनी ऊर्जा के उपयोग के लिए उनके पास व्यवसाय के अनिश्चित और कोई क्षेत्र नहीं रह जाता । फिर, बहुमह्यकों के धर्म में कुछ ऐसे निषेध भी हो सकते हैं जिनके कारण बहुमह्यक लोग किन्हीं विशेष कामों को न करने हो (जैसे व्यापार, महाजनी) या कुछ पदार्थों और जीवों का उन्हें से ऐतरात मानत हो (जैसे खाद, चमड़ा, मूँर), या जिसे अन्य कारण से लाभप्रद अवसरों का उपयोग न कर पाते हो, और अगर अल्पमह्यकों के पूर्वाग्रह इनमें मिले हुए तो वे बहुमह्यकों में निषिद्ध कामों का अपने हाथ में ले लेंगे । यह आवश्यक नहीं है कि अल्पमह्यकों के वर्गों की स्थापना के आरम्भ में ही उनके धार्मिक नियम बहुमह्यकों के धार्मिक नियमों की अपेक्षा आर्थिक विकास के अधिक अनुकूल होंगे । वस्तुतः समय पाकर ही अन्तर पैदा होने है । अल्पमह्यकों द्वारा अपने को जीवित बनाए रखने के प्रयत्न में उसके धार्मिक नियम भी बदल जाते हैं ।

दूसरी ओर, यह भी आवश्यक नहीं है कि सभी धार्मिक अल्पमह्यक आर्थिक क्षेत्र में उन्नति कर ही लें । धार्मिक अल्पमह्यकों के अन्त में ऐसे वर्ग हैं जो आर्थिक उपलब्धियों में बहुमह्यक वर्ग से पिछड़े जाते हैं, जैसे कनाडा के



गमन कैदातिक और भारत क मुगनमान । धामिक अल्पमस्यर आधिक मामता म तथा अधिक गफन हान है जब बहुमस्यका वा दिवचम्पा किहा दूगरे क्षत्रा म होनी है । तकिन अगर बहुमस्यका म आधिक प्रवृत्ति मौजूद हा ता धामिक अल्पमस्यका म आधिक क्षत्र म विमुग रहन की प्रवृत्ति भी पैदा हा सकती है और फिर जीन के अपने तरीक का दिगिष्ट बनाए गवन क लिए व दूगरे पना और कलाआ पर ध्यान कन्ति कर करते है वा जान उभकर एग नियम बना सकत है जा आधिक उनति क विरागी हा ।

असे यह भा स्पष्ट हो जाता है कि हम मुख्यत धम पर हा विचार नहा कर रह । हम ता अल्पमस्यका पर विचार कर रहे है इह एक सूत्र म बाँधन वाली चीज धम हा या और कुछ हा । इन मामला म धम प्राय अधि प्रमुग हाता है क्याकि अल्पमस्यका वा एक सूत्र म बाँधे गवन म धम वा मन्त्वपूण याग होता है तकिन प्रस्तुत तक म बुनिषाणी बान यह है कि अल्पमस्यक वग धामिक हो चाहे अधामिक उा मामला म प्रबोध नहा हा पाता जितम स्त्रय बहुमस्यक वग क तग नग हान है बल्कि उन क्षत्रा म गफन रहता है किह बहुमस्यक कम महत्त्व दन है ।

अत पहन प्रश्न वा गिष्ट उनर या निया जा सकता है कि कुछ धम की सहिताए दगरा की अगला आधिक विभाग क अधि अनुकूल हाता है । यदि किसी धम म भौतिक मूल्या कम मितव्ययिता और उत्पादक पूजा निराग वाणिज्यिक सम्ब वा म ईमानदारी प्रयाग और जातिम उठान का इच्छा और अकगरा की समानता पर जाग निया जाता है ता इनम आधिक विभाग म गहायता मिदगी और यदि उपयुक्त बाला वा विराध करता है तो निराग की गति रग जाएगा । कम यह सम्भव है कि धामिक गहिता पूरा तरह प्रभावा न हा लाग गला अपन धम क अनुमार हा आरण नहा करन । पुरोहिता म अपने व्यवहार म अधि तिष्ठा बरतन की आगा की जानी है और जग कि विछन अघ्याय म कहा गया वा वह धम विभाग म बाधक है जा अनुगत म अधि नाग वा धामिक पना वा आर प्रयन करता है ( जग निम्न म ) चाहे यह विचारवाइ योगा वा यग मस्या म आधिक कामा म विगन करान क रूप म हा या दूगर कामा क उत्पादन वा कम करन क रूप म हा । (यही हम यह मान रहे है कि धामिक पन बाने तग स्वय गता विनिमाग और दूगर आधिक काम नही करत ।) पुरोहिता की बान छाडिए आम तग ता एग धामिक नियमा की उा ग हा करत है जा आधिक निया म बाधक हान है । वग धामिक निया म आय इतना कम हाता है कि अग अकार क तग करत एग काम नही कर पात जा स्पष्टन उनक लिए साभरर ५—जग पवित्र गाया वा यध वा पूर पावगिया वा समाप्ति ।

हममें हमारे सामने दूसरा प्रश्न आ जाता है क्या धार्मिक व्यवहार का स्वरूप निर्धारित करने में धर्म का स्वतन्त्र प्रभाव होता है, या धर्म धार्मिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब मात्र है ? यह जाहिर है कि धार्मिक, सामाजिक परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ धार्मिक विश्वास भी बदलते हैं। धार्मिक सिद्धान्तों की व्याख्या निरन्तर बदलती रहती है, और नयी स्थितियों के अनुसार सिद्धान्तों में भी हर-फेर होता रहता है, इसलिए कुछ लोगों का तो यहाँ तक विचार है कि परिवर्तन की प्रक्रिया में धर्म न तो बाधक है और न महायक। यदि प्रचलित धार्मिक सिद्धान्त कि-ही परिवर्तनों के अनुकूल नहीं हैं तो उम्मा का कारण यही समझना चाहिए कि धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों अभी इन परिवर्तनों के लिए परिपक्व नहीं हैं। जब उचित परिस्थितियाँ पैदा हो जाएँगी तो परिवर्तन भी हो जाएगा, और नयी स्थिति का समर्थन करने के लिए धार्मिक शिक्षकों में अनावश्यक रूपान्तर कर लिया जाएगा। इस तर्क के अनुसार जन-मग हर धर्म में अपने को हर राजनीतिक या धार्मिक शक्ति के अनुकूल बनाने की सामर्थ्य होती है। बात यह है कि हर धर्म में कुछ पुरोहित अथवा ऐसे निराले शक्त हैं जो महामति, निराशा, या महत्वाकांक्षा के कारण धार्मिक सिद्धान्तों को नये सिरे से व्याख्या करने के लिए तैयार रहते हैं। शक्ति के बाद य पुरोहित अपने विरोधियों को पदच्युत करके धर्म की दागडोर संभाल लेते हैं और उसे परिस्थितियों के अनुकूल बना देते हैं। जहाँ इतना नहीं हो पाता वहाँ लोगों के बढ़ते उपेक्षा भाव या बदलती हुई परिस्थितियों को दगकर पुरोहित स्वयं अपनी हठधर्मी छोट देते हैं और धार्मिक सिद्धान्तों में अप्रतिन परिवर्तन कर लेते हैं।

लेकिन, यह बड़ा सीधा-सादा दृष्टिकोण है। पहले तो अगर यह सही भी हो कि धार्मिक सिद्धान्त धार्मिक हितों में बाधक नहीं होते, तो उम्मा यह अर्थ नहीं है कि उनमें परिवर्तन में रुकावट नहीं आती, क्योंकि वे परिवर्तन की गति को धीमा कर सकते हैं, और उसके प्रभावों को विरूपित भी कर सकते हैं। सम्भव है कि धार्मिक सिद्धान्त अन्त में बदल जाएँ, लेकिन इस बीच वे अनेक दशाब्दियों, या शताब्दियों तक परिवर्तन का मार्ग रोकें रख सकते हैं। धार्मिक, सामाजिक परिवर्तन भी मुख्यतः लोगों द्वारा किये गए कामों का परिणाम होते हैं, और लोग मुख्यतः वे ही काम करते हैं जिनमें उन्हें विश्वास होता है। धर्म हमारे विश्वासों के मूल में पैदा होता है क्योंकि धार्मिक शिक्षा (श्रीपचारिक अथवा अनौपचारिक) हमें माँ की गोद में ही मिलनी आरम्भ हो जाती है। बाद के जीवन में हम जो कुछ अपने प्रयत्नों में सीखते हैं उसे तर्क या दृष्टान्त के प्रभाव में जाकर भूल सकते हैं, लेकिन बाल्यकाल के संस्कारों को ज्यादा पकना बहुत कठिन होता है। धर्म धार्मिक परिवर्तन को रोक सके ही न सके,

पर वह उमकी गति और प्रभावों को कम अवश्य कर सकता है।

युनियादी तौर पर यह निष्कर्ष तो और भी नहीं माना जा सकता कि आर्थिक परिवर्तन ही मदा धर्म में परिवर्तन लाते हैं, और धार्मिक परिवर्तन सभी आर्थिक या सामाजिक परिवर्तनों का जन्म नहीं दते। यह सत्य नहीं है कि यदि आर्थिक हितों और धार्मिक सिद्धान्तों में सघर्ष हों तो जीत हमेशा आर्थिक हितों की ही होती है। हिन्दुओं में गाय सत्तान्दिया में पवित्र मानी जाती रही है, यद्यपि आर्थिक हित की दृष्टि में यह भावना निम्मार है। या दूसरा उदाहरण स्पष्ट है जिसकी असमरीका की खोज से उत्पन्न आर्थिक असुखों का उपयोग न कर पाने की असफलता का थोड़ा-बहुत कारण उमके धार्मिक विश्वास और प्रवृत्तियाँ भी थी जिन्होंने स्पष्ट को अर्थ देसों के साथ प्रतियोगिता न करने दी। सम्भव है कोई राष्ट्र विकास के प्रति उग्र और असहिष्णु धार्मिक सिद्धान्त अपना लेने के कारण आर्थिक विकास का मार्ग अव-रुद्ध कर ले, या, इसके विपरीत, यह भी सम्भव है कि वहाँ किसी ऐसे नये धर्म का प्रादुर्भाव हो जाए जो आर्थिक विकास की गति में समर्थकारी वृद्धि ला सके।

(स) दासत्व—दासत्व के संस्थान पर विशेष रूप में चर्चा करना आवश्यक है क्योंकि यह मानव-इतिहास में दीर्घकाल से चला आया है। आर्थिक विकास की दृष्टि से इसमें अनेक हानियाँ हैं। फिर भी इसके कारण प्रायः बड़ी समृद्धि हुई है। इस अन्वय के विद्यते खण्डों में जिन सिद्धान्तों की चर्चा की गई है उन्हीं की सहायता से अब हम दासत्व पर विचार करेंगे।

दासत्व की हानियों में सबसे पहले हम प्रेरणा की समस्या को लेते हैं। कार्य की सकृदालता और उमके प्रति अनिच्छा के लिए दाम बड़े बदनाम रहे हैं। अशुद्ध व्यवहार और अशुद्ध परिवार पानेवाला थोड़ा अपन चहेते स्वामी के इसारे पर सब-कुछ करने को तैयार रहता है। कुछ दाम भी ऐसे ही थोड़ों की तरह होते हैं, लेकिन अधिकांश ऐसे नहीं होते। कारण यह है कि उनमें मान-यता का अंश एक भा नहीं होता, उनकी न्याय-भावना ऐसी प्रणाली के विरुद्ध विद्रोह कर उठती है जिसमें उनकी मेहनत के बल पर दूसरे लोगों का घर भरता है, और उनकी स्वतन्त्र्य भावना नियन्त्रण के चातावरण में गीभ उठती है। अधिकांश दाम गन्ताप भी कर बैठें, लेकिन कुछ लोग उनमें घबरन ऐसे निवृत्त आएँगे जिनमें मान्यता की उग्र भावना होगी, और जो अपने विचारों को बाकी लोगों में फैला देंगे। यदि दाम और स्वामी के बीच निष्ठा का व्यक्तिगत सम्पर्क होना है तो व्यक्तिगत व्यक्तियों के कारण सम्पूर्ण टौर बने रहते हैं, लेकिन अगर दाम बड़े पैमाने के उद्यमों में काम कर रहे होंगे हैं, जहाँ वे एक-दूसरे के सम्पर्क में तो अधिकांश घाते हैं लेकिन स्वामी के

सम्पत्त में बहुत ही कम आ पाते हैं, तो यह निश्चित है कि वे अपनी परिस्थितियों का विरोध करेंगे, और प्रतिक्रियास्वरूप कम-से-कम काम करके देंगे। इसके बाद स्वामियों और दामों के सम्बन्धी होती है जिसमें दोनों पक्ष अपनी-अपनी शक्ति का परीक्षण करते हैं। इस मध्य में एक 'सन्तुलन' की स्थापना हो सकती है, जिसमें दोनों पक्षों के परम्परागत अधिकारों पर मौन समझौता हो जाता है। तत्पश्चात् दाम लोग इस परम्परा की मर्यादाओं में रहकर, दण्ड में बचने के लिए जितना कम-से-कम काम करना आवश्यक हो कम उतना काम करने रहते हैं।

कुछ प्रणालियों में दाम जो कुछ पैदा करना है सब उसके स्वामी को चला जाता है, जबकि दूसरी प्रणालियाँ में कानून या प्रथा की श्रेष्ठ में दाम को कुछ समय या सम्पत्ति का अपन लिए उपयोग करने की छूट दी रहती है। बाद वाली प्रणाली में दाम स्वामी का काम करने की अपेक्षा अपना काम करने समय प्रायः अधिक मेहनत करते हैं। इस पर कुछ स्वामी यह कहकर कि दाम अपना काम करने में इतना थक जाता है कि फिर उनका काम ठीक से नहीं कर पाता, उनके अपने काम करने के समय में कमी कर देने हैं। कुछ स्वामी दाम को उत्पादन का कुछ अंश दे देना अपने हित में अधिक अच्छा समझते हैं, यह दामत्व का आध-बँटाई की प्रथा के रूप में अप्रत्यक्ष परिवर्तन है। सारा उत्पादन स्वामी को देने के स्थान पर यदि उसका कुछ प्रतिशत ही स्वामी को देना पड़े तो दाम निश्चय ही अधिक काम करते हैं।

दूसरे, दामत्व का प्रभाव दामों पर पड़ने के साथ-साथ स्वयं उनके मालिकों की मनोवृत्ति पर भी पड़ता है, क्योंकि दामों के मालिकों में भी काम के प्रति ऐसी प्रवृत्ति पैदा होने की सम्भावना रहती है जो विकास के लिए हानिकारक है। वे लोग काम को नीची नज़र में देखन लगते हैं, और उसे केवल दामों के काम की चीज़ ही समझते हैं। दामों का प्रबन्ध भी बेतनभोगी प्रबन्धकों के हाथ में दे दिया जाता है। दामों के मालिक, पुष्प और स्त्री, बाहिलों की तरह पड़े रहते हैं, या ऐसे कामों को समय देते हैं जो महान् चाहे जितने ही लेकिन जीविका कमान में सम्बन्धित नहीं हों। वे अपनी आस्थियों को छोड़कर पैगमपरम्पन शत्रुग में रहन चले जाते हैं, और इसी प्रकार के और शोक करते हैं। परिणाम यह होता है कि उनके अन्दर नये आर्थिक अवसरों को खोजन और उनमें लाभ उठाने की क्षमता समाप्त हो जाती है, यहाँ तक कि उनमें धीरे-धीरे बचने के लिए बढती परिस्थितियों के अनुसार हट कर रहने की क्षमता भी नहीं रहती। दाम अर्थ-व्यवस्था के स्थापक शायद बड़े नशकत लोग रहे होंगे, जिन्होंने एक ऐसा नया स्थापित किया जिनमें अपने जमाने की परिस्थितियों को दबाने हुए बहुत अधिक धन का उत्पादन किया,

लेकिन उनके पीछे-पीछियों बहुत बदल गए हैं, और जैसे-जैसे परिस्थितियाँ बदलती जाती हैं दाग अर्थ-व्यवस्था का पतन होता जाता है।

दाग अर्थ-व्यवस्था में एक नयी उदय गतिशीलता का अभाव भी है और दागरथ के पतनरूप अभिजात-वर्ग की काम करने की दृष्टि पर जो प्रभाव पड़ता है उसे देखें। हुए यह अभाव और भी जातिवादी हो जाता है। मुख्य अर्थ व्यवस्था में सरकारी नौकरी व्यवसाय या बोद्धित कार्यों में लगे उच्चतम वर्ग निरन्तर तिलके वर्गों के हंगियार भागों को अतन में सामिल करने रहते हैं। दाग अर्थ-व्यवस्था में इन लाभकारी प्रक्रिया की गुंजाइश तब तक नहीं होती जब तक कि वहाँ दाग-मुक्ति को बढ़ाया न दिया जाता हो। कुछ दास गमाजा में दाग अपेक्षित दृश्य देखकर गलतता में आजाद हो गाने हैं, या स्वामी आजादी मजूर करने के लिए उत्साहित किए जाते हैं। लेकिन जिन गमाजों में दागों की समस्या धाड़ी होती है वहाँ दाग-मुक्ति का विरोध किया जाता है। आजादी पाय हुए लोगों को या उन्की गतानों को दागकुल बा ही के कारण जो बाधा होती है वह त्रिणी दाग-गमाज में कम और त्रिणी में अधिक पाई जाती है। अगर दाग और उनके स्वामी एक ही जाति के नहीं होने तो अनेक पीढ़ियाँ बीत जाने पर भी दागों की गताना को उच्चतम गमाजित स्तरों तक पहुँचने में बाधा पड़ती है। उदय गतिशीलता का महत्त्व इन बात पर निर्भर होता है कि उच्चतम वर्गों की समस्या की गुणना में दागों के स्वामियों की मदद मिलती है क्योंकि अग्र-स्वामियों की सहायता की हृदय तो वे उच्चतम लोगों को मदद बनाए रगन की दृष्टि में अतने ही कम में आवश्यकता-नुसार गतिशीलता प्रदान करने में मददस्वपूर्ण पर अतने वर्गों के लोगो को ही देगे। फिर भी दागों में अनेक ऐसे प्रतिभावागी लोग होंगे जिनका पूरा-पूरा उपयोग न होत में पूरा समुदाय के विकास की गति अघोशाहत गद रहेगी।

अगर दाग अर्थिक बाकी समस्या में होंगे हैं तो आदिपार या अतन बगानों की पद्धतियों को काम में लाने की प्रेरणा नहीं होती, और आर्थिक विकास नहीं हो पाता, अर्थात् काम की प्रति इकाई उत्पादन में वृद्धि नहीं हो पाती, यद्यपि काम की मात्रा बढ़ाकर कुल उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। कहा जाता है कि बाद के उमानों में लोग के विचारों में उपयोगी मशीनों के रचना पर विचारों का आविष्कार किया, जिनका कारण यही था कि दाग अर्थिक मशीनों के उपयोग की प्रेरणा समाप्त कर दी थी। ये विचार विचारप्रण हैं। अमरीका के बागानों की भाँति, जहाँ दाग अर्थ-व्यवस्था बाजिमियत रंगों पर आधारित जाती है वहाँ यह तर्क ठीक नहीं बैठता, क्योंकि उन परिस्थितियों में अतन अर्थ का निरूपण भी उपाय ही लाभप्रद गता है जितना कि उत्पादन की अर्थ-व्यवस्था में काम करना होता है। दाग अर्थ के अतन में अतन

बचाने की पद्धतियों को अमन में लाने की प्रेरणा तब तब बढ़ती रहती है जब तक कि अतिरिक्त उत्पादन को बचने या खुद उपभोग कर लेने की सुझावदायक रहती है, या आवश्यकता में अधिक अमियों को बचन की सुविधा होती है। य परिस्मिन्तिया उन अर्थ-व्यवस्थाओं में नहीं पाई जाती जिनमें स्वामियों के पास अपनी उम्मत के तापक दाग पहले से ही मौजूद होते हैं, या जिनमें स्वामी एकदम वाणिज्यिक पैमाने पर काम नहीं कर रहे हों। वाणिज्यिक दास-प्रथा की तुलना में घरनु दास-प्रथा आविष्कार के लिए शायद अधिक बाधक होती है। घरनु दास-प्रथा वाले समाजों के दास अगर प्राजाद होते तो शायद ऐसी नयी तकनीक अपना सकते थे या उनका आविष्कार कर सकते थे जिनमें उनकी मेहनत बचती या उत्पादन बढ़ता। दास प्रथा के साथ खास बात यह होती है कि नयी तकनीक सिर्फ इसलिए नहीं अपनायी जाती कि उनसे मेहनत बचती है या मजदूर की हालत सुधरती है।

दास-समाज में मुक्त समाज की अपेक्षा सम्पत्ता भी कम होती है, और इसीलिए उसमें बढ़तवा हुई परिस्थितियों का सामना करने की योग्यता कम होती है। उदाहरण के लिए परिस्थितियों में ऐसे परिवर्तन आ सकते हैं कि मजदूरों को जीविका कमाने का तरीका बदलना पड़े, सम्भव है उनके मुख्य निर्यात की मांग बढ़न गटी हो, या पौधों की किमी नयी बीमारियों के अचानक शुरू हो जाने के कारण मान की नफ़्ताई पर असर पडा हो, जिनमें नये उद्योग चलाने, उत्पादन और वितरण को नई व्यवस्था करने और नये काम सीखने की जरूरत आ पटी हो। मर-मरी तौर पर देखने में ऐसा लगता है कि दास अर्थ-व्यवस्था मुक्त व्यवस्था की अपेक्षा अधिक नम्य होती होगी, क्योंकि दासों के स्वामी केवल आदेश देकर ही बड़े-बड़े परिवर्तन कराने का बानूजन अधिकार रखते हैं, लेकिन दासों के स्वामियों के अधिकार उन परम्पराओं के अनुशासन में रहते हैं जो दासों के साथ उनके सम्बन्धों का नियमन करने के लिए स्थापित हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, परम्परा से ऐसी शर्तें हाँ मक्ती हैं कि घर का दास खेती पर काम करने के लिए नहीं भेजा जा सकता, या बटईगीरी लीने हुए दास को खानों में काम करने के लिए न कहा जाए। दरअसल वान यह है कि दास प्रथा सविदा पर आधारित नहीं होती, इसलिए वह स्वामी और दास के बीच उचित-अनुचित की संकल्पनाओं का महाग ले लेती हैं। यह हैमिपल पर आधारित अर्थ-व्यवस्था होती है, और इसीलिए भग हो मक्ने वाने सविदों के आधार पर चलने वाली अर्थ-व्यवस्था से कम नम्य होती है। स्वामी और दास के परस्पर सम्बन्ध भी नम्यता कम करते हैं। परिवर्तनशील अर्थ-व्यवस्था में निल-निम्न उद्यमों पर अलग-अलग असर पडता है, कुछ को अपना आवार घटाना होता है और कुछ को बढ़ाना होता है। अगर दासों के बाजार सुसंगठित हो तो बटवे हुए उद्यमों

ना घटने हुए उद्योगों में काम रोजीदारों की गृहस्थाश्रमों में लेकन कामों और उनमें मालिका के ध्वनिगत बन्धनों के कारण हम प्रतिष्ठा में रक्कत प्राप्ती है। हमके अन्तर्गत कि काम रक्कत सामाजिक और गजनीतिक प्रतिष्ठा और विश्वासिप्राप्त की बात समझी जाती है इसलिए मानिक लोग अपने कामों को बचाना समझ नहीं करते। सम्यक्ता में अन्तर्गत बन्धनों का धारा जाता है। सभी अर्थ व्यवस्था अनर्थ होती है और उद्योग बन्दगी हुई परिस्थितियाँ की प्रतिष्ठा भीमा जाती है। लेकिन कुछ बात एसी अवश्य है जिनके आधार पर यह माना जा सकता है कि काम अर्थ-व्यवस्था की अन्तर्गत मुक्त अर्थ व्यवस्था में प्रतिष्ठा अर्थात् लक्ष्मी से होती है और अन्तर्गत यह मही है ता निरन्तर बन्दगी हुई परिस्थितियाँ में काम-व्यवस्था के बन्धनों और विकास करने की सम्भावनाएँ काफी कम हो जाती है।

लेकिन काम प्रथा को अनुष्ठान मानने पर भी हममें इनकार नहीं किया जा सकता कि स्वयं विश्वास में कुछ उद्योगों का विकास करने के लिए एतन्मात्र मान्य नहीं है। हम एक ही स्थान पर एक ही समय में मुक्त लोग और कामों के कामों की तुलना कर रहे हैं। यदि उद्योग स्थान पर काम तो मौजूद हो लेकिन मुक्त लोग उपलब्ध न किए जा सकने से तो हमारी तुलना निरर्थक होगी। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में बम्बई देश के विस्तार से उद्योगों का विकास काम प्रथा के अभाव में हो नहीं सकता था क्योंकि मुक्त लोग तो उपलब्ध ही नहीं थे। और अन्तर्गत कामों के अन्तर्गत मुक्त लोग मौजूद भी हो तो सम्भव है य उद्योगों में प्रस्तावित उद्योगों में काफी कामों में काम करने के दृष्टिकोण में हो। हमकी सम्भावना तब और भी अधिक रहती है जब कि मुक्त लोगों के कामों पर ही यद्यपि जमीन हो और उद्योगों कायम हो व रहने-सहने का अभाव स्तर कामों में नियत हो। काम प्रथा अर्थिकों की कमी वाले प्रदेशों में ही रहती है, अन्तर्गत कामों की तुलना में अर्थिकों की कमी काफी है ता मुक्त और मजदूरी लेकर काम करने के दृष्टिकोण अर्थिकों का काम देना अन्तर्गत पड़ता है। और जिन प्रदेशों में मुक्त अर्थिकों की कमी के कारण काम प्रथा अधिक लाभप्रद होती है वहाँ भी यह दूसरे कामों की अन्तर्गत कुछ विधायक प्रकार के उद्योगों में बहुत अधिक उपलब्ध रहती है। काम अर्थिक काम और ही है इसलिए यह ऐसी कामों पर लगाना ही रहता है जिनमें प्रति एकड़ बन्द अर्थिक मजदूरों का आवश्यकता होती है ताकि एक ही अर्थिकों पर अन्तर्गत कामों के काम पर निगाह रखा सके—काम, कर्म, लम्बाई या आय इसी प्रकार की कमी है जब कि गरीबों की गरीबी और अनुपलब्धता से अनुपलब्ध काम है।

इसीलिए जहाँ और धन्धों में मुक्त श्रमिक लगे होते हैं वहाँ भी खानों कार-खानों और पतवारों में चलाए जाने वाले जहाजों में दामन्व का बोनवाला रहता आया है। इन धन्धा में अनेक लोग एक ही स्थान पर इकट्ठे होकर काम करते हैं, अतः निगरानी करना आसान होता है। दाम श्रमिका की काम-चोरी का दूसरा परिणाम यह है कि उन्हें कारीगरी के धन्धों में नहीं लगाया जा सकता। अपने मालिका के अच्छे व्यवहार में पल कुछ घन्टों दाम बहुत चंच दजों के दम्नकार पाय गए हैं। अकसर देखने में आता है कि अगर दास किसी दस्तकारी में लगा है तो स्वामी किसी प्राणुपानिक आधार पर उसकी कमाई को अपने और दास के बीच बाँट लेता है या कभी-कभी एक निर्धारित आय में ऊपर की मारी कमाई दास को ही दे देता है। य व्यवस्थाएँ दाम का बटिया दस्तकारी मिखाने के लिए आर्थिक प्रेरणा दान की दृष्टि से की जाती हैं। क्योंकि आमनौर पर दाम अकुशल होते हैं, अतः वे मुक्त श्रमिक में तब तक प्रतियोगिता नहीं कर सकते जब तक कि मुक्त श्रमिक की कमाई न हो।

इसी प्रकार, दाम-प्रथा के अनुकूल मानने पर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उसकी महायता से ऊँचे दरजे की मस्कृति का निर्माण किया जा सकता है। दामों द्वारा किये गए उत्पादन से एक आरामतलब वर्ग का पालन-पोषण किया जा सकता है जो, जैसा कि प्राचीन ग्रीस में हुआ, दर्शन, सूतिवला या और दूसरी उदार कलाओं की उन्नति में अपना समय दे सकते हैं और उनके माध्यम से मानव-आत्मा और मानव-मस्तिष्क को दम्पन मुक्त करने के काम का पथ प्रदर्शन कर सकते हैं। दाम प्रथा का सदैव यही परिणाम नहीं होता, वेस्ट इण्डीज की दागान म्भ्यता मारी दुनिया में नीची नजर में देखी जाती थी, और अमरीका के दक्षिणी राज्यों की मस्कृति हालाँकि कुछ ऊँचे दर्जे की थी, पर वहाँ के दामों द्वारा उत्पादित धन आमता पर ऐसी आगम का जीवन बिताने वाले काहिलों पर उड़ जाता था जो मानव-विक्रम के लिए किसी प्रकार का योगदान नहीं करते थे। जिन स्थानों पर दाम-प्रथा के कारण मगवन म्भ्यता का निर्माण हुआ है वहाँ भी उनके लाभ मुट्टी-भर स्वामियों को ही मिले हैं दामों को नहीं मिले। कुछ लोग हमेशा ऐसे मिल जाते हैं जिनका तर्क है कि लोगों को अपनी उन्नती-नीची युक्तियाँ लगाने के लिए आजाद छोड़ने की अपेक्षा दामों के रूप में उनकी अच्छी देख-भाल करने से उत्तरी ह्मन्वेत्तर रहनी है, यह वैसा ही तर्क है कि अपने छोटे की तुलना में पालतू घोड़ा ज्यादा अच्छा रहता है। हमें इन बातों पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जीवनयापन के भिन्न-भिन्न तरीकों की वाच्छनीयता जंचने में हमारी दिनचर्या नहीं है, हम तो आर्थिक विकास के नव्य का अध्ययन करना है।



अन्त में यह भी स्मरणीय है कि दास-अर्थ-व्यवस्था एन जमान में चाहे जितनी समृद्ध रही हो अथवा पतन की दिशा में बढन लगती है क्योंकि दामों की एक पीढ़ी का स्थान अगली पीढ़ियाँ प्रायः नहीं ले पाती। जब तब मस्ये मूल्य पर बाहर से दास मिलने रहते हैं तब तब दास अर्थ-व्यवस्था उन्नति करती रहती है लेकिन इस माधन के समाप्त होने ही उसमें गिरावट घान लगती है। इसीलिए दास-प्रथा तब तब पतनशील रहती है जब तक कि निरन्तर युद्ध होने रहते हैं या दामों पर चढावटियाँ होती रहती हैं, जिनमें दासों का बड़ी मस्या में पकडकर बचन के लिए लाया जाता है। लेकिन शान्ति स्थापित होने ही, या दास-व्यापार समाप्त होने ही इस अर्थ-व्यवस्था का पतन हो जाता है। रोम के अनुभव में यही पता चलता है जहाँ सीमाओं पर शान्ति स्थापित होने ही दास-अर्थ-व्यवस्था का पतन होने लगा। इसी प्रकार जर्मनी का पतन १८३४ में दास-प्रथा के उन्मूलन के साथ न होकर उससे लगभग तीस वर्ष पहले ही दास-व्यापार के उन्मूलन के साथ हो गया।

बाहर में दासों का आना रहने ही दामों की जनमस्या कम होने लगती है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक दास बनाए जाते हैं, अतः अगले दामियों के इनकी काफी लड़कियाँ पैदा भी हो जाएँ जो उनका स्थान ले सकें (अतः यह हो नहीं पाता), तो भी दासों की जनमस्या बंदी पुरुषों के मरने के साथ-साथ कम होती जाती है। एन पीढ़ी के बाद स्त्री और पुरुषों की मस्या लगभग बराबर रह जाती है और प्राकृतिक पुनरुत्पादन व आधारा पर एक नया मनु-जन कायम होता है फिर भी दास-जनमस्या का पूरी तरह पुनरुत्पादन नहीं हो पाता।

अगर हम किसी ऐसे देश का उदाहरण लें जिसमें इनके लम्बे समय से कोई दास बाहर में नहीं आया और जितने दास वहाँ हैं वे सब उन्हीं देश में पैदा हुए हैं, तो वहाँ की दास जनमस्या का लगभग एन-निर्धार काम पर लगा पाया जाएगा। बेस्ट इंडीज की गन्त की मन्त्री के मादियों ने दास प्रथा के उन्मूलन के ठीक पहले का यही अनुपात बताया था। बाकी दो-निर्धार जन-मस्या में बच्चे, और उनकी एक अपेक्षा पतियों की देखभाल करने वाली मरनाएँ शामिल होती हैं, और अतः हमें भी बहुत में लोभ होने हैं जो अपने की सीमाएँ बनाने हैं या दास-प्रथाओं में काम करने में बचने की दृष्टि तबकीबो का फायदा उठाकर पड़े रहते हैं। काम करने वाले दामों के इस छोटे अनुपात को देखकर हमें बर्बरता नहीं चाहिए क्योंकि जन-जनता अपने शक्ति की परिभाषा के अनुसार मुक्त समाजों में भी अतः जनमस्या का पैमाना ३५ में ४० प्रतिशत तक ही 'अवैध' धर्मों में लगा होता है।

यदि दासों को अपने परिवारों के साथ रहने की आजादी होती है तो

उह मुन जनमल्या के समान ही पुनरुत्पादन करन का मोका रहता है—या शायद अपक्षाकृत अधिक मोका रहता है, क्योंकि उह शायद बहुत बिक्रित्वा-सुविधा मितो हाती है और नाम भी कुछ कम ही करना पडता है। बंस दासो का अक्सर अपन परिवारा क साथ नही रहन दिया जाना क्योंकि इसन स्वामी के ऊपर प्रति दाम दा निष्प्रिय लोका क भाव-भाव को विम्बदागी आ पडती है। इमीलिए बहुत स स्वामी कवल वयस्य पुग्ग दाना का ही रगन हें और उह विवाह नही करन दन। दामिया लाकप्रिय नही हें उहां दामिया रनी भी जानी है वहा कागिग यही की जानी है कि उनके बच्च न हो, और अगर उनक बच्च पैदा हान है तो उन्हें उनकी दम्भान करन क लिए काफ्री समय नही दिया जाना। इही कारण म दामा म उन्म-दर कम हाती है और गिगु और वान-भूसु मख्या अधिक रहती ह। फनस्वल्प दाम-उनमल्या का पुनरुत्पादन नही हा पाता। बडी-बडी बन्धिया निश्चय ही छोटी बन्धियो स अच्छी रहती है, क्योंकि छोटी बन्धियो की अपक्षा बडी बन्धियो म पुग्ग, न्थी और बच्चो का मनुजन ठीक कायम रखा जा सकता है। मही कारण है कि बड प्रतिष्ठानो की अपेक्षा छोट प्रतिष्ठान उन्दी सनापत हा जात हें और, जैसा कि परवर्ती रोम साम्राज्य म हुआ, अनमता घटती जाती है। लेकिन बड प्रतिष्ठान भी समय पाकर सनापत हा जान हें बसते कि वे वाणिज्यिक आधार पर नय दासो के प्रजनन की समस्या पर ध्यान न दें।

बिलडुन यही परिणाम घोडो के अम पर आपारित अर्थ-व्यवस्था का हो, यदि घोडो के हर मानिक से नर और मादा, वयस्य और गिगु का उचित सन्तुलन कायम रखन की आशा की जाए। यद्यपि म यह सन्तुलन इसनिए नही रहता क्योंकि घोडो की अर्थ-व्यवस्था मे बिक्री क लिए घोडो की नम्स तैयार करने में विशेषज्ञता हासिल करना बडा लाभकर होता है। इसी प्रकार बाहर से दाम बुलाए बिना दास अर्थ-व्यवस्था केवन उभी चन सकती है जबकि कुछ स्वामी बिक्री के लिए दासो के प्रजनन का काम विशेषज्ञता के आधार पर करने लगें। दाम-व्यापार क उन्मूलन के बाद अमरीका की दक्षिणी राज्यों मे इन प्रकार की पडति अपनायी गई थी, लेकिन दास प्रथा का यह सबसे कम लोकप्रिय पटजू है, क्योंकि इनमे पत्नियो की पतियो न, और बच्चा को उनके माता-पिताओ से अलग करना पडता है और उन सभी भावनात्मक बंधनों को टुकरा देना होना है जो मनुष्यो के बीच यौन-सम्बन्धो के लिए उचित माने जाते हैं। अत दाम अर्थ-व्यवस्थाआ म दासो के प्रजनन केन्द्र प्राय नही पाए जाते, या अगर वही है भी तो उनकी सख्या रतनी नही है कि वे दामो की सप्लाई कायम रख सकें। निष्कर्ष यह है कि अधिकांश दास-मनाजो मे बाहर से दासो का आना बन्द होते ही अर्थ-व्यवस्था छिल्ल भिन हो जाती है।

इस मामले में दाम-प्रथा की अपेक्षा कृषि-दास्य बड़ी अच्छा है, और साथ ही मुख्य कारण है कि बाहर के दमा में दामा का घना बन्द होने पर दाम-प्रथा समाप्त हो जाती है और उसके स्थान पर कृषि-दास्य स्थापित हो जाता है। कृषि-दास्य का विनाश करने का अधिकांश ज्ञान है और यमुना नदी की तरह ही रहता है। कृषि-दास्य को प्रसन्न रख समझ अपन नाम के लिए दिया जाता है और अपने लिए बेनी करने के लिए कुछ जमीन भी दी जाती है। कुछ कृषि-दास्य आध-बैंटारी की प्रणाली के अन्तर्गत भी काम करते हैं। कृषि-दास्य की मजदूरी उन्नत अवस्था में कृषि-दास्य पर यह बन्धन लगा दी जाती है कि वह अपने मातृ-पिता की अनुमति के बिना जमीन छोड़कर नहीं जा सकता। बेधियन प्रायः उस क्षेत्र में निश्चित विरासत देने की इच्छा होती है, और अपने लाभ के लिए दसों जमीन उत्पादन करने की मांगी प्रेरणाएं रहती हैं। कृषि-दास्य पर आधुनिक समाज घातक विचारों का प्रसारण करता है, लेकिन दास्य पर आधुनिक समाज विद्वानों में दामा की मजदूरी बन्द होने की स्थिति-भिन्न होने लगता है।

(ग) परिवार—परिवार इतना महत्वपूर्ण सामाजिक मध्यम है कि हमें प्रायः उन सभी समस्याओं का सम्बन्ध है जिन पर हम पहले चर्चा कर चुके हैं। हमें प्रेरणा, विवेकबलता, उद्वेग, गतिशीलता और साधनात्मक पटुत्व की सम्मिश्रण है। पहले हम परिवार के सम्बन्ध पर हमें चर्चा आरम्भ करेंगे, क्योंकि परिवार की एक शाखा और दूसरी शाखा के बीच सम्बन्धों पर विचार करेंगे। उनके बाद स्त्रियों की स्थिति, और अन्त में पौड़ियों की चर्चा होगी। जनसंख्या की समस्याएं अध्याय ६ पर छोड़ दी गई हैं।

आदिम समाज में परिवार का अर्थ बड़ा व्यापक होता है। मनुष्य केवल अपने माता-पिता अपनी और बच्चों को ही बांधत नहीं मानता बल्कि अपने भतीजे भतीजियों को परिवार में शामिल मानता है जिनकी संख्या कभी-कभी पाँच से तक पहुँच सकती है। इस व्यापक परिवार में कई प्रकार का समुदाय-वाद प्रकटित हो सकता है, भूमि पर सभी का शामिल बँटव हो सकता है। गौरी भी माय-माय की जा सकती है और परिवार के सभी सदस्यों को परिवार में गुजारा भागों का हक होता है।

हम हमने है कि जैसे जैसे समुदाय धीरे धीरे जाता है परिवार की गति-गति मजबूत होती जाती है। व्यापक परिवार का मुख्य उद्देश्य गुजारा के लिए रात-रात जीवनयापन करने वाले समाज के उपयुक्त सामाजिक गुणों की व्यवस्था करना है। निम्नान्तरे पर परिवार के सदस्य मजदूर-मजदूरियों की मदद के लिए दौड़ पड़ते हैं, और परिवार जितना ही बड़ा होगा बीमों की यह व्यवस्था उतनी ही प्रभावकारी होगी। साथ में वृद्धि होने के साथ-साथ व्यक्तियों की

घन बचाने की क्षमता बटती जाती है और वे मुमकिन के समय अपनी सहायता स्वयं करने लगते हैं। परिवार के भिन्न-भिन्न सदस्यों के घन और उनकी आमदनियों में भी अधिक अन्तर होने लगते हैं। सामान-व्यवस्था सुधर जाती है और मन्वार बड़े लोगों या निराश्रितों की मदद करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने लगती है। सामाजिक सम्बन्ध हैसियत को बजाय नविदा के ऊपर आश्रित होत जाते हैं। इन्हीं अर्थशास्त्र की समझों के व्यक्ति दूर के रिश्तेदारों के प्रति नैतिक दायित्व स्वीकार करने से मुकरने लगते हैं। सामान्य निष्कर्ष यह है कि भौतिक रूप से समाज जितना ही उन्नत होगा, कमाई करने वाला व्यक्ति उतने ही कम रिश्तेदारों को मान्यता देगा। मान्यता से हमारा तात्पर्य यह है कि वह अपनी आमदनी में होने वाली वृद्धि न चाटे ही लोगों को पावदा पहचाना चाहेगा और रिश्तेदारों के निराश्रित हो जाने पर भी उन्हें अपनी आमदनी में से सहायता पहुँचाने के लिए तैयार नहीं होगा। छोटे समुदायों में भी पारिवारिक दावों पर जोर देना आसान होता है क्योंकि समुदाय का हर सदस्य एक-दूसरे को जानता है, और परिवार के घनी सदस्य को जनम से बाध्य होकर शरीर रिश्तेदारों की सहायता करनी पड़ती है। इसके विपरीत बड़े समुदायों में, जहाँ लोग अपने पटों की तक को नहीं पहचानते, मनुष्य अपने परिवार की आसानी से उपेक्षा कर सकता है और इस बात की चिन्ता किये बिना कि उसके मित्र क्या सोचेंगे, जिस तरह चाहे रह सकता है। यह समाज की औसत आमदनी से भी सम्बन्धित है क्योंकि नगरो और गाँवों का आकार देश के घन में होने वाली वृद्धि के साथ सम्बद्ध है।

व्यापक परिवार-प्रणाली गुजारे की अर्थ-व्यवस्था वाले समाजों के लिए बहुत लाभकारक होती है, लेकिन वर्तमान आर्थिक विकास वाले समाजों में यह अनुपयुक्त है। ऐसे समाजों के लिए यह निश्चय ही आर्थिक प्रयत्नों में बाधक होती है। बात यह है कि विकास पहल करने की भावना पर निर्भर होता है और यदि आदमी को पता हो कि उसके प्रयत्न का पारिवारिक अनेक ऐसे लोगों में बँट जाएगा जिनके दावों को उचित नहीं समझना, तो उससे पहले की भावना को आपात पहुँचता है। व्यापक परिवार-प्रणाली वाले समाज में परिवार के सदस्य की आमदनी बटने ही अनेक दूर-दूर के रिश्तेदार और अधिक पैसा माँगने के लिए उसे घेर लेते हैं। अधिक प्रयत्न करने की दिशा में वह नशा ही बाधक रहता है, और विशेषकर ऐसे समय में यह और भी हानिकारक सिद्ध होता है जब कि परिवार की भव्यता संकुचित हो रही होती है और समुदाय के अन्दर मान्यता की सीमाएँ छोटी होने लगती हैं, क्योंकि इस संक्रमण-काल में मनुष्य उन लोगों के दावों मानने से मुकरने लगता है जिन्हें वह पहले बिना किसी हिचक स्वीकार किये हुए था। एगिया और अशोका के

प्रत्येक ऐसे वृत्तान्त सुनने को मिलने है जिनमें योग्य व्यक्तियों में पदोन्नति में गिरफ्त दृष्टीलिए इतराए कर दिया कि उनमें हानि बाने प्राथमिक लाभ परिवार के उन सदस्यों में बँट जाने जिनके अधिकार को व माग्यता नहीं देने में । दूसरे दृष्टिकोण से दगने पर भी यह प्रणाली पढ़ने की भावना के लिए घातक है, क्योंकि इससे हर आदमी को जल्दों अपने-आप पूरी हो जाती है जिनमें कतिशीलता, विनायतशारी और उच्च की प्रवृत्ति में कमी आती है ।

हृदय से अनुभव की जाने पर भी पारिवारिक दायित्व की उत्कट भावना मक-लता के मार्ग में कई प्रकार से बाधक हो सकती है । इसमें प्रेरित होकर मनुष्य अपने रिश्तेदारों को ऐसे कामों पर नियुक्त करता है जिनके लिए वे उपयुक्त न हों, और यह भी सम्भव है कि किसी योग्य आदमी को किसी पद पर केवल इसी आशय से नियुक्त न किया जाए कि वह पद पर आ जाने के बाद अपने नीचे के पदों पर अयोग्य रिश्तेदारों को भरती कर लेगा । आदिम समाजों में लोगों को यह भी भय रहता है कि परिवार का अपमान करने के पक्षस्वरूप कहीं उन पर जादू-टोने न कर दिए जाएँ और वे प्रेम के बजाय इसी भय के कारण भाई-भतीजा को प्रश्रय दे देते हैं । जैसे कभी-कभी अपने परिवार के सदस्यों को नियुक्त करना सबसे अच्छा रहता है, इसका कारण यह भी हो सकता है कि यह अधिक प्रभावशाली हो अन्यथा इतना तो है ही कि उमकी निशा-दीक्षा के बार में पक्का पना होना है और उस पर विश्वास किया जा सकता है, लेकिन हर मामलों में यह ठीक नहीं होता । दूसरी बहिनार्थ उन पारिवारिक व्यवसायों का प्रबन्ध करने की है जिनमें कई सदस्य शामिल होते हैं । यदि इन सदस्यों को एक-दूसरे पर विश्वास होना है, और हर व्यक्ति अपनी पूरी क्षमता से काम करता है तो पारिवारिक भावना में व्यवसाय को कति प्राप्त होती है, लेकिन परिवार-भावना में व्यवसाय का प्रायः हानि ही पहुँचती है । दूसरे पारिवारिक बाधनों बाने देना में सबसे अधिक उच्चमी और मकल व्यक्तियों को ही पाए जाते हैं जिनके कोई मामलाजिब दायित्व नहीं हाने, और इसीलिए जो अपने पैरों पर खड़े होकर काम करते हैं ।

व्यवसाय में परिवार भावना की उच्च कमियाँ को ध्यान में रखकर ही उमके लाभों की चर्चा करना चाहिए । जिन समाजों में अपरिचितता में विश्वासनीय गवा की आशा नहीं की जा सकती यहाँ बड़े पैमाने के उच्च के लिए परिवार ही सबसे उपयुक्त इकाई माना जा सकता है । उदाहरण के लिए कुछ व्यवसायों में मकल नगरों, या उपनगरों या देशों में सागणों स्थापित करना लाभप्रद होता है, जैसे रेशम व्यवसाय में श्रु गता भंडार की तरह के खुदरा व्यापार में, और धातु-वितरण आदि में । इन मामलों में वे परिवार बड़ी लाभप्रद स्थिति में रहते हैं जिनमें प्रत्येक भाई हा, या नजदीकी रिश्ते के भतीजे हो,

कुछ लोगों का उपादन बढ जाता हो । पन्थिम के प्राथमिक समाजों में मध्यम और उच्च वर्ग की स्त्रियों को काम का अधिकार प्राप्त करने के लिए बड़ा लक्ष्य बना जाता है । लेकिन दूध का अवनत समुदाय में पुरुष अल्पसंख्यक अधिकारवादी का जीवन बिताते रहे हैं जबकि जर्मन पर गतो करने और पन्थि का के लिए माना परान और पत्रन के कपडे बनाने में स्त्रियां बहुत परिश्रम करती रही हैं ।

स्त्रियों के करण साथ कामों पर बन्दिश उठाने में गभीर देशों में आर्थिक विकास में बाधा पड़ती है । कुछ आदिम समुदायों में अवनत पर व अवनत या अवनत में के अनायास स्त्री का बर्तन और काम नहीं करने दिया जाता । हमारे इन मूल्यों की आत्मनिर्भरता बढ़ती है और व्यापार और विशेषज्ञता के अवनत पर जो जान हैं । दरअसल यह बढ मार्ग की बात है कि आर्थिक विकास और घर की चलायतीयारी में बाहर आकर स्त्रियां का काम करना प्रतिकूल मान्यता प्रवृत्ति करने है । प्रति व्यक्ति आय बढ़ने में वृद्धि की घरेलू शिक्षा के स्थान पर स्त्री शिक्षा तो आरम्भ होती है, साथ ही पोषण नियंत्रण करने, पैसा-प्रशासन और होस्टल आदि उद्योगों में भी नर्तकों में वृद्धि होती है । आर्थिक प्रवृत्ति और स्त्रियों के घर में बाहर आकर काम करने के सम्बन्ध को हम अवनत राष्ट्रीय आय की गणना करने वाले मन्थानास्त्रियों की मान्यता के आधार पर ही उन्नति का लक्षण नहीं बना रहे—मन्थानास्त्री घर के काम को राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं करते लेकिन जब स्त्रियां बाजार में जाकर वहीं काम करना लगती हैं तो उन्हीं राष्ट्रीय आय में जोड़ लेते हैं—विशेषज्ञता के अवनत रूप उन्नादन की मात्रा और विस्म में भी आर्थिक वृद्धि हो जाती है । यदि प्रथा ऐसी हो कि स्त्रियां केवल घर के अन्दर ही काम कर सकती हैं, या घर में रहकर केवल घरेलू नौकरानियों, टाइपिस्टों या और छोटी-नी गिनो-बनी स्त्रियों को ही काम करने का अवसर हो तो हमें आर्थिक विकास में बाधा पानी है । स्त्रियों द्वारा आयार्थी में किए जाने वाले कामों की फँसियों को अवनत अवनत बड़ी नेत्रों में राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाया जा सकता है, जिन समुदायों में पुरुषों की मन्थाना कम है उन्हीं पर लगे हुए अवनत काफी विकास किया है । हमारे उत्पादन में प्रत्यक्ष और अवनत दोनों प्रकार की वृद्धि हो सकती है । उदाहरण के लिए, अवनत के कुछ विमान केन्द्रीय फँसियों में कुशलतापूर्वक काम का प्रतिकारण न करके घर पर ही अवनत रूप में अवनत बना कर लेते हैं । बात यह है कि अवनत के अवनत स्त्रियों में यह काम नहीं तो फिर के लगभग टापी ही बँटी रहती । ऐसी परिस्थिति में स्त्रियों को बाहर के काम देने में अवनत प्रतिकारण के लिए नौकरों में भेजी जाने लगेगी और अवनत मान की विस्म में सुधार हो सकता है ।

वर्तत है। यदि परम्परा न्य वान पर जात दना हो कि पुत्र कवन अपन पिता का धंधा हो अपनान ता हमम व्यावसायिक गतिगानता म भी कमी घाता है। पात्रिया म बहुत निकट का सम्बन्ध हान म जाति प्रथा का जन्म मितता है जिनमे शान्तगत पत्र का अनिवाध रूप म अपन पिता का धंधा अपनाना पन्ता है। यह उत्पन्न और सामाजिक गतिगानता क माग म स्वावट्ट डानता है। परि वनन और आर्थिक विभाग क माग म यत् मन्म नि वि वन वा शान्त म एक है।

व्यापक परिवार का सम-स्तर दष्टि-म विनियमन करत समय मन्म न्या था नि यह आर्थिक प्रयत्ना क माग म एक बन्ना बाया है और तहा ता कवन शयी कारण नाम महनन करन म वतगत है कि उनना पन म्म दूर-दूर क विनियोग म भा बाँटना पडता है जिनक प्रति उत्पन्न बार्ड प्रम नहा हाता। लेकिन जहाँ तक बच्चा की अपन माना पिता पर निर्भरता का प्रश्न है हम मानेना चाहिए कि परिवार एक हूँ तक आर्थिक प्रयत्ना का बन्नावा न्ने है। म्मका सर्वाधिक प्रभाव तय होता है जबकि मनुष्य अपन परिवार क बार म महत्वा काशी हान है अथान् उनका यत् अभिजाया न्ना है कि परिवार की जसा सामाजिक स्थिति म व पन्ना हूँ थ उनना मन्तान उमम और भा ऊँचा स्थिति म पन्ना न्ना।

अपन परिवार का सामाजिक स्थिति का ऊँचा उत्थान का इच्छा मनुष्य का हमक लिए प्राप्त अवसर पर निर्भर हानी है। यत् इच्छा उन नियन गाँवा म पन्ना न्ना हो मन्ता जहाँ हर किसान गजार तायक कामा पाता है और भौतिक स्थिति का वृद्धर बनान का मजायण थाया हो हानी है। यदि बानुना या रम्म विवाजा की बाधाएँ या धम या वग मनुष्य का एक वग म उत्तर दूमर वग तक पहुँचन म म्मनर डानन हो ता भा यह इच्छा पन्ना न्ना जाता। रूढ़ गतिगानी या अवनतिगान अथ-व्यवस्था म भी एक इच्छा का बार्ड विनियम म्मय रही हाता। वग रूढ़ गतिगाना अथ-व्यवस्था म भी थाया बन्नु सामाजिक गतिगानता पार्ड जाना है मन्मिन सर्वाधिक गतिगानता उहा ममुत्पाया म हाता है जहाँ उत्पादन तडा म बड रन्ना हाता है। यान यत् है कि उन्नतिगान अथ व्यवस्था म हा मध्यम वग का मवम अधिक विस्तार हाता है। उमम प्रणामका या मिश्रिया या ध्यापारिया या पावरा क रूप म काम करन क लिए निम्न वर्गों स म्म भातर माग मितन रहन है। और एमा हा परिस्थितिया म पन्ना कामान या दूमरा गिगाया म उन्नति करन क म्मवाधिक अवसर प्राप्त हान है। अन्ध परिवार की नीक रूढ़न की अभिजाया उन्नतिगान अथ-व्यवस्थाया म मवम अधिक बनवनी और प्रभावगाना हाता है रूढ़ गतिगाना अथ-व्यवस्थाया म यह मवम कम पार्ड जानी है। यत् उन अन्ध विस्था म म एक है जिनम विभाग म गहायना दनवाना गतिगानी एक-दूमर का वन प्रणान करन्ना है। एक

अमरीकी नगरों की तुलना में इंग्लैंड में परिवार का सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। साथ ही अमरीकियों को अधिक आधिर प्रयत्न करने के लिए अन्य प्रकार की प्रेरणाएँ भी मिलती हैं जैसे ऊँच दर्जा के रहने-महने का उप-भाग करने की आशाया और अपने लिए अधिक धन और प्रतिष्ठा अर्जित करने की इच्छा आदि।

जालीबंद आधिर प्रयत्न का बढ़ावा देने के मामले में अमरीकियों को अधिकार का महत्व हीन ठीक नहीं धारा जा सकता लेकिन इंग्लैंड काई महत्त्व नहीं है कि इंग्लैंड बढ़ावा अत्यन्त मिलता है और आधुनिक सरकारें इंग्लैंड अधिकार पर जो अधिकारिक बाँटने लगा रही हैं—विदेशीय उच्च मृत्यु-दण्ड व अन्य—उन्हे सम्पत्ति अर्जित करने की प्रेरणा में नहीं आती है। दूसरी ओर उत्तराधिकार में मिली सम्पत्ति, उत्तराधिकारियों और दोग समुदाय पर सम्पत्ति के उत्तराधिकार का जो प्रभाव पड़ता है उगर्वा भी चर्चा बड़ी कर लेनी चाहिए।

दूसरे विचारप्रस्तुत आना में यह यह है कि सम्पत्ति की देण्डाभाज पर उत्तराधिकार का प्रभाव क्या होगा है। जिनके व्यक्तियों या अर्जित की नीव रखने वाले व्यक्ति का बड़ा ही निश्चित रूप में उग सम्पत्ति की देण्डाभाज के लिए सर्वाधिक योग्य पुरुष नहीं होता। उग विपरीत उत्तराधिकार पर आधारित सम्बन्ध उगन दीपजीवी या सम्पन्न नहीं पाए जाते जिनके सम्बन्ध होते हैं जिनके वेता हर पीढ़ी में नये गिर में धुन जाते हैं। रामन वैदिक काल की धारि का एक कारण निश्चित रूप में यह भी है कि उग विपरीत धुन जाते हैं जन्म में निर्धारित नहीं होते। इसी प्रकार धारिभाज साम्राज्य का शासन का कारण भी अत्यन्त बड़ी की जानिगारियों की प्रेरणा भी मानी जाती है जिनके अत्यन्त पैरल गिपाटियों की भरती हर पीढ़ी में नये गिर में की जाती थी। कुछ साया की यह गिपाट है कि आजकाल की बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों में पारिवारिक सम्बन्ध का धारा ही महत्त्व दिया जाता है लेकिन जिनके शर शर निवृत्तियों करने समय लोगों के पारिवारिक सम्बन्धों का विचार न करने की बड़ती हुई प्रथा सम्पत्तियों को धारिता ही बाल में भी गटापक हो सकती है। दूसरी ओर, उत्तराधिकार की प्रेरणा के भी अभाव मान है, उत्तराधिकार पट्टे में निश्चित हाजा है जिनके कारण उत्तराधिकारी पट्टे में ही अपने को उगर्वा लिए योग्य बनाने का प्रयत्न करता है, और यह प्रेरणा मरग भी है।

उत्तराधिकार का प्रभाव उग पर भी निर्भर करता है कि सम्पत्ति के उग सबसे बड़े लक्ष्य को मिलती है या परिवार के सदस्यों में बाँट जाता है। ज्येष्ठाधिकार के अभाव में सम्पत्ति ज्यों-की-व्यों बनी रहती है। जहाँ यह पैराल पर उत्तराधिकार सम्बन्ध हा, या उन मृत्यु समुदायों में, जिनमें जोड़ पट्टे ही



अपनी प्रतिभाओं के श्रेष्ठतम उपयोग की उम्मीद ही नहीं पड़ती। जिन समुदाय में सब लोग एक ही स्तर में जीवन आरम्भ करेंगे सम्भवतः वही सबसे अधिक प्राथमिक विभाग होगा, और उस समुदाय में शायद और भी अधिक विभाग हो सके जहाँ ऊँचे दर्जे की प्रतिभा वाले लोगों का अधिक सुविधाओं से साथ जीवन आरम्भ करने के अवसर दिए जाते हैं।

(घ) खेती का संगठन—भूमि के स्वामित्व और उपयोग में सम्पत्ति के समान और प्रथाओं का प्राथमिक महत्त्व मजबूत अधिक है किन्तु निधन समुदायों में जहाँ खेती ही मुख्य प्राथमिक क्रिया है। साथ ही राजनीतिक और सामाजिक नियंत्रण निर्धारित करने में भूमि का महत्त्वपूर्ण योग होना है। उदाहरण के लिए भूमि सम्बन्धी नियम और प्रथाएँ प्रायः प्राथमिक विभागों का मुख्य रूप में दृष्टि में रखकर नहीं बनाई जाती। प्राथमिक विभाग की दृष्टि में हमें कृषि-भूमि के धारणाधिकार, खेती के प्रकार और उन दाना खाता के प्रेरणाओं में सम्बन्ध पूंजी-निर्माण और तकनीकी नवीन प्रविष्टियाँ पर विचार करना है।

पढ़ते हैं हम जमीन के सामुदायिक धारणाधिकार के प्रश्न को सँ। हमारे तीन भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। पढ़ते अर्थ में जिनकी यहाँ चर्चा की जा रही है वह लोग जमीन के एक ही टुकड़े को अपने-अपने काम के लिए—जैसे उस पर अपने पशु चराने, जानान के लिए लकड़ी काटने—उपयोग में लाने के अधिकारी होते हैं। हमें और दूसरे अर्थ में भेद यह है कि दूसरे अर्थ में लोग एक ही जमीन पर एक ही अधिकारी के अन्तर्गत साथ-साथ काम करते हैं, और अपनी उत्पत्ति को एक जगह टकटू करने करते हैं। यही महत्वागी या सामूहिक खेती कहलाती है। हमारी मुख्य समस्याओं पर हम अर्थात् के अर्थ १ (ग) में विचार किया जा सके है, और हम उप-अर्थ के अर्थ में हम फिर हमारी चर्चा करेंगे। तीसरे अर्थ में वह स्थिति आती है जिनमें हर घरों को जमीन के एक निर्धारित टुकड़े का धारण में उपयोग करने का अधिकार होता है। यद्यपि जमीन को बेचने के मामले में उम्मीद अधिकार हम निश्चित पर गोपित रखा जाता है कि जमीन मुगिया या बबोने की है। चूँकि लगभग हर समुदाय में जमीन के उपयोग और विशेष पर कुछ-कुछ ब-इन लगे हुए हैं अतः हम अर्थ में 'सामुदायिक' धारणाधिकार और 'मापी पट्टे के' धारणाधिकार में केवल मात्रा-भेद ही है। यदि हम 'व्यक्तिगत' धारणाधिकार (परिवार को भी व्यक्ति को परिभाषा में मानते हुए) में उन सभी मामलों का ध्यान में लिये व्यक्ति को धारण में जमीन के उपयोग का अधिकार मिला होता है तो गोपित रूप के धारणाधिकार के लक्षण पूरे समाज में जमीन के व्यक्तिगत धारणाधिकार को ही प्रचलित पारंगत और जो कुछ हम करना चाहते हैं वह मुख्यतः उम्मीद प्रकार के धारणाधिकार के सम्बन्ध

स्वरूप और राशि शामिल है।

मुद्रावर्द्धन की आवश्यकता का सम्बन्ध इस सिद्धान्त में है कि निरापेक्षार की अपने प्रयत्न का फल स्वयं उपयोग में ले सकने का आश्वासन होना चाहिए। यदि निरापेक्षार भूमि में कोई पूर्वी-निवेश करे तो उसे यह आश्वासन होना चाहिए कि भूमि में हटाये जाने की स्थिति में उसे अपने गुधारों पर किया गया सर्व बापस मिल जाएगा जिनका पूरा-पूरा लाभ अभी तक न उठाया जा सका हो। इस प्रकार का आश्वासन न दिया जाए तो निम्नलिखित नहीं लगाना, यद्योचित दमागनें नहीं करनी जल-निकास में गुधार नहीं करेगा और किसी अन्य प्रकार में भी पूर्वी-निवेश नहीं करेगा। इस संरक्षण का उपसिद्धान्त यह है कि जिन गुधारों के मामले में संरक्षण दिया जाए उन्हें करने से पहले जमींदार की पूरा अनुमति ही जानी चाहिए। अधिकांश उन्नत देशों में कानून की धोर में यह संरक्षण दिया जाता है, लेकिन प्रादिम समाजों में यह व्यवस्था अभाव के रूप में ही पाई जाती है जिनका परिणाम यह है कि निरापेक्षार भूमि में गुधार करने के लिए पूर्वी लगाने की विन्ता नहीं करने, और अगर जमींदार की धोर से प्रतिबन्ध न हो तो वह जमीन की उर्वरता भी समाप्त हो जाने देते हैं।

अनेक देश पूरी तरह उपभोग में लिये गए गुधारों की संरक्षण देकर ही गन्तुष्ट नहीं हो जाने, वे भूमि-धारण की अवधि को भी कानूनी सुरक्षा प्रदान करते हैं। जमीन छूटने से पहले कम-से-कम जितने समय का नोटिस दिया जाएगा यह तो निर्धारित होता ही है लेकिन अधिकतर मामलों में कानून की धोर से निरापेक्षार का यह अधिकार भी मिला होता है कि जब तक वह पक्षों के हितों से कृपि-वर्द्धन करता रहे तब तक वह भूमि पर कब्जा बनाए रख सकता है (इसमें डे में ऐसा ही है) और यही तब व्यवस्था होगी है कि यदि उनके उत्तराधिकारियों में उचित क्षमता हो तो वे भी अधिकतरपूर्वक भूमि का उपयोग कर सकते हैं। व्यवहार में यह कानून बड़ा तब लागू होता है यह बहुत-बहुत उसे लागू करने वाले व्यापारिकरणों के स्वरूप पर निर्भर करता है, 'प्रजातांत्रिक' देशों में बड़े निरापेक्षार को निर्यातना जब तक लगभग सम्भव ही होता है जब तक वह जाहिरात जमीन को संरक्षा ही न कर रहा हो, जबकि दूसरी धोर 'प्रतिनिष्ठावादी' देशों में कानून पर इस प्रकार समझ दिया जाता है कि अछे-से अछे निरापेक्षारों को भी बहुत छोटा संरक्षण मिल पाता है। इस प्रकार के कानून का उद्देश्य निरापेक्षारों को दीर्घकालीन गुधारों में पूर्वी-निवेश करने में समर्थता सुरक्षा प्रदान करना है। कुछ लोग बहुत अधिक सुरक्षा देना ठीक नहीं समझते, क्योंकि हमने जमीन की अनिर्णीयता कम हो जानी है, हम इस विषय पर विचारना के एक में माकीपत्र पर विचार

करते समय चर्चा करेंगे, क्योंकि यह उन पर भी लागू होता है।

किराये के स्वरूप से हमारा आग्रह उनके बंधी राशि के रूप में होना या आनुपातिक अदायगी के रूप में होना से है। प्रतिरूप परिस्थितियाँ बाने वर्षों में छोटे किमानों पर बंधी अदायगी बहुत बान बन जाती है, भूत ही अच्छे और बुरे माल मिलाकर अंततः यह मह्य हो। विगया द्रव्य के रूप में बंधा हो सकता है या फसल के रूप में भी निष्कारण किया जा सकता है। फसल के रूप में निष्कारण किराया तब अधिक बान लागू होता है जब प्रतिरूप परिस्थितियों के बावजूद फसलें खराब हो और द्रव्य के रूप में बंधा विगया अदा करने में तब अधिक कठिनाई होती है जब परिस्थितियाँ कीमती माल होने के कारण विगटनी हैं। बात यह है कि किमानों का दोना ही परिस्थितियों में कष्ट उठाना पडता है, और इमीलिए किराये द्रव्य के रूप में हो या फसल के रूप में, बात लगभग एव-सी ही है। हाँ मुद्र-बान में कम-से-कम छोटे समय के लिए वे किमान बडे तान में रहने हैं जिन्हें द्रव्य के रूप में बंधे किराये अदा करने होते हैं। सवार के तानाम देशों को देखने पर मालूम होता है कि किराये प्रायः बंधे हुए नहीं हैं बल्कि आनुपातिक हैं, और भूमि की दुर्गमता को देखने हुए विमान अपनी फसल (या ग्रामदनी) का चौथाई से आधा तब उमीदार को अदा करते हैं।

गरीब विमान आनुपातिक किराये पसन्द करते हैं क्योंकि प्रतिरूप परिस्थितियों में उनका बान्ना बंधे किराये की तुलना में कम रहता है। यद्यपि अच्छी परिस्थितियों में उन्हें उमीदार को अधिक देना पडना है लेकिन तब उनमें उनका देने की सामर्थ्य भी होती है। जो भी हो, अच्छे और बुरे सालों को मिलाकर औसत ठीक ही पड जाता है। हाँ, अर्थशास्त्री आनुपातिक किराये को बुरा मानते हैं चूंकि इससे किमान के अन्दर उमीन में मुधार करने की प्रेरणा कम हो जाती है। बंधे किराये के मुकाबले ३ के अनुपात बाने किराये की स्थिति में भूमि पर कोई मुधार करते समय किमान को सीमान्त पर उसकी उपयोगिता तनी मिल सकती है जब वह उपज दूनी करे। इस बात को बहते समय हम यह मानकर चले हैं कि मुधार का नारा स्वर्च विमान ही उठाता है। आब-बंटाई (आनुपातिक किराये इमी नाम से पुकारे जाते हैं) की अधिक उन्नत प्रणालियों में उमीदार मुधार के स्वर्च का एक अंग अपने पास से देता है, या नविदा में इस प्रकार की व्यवस्था होती है कि अगर किरायेदार भूमि में मुधार करे तो इसका स्वर्च विगये में से काट सकता है। लेकिन कम उन्नत देशों में अकर ऐसी कोई व्यवस्था नहीं होती, और आनुपातिक विगयो की प्रणाली से निश्चय ही किमान की मुधार-सम्बन्धी प्रेरणा कम हो जाती है।

प्रधिरान देशों में विगय की गति का लेख दनी विगय और आन्दो-

नल पट्टे किये जाते हैं। किराये के बदले जमींदार का पागदान हर दस म अन्न अन्न पसया जाता है। इंग्लैंड में मविदा के अन्न अन्न यह बात जानी है कि जमींदार पक्की इमारतें मड़ी बरगा और अन्न पू जी लगाएगा, वही-पकी उसे कायम पूंजी में भी अन्नदान करना जाना है। एक जमाना था जब इंग्लैंड में किराये इतने अधिपत कि जमींदार को य मन्न काम करने में कोई आर्थिक बटिनाई नहीं होती थी और यह मन्न करने के बाद भी उमक पाग अधिपत रह जाता था जिसे अच्छी जमीन के दुर्लभ हान का शुद्ध किगया' कह सकते हैं। लेकिन आजकल किराये इतने कम हैं कि काम की अन्न पूंजी के अनु-रक्षण पर मन्न करने के बाद शायद ही कोई अधिपत बचता है। इनके रिप-रीत अधिवाश आदिम देशों में जमींदार को भूमि के सम्बन्ध में कोई बन्न नहीं निभाने होने, वह केवल किगया वसूत्र करता है। यह बात दूसरी है कि वह कुछ सामाजिक काम निभा देता है—मजिस्ट्रेट पुतिगर्मन, जिला प्रशासन या पुगोहित के काम—और यदि इन कामों के लिए उसे किराये में ही पारिश्रमिक न मिले तो उसे या इन कामों का करने वाले दूसरे व्यक्ति का करो की धाय में या किगी अन्य साधन से पारिश्रमिक देने की ध्यसथा करनी पड़ेगी। लेकिन जहाँ तब भूमि का सम्बन्ध है यदि लोगों म्विति में किराये किमानों के पाग ही रहने दिए जाँ (अर्थात् यदि जमींदार समाप्त कर दिए जाँ और किमानों को मानीपट्टा देकर जमीन का मारिण बना दिया जाए) या जमींदारों के बजाय राज्य का अन्न कर दिए जाँ (भूमि या किमान के उपर प्रत्यक्ष कर लगाकर राज्य किगी-न-किगी रूप में अन्न कर किराया वसूत्र करता है) तो हमें भूमि की उत्पादकता कम नहीं होगी। दरमसाल अन्न किराये कम कर दिए जाँ, या त्रिलकुल समाप्त कर दिए जाँ तो भूमि की उत्पादकता बढ़ सकती है, क्योंकि किमानों को अधिपत धन खचाने का मौरा मिलेगा जिसे वे भूमि गुधार के कामों में लगा सकेंगे। उन देशों में, जहाँ जमींदार किमानों के उत्पादन का पचाग प्रतिगत रूप में है और बदले में भूमि के लिए कुछ नहीं करत, यही अन्न किमानों के उपर से इन अन्धाचारों का जुदा हटा दिया जाए तो हमें कोई नदर नहीं है कि कृषि-उत्पादन में बहुत वृद्धि हो सकती है।

यहून से देशों में जमींदारी-उन्मूलन की मांग की जा रही है, और यह कहा जा रहा है कि जो जमीन का जोख वही उनका म्नामी भी होने चाहिए। यह मांग मेलों के आधार में परिधनन करने की मांग का ही दूसरा रूप नहीं है बल्कि हमें धिनकुल अन्न चीज है। कुछ गुधारक वरी पान्द्रिया का म्नाउन करने जमीन का छोड़-छाड़े मनों के रूप में बाँटकर मनों की मन्ना वडाना चाहते हैं, इन गुधारक हानों किनमुन उन्ना काम करना चाहिए। अर्थात्

के किमानों का मामूट्टिक चर्चा करने के लिए उक्तमात्र या बाध्य करने छोड़ने की सख्या कम करना चाहते हैं। आकार-सम्बन्धी समस्याओं पर हम दाद में विचार करेंगे। इन समय तो हम एक ओर माटी-पट्टे के स्वामित्व और दूसरी ओर भूमि-प्राप्ति की अवधि पर चर्चा करनी है। हालांकि भूमि-सुधार की भाग का अधिकांश फार्मों की सख्या में परिवर्तन करने की भाग में सम्बन्धित है लेकिन कुछ देशों में स्वामित्व एगिया में जमींदारी-उन्मूलन और किरायेदारी को स्वामित्व में बदल देने के लिए भी बड़ा भूमि-सुधार आन्दोलन किया जा रहा है।

किरायेदारी का स्वामित्व में बदल देने के परिणाम कुछ सीमा तक इसके लिए निर्धारित अदायगी की शर्तों पर निर्भर है। जमींदारों को मिलने वाले मुआवजे की रकम, और जमीन पर स्वामित्व प्राप्त करने के लिए किमानों द्वारा दिये जा रहे धन की मात्रा। वैसे, मुआवजों की समस्या के अलावा और भी कुछ समस्याएँ हैं जिन्हें किरायेदारी और स्वामित्व को नुलना करने समय ध्यान में रखना है। वस्तुतः अनेक लोगों का कहना है कि जमीन पर किसान का स्वामित्व प्राथमिक विकास के हित में नहीं होता। उनका विचार है कि इससे जमीन की गतिशीलता कम हो जाती है और घटिया कृषि-कर्म, जानों का विखटन और अत्यधिक ऋण की स्थिति पैदा होना लगती है। इसलिए वे चाहते हैं कि छोटे किमान किरायेदार बनकर ही रहें। उनके ऊपर नियंत्रण रहना आवश्यक है, जमीन का मानिक चाहे निजी स्वामी हो या सरकारी एजेंसी। अभी हम देखेंगे कि अधिकांश वाच्छनीय नियंत्रण स्वामियों और किरायेदारों के ऊपर समान रूप से लागू किये जा सकते हैं। वस्तुतः यदि नियंत्रण ठीक से लागू किये जाएँ, अर्थात् वे एक ओर किरायेदार को सुरक्षा प्रदान करें और दूसरी ओर स्वामी को अच्छा कृषि-कर्म करने के लिए बाध्य करें तो किरायेदारी और स्वामित्व में प्राथमिक दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता।

पहले हम भूमि की गतिशीलता को लेते हैं। यह तो हम देख ही चुके हैं कि कुछ लोग अच्छा कृषि-कर्म करने वाले किरायेदारों को किरायेदारी की सुरक्षा प्रदान करने वाले कानून का इस आधार पर विरोध करते हैं कि इससे कृषि अर्थ-व्यवस्था की नम्यता कम हो जाती है। उनका कहना है कि जमींदार को, जिसे भूमि के सर्वाधिक लाभप्रद उपयोग में स्वाभाविक दिलचस्पी होती है, परिस्थितियाँ बदलने के माध्यम से किरायेदार बदलने की पूर्ण आजादी होनी चाहिए। ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो सकती हैं जिनमें खेती की अपेक्षा पशुधन अधिक लाभकर लगे, या खेतों के आकार में परिवर्तन करना वाच्छनीय मान्य हो, या किसी अन्य कारण से कोई नया किरायेदार बदलती हुई परिस्थितियों के अधिक

उपयुक्त मातृम पट्टे । ऐसी स्थिति में यदि वर्तमान विभाजक को कानूनी सुरक्षा प्राप्त हो ना अपक्षित परिवर्तन नहीं किए जा सकेंगे । यही भाग उन्नी आधार पर छोट विमानों के माफी-पट्टे का भी विभाजक बनने है क्योंकि उनका विभाग है कि छोटे छोटे विमान बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपक्षित परिवर्तन धीमे-धीमे ही कर गाने हैं । दूरी और यदि जमींदार का विरायत बदलने की आजादी हो तो वह वे परिवर्तन बहुत जल्दी कर सकता है । यह तर्क सभी गहरी माना जा सकता है जब हम यह स्वीकार कर ले कि जमींदार होमियार और समभदार रनिटर हा । है, और गदा ही अपनी जमीन के उप-भाग के अच्छ-भे-अच्छ तरीके निबालने की वासिना करत रहते हैं । रिगी-रिगी जमींदार के बारे में भले ही यह गहरी हो लेकिन उनमें से अधिकांश दूरवागी होने हैं जिन्हें अपनी जमीन के बारे में बेचल इतना ही ज्ञान होता है कि उन्में उन्हें बिना विराया मिलता है । जो भी हो, यह तर्क दबल इतना तो कहा ही जा सकता है कि जो व्यक्ति जिस माधन का उपयोग कर रहा हो वही उम्का स्वामी नहीं जाना चाहिए, क्योंकि अन्त माधन का स्वामित्व ऐसे लोगों के हाथ में दे दिया जाए जो अपवानीन मूचना देकर उन्में एक आदमी से छीन-कर दूरी आदमी के हाथ में देते हैं विशेषज्ञ हा, तो माधन उन लोगों के हाथ में रहने की सम्भावना अधिक रहती है जो उनका सबसे अच्छा उपयोग करने की योग्यता रखते हैं । इस तर्क के अनुसार माधन अपवानीन पर धर भी स्वामित्व नहीं होना चाहिए क्योंकि गदा ही वार्ड-न-बोर्ड व्यक्ति उम्का मिल सकता है जो अपवानी अपेक्षा उम्का बेहतर उपयोग कर सके । निश्चिन्त रूप में हमका उत्तर यही है कि स्वामी के नामने गदा उन्में प्रत्याय उपस्थित किए जा सकते हैं । अगर बोर्ड व्यक्ति यह समझता है कि वह किसी माधन का और अच्छा उपयोग कर सकता है तो वह उम्के लिए आकर्षक कीमत गदा करने का प्रस्ताव करे तो स्वतंत्र है । अन्तुन हमारा अनुभव तो यह है कि छोटे में दक्षिणवर्ती परिवारों के स्वामित्व में होने की अपेक्षा यदि भूमि का स्वामित्व बड़ा लोगों में बँटा होता है तो यह अधिक गरवता में एक-दूरी के हाथों में जा सकती है । या यह है कि यदि मारी जमीन छोटे-छोटे परिवारों के पास होती है तो वे उन्में बेहतर कामदनी का जिया न समझकर राजनीतिक दक्षिण और प्रतिष्ठा का माधन मानते हैं । जमीन आगामी में उपयोग होने के लिए उम्का स्वामित्व बड़ा लोगों में बँटा होता फायदेवक है ।

इस दावे में काफी मात्रा मात्रा होता है कि अगर विद्यमान व्यवस्था जारी तो माफी पट्टे का भूमि के गुणों को जल्दी ही गमाए कर देंगे । गंगा के अनेक भागों में छोटे विमान ऐसे काम करतें हैं जिनमें मिट्टी के गुण घटने लगते हैं । यह बाव एणिया के उस भागों पर अन्तर्गत भाग नहीं होती जहाँ

अनेक शताब्दियों से आवादी इतनी घनी है कि किसानों में जमीन की उर्वरता को महत्वपूर्ण समझने की गम्भीर भावना विद्यमान है। लेकिन इन प्रकार की सिद्धान्तों उन स्थानों के बारे में प्रायः सुनने में आती हैं जहाँ जमीन की प्रचुरता और दृढ़ता का सम्बन्ध-बान्धन बंध रहा है। विशेषकर उत्तर अमरीका और अफ्रीका में और जहाँ भूमि की उर्वरता को प्राथम रखने की बुनियादी शर्त लगाकर किसानों को स्थायी रूप में उनकी जमीन पर बना देने के लिए अभी तक बाध्य नहीं किया गया है। ऐसे स्थानों में मुदायक भूमि-संरक्षण फसलों के हेर-फेर और परती जमीन के बारे में किसानों के आचरण पर नियन्त्रण करने के विभिन्न प्रयत्न करते हैं। उन्हें पता है कि अधिक उन्नत पट्टे-वाली प्रणालियों के अन्तर्गत जमींदार किसानों पर इन प्रकार के नियन्त्रण लगाने हैं, और इसीलिए वे इन प्रणालियों को लागू करना चाहते हैं। वेने यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि शिक्षा की अपेक्षा जंग-उत्खननीय से किसानों की आदतों में मुदायक करना वहाँ तक बाधनीय है। लेकिन नयी परिस्थितियों में बहुत उन्नत प्रकार की पट्टेदारों की सविदा लागू करने के स्थान पर कानून द्वारा भी किसानों की आदतों में पथानम्भव मुदायक किया जा सकता है, घुरे टग से खेती करना जुर्म करार दिया जा सकता है जिस पर जुर्माना किया जाए या जमीन से बेइच्छता करार भी जाए, और डिने में वृषि अधिकारी या न्यायाधिकरण नियुक्त किये जा सकते हैं जो वृषि-कार्य के मानक निर्धारित करें और आदेश न मानने वाले लोगों पर मुकदमे चलाएँ, अर्थात् अपेक्षाकृत अधिक अनकारों (जो अप्रियाम्य मामलों में उन्हें होती है) और निष्पक्षता के साथ वे सभी कर्तव्य निवाहें जो जमींदार निवाह करते हैं। अच्छे किसानों को पुरस्कार भी दिये जा सकते हैं, उदाहरण के लिए इनाम दिये जा सकते हैं या बोनस बाँटे जा सकते हैं।

उत्तराधिकार की ऐसी प्रणाली में, जिसमें ज्ञान के हर लटके (या लडकियों) को ज्ञान के मरने पर फार्म का एक-एक टुकड़ा मिलना है, वेतों का विचक्षण होने लगता है। फार्म के टुकड़े करते समय सबसे साथ साथ वर्गन की दृष्टि में हर घंटे को कई टुकड़े दिये जाते हैं, जैसे एक टुकड़ा नदी के किनारे और एक टुकड़ा नदी से दूर, एक टुकड़ा उपजाऊ और एक टुकड़ा सिर्फ पशु चराने के काम का भवने वाला, एक पेशे वाला टुकड़ा और एक वज्र टुकड़ा। कई पीढ़ियों तक इस प्रकार का विचक्षण होने के बाद हर किसान की जोड़ बटे छोटे टुकड़ों में बँट जाती है जो एक-दूसरे से काफी दूर भी हो सकते हैं। विचक्षण में बटे प्रकार का प्रत्यक्ष हानि है। जमीन के एक टुकड़े से दूसरे टुकड़े तक आने-जाने में काफी समय बर्बाद होता है। दूसरे, दूर-दूर के क्षेत्र अपनी प्रकृति तरह से नहीं देखे-भावे जा सकते जितने कि

पाग-पाग व रत दग जा सकत है बीमारी व अधिक्त गतर या दग भान की कमी या चारी व अधिक्त उर म सता की उ गदकता म कमी आ गयता है और कम उत्पादन होने व कारण ही बाद म विमान शायद उनकी दग भान म कमी कर द । तीमरे दूर दूर हान व कारण कुछ जोता पर दोहरी पूँजी लगानी पड गयती है जैय उदम्बर पर या पगमा व बाधन की जगह पर या पानी की नाशिया पर । और धीरे अगर भन बढुन छोटे हा ता उन पर हन चतान म बढिनार्द हा गकता है पनाग व मन व घाम-यात म घपन गता को बचाना मुश्किल हा गकता है ऐम प्रयाग करत म बढिनार्द आ गकती है जिह पडामी तिसान शरा का दुष्टि स दवन हा और कुएँ इमारत और दूगरी पूँजी मन्त्री करने व तिए जगह निराचना धव्यावहारिक हा गकता है । गता वा मड बनान म भी बढुन अधिक्त उमीन बकार जा सयती है । सकिन दन मरुम गवग बडी हानि गमय की है । अत जय अधिका की कमा हाती है ता विमान सता का बदनकर अघना मारी जात एग जगह दकट्टी करा के तिए मृत्ती म तैयार हा जात ह । अतक देगा न उन टपारों म अति-बाय रूप म चकबन्दी करन के तिए कानन पाम किय है जिनम अधिकाग विमाना न चकबन्दी न लिए दृच्छा जाहिर का है । दूगरी अर अगर अधिक बढूतापन स हान है जेगा कि अधिक आबादा वात दगा म है ता चकबन्दी म उत्पादन म नार्द पाम वृद्धि नही हाती और विमान अवर चकबन्दी की योजनामा म नार्द दिवचस्था नही दिगान ।

पट्टेदार के बिना भी विगण्डन का रोकना सम्भव है । ज्येष्ठाधिकार प्रणाली के अन्तगत विगण्डन नही हाता । दगक अनाया यदि उत्तराधिकारी सम्पत्ति का गणन किय बगैर एक माथ बतियत करगें ता भी विगण्डन से बचा जा गकता है । साथ साथ मनी करना माप-माथ दुकान रतान या त्रिनि मण व्यापार या अय प्रवाग की उत्तराधिकार सम्पत्ति का व्यवस्था करन म त्रिग दुकान-दुकान करना जनिप्रद या कर्भो-नर्भो अगम्भव भी होता है, अधिक्त बढित नही है । यदि विगण्डन हा रग हा और उमम मापा बरनादी हा रही हा ता एगा का पूर बचाया जा गकता है त्रिगक अनुगार एग निर्धारित गूतनम माकार (तैग पांड एक) म कम व दुकान म कृषि भूमि का गणित करन म राहा जा सत । दग कानता म यह व्यवस्था का जा गकता है कि दग छाट करन यदि करन हा ता एग प्रयाजन के तिए विगण्डन म अति किय आया-धितरूप से अनुमान लया हाता । और मामला की तरट यदि मम ना भूमि पर विमान व अधिक्त म वी दग गणना मर्दा ल हा ता एग पाम विगण्डन आयाधिकरण स्थापित करन किये जा सकता है दगक तिए नभादारी प्रया हाता आवन्तर नही है ।



यदि किसान पर इतना ऋण हो कि वह व्यवहारग महाजन के लिए ही खेती कर रहा हो तो इससे उत्पादन पर बुरा असर पड़ता है। अनेक देश ऐसे हैं जिनके किसानों पर इतना अधिक ऋण है कि वे वार्षिक व्याज और दर मूलधन चुकान में असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति में महाजन किसान के पास गुठार लाकर फसल छाटकर बाकी सारी फसल अपने कर्ज में कर लेता है। किसान को खेती के उन्नत तरीके अपनान में कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती चूंकि उनमें जितना उत्पादन बढ़ेगा वह पूरे-बा-पूरा या अधिकांश महाजन की जब मचना जाएगा। जब यह स्थिति व्यापक रूप में फैल जाती है, और अकसर फैलती भी है, तो सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है, और किसान का कृषि-काय में कुछ प्रेरणा प्रदान करने की दृष्टि में उसके ऋण घटाकर निम्नाने योग्य सीमाओं तक ले आए जाने हैं। अनेक देशों ने इस काम के लिए न्यायाधिकरण स्थापित किये हैं। वैसे, ऋण घटा देना ही पर्याप्त नहीं होता क्योंकि किसान थोड़े ही समय में दुबारा अपनी पुरानी बेवसी की जमानत में पहुँच जाता है। कुछ किसानों में भागी ऋण लेने की बड़ी प्रवृत्ति होती है। इसके मुख्य कारण बाट, सूखा, बीमों में गिरावट, महामारी आदि जोखिम हैं, जिनका भय किसान को प्रायः बना रहता है। इसके लिए किसान का अपना दुर्भाग्य तो जिम्मेदार है ही, लेकिन महाजन की जान-बूझकर अपनायी गई नीति भी अकसर इसके लिए दोषी पाई जाती है। यदि किसान सामर्थ्य में अधिक ऋण में दब जाता है तो उसका शोषण सामान होता है, तब महाजन उसे मजबूर कर सकता है कि वह अपनी सारी फसल महाजन के एजेंटों की मार्फत बेचे, या अपनी सब ज़रूरतों का सामान महाजन की दुकान से खरीदे। दोनों ही मामलों में उसे प्रतिकूल कीमतों का शिकार होना पड़ता है। यह भी सम्भव है कि महाजन किसानों का दिवाला निकलवा दे, मसले मूल्य पर उनकी ज़मीन खरीद ले, और फिर भारी किराये पर उन्हीं लोगों को खेती करने के लिए दे दे। इस प्रकार, किसानों के ऋण-ग्रस्त होने का कुछ हद तक कारण यह है कि महाजन उनका शोषण करने के लिए जान-बूझकर ऐसा जाल रचते हैं जिसमें किसान आसानी से बर्ज में पड़ जायें। ऐसी स्थिति में सरकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्रति-कारात्मक उपायों द्वारा किसानों को ऋणग्रस्त होने से बचाये।

छोटे किसानों को बहुत अधिक ऋण लेने से बचाने का एकमात्र उपाय यह है कि उन्हें आसानी से उधार न लेने दिया जाए। इसके लिए ऐसा कानून बनाया जा सकता है जिसके अनुसार किसानों द्वारा उधार लेते समय पैसा की जाने वाली जमानत को अर्धध धोपित कर दिया जाए। जैसे, कई देशों में ऋण के लिए किसान की भूमि बेची नहीं जा सकती, अर्थात् यह पन्थ जमानत नहीं रह जाती, और महाजन इसके आधार पर अपना उधार नहीं देते। ऐसे देश

भी हैं जो फगल के महन को अर्बुध मानत है, उदाहरण के लिए, युग्मिष्ठा के वायुन के अनुसार क्षत्रीकी वषाम यादमेंमनुदा बाजार म ही बेची जा सकती है, उसके लिए बाजार के प्राधिकारिया द्वारा निर्धारित कीमत में कम कीमत नहीं दी जा सकती, और सोदे के समय परीदार को पूरी गति नवद विवेना को चुका देनी होती है। इस प्रकार के उपबन्ध हान में विमान को तब तक बर्ज देना जोगिम का काम हो जाता है जब तक कि त्रणशाना उगकी फगल की बिनी जाने दिन उसके लिए पर गवार न हो जब और वषाम की बिनी होत ही उगसे नवदी न हविदा मके। बेचुघानावैद के रदित राश्व में हमसे भी कठिन व्यवस्था है, वहाँ दुवानदार क्षत्रीकिया में कृण बमून करने के लिए अदालत में नानिम नहीं कर सकत, अत दुवानदार क्षत्रीकी विमानों को कृण देने ही नहीं।

वैम विमानों को महाजनों में स्पदा उधार लेने में बचाना ही काफी नहीं है, क्योंकि विमानों को उचित कामों के लिए भी बर्ज लेना पड सकता है। यदि निजी महाजन को समाप्त ही करना है तो उसके स्थान पर ऐसे मस्थानों की स्थापना आवश्यक है जो विमानों को उचित प्रयोजनों के लिए कृण दे सकें। वास्तव में कृण की अपेक्षा विमान या बीमे की आवश्यकता अधिक होती है। अनेक बार विमान को ऐसे दुर्भाग्यों में पंजर कृण लेना पडता है जिन्हें पहले से धाँवा जा सकता है—बीमारी, या विवाह या दाह क्रिया का स्वर्ण, या घाग, मूपा या मूफान, या पशु-धन को हानि। इस प्रकार को घट-नाएँ नियमित रूप में होती रहती हैं और वे बर्ज लेने के लिए उपयुक्त नहीं माननी चाहिए, क्योंकि अगरे विमान को बीमारी का तर्क उठाने के लिए या मूफान में नष्ट फगनों के स्थान पर दोबारा फगनें उगाने के लिए बर्ज लेने पडें तो यह धाने धाने बानों फगलों में नायद इतना नहीं बचा मवेगा कि कृण या भुगतान कर मके। पहले से धाँवा जा सकत वाली इन सभी घटनाओं का बीमा किया जाना चाहिए। इसमें सबसे बड़ी बाधा छोटी-छोटी राशियों के लिए बहुत अधिक मख्या में लोगों का बीमा करने पर पडने वाला तर्क है। फिर भी कम विकसित देशों को कुछ सरकारों ने अनिवार्य बीमा योजनाएँ शुरू की हैं, जैसे जर्मनी में मूफान का बीमा। बीमा किये जाने वाले विमानों के जागिम अगरे बहुत-कुछ एक-जैसे हो तो बीमा करने के तर्कों को कम करने का एक उपाय यह है कि हर विमान पर अलग से बीमे की राशि निर्धारित करने के बजाय उन पर एक सामान्य कर लगा दिया जाए।

बीमा के अभाव में विमान को स्पदा उधार लेने की भी जरूरत होती है। धाम महेशारी ममिनि के धाविप्रार में छोटे विमानों को स्पदा उधार देने का तर्क काफी कम पडने लगा है। स्पदा उधार देने समय उधार लेने वाले की

उत्पन्न-शमता के बारे में सूचना एकत्र करने, किन्तु उगाहने और उसकी गति-विधियों पर ध्यान रखने में यत्न आता है। यदि श्राद्धिक वैक विमानों को पचास पाँच या उसमें भी कम के बज्रें इन लगे ता उत्पन्न की गति पर वीम प्रतिशान वापिस व्याज के बराबर लचें बैठेगा। इसके विपरीत गाँव के मदस्यों का लचें बहुत कम बैठता है। वे उधार लेने वाले लोग उनके चरित्र को उनके जीवन के आरम्भ में ही जानते हैं, और उनकी सम्पत्ति पर अच्छी तरह से निगाह भी रख सकते हैं क्योंकि वह उन्हीं के बीच रहता है। जहाँ तक सम्पत्ति पर निगाह रखने का सम्बन्ध है गाँव वालों की इनमें महज दिलचस्पी होती है, भले ही व्यक्ति ने अपना उधार ले रखा हो अथवा नहीं, इन गाँव की समितियों जिम दर पर स्या प्राप्त करती हैं उस पर पाँच में लेकर आठ प्रतिशत तक लचें के लिए और जाँचकर जा दर बैठे उस पर मदस्यों को बज्रें दे सकती हैं। ऐसी समितियों के लिए आकार में छोटा होना आवश्यक है ताकि सभी मदस्य एक-दूसरे से परिचित हों, अन्यथा बिना लचें सूचना मिलने रहने का मुख्य लाभ समाप्त हो जाएगा। इसके अतिरिक्त इन समितियों पर सरकारी अधिकारियों का भी बड़ा-सा पर्यवेक्षण आवश्यक होता है, क्योंकि मदस्यों को मग-ठन चलाने और स्पष्ट की देखभाल करने का पर्याप्त अनुभव प्रायः नहीं होता। इसके अतिरिक्त यदि समिति ऐसी ऐसी के साथ सम्बद्ध हों जो किसानों की फसल के विपणन का काम करती हों तो समिति के दिने हुए बज्रें बहुत ही कम डूबें, चूँकि नव उधार लेने वाले की फसल की बिक्री में से ही बकाया राशियाँ काटी जा सकती हैं, और ऋणों को डूबने में या बमूल न हो पाने में रोका जा सकता है।

समाज के अधिकांश कम विकसित देशों में महकरी उत्पन्न समितियों ने बड़ी सफलता पाई है। वैसे, उनका जोर छोटे किसानों में वचत की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने और बैंकिंग की सम्पत्ति सुविधा प्रदान करने पर रहा है। लेकिन किसानों को उसमें कहीं अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है जितनी कि वे अपनी वचन में संचित कर सकते हैं। यदि स्वयं किसानों पर कर लगाकर या अर्थ-व्यवस्था के दूसरे क्षेत्रों से या बाह्य भाषणों में धन इकट्ठा किया जा सके तो छोटे किसानों को पूँजीगत ऋण देने के लिए महकरी उत्पन्न समिति सबसे अच्छा माध्यम है। महाजन के भारी ऋण में डूबे रहने वाले किसानों और अपने ही प्रवृत्ति में चलने वाली उधार प्रणाली से निवार्त्ती योग्य ऋण लेने वाले किसानों की प्रवृत्तियों में उर्मीन-आममान का पर्व होता है।

अब हम कृषि-सर्वे के पमाने से सम्बन्धित प्रश्न पर विचार कर रहे हैं। इसके बारे में भूमि-मुधारकों में बड़ा विवाद रहा है। एक ओर ऐसे देश हैं जिनमें ऊपर से आदेश लेकर काम करने वाले मजदूरों द्वारा चनाई जाने वाली

बड़ा-बड़ा आस्तिपत्ता का अन्वेषण किया जा रहा है और उनका छात्र नाम काम बनाया जा रहा है। दूसरा छात्र एक भाग है जिनमें छोटे किसानों का बना बना आस्तिपत्ता बनाकर उन पर सामूहिक मत्ता करने का विचार किया जा रहा है।

यदि मन्थाना मन्थी नामप्रकार है या विचार या बाज या कामाग्नियों का राक धाम या प्रतिक्रियाकरण या विषयन पर वष पमान का नियन्त्रण लागू करने में लाभ मान्य होता है तो छात्र पमान के कृषि साधन का अन्वेषण वष पमान का कृषि साधन अधिक कुशलता से करना है और अधिक मत्ता से अधिक विक्रय करता है। वष आकार के मत्ता नगमन मत्ता या प्राथमिक नामप्रकार है—यह आकार के मत्ता साधन के मत्ता तान गी एक कृषि साधन भूमि या उसके समस्त मत्ता (१००० कृषि-साधन एक मत्ता से अधिक मत्ता का प्रत्यक्ष तन्त्रा से हासिल करने में मदद करता है)—जिनमें छात्र और वष पमान का मत्ता के नामों का अन्तर किसे माया तक है वह कुछ ठा मत्ता और उमान की प्रकृति पर निर्भर करता है और कुछ मत्ता के अन्वेषण से ही छात्र विमान का वायु कृशलता बनाया करने के लिए उमान कामनाम तन्त्रा मन्थन करने के विचार प्रयत्न किया गया है।

आज के मन्थाना मत्ता पर विचार। पन्नी बात ना है कि जब नव पूजा की तन्त्रा में श्रमिका का काम नही मन्थी तब तक मन्थाना मत्ता नामप्रकार नहीं रहता। यदि श्रमिक मन्थन अधिक मत्ता में पत्र है तब ही भारत और चीन में है तो मन्थाना के प्रयोग परीक्षणों के बाद बढ़ जायगा। साथ ही मन्थाना उमान के छात्र उनका विचार दृष्टा साधन करने में मन्थन विमाना मत्ता नी मत्ता करना होगा। मत्ता मन्थन में प्राथमिक मन्थन का उद्देश्य प्रति श्रमिक उत्पादन के बजाय प्रति एक मन्थान में अधिक श्रमिक बढ़ि करना होता है। मन्थाना के प्रयोग में उत्पादन उमान में वष मत्ता है जब उद्देश्य उमान पर मत्ता करने के काम में जाया जाता है जो सरा मत्ता के कारण हाव से जान जाय साधन मत्ता होता है जो मीनम या जवसाय मन्थन के मन्थन के लिए अनुकूल रहता है कि साथ में काम पूरा करना सम्भव नया होता। मन्थाना का यह साधन मूल्यवान है जिनमें प्राथमिक साधन मत्ता के लिए जान के कारण हाव की मत्ता मन्थाना मत्ता में अधिक मन्थाना होता है। जिन मत्ता में श्रमिका की मन्थाना है वष मन्थाना मत्ता मत्ता मत्ता में ना नामप्रकार है कि मन्थाना मनुष्य का वह उमान और मन्थाना विचार मत्ता है जिसे पर साधन मत्ता करती है मन्थन में मत्ता के लिए मत्ता के लिए मत्ता मन्थन करने के लिए मत्ता मत्ता मन्थान छोड़ना (मन्थन भा मत्ता मत्ता में मन्थाना मत्ता है) का मन्थान पर निर्भर रहता है और दूसरा मत्ता मन्थन मत्ता

एक घास के मूष्य पर निर्भर होता है। पर उस पर भी निर्भर है कि काम के लिए पशुओं की उपरत न रहने पर विज्ञान वस्तुतः उसकी सहायता कम कर देती जानही। घास के बागें न निर्मित रूप में कुछ करना बाँझ है लेकिन मान्य के विषय में, जहाँ कि पशुओं का प्रायिक महत्त्व भी है, पर बाँझ स्पष्ट मान्य होता है कि वर्तमान स्थिति न मशीनों के प्रयोग का हृदि-मौलि में अधिक स्थान नहीं देना चाहिए। जिन देशों में भूमि बहुत अधिक उपजाऊ है, जैसा कि पश्चिमी अफ्रीका व कुछ भाग में है वहाँ की बागें दिन-दुन चलती हैं। इन स्थानों की प्रायिक नीति का उद्देश्य प्रति एक एक के बजाय प्रति अधिक निरन्तर-उत्पादन में अधिक-से-अधिक वृद्धि करना देना चाहिए। काम-शौर पर प्रायिक विद्या से अमियों की हृष्यता मान में वृद्धि होती है, और हृष्य-कर्म के लिए थोड़े ही लोग उपजाऊ रह जाते हैं। मशीनों के प्रयोग से वेतरी के लिए अमियों की माँग स्वयं कम हो जाती है और प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि होती है, क्योंकि इनसे हर अमि अधिक भूमि पर वेतरी कर सकता है। जिन देशों में अमियों की कमी है वहाँ मशीनों का प्रयोग प्रायिक विद्या का अनिवार्य भाग है, लेकिन जिन देशों में अमियों की बहुतायत है वहाँ मशीनों का महत्त्व थोड़ा ही है।

अधिक, भूमि और पूँजी की सारथ्य उपलब्धताएँ मशीनीकरण के अनुकूल ही तो फिर मशीनीकरण की सम्भावना भूमि और श्रम पर निर्भर करती है। यदि भूमि समतल हो, उसका उपयोग प्रायिक पशुओं के लिए किया जाता हो, और उसका अनुपयोग न होता हो तो मशीनी वेतरी करना शक्य रहता है। पहाड़ी इलाक़ों मशीनी वेतरी के लिए उपयुक्त नहीं होती, और उनी बाग्य उन्हा छोटे-छोटे जिनानों के हाथ में रहता अधिक उपयुक्त रहता है। जिन इलाकों पर म्यासी रूप में धान उगा हो, या फल वगैरे हुए हो वहाँ भी मशीनी वेतरी के लिए शक्य नहीं होती। जिन देशों में मशीनी अधिक पशु है या वहाँ अधिक होती है, वहाँ भी मशीनी वेतरी करना मायदा बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। इन देशों के बाग्य मशीनी वेतरी के लिए उपयुक्त उलाक़े थोड़े ही बच रहते हैं, इन उलाक़ों में धान जैसे प्राकार के होने चाहिये कि जिनानों की मशीनी उपकरण रखने में लाभ हो, अर्थात् शीतोष्ण उपजातु में १०० एकड़ से कम हृष्य-योग्य भूमि के प्रयोग अनाधिक्य रहते हैं, और पश्चिमी यूरोप में ३०० या ४०० एकड़ हृष्य-योग्य भूमि के प्रयोग उपजाऊत नदके अधिक लाभ देते हैं।

मशीनी वेतरी छोटे पैमाने के हृष्य-कार्य के साथ सब हर हाग्य में जोड़ी जा सकती है जब मशीन वेतरीय एजेंसी के स्वामित्व में हो तो जिनानों से मुक्त लेकर उनकी इलाक़ों जीव दे, और पौधे उगाने, धान-मात उलाक़े और

पगल काटने का काम किमाना का स्वयं करना है, मगर के अनेक दलों में मशीनों रखन वाली केन्द्रीय एजेंसियों ने मशीनी मर्यादा का काम मर्यादा-पूर्वक किया है। मर्यादा की धारणा यही है कि काम घासाल में न तो बहुत बड़ हा घोर न बहुत छोटे हा मर्यादा १२ घोर १७ एकड़ के बीच के हो। बात यह है कि अगर काम बहुत छोटे हा तो मशीना द्वारा किए जाने वाले काम किमान अपने हाथ में ही कर सकेंगे और मशीना के लिए शुल्क देने के बजाय उन्हें अपने हाथ में ही काम करना ज्यादा मन्ता बैठेगा। इसके विपरीत यदि काम बहुत बड़ हा तो उनमें इतना काम होगा कि किमान गूद अपनी ही मशीन रख सकेंगे। काम के लिए विशेष सुविधाजनक यहाँ रहता है कि उसकी अपनी मशीनें हा ताकि आवश्यकता पडन पर अपनी धारी के लिए प्रतीक्षा न करनी पड, और मशीन हर समय उपयोग के लिए मौजूद रहें। किमानों द्वारा सरकारिता के आधार पर मशीना को चलाने में सरकारिता मिलने का मुख्य कारण यही है, किमान इस बात के लिए प्राधान्य में एक-मत नहीं हो पाते कि पट्टे मशीन का उपयोग कौन कर—मह बट्टिगार्ड उन दलों में सबसे अधिक होती है जहाँ का मौसम परिवर्तनशील और अविश्वसनीय होता है, जहाँ कि पश्चिमी यूराल में है। अनेक सरकारिता ने सरकारिता या मजूगारी स्वाभिमन के अन्तर्गत मशीनें जुटान के काम में पट्टे की है, या निजी उपम-कर्ताओं या बारी जमीं को, जिनके पास बारी मशीनें हैं, इस बात के लिए प्राधान्य-जन दिया है कि वे मूल लेकर छोटे किमानों का मशीन उपलब्ध करें। इन माजनाओं में उन क्षेत्रों में काफी मर्यादा प्राप्त की है जहाँ काम उचित प्रकार के है लेकिन केन्द्रीय मशीन एजेंसियों के मर्यादा का काम खास जितनी आवश्यकता में किया जाए, पर छोटे-छोटे कामों की प्रतीक्षा बड़े-बड़े कामों पर, जिनके पास अपनी गूद की मशीनें होती हैं, मशीनी सेवा करना लगभग हमेशा मन्ता बैठता है।

लगभग यही विनियमन विधान के काम पर भी लागू होता है, यद्यपि मशीनों का काम विनियमित करने की प्रतीक्षा विधान के काम को विनियमित करना अधिक महत्त्व है। बात यह है कि तममें मध्यमक मर्यादा प्रस्तुत रहती है जो किमानों में छोटी छोटी राशि में पगल मशीनें में जान है और बड़े जमीं की पगल एक जगह दबट्टी करके उनका इस प्रकार प्रक्रियाकरण या विधान करने है जो बड़े जमीं पर ही लाभकर रूप में किया जा सकता है। यद्यपि मध्यमक हर जगह पाए जाते हैं लेकिन उनका मर्यादा के बाहर में मर्यादा निष्कायन घोर जीव की जाती है, क्योंकि लोगों का धारणा है कि वे अनुमत होते हैं, या मर्यादा में बड़ा अधिक होता है, या अधिकार का प्रयोग करने है। अनुमति यदि नहीं हो तो अनिवार्य दर्राबन्दी आदि निरीक्षण की प्रभावितों लागू करके

राकी जा सकती है। मध्यजना की अत्यधिक सख्या अपूर्ण प्रतियोगिता का परिणाम होती है। जब मध्यजन बहुत अधिक होते हैं तो वे आपस में कीमत प्रतियोगिता न करने का अध्ययन या व्यक्त समझौता करते थोड़ा लाभ उठकर ही जीविका चलाने रहते हैं। इनकी अत्यधिक सख्या उस देश में भी बनी रह सकती है जब हर मध्यजन का अपना द्वारा निश्चित हो—उसने किसानों का समूह कृषि के कारण या भावनाओं के कारण या इलाक़वन्दी की कानूनी वन्दिशा के कारण उमम बढ़ा हो सकता है। ऐसी स्थिति में सबसे सफल उपाय प्रायः प्रतियोगिता लागू करना होता है—उदाहरण के लिए, किसानों के कर्जें समाप्त किये जा सकते हैं। इलाक़वन्दी तोड़ी जा सकती है या कीमत-समझौता और बाजार का वाटन के समझौता का निषेध किया जा सकता है। लेकिन ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें अनेक छोटे मध्यजनों की प्रतियोगिता की अपेक्षा एकाधिकारी सगठन वास्तव में अधिक कुशल होता है, जैसे उन परिस्थितियों में जबकि प्रतियोगिता बड़ी पैकित्रिया में करना ही सर्वाधिक लाभप्रद हो। ऐसी स्थिति में सबसे अच्छा उपाय सहकारी विपणन, या निजी मध्यजन पर कीमत और लाभ-सम्बन्धी नियन्त्रण, या राज्य विपणन एजेंसियाँ कायम करना है।

सहकारी विपणन की सफलता उनकी प्रतियोगिता में आने वाले निजी उद्यमकर्ताओं की कोटि पर निर्भर होती है। सहकारी सगठन कभी-कभी मध्यजन की अपेक्षा अच्छी चीजें बेचने में सफल हो सकते हैं लेकिन यह तभी होता है जब मध्यजन फसल को एकत्रित करने और उसकी दरजावन्दी करने, या बटिया दरजे की फसलों के लिए काफी अच्छी कीमतें देने में काफी अकुशल सिद्ध होते हैं। मध्यजनों की इस अकुशलता का कारण उनमें आपसी प्रतियोगिता का अभाव होता है। सहकारी सगठन की सफलता के लिए सबसे अनुकूल परिस्थितियाँ वे हैं जब प्रतियोगिता के अभाव में मध्यजन अकुशल होते जा रहे हों, या उनकी सख्या बहुत बढ रही हो, या वे बहुत अधिक लाभ कमा रहे हों, वात यह है कि यदि मध्यजन कार्यकुशल और प्रतियोगी हो ता वे अपेक्षाकृत अधिक नम्ब होने के कारण सहकारी सगठन को उखाड़ फेंकने में प्रायः सफल हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि सहकारी सगठन एकाधिकार की परिस्थितियों में अवश्य सफल होते हैं। इन स्थितियों में मध्यजन सहकारी सगठनों के विरुद्ध दलवन्दी कर सकते हैं और एकाधिकारियों की सभी ग्राम चाला—कीमत सघर्ष, अनन्य सौदा समझौते आदि—का उपयोग कर सकते हैं, और सहकारी सगठन इन चालों से बचकर नहीं जीत सकते जब तक कि उनका मददगार काफी जिज्ञान और मैदान में जम रहने लायक समर्थन न हो। या यह भी सम्भव है कि निम्न पैमाने पर विपणन करना

अर्थात् इन हो बहू महवारी मगठना के नियन्त्रण के परे की चीज हो, छोट किमान महवारीता के आधार पर आटी-सी कषाम धुनन की मनीन मगा मवने हैं, लेकिन उनके लिए चावल का एक बड़ा आधुनिक मिल या चीनी की फैक्टरी खोलना मुश्किल होगा। यही कारण है कि महवारी विपणन काफी अच्छे पैमाने पर मनी करने वाले—जैम सीम एकड या अशिक के फार्मा वाले—किमानों में सबसे अधिक सफल रहा है। नीन म सीम एकड के पैता वाले किमान मोमिन प्रकार के महवारी मगठन ही स्थापित कर सकते हैं जैम अण्डे, दूध और कुछ दूसरी फसला के मगठन, जिनमें अशिक प्रशियाकरण की आवश्यकता नहीं होती। इस क्षेत्र से परे मध्यजना के एकाधिकारी व्यवहारों से बचाव करने के लिए किमानों को वानुनी नियन्त्रणों या गारिडि विपणन एजेंसिया की स्थापना का महारा लेना पडता है।

मनीनी भेनी और विपणन के मलावा दूसरी क्रियाएँ भी थोड़ी-बहुत सफलता के साथ विभाजित की जा सकती हैं। मिचार्ड पर एक पृथक् पानी एजेंसी का नियन्त्रण हो सकता है। बीज पर नियन्त्रण रखना कठिन होता है, लेकिन यदि महवारी या सरकारी एजेंसियाँ शुद्ध बीज के फार्म स्थापित करें तो नियंत्रण रखा जा सकता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि किमानों को इन फार्मों से सप्लाई किये गए बीजों का ही इन्फेन्सल करने के लिए कहा जाए या बाध्य किया जाए (जैसा कि युर्गडा म होता है)। पौधों और जानवरों को छूत की बीमारियों से बचाव करना और भी कठिन होता है, लेकिन लोमा का गमभा-बुभावर या वानुनन अवरदस्ती करके यह काम भी किया जा सकता है। छोटे फार्म से बड़े फार्म-जंगी कार्यकुशलता की आशा रखना उचित नहीं है, लेकिन उनके चारों ओर मनीन बीज, उधार, पानी या विपणन की व्यवस्था करने वाली या छूत की बीमारियों पर नियंत्रण करने वाली या अनु-गधान या दूसरे कामों को करने वाली एजेंसिया का जाल बिछा दिया जाए तो छोटा फार्म भी कार्यकुशलता दिया सकता है। एजेंसियों के जाल का उल्लेख हमने इसलिए किया है कि बहुत से मामलों में प्रायः इनकी व्यवस्था नहीं हो पानी जिसके कारण कृषि के अनेक क्षेत्रों में छोटा किमान टोक प्रकार प्रति-योगिता नहीं कर पाता। जहाँ बड़े एजेंसियों के जाल की व्यवस्था होनी भी है वहाँ छोटा फार्म अन्तरी प्रकार में चनाई जाने वाली आस्ति की अन्तः उन्नत टेक्नीकें अपनाने में भीमा होता है। कुछ आग्निदा टीक से नहीं कर पाती, विशेषकर वे जो पीढ़िया में एक ही परिवार के स्वामित्व में चली आती हैं और उन्हें आग्निदिक उद्यम की सहाय हैमियन का प्रदीक अशिक गमभा जाना है। लेकिन अन्तरी प्रकार काम करने वाली आग्निदिक, अनु-गध, रासायनिक आद का योगी के नियंत्रण के नर नहीं हो पाते।



जमान प्रचुरता में स्वभना का स्थिति में पृथक् रखा है। जिन जमान जमान  
 अनन्त क्षणावधि में स्वभ है जगा कि जान या जाया या अन्वीया का कुछ  
 भाग में बनी विमान अथवा जमान का बहुत प्यार करने हैं और उसका  
 उबरता कायम रखना जानते हैं। कृषि का जिन प्रकारों में बहुत अधिक लगान  
 का आवश्यकता नहीं हैना उनमें भाग का मजदूरों की अथवा विमान का काम  
 मकरा अन्त में है। दूसरा धार कृषि का जिन प्रकारों में प्रति एकड़ बहुत  
 मजदूर लगान पड़ते हैं उनमें अन्तरी तरफ दूरभात करने अन्तर्गत बना भारी  
 जागा का रखने का मजदूरों निराल जाता है। (यह अन्तर्गत बहुत कुछ यगा है,  
 है जगा स्व अध्याय का आरम्भ भाग में मुनूरी और दाग मजदूरों के बीच  
 बनाया जा चुका है।)

७०

एक पमान की गती का नामरा नाम है जो म सम्बद्ध है अथवा छा  
 पमान की गती में दूरभात का लिए अधिक अमला रखने की आवश्यकता नहीं  
 होती। यदि स्व प्रकार का अमला उपलब्ध हो और उम कृषि विमानों सेवा  
 में लगाया जा सकता है तो नामरा हागा। उचित स्व प्रकार का अमला  
 को भरती करना मुश्किल और खर्चीका है जगा कि अधिकतर कम विकल्प  
 दगा में है तो छा पमान की गती कम हो सकती है। यह पमान का  
 यगा का साथ यह सम्भव नहीं है क्योंकि उमरा सफलता या असफलता उम  
 प्रबंध का उत्पत्ता पर निर्भर करती है। प्रबंध की समझा हनी विषय है  
 कि उमरा कारण नामरा कामों का धारण बढ़ाता बहुत कठिन जाता है  
 अथवा जगा कि हम एक घुंटे है २०० कृषि धारण एरटा का यूरोपीय पाम  
 ६० एरटा का पाम में अधिक धारण जानता है अथवा ३००० एरटा का  
 पाम ३०० कृषि धारण एकड़ धारण पाम में यदि अधिक धारण जानना  
 जाता और इन सीमाओं में अधिक बड़े धारण का कामों का धारण जानना तेजा  
 स गिरा लगती है। यह कामों की स्थापना का अधिकार प्रयत्न या य स्व  
 में धारण धारण करती है कि हा या टागनीवा में भूगर्भ उमरात का लिए  
 की कारण असाधन हुए हैं। जिन दगा में अन्त कृषि-उद्योग की कामा हा वहीं  
 का सागा का बड़े पमान का नए कृषि उद्यम धारण का अमला छा पमाने का  
 धारण उपादन में सुधार करने का लिए लगाना अन्त नामरा रखा है।

एक आर्थिक कारणों का अन्त नामरा नामाजिक सम्बन्ध भी है जिनमें प्रति  
 रट साग पारिवारिक धारण का काम का पमान करने हैं नये ही का  
 र का काम में अधिक नाम हा। जगा कि हम यह एक नाम में लिए  
 है बड़े पमान का उद्यम में धारण और मजदूरों का धारण नाम हा।  
 नाम है अन्त धारण भूमि के स्वामित्व का साथ स्व प्रकार की राजनामिक  
 और नामाजिक प्रतिष्ठा का अन्त जगा रखती है कि अधिकतर नाम भूमि का

स्वामित्व का थोड़े हाथों में केन्द्रीकरण बुरा समझते हैं। एक सम्प्रदाय ऐसा है जो राज्य या किसानों की सहायरी समितियों द्वारा भूमि पर सामूहिक स्वामित्व कर लेना ही इन कठिनाइयों का हल मानता है। इस अध्याय के खण्ड १ (ग) महम इस प्रकार के संगठनों की चर्चा पहले ही कर चुके हैं। कुछ देशों में राज्य के प्रामं मौजूद हैं लेकिन निजी मालिक के म्यान पर राज्य के प्रामं चलाने में औद्योगिक ऋण्डा म बोर्ड विरोध कभी नहीं हुई है। यदि किसान प्रजातान्त्रिक आधार पर स्वयं सामूहिक खेती करें ता सामाजिक दृष्टि से यह बड़ी श्रावक चोज मानी जा सकती है, लेकिन जैसा कि हम पहले ही निरव चुके हैं, श्रमिका द्वारा खुद चलाए जान वाले बड़े पैमाने के सहायक उद्यम इतिहास में कहीं-कहीं ही सफल हुए हैं। छोटे किसानों को सामूहिक प्रयोग की दिया म प्रयोग करने के लिए प्रेरित करना बड़ी अच्छी बात है, और यदि समूह छोटे रहे जाएँ—५ से लेकर ६ परिवारों तक—तो उनमें से अधिक लाभ सफल होंगे। लेकिन प्रजातान्त्रिक देशों में भी या उससे भी अधिक परिवारों वाले समूह गाँवों के बड़े-बड़े सामूहिक प्रामं बनाकर उन्हें सफलतापूर्वक चलायाना सम्भव नहीं जान पड़ता।

अधिकतम उद्यम और बड़े पैमाने की कार्य-कुशलता के सम्मिलित लाभ प्राप्त करने की नीयत से ऐसे भूमि दारणाधिकार लागू किये गए हैं जिनमें कुछ जोर-शबरदस्ती भी शामिल है। मूठान के गेजींग ब्याम बागान में, जो उच्चता माता हुआ उदाहरण है, जमीन के ठोटे-ठोटे हिस्से किये गए हैं जिन्हें किसान अपने लिए जोड़ता है, लेकिन उस पर विभिन्न नियन्त्रण लगाये हुए हैं। उसकी जमीन पर मगीनों से जुवाई की जाती है, उसे बड़ी बीज बोना होता है जो दिया जाता है और उन्हें बोने का हेर-फेर भी निर्धारित कर दिया जाता है, माय-ही खाद देने और खेती करने की विधि भी ऊपर से बताई जाती है और योजना को चलाने वाली केन्द्रीय एजेंसी ही उच्चता प्रमत्त प्रविशारण और विपणन के लिए से जाती है। इस जोर-शबरदस्ती से यह फायदा होता है कि कार्य-कुशलता निरन्तर बढ़ती जाती है। यदि एजेंसी से उपलब्ध सेवाओं का उपयोग म्बंछित कर दिया जाए तो बहुत से किसान घटिया दरजे के बीजों का इस्तेमाल करने लगेंगे, या खेती या विपणन के ऐसे तरीके अपनायने लगेंगे जिनसे बड़े पैमाने के संगठन से लाभ मिलना सम्भव नहीं होगा। इस तरह की जोर-शबरदस्ती से बड़े-बड़े बागान के श्रावक के लाभ भी मिन जाते हैं और पारिवारिक श्रावक की खेती के लाभ भी उपलब्ध हो जाते हैं, हाँ, इससे किसानों की हैसियत अवदम कुछ कम हो जाती है क्योंकि उसे स्वतन्त्र किसान की अपेक्षा ऊपर से आदेश प्राप्त करने वाले श्रमिक की भाँति काम करना होता है।

गेझीरा अपने ढंग का एक ही उदाहरण है। वैसे विमानों के पान जमीन प्रकसर ऐसी शक्तों के अधीन होती है जिनके अनुसार उन्हें कुछ वायुदे निभाने होने हैं। विमानों सेती जाने देशों के लिए सर्वोत्तम माग यही है कि पहले स्वैच्छिक सेवाओं का जाल बिछाया जाए, और बाद में इन सेवाओं का स्वैच्छिक से अनिवार्य बना दिया जाए (उन्नत बीजा का अनिवार्य उपयोग, अनिवार्य सामूहिक विपणन, अनिवार्य भूमि गरक्षण)। गवाओं का अनिवार्य रूप से लागू तभी करना चाहिए जब अधिकांश विमान केन्द्रीय एजेंसियों के सम्पत्त हो जाएँ, और जो थोड़े-बहुत विमान इनके लिए महत्त्व न हो उन्हें वाध्य करने में ग्राम किसानों के बीच अग्रगण्य वैदा ज्ञान का भय न हो।

कृषि-संगठन की समस्याओं पर समकालीन साहित्य में इतना जोर दिया गया है कि उनके विषय में अग्रहमति प्रकट करने के दृष्टि से चर्चा का समाप्त करना घुरा नहीं होगा। यह सदा ही बहुत महत्त्वपूर्ण है कि विमानों के पान जमीन ऐसी शक्तों पर होनी चाहिए कि जिनमें उन्हें सुरक्षा और प्रेरणा अनुभव हो, और यह भी बड़ा आवश्यक है कि पूर्वी उपलब्ध करने के लिए पर्याप्त ध्यवस्था होनी चाहिए। इन समस्याओं को छोड़कर वर्तमान विवाद में अन्य साम्प्रदायिक मामलों—विशेषकर विपणन, आजार और विपणन—पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है और कार्य-कुशलता उद्योग के माध्याम—विशेषकर पानी की सफाई, उन्नत बीजा के फार्म, खाद और कृषि विस्तार सेवाओं—पर बहुत कम जोर दिया जाता है। अधिकांश वाद-विवाद के बारे में पढ़कर मनुष्य पर यह अंतर पड़ता है कि देश में व्यापक साम्प्रदायिक परिवर्तन किसे बगैर कृषि-उत्पादकता अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती। यह ठीक नहीं है। जापान का ग्राम फार्म आज भी दो और तीन एकर के बीच होता है, फिर भी इन फार्मों की प्रति एकड़ उत्पादकता एशिया के अन्य भागों से दो से लेकर तीनों गुनी अधिक है। फार्म के आकार में कोई विशेष परिवर्तन किये बिना ही प्रथम महागुब्ब में तीस वर्ष पहले जापान में प्रति एकड़ उत्पादन लगभग पचास प्रतिशत बढ़ गया था और १९३५ तक यह दुगुना हो चुका था। कम विवर्तित देशों में सेती में इन उन्नति, खादों, नये बीजों, कीटनाशकों और पानी की सफाई आदि कृषि विस्तार कार्यक्रमों के फलस्वरूप होती है, न कि फार्म का आकार बदलकर या मशीनों का उपयोग करने, या विपणन-कार्य में मध्यम का लोप करने। (अधिक आबादी वाले देशों में फार्म का आकार बढ़ाना और मशीनों का इस्तेमाल करना हर हालत में मदिम्ह गणना वाली नीति है)। सबकी तो नहीं पर अधिकांश कम विवर्तित देशों की वर्तमान साम्प्रदायिक रचना उन्नत प्रौद्योगिकी की महत्त्वता से उत्पादन में भारी वृद्धि करने के पर्याप्त अनुभूत है। मनुष्य अधिकांश ऐसे देशों में रहने-मानने का स्वरूप जैसा रहने की सर्वा-

प्रिय आशा उन्नी वान पर टिका होंगी है कि उनके मनी काने के तर्जिमे इतने मिठके हूए है कि बहुत ही कम लागत में उत्पादन में कम-बारी वृद्धि की जा सकती है। इन विषयों पर हम अग्राय / में विचार करेंगे।

(ड) कुटीर उद्योग—हम मनुष्य की जनसंख्या का कुछ भाग मध्यम उत्पादका के रूप में मनुष्यों के विनिर्माण में विशेषज्ञ होता है। यदि कोई अर्थ-व्यवस्था विदेश-आयात पर ही बहुत निर्भर है या वान दूसरी है अथवा निर्भर-ने-निर्भर अर्थ-व्यवस्थाओं में भी यह भाग जनसंख्या के पाँच प्रतिशत में कम नहीं जाता। य मिनो सबप्रथम या कपडा बनाने के काम में लगे होते हैं जो सबसे मात्रा के बाद मनुष्य की दूसरी आवश्यकता है, उनके अभाव तकड़ी, चमड़े घातु रजिमा मिट्टी और दूसरी प्रायः सामग्रियों पर काम करने वाले मिल्की भी होते हैं। राज-महागवा या अमीर लोगों के लिए कुछ ऐसी वस्तुएँ भी बनाई जा सकती हैं जिनमें उच्छाट कारीगरी की गई हो, लेकिन अधिकांश मनुष्य सामान्य प्रकार की और सामान्य लोगों के लिए ही बनाई जाती हैं।

पश्चिमी यूरोप में, जहाँ औद्योगिक प्रगती का जन्म हुआ, वहीं-वहीं फ्रँकरी प्रगती का उद्भव कुटीर उद्योग से ही हुआ। कुछ मामलों में मूह-मिल्की में अनेक कुशल कारीगर उपलब्ध हुए। वहीं-वहीं 'घर-उत्पादन' पद्धति निजी कारखान और फ्रँकरी के बीच की अवस्था के रूप में चली। लेकिन सदा ही ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि वहीं-वहीं फ्रँकरी का आधार ऐसी मशीन थी जिनसे पुरानी कारीगरी को बेकार कर दिया। वहीं-वहीं फ्रँकरियों के मालिकों ने जान-बूझकर ऐसी जगह में अनेक दिने जहाँ अधिक मजदूरियाँ न देनी पड़ें, या जहाँ मिल्की में सम्बन्धित प्रतिबन्धक व्यवस्थाएँ लागू न हों। दारखाने से फ्रँकरी तक कोई अनिवार्य अर्थिक विकास देखने में नहीं आता। नयी प्रगती ने अनेक बार पुरानी प्रगती को चुनौती देकर उसे विनष्ट करने का प्रयास कर दिया है।

अनेक लोग जिस प्रकार बड़े पैमाने की मशीनों की अपेक्षा छोटे पैमाने की खेती पसन्द करते हैं, उन्नी प्रकार आधुनिक फ्रँकरी से स्वतन्त्र मिल्की का नाश होने देना प्रच्छा नहीं समझते। आर्थिक दृष्टि से विचार करने पर भी छोटे पैमाने की खेती और कुटीर-उद्योगों के जारी रहने की परिस्थितियों में बड़ी समानता दिखाई देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि कृषि की भाँति उद्योग में भी कुछ तकनीकी परिस्थितियाँ ऐसी हैं जो अन्य परिस्थितियों की तुलना में बड़े पैमाने के अर्थिक अनुकूल हैं, इन्हें छोड़ दें तो छोटे पैमाने के प्रयत्नों का जीवित रहना उत्पादक के चारों ओर फैले मुनगठित सेवास्यों के जाल पर निर्भर है जो प्रायः सभी बड़े पैमाने पर काम करती हैं। हमारी दिग्दर्शी

न हो तो प्रतियोगिता मुख्य रूप से श्रम लागत का नेतृ होनी है। इस आर्थिक क्रम में कुछ मशीनें दूसरी मशीनों की तुलना में बहुत अधिक उत्पादक होती हैं। उदाहरण के लिए फँटरिया में बुनाई के काम आने वाला करपा हाथ-करपे से विशेष भिन्न नहीं होता लेकिन कनाई के काम आने वाली फँटरियों की मशीन धरलू चग्ने की तुलना में बहुत अधिक उत्पादक होती है। यही कारण है कि कनाई का काम कभी का फँटरियों ने इधिया लिया है उन कि बुनाई का काम आज भी हाथकरपे पर करना लाभप्रद है।

काम चाहे घर में किया जाए या छाट बगवान में, छोटे पैमाने का उत्पादन उन उद्योगों में सबसे अच्छी तरह चल सकता है जिनमें मानव बन्तु की व्यापक माँग नहीं होती। एक बार व्यापक माँग होने लगे तो फिर भारी विशेषज्ञता-प्राप्त मशीनों का आविष्कार करना ही लाभप्रद रहता है, और उनके बाद छोटे-छोटे कार्य एकका के लोभ होने में थोड़ा ही समय लगता है। इनके अलावा जैसा कि हमने अभी देखा है, यदि खरीद के साथ यह शर्त लगी हो कि वस्तु मानकीकृत ही होनी चाहिए, तो हस्तशिल्पी मशीनों की तुलना में प्रतिकूल परिस्थिति में रहता है, क्योंकि या तो वह स्वयं अपने उत्पादन की नाप-जोच पर नियंत्रण नहीं रख पाता या और हस्तशिल्पियों से ठीक उसी प्रकार की वस्तु नहीं बनवा पाता जैसी कि वह स्वयं बना रहा होता है। इनके परिणामस्वरूप उत्पादन को एक जगह एकत्र करके बड़ी मात्रा में बेचने में बठिनाई आती है। हस्तशिल्प के उत्पादनों को बेचने में एक बाधा मानकीकरण का अभाव है—यह अनुभव उन लोगों का है जिन्होंने इन प्रकार की बन्तुओं को ब्रिटेन या अमेरिका में बेचने के प्रयत्न किये हैं। कुटीर-उद्योग के जीवित बने रहने के अवसर सबसे अधिक उन बन्तुओं के उत्पादन में होते हैं जो थोटी-थोड़ी खरीदी जाती हैं, और जिनका गुण यही माना जाता है कि कोई दो नग विसकुल एक-जैसे न हों। निष्कर्ष यह है कि व्यक्तिगत उत्पादन का क्षेत्र बहुत ही संकुचित होता है। स्पष्टों, लकड़ी के काम और बहुसूत्र धातुओं में कनालक कारीगरों की गुंजायश अवश्य है, लेकिन स्पष्टों, जूतों और धातु की चीजों की व्यापक माँग को पूरा करने के लिए फँटरियों के स्तर पर ही उत्पादन किया जाना चाहिए।

दूसरे, छोटे पैमाने के उद्योग का भविष्य ठसकी टेक्नीकों के सुधार पर निर्भर करता है। प्रायः देखने में आता है कि छोटे उद्योगों में काम आने वाले छोड़ार सदियों से ज्यो-के-स्थो बले आ रहे हैं, और शिल्पियों की कारीगरों में कोई मौलिक परिवर्तन लाए बिना ही आधुनिक अनुभवों की सहायता से इन छोड़ारों में काफी सुधार करने की गुंजायश है। जिस प्रकार छोटे पैमाने की खेती में सरकारी अनुसन्धान एजेन्सी, टेक्नीकों में सुधार करने के लिए

प्रयोग और उत्पादनों में नयी जानकारी फैलाने के लिए सत्ताह्वार सेवा उप-लब्ध करने की गुजारिश है, उगी प्रकार छोटे पैमाने के उद्योग में भी यदि शिली के श्रौंकार और टेक्नीकों में सुधार के लिए प्रयोग करने और नयी जानकारी फैलाने के लिए एजेंसियाँ स्थापित कर दी जाएँ तो इन शिल्पियों की कार्य-कुशलता और स्थायित्व की सम्भावनाएँ बहुत बढ़ सकती हैं। टेक्नीक में सुधार केवल उपकरणों को लेकर ही करने अपेक्षित नहीं हैं, शिली को रगार्द आदि के बेहतर सामान की जानकारी भी कराई जा सकती है, या उसे अपने सामान की जाँच के तरीके बनाए जा सकते हैं, या अधिक सही माप-जोप या मानकीकरण करने की विधियाँ बताई जा सकती हैं। टेक्नीकों में सबसे बड़ी शक्ति शिल्पियों के श्रौंकारों के साथ छोटे विजली के मोटर लगाने के रूप में हुई है अक्सर इसी में प्रति-व्यक्ति उत्पादन कई गुना बढ़ जाता है। लेकिन अधिकांश कम विकसित देशों में इतने अधिक गाँवों में विजली पहुँचाना सामर्थ्य से परे की बात है।

इसके बाद विपणन और बिन के गठन की बात आती है। शिल्पी सामान का स्टॉक जमा नहीं कर सकता, न वह तैयार मात्र का भण्डार रख सकता है। यदि यह ग्राहकों से आर्डर लेकर ही माल तैयार करे तो उमका रोजगार नियमित रूप से चलना सदृजभव हो जाता है। लाभप्रद ढंग से उत्पादन के लिए शिली और वास्तविक उपभोग के बीच मध्यजन का होना वाछनीय है। मध्यजन स्टॉक जमा कर सकता है, बाजार में विस्तार करने की दृष्टि से दुकाना में सामान एकत्र करके उनका प्रदर्शन कर सकता है, वस्तु की विप्री के लिए उमका मानकीकरण आवश्यक हो तो कई शिल्पियों से एक-संगी चीजे तैयार कराने की व्यवस्था कर सकता है, और यदि वस्तु में विशेषज्ञता और जुझाई जरूरी हो तो भिन्न भिन्न शिल्पियों के काम की जुझाई का प्रबन्ध भी कर सकता है। इस प्रकार का काम प्रायः निजी मध्यजन करते हैं लेकिन अक्सर ऐसा समझा जाता है कि ये शिली को करने में दबा-कर जगते पायदा उठते हैं। अतः इन दिनों सरकारें ऐसी एजेंसियाँ स्थापित कर रही हैं जो मध्यजनों का काम अपने हाथ में ले लेती हैं, और साथ ही नई टेक्नीकों के अनुगन्धान और मलाह-सम्बन्धी कार्य भी करती हैं। इस सम्बन्ध में सबसे अच्छे परिणाम इण्डोनेशिया में उपलब्ध हुए हैं जहाँ एक-के-बाद-एक कई सरकारों ने विशेष रूप से स्थापित एजेंसियों के माध्यम से हस्त-शिल्प व्यापारों के सुधार और गठन के लिए काफी प्रयत्न किये हैं।

इण्डोनेशिया पुराने व्यापारों के पुनर्गठन में सबसे आगे रहा है, लेकिन जापान ने बिना अधिक सरकारों गहायता के कुटीर-उद्योग के आधार पर नये व्यापारों के गठन में सर्वश्रेष्ठता दिखाई है। ऐसा समझा है कि जापान में

'घर उत्पादन' प्रणाली की जड़ें जम चुकी हैं, निजी मीदागर गिल्पी को उनके घरो पर या छोटे कारखानों में तैयार करने के लिए बच्चा मान मप्लाई करते हैं। यह प्रणाली उन व्यापारों में भी लागू होने के लिए प्रसिद्ध हो चुकी है जिनमें वस्तु को कई हिस्सों में बनाना पड़ता है, अलग-अलग हिस्से, अलग-अलग शिल्पियों को या छोटे कारखानों का तैयार करने के लिए दिये जाने हैं, ये व्योरेवार विनिष्ठियों के अनुसार हिस्से बनाने हैं जिन्हें बाद में केन्द्रीय फैक्टरियों में जोड़ा जाता है। इस प्रकार जापानी गिल्पी आज एसी अनेक वस्तुएँ तैयार कर रहे हैं जिनके नाम भी उनके पूर्वजों को पता नहीं थे। छोटे पैमाने के उत्पादन का जीवन रहना ऐसे ही अनवरत उद्यम पर निर्भर करता है जिनमें नयी वस्तुएँ छोटे उत्पादन के क्षेत्र में आती रहती हैं। छोटे पैमाने का उद्योग यदि केवल बहुत पुरानी चीजों के बनाने पर ही निर्भर रहे तो अवनति करने लगता है, क्योंकि फैक्टरी-पद्धति छोटे-बहुत समय में सभी पुरानी चीजों के उत्पादन का लोप कर देती है।

अब तक जिन उपायों की हमने चर्चा की है वे कुटीर-उद्योग की फैक्टरी की प्रतियोगिता से संरक्षण देने की अपेक्षा उन्में अधिक कार्य-कुशल बनाने के बारे में हैं। अधिकांश लोग इस बात में महत्त्व देंगे कि कुटीर-उद्योग का बना रहना अभी उचित है जबकि वह आर्थिक आधार पर फैक्टरी उद्योग में प्रतियोगिता कर सके और इसीलिए इसकी टेक्नीकों में अनुसन्धान करने का विधिवत् कार्यक्रम, बच्चे माल में सुधार और पूंजी और बेहतर विपणन की व्यवस्था होना बाछनीय है। कुटीर-उद्योग को संरक्षण देना एक अल्प मजाल है, कुछ सरकारों ने संरक्षण प्रदान किया है, और इस पर विशेष रूप से विचार करना उचित होगा।

यह समस्या उन्हीं देशों के लिए महत्त्वपूर्ण है जहाँ कृषि और कुटीर-उद्योग में लगे श्रमिकों की बेगी है, जिनके लिए भूमि या पूंजीगत साधनों की कमी के कारण पूर्ण रोजगार की व्यवस्था नहीं की जा सकती। ऐसी परिस्थिति में यह कहा जा सकता है कि कुटीर-उद्योग में श्रमिक का उपयोग करने पर कोई वास्तविक लागत नहीं आती जबकि फैक्टरी-उत्पादन में दुर्लभ पूंजी और पर्यवेक्षण में कुशल लोगों को लगाने पर काफी खर्च करना पड़ता है। यदि कुटीर श्रमिक थोड़ी-थोड़ी आमदनी पर भी काम करने के लिए तैयार हों तो कीमत के आधार पर चलने वाली प्रतियोगिता के परिणाम उनके अनुकूल होंगे। व्यवहार में, कुटीर श्रमिक गुजारे लायक आमदनी ही माँग करते हैं, और उनके द्वारा ली जाने वाली कीमतेँ वास्तविक सामाजिक लागत में अधिक हो सकती हैं। अतः द्रव्यरूपी लागत का अन्तर चाहे जितना हो, वास्तविक लागत का अन्तर कुटीर-उद्योग के पक्ष में रहता है। जाहिर है कि इस प्रकार

का तर्क उन देशों पर लागू नहीं किया जा सकता, जहाँ श्रमिकों की अपेक्षाकृत कमी है। इस तर्क की यदि कोई वैधता है तो वह एशिया के अधिक आवादी वाले देशों के बारे में है न कि अफ्रीका या मॉडिन अमरीका के बारे में।

अब हम उन देशों के बारे में इस तर्क की वैधता पर विचार करें जहाँ श्रमिकों की बहुतायत है। इसे आँकड़ों सहित उदाहरण देकर समझाया जा सकता है। मान लीजिए कुटीर श्रमिकों की संख्या १०० है और मान लीजिए बड़े पैमाने का उद्योग मशीन बनाने उमका अनुपकरण करने और बदलने के काम में १० आदमियों को निरन्तर लगाकर और इन मशीनों पर उत्पादन करने के काम में ३० आदमियों का लगाकर इन १०० श्रमिकों के बराबर उत्पादन कर सकता है। (निवेश की गई पूँजी पर व्याज का खर्च भी बँटना है लेकिन इस समय हम इसका विचार छोटे देते हैं) तब, यदि माँग उतनी ही रहे तो फँक्टरियों की स्थापना का अर्थ यह होगा कि जो काम पहले १०० आदमी करने के वही अब ४० आदमी करने लगेँगे और ६० आदमी निराश्रय हो जाँगे। इस निष्कर्ष की वैधता इस धारणा पर आधारित है कि उत्पादन वस्तु की माँग उतनी ही रहेगी। इसके विपरीत यदि माँग ६० प्रतिशत बढ़ जाए तो ४० आदमी फँक्टरी में काम कर सकते हैं और ६० आदमी कुटीर-उद्योग में काम कर सकते हैं और इन प्रकार हर आदमी को काम मिल जाएगा, और यदि माँग १५० प्रतिशत बढ़ जाए तो हर आदमी को फँक्टरी में ही काम दिया जा सकेगा। इस प्रकार, हम देखते हैं कि कुटीर-उद्योग का तर्क प्रौद्योगिक उन्नति के सामान्य तर्क का ही एक भाग है। यदि उत्पादकता माँग की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ती है तो बेरोजगारी की स्थिति पैदा हो जाती है, लेकिन माँग उत्पादकता में अधिक तेजी से बढ़ने लगे तो या तो मुद्रा-स्फीति हो जाती है या रोजगार में वृद्धि हो जाती है।

करना सिर्फ यह चाहिए कि विनिर्माण उद्योग (कुटीर हो चाहे फँक्टरी का हो) की उत्पादकता बढ़ाने के उपाय करने के माध्यम-माध्य विभिन्न वस्तुओं की माँग को बढ़ाने के उपाय भी करने चाहिए। उत्पादक ऐसे देशों की जनसंख्या का एक छोटा-सा ही भाग होते हैं जब उनकी माँग भी कुल माँग का छोटा-सा हिस्सा होती है। अधिकांश माँग बाकी दूसरे वर्गों में आती है जिनमें विमानों का वर्ग सबसे बड़ा होता है। यदि किसी देश की कृषि विकसित न हो रही हो और केवल उसका विनिर्माण उद्योग ही विकसनीय हो और उसीमें पूँजी रख रही हो तो इनके परिणाम विनिर्माण उद्योग के लिए फायदा होंगे, क्योंकि फँक्टरी और कुटीर दोनों उद्योगों के अधिकते से अधिक माँग पूरी करने के लिए हो प्रतियोगिता करनी होगी। लेकिन विकास समुचित रूप में हो रहा होगा, निम्नमें विमानों की उत्पादकता तेजी से बढ़ रही होगी, /



और विनिर्मित वस्तुओं की माँग भी माथ-माथ बढ़ रही होगी, तो उद्योग में पूँजी-निवेश करने की काफी गुंजाइश रहेगी। माथ ही, अधिक आवादी वाले देशों में उद्योगीकरण कुछ सीमा तक विनिर्मित वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास पर भी निर्भर होता है। विकास में सम्बन्धित अधिकांश समस्याओं का रहस्य विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों के बीच उचित मन्तुलन कायम रखने में निहित है, और इस विषय पर हम बाद के अध्यायों में अधिक बताएँगे (देखिए अध्याय ५ खण्ड २ (ख) अध्याय ६ खण्ड २ (क), अध्याय ७, खण्ड १ (ख)।

सब-कुछ कह देन के बाद सचाई इसी में मान्य होती है कि जिन देशों में धर्मिकों की बसी है वहाँ विकास के आरम्भिक चरणों में पूँजी का बेहतर उपयोग उस परिवहन और दूसरी लोकोपयोगी सेवाओं, सिंचाई और कृषि की दूसरी आवश्यकताओं और ऐसे विनिर्माण-कार्यों के विस्तार में लगाकर किया जा सकता है जिनमें बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ सर्वाधिक हों—विशेषकर घातु रसायन, इजीनियरी और इमारती सामान बनाने के उद्योग में। इन देशों में यह उचित नहीं है कि पूँजी को बड़े पैमाने के ऐसे उद्योगों में लगाया जाए जिनका काम कुटीर-धर्मिक भली प्रकार कर सकते हैं—कपड़ा बुनने का उद्योग टमका विभिष्ट उदाहरण है। वैसे यह केवल एक अस्थायी बात है। यदि विकास हो रहा होगा तो कुटीर-उद्योगों की वस्तुओं की माँग शीघ्र ही उसकी मरलाई के बराबर हो जाएगी, और उसके बाद कोई विशेष बेकारी बटाए बिना ही फैक्टरियों के विस्तार की गुंजाइश निकल आएगी। बीच के समय में उन क्षेत्रों में फैक्टरियों की स्थापना करने पर प्रतिबन्ध होना चाहिए या नहीं जिनमें कुटीर उद्योग जैसे रह सकते हैं, यह एक विवादग्रस्त विषय है जो इस पर निर्भर है कि सम्बन्धित देश के कीमती तन्त्र में वास्तविक सामाजिक लागतों की प्रतिबिम्बित करने की कितनी क्षमता है, और वहाँ फैक्टरियों की स्थापना पर प्रतिबन्ध लगान में प्रशासन की कितनी सफलता मिल सकती है। पूँजी की बरबादी को रोकने के लिए कुछ कुटीर-उद्योगों को अस्थायी संरक्षण देने का आर्थिक तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है, लेकिन सभी आर्थिक तर्क प्रगामनिक दृष्टि से मान्य नहीं होते।

(क) परिवर्तन की प्रक्रिया—प्रभी तक हमने सामाजिक संस्थानों पर इसी दृष्टि से विचार किया है कि वे आर्थिक विकास के अनुकूल हैं अथवा नहीं। अब यह विचार करना उचित है कि मध्यम निम्न प्रकार बदलते हैं, और परिवर्तन किन्हीं पूर्व-निर्धारित विधियों से होता है अथवा नहीं। यह शुरू से ही ध्यान में रखना चाहिए कि आर्थिक परिवर्तन केवल

५. सांस्थानिक  
परिवर्तन

निम्न प्रकार बदलते हैं, और परिवर्तन किन्हीं पूर्व-निर्धारित विधियों से होता है अथवा नहीं।

यह शुरू से ही ध्यान में रखना चाहिए कि आर्थिक परिवर्तन केवल

सांस्थानिक परिवर्तनों का ही परिणाम नहीं होते। प्राथमिक विकास पूंजी-निर्माण में वृद्धि के फलस्वरूप भी हो सकता है, या नये प्रौद्योगिक ज्ञान के उपलब्ध होने पर, या अन्य ऐसे कारणों से भी हो सकता है जो सांस्थानिक परिवर्तन से पैदा नहीं होते, इसका स्पष्ट उदाहरण तब दबने को मिलता है जब विदेशियों द्वारा नया ज्ञान या नयी पूंजी लाने पर प्राथमिक विकास होने लगता है। इनमें से किसी एक घटक के कारण वृद्धि होने से मस्यानों में लगभग निश्चय ही परिवर्तन होत है। दूसरी ओर, ऐम सांस्थानिक परिवर्तन भी हैं जो प्राथमिक परिवर्तन का परिणाम नहीं होते, जैसे धर्म, राजनीति, या प्राकृतिक उपलब्धियों से उत्पन्न परिवर्तन। यदि यह मान लिया जाए कि सभी सामाजिक उपलब्धियों प्राथमिक कारणों से ही होती हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य केवल प्राथमिक स्वार्थ से ही प्रेरित होते हैं, जोकि बिलकुल गलत है। इस सन्दर्भ में हम सांस्थानिक परिवर्तनों का प्रकृति, कारण और प्रभावों का ही अध्ययन करेंगे, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि यही प्राथमिक परिवर्तनों के बुनियादी या एकमात्र कारण हैं।

मस्यानों और प्राथमिक विकास की परस्पर अनुसूतता का अध्ययन करने में हमने यह निष्कर्ष निकाला था कि मस्यान उस सीमा तक विकास में महायत्ना देने हैं जहाँ तक प्राथमिक प्रयत्न के अनुसूत पाश्चिमिक देने का समर्थन करने हैं विशेषज्ञता और व्यापार को क्षेत्र प्रदान करते हैं और प्राथमिक धन-धरो को खोजने और उनका उपयोग करने की आज्ञा देते हैं। भिन्न-भिन्न देशों के मस्यान इन मामलों में एक-दूसरे में बहुत भिन्न हैं। साथ ही, हर देश के मस्यान निरन्तर बदलते रहते हैं, भले ही परिवर्तनों की गति कितनी ही धीमी या तेज हो। ये मस्यान प्राथमिक विकास की अनुसूत दिशाओं में भी बदल सकते हैं या प्राथमिक विकास की अनुसूत दिशाओं की ओर भी जा सकते हैं।

प्राथमिक विकास की दृष्टि से मस्यानों का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण सम्भवतः इनके द्वारा प्राथमिक शालुयों के लिए दो बड़े आज्ञाओं की आज्ञा है। एक बार लोगों को प्राथमिक धन-धरो का उपयोग करने दिया जाए तो फिर विकास का मार्ग खुल जाता है, और जैसे-जैसे विकास के चरण बढ़ने लगते हैं मस्यान स्वयं प्रेरणाओं के मरक्षण और व्यापार को बढ़ावा देने के लिए धर्म-धरो अनुसूत परिवर्तन करते जाते हैं। इसके विपरीत यदि प्राथमिक धन-धरो बन्द कर दिए जाएं तो प्राथमिक विकास में गिरावट आने लगती है और मस्यान मरि-रोध के अनुसूत होने लगते हैं। उदाहरण के लिए, मान लीजिए किमी ऐसे समुदाय में सोने का पना मिलता है जिसे मभी मस्यान विकास के अनुसूत हैं—जहाँ मरि-धरो की सन्तुष्टि प्राथमिक है, जहाँ परिवार मरि-धरो-निर्भर है,

और जहाँ नये काम करने पर बेहूद बहिष्कार है जो कभी-कभी ही हटाई जाती है। ऐसी स्थिति में मान लीजिए कोई व्यक्ति—निजी या गवर्नरी कर्मचारी—मोटा खोदने, मजदूरों को काम पर रखने, और नामगरी और अमले के आयान की अनुमति पा जाता है। इतना-भर मन्थानों में शक्ति लाने के लिए पर्याप्त है। फिर देखते-देखते पम्बारा की आन्तनिर्भरता समाप्त हो जायेगी देशी और विदेशी व्यापार में भारी वृद्धि होगी मन्थानों के सम्बन्ध नूतन और जटिल हो जाएँगे, और इसी प्रकार वे और परिवर्तन होंगे। लोगो को अदमरो का उपयोग करने दिया जाए ता वे समय पाकर अपने मार मन्थानों में अनुकूल परिवर्तन कर लेते हैं।

निष्कर्ष यह है कि परिवर्तन स्वभाव में सच्यो है। एक बार आर्थिक विकास का शीघ्रपेश हो जाए ता मन्थान विकास की अनुकूल दिशा में अधिकाधिक बदलने लगते हैं, और इसमें विकास का बन देने वाली शक्तियाँ मजबूत होती जाती हैं। इसके विपरीत, यदि आर्थिक विकास की गति घटने लगे तो मन्थानों की विकास के प्रति अनुकूलता कम हो जाती है, लोगो अधिकाधिक को मानने लगते हैं और वे मरलता में बने रहते हैं, परिवार अधिकाधिक आन्तनिर्भर हो जाते हैं, उद्योग शक्तिशालता कम हो जाती है, और आर्थिक मामलों में सामाजिक स्थिति अतिआर्थिक महत्त्वपूर्ण होती जाती है, यहाँ तक कि फिर में सामन्तवाद स्थापित करने के प्रयत्न होने लगते हैं।

यह समझना सरल है कि ये प्रतियोगें सच्यो क्यों हैं। किसी सामाजिक मन्थान के एक विशेष रूप में बने रहने के कारण तीन हैं—उसकी सुविधा, उसकी सचाई के प्रति लोगों का विश्वास और जोर-उबरदम्नी। यदि विकास होने लगता है तो ये मारी बातें टूट जाती हैं। मन्थान सुविधाजनक नहीं रह जाता, क्योंकि वह आर्थिक उन्नति के अदमरो में बाधक सिद्ध होने लगता है। तब उसके प्रति लोगों का विश्वास टूट जाता है। पुरोहित, वकील, अर्थशास्त्री, और दूसरे दार्शनिक, जो पहले अपनी भिन्न-भिन्न दृष्टिमिताओं के आधार पर मन्थान का समर्थन करते थे, वे ही अब पुरानी दृष्टिमिताओं को छोड़ने लगते हैं, और उनके स्थान पर बदलती हुई परिस्थिति के अधिकाधिक अनुकूल नये आग्रहों की स्थापना करने लगते हैं। राजनीतिक शक्ति का सन्तुलन भी बदलने लगता है। आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप नए लोग धनाढ्य और हैसियत वाले हो जाते हैं, वे पुगने सामक-सगों को चुनौती देते हैं, कम या अधिकाधिक शक्तिकारी तरीकों से राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने हैं, और पुगने मन्थानों के स्थान पर नये मन्थानों की नींव डालते हैं। एक बार आर्थिक विकास होने लगे तो फिर निश्चय ही पुगने मन्थान टूट जाते हैं, और विकास में वृद्धि के अनुकूल नये मन्थान जन्म लेते हैं। इसी प्रकार, जब विकास रुक जाता है

नो विवागशील अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल गम्वान अधिक दिन तक उपयुगी नहीं रह पाते। लोगों का उनसे प्रति विश्वास हट जाता है। पुरोहित, वकील, अर्थशास्त्री और दार्शनिक उनके विरुद्ध हो जाते हैं और यथापूर्व स्थिति चाहते वाले शक्तिशाली समूह आर्थिक विरुद्ध के प्रतिष्ठित परिवर्तन लाने में सफल हो जाते हैं।

यदि आर्थिक अचरार की अपेक्षा स्वयं गम्वानों में परिवर्तन शुरू हो जाए तो भी उपर्युक्त गम्वयी शक्तियाँ इसी प्रकार काम करती हैं। लोगों के अन्दर अचरारों का लाल उठाने की इच्छा या गुंजाइस बढ़ जाने पर नये-नये आर्थिक अचरार स्वयं पैदा हान या दिगाई देने लगते हैं, और नये अचरारों के सामने आने पर विश्वासा और गम्वानों में परिवर्तन होने लगते हैं। आर्थिक अचरारों विश्वासा और गम्वानों की परम्पर गम्वयी अन्तर्क्रिया के कारण ही यह बनाना प्रायः यथा कठिन होता है कि किसे परिवर्तन का 'बुनियादी' कारण क्या था—उदाहरण के लिए, यह बनाना बहुत कठिन है कि तेरहवीं शताब्दी में सोलहवीं शताब्दी के बीच पश्चिमी यूरोप में हुए धर्मशास्त्रीय परिवर्तन (निन्ही परिष्कृति सुधार और प्रतिमुधार में हुई) वहाँ बढ़ते हुए आर्थिक अचरारों का परिणाम था या बदलती हुई धर्मशास्त्रीय गम्वानाओं न ही लोगों को उपलब्ध आर्थिक अचरारों का उपयोग करने की अनुमति दी। एक प्रकार के सभी प्रश्नों का समाधान प्रायः अगम्य है।

'बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल गम्वानों का समग्र एक कष्ट-पर प्रतिया हो गम्वी है। यह न तो सन्तुष्ट होती है और न पूरा होती है। विश्वासा और सम्बन्धों के जाल में वही एक स्थान पर परिवर्तन का शीमलेश होता है और वही में इसका बाहर की ओर प्रभाव पड़ने लगता है। परिणाम यह होता है कि सृष्टि के कुछ विश्वासा या आदर्शें पूरी तरह बदल जाती हैं जबकि दूसरी मजबूती में जड़ जमाग रहती हैं। नयी और पुरानी बातें देखते तरीके में और विविध अनुगानों में पुन-मिल जाती हैं जिन्हें लेकर भिन्न-भिन्न गम्वानों में बड़े अन्तर पाए जाने हैं और पूरी तरह कायापगट तो कभी नहीं हो पाती। यही कारण है कि आरंभ में पश्चिम के यूरोपीयों दन एक दूसरे से हलते भिन्न हैं। उनमें पूर्व-यूरोपीयों विचार यही आर्थिक और यही गम्वानों में बड़े हुए हैं और आदर्शों के गम्वानों की निरुत्ता, अचरारों की गम्वानता, निन्ही उपमशीलता के प्रति दृष्टिकोण, निन्ही दन के प्रति दृष्टिकोण और ऐसे ही अन्य मामलों में परस्पर भिन्नता है। ऐसे गम्वानों में गम्वान ही बहुत अधिक धमगणियों पाई जाती हैं जिनमें पिछली कुछ ही दगावियों में तेजी से विवाग हुआ होता है। लोगों को मुदा अर्थ-व्यवस्था के अनुगार अचरारों को दानने में, मुदा में अभिश्चर अचरारों का लाल उठाना गौगने में और मुदा अचरार

होने पर उसे खर्च करने या रखने की आदत डालने में काफी समय लगता है। उन्हें नैतिकता के नये मानदण्ड बनाने पड़ते हैं जिनकी स्थापना में बड़ा समय लगता है, यानि यह है कि उनके समुदाय का वह रूप सम्पादन हो चुकता है जिसमें दायित्व हैमिपत पर आधारित होने हैं और अब वे ऐसे सामुदायिक जीवन में प्रवेश कर रहे होने हैं जिसमें दायित्व नविदा पर और ऐसे लोगों के साथ बाजारगी सम्बन्धों पर आधारित होने हैं जिनमें उनका प्रायः कोई नाईचारे का रिश्ता नहीं होता। परिणामस्वरूप ऐसा समुदाय जो अब तक बहुत ईमानदार था, तब तक निहायत धैर्यमानी का आचरण करता रह सकता है जब तक वह यह नहीं सोच लेता कि मुद्रा में अभिव्यक्त नविदो को पूरा करने के निमित्त नितान्त अपरिचितों के लिए भी ईमानदारी से मेहनत करना या उन्हें ठीक-ठीक भाल देना आवश्यक है। सामाजिक मूल्यों को भी नये अर्थ देने होने हैं, लोग पुगनों ऊँची हैमिपत का सम्मान करना छोड़ देने हैं, अगुओं, दादाओं और गुरुजनों को स्वयमेव सम्मान मिलना बन्द हो जाता है। नेतृत्व की दिशाओं में परिवर्तन हो जाता है और नये नेताओं को पुराने लोगों के बगल इज्जत पाने का इज्जत पाने योग्य बनने में काफी समय लगता है। पुगनों नैतिकता का पतन आर्थिक परिवर्तन के बड़े कष्टकर पहलुओं में से है और यह भी एक कारण है कि नीतिगाम्बिज और मानवविज्ञानवादी प्रायः परिवर्तन के या कम-से-कम द्रुत परिवर्तन के विरुद्ध होते हैं। वे जानते हैं कि द्रुत परिवर्तन में पुगने विद्वान् और सस्थान बड़ी जल्दी छिन्न-भिन्न हो जाते हैं जबकि उनके स्थान पर नये विद्वानों और सस्थानों को जहाँ जमाने में काफी समय लगता है। अमगति का एक दूसरा उदाहरण, जिसकी इन दिनों जोर-शोर से चर्चा की जाती है, जन्म-दर और मृत्यु-दर के बीच समुतल का अभाव है जो आर्थिक विज्ञान के आरम्भ के कुछ ही समय बाद पैदा होने लगता है और जिससे आबादी में वृद्धि होने लगती है (आर्थिक गिरावट के साथ आबादी कम होने पर भी ऐसी ही जोरदार चर्चा होती है)। गतिमन्द समाज में जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों ही लगभग बराबर और ऊँची होती हैं। इसके बाद जब आर्थिक विज्ञान होने लगता है तो मृत्यु-दर कम होने लगती है। इसके आरम्भिक कारण तो यह हैं कि मत्त-भाषनों और व्यापार में वृद्धि होने से स्थानीय दुर्निक्ष पड़ने बन्द हो जाते हैं और बाद के कारण आवंजित स्वास्थ्य के उपाय और चिकित्सा में सुधार हैं। जन्म-दर में गिरावट शुरू होने से बहुत पहले ही मृत्यु-दर कम होने लगती है और इन बीच आबादी ६० साल से लेकर ३० साल तक में दूनी होने लगती है। कुछ समय बीत जाने पर ही लोग यह समझ पाते हैं कि यदि उन्हें मृत्यु-दर पर नियन्त्रण करना है तो साथ ही जन्म-दर पर नियन्त्रण करना भी आवश्यक है (इन विषय की और चर्चा

अध्याय ६ में की जाएगी।)

परिवर्तन की अग्रगतियों को देखते हुए अनेक लोगो ने यह जिज्ञासा प्रकट की है कि क्या सामाजिक परिवर्तन का 'संतुलित' ढंग में नियमन नहीं किया जा सकता, अर्थात् क्या कुछ विद्वानों और सम्मानों को दूसरों की अपेक्षा अधिक तेजी से बदलने में नहीं रोका जा सकता? हम लगता है कि यह अग्रम्भवे है। किसी संस्कृति के अनुसार पहलुओं को साथ-साथ और समान अनुपातों में बदलना सम्भव नहीं है। कुछ पहलुओं पर दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है और वे दूसरे पहलुओं को अपने साथ न्यूनाधिक मात्रा में बदलते हुए स्वयं समाप्त हो जाते हैं। हम हमेशा यह नहीं बता सकते कि कौन-सा पहलु पहले बदलेगा, क्योंकि परिवर्तन की यह प्रक्रिया भिन्न-भिन्न समाजों में उनके इतिहास और परम्पराओं के अनुसार होती है। न हम यह बता सकते हैं कि संस्कृति के कौनसे पहलु किन-कौनसे तब बदलेंगे, या किन अनुपातों में बदलेंगे। अग्रसंतुलित परिवर्तन को रोकने का एकमात्र उपाय यही है कि परिवर्तन होने ही न दिया जाए, लेकिन यह किसी के बल का नहीं है।

यह तो सही है कि किसी विशेष घटना के परिणामस्वरूप होने वाले सभी परिवर्तनों का पूर्वानुमान नहीं किया जा सकता, लेकिन हमका यह अर्थ नहीं है कि हम परिवर्तन की दिशा को किसी रूप में प्रभावित नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए, हमें पता है कि भूतकाल में उद्योगीकरण से अनेक देशों में महान् के अन्दर गरीब बस्तियाँ बन गईं, लेकिन हम यह भी जानते हैं कि अग्र-नगर-आयोजन के उचित उपाय अपनाए जाएँ तो गरीब बस्तियों के बिना भी उद्योगीकरण किया जा सकता है। हमें पता है कि कुछ दूसरे स्थानों में उद्योगीकरण होने से बहुत बड़ी समस्या में श्रमिक गाँवों में महान् में चले आए हैं और फिर वापस चले गए हैं, और हमें पता है कि हम पर भी नियंत्रण करने से रोक लगाई जा सकती है (देखिए अध्याय ८, पृष्ठ ३ (ग))। पारिवारिक सम्बन्ध, बर्तों की शक्ति के प्रति आदर, धर्माचरण, या मर्यादात्मक दायित्वों के पालन-गरीबे मामलों में मानवीय प्रवृत्तियाँ किन प्रकार बदलेंगी इनका पूर्वानुमान करना दरमदर अधिक कठिन है। कुछ लोगों को हमी बात का भय होता है कि घाथिव विकास की नयी मरिदा जब सामाजिक सुरक्षा की पुगनी बोलना में उलने लगती है तो पुगने नैतिक मून्य छिन्न भिन्न हो जाते हैं। पुगने सम्बन्ध किन-कौनसे तब छिन्न-भिन्न होते हैं यह अज्ञान साधक हम पर निर्भर है कि विकास का आरम्भ किन प्रकार किया गया है। यदि विकास का आरम्भ विदेशी पूँजीपति और सरकारों द्वारा किया जाता है, जिनमें पुगने मन्त्री, धार्मिक और पारिवारिक नेताओं के प्रति आदर की भावना होती है, तो पुगने में स्थानित मत्ता उम गिराई की अपेक्षा अधिक तेजी और प्रभावपूर्ण तरीके

में टहा दी जाती है जिसमें विकास का आरम्भ पूर्व-प्रतिष्ठित नेतृत्व के अधीन होता है। जापानियों के बारे में कभी-कभी यह कहा जाता है कि उन्होंने पश्चिम के पूंजीवाद को जीवन की अपनी विधि के अनुकूल बनाकर अपनाया है लेकिन यह नदहाम्पद है कि यह प्रक्रिया जान-बूझकर हुई है। बात दरघनल यह है कि जापान में पूंजीवाद का आरम्भ वहाँ के पूर्व प्रतिष्ठित नेताओं द्वारा ही किया गया है जिसके परिणामस्वरूप पुरानी मत्ता और नये तरीकों के बीच सघष कम-से-कम हुआ है। प्रवृत्तियों और सामाजिक सम्बन्धों पर आर्थिक विकास के प्रभाव उन स्थिति में सबसे कम आन्विकार्य हान है जबकि वर्ग-भावना पर भी इनके प्रभाव कम-से-कम उग्र होने हैं मतलब यह है कि जब पुराने राजनीतिक धार्मिक और सामाजिक पदमोपानो द्वारा ही नये उद्यम-शील मताओं का सामने लाकर उन्हें मान्यता दी जाती है। आर्थिक विकास के प्रति एशिया और अफ्रीका की प्रतिक्रियाओं में यह भी एक बड़ा अन्तर है। अफ्रीका की तुलना में एशिया के अन्दर पुरानी धार्मिक और राजनीतिक प्रणालियों की जड़ें अधिक मजबूत थीं, और पश्चिम के प्रभाव में वे पूरी तरह नष्ट नहीं हो सकीं। इनके विपरीत अफ्रीका में यूरोपीय पूंजीपतियों और सरकारों ने वहाँ की स्थापित प्रथाओं, धर्मों और जीने की विधियों आदि उन सभी बातों के प्रति, जो पश्चिमी दिनों के विरुद्ध थीं, बड़ा घनादर प्रकट किया, और उनके विरोध में बार्खाई की, जिसका फल यह हुआ कि वहाँ विच्छिन्नता अधिक व्यापक पैमाने पर हुई।

एक बार मन्थानों में परिवर्तन शुरू हो जाए तो यह ऐसे तरीकों से होता है जो एक दूसरे को बल प्रदान करते हैं। पुराने विद्वान और सम्बन्ध बदल जाते हैं, और नये विद्वान और मस्थान धीरे-धीरे एक-दूसरे के अनुकूल होने लगते हैं और उम्मीदों में परिवर्तन का बल प्रदान करते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि एक बार आरम्भ होने पर विकास के चरण सदा ही आगे बढ़ते रहेंगे, या पीछे हटना आरम्भ होने पर कभी रोकें नहीं जा सकेंगे।

पहली बात तो यह है कि हर विकास गणितीय पद्धति से होता है, अर्थात् धीरे-धीरे शुरू होता है, तेजी पकटना है, और फिर धीमा हो जाता है। इनका कारण यह है कि विकास का हर नया पहलू अन्ततः अपनी सम्भावनाओं की सीमा पार कर लेता है। एक कल्पित उदाहरण देकर हम इसे समझाएँगे। जब पहले-पहल रेडियो बाजार में आते हैं तो जनता को उनकी सम्भावनाओं का ज्ञान नहीं होता, और वे उसे लेने में हिचकते हैं, मुश्किल से बहुत थोड़े रेडियो विक्रेते हैं लेकिन धीरे-धीरे ये लोकप्रिय होने जाते हैं, और फिर उनकी पडा-घट बिथी होने लगती है। जब हर घर में रेडियो हो जाता है तो एक सीमा आ जाती है। इस सीमा के आ जाने पर बिथी नेत्रों से घटने लगती है। सम्भव

है बाजार में आने के दूसरे साल पहले साल की अपेक्षा दूनी बिक्री हो, तीसरे साल निगुनी बिक्री हो, और चौथे साल चौगुनी बिक्री हो, लेकिन सदा ही प्रतिवर्ष बिक्री दूनी होनी रहना सम्भव नहीं है, क्योंकि खरीदारों की संख्या इतनी अधिक होनी ही नहीं। यही बात सांख्यिक परिवर्तन पर भी लागू होती है। किसी नये मिद्धान्त के सामने आने पर पहले उसका विरोध होता है। कुछ समय बाद वह जोर पकड़ जाता है और सामाजिक सम्बन्धों के अधिकाधिक व्यापक दायरे में उन्माह के साथ लागू किया जाने लगता है। लेकिन कभी-न-कभी ऐसा समय अवश्य आता है जब वह उन सभी मामलों में लागू हो चुकता है जिनमें यह सफल है। विकास क्रमिक प्रेरकों का परिणाम है जिनमें से प्रत्येक अन्ततः अपनी सीमा को पहुँचता है। अतः सुस्थिर गति से विकास तभी होगा जब सयोगवश नये प्रेरक ठीक उसी समय पैदा हो जबकि पिछले प्रेरक सुप्त हो रहे हों। व्यवहार में, हम विकास की सुस्थिर गति से होने की आशा नहीं कर सकते। अधिक-से-अधिक यही आशा की जा सकती है कि विकास में क्रमिक ऊँचाईयाँ आएँगी जिनके बीच अपेक्षाकृत मन्द गति के काल होंगे।

अनुभव से पता चलता है कि कभी अधिक और कभी कम विकास वाली अवस्था भी बाद में समाप्त हो सकती है। कुछ समाजों में बड़ी तेजी से आर्थिक विकास हुआ है, जिसके बाद गतिरोध और गिरावट के ऐसे समय आए हैं जब उन समाजों के पास बरबादी के अलावा और कुछ नहीं बचा। जिन प्रकार विकास के बाद गतिरोध की स्थिति आ सकती है, ठीक उसी तरह गतिरोध के बाद विकास हो सकता है। इतिहास में त्वरण और मन्दन के क्रमिक मोड़ पाए जाते हैं। परिवर्तनशील प्रक्रियाओं के सभी विशेषणों में ये मोड़ सबसे अधिक दिल-चस्प होते हैं, क्योंकि इन मोड़ों के तुरन्त बाद पैदा होने वाली सचयी प्रक्रियाओं का सम्भना अपेक्षाकृत सरल होता है। इसलिए हम सबसे अधिक ध्यान इन्हीं मोड़ों के अध्ययन को देना चाहिए।

पहले हम त्वरण की अवस्थाओं को लें। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि विकास के लिए बुनियादी चीज अवसरों का उपयोग है। इस प्रकार विकास में त्वरण का कारण या तो यह हो सकता है कि नये अवसर पैदा होने लगे हैं, या यह हो सकता है कि सांख्यिक परिवर्तन पहले से मौजूद अवसरों का उपयोग करने की आशावादी देने लग है, या दोनों कारण हो सकते हैं।

नये अवसर अनेक प्रकार के हो सकते हैं। नये आविष्कारों में नयी वस्तुओं की जन्म मिल सकता है, या पुरानी वस्तुओं के उत्पादन की लागत कम हो सकती है। नयी राहें, नये जहाजों, रास्ते, या संचार-मापनों में अन्वेषण गुप्त आविष्कार के नये अवसर प्रदान कर सकते हैं। युद्ध या ग्रेविटी में नयी सीमा पैदा



हो सकती है। देश के अन्दर आने वाले विदेशी लोग नये व्यापार आरम्भ कर सकते हैं, नया पूंजी-निवेश कर सकते हैं, या रोजगार के नये अवसर प्रदान कर सकते हैं। इस प्रकार के नये अवसर काफी हद तक वर्तमान समस्याओं से स्वतन्त्र होत हैं। लेकिन पूर्ण रूप से ऐसा नहीं होता। आग आने वाले अवसरों में हम आविष्कार की दर या विदेशी पूंजी-निवेश आदि मामलों पर समस्याओं के प्रभाव का अध्ययन करेंगे। वैसे जहां तक ये मामलें देश के समस्याओं से स्वतन्त्र होंगे वहां तक समस्याओं में बड़े परिवर्तन हुए बिना ही अवसरों में त्वरित गति से वृद्धि हो सकेगी, और साम्प्रदायिक परिवर्तन अवसरों की त्वरित वृद्धि के बाद हो जाएंगे।

यह भी सम्भव है कि सम्बन्धित आर्थिक घटकों में बड़े परिवर्तन हुए बिना ही साम्प्रदायिक परिवर्तन लोगों को आर्थिक चातुर्य की अधिक आजादी देने लगे। इनका एक सम्भव उदाहरण, जो कभी-कभी ही देवन में आता है, घास का हृदय-परिवर्तन है, जिससे प्रेरित होकर वह लोगों को उन मार्गों से आर्थिक चातुर्य करने की अनुमति दे सकता है जो पहले निषिद्ध माने जाते थे। उनसे अधिक व्यावहारिक उदाहरण राजनीतिक मत्ता में परिवर्तन है जो युद्ध, दुर्भिक्ष, दूषण, भूकम्प, प्लेग, या दूसरी आपत्ति के फलस्वरूप देश को पहुँचने वाले आघात से पैदा होता है। इस प्रकार के आघात कभी-कभी यथापूर्व स्थिति के पक्षपाती शासक-वर्गों की पकड़ को ढीला कर देते हैं, और लोगों को ऐसे हाथों में चले जाने का मौका देते हैं जिनमें परिवर्तन के प्रति रुचि होती है।

इस प्रकार, त्वरण आर्थिक स्थिति में परिवर्तन आने के कारण भी हो सकता है जिससे नयी परिस्थितियों की जन्म मिलता है, या साम्प्रदायिक परिवर्तनों के कारण भी हो सकता है जो उपलब्ध परिस्थितियों के उपयोग की पूर्वाभिलाषा अधिक आजादी प्रदान करने लगते हैं। व्यवहार में, त्वरण की मुख्यतः घात के साथ प्रायः दोनों प्रकार के परिवर्तन सम्बन्धित रहते हैं। आर्थिक स्थिति सम्भवतः इसलिए विनाश के अनुकूल हो जाती है कि विदेश-व्यापार के अवसर बढ़ जाते हैं, और इसीसे उन लोगों के हाथ मजबूत हो जाते हैं जो अधिक आजादी देने वाले साम्प्रदायिक परिवर्तन लाना चाहते हैं।

नवीन प्रक्रिया करने वाले ये लोग सभ्यता में सदा ही छोटे होते हैं। नये विचार पहले पहल एक या दो या बहुत छोटे लोगों द्वारा लागू किये जाते हैं, चाहे ये प्रौद्योगिकी से सम्बन्धित नये विचार हों, या संगठन के नये रूप हों, या नयी वस्तुएँ हों, या और नयी-नयी चीजें हों। सम्भव है बाकी जनसभ्यता इन विचारों को तेजी से अपना ले। लेकिन गुरु में अधिकतर उन्हें हिचक और अविद्वान की दृष्टि से ही देखा जाता है, और उन्हें अपनाने के लिए यदि कुछ प्रयत्न होते भी हैं तो वे बहुत ही धीमे होते हैं। लेकिन कुछ समय बाद जब

नये विचार सफल होने लगने हैं तो अधिकाधिक लोग उन्हें मानने लगने हैं। इसीलिए अक्सर यह कहा जाता है कि परिवर्तन लाना समुदाय के ऊँचे लोगों का काम है, या परिवर्तन की मात्रा समुदाय के नेतृत्व की कौटि पर निर्भर है। यदि दूसरा यह अर्थ है कि अधिकांश जनगणना नयी प्रक्रिया करने वाली नहीं होती बल्कि केवल और लोगों के रिय हूण काम का अनुकरण करने वाली होती है, तो यह उक्ति काफी गहरी है, लेकिन अगर इसका यह अर्थ है कि कोई विनिष्ट वर्ग या समूह ही सारे नये विचारों को जन्म देता है तो यह किमी सीमा तक भ्रामक मानी जाएगी। वक्त यह है कि नवीन प्रक्रिया लागू करने वाला हर व्यक्ति स्वयं में प्रेरणा होता है और कुछ बातों में प्रगतिशील होते हुए भी दूसरी बातों में बिल्कुल प्रक्रियावान हो सकता है, दूसरे अलावा नवीन प्रक्रिया लागू करने वाले दूसरे लोगों के साथ उगका वर्ग, भाईपारे या किमी अन्य प्रकार का रिश्ता नहीं होता। लेकिन कभी-कभी देगने में आता है कि नयी प्रक्रिया लागू करने वालों का एक भ्रमण समूह होता है, या वे एक समूह बनाने के लिए विवश हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें इस बात का बोध होने लगता है कि उनके रिश्ता समान हैं। दस्तुत उाकी उन्नति में जो ग्नापट्टे होती हैं उनसे विवश होकर उन्हें आत्मरक्षा या आत्मन की दृष्टि में एक मूत्र में धपता पड़ता है। नये विचार किमी एा ही वर्ग में उदपन्न नहीं होते, लेकिन समाज की ओर में नवीन प्रक्रियाओं का जो विरोध होगा है उसका सामना करने के प्रयत्न में नवीन प्रक्रिया लागू करने वाले अपनी को एक नये वर्ग के रूप में उला पाते हैं।

आर्थिक विज्ञान के सिद्धान्त का यह सामाज्य निष्कर्ष बड़ा उपयोगी है कि इस मोड पर 'नये लोग' ही परिवर्तन लाने में सबसे महत्वपूर्ण योग देते हैं। इसका अर्थ यह है कि अयोग्य अथवा अनिरोध वाली पिछड़ी स्थिति में सामन्त-वर्ग साम्य ही कभी नये व्यवहारों का उपयोग करने या ऐसे साम्या-निक परिवर्तन करने पाए जाते हैं जिनके आर्थिक सामुय के लिए आशादी में वृद्धि होती है। पहली बात तो यह है कि सामन्त-वर्ग प्रायः यथापूर्व स्थिति में समुद्र होते हैं, उन्हें नये व्यवहारों को मोचने की जरूरत महसूस नहीं होती। वर्तमान व्यवस्था में निराग लोग ही अपनी शक्तियों के उपयोग और महत्वाकांक्षियों की निरि के लिए दूसरे रास्ते खूँदते हैं। जहाँ एक ओर यह सही है कि समुदाय के सबसे ऊँचे स्तर के लोग परिवर्तन में पहले नहीं करने, वहाँ यह भी सही है कि सबसे नीचे के स्तर के लोग भी परिवर्तनों की सुद-भान नहीं करते। समाज में सबसे निचे के स्तर के लोग सामन्त, दुनि-सामन्त या आर्थिक की खरी में रिय जाते हैं, और उनमें नये व्यवहारों का उपयोग करने की शक्ति नहीं रह जाती, या यह भी सम्भव है कि वे सामन्त विरुद्ध

हो, बिल्कुल निरक्षर हों, या उनमें माहस या उद्यम की परम्पराओं का अभाव हो। नय लोग बस्तुतः समाज के मध्यवर्गों से आते हैं, जो साधनों की दृष्टि से उच्च वर्ग के काफी नजदीक होते हैं जिन्हें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त होती है और जिनके अन्दर काम करने की परम्परा होती है। जापान में १८६८ के नये लोग रजवाडों के निचले स्तर के आदमी थे, जो पुराने विनोपाधिकारों के छिन जाने पर लीभे हुए थे। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में पश्चिमी यूरोप के नये लोग भूतपूर्व वृषि-दान या उनके बराबर थे जो सुरक्षण के लिए शहरों में भाग गये थे। असीरा के नये लोग कबीलों से निकले हुए हैं जिन्होंने थोड़ी-बहुत पश्चिमी शिक्षा पाई है और जो कबीलों के पुगने रम-टगो को पसन्द नहीं करते। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उपर्युक्त सामान्य निष्कर्ष सर्वत्र मही नहीं बैठता। दो-एक नये लोग ऐसे भी हो सकते हैं जो पुराने अभिजात-वर्ग से आये हों, और दो-एक ऐसे भी हो सकते हैं जो निम्न-तम वर्गों से आये हों। बात यह है कि वर्ग के सामान्य लक्षणों के इक्का-दुक्का अपवाद हमेशा पाए जाते हैं। हमारा सामान्य निष्कर्ष केवल यह है कि अधिकांश नये लोग मध्य-वर्ग से आते हैं।

दूसरी बात यह है कि नये अवसर वर्तमान शासक-वर्ग की आर्थिक सत्ता को चुनौती दे सकते हैं। वे भूमि के मूल्य को परिवर्तित कर सकते हैं जिस पर शासक-वर्ग के धन का दारोमदार है। यह भी सम्भव है कि वे वृषि-दासत्व या दासत्व को चुनौती दे दें, या रोजगार के नये अवसर प्रदान करके मजदूरी में वृद्धि कर दें, जिससे शासक-वर्ग के छक्के छूट जाएँ। ऐसी स्थिति में शासक-वर्ग नये अवसरों के विरुद्ध हो जाता है, और तब सत्ता हथियाने के लिए मर्पण या गृह-युद्ध तक हो सकता है। दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि नये अवसरों में शासक-वर्ग को आर्थिक दृष्टि से किसी प्रकार की हानि होने का भय तो न हो, अर्थात् उनके धन में कोई कमी आने की सम्भावना न हो, लेकिन वे अन्ततः राजनीतिक दृष्टि से उन्हें परेशान करने वाले हों, अर्थात् नये व्यक्तियों के धनी हो जाने पर उनकी ओर से समान प्रतिष्ठा या राजनीतिक सत्ता की माँग किये जाने का भय हो। ऐसी स्थिति में समझौते की सम्भावना रहती है। हो सकता है शासक-वर्ग नये अवसरों का उपयोग करने में नये लोगों का अनुकूलन करने लगे (ब्रिटेन के बोयना और मोहे के उद्योगों के आरम्भिक विधान में वहाँ के पुराने भूमिधारी अभिजात-वर्ग का योगदान उल्लेखनीय है)। इसके अलावा वे प्रत्येक वर्गों के विवाह करके या सामन्त पद देकर कुछ नये लोगों को अपने वर्ग में मिलाने के लिए भी राठी हो सकते हैं। इस प्रकार, चरम अवस्था में नये अवसरों का विकास गृह-युद्ध पैदा कर सकता है, पर यह भी सम्भव है कि कम उर और बहु मर्पणों के बिना ही

समभौता व घाघार पर नय अवतरा वा विकाम किया जा सक ।

उत्तराय प्रतिहामरारा न परिवतन तान म प्रातिक् भाग वा नाटकीय रूप देन वा प्रयन किया है जबकि अनुत्तराय प्रतिहामरारा न दारे महत्त्व को कम करन की कोशिश की है । उदाहरण के समर्थका से प्रति म प्राति परिवतन की अनिवाय चरम परिणति है—जसा प्रकार जमे कि खडा पैदा करने के लिए अणु का फटना या तिनका वा जम दन के लिए वाण वस्था का समाप्त होना आवश्यक है । दूसरी धार अनुत्तराय वाता वा कहता है कि घनिघाती परिवतन बहुत कुछ गूढ़ यद्ध के बिना ही हो जान । पुरान शासक वग नये विचार धरना तत हैं और नय शासन-व्यवसाय नाग बन जाते हैं या के नय शासन समभौता करके उक्त अथ पुरान शासन वग म सम्मिलित कर लेते हैं । यदि प्राति होना भा है ता के नय शासन के पन्थे-पहन सामन धारन के बहुत धार—कभी शासनात्मिका वा—हती है बात यह है कि प्राति तभा हती है जब नय शासन गणतन्त्र सिद्ध हो चुकते हैं और उह धरन पर जमाय हुए इतना तन्त्रा समय ना खरता है कि वे सरकारी वा सुनौती दन और हरान के लिए काफी सना का धरन धारणा पर चलान की स्थिति म आ जात हैं । इस प्रकार का समय शासन तन नय शासन के अधिकाधिक अधिकार स्वीकार किया जा सकत है । तन्त्रिय शासनात्मिक निष्पक्ष सब मामला म ठीक नही बटने । य इमान के गूढ़-यद्ध भाग का प्राति और उत्तर और दक्षिण अमरीका के स्वातन्त्र्य यद्ध पर शासन म भती प्रकार शासन हान है कि इन प्रातिया म एसा धारणाभा की स्थापना हुई जिन्हें वाण की एक या दो पीढ़ियाँ बिना यद्ध के मान मवती था । तन्त्रिय शासनात्मिक निष्पक्ष हायतियन प्राति जापान के पुन स्थापन चीना प्राति (१९१२) की प्राति या तानाशाहा का जम दन वात यूरोप या प्राति अमरीका के बीसवीं शताब्दी के प्रमिक जागरणा पर शासन नये हान । सम्भव है कुछ प्रातियाँ दृग्दष्टि मे अनावश्यक रना हो कि इतिहास धरन धारण शासन म जा रना था । तन्त्रिय अथ प्रातिया न नवजात की परम्पराओं का एकधारणी हो मोड दिया और कभी-कहा गिछरी प्रवृत्तिया का उदर हो दिया ।

एक दूसरा सम्भव यद्ध है कि घाघिक विभाग के स्वरण म गहर के निरागिया का शासन निपायक भाग रहता है । यह शासन शासन है कि उत्तर के शासन गीव के शासन का अथ त परिवतन तान म घाघिन भाग दन है त्रिगका शासन यह नही है कि के कोशिकायक दृष्टि म उत्तर शासन है कति यद्ध है कि उत्तर पर्यावरण या अथमर विभाग के अधिकाधिक अनुभूत हान है । शासन प्रकार हम भेगत है कि यूरोप म मध्ययुग की अन्तिम शासनात्मिका म घाघिक स्वतन्त्रता के

लिए जिसे गए सपने का नष्ट शरीर ने किया, लेकिन शहर के लोगों की प्रवृत्ति अधिकांश राजनीतिक आन्दोलनों के सगठन में प्रमुख भाग लेने की होती है। इनका कारण अधिकांश आशा की प्राप्ति करना ही या कुछ और ही, क्योंकि शासन-कार्य प्राप्त शहरों में होता है और राजनीतिक महत्वाकांक्षा वाले लोग शहरों में निवसित होते हैं। यह स्वभाविक है कि शहर के लोग व्यापार, विनिर्माण और आवास-आविष्कार की उत्पत्ति में आगे बढ़कर शक्ति में साथ ही यह भी स्वभाविक मान्य होता है कि पिछरी दशाब्दियों में हुई वैज्ञानिक आन्वितिक में पहले तक वेतों की टेक्नीक में सुधार करने का अधिकांश काम देहात के लोगों पर निर्भर रहा है। यह भी कहा जाता है कि शहरों का वातावरण विज्ञान के अनुकूल प्रवृत्तियों और विद्यार्थियों के पक्ष में अधिकांश होता है। प्रतिभागी जीवन-सपने के लिए लोग बड़ी नरता में शहरों में केन्द्रित हो जाते हैं जिससे उनके भाई-बारे के बचन और हैसियत के प्रति अधिकांश आदर-भाव सिद्ध हो जाते हैं, और अन्वितिक आधुनिक मन्त्रालय और व्यापार की जो भी अनुकूल परिस्थितियाँ सामने आएँ उनके उपयोग की इच्छा को बढ़ावा मिलता है और वृद्धि पंजी होती है। हाँ, इन और दूसरे ऐसे मामलों में व्यावसायिक शहरों और सैनिक, धार्मिक या राजनीतिक शहरों के बीच भेद करना बाल्नीय मान्य होता है। इनके अलावा, शहरों के अन्दर कला और मनोरंजन का व्यापक वातावरण होने से रचना-क्षम करने के अनुकूल वस्तुतः अधीनित होते हैं, धन भी उठना ही महत्त्व प्राप्त होता है जितना लेंगे वस में जन्म की होता है, और महत्वाकांक्षा की बढ़ावा मिलता है। यह भी कहा जाता है कि शहर के लोग अधिकांश स्वतन्त्र मन्त्रालय के होते हैं और देहात वालों की अपेक्षा उनके अन्दर अध्यात्मिकता कम होते हैं, और उन्नीलिए के टेक्नीकों में सुधार लाने वाली वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल की अधिकांश उपजुम्भित में होते हैं। देहात का आदमी प्रकृति की शक्ति से घातित होता है क्योंकि सूखा, बाढ़, तूफान, प्रसलों की महानारियाँ, और शक्ति के अन्य प्रदर्शनों के रूप में प्रकृति प्रायः उनके काम को तहस-तहस कर देती है। इसके विपरीत शहर मनुष्य की कृतियाँ हैं जिन्होंने प्रकृति के रहस्यों का काफी हद तक पता लगाकर बड़ी-बड़ी उमान्तों खड़ी की हैं, बड़े-बड़े तालाबों में पानी को बाँधा है, और जहाँ आवश्यकता समझी है उसे ले गया है, अपनी सेवा के लिए आकाश से बिजली ली है और इसी प्रकार के दूसरे बड़े-बड़े काम किए हैं। यही कारण है कि शहर के आदमी में बड़ी सुकृता में यह विश्वास करने की आदत पारि जाती है कि मनुष्य जो चाहे कर सकता है, दंगतों कि वह बड़ी महत्त्व के। इनमें कोई संदेह नहीं कि शहर में देहात से लोगों के एक साथ रहने के कारण शहरों आदमी की प्रकृति देहात के आदमी से बहुत से मामलों में भिन्न होती

है। यह भी निश्चय है कि हमके पत्रस्वरूप शहर का जीवन विकास के विवेक अनुसूत होता है। लेकिन शहरो न मन्दन लाने मे भी अपना भाग भदा विद्या है। बात यह है कि शहर मे बहुत लोग इनटूटे रहत है, और उनके अन्दर ऐसे-ऐसे आतकवादिया को शक्ति म लाने की प्रवृत्ति होती है जो राजनीतिक स्वाधीनता आन्दोलन म भाग लेने की धुन म आर्थिक स्वाधीनता के अमरों को कम कर देते है। शहर ही एकाधिकारों के अड्डे है—व्यापारियों के सप, श्रेणियाँ, अर्थिक गण—जिनका उद्देश्य अमरों पर बन्दिता लगाना और नये लोगों को प्रकाश म आने मे राकना होता है। परिवारों के आकार को कम करने म भी शहर आगे रहता है, जिनसे कभी तो प्रतिव्यक्ति आय बढाने मे सहायता मिलती है और कभी इसमे प्रतिव्यक्ति आय मे गिरावट आ जाती है। हमके अलावा अपना काम अच्छी-मे-अच्छी तरह करने के बजाय बेदिली और आश्रय के माय करने और काम की मात्रा घटान के आन्दोलनों मे भी शहर ही आगे रहते है। अतः जहाँ एत आँर यह कहा जा सकता है कि गति-रोध से विकास की दिशा मे ले जाने के लिए शहर नेतृत्व करने हैं, वहाँ यह भी कहा जा सकता है कि शहर ही समुदाय को विकास से गतिरोध की आँर ले जाते हैं।

एत दूसरा और कुछ-कुछ इससे उगटा मुभाव यह है कि आर्थिक विकास सबसे अधिक जंग के साथ आर्थिक 'सीमाओं' पर होता है। हम अर्थ मे 'सीमा' की परिभाषा करना कठिन है, हममे एक भाव तो यह है कि यह वह स्थान है जो देश की व्यापारिक राजधानी मे दूरी पर होता है और दूसरा भाव यह है कि यह मनुष्य और प्रकृति के बीच की सीमा है, अर्थात् वह स्थान है जो अभी बहुत कम बसा हुआ है। सीमाओं द्वारा आर्थिक विकास मे वृद्धि करने की आशा इस आधार पर की जाती है कि एक तो वहाँ आप्रवासन की सुझारन बहुत होती है, और दूसर, वह राजधानी मे इनकी दूर पर होने हैं कि वहाँ शान्त, रसम या समठिन समूहों के दबाव के कारण सिंगी प्रकार का नियन्त्रण लागू करना आसान नहीं होता। इसलिए सीमाओं के संस्थान मुक्त और ममजनशील होने हैं। अथवर और स्वाधीनता के इस संघर्ष मे आर्थिक होकर ऊर्जावान लोग जो मकोण परिस्थितियों मे निरस्त होते हैं, अर्थिक संघे हुए स्थिते मे सीमाओं की आर आने लगते हैं। यह सामान्य निष्कर्ष सादर ऐतिहासिक सभ्यते मे सिद्ध नहीं किया जा सकता। देश के गावन सीमाओं के क्षेत्र म स्थित हो या नहीं और, देश माधनमन्वन होगा तो वहाँ आप्रवासों अन्तर्गत अन्तर्गत आर, और अर्थ के अन्तर्गत आप्रवासियों की संख्या काफी है तो उमके सामाजिक संस्थान भी लघोने होग। अंग्रे-जंग देश के गावन संस्थान होते जाँगे, या उमकी भूमि पर बगावट होती जाँगी, या उमके

तुलनात्मक लाभों में कभी घाती जाएगी, वैसे-वैसे आप्रवासन कम होता जाएगा और उम्र देग के सम्बन्ध अधिक घनम्य होने लगेंगे। यहाँ तक तो ठीक मानूम होता है लेकिन देग की सीमाओं के साथ इसका सम्बन्ध होने के कोई विशेष कारण दिखाई नहीं देते। सीमाओं पर कभी-कभी आकर्षक साधन पाए जाते हैं, और कभी नहीं भी पाए जाते। पिछले हजारों साल के इतिहास में समार के हर देग की इन धर्मों में सीमाएँ रही हैं, लेकिन बहुत ही छोटे देग ऐसे हैं जिनकी सीमाओं ने आर्थिक विकास को गति देने में महत्वपूर्ण योग दिया हो।

यह सुभाव अधिक सगत मानूम होता है कि सामान्य राजनीतिक या साम्प्रतिक धर्म में जहाँ दो राष्ट्र या दो सम्प्रतियाँ मिलती हैं वे सीमाएँ महत्वपूर्ण होती हैं। इनका कारण विदेशियों द्वारा आर्थिक विकास में दिया गया निर्णायक योग है। दरअसल बहुत ही छोटे देग ऐसे मिलेंगे जिनमें विकास का त्वरण केवल देग के अन्दर के प्रमुख विकास से ही हो गया हो। इनके उदाहरण पाँच हजार वर्ष पहले के चीन का उपजाऊ प्रान्ठ और नवजागरण-काल (रिनेसाँ) का इटली है। बाकी अधिकतर देग विदेशियों के सम्पर्क में ही अधिकतर त्वरण कर पाए हैं। विदेशी व्यक्ति सामानिक व्यवहार और सामाजिक सम्बन्धों के नये विचार लेकर आते हैं जो स्थापित रीतियों को चुनौती देते हैं, और उनके प्रतिनैतिक आग्रहों में विद्वान् प्रियत कर देते हैं। विदेशी लोग व्यापार या रोजगार के नये अवसर भी प्रदान करते हैं। यह भी सम्भव है कि वे वर्तमान शासक-वर्ग के गिजके को प्रियत कर दें जिसमें नये लोगों को आर्थिक चातुर्य करने में या राजनीतिक विप्लव करने में आसानी हो। विदेशी यह काम युद्ध की धमकी देकर, या युद्ध करके, या देग को जीतकर, या चरम स्थिति में वर्तमान शासक-वर्ग को पदच्युत करके भी कर सकते हैं। विजेता का व्यवहार दूसरा होता है और इससे परिवर्तन की सम्भावनाओं में बड़ा अन्तर आ सकता है। कुछ विजेता वर्तमान शासकों से समझौता कर लेते हैं और विरोधी समूहों का सामना करने के लिए इन शासकों का समर्थन करते हैं, कुछ विजेता ऐसे भी होते हैं जो शासक-वर्ग का उल्ला उलटने के लिए विरोधियों का समर्थन करते हैं। हाल की शताब्दियों में इस मामले में ब्रिटेन और फ्रांस वालों के बीच दिलचस्प अन्तर देखने में आए हैं। भारत और अफ्रीका के उन भागों में, जिनमें शासक-वर्ग प्रबल थे, जैसे उत्तरी नाइजीरिया में, वहाँ ब्रिटेन की प्रवृत्ति शासक-वर्गों का समर्थन और नये लोगों में खराब सम्बन्ध रखने की रही है। यही कारण है कि नये लोगों ने साम्राज्यवाद को प्रतिक्रिया और गतिरोध का ही दूसरा नाम बनाया है—सामान्यतया साम्राज्यवादियों के विरुद्ध यह आरोप नहीं नहीं है। दूसरी ओर, फ्रांस ने नये लोगों के साथ अचछे सम्बन्ध रखे हैं, और धर्मिकियों या एगियावादियों को

प्रासंगिक बनाने तक के प्रयत्न किये हैं, और प्रासंगिक माध्याम्यवाद का एक भाग मानकर उंचे-उंचे पद दिये हैं। वैसे यह नहीं समझना चाहिए कि हम विदेशियों की बात पर ही जोर दे रहे हैं, क्योंकि विदेशी व्यापारी भी, बुद्ध करके या बिना बुद्ध के, इनका ही महत्वपूर्ण या हमारे भी आर्थिक महत्वपूर्ण भाग घटा करते हैं।

विदेशी प्रभाव का एक अप्रत्यक्ष परिणाम राष्ट्रीयता की वृद्धि है, जिसे इन दिनों महत्वपूर्ण आर्थिक नीतियों के प्रकट किये हैं। हम राष्ट्रीय राजनीति-आन्दोलनों का सम्बन्ध उन देशों से जोड़ते हैं जो अभी पिछले दिनों तक उपनिवेश थे या आज भी हैं, लेकिन राष्ट्रीयता की भावना इन्हीं देशों तक सीमित नहीं है। आजकल लगभग सभी पिछड़े हुए देश अपने पिछड़ेपन के विरोधी हैं, और विकास को बढ़ावा देने के इच्छु हैं, और पिछड़ापन खुले विस्तृत मापक शब्द है अतः लोगों की यह दृष्टि कि उनका देश आर्थिक विकास की दौड़ में दूसरे देशों से पीछे न रहे, ब्रिटेन से लेकर चीन तक भिन्न-भिन्न देशों की आर्थिक नीतियों में महत्वपूर्ण भाग घटा कर रही है।

राष्ट्रीयता की पक्की भावनाएँ सभी-सभी विकास को बढ़ावा देती हैं, लेकिन मदा ही ऐसा नहीं होता। बात यह है कि राजनीति के नये लोग और आर्थिक क्षेत्र के 'नये लोग' एक ही नहीं होते, न अनिवाय रूप से एक ही वर्ग में आये होते हैं और न मदा एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति रखते हैं। अक्सर तो सभी राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ आर्थिक विकास के पक्षपाती नहीं होते। गांधी-जैसे कुछ लोग 'पादचातयवाद' के विरोधी रहे हैं और पुराने तरीकों को ही फिर से अपनाया पसन्द करते रहे हैं। यह अवश्य है कि राष्ट्रीय नेताओं में ऐसे लोगों की संख्या बहुत थोड़ी है। दूसरे, आर्थिक क्षेत्र के नये लोगों में से अनेक विदेशी हैं, और राष्ट्रीय नेता उनसे प्रति शकालु हैं या उन्हें पसन्द नहीं करते और इसीलिए उन्हें प्रोत्साहन देने के बजाय उनसे भाग में गंठे घटकाते हैं। अनेक अनेक राष्ट्रीय नेता समाजवाद की ओर झुके हुए हैं, अतः वे अपने ही देश के युजुंसा वर्ग के प्रति शकालु हैं और उनकी गतिविधियों पर अनुपलब्धता के प्रयत्न करते हैं। फिर भी राष्ट्रीय सरकारें अपनी अर्थ-व्यवस्थाओं का 'आधुनिकीकरण' करने की दिशा में प्रयत्नशील होती हैं, उनमें से कुछ निष्ठा-भुविधारणें बढ़ानी हैं, कुछ अत्याचारी जमींदारों से किसानों का बचाव करनी हैं, कुछ मछल, पानी या दूसरी लोक-सेवाओं में पूर्वा-निर्माण की योजनाएँ आरम्भ करनी हैं, कुछ उदय गतिशीलता के भाग में आने वाली जाति या दूसरी श्रेणियों के विरोध में कार्रवाई करनी हैं, कुछ अल्पविक्रमशील पुरोहितवाद की शक्ति को कम करनी हैं और कुछ दूसरे लोगों में परिचय नाने के प्रयत्न करनी हैं। राष्ट्रीयता एक गतगतक शक्ति है, क्योंकि यह



प्रायः ग्राम जनता के अन्दर ईर्ष्या या घृणा की भावनाएँ उगाकर पैदा की जाती हैं, लेकिन कभी-कभी राष्ट्रीयता में निर्माण की गति भी होती है और उससे आर्थिक विकास के अनुकूल साम्प्रतिक परिवर्तन कर्म न बड़ा सहयोग मिलता है।

इससे हम फिर वही आ जाते हैं जहाँ से हमने चर्चा आरम्भ की थी, अर्थात् आर्थिक विकास केवल व्यक्तिगत या ही परिणाम नहीं होता, बल्कि सरकारों की कार्यवाहियों का भी परिणाम होता है। अतः स्वयं में नया मोड़ लम्बी आ सकता है जब लोगों का कोई ऐसा समूह—उदाहरणार्थ राष्ट्रवादियों का—गति में आ जाता है जो आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए दृढ़प्रतिज्ञा होता है और इस काम के लिए टोस बदन उठाता है। इन नामनों की भौतिकवादी सञ्चयना में नये निजी उद्यमकर्ता पहले सामने आकर सरकार का हथियार लेते हैं और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए उसका उपयोग करते हैं। यह भी सम्भव है कि नये निजी उद्यमकर्ताओं और राज्य के नये शासकों के बीच विशेष सम्बन्ध न हो, इनमें से कोई पहले आ सकता है और कोई बाद में, और ये एक-दूसरे के विरोधी या एक-दूसरे के प्रति उदासीन हो सकते हैं। यदि सरकार दृढ़प्रतिज्ञा हो और समन्वित हो तो वह सीधेसेवा में सुधार करके, शिक्षा के माध्यम से उत्सवानों में सुधार करके, नये उद्योगों को बढ़ावा देकर, या नयी प्रौद्योगिकी के उपयोग में अग्रगामी बनकर आर्थिक विकास को बढ़ावा देने में बड़ा योगदान कर सकती है। अन्तिम अघ्याय में हम इन नामनों पर ध्यान से विचार करेंगे।

अब हम उन मोड़ों की चर्चा करेंगे जहाँ से आर्थिक विकास की गति में मन्दन आने लगता है। यहाँ भी आर्थिक अवसर कम होने से पैदा होने वाला मन्दन और आर्थिक अवसरों में कमी हुए बिना ही आर्थिक चानुपं की आजादी पर प्रतिबन्ध लगाने वाले साम्प्रतिक परिवर्तनों के कारण होने वाला मन्दन अथवा अवनत देखता होगा। अवसर कम होने से उत्सवानों में प्रतिबन्ध परिवर्तन हो सकता है, लेकिन हम इसमें और उस साम्प्रतिक परिवर्तन में भेद करना चाहते हैं जो संस्थानों के अर्थिक विकास के परिणामस्वरूप होता है, न कि आर्थिक परिस्थितियों के बदलने से।

आर्थिक परिस्थितियों में प्रतिकूल परिवर्तन अनेक कारणों से हो सकते हैं। प्राकृतिक साधन समानता हो सकते हैं या जनसंख्या बहुत अधिक बढ़ या घट सकती है। यह भी सम्भव है कि बेहतर साधनों वाले दूसरे देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उन्नत प्रतिस्पर्धी के रूप में सामने आ गए हों या देश की पूँजी या कुशल लोग भारी परिमाण में नये विकासशील देशों में जाने लगे हों। प्राकृतिक आपदाएँ भी आ सकती हैं—जैसे सूखना या तूफान—या बुद्ध के भी

ऐसे ही प्रभाव हो सकते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि देश के सर्वोत्कृष्ट लोगों के घाट पर जाने से, या घटिया लोग देश में घाट जाने से, या उत्कृष्ट लोगों के घटिया लोगों के साथ अन्तर्विवाह करने से जनन-सम्बन्धी प्रतिभूत परिवर्तन पैदा हो सकते हैं। लेकिन हम विषय में हमारा इतना भ्रम नहीं है कि हम इस पर सम्भीरता से विचार कर सकें। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि अमीर होने से साथ-साथ लोगों में अन्तर का यह बदलने की जो प्रवृत्ति पैदा होती है उसमें भी गतिरोध की अवस्था आना सम्भावित है। कुछ लोगों के अनुसार गतिरोध का कारण यह है कि लोग बहुत अधिक धन कमाने लगते हैं जबकि दूसरों के अनुसार कारण यह है कि वे बहुत अधिक व्यय करते हैं या सब-कुछ खरीदने-खरीदने में बहुत ही धन खर्च होने लगता है, या भुक्तानों की संख्या बढ़ने लगती है या इसी प्रकार की और बातें पैदा हो जाती हैं। वे अपने अतिरिक्त हैं या गरीबों की दृष्टि में अभाव का हो सकते हैं इस पर हम बाद में विचार करेंगे। हम समय का यही ध्यान में रखना चाहते हैं कि इनमें से किसी कारण से अन्तर्विवाह का गन्तव्य है और कुछ देर जमाना में प्रायः धार्मिक है।

हमारी वर्तमान दिग्दर्शनी पिछले दौर में उलट-पलट बातों के कारण नहीं, बल्कि केवल सांस्कृतिक परिवर्तन के कारण पैदा हो रही आध्यात्मिक गिरावट पर विचार करने में है। हम दृष्टि में आध्यात्मिक गिरावट का कारण प्रकृत और उच्च वास्तविकता के बीच बढ़ता हुआ अन्तर हो सकता है, या अन्तर्विवाह के अन्तर्विवाह से बढ़ते हुए प्रतिबन्ध हो सकते हैं, या आध्यात्मिक स्थायीता पर बढ़ती हुई अन्तर्विवाह हो सकती है। हमें कुछ-कुछ ऐसे लोग हैं जिन्हें हम प्रकृत की रचनाओं का अन्तर्विवाह में दिग्दर्शनी होनी है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें दूसरों के अतिरिक्त के रूप में वे अध्यात्मिक भाग लेने के रूप में लाभ हो सकता है। उदाहरण के लिए जमींदार और कृषि दलों या दलों के होना या हो सकती, वे लोग प्रति-प्रति करने भी सामाजिक सत्ता प्राप्त करने और फिर से आध्यात्मिक लोग की स्थिति को लाने के प्रयास कर सकते हैं। ऐसे लोग भी हैं जो जन्मा आध्यात्मिक की मान्यता को वापस रखना चाहते हैं और धारोही करारान, निरुत्तर शिक्षा, मृत्यु-कर जैसे उपायों से अन्तर्विवाह की अध्यात्मिक गिरावट पैदा करने के विरोधी हैं। वे लोग भी अन्तर्विवाह कर सकते हैं। हमें अन्तर्विवाह सम्बन्धी अध्यात्मिक भी होते हैं जो ऐसे बार्द भी आध्यात्मिक हो सकते हैं जिन्हें हमें जो प्रतिरोधिता में हमें पट्टेनी है, हमें दावे में सम्भव सभी लोग का जो है, अन्तर्विवाह के रूप में हमें हमें जो प्रतिरोधिता में हमें पट्टेनी है, और लाभ के रूप में हमें लोगों की उपाय की हुई भीता के घाट के रूप में अन्तर्विवाह है, और हम प्रकृत सामाजिक और

दक्षिणपन्थी दोनों प्रकार के राजनीतिज्ञों की प्रतियोगिता, व्यापार, परिवर्तन और विकास पर बर्दाश लगाने के समान आधार मिल जाते हैं। अन्त में, प्रायोजक भी, चाहे वे वामपन्थी हों या दक्षिणपन्थी, प्रायः प्राथमिक स्वाधीनता के परिणामों को पसन्द नहीं करने और प्रबन्धकों, अर्थिकों और साधनों के नियन्त्रणों पर इस प्रकार के व्यापक विनिमय लागू करते हैं जिनसे परिवर्तन की गति कम हो जाती है। यह अर्थिवाचं नहीं है कि प्राथमिक विकास एक स्तर प्रारम्भ होने पर रुक जाये ही रहे।

इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि साम्प्रदायिक परिवर्तन केवल स्थूल पर्यावरण, प्रौद्योगिकी, या अन्य भौतिक परिस्थितियों के परिवर्तनों पर ही निर्भर नहीं होते। इन चीजों में परिवर्तन होने से प्रायः सम्पत्तियों में अनुकूल परिवर्तन होते हैं, लेकिन यह भी सम्भव है कि भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन हुए बिना सम्पत्तियों में स्वयं बदलने लगे। इसका उदाहरण हाथनिपटन शक्ति है, जिनसे दासत्व पर आधारित समृद्धि को नष्ट करने के लिये न्याय पर नियंत्रण और आजादी की स्थापना की—यह शक्ति प्रौद्योगिकी या पर्यावरण-सम्बन्धी परिवर्तन का परिणाम नहीं थी। इसके विपरीत विचार प्राथमिक प्रवृत्ति की राजनीतिक और दूसरे सामाजिक विद्वानों और सम्बन्धों पर प्राथमिक जमा लेने की शक्ति को देने गए अत्यधिक महत्त्व पर आधारित है। प्राथमिक प्रवृत्ति जिस क्रिया के विकास के अनुकूल हो राजनीतिक प्रवृत्ति, या सामाजिक दृष्टिकोणों की प्रवृत्ति, या प्रयासों और निषेधों की प्रवृत्ति उसकी बिलकुल विपरीत दिशा में हो सकती है। समृद्धि का नाश करने के लिए उतना ही काफी है कि लोग ऐसी आदतों और विश्वासों को अपना लें जो प्राथमिक विस्तार के अनुकूल न हों, या ऐसे समूहों के हाथ में सत्ता आ जाए जो सम्पत्तियों में प्रतिकूल परिवर्तन लागू करने के पक्ष में हों।

समाज अपने विभिन्न समूहों को प्रतिबन्धक उपाय करने के लिए राजनीतिक शक्ति का उपयोग करने देगा अथवा नहीं, यह बहुत-बहुत इस पर निर्भर करता है कि उस समाज के लोग राजनीतिक और प्राथमिक मामलों में कितने शिक्षित हैं। अगर काफ़ी लोग मुक्त अर्थ-व्यवस्था को महत्त्व देते हों, और उन्हें सुरक्षित रखने के लिए जागरूक हों तो अर्थ-व्यवस्था सुरक्षित रहती है। इस बात का समाधान करने के लिए कि कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित से आजादी किस प्रकार प्राप्त कर लेते हैं या सुरक्षित बनाए रखते हैं वही शक्ति की आवश्यकता है, और उससे शायद कोई निश्चित परिणाम नहीं निकाले जा सकते। हमारे प्रयोजनों के लिए उतना ही बहना पर्याप्त है कि कुछ समुदायों के इतिहास और परम्पराओं में आजादी के बराबर दर्शन होते हैं जबकि दूसरे समाजों में सत्तावादी नियमन का सम्बन्ध इतिहास और परम्परा

पाई जाती है। जिन देश में आजादी की लम्बी परम्परा रही है वह अपने मस्यानों को आजाद रखने में जागृक होता है और यदि वह इसमें असफल हो जाय तो हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि वह युद्ध, या प्राथमिक मस्यानों की कमी आदि गम्भीर कठिनाइयों में पड़ गया है, जिनके कारण आजादी में उसका विश्वास उठ गया है। दूसरी ओर जिन देश में अनुदार मस्यानों की लम्बी परम्परा रही है उसे अपनी आजादी प्राप्त करने और उसे बनाये रखने में कठिनाई हानी है।

इतिहास और परम्परा के ये अन्तर कभी-कभी भौतिक कारणों पर आधारित होते हैं। बात यह है कि जिन प्रकार विदेशी प्रभाव विकास का श्रेणीगत करने में बड़ा सहायक होता है, उसी प्रकार वह गिरावट लाने के लिए भी बड़ी हद तक जिम्मेवार हो सकता है। जिन देश तक पहुँचना सामान्य हो उसके मस्यानों का आजाद बना रहना बहुत सम्भव होता है, क्योंकि तब सामाजिक रचना का कठिन बना रहना मुश्किल हो जाता है। लोगों का माना-जाना लगा रहता है और इसी प्रकार वस्तुओं और विचारों का आवागमन भी चलता रहता है। नये अवसरों के कारण नये-नये लोग धीरे-धीरे बनते रहते हैं, और उदय इसके सामाजिक गतिशीलता बनी रहती है। नये विचार मन्दे अन्धविश्वासों को जड़ जमान में रोकते हैं। अपरिचिता का निरन्तर सम्पर्क होने के कारण लोगों से हैमिदन की वजाय उनके गुणों के आधार पर व्यवहार करना आवश्यक हो जाता है। और इसी प्रकार की और बातें भी होती हैं। गुणम होने से देश की आजादी बने रहने की गारण्टी नहीं मिल जाती, इसमें विदेशियों द्वारा अधिपत्य जमा लेने का खतरा भी बड़ा सकता है। लेकिन ऐसे देश में आजादी के दुश्मनों को पैर जमाना मुश्किल होता है, और विदेशी विजैता तब को देश के प्राथमिक विकास में बाधा न बनना लाभप्रद दिखाई दे सकता है।

(ख) परिवर्तन का चक्र—उस अध्याय का उद्देश्य एक विनिष्ट दृष्टिकोण में मस्यानों का अध्ययन करना है, अर्थात् हम यहाँ प्रथम और पारिभ्रमिक के सम्बन्ध, विशेषता की सुविधा, या प्राथमिक स्वतन्त्रता की वृद्धि के उचित विकास में सहायता देने या उम्र पर प्रतिबन्ध लगाने की दिशा में मस्यानों के नैतिक विकास का अध्ययन कर रहे हैं। हम इस नैतिक विकास के प्रारम्भ, और उम्र में पँदा होने वाली गहराई प्रक्रिया का अध्ययन कर चुके हैं, और हम यह भी देख चुके हैं कि मन्दन की स्थिति भी आ सकती है, और लक्ष्य की दिशा में उससे भी गहरा प्रभाव होना है। अब हम सामाजिक नैतिक विकास के सिद्धान्तों पर विचार करना है। क्या सामाजिक परिवर्तन अनिवार्य रूप से किसी एक ही तरीके से होते हैं? क्या परिवर्तन की निश्चित नैतिक प्रवृत्तियाँ

हैं ? क्या 'उन्नति' अनिवार्य है ? या इतिहास की गति किसी चक्रीय चक्र के अनुसार होती है ?

बहुत से लोगों ने ऐतिहासिक घटनाओं से यह समझने की कोशिश की है कि हर समुदाय को प्रथमिक विकास की कुछ निश्चित अवस्थाओं में गुजरना आवश्यक है। अपनी-अपनी गति के अनुसार हर लेवक न उन अवस्थाओं की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। यदि उन्हें इनमें दिलचस्पी है कि लोग किस प्रकार अपनी जीविका कमाने हैं ता उनसे समुदाय को अनिवार्य रूप से खाना-बदोशी की स्थिति, उसके बाद एक स्थान पर बसकर खेती करने की स्थिति, फिर व्यापार और उसके बाद उद्योग की अवस्थाओं से गुजरते हुए पाया है, और उसके सत्याना में इस प्रकार के परिवर्तन इंतजाम की कोशिश की है जो जीविका कमाने के उपर्युक्त हर तरीके के अनुकूल आने चले गए हैं। यदि उसे वर्ग-सम्बन्धों में दिलचस्पी है तो वह आदिम समुदायवाद, दामत्व, कृषि-दासत्व, सर्वहारावाद और 'समाजवाद' की प्रथमिक अवस्थाओं के दर्शन कर सकता है। यदि वह धार्मिक परिवर्तनों का अध्ययन करना चाहे तो सर्वासवाद और पितृ-पूजा में लेकर एकेस्वरवाद और हेतुवाद तक की अवस्थाएँ देख सकता है। या राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में परिवार से गाँव, फिर राष्ट्र, साम्राज्य और अन्त में मनुष्य राष्ट्रसंघ के रूप में बढ़ती हुई निष्ठा के दर्शन करने का दावा कर सकता है।

अवस्थाओं की अनिवार्य क्रमिकता अब लोकप्रिय विचार नहीं रहा है। अब साम्यवादियों तक ने यह विचार छोड़ दिया है कि हर देश को समाजवाद तक पहुँचने के लिए पूँजीवाद में होकर गुजरना आवश्यक है, या चीन में साम्यवाद स्थापित होने के बाद से साम्यवाद की स्थापना केवल शहरी सर्व-हारा-वर्ग ही कर सकता है, किसान-वर्ग नहीं कर सकता। अब यह स्पष्ट हो गया है कि कोई समुदाय इनमें से एक या एक से अधिक अवस्थाओं को लॉप सकता है, उदाहरण के लिए वह 'कृषि-दामत्व' से 'समाजवाद' तक सीधी 'छलांग' लगा सकता है। और यह भी उतना ही स्पष्ट हो गया है कि समुदाय जिस प्रकार 'आगे' बढ़ सकता है उसी प्रकार 'पीछे' भी हट सकता है, उदाहरण के लिए राजनीति में साम्राज्यवाद से जानिवाद की ओर जा सकता है या राष्ट्रीयता में प्रान्तीयता के प्रति निष्ठा की ओर जा सकता है। अवस्थाओं को अब अतिरिक्त न मानने का एक कारण यह है कि हम एक समुदाय के दूसरे समुदाय पर पड़ने वाले प्रभाव को समझ गए हैं। पहले जब समुदाय अधिक अनाथलक थे तब शायद हर समुदाय शेष नकार की घटनाओं से प्रभावित हुए बिना ही प्रथमिक अवस्थाओं में गुजर सकता था, लेकिन आजकल कुछ गतिशील राज्यों का प्रभाव नारे नकार का ध्यान है, और अधिक-से अधिक

आदिम समुदाय तक भिन्न-भिन्न 'भवस्थायी' में होते हुए भी सबसे अधिक उन्नतिशील देशों का अनुकरण करने हैं। साथ ही जो अपने को सर्वाधिक उन्नत विचारों का समझते हैं वे अपने प्रचार की टेक्नीकों को भी प्रजेय मानते हैं। गाम्भ्यादियों का विश्वास है कि वे हर भवस्थायी वाले समाज को गाम्भ्याद में डाल सकते हैं, हेतुवादी समझते हैं कि हेतुवाद सबसे बड़ा अच्छा है, धर्मनिरपेक्षतावादी अपने आदर्शों को दूर बसे हुए और साम-निभर गाँवों में भी ले जाने का प्रयत्न करते हैं। भवस्थायी की अनिवार्यता के विचार का विरोध सबसे अधिक वे लोग करते हैं जिनका विचार है कि वे सबसे प्राग की भवस्थायी में पहुँच चुके हैं।

भवस्थायी का विचार कुछ सीमा तक इस विश्वास में भी सम्मिलित था कि हर समुदाय में उन्नति होना अनिवार्य है। यह विचार उक्त विश्वास के टूटने के साथ ही समाप्त हो गया। उन्नति का विचार मानव-इतिहास के लिए अपेक्षाकृत नया है। १८वीं शताब्दी से पहले प्रायः यह विश्वास प्रचलित था कि भूतकाल स्थानिक युग था, और इतिहास मनुष्य के पतन का गार्हाणिक है। इसके बाद दो शताब्दियों तक मनुष्य उन्नति की अनिवार्यता में विश्वास करते रहे, यह विश्वास तब अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया जब दार्विन, मस्तिष्क और आत्मा तीनों के संयोग को पूरा करने के लिए जीवात्मक प्रतिक विकास के सिद्धान्त सामने आए—मस्तिष्क का प्रतिक विकास हेतुवाद की दिशा में हुआ, और आत्मा का उदारतावाद की दिशा में। अब साफ ही कोई व्यक्ति उन्नति की अनिवार्यता में विश्वास करता है, और बहुत से लोग तो इस बात से भी सहमत नहीं हैं कि विकास कोई माध्यमिक अवस्था है। इस बातों को अपने विषय की परिधि में लाने के लिए हम इनका हो कहेंगे कि यह विशिष्ट रूप में नहीं कहा जा सकता कि संस्थान विकास की अनुकूल दिशाओं में सचची रूप में विकसित होने हैं, क्योंकि स्पष्टतः भूतकाल में अनेक ऐसे समय आए हैं जब कि हमने विपरीत घटनाएँ हुई हैं—दामन में आजादी का स्थान लिया है, या व्यापार पर नियन्त्रण बढ़नी हुई आजादी में विरोधता में बंधी की है या सामाजिक बंधों और जातियों के बढ़ने हुए बंधना ने प्राथमिक साधुओं के अथवा कम कर दिए हैं। प्राथमिक विकास अनिवार्य नहीं है, और बड़े-से-बड़ा आन्दोलन विकास भी रूपाया जा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आजादीवादी तो अच्छी तरह समझते थे कि भूतकाल में विकास प्रायः रूपा दिया गया है, प्रायः में उनका विश्वास इस विचार पर आधारित था कि लोग—या कम-से-कम दूरगामी जातियों के लोग—अपने अर्थिक ज्ञान के अर्थ पर ऐतिहासिक परिणामों में बड़े रूप में हैं। यह धारणा तब अधिक गरीब मान्य होती है जब हम कहते हैं कि हमने अपने म विचार

इसलिए दबाया जा सना कि लोगो को उसके बारे में पर्याप्त ज्ञान नहीं था, या लोग उन तरीका को ठीक से नहीं जानते थे जिनसे विकास दबाया जाता था। उन्हें अपनी आजादी इसीलिए खोनी पड़ी क्योंकि उन्हें अपनी आजादी पर होने वाले आक्रमणों को पहचानने और प्रतिरक्षा के अजेय उपाय करने लायक राजनीतिक ज्ञान नहीं था। या उन्होंने आर्थिक विकास को दबाने वाले उपाय इसी कारण लागू हो जाने दिए क्योंकि उन्हें अर्थशास्त्र का पर्याप्त ज्ञान नहीं था। समाज-विज्ञानों के ज्ञान के मजबूत और लोगों में उसके प्रसार, और मानवीय सम्बन्धों में तब की अधिकाधिक प्रयुक्ति ने आगे आने वाले समय में विकास की सम्भावनाएँ अधिक निश्चित रहगी। मानव-मामलों में तब की गति के प्रति यही विश्वास बीसवीं शताब्दी में लुप्त हो गया है। हम मर्मभने हैं कि मानव मामलों में इच्छाओं से नियमित होने हैं, और तर्क देकर उन्हें सही या गलत सिद्ध नहीं किया जा सकता, या केवल युक्तिसंगत प्रदर्शनों से इनका प्रतिरोध सम्भव नहीं है।

विकास या गिरावट की अनिवार्यता से इनकार करने का यह अर्थ नहीं है कि हम चर्चीय सङ्कल्पनाओं को मान ही रहे हैं। इस मामले में निष्पक्ष दृष्टिकोण भी अपनाया जा सकता है, अर्थात् न तो विकास की अनिवार्यता को स्वीकार किया जाए और न चर्चीय गति की अनिवार्यता को सही माना जाए। बात यह है कि विकास की दर में परिवर्तन केवल सस्थानों के क्रमिक विकास पर ही निर्भर नहीं होते। एक बार फिर हम बदलते हुए आर्थिक अवसरों के कारण होने वाले परिवर्तन और सस्थानों के क्रमिक विकास के कारण होने वाले परिवर्तन का भेद स्पष्ट कर दें। इस प्रकार, विकास की गति धीमी हान का कारण यह भी हो सकता है कि जनसंख्या साधनों की तुलना में अधिक बढ़ रही हो, या देश में कोई प्राकृतिक आपदा आ गई हो, या समार के व्यापार मार्गों में परिवर्तन हो गया हो, या जिस वस्तु के उत्पादन में देश को विशेषज्ञता प्राप्त हो उसकी माँग ससार में कम हो गई हो, या और ऐसे कारण पैदा हो गए हो जो आन्तरिक सस्थानों के परिवर्तन से सम्बन्धित नहीं हैं। इस बात में विश्वास किए बिना ही कि साम्यात्मिक परिवर्तन का चक्र अनिवार्य है, इस बात पर विश्वास किया जा सकता है कि उपर्युक्त प्रकार के किसी-न किसी कारण से कम या अधिक समय में विकास की गति का अतः अवश्यम्भावी है। वैसे, इस अध्याय में हम केवल सस्थानों के क्रमिक विकास से होने वाले परिवर्तनों पर ही विचार कर रहे हैं, दूसरे कारणों से हान वाले परिवर्तनों पर बाद के अध्यायों में विचार किया जाएगा।

साम्यात्मिक परिवर्तन के चर्चीय सिद्धान्त इस बात पर जोर देते हैं कि विकास के ही फलस्वरूप सर्वोच्च की स्थिति आती है और सर्वोच्च के फलस्वरूप

रूप विक्रम धारण होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस चक्र का दीर्घ-कालीन प्रभाव यह होता है कि रहन-सहन के स्तर में कोई परिवर्तन नहीं आता। बात यह है कि चतुरीय गति दीर्घकालीन विक्रम या गिरावट के काफी अनुभव हाती है। इन सिद्धांतों में इस बात पर भी जोर नहीं दिया जाता कि विकास की दिशा में गति और गिरावट की दिशा में गति की मात्राएँ बराबर होनी चाहिए। इनका सामान्य अर्थ यह है कि विकास के बाद गिरावट की स्थिति आनी चाहिए और गिरावट के बाद विकास की।

सांख्यिक परिवर्तन के चतुरीय सिद्धांत तीन प्रकार के हैं—एक जीव विज्ञान में क्षेत्र में सम्बन्धित है दूसरा सामाजिक प्रवृत्तियों के क्षेत्र में और तीसरा सामाजिक समूह में विद्यमान है।

जीवन विज्ञान सम्बन्धी सिद्धांतों का कहना है कि एक दिशा में हानि वाली गति एक प्रकार के जीवात्मक तंत्रों में सम्बन्धित है और दूसरी दिशा में गति दूसरे प्रकार के जीवात्मक तंत्रों में सम्बन्धित है। एक प्रकार की जीवात्मकता वाले तंत्रों में विकास को बढ़ावा देने वाले तंत्रों पर अनुकूल प्रभाव डालते हैं जबकि इसमें विपरीत प्रकार के तंत्रों विकास पर प्रतिबंध लगाने वाले तंत्रों के पक्ष में होते हैं। और इन सिद्धांतों के अनुसार इन दो प्रकार की जीवात्मकता वाले तंत्रों के बीच से प्रभाव में आते हैं। जब प्रगतिवादी तंत्रों शक्ति में होते हैं तो वे विकास को बढ़ावा देने हैं। लेकिन 'गामक-वर्ग' में शक्तिवायु रूप में प्रगति विरोधी तंत्रों में मिलते हैं। ऐसा क्या होता है यह स्पष्ट नहीं है। शायद प्रगतिवादी तंत्रों का पूर्ण रूप में पुनरुत्थान नहीं हो पाता—समाज के 'गामक-वर्गों' में शक्तिवायु की तुलना में शक्ति कम बचने होते हैं या शायद 'गामक-वर्ग' के तंत्रों प्रगति विरोधी तंत्रों के साथ अन्तर्विवाह कर लेते हैं। मानव जीवात्मकता और सामाजिक व्यवहार के सम्बन्धों के बारे में हम काफी जानकारी नहीं है अतः इस विषय पर अधिक विचार करना हमारे लिए उपयोगी नहीं होगा।

सामाजिक प्रवृत्तियों का चतुरीय जीवात्मक तंत्रों में अर्थ नहीं आता यदि इसका सम्बन्ध हममें से हर व्यक्ति के अन्दर मौजूद विरोधी वादों में है। हममें से हर व्यक्ति को विकास के साथ और स्थिरता के साथ सामंजस्य होना है। हममें से हर व्यक्ति को चाहता है और नियंत्रण भी चाहता है। हममें से हर व्यक्ति शक्तिवायु धरतुओं की आवश्यकता करता है और साथ-ही-साथ भी अच्छी तरह समझता है कि सामाजिक तंत्रों की तुलना में शक्तिवायु धरतुओं में हैं। शक्तिवायु धरतुओं में हैं। जब विकास धारण होता है तो हम इसके प्रति उत्साही होते हैं। लेकिन कुछ समय बाद उत्साह पीका पर जाता है। तब हम स्थिरता की इच्छा करने लगते हैं। शक्तिवायु धरतुओं की इच्छा करने सामाजिक



चिन्तन में लग जाते हैं, और इसी प्रकार की अन्य बातें करने हैं। इस तरह सामाजिक प्रवृत्तियाँ एक धार विकास का पक्ष लेती हैं और दूसरी धार उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया दिखाती हैं, और इन्हीं की दिशाओं में सामाजिक संस्थान भी बदलते हैं। लेकिन जब तक हम प्रवृत्तियों में परिवर्तन और संस्थानों में परिवर्तन का सम्बन्ध सिद्ध नहीं करते तब तक इस प्रकार का सिद्धान्त सामाजिक परिवर्तन के कारण बतलाने में असमर्थ है। बात यह है कि संस्थान लोगों के समूहों के प्रयत्नों के फलस्वरूप बदलते हैं, जो प्रायः इसलिए किये जाते हैं कि लोगों को इन संस्थानों को बदलने में हित (भौतिक, राजनीतिक धार्मिक) दिखाई देना है, और परिवर्तन का विरोध के दूसरे समूह करने हैं जिन्हें यथापूर्व स्थिति बनी रहने से लाभ होता है। अतः सामाजिक परिवर्तन के प्रत्येक सिद्धान्त के लिए आवश्यक है कि वह विरोधी हितों (जिनका भौतिक होना जरूरी नहीं है) वाले सामाजिक समूहों के व्यवहार की व्याख्या प्रस्तुत कर सके।

सामाजिक समूह-विन्यास के चक्रीय सिद्धान्त आदर्शवादी हो सकते हैं या भौतिकवादी भी हो सकते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे कि अभी ऊपर कहा गया है कि ये आदर्शवादी सिद्धान्त भी उन बात पर जोर देने हैं कि मनुष्य के विद्वानों दो विरोधी विन्दुओं के बीच भलते रहते हैं। कभी हम परिवर्तन का पक्ष लेते हैं, और कभी स्थिरता का, कभी आजादी चाहते हैं और कभी सत्ता के अधीन रहना पसन्द करते हैं, कभी सामाजिक वस्तुओं के प्रति आकर्षित होते हैं और कभी ईश्वर विषयक मामलों में गहन रुचि दिखाते हैं। कियो समय विशेष में जो प्रवृत्ति अधिक बलवती होती है वही अपना प्रभाव जमा लेती है, उस प्रवृत्ति के पक्षपाती लोग प्रभाव में आ जाते हैं और सत्ता-धीन हो जाते हैं, और उन्हीं की दृष्टि के अनुसार संस्थानों में परिवर्तन होने लगते हैं। कुछ समय बाद लोग जीवन के प्रति इनके दृष्टिकोण का विरोध करने लगते हैं। जिस उत्कट प्रेरणा के साथ इन्होंने अपने दृष्टिकोण को स्थापित किया था वह अस्त होने लगती है, भ्रष्टाचार बढ़ जाना है, और इनके विचारों की धारियाँ अधिक स्पष्ट होने लगती हैं। परिणाम यह होता है कि विरोधी सम्प्रदाय जन्म लेने लगते हैं, और उसके बाद पुराने तन्त्र को उखाड़ फेंकने में बस इतनी बसर रह जाती है कि कोई उग्र व्यक्तिव पैदा हो जो जनता को अपने प्रभाव के जादू में लेकर एक 'नये' विश्वास की स्थापना कर सके। फिर धार्मिक पुनर्स्थापना होता है, या कोई राजनीतिक क्रान्ति होती है, या और ऐसी ही कोई उथल-पुथल होती है। ये आदर्शवादी सिद्धान्त उन पूर्व-धारणा पर आधारित हैं कि लोग आदर्श जीवन व्यतीत करने के विचारों से प्रेरित होते हैं—ये विचार राजनीतिक या धार्मिक या रोमानी किसी प्रकार

के हो सकते हैं—और भौतिक हितों से मेल न खाने की स्थिति में भी ये विचार स्वयं सामाजिक परिवर्तन खाने की सामर्थ्य रखते हैं, या यदि ये विचार प्राथमिक हितों से मेल खाने हैं तो भी इन विचारों का महत्त्व प्राथमिक है और इनसे सम्बन्धित भौतिक हित सामाजिक परिवर्तन खाने में केवल गौण योग देने हैं। (उदाहरणतः इन सिद्धान्तों के अनुसार हम कहें कि हिटलर ने जर्मनी में पोपक आवर्षित किये, न कि द्वितीय पोपको ने हिटलर को जन्म दिया।)

दूसरी ओर, भौतिकवादी सिद्धान्त सामाजिक परिवर्तन का कारण मुख्यतया बदलते हुए सामाजिक हित मानते हैं। इन सिद्धान्तों के दा आधार हा सकते हैं। या तो वे हम बात पर जोर दे सकते हैं कि विकास की दर में स्तरण खाने वाला नया प्राथमिक वर्ग—धर्यान् 'नये' लोग—समय पाकर और अधिक परिवर्तन के विद्युद् हो जाते हैं। या इन सिद्धान्तों का जोर इस बात पर हो सकता है कि विकास से जिन लोगों की हानि होनी है उनमें प्रतिरोध की भावना जागती है, और समय पाकर ये लोग और अधिक विकास पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए अपने-आपको संगठित कर लेते हैं।

भौतिकवादी सिद्धान्तों के पहले आधार को इस प्रकार समझाया जा सकता है। जिस समय नये लोग शक्ति और प्रभाव में आ रहे होते हैं उस समय वे 'मुक्त अवसरों का बहुत अधिक भ्रमण करते हैं। वे प्रतियोगिता, अधिकाधिक व्यापार उद्वेग गतिशीलता आदि के पक्षपाती होते हैं। लेकिन एक बार अपनी जड़ें जमा चुकने पर ये दूसरों के लिए मुक्त अवसर प्रदान करने की अपेक्षा अपनी ही स्थिति के संरक्षण में अधिक दिलचस्पी लेने लगते हैं। जो पहले मुक्त व्यापार के समर्थक थे वे ही अब टेरिफों की कालन करने लगते हैं। जो पहले प्रतियोगिता में विश्वास रखते थे वे ही अब एकाधिकार स्थापित करने के प्रयत्न करते हैं। जो पहले प्रगतिशील सामाजिक विचारों खाने थे वे ही अब अपने बच्चों की ऐसे स्कुलों में भेजने लगते हैं जहाँ सब वर्गों के बच्चे प्रवेश नहीं पा सकते और उन्हें प्राथमिक क्षेत्र में विशेषाधिकार-पूर्वक प्रवेश दिलाने के पहले प्रयत्न करने की कोशिश करने हैं। उच्चपटी अनुदार विचार खाने हो जाते हैं। इस प्रकार सामाजिक प्रणाली में कठोरता खाने लगती है। गाय ही, प्राथमिक परिस्थितियाँ भी बदलती हैं। जिन समयों के पत्रस्वरूप नया वर्ग अपनी और शक्तिशाली बना था वे समाप्त होने लगते हैं, क्योंकि प्रौद्योगिकी, माँग या मानार्थ के मापनों में परिवर्तन आ गए होने हैं। विकास प्रतिक प्रेरकों का पत्र है जिनमें से इन प्रेरक के लिए पिछले प्रेरक से भिन्न व्यवहार की आवश्यकता होती है। सम्भव है यह सब इन प्रतिक परिवर्तनों के अनुसार करने को न दाद मने, उन्हें अपने-अपने की समर्थि का सन्तुष्ट उतर भाग, और वह प्रतिकूल परिणामों को रोकने के उपाय करने

विडिनेस (व्यवसाय पर समाज का नियन्त्रण), द्वितीय मन्तरण, न्यूयार्क, १९३६ डब्लू० ए० लुई की थोवरहेड कॉस्ट्स (ऊपरी लागत), लन्दन १९५०, ई० ए० जी० राबिन्सन की मोनोपली (एकाधिकार) लन्दन, १९६२, जे० ए० शम्पोट की सोशलिज्म, कैपिटलिज्म एण्ड डेमोक्रेसी (समाजवाद पूंजीवाद और प्रजातन्त्र) न्यूयार्क, १९०३, टी० वेबेनर की एक्सट्रीम प्रोन्टिष (दूरस्थ स्वामित्व) न्यूयार्क १९०३ पढ़ी जा सकती हैं।

सामाजिक गतिशीलता और आर्थिक विकास के सम्बन्ध पर जे० वडवुड की दो इकॉनमिक्स ऑफ इन्टरेस्टेन्स (उत्तराधिकार का अर्थशास्त्र), लन्दन १९०६, एच० पिगो की इकॉनमिक्स एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ मिडीवियल यूरोप (मध्यकालीन यूरोप का आर्थिक और सामाजिक इतिहास), लन्दन, १९३६ एम० जे० नेवी का इकॉनमिक्स डेवलपमेन्ट एण्ड कल्चरल चेंज (आर्थिक विकास और सांस्कृतिक परिवर्तन), अक्नूबर, १९५३ में 'चीन और जापान के आधुनिकीकरण की विपरीत बातें' शीर्षक लेख देखिए।

कृषि-सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन में पी० टी० वाशर की दो रबर इण्डस्ट्री (रबर उद्योग), लन्दन, १९४८, खाद्य और कृषि मण्डल की दो कन्सॉलिडेशन ऑफ फ्रोगेम्पेंड एग्रोकल्चरल होल्डिंग्स (विश्वव्यापी कृषि-उद्योगों की चक्रवर्ती), वॉशिंगटन, १९५०; और कैंडेस्ट्रल सर्वेड एण्ड रिपोर्ट्स ऑफ राइस इन लैंड्स (भूमि-अधिकारों के मालगुजारी सर्वेक्षण और अभिलेख), रोम, १९५३; डब्लू० ए० लुई का जर्नल ऑफ एग्रोकल्चरल इकॉनोमिक्स (कृषि-अर्थशास्त्र का जर्नल), जून १९४४ में 'भूमि पर बनाने के सम्बन्ध में विचार' शीर्षक लेख, सी० के० मोक की लैंड लॉ एण्ड कस्टम इन दो कॉलोनीज (उपनिवेशों में भूमि-सम्बन्धी कानून और प्रथा), लन्दन, १९४६, ए० पिम की कॉलोनिअल एग्रोकल्चरल प्रोडक्शन (उपनिवेशों का कृषि-उत्पादन), लन्दन, १९४६, पी० स्क्रॉफ, सी०, की एप्रोचेड टू कम्युनिटी डेवलपमेन्ट (सामुदायिक विकास के प्रति दृष्टिकोण), हंग, १९५३; संयुक्त राष्ट्र संघ की लैंड रिफॉर्म : डिफेक्ट्स ऑफ एंग्लियन स्ट्रक्चर (भूमि-सुधार-कृषि-रचना के दोष), न्यूयार्क, १९५१ और ररल प्रॉग्रेशन थ्रू कोऑपरेटिभ (सहकारी समितियों के माध्यम से ग्रामोन्नति) न्यूयार्क, १९५४ में सहायता खोजिए।

धर्म के बारे में अध्याय २ के अन्त में दिए गए सूचनं पढ़िए। दास-प्रथा पर बी० फेरिगटन की प्रोक साइम (शोक विज्ञान), लन्दन, १९४४, जे० ई० केरनेस की दो स्लेव पावर (दास-शक्ति), लन्दन, १८६३, एरिक विलियम्स को कैपिटलिज्म एण्ड स्लेवरी (पूंजीवाद और दास-प्रथा), चेपल हिन, १९६५ देखिए। <sup>२</sup> ये उद्योगों का उदयका निर्माण ही प्राप्त करने के लिए ई० ए० ए०

का क्वार्टरली जर्नल ऑफ इकॉनामिक्स (अर्थशास्त्र का त्रैमासिक जर्नल), अगस्त १९४७ में 'जापान में छोटे पैमाने का उद्योग' शीर्षक लेख पढ़िए। जे० स्टेपनेक और सी० प्रियन का ऐतिहासिक एफेयर्स (प्रशान्त के मामले), मार्च, १९५० में कम विकसित क्षेत्रों में ग्राम-उद्योगों का योग शीर्षक लेख भी उपयोगी है।

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों पर अध्याय १ के अन्त में दिया गए सदर्भ पढ़िए। जे० जे० स्पेंगलर का 'सामाजिक-आर्थिक सिद्धान्त के सिद्धान्त', जो आर्थिक अनुसंधान के राष्ट्रीय ब्यूरो के प्रॉब्लम्स इन दी स्टडी ऑफ इकॉनामिक प्रोग्रेस (आर्थिक विकास के अध्ययन की समस्याएँ), न्यूयार्क, १९४९, में छपा है, पठनीय है। इसमें तत्सम्बन्धी साहित्य के अनेक सदर्भ भी दिये हुए हैं।

आर्थिक विकास के तात्कालिक कारण तीन हैं—मितोपयोग का प्रयत्न, ज्ञान का सचय, और पूंजी का सचय। पिछले दो अध्यायों में हमने मितोपयोग के प्रयत्न पर विचार किया, जिनमें हमने उन मूल्यों की भी चर्चा की है जिनके कारण लोग मितोपयोग करना ठीक समझने हैं और उन मस्यातों पर भी विचार किया है जिनमें मितोपयोग के प्रयत्न को बढ़ावा मिलता है या आघात पहुँचता है। इस अध्याय में हम ज्ञान के सचय और उसकी प्रयुक्ति पर विचार करेंगे और अगले अध्याय में पूंजी के सचय की चर्चा की जाएगी। परिचय के अध्याय में हम इस बात पर पहले ही जोर दे चुके हैं कि उपर्युक्त तीनों कारण केवल विश्लेषण की दृष्टि से अलग किये गए हैं, वैसे, इन सबका एक-सा महत्त्व है और ये एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं।

आर्थिक विकास एक ओर से वस्तुओं और जीवधारियों के विषय में प्रौद्योगिक ज्ञान पर निर्भर है, और दूसरी ओर यह मनुष्य और उसके साथियों के आपसी सम्बन्धों के सामाजिक ज्ञान पर आश्रित है। इस सन्दर्भ में अक्सर पिछली बात पर ही अधिक जोर दिया जाता है, लेकिन दूसरा पहलू भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि आर्थिक विकास जितना नये चीज तैयार करने या बड़े-बड़े बाँधों को बनाने की विधि निकालने पर निर्भर है, उतना ही इन बातों पर भी निर्भर है कि बड़े पैमाने के उद्योगों का प्रबन्ध किस प्रकार किया जाए या आर्थिक प्रयत्न के अनुकूल सस्थान किस प्रकार जन्म लें।

यह अध्याय तीन भागों में बँटा हुआ है। पहले भाग में हम यह देखेंगे कि ज्ञान में वृद्धि किस प्रकार होती है, दूसरे भाग का सम्बन्ध उत्पादन में ज्ञान की प्रयुक्ति से है, और तीसरे भाग में प्रशासन की चर्चा की गई है। यहाँ भी यह विभाजन कि ~~दूसरे को~~ से ही किया गया है। ज्ञान की वृद्धि और उसकी प्रयुक्ति एक ~~जाती है।~~ है और इनमें से एक पिछड़ जाए तो दूसरे

ज्ञान में वृद्धि इसलिए होती है कि मनुष्य स्वभाव में त्रिज्ञानु और प्रयाग-शील है। यह उगकी त्रिज्ञानु-भावना का ही परिणाम है कि वह जो बातें देखता

है उनके बारे में जांच करने की कोशिश करता है, भूने ही उगकी व्यावहारिक समस्याओं में उनका कोई तात्कालिक सम्बन्ध न हो। उगके ज्ञान में जो व्याव-हारिक काम होता है उनमें आने वाली कठिनाइयाँ को हल करने के लिए भी उसे प्रयोग करने की प्रेरणा मिलती है।

क्योंकि हर पीढ़ी अपने पूर्वजों से प्राप्त ज्ञान को ही धारण बढ़ाने का प्रयत्न करती है, इसलिए ज्ञान के लक्ष्य में सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार संतान-जन्म का है। जब तक संतान-जन्म का आविष्कार नहीं हुआ था हर पीढ़ी अपनी गति को बेचैन उताना ही ज्ञान सीधे पाती थी जिनका उसे स्मरण होता था। उग प्रकार दिया गया ज्ञान बिलकुल घोटा होता था यह धारणा में समझा जा सकता है, यदि हम आदिम समाजों के, जहाँ इतिहासकारों को विशेष रूप से नियुक्त किया जाता था, थपड़ इतिहासकारों में प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री की तुलना उग सामग्री में करें जो पढ़े-लिखे समाज में उपलब्ध होती है। हम १९वीं सताब्दी में इतिहास में ही उगी प्रकार के दो उदाहरण निम्नलिखित उनकी तुलना कर सकते हैं। गूढ विचारों को प्रकट करने में संतान-जन्म की सामर्थ्य और भी महत्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए, गणित में संतान-जन्म के बिना कोई प्रगति नहीं की जा सकती (अच्छे थपड़ समाज में शुरू की १० समस्याओं में अधिक को स्पष्ट करने के लिए शब्द ही नहीं हैं) उगी प्रकार विज्ञान के अन्य प्रत्येक क्षेत्र में थपड़ लोग गूढ विचारों के आविष्कार करने में धारण मरी बढ़ पाते।

दूसरा आविष्कार, जिसमें ज्ञान की वृद्धि में बड़ा क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है, वैज्ञानिक विधि का आविष्कार है। उग आविष्कार का श्रेय दार्विण को है। उगका धारणा प्राचीन धर्म में सर्वसाधारण और सामान्यता के आविष्कार के साथ हुआ था, लेकिन उगका उपयोग करीब दो सत्रह सत्रह ही धारणा हुआ जबकि नवयुग (रिनेगी) में उग प्रगति का मोड़वीन विर में को जन्म मरी। तब से निम्न मरी जन्म की धारणा ज्ञान में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई है।

ज्ञान की वृद्धि पर विचार करने समय दोन भिन्न-भिन्न बातों का परिचय मिलता है—साधारण में पढ़ने का काम वैज्ञानिक विधि के बिना ही विज्ञान का काम और वैज्ञानिक विधि का काम। उगी प्रकार समाजों का धारण स्पष्ट करने समय भी यह देखा जाता कि वे थपड़ है या उगी महत्त्व और क्षमता में वैज्ञानिक विधि का सम्बन्ध है।

ज्ञान की वृद्धि में महत्वपूर्ण परिस्थितियों की खर्चा करने समय हमें अधिकतर उन समाजों का अध्ययन करना होगा जिनकी अर्थव्यवस्था में है, अर्थात् जो आधुनिक हैं लेकिन वैज्ञानिक पद्धति में सम्पन्न नहीं हैं। यह प्रश्न बड़ा दिलचस्प है कि इस अर्थव्यवस्था के दौरान कुछ देशों में अन्य देशों की तुलना में अधिक प्रगति क्यों हुई, या एक ही देश में अन्य शक्तियों की अपेक्षा कुछ शक्तियों में अधिक प्रगति क्यों हुई? इसी प्रकार के प्रश्न उन देशों के बारे में भी किए जा सकते हैं जो अपेक्षाकृत स्थिति में हैं। हालांकि इन प्रश्नों में बहुत सारा नहीं है क्योंकि एक तो अपेक्षाकृत लोग की उपलब्धता में अधिक अन्तर नहीं पाए जाते (उनमें से सभी न एक-स आंध्र, मैदानी, धान-गायन और दूसरे तकनीकी प्राकृतियों का आविष्कार किया है, बट-बड़े अन्तर केवल कुछ ही बातों को लेकर है, जैसे उनमें से कौन लोग पहिये का प्रयोग करने में और कौन लोग इमारत बनाने में पत्थर का प्रयोग कर सकते थे), और जो अन्तर हैं भी उनके बारे में अधिक बताने के उपाय नहीं हैं क्योंकि इन समाजों के बारे में बहुत थोड़े प्रमाण उपलब्ध हैं। वैज्ञानिक विधि का अनुसरण न करने वाले किन्तु पड़े-लिखे समाजों के बारे में अपेक्षाकृत अधिक प्रमाण उपलब्ध हैं, और इनके अन्दर पाए जाने वाले अन्तर भी अधिक स्पष्ट हैं। जैसे इन प्रश्नों के सतोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है, और चूंकि इस युग की (अथवा तो सभी देशों की वैज्ञानिक अर्थव्यवस्था के परिणाम मालूम हैं) व्यावहारिक समस्याओं पर इनका कोई विशेष प्रभाव भी नहीं है, इसलिए हम इनके अध्ययन में अधिक समय नष्ट नहीं करेंगे।

(क) विज्ञान-पूर्व के समाज—मोटे तौर पर पड़े-लिखे विज्ञान-पूर्व समाजों में ज्ञान की वृद्धि दो चीजों पर निर्भर रही है—एक तो उनकी दार्शनिक प्रवृत्तियों पर और दूसरे उनकी वर्ग-रचना पर।

ज्ञान की वृद्धि के लिए तकनीक, जिज्ञासु और प्रयोग-प्रिय मस्तिष्क की आवश्यकता होती है। यह प्रवृत्ति शायद कुछ विशेष परिवेशों में अधिक पन-पनी है, लेकिन वे परिवेश कौनसे हैं इसके बारे में हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं, और इस विषय पर कोई पक्के नतीजे निकाले जाने की आशा नहीं की जा सकती। मस्तिष्क की जिज्ञासु-वृत्ति शायद उन देशों में अधिक दिखाई देती है जहाँ धार्मिक अर्थों अधिक होती है, अर्थात् जहाँ बहुत से धार्मिक सम्प्रदाय होते हैं जिनमें से नागरिक जिसे चाहे चुनने के लिए स्वतन्त्र होता है। इसके विपरीत उन देशों में जिज्ञासु-वृत्ति कम होती है जहाँ धार्मिक मुना और धार्मिक एकाधिकार स्थापित हैं। इसी प्रकार, मस्तिष्क की अन्वेषण-शक्ति उन समाजों में अधिक पुष्टि पाती है जहाँ राजनीतिक और आर्थिक अधिकार सभी प्रकार विवेचन है और उनका स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग किया जाता है,





तक किमानो और शिल्पियों की प्रवृत्ति का मवाल है शायद बहुत-बहुत इस पर निर्भर करता है कि इन लोगों को अपने परिश्रम का फल अपने पाम रखने की कितनी स्वतन्त्रता मिली हुई है। अगर जमींदार और राजे-महाराजे इन लोगों के पाम गुजारे लामक घन छोड़ने के बाद बची मागी-की-सारी ग्रामदनी छीन लेते हैं, फिर चाहे ये कितना ही उत्पादन करने हो, तो इन लोगों के अन्दर उत्पादन बढ़ाने के तरीके का आविष्कार करने या उन्हें अपना देने की प्रेरणा नहीं रह जाती। इन समाजों में प्रौद्योगिक उन्नति को प्रभावित करने वाला सबसे बड़ा सामाजिक कारक शायद यही है, क्योंकि इन समाजों में काम पर लगे आदमियों की प्रवृत्ति ऐश-आराम करने वालों की सैद्धान्तिक अटकलों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण होती है। वर्ग-रचना को लेकर एक दूसरी बात जो इन समाजों में महत्व की रही होगी, यह है कि इनमें ज्ञान पर किस सीमा तक एकाधिकार था। हालांकि हम इन समाजों को पढ़ा-लिखा बहने हैं, लेकिन दरअसल जन-समस्या का एक छोटा-सा वर्ग ही पढ़ा-लिखा होता था, जिनमें अधिसंख्य पुत्रागी, प्रशामक और व्यवसायी लोग सम्मिलित थे। बहुत से समाजों में पढ़े-लिखे लोगों ने अपने रहस्यों को बड़ी मावधानी से छिपा रखा था। ऐसी जगहों पर अपढ़ों ने भी अपनी श्रेणियाँ बनाकर अपने नव रहस्यों को छिपा रखने के प्रयत्न किये। यदि रहस्य केवल कुछ ही लोगों को बताए जाएँ तो ज्ञान में तेजी से वृद्धि नहीं हो सकती।

कारण चाहे जो रहे हो, समुदायों में इन बातों को लेकर बड़े अन्तर पाए जाते हैं कि उनमें विद्वानों की स्थिति क्या थी, और विद्वानों को कितना आदर और स्नेह मिलता था—चीन या नवयुग (रिनेमाँ) के यूरोप में विद्वानों की ऊँची हैसियत इसका उदाहरण है। वैसे यह मन्देहजनक लगता है कि विद्वानों की हैसियत में पाए जाने वाले इन अन्तरों का प्रौद्योगिक उन्नति पर काफी प्रभाव पड़ता था, क्योंकि बहुत ही छोटे विद्वानों को विज्ञान में दिलचस्पी थी और विज्ञान की जिन समस्याओं में उन्हें दिनचर्या थी भी उनका प्रौद्योगिकी से कोई निकट का सम्बन्ध नहीं था। ज्ञान मानव इतिहास के दौरान प्रौद्योगिकी में जो कुछ विकास हुआ है उसके अधिकांश का आधुनिक अर्थों में पुकारे जाने वाले विज्ञान में बहुत थोड़ा सम्बन्ध रहा है, अर्थात् ज्ञान मूख्य सिद्धान्तों की प्रयुक्ति के रूप में प्रौद्योगिकी का विकास कम ही देखने में आता है। आविष्कार दो वर्गों ने किये हैं—काम पर लगे कर्मों ने, और पेनेवर आविष्कर्ता ने। पहले वर्ग में वे सब लोग सम्मिलित हैं जिन्होंने अपने दैनिक काम के दौरान अपनी कार्य-पद्धतियों में सुधार करने के तरीके निकाले, या जो विचार उन्हें मूढ़े उन्हें लेकर प्रयोग किये। दूसरे वर्ग में हर बात में बहुत ही छोटे लोग सम्मिलित रहे। ये अक्षर मावज्जा-वर्ग के नदर पुण्य थे जिन्हें अपने जमाने के विज्ञान

मे दिलचस्पी थी; उनको अतिक्रम दिलचस्पियों आध्यात्मविद्या-सम्बन्धी, धर्मशास्त्रीय या ज्योतिष की लेकर थी, और जब कभी वे आविष्कार करने की दिशा में प्रयत्न करते भी थे तो उनके परिणाम कभी-बभार ही व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने थे। बात यह है कि दैनिक जीवन के व्यावहारिक कामों में सम्बन्ध न होने के कारण उन्हें यह जानकारी नहीं होती थी कि कितने क्षेत्रों में सर्वाधिक लाभप्रद योग दिया जा सकता है। सबसे शुरू के उमान में इन 'वैज्ञानिकों' ने औद्योगिक समस्याओं पर बहुत ही कम ध्यान दिया। समय गुजरने के साथ-साथ तकनीकी ज्ञान के संचय और इस विषय पर चिन्तन एवं प्रारम्भिक प्रयोगों में प्रभावित होकर अधिकाधिक विद्वानों ने इन बातों पर ध्यान देना प्रारम्भ किया। पाँच सताब्दी ईसा-पूर्व के दौरान ग्रीक समार में एक साथ अनेक मशीनों आविष्कार हुए। उनके बाद जहाँ तक हम पता है, इन मामलों में विद्वानों की दिलचस्पी धर्मशास्त्र और दूसरे विवेचनों की अपेक्षा गौण हो गई, और नवयुग (रिनेसाँ) के बाद तक एक साथ इनके आविष्कारों का उदाहरण नहीं मिलता।

किसी एक देश में तकनीकी ज्ञान के विकास की गति क्यों मन्द हुई, यह बताना उतना ही कठिन है जितना हम मामलों में एक देश और दूसरे देश के घन्टों पर प्रकाश डालता है। इसके लिए सायद हमें उन कारणों का पता लगाना होगा जिनमें विद्वान प्रौद्योगिकी में विमुग्ध हो जाते हैं, पूर्वी-निवेश करने वाला को महत्त्व बचाने के साधनों में दिलचस्पी नहीं रह जाती, या ग्राम लोगों की उत्पादन बढ़ाने में दिलचस्पी समाप्त हो जाती है। इनके लिए हमें उसी प्रकार के समाधान देने होते हैं जो सांख्यिक परिवर्तन की घाम समस्या पर विचार करने समय अध्याय ३, पृष्ठ ५ में दिये जा चुके हैं। कोई जीवात्मक कारणों में इसका समाधान गौणता है। कोई भौतिक वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन को इसका जिम्मेदार मानता है, कोई मुक्त गोज-बीड के मार्ग में बाधक राजनीतिक या धार्मिक प्रवृत्तियों के परिवर्तनों को उत्तरदायी ठहराता है, कोई ग्राम लोगों पर बड़ने हुए दवावों की चर्चा करता है जिनमें किसानों और शिल्पियों में अपना उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा नहीं रह जाती, या कोई अधिकाधिक मुद्र या जनता के भगडे को इसका कारण समझता है। ईसा में लगभग एक सताब्दी पूर्व ग्रीक समार में प्रौद्योगिक उन्नति की स्पष्ट गिरावट का अध्ययन सर्वाधिक दिलचस्पी का विषय है, लेकिन इसके बारे में मात्र तक पूरी तरह गन्तोपजनक समाधान नहीं मिले। तकनीकी प्रतिरोध की सम्भावनाओं पर भी अत्यन्त आश्चर्य के कारण, अर्थ, की, यदि है, दिल, पर पृष्ठ ५ (पृष्ठ ३ (ग) ) में विचार करेंगे।

(ख) आविष्कार और अनुसन्धान—प्रौद्योगिकी के इतिहास का तीसरा

चरण नवयुग ( रिनेमा ) के साथ आरम्भ होता है जिसने हर क्षेत्र में ज्ञान के विकास को बढ़ावा दिया। जहाँ तक आर्थिक विकास का सम्बन्ध है नवयुग की बौद्धिक श्रिया के सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम ज्ञान के दर्शन, गणित, सामाजिक ज्ञान और मशीनी आविष्कार के क्षेत्रों में देवन में आए। ज्ञान के दर्शन में शुद्ध विज्ञान के विकास की नींव रखी गई जिन्होंने यद्यपि कुछ समय तक बाटे परिणाम नहीं दिनाये लेकिन समय पाकर जिनका बुनियादी महत्त्व बहुत अधिक सिद्ध हुआ। गणित के क्षेत्र में नत्वाल नयी बातें सामने आयीं जहाँकि इसके परिणाम भी बहुत बड़े में मिले। सामाजिक विज्ञानों में भी उत्काल विकास हुआ क्योंकि उनमें तुर्गन् ही गजनीतिक विचारक शुरू हो गए जिनसे अर्थशास्त्र, गजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, विधिशास्त्र और समाजशास्त्र के आधुनिक अध्ययनों का श्रीगणेश हुआ। मशीनी आविष्कारों के क्षेत्र में फिर दिनचर्या पैदा हुई, जो मोटरवाहियों, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में बढती गई, और अन्ततः उन्नीसवीं शताब्दी में आविष्कारों के वर्ग में ऐसे लोग पैदा हुए जो आविष्कार को अपने दैनिक कार्यों का ही व्युत्पन्न अंग नहीं समझते थे, या जो सावधान-वर्ग के जिजामु लोगों में से नहीं थे, बल्कि सम्पत्ति कमाने के उद्देश्य से इसे पूर्ण-वैज्ञानिक षण्ठा मानकर काम करते थे। शुद्ध विज्ञान ने प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्राग्भिक योगदान समाप्त-शास्त्र के माध्यम से किया जो सत्रहवीं शताब्दी में ही धीरे-धीरे सामने आने लगे थे, लेकिन जिनके चमत्कारिक प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी में जाकर प्रकट हुए। इसके बाद विजली से चलने वाली अनेक नयी चीजें निकाली गईं, और अब वर्तमान शताब्दी में भौतिकी की दूसरी शाखाओं के महत्त्वपूर्ण योगदान सामने आ रहे हैं।

विज्ञान और उद्योग के बीच आज जो विलक्षण सम्बन्ध है उसे समझने के लिए यह पृष्ठभूमि आवश्यक है। आम आदमी जिस संसार में रहता है कम-से-कम अपनी दृष्टि से उसे विज्ञान की देन समझता है, और उसे यह जानकर आश्चर्य होता है कि उद्योग के व्यापक क्षेत्र में काम करने वाले लोगों के लिए वैज्ञानिकों का कोई उपयोग नहीं है (बल्कि वे उनसे घृणा भी करते हैं)। वास्तव में यह है कि अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में जितने बड़े आविष्कार हुए—भाप का इंजन, वातने और बुनने की मशीनों के आविष्कार, फ़सलों के हेर-फेर की नयी प्रणाली, खनिज गन्धों के नये तरीके, मशीनी औजार—वे सब वैज्ञानिकों द्वारा नहीं बल्कि उन व्यावहारिक लोगों द्वारा किये गए जो विज्ञान के बारे में कुछ नहीं जानते थे, या बहुत कम जानते थे। बीसवीं शताब्दी में आकर ही भावी आविष्कारों के लिए वैज्ञानिक शिक्षा आवश्यक हुई है, या प्रौद्योगिक उन्नति का ध्येय अधिकांशतः विज्ञान की शोचों को निरन्तर लगा है।

बीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने आविष्कार को कई तरीकों से प्रभावित किया

है। आज आविष्कारों के लिए वैज्ञानिक होना भी आवश्यक नहीं है, अब अनेक आविष्कार किसी एक व्यक्ति की सामर्थ्य से परे हैं, अतः वैज्ञानिकों के दलों द्वारा प्रयोगशालाओं में किये जाते हैं। य मन्त्रमण अभी पूरे नहीं कहे जा सकते। अब भी काम पर लगा श्रमिक मशीन का इस्तेमाल करते समय कार्य-पद्धति में सुधार करने के तरीके निकाल सकता है, और उपयोगी हेर-फेर सुभा सकता है। आज भी दम प्रकार की प्रगति की जा रही है, यद्यपि कुछ आविष्कारों की तुलना में यह अधिक नहीं है। थोड़ा वैज्ञानिक ज्ञान और मशीन के प्रति रुचि रखने वाला अकेला आविष्कार आज भी काफी महत्वपूर्ण आविष्कार कर सकता है। यांत्रिक इंजीनियरी या पशु या वनस्पति-प्रजनन के क्षेत्र में सबसे अधिक आविष्कार अब भी साधक व्यक्तिगत आविष्कारियों द्वारा किये जा रहे हैं। दल बनाकर आविष्कार करने का सर्वाधिक उपयोग पक्षियों की रसायनिकी और रेडियों और नाभिकीय विखण्डन की भौतिकी में किया जाता है।

शैक्षिकी अनुसंधान के मगठन के बारे में अब बहुत-कुछ कहा और लिखा जाता है—इसमें हमारा आशय उस प्रकार के अनुसंधानों से है जो सर्वांगी प्रयोगशालाओं में आविष्कारियों के दलों द्वारा होता है, जैसे व्यक्तिगत आविष्कारों के काम पर विचार करना आज भी आवश्यक है। उसकी स्थिति में भी परिवर्तन आ गया मालूम पड़ता है। यद्यपि आज भी कुछ लोग अपने स्वामी समय में या पूरा समय देवर पर पर, या अपनी प्रयोगशालाओं में काम करते हैं, लेकिन अधिकांश आविष्कारियों ने पूर्णकालिक धार के साधन के रूप में आविष्कार को छोड़ कर जोर से सामूहिक जीवन मानना शुरू कर दिया है। अधिकांश आविष्कारों दूसरे लोगों की नीपरी करना पसन्द करते हैं या उन्हें प्रयोगशाला तैयार करके दें, वे जान दें और यदि सम्भव हो तो रॉयल्टी में भी हिस्सा दें। प्रायः अनेक आविष्कारों एक ही प्रयोगशाला का उपयोग करते हैं, लेकिन उनमें से हरेक अपने क्षेत्र का काम करता है। उनके ऊपर मालिकों द्वारा दम सामने में प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं कि वह किस विषयों पर आविष्कार करेंगे। स्थितियों की परिस्थिति में दल के रूप में काम करने की परिस्थितियाँ बिनाबुद्ध भिन्न होती हैं। स्वतन्त्र मुक्त आविष्कार करने वाले मावकाय लोगों की महत्ता अब बहुत कम रह गई है (पहले भी यह घाटी ही होती थी)।

दल के रूप में अनुसंधान का महत्त्व बढ़ने के साथ-साथ मगठन की नयी गन्ध्याएँ सामने आती हैं। दम प्रकार का अनुसंधान बहुत सर्वांगी होता है और छोटी-छोटी जर्मों इनका सर्वं सरदार नहीं कर सकतीं। अतः दम प्रकार के अनुसंधान का काम बहुत बड़ी जर्मों ही शुरू करती हैं और इसके कारण छोटी और बीच के आविष्कारों की जर्मों की गुणता में य प्रतियोगिता की दृष्टि में ब

फायदे में रहती हैं। हाँ, यदि अनुसन्धान का फर्म की दूसरी क्रियाओं से अलग कर दिया जाए और अनुसन्धान फर्मों के एक समूह के लिए या पूरे उद्योग के लिए किये जाएँ तो यह फायदा कम हो जाता है। ब्रिटेन में अनुसन्धान इसी प्रकार किये जाने लगे हैं। एक बार घनेक महकरी अनुसन्धान-मस्थान स्थापित किये गए हैं जिनमें कुछ आर्थिक सहायता सरकार ने भी दी है और जिन पर उन फर्मों का स्वामित्व और नियन्त्रण है जो स्वेच्छापूर्वक इनके साथ सम्बन्ध स्थापित करके इनके स्वतन्त्र मयागदान करती हैं। दूसरी बार सरकारी अनुसन्धान-मस्थान भी घनेक हैं जिनका पूरा स्वतन्त्र सरकार उठाती है और जिन पर नियन्त्रण भी सरकारी होता है, लेकिन जिनकी छात्र और आविष्कार सब लागत के उपयोग के लिए होनी हैं। इस प्रकार के मस्थान वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसन्धान-विभाग के नियन्त्रण में चल रहे हैं। इन मस्थानों के अलावा सरकार विश्वविद्यालय के विभागों और निजी मस्थानों को भी विशेष अनुसन्धान के लिए अनुदान देती है, वृत्ति अनुसन्धान परिषद् या चिकित्सा अनुसन्धान परिषद् जैसे मस्थान मुख्य रूप से इसी प्रकार अपना काम कर रहे हैं। फर्म से अलग रहकर दल के रूप में काम करने की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं है, क्योंकि सामूहिक रूप से या सरकार के तत्वावधान में जो कुछ हो रहा है उसके अलावा बड़ी फर्मों भी अपने निजी आविष्कारों दल और प्रयोगशालाएँ जारी करे हुए हैं।

प्रायोगिक ज्ञान के विकास पर विज्ञान का दूसरा प्रभाव यह हुआ है कि आविष्कार की प्रक्रिया तीन अलग-अलग चरणों में विभाजित हो गई है। ये चरण हैं—वैज्ञानिक सिद्धान्तों की रचना, इन सिद्धान्तों की दिग्विष्ट तकनीकी समस्याओं में प्रयुक्ति, और तकनीकी आविष्कारों का उम भौमा तक विकास, जहाँ उनका वाणिज्यिक उपयोग किया जा सके। इनमें से पहला चरण अर्थात् शुद्ध विज्ञान का विकास अब लगभग पूरी तरह विश्वविद्यालयों और दूसरे वाणिज्येतर मण्डलों पर छोड़ दिया गया है। कभी-कभार कोई प्रायोगिक फर्म किसी वैज्ञानिक को अपनी प्रयोगशालाओं में इस प्रकार के अनुसन्धान करने की इच्छा दे सकती है जिनका उसकी तकनीकी समस्याओं के साथ कोई तात्कालिक सम्बन्ध न हो, लेकिन यह बहुत कम होता है। दूसरा चरण, अर्थात् प्रायोगिक अनुसन्धान, जिसका काम ज्ञात वैज्ञानिक सिद्धान्तों का वाणिज्यिक समस्याओं के समाधान में प्रयोग करना है, निजी, महकरी और सरकारी प्रायोगिक अनुसन्धान-दलों और आविष्कारों की सहायता से विश्वविद्यालयों द्वारा किये गए काम को आगे बढ़ाता है। (इस प्रकार का कुछ काम विश्वविद्यालयों और तकनीकी कालिजों में भी किया जाता है, लेकिन यह उनका ही काम ही माना जाएगा)। इस चरण में किये गए काम का परिणाम फार्मूलों, नील-नक्शों या

माइलो के रूप में सामने आता है। और तब इन परिणामों को ऐसा रूप देने की समस्या पैदा होती है जिसे धारण पर बड़ी मात्रा में धीरे मानव किन्म की सस्ती चीजा का विनिर्माण किया जा सके। उत्पादन-सम्बन्धी यह समस्या, जिसे विकास का चरण कहते हैं, पिछले सब चरणों की भाँति ही बठिन और एर्चीली होती है। उदाहरण के लिए जट हवाई जहाज का विचार हम प्रकार के पहले हवाई जहाज की उड़ान में अनक वष पहले ही जन्म ले चुका था, लेकिन गरभी महने योग्य धातुएँ चुनने, या जहाज की गति के उपयुक्त घड़ों की डिजाइने तैयार करन में और ऐसी ही दूसरी समस्याओं का समाधान खोजने में बहुत समय और द्रव्य लगा। विकास के चरण को तकनीकी अनुसन्धान के चरण में सदा ही बिलकुल अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि विकास की कुछ समस्याएँ तकनीकी होती हैं, या कभी-कभी अनुसन्धानों और विकास के चरणों में काम करने वाले लोग एक ही होते हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से ये दोनों चरण अलग किये जा सकते हैं।

उद्योग की स्वरूपा पर विकास के चरण के प्रभाव लगभग वही समस्या उत्पन्न करते हैं जो अनुसन्धान के चरण के प्रभावा से पैदा होती हैं, अर्थात् कुछ मामलों में केवल बहुत बड़ी जर्मों ही विकास का काम हाथ में ले सकती हैं, और इससे उन्हें छोट प्रतियोगिता की तुलना में एक लाभ मिल जाता है। क्या इस समस्या का भी वही समाधान हो सकता है अर्थात् क्या विकास का काम जर्मों की दूसरी जिम्मेदारियों में अलग किया जा सकता है? इसमें एक बाधा तो यह है कि विकास की दिशा में धीरे धीरे काम किया जाए या नहीं। यह मुख्यतया एक वाणिज्यिक निर्णय होता है जो पण्य विशेष की सम्भाव्य माँग के अनुमान को ध्यान में रखकर किया जाता है, जबकि विकास में पहले के चरणों में जो निर्णय लिये जाते हैं वे बहुत-कुछ वैज्ञानिक निर्णयों-जैमे होते हैं। शुद्ध विज्ञान की प्रगति वैज्ञानिकों के हाथ में होती है जिनका सिद्धान्त कुछ-कुछ यह होता है कि ज्ञान जितना भी अधिबन्धे-अधिक प्राप्त किया जा सके अच्छा है। यह सिद्धान्त गोभाग्य से लेकिन केवल गौण रूप में इस विचार से भेन खाता है कि समय पाकर एक-न-एक रूप में मात्रा वैज्ञानिक ज्ञान फल देता है। प्रौद्योगिक अनुसन्धान के चरण में जो निर्णय लिये जाते हैं वे मात्र वैज्ञानिक ही नहीं होते, जिन समस्याओं को सुलभाना लाभप्रद रहेगा यह तय करने समय कुछ वाणिज्यिक विवेक की भी आवश्यकता होती है, फिर भी, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का बड़ा महत्त्व है और यदि प्रौद्योगिक अनुसन्धान-सम्बन्धी निर्णय उन समस्याओं को लेने दिए जाएँ जो अनुसन्धान रूप से वैज्ञानिकों और व्यक्तियों के अधीन काम करते हैं तो कोई विशेष हानि की सम्भावना नहीं है। इस चरण में यह उपयुक्त ही रहता है कि जिनकी सम्भावनाओं का व्यावहारिक उपयोग

हो सकता हो उससे वही अधिक सम्भावनाओं पर अनुसन्धान करने के लिए समय और द्रव्य खर्च किया जाए। वैसे एक बार अनुसन्धान के स्तर पर सम्भावनाएँ सामने ला देने के बाद वैज्ञानिक का काम लगभग समाप्त हो जाता है। इन सम्भावनाओं में से कौनसी उपयोगी हैं और किन्हे उपेक्षित कर देना है, यह निर्णय वाणिज्यिक होता है जिसे लेना उन लोगों का काम है जो उत्पादन लागत और सम्भावी विक्री के क्षेत्र में विशेषज्ञ हैं।

निजी उद्योग की अयं-व्यवस्था में यह निर्णय निजी धर्म पर छोड़ दिया जाता है जिसे अपन अनुमान स्वयं लगान पड़ते हैं और उन अनुमानों के नहीं या गलत होन पर फर्म के लाभ या हानि निर्भर करने हैं। एक विकल्प यह भी है कि सम्बन्धित उद्योग के नारे व्यवसायियों की एक समिति को निर्णय लेने का काम सौंप दिया जाए। इस समिति में नारा उद्योग मितकर यह निश्चय करना है कि किन आविष्कारों का विकास करना है और मसूचे उद्योग को ही विकास के चरण का खर्च उठाना होना है। इन प्रयोजन के लिए उद्योग की परिभाषा करना तो मुश्किल है ही, अनेक लोगों का यह भी विश्वास है कि इससे प्रगति में बाधा आती है। वान यह है कि तकनीकी परिवर्तन के परिणामों में वर्तमान निवेशों का बचाव करने के लिए उद्योग द्वारा ऐसे सामूहिक निर्णय भी ले लिये जाते हैं जो एकाधिकारी निर्णय के समान होते हैं, या नये विचारों के बारे में सामूहिक निर्णय अक्सर टूटने लगते होते हैं कि हम यह कह सकते हैं कि सामूहिक विनहमति के बावजूद लोगों द्वारा लिये गए व्यक्तिगत निर्णय ही प्रगति का मार्ग प्रगन्त करने हैं। निर्णय लेने का काम इस प्रयोजन के लिए स्थापित सरकारी समिति के सुपुंरं भी लिया जा सकता है और उसे नये आविष्कारों का विकास करने के लिए द्रव्य दिया जा सकता है। इस प्रकार की एजेंसी ब्रिटेन में स्थापित की गई है, लेकिन उसे विकास के मामले में एकाधिकार प्राप्त नहीं है और वह केवल जहाँ आविष्कारों के बारे में निर्णय ले सकता है जिन्हें विकसित करने का काम उसे सौंपा जाए। सरकारी समिति को निर्णय लेने का एकाधिकार देने से दोनों ही प्रकार की हानि हो सकती है, एक तो सामूहिक निर्णय लिये जाने में व्यक्तिगत पहल की भावना दब जाती है और दूसरे, चूंकि निर्णय लेने वाले अपना निजी पैसा खर्च नहीं कर रहे होते हैं इसलिए निर्णयों की गानप्रदता पर समुचित ध्यान देने के लिए इन्हें कोई आर्थिक प्रेरणा नहीं होती। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि विकास के चरण में सबसे अच्छे परिणाम प्राप्त करने के लिए बाध्यतायें यही हैं कि जिस व्यक्ति को जो आविष्कार लाभप्रद दिमाग दे, वह उसे विकसित करने के लिए अपने साधनों का उपयोग करने में स्वतन्त्र हो या साथ में उन लोगों के साधनों का भी उपयोग कर सके जो जोखिम बाँटने के

निए तयार हा । जिद मामता म विचारम वा सब बहून हाता है यहीं लाभ जनक स्थिति उही की रक्ती है जिनक पाग साधन अधिब जेन है । यन्दि इन लाभजनक स्थिति को समाप्त करन क निए विकास का काम सामूहिक उत्तर दायित्व के आधार पर लिया जाए तो सम दूमरी इानियां हाथी । बग्नत किसी सामाजिक समस्या का निर्णय समाधान नहीं मिल सकता । जो भी हा कुछ क्षेत्रो म बड़ पमान क संगठन की लाभजनक स्थिति एक व्यावहारिक लक्ष्य है हम चाहे जितना प्रयत्न कर पर समग मता नी नये दस मफत ।

आविष्कार की प्रक्रिया का मात्र चरणो अर्थात् गुड विज्ञान तकनीकी अनुसंधान और विकास म विभाजन करन से पट्टा की समस्या पर प्रत्या पदन म महायत्ता मिलनी है । गुड विज्ञान की सोझो का पट्टा नहीं बगसा जा सकता । य प्राय गुप्त नहीं रगी जाता । जमरा कारण यह नहीं है कि कभी-कभी आविष्कर्ता अपनी सोझ का गुप्त रूप म प्रयोग करत पर नी सम्पत्ति नगी कमा सकता बल्कि मुख्य बात यह है कि सोझो का गुप्त रगना बनाविका की आचारमहिता के विपरीत है । विज्ञान की प्रगति के लिए आव दयक है कि एक-दूगरे के विचारो से सूत्र तसर अनन योग समान समस्यापा पर समाग नगा और यन्दि विचारो के मुक्त आदान प्रदान पर बाधा प्रति बाध नगा लिया जाए ता निश्चय ही विज्ञान की प्रगति म बाधा आएगी । अंतर्राष्ट्रीय चर्चा के लिए एक देग से दूमर देग को जान म बनाविता पर न्निना बाधा प्रतिबाध है नगी प्रकार राष्ट्रीय रता से शिक्ष मन्त्रालय गनने बासे शाखा के परिणामो के प्रकाशन पर भी प्रतिबाध हैं । य प्रतिबाध अभी धोरे ही हैं लेकिन बहून से योगो को भय है कि विचारो क मुक्त आदान प्रदान क मिद्वान्त का यन्दि एक बार उत्तपत हो गया तो प्रतिबाध और अधिक लय जाएगा । अन्तिस विचार किमी की निजी सम्पत्ति नगी इगित्त बणा निक उह बेचकर जीविका न । कमा सकता । यगे कारण है कि गुड विज्ञान की प्रगति मुख्यतः सावजनिक विधिया क पम पर हाती है ।

तकनीकी अनुसंधान क चरण म जो परिणाम निकाल जन के गना पने-क बगसा जा सकता है । इनका कारण य है कि जनताकी अनुसंधान का सब मुख्यतः य राग उगने हैं जिह उतम पायता होना का आगा होना है और समनिए उह तकनीकी अनुसंधान म समन विचारो की गगयता म निजा लाभ कमान दना चाहिए । उनीगया गगानी म जब आविष्कार सम्बन्ध प्रलय प्राय आविष्कता करन से कभी-कभी का विचार बदल लिया जाता यन्दि दिग्दर्शक निजो न्नि न हाथ को स्थिति म । आविष्कार का मान्य कस नगा । समो कारण या ता का या ति अन नैव न ति आविष्कार करन क आविष्कार प्राय मन्त्रालय म नगा । यना लय । शिक्ष



बिना किसी लान-लानब के काफी मात्रा में अनुसन्धान कर सकते थे या शायद यह कारण था कि जो आविष्कार अपने आविष्कार को मुक्त रखना था और उनका वाणिज्यिक उपयोग करता था। वह आविष्कार के स्वयं को निदान के लिए आरम्भिक अदम्यधर्मों में अपने आविष्कार में काफी एकाधिकारों लान करमा सकता था। उन्नीसवीं सताब्दी में उन दोनों तर्कों में से कोई स्वयं मान्य नहीं रहा और आज तो और भी कम लागू इन्हें मानने को तैयार होंगे। यदि आविष्कार में निजी लान का पैसा लगता है तो उन्हें निजी सम्पत्ति कतर दिया जाना चाहिए। यदि तन्वीकी अनुसन्धान पर सार्वजनिक या वाणिज्यिक निधि में पैसा लगता है तो निजी स्वामित्व की बात समाप्त हो जाती है, इस स्थिति में सब लोग निःशुल्क आविष्कार का उपयोग कर सकते हैं। लेकिन अब तक आविष्कार पर उन लोगों का पैसा लगता है बिना उमने आर्थिक हित है, सब तक यह आवश्यक है कि आविष्कार के परिणामों पर निजी स्वामित्व रहे। इस चरण में पेटेंट प्रणाली का लाभ यह है कि यह न केवल स्वामी को मरक्षण प्रदान करती है बल्कि उसे अपने आविष्कार को प्रकट करने के लिए भी सहायता देती है और इस प्रकार सैद्धांतिक विचारों का मुक्त प्रवाह बना रहता है।

बैसे, हमारी पेटेंट प्रणाली न केवल आविष्कारों को एकाधिकार देती है बल्कि विकास करने वाले और उसके बाद वाणिज्यिक उत्पादकों को भी एकाधिकार प्रदान करती है। विकास करने वाला दो तरह का एकाधिकार मांगता है—विकास पर एकाधिकार और बाद में उसके उत्पादन पर एकाधिकार। आविष्कारों जितने लोगों को चाहें विकास करने की अनुज्ञा दे सकता है, लेकिन अधिकार मामलों में विकास करने वाले तभी विकास करना पसन्द करते हैं जबकि इसके लिए केवल उन्हें ही अनुज्ञा दी जाए। बैसे, उत्पादन पर एकाधिकार विकास पर एकाधिकार की अपेक्षा अधिक सख्त मालूम होता है। उत्पादन पर एकाधिकार के पक्ष में वही तर्क दिया जाता है जो आविष्कारों के एकाधिकार पर लागू है, अर्थात् क्योंकि विकास पर काफी खर्च करना होता है अतः जो लोग उस पर पैसा लगाएँ उन्हें उस बात का सम्मान होना चाहिए कि विकास-सम्बन्धी समस्याओं को मुलम्मा लेने के बाद उत्पादन पर एकाधिकार प्राप्त करके वे अपना पैसा वापस ले सकेंगे। लेकिन यह तर्क विकास पर एकाधिकार के पक्ष का समर्थन नहीं करता। जिस प्रकार सब आविष्कारों विज्ञान के निदानों का निःशुल्क उपयोग करने हैं लेकिन पेटेंट पहले सफल आविष्कारों को ही मिलता है, उसी प्रकार वृत्त से विकास करने वाले भी एक आविष्कार के ऊपर काम कर सकते हैं और उत्पादन का एकाधिकार पहले सफल विकासकर्ता को दिया जा सकता है। पेटेंट-सम्बन्धी कानून को वर्तमान परिभाषाओं

के अनुसार यह एकाधिकार स्वयं प्राप्त हो जाता है यदि विद्वान् के परिणाम-स्वरूप कुछ पेशेष्ट योग्य प्रक्रियाएँ सामने आएँ लेकिन जैसा कि मुझ में पेशेष्ट-सम्बन्धी बानुन का आभाव था, संरक्षण का और भी व्यापक बनाकर सभी नये उद्योगों को संरक्षण दिया जा सकता है। (और जैसा कि अब उन कम विकसित देशों में होता है जो नये उद्योगों को अग्रगण्य की हैगिस्तन देते हैं।) आज भी अनेक लोग ऐसे हैं जिनके अन्तर्गत विद्वान् या उत्पादन दोनों में से किसी को संरक्षण देने की आवश्यकता नहीं है। इनका मुझ तक यह है कि अग्रता में ऐसे लाभ मिलते हैं कि संरक्षण न देने पर भी ज्ञानिमान् उद्योग वाले लोग काफी सन्ध्या में सामने आते रहेंगे। कई उद्योगों के बारे में यह निम्निलक्ष्य में नहीं है, लेकिन यह भी नहीं है कि कुछ उद्योगों में विद्वान् के स्वयं की तुलना में अग्रता के लाभ बहुत छोटे होते हैं और टमीरियाँ यदि इन उद्योगों में विद्वान्-वर्तियों को अनन्य अधिकार न दिये जायें तो प्रगति में भीमापन आ सकता है।

आविष्कार की प्रक्रिया का शुद्ध विज्ञान तकनीकी अनुसन्धान और विद्वान् के रूप में निरन्तर विभाजन यह निर्धारित करने की दृष्टि में भी महत्वपूर्ण है कि भिन्न-भिन्न देशों को किन-किन बातों पर जोर देना है। उदाहरण के लिए, अब यह अक्सर कहा जाता है कि अमरीका की तुलना में ब्रिटेन शुद्ध विज्ञान पर बहुत भारी गंभ्र करता है, लेकिन बाद के चरणों में यह पिछड़ जाता है। यदि पिछड़ने में नात्वयं यह है कि अमरीका की तुलना में ब्रिटेन में आबादी को देखते हुए प्रति-व्यक्ति आविष्कारों की संख्या कम है तो यह कहना मन्द-जनक लगता है कि ब्रिटेन तकनीकी अनुसन्धान के क्षेत्र में अमरीका में पीछे है, इसके विपरीत, यदि हम हाथ की प्रौद्योगिक उन्नति पर विचार करें—कृषि में रेडियो, जेट इंजन, टेलीविजन आदि—तो ब्रिटेन आविष्कारों के क्षेत्र में काफी आगे दिखाई देता है। हाँ यह नये आविष्कारों की बड़े वाणिज्यिक पैमाने पर उत्पादन करने की अवस्था तक जान में अवसर ही पिछड़ा हुआ है। निर्वचन यह है कि ब्रिटेन में अनुसन्धान या आविष्कार में किसी प्रकार की कमी नहीं है बल्कि नये ज्ञान के उपयोग के लिए प्रेरणाएँ कम हैं, हम हम पर वर्तमान अध्याय के दूसरे भाग में विचार करेंगे।

विकसित देशों की तुलना में नये देशों में यह अन्तर पाया जाता है कि उन्हें शुद्ध विज्ञान की प्रगति पर अधिक पैसा गंभ्र करने की जरूरत नहीं होती। वे यह काम अधिकांशतः प्रौद्योगिक दृष्टि में उन्नत राष्ट्रों पर छोड़ सकते हैं, जिनके परिणाम सबको निरन्तर उत्साहित होते हैं। अन्ततः रूप में एकाग्र निर्यन्त देना ऐसे हो सकते हैं जिन्हें विज्ञान के कुछ पक्षों में दूसरे पक्षों की अनेक अधिक दिशाएँ हों, लेकिन शुद्ध विज्ञान की दुनिया में

इसके उदाहरण टूटना बहुत मुश्किल है। शुद्ध विज्ञान की प्रगति तो बाधु की नाति होती है जो निरंतर का मत्र होता है उधर ही रहती है, और यह वज्र मन्देहान्पद है कि अपभ्रान्त निधन देगो की नये वैज्ञानिक सिद्धान्तो की शोक पर पैसा खर्च करने मे कोई लाभ हो सगता है। तकनीकी अनुसन्धान की बात इनसे बिलकुल अलग है। विवसित देगो मे विच गण अधिकांश तकनीकी अनुसन्धान और आविष्कार कम विवसित देगो पर भी उसी प्रकार लागू होते है और उनका ज्यो-का-त्यो अनुकरण किया जा सगता है। लेकिन विवसित देगो मे वैज्ञानिक सिद्धान्तो को अपनी निजी ममन्याओ के हल मे ही लागू किया होता है जो कम विवसित देगो की ममन्याओ से भिन्न है। उदाहरण के लिए ताप-गति-विज्ञान के सिद्धान्तो की सहायता लकड़ी नहीं बन्वि कोयला जलाने के काम आने वाले ताप को अधिबतन करने के उपाय निजालने के लिए लो गई है, लेकिन अनेक निधन देगो के लिए इस तकनीकी अनुसन्धान का कोई उपयोग नहीं है क्योंकि उनके पास कोयले के स्थान पर जलाने के लिए लकड़ी-ही-न-बड़ी है। इसी प्रकार आनुवशिकी के सिद्धान्तो को मकरन्द की किन्न सुधारने की अपेक्षा गहूँ की किन्न सुधारने मे लागू किया गया है और शरीर-विज्ञान के सिद्धान्त उष्ण कटिबन्धो मे रहने के उपाय निजालने की अपेक्षा शीतोष्ण कटिबन्धो मे रहने के उपाय निजालने पर लागू किये गए है। अतः जिन मामलो मे कम विवसित देगो विवसित देगो मे भिन्न है उनमे इन्हें तकनीकी अनुसन्धान करने की काफी आवश्यकता है। अन्तिम बात यह है कि यदि विकासशील देगो मे हुए तकनीकी अनुसन्धान के परिणाम कम विवसित देगो मे लागू भी किए जा सकें तो उनकी वाणिज्यिक दृष्टि से विकास करने की समस्याएँ भिन्न होती हैं। जैसे, जिन देगो मे कोयला, लोहा, पूंजी और कुशल श्रमिको की बहुतायत है वहाँ उत्पादन की जो पद्धतियाँ लाभ देती हैं वे दूसरे ऐसे देगो मे बिलकुल अलाभप्रद रहती हैं जिनके मामले बहुतायत से उपलब्ध अकुशल श्रमिको और वहाँ सस्ते मिन मकने वाले जच्च सामानो के सर्वाधिक लाभप्रद उपयोग टूटने की समस्या है।

इसमे कोई सन्देह नहीं कि कम विवसित देगो की मुख्य कमियो मे से एक यह है कि वे अनुसन्धान और अपनी परिस्थितियों के उपयुक्त नयी प्रक्रियाओ और पदार्थो के विकास पर काफी पैसा खर्च नहीं कर पाते। इसका आर्थिक कारण मस्थान-सम्बन्धी है। औद्योगिक देगो मे निजी उद्यमकर्ता औद्योगिक अनुसन्धान पर बहुत पैसा खर्च करते हैं, क्योंकि उन्हें उम्मीद होती है कि इससे उनको लाभ मिलेगा। दूसरी ओर, कम विवसित देगो कृषि-प्रधान होते हैं। जहाँ कृषि-कर्म मे बड़ी वाणिज्यिक कम्पनियो लगी हैं वहाँ इन कम्पनियो ने निजी रूप मे या सामूहिक आधार पर अनुसन्धान मे पैसा लगाया है (जैसे स्वेट,

मेंने, गन्ने की गती में) लेकिन कृषि के उम सारे क्षेत्र में, जो चड़े पैमाने पर सगठित नहीं है (कृषि का अधिकांश छोटे पैमाने पर होना है) अनुसन्धान पर पैसा लगान में निजी दिव्यचम्पी नहीं पाई जाती। परिणाम यह है कि इन देशों में अनुसन्धान का गारा सच (लेकिन छोटे वाणिज्यिक गेती-सम्बन्धी अनुसन्धान को छोड़कर) सरकार उठाती है। दूसरी धार औद्योगिक देशों में अनुसन्धान मुख्यकर निजी हित की वस्तु माना जा सकता है, जिसमें सरकार द्धर-उधर की कमी का दूर करने के प्रयत्न कर सकती है। कम विकसित देशों में अनुसन्धान मुख्य रूप में सरकारों का काम है और यह उनका मुख्य काम होना भी चाहिए।

सरकारों का इस मद पर कितना धन खर्च करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देना सम्भव नहीं है। ब्रिटेन में औद्योगिक अनुसन्धान और विज्ञान का वर्तमान व्यय उद्योग द्वारा उत्पन्न आय के एक प्रतिशत से कुछ ही कम होता जाता है। अमरीका में भी औद्योगिक अनुसन्धान पर लगभग इतना ही सरकारी खर्च होना है, जबकि कृषि-अनुसन्धान पर कृषि उत्पादन के निर्यात मूल्य का २ प्रतिशत से भी कम व्यय होता है। इस आधार पर यदि कम विकसित देश सभी प्रकार के अनुसन्धान-आय (तकनीकी, सामाजिक, स्वास्थ्य-सम्बन्धी आदि) पर अपनी राष्ट्रीय आय का (सरकारी खर्च का नहीं) २ से १ प्रतिशत के बीच खर्च करें तो अनुचित नहीं होगा। उस गुणाव का कोई पक्का आधार नहीं है लेकिन इससे कम खर्च निश्चय ही बहुत थोड़ा मानना होगा।

अब तक हमने मुख्य रूप में प्रौद्योगिक ज्ञान की चर्चा की है, अब सामाजिक सम्बन्धों पर भी कुछ विचार कर लिया जाए। धाविष्कार की मानव-प्रवृत्ति जिस प्रकार प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सक्रिय रही है उसी प्रकार सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में भी इसका बहुत-कुछ किया है। हाँ, धाविष्कार की प्रवृत्तियों में कुछ भेद अवश्य है। पहला तो यह कि अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक धाविष्कार व्यक्तियों द्वारा नहीं किये गए बल्कि हर्ष परिस्थितियों के अनुसार अपने अन्दर समझन करके की प्रक्रिया में समाज अध्वन रूप से नये सामाजिक संस्थानों का जन्म देता है जिनका पता उनके सक्रिय हो चुकने के काफी बाद में चलता है। लेकिन ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें हम निजी धाविष्कार का नाम और धाविष्कार की तारीख तक नहीं-नहीं बता सकते हैं—उदाहरण के लिए, जब-जब कोई धाविष्कार कानूनी प्रक्रिया द्वारा हुआ है, या प्रशासनिक कार्यवाही के माध्यम से जन्मा है (विरोधकारी बीमा, सामूहिक सेना, केन्द्रीय बैंकिंग, नगरीय सरकार आदि), दूसरे, सामाजिक सम्बन्धों के धाविष्कार की प्रक्रिया के कारण भिन्न होते हैं। यद्यपि हममें भी हम सामाजिक

सिद्धान्तों की स्थापना के चरण और इन सिद्धान्तों के विभिन्न समस्याओं पर लागू होने के चरण की कल्पना कर सकते हैं, लेकिन वास्तव में इस क्षेत्र में उलटा ही सम्बन्ध पाया जाता है, अर्थात् तिन लोगों के सामने किसी व्यावहारिक सामाजिक समस्या के हल निकालने का प्रश्न होता है वे प्रायः उनके लिए सामाजिक सिद्धान्त निकालने का प्रयत्न करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अधिकांश मामलों में सामाजिक सिद्धान्त सामाजिक अनुसन्धान का परिणाम होते हैं, अनुसन्धान सिद्धान्त की प्रयुक्ति प्रायः नहीं होता। उसके प्रभावों, विज्ञान की प्रक्रिया भी बहुत भिन्न होती है। सम्बन्धित व्यक्ति अपने विचार का प्रचार करने के लिए एक हो जाते हैं जिन्हें परम्परागत विचार या तो धीरे-धीरे स्वीकार कर लिया जाता है या बर्तान लागू कर दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक ज्ञान राजनीतिक प्रक्रिया से विकसित होता है जो लोगों के विचारार्थ विभिन्न समस्याएँ प्रस्तुत करती है और प्रस्तावित समाधानों को प्रस्तुत करना भी राजनीतिक समर्थन पर निर्भर रहता है। अब सामाजिक ज्ञान और प्रौद्योगिक ज्ञान का भेद केवल ऊपरी है, इस अर्थ में दोनों एक ही हैं कि वे उन लोगों के समर्थन पर निर्भर करते हैं जिन्हें उनमें दिव्यत्व होती है। फिर भी, दोनों प्रकार के ज्ञान का अन्तर्ग्रहण नहीं है। यदि प्रौद्योगिक क्षेत्र का वैज्ञानिक अपने समर्थकों को कोई ऐसा फार्मूला बेचना है जो इन अर्थ में भूला है कि वह तकनीकी दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होगा तो वह जल्दी ही पकड़ में आ जाता है। इसके विपरीत, सामाजिक क्षेत्र का वैज्ञानिक ऐसे नूतने फार्मूले देकर भी, जिनमें समाज का अवास्तविक चित्र सामने आता हो, उस रूप में बहुत अधिक सफल माना जा सकता है कि इनमें उनके समर्थकों अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं के पूरा करने में सहायता मिलती है। सिद्धान्त की बात यह है कि एक ओर जहाँ प्रौद्योगिक ज्ञान के विज्ञान का काम दिव्यत्व से रचने वाले पक्षों के ऊपर छोड़ा जा सकता है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक ज्ञान के विस्तार का काम मुख्य रूप से दिव्यत्व से रचने वाले पक्षों पर छोड़ना खतरनाक है। समाज की रचना में हमसे हर व्यक्ति का एक निहित स्वार्थ होता है जो सामाजिक समस्याओं के प्रति हमारे दृष्टिकोण को प्रभावित करता है। यह जिस प्रकार और लोगों के बारे में नहीं है उसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र के वैज्ञानिकों पर भी लागू होना है। जैसे, सामाजिक वैज्ञानिक अपने पक्ष में ईमानदारी बनाए रखने के लिए आचार संहिता का पालन करते हैं, जिसके अनुसार उन्हें तथ्यों को प्रस्तुत करने और उनका विवरण करने में अधिक-से-अधिक निष्पक्षता बरतने का प्रयत्न करना होता है। अब समाज के बारे में मूल्य की जानने और उसे आगे बढ़ाने का काम वे ही सामाजिक वैज्ञानिक सबसे अच्छी तरह कर सकते हैं जो उन समस्याओं में काम करते हैं जिनका

मर्च तैमे उपायो मे धलाया जाता है वि बैजानि स्वतन्त्रता अधुण बनी रहे ।

कम विकसित समाजो को अधिक विकसित समाजो मे प्रौद्योगिक आविष्कार लेने मे जिस प्रकार लाभ होता है उसी प्रकार उनके सामाजिक आविष्कारो वा अनुकरण करने मे भी होता है । भ्रष्टाचार वा अपेक्षाकृत मुक्त बुद्धि प्रशामनित सेवा, निरुन्धन अनिवार्य शिक्षा, मिट्टी की उर्वरता को बनाये रखने और पूँजी-निवेश को बढ़ावा देने वा न भूमि धारणाधिकार की प्रणाली तैमे ही आविष्कारो के कुछ उदाहरण हैं । एक दृष्टि मे देखा जाए तो यह पुस्तक ही उपयोगी सामाजिक आविष्कारो की एक सूची मानो जा सकती है । और, जिस प्रकार प्रौद्योगिकी के क्षेत्र मे अनुकरण करने समय मात्रावनी करने की आवश्यकता है, उसी प्रकार सामाजिक आविष्कारो के क्षेत्र मे भी है । कुछ सामाजिक आविष्कार कम विकसित देशो के वर्तमान विवाह-भ्रतर के उपयुक्त नहीं होते (उदाहरण के लिए व्यापक धरोहरगारी बीमा निश्चय के लिए उपयुक्त नहीं है), कुछ आविष्कार तैमे होते हैं जिन्हें हेर-फेर करने के बाद ही अपनाता चाहिए (जैसे, उन दोषो मे निजी उद्यम पर पूरा धरोहरा नहीं दिया जा सकता जहाँ निजी उद्यम का विकास नहीं हुआ है) और कुछ आविष्कार तैमे भी होते हैं जिन्हें अपनाता मतम्नाक होता है (उदाहरण के लिए, उन देशो मे परिवार भत्तो की अदायगी लागू करना जहाँ जनसंख्या पहले ही हर पच्चीस वर्ष मे दूनी हो जाती है) । प्रायः ऐसा लगता है कि कम विकसित देशो मे जिस प्रकार पूँजी वा प्राकृतिक साधनो की कमी है, उसी प्रकार सामाजिक विचारो वा भी अभाव है (और विचारो पर ध्यान करने वालो की भी कमी है) । इन समाज के अध्ययन पर मर्च करना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना ज्ञान की दूसरी शाखाओ के अध्ययन पर मर्च करना है ।

विशेषतः तैमे काम करने वा करने प्रभावशाली ढंग समझने है और अधि-पात्र ध्यवित वास्तव मे तैमे ढंग मे काम करने है । उनमे मर्च ही अन्तर पाया जाता है । ज्ञान वा विद्या ही आधारपत्त नहीं है ।

२. नये विचारो उमरा प्रकार और व्यवहार मे प्रयुक्ति भी बहुत की प्रयुक्ति महत्त्वपूर्ण है । ज्ञान की प्रयुक्ति की गति कुछ तो लोगो की नये विचारो के प्रति प्रभाव-शाल्यता पर

निर्भर होती है और कुछ हम बात पर निर्भर करती है कि नये विचारो को अपनाते और उनमे पायदा उठाने मे सम्पात कितना महत्त्व देने है । हम एक-एक करके इन दोनो मुद्दो पर विचार करेंगे ।

(क) नये प्रक्रिया के प्रति दृष्ट—नये विचार सबसे तेजी से उन समाजो मे अपनाए जाते हैं जिनमे लोग भिन्न-भिन्न वा अर्थो वा परिघोको करने गते

के सम्बन्ध होते हैं, और इन्हींके जिनका दृष्टिकोण उपजातवादी होता है। वैज्ञानिक सत्य को प्रोत्साहन देने वाली परिस्थितियाँ पर विचार करने समय (इस अध्याय के खण्ड १ (क) में) हम उन महत्त्वपूर्ण बातों पर पहले ही विचार कर चके हैं जो इस प्रकार की परिस्थिति का जन्म देती हैं। वहाँ हमने गणनीय और धार्मिक वास्तव पर और दिया या धीरे-धीरे भौतिक स्थिति का महत्त्व भी स्वीकार किया था जो अलग-अलग अलग-अलग धर्मों में लगे या मजहब के अनेक अलग-अलग भागों में रहने वाले लोगों में एकता पैदा करती है। जो दया अलग-अलग, मजहबीय, दम्भी और मतावादी होता है वह हम विचारों के सामने आने पर उन्हें उल्टे ही नहीं अपना पाता।

इस सामान्य पृष्ठभूमि के अलावा किसी नये विचार के अपनाए जाने की गति असाध्य स्वयं उस विचार पर निर्भर करती है। पहली बात तो यह है कि सभी नये विचार उपयुक्त नहीं होते, भले ही वे किसी दूसरे देश में बहुत अधिक उपयोगी रहें। उदाहरण के लिए, कोई नया बीज अर्द्ध-सोपान में बहुत अधिक उपज दे सकता है, लेकिन यदि मूल का उस पर बहुत अधिकृत प्रभाव पड़ता है तो यह उस स्थान के लिए उपयुक्त नहीं रहेगा जहाँ बीजों की मात्रा किसी मात्र के समान और किसी मात्र बहुत होती है। कोई नया विचार इसलिए भी अनुपयुक्त हो सकता है कि किसी अनाज-विशेष का प्रौद्योगिक स्तर अभी उनके अनुकूल नहीं है। उदाहरण के लिए, कोई नया औजार तब तक नहीं अपनाया जा सकता जब तक कि स्थानीय लुहार या मिर्ची उसे बना न सकें, या कम-से-कम उसमें टूट-फूट हो जाने पर उसकी मरम्मत न कर सकें। या यह भी सम्भव है कि किसी नये विचारों के अपनाए जाने के लिए पूर्वजगत उपकरणों में काफी परिवर्तन की आवश्यकता हो। उदाहरण के लिए, बहुत अधिक उपज देने वाला नया बीज अपनाए जाने से उत्पन्न अनाज को पीसने के लिए ऊँचे स्थानों की स्थापना करना आवश्यक हो सकता है, या उसे रखने के लिए नये खलिहानों या तो जाने के लिए परिवहन की उन्नत सुविधाओं की आवश्यकता पड़ सकती है। इसी प्रकार नये खादों का उपयोग तब तक स्थिति करना पड़ सकता है जब तक मूत्री जमीन में बिखाई करने के लिए फाँटे उपकरण न हो जाएँ। पुरानी प्रौद्योगिकी के साथ नये विचारों का मूल विज्ञान के लिए अन्तर यह आवश्यक होता है कि कारीगरों में कई प्रकार के परिवर्तन का पूँजी-निर्माण में हेर-फेर किये जाएँ। दूसरे देश में आने वाले विशेषज्ञों में और जिन लोगों को सहाय्य देने के लिए वह आया है, उनमें अन्तर होने का प्रायः यही मुख्य कारण है। विशेषज्ञ उन सभी परिस्थितियों की मानकर चलता है कि पर उसकी नवीन प्रक्रिया निर्भर करती है, हालाँकि उनके बारे में उनका कोई विशेष ज्ञान नहीं होता और न वे उसके अन्तिम में भाँड़ू होते हैं। लेकिन

जिग व्यक्ति का वह साराहस्ता है वह पौरुष समझ जाता है कि यह विचार उमका परिस्थिति में गणनापूर्वक काम नही करता या अगर वह तुरन्त नही भागमन्ता है तो ज्या-या उमका समझ में एक काल पर अधिनिर्णय वाधाएँ आता जाता है जिनका कारण यह कि परिणाम प्राप्त नही होना जाधार जगत् प्राप्त हुए हानि से त्याग-त्याग बन् निर्गम होता जाता है। एही स्थिति में यही भाव है कि विचारता तत्रत में काम के और जिग योग्यता का मन्त्रादी ही जा रहा है कि प्रयोग आरम्भ करने के लिए तैयार रह।

प्रौद्योगिक उत्पत्ति के अन्तर्गत नये विचार का प्रयुक्ति के दौरान सामाजिक परिवर्तन भा करने पर सन्नत है जिनका बजह से तब विचार का विराय हो सकता है। उदाहरण के लिए मजूर के फल से तब निकालने का कल्याण मित स्थापित करने से तब का उत्पादन होता या जाता है जिन मित म्या पित करने के फलस्वरूप पश्चिमा अफ्रीका के किसानों का पत्निया का वह अनिश्चित आम्ना गमाएँ हो जाता है जो उन्हें अपने पत्निया के लिए तब निकालने का स्थिति में मितना है और इमार्ग के वह जार के साथ मगना विराय करता है मित स्थापित करने से पति और पत्नी के बीच श्रम के विभाजन में भा परिवर्तन आ जाता है और इस प्रकार के किसान परिवर्तन के वह दूरगामा और अन्त परिणाम होत है। यह भा सम्भव है कि नवान प्रक्रिया में ममाज के उन गाँव वर्गों का हानि पक्ष जो किहा विराय तगका में उत्पादन करने अपना जाविकावमा रह है। एक वर्ग के तब नवान प्रक्रिया का विराय करत है। उदितान एसा हो गया था और उनके व्यवहार के अनवरण करने हुए आज हर समुदाय के श्रमिक या पूजापति या भूमिवासी उन परिवर्तन के विरुद्ध मताग्रह करत है जिनमें उनका विराय स्वार्थी का हानि पक्ष के सम्भावना है। एत उन समुदायों में तब प्रक्रिया आमाना में तब नही का जा करत जहाँ स्थापित आमाना के प्रति सत्य भावता पाई जाता है यह उन स्थानों में मुभीन के साथ तब हो जाता है जहाँ प्रक्रियागिता का पसा किया जाता है और जहाँ एकाधिकार पक्ष करने का वनाएँ रखने के प्रयत्न का निष्पत्तापूर्वक कचन किया जाता है।

यदि प्रवर्तित निपटारा या पारिस्थिक गिदनाता से प्रत्येक विराय हो ता भा नवीन प्रक्रिया तब हाना बन्ति होता है। एसा परिस्थिति में नया विचार पहल-पहल प्राय एम पारिस्थिक जाताय या गजनातिक सत्यमन्त्र समुदाय आमानाया जाता है जिनके सिंघामा के साथ तब विचार का विराय नही होना तब विचार का आरम्भ बन्गुपन समुदाय के निराय या बहुमत विराय सत्य ही वह मताग्रह को भा आमाना पारिस्थिक बन्ने का एक साधन मान करत है। यह भा एक कारण है कि विराय प्राय तब तब के प्रयत्न में तब होता



जिनके हाथ में सत्ता है, बल्कि उनके प्रयत्नों के विरोध-स्वरूप होता है।

बहुत-कुछ इस पर भी निर्भर करता है कि विचार का श्रेयणेश कौन लोग करते हैं। यदि समाज के प्रभावशाली सदस्य श्रेयणेश करें तो नगण्य लोगों द्वारा आरम्भ किये जाने की अपेक्षा इस स्थिति में इनके अपनाए जाने की सम्भावना अधिक होती है। कुछ समाजों में सत्ता-सम्पन्न लोग प्रभावशाली माने जाते हैं—मुखिया, वयोवृद्ध, पुरोहित, मजिस्ट्रेट और अमीर लोग—और नवीन प्रविष्टा लागू करने वाले को सबसे पहले इन सत्ता-सम्पन्न लोगों की सहमति प्राप्त करनी होती है। अफ्रीका में अत्यन्त शान्त स्थापित करने में ब्रिटेन के लोगों को शायद एक सहूलियत यह भी हुई, एक बार मुखिया और वयोवृद्ध लोगों को राजी कर लिया गया, उनके बाद उन्होंने खुद लोगों को बता दिया कि उन्हें क्या करना है और नया विचार सर्वत्र अपना लिया गया, उसके विपरीत अधिक प्रजातान्त्रिक समाजों में नये विचार बड़ी कठिनाई में अपनाये जाते हैं। कुछ समाजों में शान्त वर्ग और शान्ति के बीच सम्बन्ध अच्छे नहीं होते, सम्भव है पुराने शान्त प्रभावहीन हो गए हों और वास्तविक महत्त्व हमारे लोगों को प्राप्त हो। नये विचारों को फैलाने वाले लोगों का पहला काम यह देखना होता है कि कार्य कहीं भी शुरू किया जाए। विदेशियों के प्रभाव में भी बहुत अन्तर पाए जाते हैं। यदि वे धनी और शक्तिशाली शान्त-वर्ग के रूप में जन्म चुके हों तो लोग शायद उनका अनुकरण करना चाहेंगे और शान्त-वर्ग के विचार जल्दी फैलेंगे। लेकिन यह भी सम्भव है कि प्रतिस्ताम्राज्यवादी कारणों से लोगों के मन में विदेशियों के प्रति घृणा की भावना हो, या नीच जाति का होने के कारण उन्हें हेय समझा जाता हो और उनके कुछ या सभी विचार जान-बूझकर ठुकरा दिए जाते हों। व्यवहार में, आज विदेशी ही नये विचारों को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाने के सबसे बड़े माध्यम हैं, चाहे उनका प्रभाव व्यक्तिगत हो, या उनके लेखों, फिल्मों, रेडियो कार्यक्रमों, या विदेश जाने वाले विद्यार्थियों और अन्य पर्यटकों के माध्यम से पटना हों।

(ख) ज्ञान और लाभ—नये ज्ञान को अपनाने और उत्पादन में प्रयुक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि वह लाभप्रद हो और माधु ही अभिनव भी हो। ज्ञान प्राप्त करने में मेहनत पड़ती है और उसकी प्रयुक्ति के लिए अतिरिक्त माधुनों और अतिरिक्त जीविम उठाने की इच्छा की आवश्यकता होती है। अतः ज्ञान की प्रयुक्ति के लिए साम्प्रदायिक रचना ऐसी होनी चाहिए जो प्रयत्नों के भेद के साथ पारिश्रमिक में भी भेद रख सके। सामान्य रूप में हम अर्धमास तीन में ही इस पर विचार कर चुके हैं। यहाँ ज्ञान की प्रयुक्ति के विभिन्न प्रसंग में साम्प्रदायिक आवश्यकताओं पर कुछ बतल कहने ही पर्याप्त होंगे।

मुख्य बात यह है कि कुशलता, उत्तरदायित्व और जोखिम उठाने की भावना के अन्तर्गत के अनुसूच पारिश्रमिक में भी अन्तर होना चाहिए। व्यवहार में, इन चीजों के लिए पारिश्रमिक में अन्तरों की सीमा आर्थिक विकास की मात्रा और गति के अनुसार घटती-बढ़ती है। जिन समाजों में प्रति-व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि नहीं हो रही होती वहाँ कुशल लोगों की माँग की अपेक्षा उनकी सपनाई अधिक होती है। सभी योग्यता-प्राप्त व्यक्तियों के लिए काम देना कठिन होता है और कुशलता के अनुसूच अदायगियाँ में बाड़ ही अन्तर पाए जाते हैं। विकास आरम्भ होान पर यह स्थिति नहीं रहती। आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की कुशलता वाले लोगों की माँग तेजी से बढ़ती है। विकास के साथ विशेषज्ञता में भारी वृद्धि होती है और उसी के साथ-साथ कौशल के प्रकार भी अनेक होते जाते हैं। इससे समन्वय की आवश्यकता बढ़ती है फल या दूरमें आर्थिक एकक का प्रोत्साहन बढ़ना है और पर्यवेक्षण और प्रशासनिक अमले की माँग में वृद्धि होती है। इस प्रकार अन्य वर्गों की तुलना में 'मध्यम' वर्ग तेजी से बढ़ते हैं। इस प्रक्रिया में कुशल और अनुसूच, माधुर और निरक्षर, पर्यवेक्षक और पर्यवेक्षितों के पारिश्रमिकों के अन्तर बढ़ने लगते हैं। यदि अधिक उन्नत देशों से कुशल लोगों को लाकर भरती करने की जरूरत पड़े तो यह प्रक्रिया और भी तेजी से होती है। कारण यह है कि बाहर से लाए जाने वाले लोगों को उच्च अपन देना में मिलान वाले वेतनों से भी अधिक वेतन देने होत है और इसके साथ ही देशी कुशल व्यक्तियों को और से अधिक पारिश्रमिक की माँग की जाने लगती है जो रिमाओं या अनुसूच मजदूरों की अपेक्षाओं के मुकाबले अनुपात से वही अधिक होती है। इस प्रकार, इन अवस्था वाले समाजों में कम विकसित और अधिक विकसित दोनों प्रकार के समाजों की अपेक्षा पारिश्रमिकों में अन्तर अधिक होते हैं। इस के वर्तमान ऊँचे अन्तर इसका उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

जैसे ही शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओं के विस्तार से ऊँचा प्रतिशत पाये हुए लोगों की मात्रा बढ़ती जाती है यह स्थिति अपने-आप ठीक होने लगती है। अनिवार्य शिक्षा के लागू होने से मात्र साक्षरता के आधार पर मिलने वाला अधिक पारिश्रमिक समाप्त हो जाता है। तकनीकी स्कूलों और निष्पत्ता के प्रवन्धों से बढ़दणों, मिस्त्रियों, इमारत बनाने वाला और दूरमें प्रकार के शिक्षियों की सपनाई बढ़ जाती है। माध्यमिक स्तरों से अनेक टाइलकार, कर्मक, अध्यापक और भिन्न भिन्न प्रकार के व्यक्तिगत महाकर्म तैयार होकर निकलने लगते हैं और विश्वविद्यालयों से उच्चतर स्तर के लिए आवश्यक साम्य काफी महत्ता में मिलने लगते हैं। जैसे-जैसे सपनाई बढ़ती जाती है पारिश्रमिक के अन्तर कम होने जाते हैं। अन्तर अधिक होने से मशीनों के

प्रयोग को भी बढ़ावा मिलता है। जिन कामों के लिए पहले कुशल आदमियों को आवश्यकता होती थी उनके लिए मशीनों का उपयोग होने लगता है और इन मशीनों को चलाने के लिए कम कुशल और कम मजदूरी वाले लोग रख लिए जाते हैं। इसके अलावा मशीनों में भी मजदूरों पर परिवर्तन हो सकते हैं। शुरू में अपनी आमदनियाँ बढ़ाने के लिए अतिरिक्त कुशल श्रमिकों को मजदूरों से और व्यावसायिक मजदूर बनाने हैं। लेकिन धीरे-धीरे सभी प्रकार के श्रमिकों के मध्य बन जाना है और यदि कुशल लोग नयी मशीनों पर काम करने वाले अकुशल लोगों से मजदूरी बचाने में ना वे स्वयं अकुशल लोगों के मजदूर बना देते हैं और कुशल और अकुशल दोनों के पारिश्रमिकों के बीच अतिरिक्त अन्तर नहीं होना देते। इन्हीं मजदूरों में नयी प्रकार विद्यमान शिक्षा सुविधाएँ वाले जनन देना में पारिश्रमिकों के अन्तर अतिरिक्त नहीं पाए जाते। इनमें सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन भी पैदा होता है, क्योंकि मजदूरों को जो बात से अनजानुष्ट अनुभव करते हैं कि आर्थिक मोचन में उनकी स्थिति गिरती जा रही है।

वहल-कुशल नयी उद्यमकर्ताओं को आमदनियों के मानद में भी होता है। विज्ञान के आरम्भिक चरणों में नये कामों में जोखिम उठाने में लोग बहुत चतुर होते हैं। भूमि, व्यापार, महात्नी और शहरी आवास-निर्माण पर आसानी से रफ़ा लगाता चला जाता है। लेकिन देशी पूँजीपति जब तक उस बात से आश्वस्त नहीं हो जाते कि लाभ बहुत अधिक मिलेगा, तब तक न्यानो, लोकोपयोगी सेवाओं, वाणिज्यिक वेत्ती या विनिर्माण में पैसा लगाने के लिए तैयार नहीं होते। यह बात भी है कि उन्हें नये कामों के बारे में जानकारी थोड़ी होती है। तब से धीरे-धीरे विदेशियों के हाथ में रह जाते हैं जो उत्पादन और मजदूरों को नयी टेक्नीकें भी साथ लाते हैं, और जिनके आकर्षण का मुख्य कारण उनका यह विश्वास होता है कि अपने देश की अपेक्षा उस नये देश में पूँजी लगाने से वे बहुत अधिक लाभ कमा सकेंगे। विज्ञान के आरम्भिक चरणों में राष्ट्रीय आय में लाभों का अनुपात बढ़ता जाता है, और इसी के साथ-साथ बचत भी बढ़ती है (अध्याय ५ में उस प्रक्रिया का बताना किया गया है)। विदेशी उद्यमकर्ताओं का अनुकरण करने-करते ऐसी स्थिति आ जाती है जब देशी उद्यमकर्ताओं की संख्या इतनी अधिक हो जाती है कि अर्ध-स्वयंशासन की विदेशी उद्यमशीलता पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। उनके परम्परागत आर्थिक स्वाधीनता की स्थिति पैदा होती है, और बाद में वह देश स्वयं पूँजी और उद्यमकर्ताओं का निर्यात करने लगता है।

जब के क्षेत्र से पर, जो पारिभाषिक प्रणाली के आधार पर चलाने जा सकते हैं आर्थिक विकास तब तब अत्यन्त मन्द रहता है तब तक नये विचारों

की सोजने का उह लागू करने के जोरियों को उठाने के लिए तत्पर उद्यम-कर्त्ताओं की मालाई काफी न हो। अतः निजी उद्यम की अर्थ-व्यवस्था तब तक प्रगति नहीं कर सकती जब तक कि उसमें व्यवसायी काफी मख्या में उपलब्ध न हो या उनमें जोरिय उठाने की भावना पर्याप्त न हो क्योंकि या तो वे पूँजी इकट्ठी न कर सकते हैं, या स्वभाव से ग्राहमहीन हो, या जोरिय की मात्रा के साथ-साथ पारिश्रमिक में उचित अन्तर न हो। उदाहरण के लिए, हमन हम अध्याय के आरम्भ में कहा था कि अनेक लोग ब्रिटेन और अमरीका की तुलना करते हुए यह कहते हैं कि ब्रिटेन में नवीन प्रतियोगियों की अवनति की गति अचानक धीमी है। हम प्रश्न में हमन कहा था कि यह आश्चर्य की वमी के कारण नहीं है, क्योंकि नयी वस्तुओं और प्रतियोगियों के आविष्कार में ब्रिटेन भी काफी आगे रहा है। यदि कोई वमी है तो वह नयी वस्तुओं की अद्यतन की स्थिति तब पहचाने के प्रयत्नों की गति में अन्तर है। यह वमी अनुसंधान की नहीं बरि उद्यमशीलता की है जिसका परिणाम यह है कि वमी कारणवश ब्रिटेन के उद्यमकर्त्ता नये आविष्कारों का उपयोग करने में उतने धुरमीले नहीं हैं जितने उनके अमरीकी साथी हैं।

उद्यमकर्त्ताओं की नवीन प्रतिया अवनति के लिए बढ़ावा देने बातों में मिलता है—सामाजिक गणतन्त्र की इच्छा में मोटे लाभ कमाने की आशा में, या नवीन प्रतिया न अवनति करने पर भारी ज्ञानि हानि के भय में। इनमें से पहले प्रेरक का प्रभाव उन समाजों में कम होता है जहाँ व्यावसायिक गणतन्त्र की विशेष ऊँची दृष्टि में नहीं देखा जाता, दूसरा प्रेरक उन समाजों में महत्वहीन है जहाँ लाभों और पूँजीगत फायदों पर भारी कर लगाए जाने हैं, और तीसरा प्रेरक उम स्थिति में समाप्त हो जाता है जब अध-व्यवस्था का सामाज्य वातावरण प्रतियोगितात्मक के स्थान पर एकाधिकार-प्रधान बन जाता है। यदि यह गही है कि अमरीकी उद्यमकर्त्ताओं की अवनति ब्रिटिश उद्यमकर्त्ताओं में उद्यमी है—हम ध्यान देना भी नहीं है—तो हमका समाधान उपर के किन्हीं प्रेरक तत्त्वों में ढूँढा जा सकता है।

बीजपी मतान्दी के मध्य में आर्थिक विभाग की उन्मट इच्छा लेकर उठने वाले अनेक कम विकसित देश 'मध्य' वर्गों और किसानों, विदेशियों और देशी लोगों, या लाभों और दूसरी आमदनियों के बीच आय की अगमानता की समस्या में परेशान हैं। बात यह है कि आज का वातावरण सामाज्य आय अन्तरों, और विशेषकर विदेशी आय अन्तरों, और अन्त अवनति में मोटे लाभों के विपरीत है। वैसे, ये विभाग की बीजपी का भाग हैं। हम समस्या में निबटने का एक उपाय सोचते हैं कि विभाग की गति पर अन्त लगा दिया जाए और उनका ही विभाग होने दिया जाए जिसका देश के अन्त लोगों की समस्या में विभाग

जा सके, और जहाँ तक सरकार निजी उद्यमशीलता का स्थान ग्रहण कर सके। दूसरा उपाय यह है कि इन अन्नरो को अधिक द्रुत विकास का अन्यायी मूल्य मान लिया जाए। दोनों ही परिस्थितियों में सबसे प्रभावशाली उपाय अधिक-से अधिक तजी से ऐसे कृषाल लागू को तैयार करना है जिन पर विकास सर्वाधिक निर्भर है, क्योंकि इनसे विकास की सम्भावना भी बढ़ती है और अन्नमान का मूल्य भी कम-से-कम चुकाना पड़ता है।

(क) अन्नरो—आर्थिक विकास के दौरान सभी स्तरों पर शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ बढ़ाने की बड़ी आवश्यकता पड़ती है। प्राथमिक शिक्षा की मांग में वृद्धि हो जाती है जिसका अन्तिम लक्ष्य यह होता है

३. प्रशिक्षण कार्य-क्रम कि स्कूल जान वाली अवस्था में हर बच्चे को अनिवार्य शिक्षा मिलनी चाहिए। स्वयं माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य में ही, या विश्वविद्यालयों के लिए विद्यार्थी तैयार करने की दृष्टि से, या मजिदों, अध्यापकों, या तकनीकी सहायकों के प्रशिक्षण के लिए विद्यार्थी तैयार करने की दृष्टि से अधिकाधिक माध्यमिक स्तरों की उन्नत पड़नी है। शिल्पियों, कृषि-सहायकों, अध्यापकों, नर्सों, मजिदों और मिल्डियों के लिए अनेक प्रकार की प्रशिक्षण-सुविधाएँ जुटानी पड़नी हैं। इन संस्थानों के क्षेत्र से परे वयस्क शिक्षा का क्षेत्र है जो साक्षरता आन्दोलनों या कृषि-वित्तार से लेकर साक्षर बनाने वाली कक्षाओं तक फैला होता है। और सारी शिक्षा-प्रणाली के ऊपर ज्ञान की लगभग हर शाखा में विश्वविद्यालय के स्तर पर लोगों को प्रशिक्षण देने की आवश्यकता होती है।

इन सभी सुविधाओं की 'उचित' व्यवस्था करना किन्हीं कम आय वाले देश के बजट की सामर्थ्य से बाहर होता है। अतः इनमें से कुछ को चुनना पड़ना है। थोड़े-से अच्छी प्रकार प्रशिक्षित लोग तैयार करना ठीक रहेगा, या अनेक बयस्क और प्राथमिक, या मानव-ज्ञानश्रेणी और प्रौद्योगिकीय के बीच क्या अग्रताएँ निर्धारित करनी होंगी ?

पहले अग्रताओं के प्रश्न को लें। शिक्षा के बारे में एक कठिनाई यह है कि यह उपभोग की वस्तु भी है और पूँजी-निवेश भी। पूँजी-निवेश के रूप में इन्हें उत्पादन-वृद्धि में प्रत्यक्ष योगदान मिलता है। ऐसे भी देश हैं जिनमें नैतिक, पारमिक, जाति या विरादरी की वर्तमान सत्ता को हानि पहुँचाने की सम्भावना होती है। लेकिन अधिकांश देशों को यह निर्णय करने में अधिक कठिनाई नहीं होती कि उत्पादन में प्रत्यक्ष वृद्धि करने वाली सभी शिक्षा-सुविधाएँ जितनी बढ़ायी जा सकें अच्छा है, क्योंकि इन सुविधाओं पर खर्च को

जाने वाली राशि उभों प्रकार का पूँजी-निवेश है जैसा कि सिन्दार्द की सुविधाया म किया जाता है। कठिनार्द तब पैदा होती है जब हमें शिक्षाया के उन प्रकारा के बीच अन्तर करना होता है जिनमे उत्पादन की अपथा धानन्द म वृद्धि अधिक होती है। माधरता इसरा उदाहरण है। समुदाय के कुछ लोगों के लिए साधर हाना आवश्यक है, अन्यथा वे अपना काम नहीं कर सकन। लेकिन अधिकतर किमाना, कुलियों नदिया या घरेलू नौकरा को साधर बनाने पर जिनना सर्व माएगा उम हिमाव स उनकी उत्पादकता म वृद्धि नहीं होगी। इन सब लागूा के लिए शिक्षा की माँग पूँजी-निवेश के रूप म नहीं बल्कि उपभोक्ता पदाय के रूप में की जाती है कयाकि हम समझते हैं कि हमसे उन्हें कुछ चीजा (पुस्तकें, अन्नवार) का अधिक धानन्द देने, या कुछ कामा को और अच्छे ढंग से करन म सहायता मिलेगी। (यह नहीं कि इससे वे निरचय ही अधिक सुख अनुभव करेंगे, हाँ, उनके मानव-गुणों म वृद्धि अवश्य हो जाएगी)। धार्मिक दृष्टि से वह शिक्षा, जो लाभप्रद पूँजी-निवेश नहीं है, उसी प्रकार का उपभोक्ता पदार्थ मानी जाएगी जैसे कपड़े, मकान या फ्रामोफोन हैं। समुदाय के हर आदमी की मभी तरह की आवश्यकताया को पूरा करने की मामध्य राष्ट्रीय आय मे नहीं होती।

जिन दिनों शिक्षा निशुल्क अनिवाय और राष्ट्रीयकृत नहीं थी तब हर परिवार स्वयं इन समस्याओं को मुनभाता था, और अपनी आमदनी, अपने निवेश-आयंश्रम और दूसरी आवश्यकताओं को देखते हुए जितना सब कर सकता था निजी अप्यापकों से शिक्षा दिलाने पर सर्व करता था। कयोकि अधिधित लोग शिक्षा के फायदे और नुकसानो के बारे में ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते, अतः परिवार द्वारा लिये गए निर्णय गलत होते थे। आयद के शिक्षा के महत्व को पूरी तरह नहीं भाँक पाते थे—जो भी हो, ऐसे समुदायों में कुल जनसम्या को देखते हुए शिक्षा पाने वाले लोगों की संख्या बहुत थोड़ी होती है। लेकिन आजकल शिक्षा सार्वजनिक सेवा के रूप में उपलब्ध है, और इसीलिए इसके बारे में लिये गए अधिदान निर्णय सार्वनीतिक चर्चा का विषय होने हैं।

शिक्षा सम्बन्धी अप्रताओं के बारे में राजनीतिक विचार बदल रहे हैं। पचाम वर्ष पहले अधिदान राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञा का और माधरता के विस्तार पर था, शिक्षा-सम्बन्धी नीति का सबसे मुख्य उद्देश्य स्कूल जान योग्य आयु के सभी बच्चों को शिक्षा दिलाना था। शिक्षा को मुख्य रूप से उपभोक्ता सेवा माना जाता था, कुछ शिक्षा उत्पादन बढ़ाने में भी सहायक हो जाती थी, लेकिन उत्पादन पर कोई भी प्रभाव हो, समुदाय को साधर बनाना राष्ट्रीय औरक की वस्तु ममभी जाती थी। आजकल अप्रताएँ बदल रही हैं, और पूँजी-

निवेश के प्रकार की शिक्षा पर अब जितना जोर दिया जा रहा है उनका पहले कभी नहीं दिया जाता था। उदाहरण के लिए, अनेक देशों में वृषि-विस्तार-सेवाओं और तकनीकी समस्याओं के द्रुत विस्तार पर काफी पैसा खर्च किया जा रहा है। साथ ही वयस्क शिक्षा भी महत्वपूर्ण बनती जा रही है। आज ऐसे भी शिक्षाशास्त्रों हैं जिनका कहना है कि वर्तमान स्थिति में बच्चा की अपेक्षा उनके माता-पिताओं को पढ़ाना अधिक उपयोगी है। कहा जाता है कि बच्चे जो-कुछ स्कूल में सीखते हैं वह घर आन पर अपन प्रजानी माता-पिताओं की सहायता के कारण या तो भूल जाते हैं या उसकी उपेक्षा कर देते हैं और पाँच या छ माल तक अनिवाय शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद स्कूल छोड़ने के तान वषों के अन्दर ही बहुत से बच्चे पटना मूल जाते हैं। इसके विपरीत, यदि माता-पिताओं को पढ़ना सिखना सिखाया जाए तो उनके बच्चे भी किसी-न किसी रूप में पढ़ लिख जाएँगे और माता-पिताओं को अपन कारखानों या फार्मों पर बैठे-बैठे ही उत्पादकता में सुधार करने के तरीके सिखाए जा सकने हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि साक्षरता पर इतना अधिक जोर देना बेकार है, लोगों को अपने परिवारों का अधिवाधिक लान उठाना सिखाना चाहिए—उन्हें प्रति एकड़ उपज बढ़ाने के तरीके सिखाने चाहिए, या शिल्प-शिक्षा देनी चाहिए, या शिशु-पालन या पोषाकें तैयार करना बताना चाहिए। यह उपयोगी भी अधिक है और लोगों को साक्षर बनाए बिना ही सिखाया जा सकता है।

उच्चतर शिक्षा-सम्बन्धी दृष्टिकोणों को लेकर भी इसी प्रकार का वाद-विवाद उठाया जा रहा है। विद्यार्थी विश्वविद्यालय के स्तर की शिक्षा को पूंजी-निवेश समझते हैं, उसे उच्चतर सामाजिक स्थिति और अपेक्षाकृत अधिक आय कमाने का साधन माना जाता है। वकीलों की हैसियत ऊँची होने से, और अधिकार सफल वकीलों की आमदनी बहुत अधिक होने से, कानूनी शिक्षा लेने वाले विद्यार्थी अनुपात से वहीं अधिक संख्या में पाए जाते हैं। यह भी एक कारण है कि अधिकार बहुत कम आमदनीयों वाले देशों में वकीलों की संख्या बहुत अधिक होती है, और विश्वास किया जाता है कि कुछ वकील जाँचका कमाने के लिए गन्दी हरकतें भी करते हैं। जिन देशों में विश्वविद्यालय-स्तर की शिक्षा व्यापक पैमाने पर उपलब्ध है वहाँ कानून का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की संख्या इतनी अधिक होती है कि अनेक विद्यार्थियों को दूसरे उपायों में दाखिला लेना पड़ता है। यदि इसके साथ ही समुदाय का आर्थिक विकास नहीं हो रहा होना है और इंजीनियरों, वैज्ञानिकों, या डाक्टरों की माँग नहीं बढ़ रही होती है, तो देश के अन्दर कला-मवाय के स्नातकों की बाढ़ आ जाती है। ये स्नातक जो भी काम मिले करने के लिए विवश हो जाते हैं और अल्प-अल्प दिग्दर्शन देते हैं, जिससे राजनीतिक आन्दोलन को बढ़िया मजाल

मिलता है, क्योंकि अपनी उच्चतर शिक्षा को देगने हुए अपना वेतन या जे सामाजिक स्वयंसेवा इन्हे अपने योग्य जँचती है मिल नहीं पाती ।

विश्वविद्यालय की शिक्षा उपभोक्ता पदार्थ मानी जाए या पूँजी निवेश यह सामाजिक दृष्टि से उक्त शिक्षा की माँग और सम्पदा पर निर्भर करता है । उन कम धामदनी वाले देशों में, जहाँ प्रतिव्यय बड़ी सख्या में कला-मनातक निकलते हैं, जिनके लिए काम मिलना सम्भव नहीं है विश्वविद्यालय की शिक्षा मुख्यतया उपभोक्ता-सेवा ही है और इसका समर्थन नहीं किया जा सकता । समर्थन करने का कारण यह है कि विश्वविद्यालय के मनातक को प्रशिक्षित करने पर इतनी लागत बैठती है कि यदि शिक्षा को उपभोक्ता-सेवा ही मान लिया जाए तो थोड़े-थोड़े लोगों को विश्वविद्यालय की शिक्षा देने की बजाय करो की धाम से अधिक प्राथमिक स्कूल या अधिक माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था करना अधिक उपयुक्त होगा । जिन देशों में प्राथमिक विद्यालय काफी तेजी से बढ़ रहे हैं वहाँ की बात दूसरी है । इन स्यातों में डॉक्टरों, इंजीनियरों, जीवशास्त्रियों, प्रशासकों और विश्वविद्यालय के सभी प्रकार के विद्यार्थियों के लिए माँग बराबर बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि प्राथमिक शिक्षा बढ़ाने से भी विश्वविद्यालय से निघने विद्यार्थियों की माँग बढ़ती है । क्योंकि प्राथमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों की सख्या बढ़ाने के लिए प्राथमिक स्कूलों के अध्यापकों की सख्या बढ़ानी पड़ती है, प्राथमिक स्कूलों के अध्यापकों की सख्या बढ़ाने का धर्म यह है कि माध्यमिक स्तर के विद्यार्थी अधिक तैयार किये जाएँ, इनके लिए माध्यमिक स्कूलों के अध्यापकों की सख्या बढ़ानी होती है, जिससे विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की माँग बढ़ती है, प्राथमिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालय की शिक्षा एक विरामिड की भाँति है जिसके सभी स्तरों का बारी-बारी से विस्तार होना आवश्यक है । यदि कोई निधन देगा, जिसके केवल दस प्रतिशत बच्चे ही प्राथमिक शिक्षा पा रहे हों, एक विश्वविद्यालय बनाने पर काफी पैसा खर्च करता है तब यह 'मगगति' कोई समगति नहीं माननी चाहिए ।

बढ़ते-बढ़ते हुए धनों का धाम प्रभाव शिक्षा-सम्बन्धी बजटों में निर्धारित की गई धनताओं पर पड़ता है । पक्का गान पढ़ने मुख्य और प्राथमिक शिक्षा पर या, लेकिन आज धनेक बजटों में उच्चतर शिक्षा, सक्नीकी शिक्षा, या बपरत शिक्षा (कृषि-विस्तार गति) पर अधिक जोर दिया जाता है । धने-मान प्रवृत्ति इन शिक्षाओं को पूँजीगत लक्ष्य के रूप में समझने की है, और इनको सर्वोपरि धनता दी जाती है, जबकि प्राथमिक शिक्षा को धरों लिए धन जुटाने में सड़कों, स्वास्थ्य और सरकार द्वारा दी जाने वाली दूसरी सुविधाओं के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती है ।

भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षाओं की धनता के प्रस के धनता हर तरह की



शिक्षा की कोटि का प्रश्न भी समझने आता है। प्राथमिक शिक्षा सभी बच्चों का पाठ्यक्रम तब दी जाए या उनमें से केवल धार्मिक बच्चों को दस वर्ष तक दी जाए? क्या प्राथमिक स्कूलों के सभी अध्यापक माध्यमिक शिक्षा और उसके बाद दो वर्षों का विशेष प्रशिक्षण पाये हुए लोग हान चाहिये—इन तरह के सोंगों की मर्यादा कम ही होगी—या छोटे-छोटे पाठ्यक्रम प्राप्त किये हुए ऐसे अध्यापकों की संख्या तेजी से बढ़ाई जाए जो लिपि-गणना और हिमाव न तीन ही बातें जानते हों लेकिन जो प्राथमिक स्कूल-प्रणाली के द्रुत विस्तार में महत्वपूर्ण हो सकते हों? मस ने कोटि की अपेक्षा संख्या को अधिक महत्व दिया और अल्पशिक्षित अध्यापकों, कृषि-महापकों, दन्त-चिकित्सा महापकों, चिकित्सा-महापकों और इसी प्रकार के अन्य लोगों की संख्या में बहुत तेजी से वृद्धि की। एसा करने के पक्ष में दो तर्क दिये जाते हैं। इनमें से अधिक प्रबल तर्क गति में सम्बन्धित है। लोगों को अपने शिल्प के उच्चतम स्तरों का प्रशिक्षण देने के लिए समय और खर्च दोनों अधिक चाहिये। अतः यदि केवल पूरी तरह योग्यता-प्राप्त व्यक्तियों को ही काम करने दिया जाएगा तो अधिकतर जनसंख्या को किसी प्रकार की दन्त, डाक्टरी, कृषि या शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ नहीं मिल पाएँगी, जबकि यदि अल्पशिक्षित लोगों की सेवाएँ चलाने शुरू की जाएँ तो लोगों को वहीं अधिक राहत मिलेगी। दूसरा तर्क यह है कि पूरी तरह प्रशिक्षित लोगों द्वारा किये जाने वाले अधिकांश काम अल्पशिक्षित लोग भी उतनी ही खूबी से साथ कर लेते हैं। अतः यदि इस बात पर जोर दिया जाय कि केवल पूरी तरह प्रशिक्षित लोग ही काम करें तो यह औद्योगिकी बर-बादी होगी। इसके विपरीत मुख्य राजनीतिक तर्क राष्ट्रीय गौरव पर आधारित है। कई देशों में जब अल्पशिक्षित लोगों को भी काम करने देने का प्रस्ताव किया गया तो वहाँ के मनाचार-पत्रों और राष्ट्रवादी राजनीतिकों ने इसे बर्ह कहकर टुकरा दिया कि राष्ट्रीय गौरव को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है कि "हमारे डॉक्टर (अध्यापक आदि) भी उतने ही योग्य होने चाहिये जितने कि इंग्लैंड के हैं"—या किसी अन्य उन्नत देश के हैं जो वहाँ आदर्श देश माना जाता हो। व्यवसायी संघ भी इसका विरोध करते हैं, लेकिन यदि राष्ट्रीय गौरव का प्रश्न खड़ा न कर दिया जाए तो शायद इनका प्रभाव अधिक न होगा।

इस बात को लेकर भी लोगों की राय बदल रही है कि किसी औद्योगिकी सिद्धान्त में विद्युत्ता समय लगता है। व्यावसायिक संघों और मजदूर संघों के प्रभाव के कारण अब तक शिक्षण और प्रशिक्षण की अपेक्षाओं उम्मीद रखने पर ही जोर दिया जाता रहा है। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान, जब संकलता के लिए गति का महत्त्व सबसे अधिक था, यह पता चला कि अब तक जिन कामों को संभालने पर जाती समय लगाया जाता रहा है उसके चौपाई

समय में ही उन कामों की मुख्य-मुख्य बातें सीखी जा सकती हैं। युद्ध के दौरान जल्दी-जल्दी प्रशिक्षण देने के लिए नयी-नयी टेक्नीकें विकसित की गईं जिनमें सर्वाधिक समतुल्य परिणाम तो सापेक्ष साधारण बर्तन और विद्वानों भाषाएँ सिखाने के क्षेत्रों में उपलब्ध हुए, लेकिन शिल्पियों और मिश्रियों को प्रशिक्षण देने के लिए अपेक्षित अवधि को छोटा करने के मामले में भी काफी उपयोगी परिणाम सामने आए। जिन स्थानों पर बुद्धि लोभों की कमी के कारण विकास में ग्राह्यता आ रही हो वहाँ इन पद्धतियों को अपनाकर लाभ उठाया जा सकता है।

प्रशिक्षण-वायत्रमों पर व्यवसायों के नियंत्रण को समाप्त करने का एक और परिणाम यह हुआ है कि अब शिक्षा मुख्य रूप से व्यवसायों पर ही निर्भर नहीं है। 'सार्वजनिक शिक्षा' वायत्रम इस सिद्धान्त पर चलाए जाते हैं कि हर आदमी जो कुछ सीखता है वह दूसरों को भी सिखाए और व्यापक व्यक्त साक्षरता-आन्दोलनों के लिए ऐसी नयी टेक्नीकें विकसित की गई हैं जिनमें अपेक्षाकृत थोड़े ही प्रशिक्षित अध्यापक अपने पढ़ाये हुए विद्यार्थियों की उत्तुंगता के रूप में आश्चर्यजनक परिणाम दिखाने में हैं। इन व्यक्त शिक्षा-आन्दोलन की सफलता का रहस्य विद्यार्थियों के अन्दर उगाए जायने में है— आन्दोलन चाहे साक्षरता के क्षेत्र में हो, कृषि के क्षेत्र में हो, सिगु-आलन के क्षेत्र में हो या चीनी साहित्य के अध्ययन से सम्बन्धित हो। उगाए पैदा हो जाने पर विद्यार्थी विषय के अध्ययन में अपना समय और मन तो लगाने ही हैं, साथ ही दूसरे विद्यार्थियों को भी उत्साहित करते हैं और उन्हें अपना ज्ञान देने हैं। यह उगाए उम शक्ति में और भी अधिक पैदा होता है जब विद्यार्थी और अध्यापक के बीच व्यावसायिक गार्ई बनाए रखने के स्थान पर वायत्रम विद्यार्थी को इस तरह अपने साथ एकाकार कर लेता है कि उगर् अन्दर प्रचारक की भावना भी आ जाती है।

अबकुशलत एक निरन्तर बनी रहने वाला समुदाय है, क्योंकि प्रौद्योगिक उत्तुंग निरन्तर पुराने यौगलों को ध्वंस करती जाती है और नये यौगलों को जन्म देती चलती है। उमका यह प्रभाव हीना तो हर जालन में है लेकिन नर यह अधिक होता है जब स्थापित होने के साथ ही हर क्षेत्र पर उन लोगों का एकाधिकार होने लगता है जो उँची शक्ति और माटा पारिश्रमिक पाते की दृष्टि में उन व्यवसायों में आने वाले लोगों की मुख्य शक्ति करने काम के पृथक्करण की महिनाएँ और शिष्टता के नियम बना लेने हैं। अपने की खचाने के लिए एकाधिकार हमला नए आधिकार को कुर्ताना देना है। इन रूप में हर क्षेत्र का एक जीवन-मृत होगा है, वह जन्म लेता है अपनी मायता स्थापित करता है, अनेक विनियमों में बंधना है, विराध और उपाय का सामना करता है, अपने क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा करने वाले नये यौगलों के विरुद्ध

भक्षण करता है, और अन्ततः समझौता कर लेता है या नष्ट हो जाता है, इस मारी प्रक्रिया के दौरान गौरव, आश्रय, थम और शोक की अनेक भावनाएँ जुड़ी रहती हैं।

अब कई देश ऐसे हैं (जैसे गोल्ल्ड कोस्ट), जिनमें विकास के लिए निर्धारित रूपका मारें का भार इस कारण गुरु नहीं हो पाता कि वहाँ अपेक्षित कौशल का अभाव है। इन परिस्थितियों में विकास की गति कुशल लोगों को कोटि और उचित-अनुचित को देखकर गेक दो जाएगी, या अर्द्ध-निक्षिप्त लोगों की मर्यादा तेजी में बढ़ाकर विकास के मार्ग की स्कावट दूर कर दी जाएगी, यह राजनीतिक निर्णयों पर निर्भर करेगा।

(ख) कृषि-विस्तार—ऊपर जिन मुद्दों की चर्चा हमने की है—अर्थात् अग्रता की समस्या, आर्थिक रूप से प्रशिक्षित लोगों का योग, और उत्साह का महत्त्व—उनका अच्छा उदाहरण कृषि-सम्बन्धी शिक्षा के रूप में मिलता है।

जहाँ तक अग्रता का सम्बन्ध है, अपेक्षाकृत निर्धन कृषि अर्थ-व्यवस्थाओं में इससे अधिक उत्पादक पूंजी-निवेश शायद दूसरा नहीं होता कि किसानों को नयी बातों की जानकारी कराने पर खर्च किया जाए। कारण यह है कि अधिकांश स्थानों में भूमि की उत्पादकता बढ़ाना राष्ट्रीय आय में पर्याप्त वृद्धि करने का सबसे अधिक और श्रुत उपाय है। उदाहरण के लिए, कुछ कृषि-विशेषज्ञों का कहना है कि वर्तमान टेक्नीकों की प्रयुक्ति से भारत में कृषि की प्रति एकड़ उपज दुगुनी की जा सकती है—उपज बढ़ाने के सबसे महत्त्वपूर्ण साधन अच्छे बीजों का चयन और उन पर नियंत्रण, कृत्रिम खाद का अधिकाधिक उपयोग, कीटनाशकों का अधिकाधिक प्रयोग, और पानी की सप्लाई का बेहतर संरक्षण और उपयोग हैं। ऐसी भारी सम्भावनाएँ हर देश में नहीं हैं, क्योंकि विदेशियों के ज्ञान और किसानों द्वारा अपनायी गई पद्धतियों में सर्वत्र इतना अन्तर नहीं पाया जाता। बैसे, बहुत से स्थानों में इसका कारण यही है कि खाद्यान्न के उत्पादन के चारों ओर आवश्यक अनुसन्धान नहीं किये जा रहे। पूर्वोक्त कारणों से उष्णकटिबंधीय देशों में अधिकांश कृषि-अनुसन्धान औद्योगिक देशों को निर्यात की जाने वाली वाणिज्यिक फसलों (गन्ना, कोको, रबर, चाय आदि) पर ही केन्द्रित रहा है, और देशी उपभोग की वस्तुओं (शकरकन्द, कच्चावा, चरों आदि) के बारे में शायद कोई अनुसन्धान नहीं किये गए, हालाँकि इनमें से लगभग सभी अर्थव्यवस्थाओं में वाणिज्यिक फसलें उमाने वाले लोगों की अपेक्षा स्वाच्छान्त पैदा करने वाले लोगों और क्षेत्रफलों का अनुपात चार गुना या इससे भी अधिक है।

कृषि-विस्तार से पहले अनुसन्धान आवश्यक है। अतः जहाँ अभी बुनियादी अनुसन्धान ही नहीं हुआ है वहाँ कृषि-विस्तार की कोई गुन्नादश नहीं है। बैसे, एक बार जानकारी हासिल हो जाने पर विस्तार-कार्यकर्ताओं की

भाग बहुत बड़ जानी है। यदि यह मान लिया जाए कि खेती के काम में धर्यंकर ढग से लगे प्रति एक हजार लोगों पर एक विस्तार-कार्यकर्ता होना चाहिए, इस प्रकार नग लोगों की संख्या कुल जनसंख्या का दो-तिहाई भाग है, और एक विस्तार-कार्यकर्ता पर एक किसान की घामदनी का चार या पांच गुना खर्च होना है, तो पर्यवेक्षक भ्रमने पर होने वाले खर्च-अहित कृषि-विस्तार-सेवा की लागत राष्ट्रीय धाय के  $\frac{1}{2}$  प्रतिशत में कुछ अधिक बँटनी है। इसमें कृषि-अनुसन्धान का उचित खर्च (देखिए इस अध्याय का खण्ड १ (ख)) भी जोड़कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनुसन्धान और शिक्षा पर कृषि-विभाग राष्ट्रीय धाय का  $\frac{1}{2}$  और एक प्रतिशत के बीच खर्च करता है। धमरीका कृषि-धाय और कृषि-विस्तार-सेवा पर किये जाने वाले खर्च का लगभग यही अनुपात कायम रहता है, वहाँ कृषि में धर्यंकर ढग में लगे प्रति सात सौ व्यक्तियों पर एक विस्तार-कार्यकर्ता है, और वहाँ निवल कृषि-उत्पादन का लगभग  $\frac{1}{2}$  प्रतिशत कृषि-विस्तार और अनुसन्धान पर खर्च किया जाता है। ब्रिटेन में भी विस्तार-कार्यकर्ता का अनुपात १ ७०० है, लेकिन समार के अघसाहृत निधन दशों में इसना खर्च करने वाला देश केवल जापान है। (और यही दश ऐसा है जिसने विमान की उत्पादकता में अमत्कारी वृद्धि कर दिखाई है।)

यदि राष्ट्रीय धाय का एक प्रतिशत प्रतिवर्ष खर्च करने पर कृषि की उत्पादनता में एक प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि की जा सके (राष्ट्रीय धाय के  $\frac{1}{2}$  प्रतिशत के बराबर) तो यह बहुत उत्पादक पूँजी-निवेश माना जाएगा, क्योंकि इस निवेश का प्रतिफल पचास प्रतिशत प्रतिवर्ष बँटना है। उत्पादकता में वृद्धि का श्रेय केवल कृषि-विस्तार-सेवाओं को ही नहीं दिया जा सकता, क्योंकि पानी की सफाई और, खाद आदि के लिए भी पूँजी लगानी पड़ती है। लेकिन, दूसरी जहरतों का ध्यान रखने हुए भी, कृषि-अधान देशों के लिए निवेशों का यह योग सर्वाधिक लाभप्रद है। जो दरें हमने ऊपर दी हैं वे सम्भावनाओं की सीमा में हैं। १८८० और १९२० के बीच जापान की प्रति एकड़ उत्पादकता १ ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की सचयी वार्षिक दर से बढ़ी थी। इसी प्रकार और धमरीका में भी एक प्रतिशत की दरों में वृद्धि हुई है। जिन देशों में इस समय विशेषज्ञों की आनकारी और विमानों द्वारा अघनायी गई पद्धतियों में बाड़ी अधिक अन्तर है उन्हें कृषि-विस्तार-सेवाओं पर होने वाले खर्च से अन्त में अमत्कारी वृद्धि करना कठिन नहीं होना चाहिए।

इस दर पर कृषि-सेवा की व्यवस्था करने के लिए कृषि-अधिकारियों की सन्ध्या में भारी वृद्धि करनी होगी। अनुसन्धान के लिए, और विस्तार-सेवा के पर्यवेक्षण के लिए उच्च प्रतिशत लोग की आवश्यकता होगी, लेकिन सर्वा-

धिक वृद्धि विस्तार-कार्यकर्ताओं की मख्या में ही करनी होगी, क्योंकि हर पाँच से दस गाँवों के बीच एक कार्यकर्ता रखना पड़ता है। यदि हर विस्तार-कार्यकर्ता को कृषिशास्त्र की पूरी विश्वविद्यालय के स्तर की शिक्षा दी जाए तो इनने कार्यकर्ता उपलब्ध करना सम्भव न होगा। इस काम के लिए विश्व-विद्यालयों के स्नातक रखना अनावश्यक और अवाञ्छनीय भी है। अनावश्यक इसलिए है कि विस्तार-कार्यकर्ता का काम किसानों को उन तकनीकों की जानकारी कराना-भर है जिन्हें लेकर व्यापक पैमाने पर प्रयोग किये जा चुके हैं। वह चतुर होना चाहिए और उसे कृषि वा पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिए अन्यथा वह किसानों को प्रभावित नहीं कर सकेगा। इसके लिए सबसे अच्छा प्रशिक्षण यही हो सकता है कि विस्तार-कार्यकर्ता ने स्वयं खेत पर काम करके खेतों में सम्बन्धित हर क्रिया की जानकारी पाई हो, और बाद में नयी तकनीकों का प्रशिक्षण देने के लिए एक या अधिक-से-अधिक दो मानव लगाए हो। कृषि-अधिकारी के लिए भी विश्वविद्यालय वा स्नातक होना अवाञ्छनीय है क्योंकि उसकी मुख्य समस्या किसानों में सम्पर्क स्थापित करने और उनके बीच अपनी मान्यता स्थापित करने की है, और ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा, जिम्का पिछला जीवन किसानों के बीच बीता हो, विश्वविद्यालय के स्नातक के लिए इसमें सफलता पाना बहुत कठिन होता है।

विस्तार-अधिकारी की मुख्य समस्या सम्पर्क स्थापित करना है, केवल सामाजिक सम्पर्क ही नहीं, जिसे स्थापित करना ग्राम-समुदायों में बड़ा आसान होता है, बल्कि मानसिक सम्पर्क भी जिन्में प्रेरित होकर लोगों में अनुकरण की भावना पैदा होती है। उदाहरण के लिए, एक समय था जब विस्तार-अधिकारियों का मुख्य काम कृषि-सेवा के स्वामित्व और संचालन में प्रदर्शन प्रार्थ तैयार करना होता था। इन प्रार्थों पर उत्तम पाँचे सबसे अच्छे तरीकों से लगाए जाने थे और किसानों से आग्रह किया जाता था कि वे आकर मुझे उनके परिणाम देखें। प्रदर्शन-प्रार्थों की उपज बहुत अधिक होने पर भी किसान सदा ही उनका अनुकरण नहीं करते थे। उनका नर्क होता था कि प्रदर्शन-प्रार्थ पर जो परिणाम उपलब्ध हुए हैं वे ही उनकी ओतों पर भी उपलब्ध होना अनिवार्य नहीं है, क्योंकि हो सकता है प्रदर्शन-प्रार्थ मिट्टी वा दूधरे गुणों की दृष्टि में रखकर विशेष रूप से चुना गया हो, यायद ऐसे उपस्कर प्रयोग में जाए जा रहे हों जो साधारण किसान के पास नहीं हों, यायद प्रार्थ पर काम करने वाले लोगों को विशेष प्रशिक्षण दिया गया हो, या उनका विशेष रूप में पर्यवेक्षण किया जा रहा हो जो किसानों की ओतों पर मिनना सम्भव नहीं है। किसान के इन तर्कों का समाधान करने के लिए आधुनिक विस्तार तकनीकों के अन्तर्गत प्रदर्शन-प्रार्थ तैयार करने के साथ ही कुछ किसानों से भी आग्रह किया

जाता है कि वे अपनी जोनी पर खुद नवीन प्रक्रिया लागू करने देंगे। ऐसी स्थिति में बाकी विमानों को यह समझनी ही जाती है कि जेन्नी-जैमी विमानों ने जेन्नी-जैमी जोना पर अच्छे परिणाम उपलब्ध किये हैं। वे समझ जाने हैं कि यह सफलता दूसरे नियन्त्रित सम्बन्धन की सफलता ही नहीं है बल्कि यह उनके पक्षोगियों की सफलता है, और फिर हम सफलता को लेकर बातचीत, दिलचस्पी पूछनाछ, चर्चा और अनुकरण आरम्भ हो जाता है। नवम्बे काम पर आए विमान-प्रधिपारी का एक पहला काम यह पता लगाना होता है कि जिनके वे अच्छे सर्वाधिक प्रतिष्ठित विमान कौनसे हैं जिनका अनुकरण किय जाने की सर्वाधिक सम्भावना है, और फिर अपने कार्यक्रम में इन विमानों का महयोग प्राप्त करना होता है।

उम समुदाय में, जहाँ विमान तरनीकी परिवर्तन के विचार के धाम्यस्त नहीं होने और उम पर्यावरण में जहाँ विमान अपनी समस्याओं के समाधान के लिए स्वभावतः वैज्ञानिक का महारा लेते हैं, आकाश-गानान का अन्तर पाया जाता है। टगनैट या अमरीका-जैमे उन्नत समुदाय में विमानों को यह पता है कि प्रजनन-धाम्यो नहीं विस्मा की नमल तैपार पर रहे हैं, कोटविज्ञानी धर्म शरीर विज्ञानी बीटां और बीमारियों पर नियंत्रण रखने के तरीके निचात रह हैं और मर्गानों के विनिर्माता निरन्तर उन्नत उपकरण प्रस्तुत करने के काम में लगे हैं। उन्हें इन चीजों के बारे में जानकारी प्राप्त करने की उत्पत्ता होती है, और इसीलिए वे कृषि-सम्बन्धी परिचारणें मँगाने हैं, विमानों के लिए प्रसारित किये जात जाने रेडियो-वायंक्रम सुनने हैं, और विमानों के बनये म जोकर बैठकों में भाग लेते हैं। हम तरीकों से नये विचार घड़ी तेजी से फैलते हैं। पिछले दूग समुदायों में विस्कार की समस्या ऐसा ही वातावरण तैपार करने की है जिनमें विमान अपने जीवन की अधिा सुखी बनान के लिए नियुक्त कृषि-परिचारी को कृषि-समुदाय का मुख्य धम मानने लगे। हम समस्या की सुतभांने का एक उपाय यह है कि विमानों को कृषि-समितियों बनाने के लिए प्रेरित किया जाए, जिनका उद्देश्य परम्पर चर्चा मदग्यो को एक-दूसरे के पास पर ले जाकर जानकारी प्राप्त करना और उपयोगी प्रदान करना हो। दूसरा उपाय विमानों को कुछ ठोस सहायता पहुँचाना है। यदि विस्कार-प्रधिपारी विमानों का परेक्षण करने वाली कोई समस्या—जैसे कोई रोग—सफलतापूर्वक सुतभा देना है तो यह उसका विदधान जीत रहेगा, दूसरी ओर यदि उसकी सहाय सेने में विमान को कोई लाभ न हो तो वे उसकी बात पर ध्यान नहीं देंगे।

विमानों के उपाय की वृष्टभूमि में अभी-अभी सजनीके का भी हाथ रहता है। जिन म्दाओं के विमान पीड़ियों में जमीदार, सहाजनों और ध्यापरिधा के शोधन में लगे हुए हैं वहाँ उन्हें नमी देखनीके के बारे में उपायित करना

कठिन होता है, विशेषकर यदि उन्हें शक्य हो कि इनका मुख्य परिणाम उनके शोषका के लाभ में वृद्धि करना होगा। इसलिए कृषि-विस्तार की सफलता के लिए पहले भूमि-सुधार के उपाय करना आवश्यक होता है। यदि दम के राजनीतिक नेता किसानों की समस्याओं में वास्तविक दिलचस्पी लेने लगते हैं—प्रायः ऐसी दिलचस्पी दान में नहीं आती—और अपने कामों एवं बातों से यह प्रकट करत हैं कि वे किसानों की सहायता करना चाहते हैं, तो किसान नयी टेक्नीकों अपनाकर के लिए आसानी से तैयार हो जाते हैं। अपेक्षित राजनीतिक परिवर्तनों और राजनीतिक उत्साह के बिना कृषि-विस्तार का कार्यक्रम बिलकुल असफल हो सकता है।

हम पहले ही दख चुके हैं कि नयी टेक्नीकों लागू करने के लिए केवल आर्थिक और सामाजिक रचना में ही नहीं बल्कि पूँजी के प्रदब्ध और नये कौशल सीखने के क्षेत्रों में भी अनेक परिवर्तन करन होते हैं। अतः कृषि-विस्तार भी कृषि-सुधार के व्यापक कार्यक्रम का ही एक अंग माना जाना चाहिए। कृषि-सुधार में ऐसी दूसरी चीजें भी सम्मिलित हैं, जैसे सड़कें, कृषि-उधार, पानी की नहरें, कुशल विपणन, भूमि-सुधार, बेरोज़ा श्रमिकों को काम देने वाले नये उद्योगों का विकास, सड़कें, समितियाँ, आदि-आदि। आर्थिक विकास के लिए सदा ही व्यापक परिवर्तन करने होते हैं और ग्राम-जीवन के बारे में यह सर्वाधिक सत्य है।

(ग) उद्योगों की ओर रुझान—आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप दूसरे प्रकारके उद्योगों की तुलना में कृषि का महत्त्व कम होता जाता है। अतः दूसरे उद्योग निरन्तर कृषि-क्षेत्र से मजदूर भरती करत रहते हैं (यदि जनसंख्या स्थिर हो तो निरपेक्ष अर्थ में, और यदि जनसंख्या तेज़ी से बढ़ रही हो तो नापेक्ष अर्थ में)।

यह मार्क्सवादी अनुभव है कि जब श्रमिक पहले-पहल देहात से उद्योग (या खान खोदने के काम) में आता है तो उनकी उत्पादकता लम्बे अर्थों से उद्योग में काम कर रहे श्रमिकों की अपेक्षा बहुत कम होती है। इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि उद्योगों का जीवन कृषि-क्षेत्र के जीवन से बिलकुल भिन्न होता है। कृषि में व्यक्ति को कुछ समय के लिए मुकदम से काम तक घोर परिश्रम करना पड़ता है। परिश्रम के ये दिन रापण के या फसल काटने के होते हैं। इनके बाद बेकारी या पुराने के कामों के लम्बे समय आते हैं जिनमें मौसम कृषि के प्रतिबन्ध होता है। इनके विपरीत, उद्योग में व्यक्ति को पूरी साल सप्ताह में पाँच या छ दिन आठ या नौ घण्टे प्रतिदिन समान गति से काम करना होता है। इसके अलावा किसानों से तो हर आदर्श अपने काम का मालिक भी होता है, बट जन्म से ही सेती करना जानना है,

और हर समय अनेक निपंय लेता रहता है। फ्रंटरी में मनुष्य नये ढंग का काम आरम्भ करता है, उसे दूसरे लोगों के पर्यवेक्षण में रहना पड़ता है, जैसा बता दिया जाए ठीक वैसा ही काम करना पड़ता है, और वह एक जटिल यंत्र के दौरे की भाँति काम करता जाता है, उसे यह सब पता नहीं होता कि वह क्या बना रहा है और किगके लिए बना रहा है। यहाँ का समुदाय भी दूसरी तरह का होता है। वेतो में व्यक्ति अकेला काम करता है, या अपने कुछ चुन हुए मित्रों के साथ काम करता है। इसके विपरीत फ्रंटरी में व्यक्ति को बड़ी भीड़ के साथ काम करना पड़ता है जिसे चुनन में उमका कोई हाथ नहीं रहा होता। जीवन की इन नयी विधियों का अभ्यस्त होन में, और प्रौद्योगिक जीवन के लिए अपेक्षित नियमितता की आदत डालन में काफी समय लगना है। लोगों का कहना है कि वयस्क पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों और बच्चे अधिक जल्दी सम-जन कर लेते हैं, और यह भी एक कारण है कि प्रौद्योगिक शान्तियों की शुरु की अवस्थाओं में यदि नियंत्रण न लगा दिये जाएँ तो बाल और स्त्री अधिक भारी सभ्या में भरती किए जाते हैं। कृषि-क्षेत्र से उद्योग की आर मंत्रमण उम श्यति में भी सफलतापूर्वक हो जाता है जब लोगों का जीवन-दशान पहले से ही अनुशासन-प्रणाली, और सामुदायिक सम्बन्धों में आज्ञापानन के अनुकूल होता है क्योंकि इसकी महायत्ना से वे अपने-आपको उस अत्यधिक नियमित जीवन के लिए आसानी से तैयार कर लेते हैं जा बड़े प्रौद्योगिक उपकरणों के लिए आवश्यक है। कुछ इतिहासकारों का विद्वान है कि इसी कारण जर्मन-निवासियों और जापानियों की उद्योगीकरण के अनुकूल बनन में आसानी हुई।

यह ग्राम और प्रौद्योगिक जीवन की पृष्ठभूमि का अन्तर ही है जिसमें नय भरती हुए लोगों को दूसरे कामों की प्रशिक्षण कुछ काम करने में बड़ी आसानी होती है। उदाहरण के लिए, फ्रांस के मामने में किसी व्यक्ति में चाहे जितना ज्ञान और उत्तरदायित्व संभानन की सामर्थ्य हो लेकिन फ्रंटरी का उत्तरदायित्व निभाने की दृष्टि से वह बेकार है क्योंकि यहाँ उमके विनयुन भिन्न गुणों की आवश्यकता होती है। यहाँ वर्षों और पशु या पौधों के व्यवहार के बारे में विविध घन प्रेरणाओं के ध्यान पर मशीनों प्रक्रियाओं के बारे में विविध घन प्रेरणाओं की आवश्यकता होती है जो उमके गलती करने में बचाती है या मुधार के अन्तरो का लाभ उठाने के लिए सचेत करती हैं। इन घन प्रेरणाओं के न होने पर नये रगस्ट को मारे काम एक-एक करके भिगाने पड़ते हैं, और कम-से-कम उमके घनविवेक पर छोड़ा जाता है, जहाँ कई भिन्न भिन्न काम करने और उनके समन्वय की आवश्यकता होती है वहाँ उमे नहीं रगा जा सकता। अधिक जिनने ही कम बुद्धि होते हैं धम का निभावन उनका ही अधिक करना पड़ता है। इनके अभाव का विभाजित कामों



का समन्वय करने के लिए पर्यवेक्षक भी अनुशासन में अधिक रखने पड़ते हैं। जिन देशों में उद्योगीकरण नया-नया होता है वहाँ भी पर्यवेक्षक अथवा अनुशासन में बहुत अधिक रखना पड़ता है, और यदि ये पर्यवेक्षक विदेशों में जान पड़ें तो पर्यवेक्षण पर होने वाला खर्च इतना अधिक बट जाता है कि मजदूरियों के निम्न स्तर को देखते हुए इन देशों में उत्पादन की लागत जितनी कम होनी चाहिए उतनी नहीं रह पाती। दूसरी ओर बहुत अनुशासन श्रमिकों को रखने में मनीनीकरण को बढ़ावा मिलता है क्योंकि कामों का इतना उप-विभाजन कर दिया जाता है कि उनकी अनेक छोटी-छोटी प्रक्रियाएँ बन जाती हैं, और दूसरा कारण यह भी है कि मनीन कुछ कामों को इनमें ठीक नाप-तोल म कर देती है जितने की अनुशासन मजदूरों में आभा नहीं की जा सकती। कुछ लोगों के अनुसार यह भी एक कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैंड की अपेक्षा अमरीका में मनीनीकरण में अधिक तेजी से वृद्धि की।

पृष्ठभूमि के इन अंतरों में यह भी समझ में आ जाता है कि उद्योगीकरण के प्रारम्भिक चरणों में अनुशासन इतना कठोर और कष्टदायक क्यों होता है। अनेक बातें, जिन्हें करने की देहान के श्रमिकों में महत् प्रवृत्ति होती है, कुशल उद्योग के प्रतिकूल पड़ती हैं, और महत् प्रवृत्तियों को बदलकर नयी प्रवृत्तियाँ पैदा करना छोटे वर्गों को पानकर बड़े करने में कम कठिन काम नहीं है। अधिकतर औद्योगिक अनुशासन बढ़ा और अपने प्रभाव को स्वयं नष्ट करने वाला होता है क्योंकि अनुशासन लागू करने वाले लोग प्रस्तुत समस्या या सम्पर्क में आने वाले लोगों को ठीक से नहीं समझते, लेकिन उद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्थाओं में कष्टकर अनुशासन में पूर्ण तरह नहीं बचा जा सकता।

समय बीतने के साथ श्रमिक नये पर्यावरण के अनुसार अपने को ढाल लेते हैं, और नये प्रकार का ज्ञान और प्रवृत्तियाँ पैदा कर लेते हैं। वे केवल इन्हीं दृष्टि से अधिक कुशल नहीं हो जाते कि उन्हें अधिक काम करने में आ जाने हैं बल्कि इस दृष्टि में भी कुशल बन जाते हैं कि उन्हें अपेक्षाकृत अधिक समस्याओं के समाधान में अपना अन्तर्विद्वेक उपेक्षित करने की छूट दी जा सकती है—पहले उन्हें पता नहीं होता था कि क्या गलत और क्या सही है, लेकिन अब होने लगता है। शहर में बसे श्रमिकों की पहली पीढ़ी की तुलना में दूसरी पीढ़ी की उत्पादकता विशेष तर्जों के साथ बढ़ती है। यदि नये आने हुए श्रमिकों को कृषि-कर्म के साथ पूरी तरह सम्बन्ध तोड़कर शहरी जीवन अपनाने के लिए आज्ञा दी और बढ़ावा दिया जाता है तो यह प्रक्रिया जल्दी होती है, लेकिन यदि उद्योग में ऐसे श्रमिक रखे जाते हैं जो एकाध साल काम करके फिर अपने गाँवों की चले जाते हैं तो यह प्रक्रिया बहुत धीरे-धीरे होती है।

उद्योग में प्रवासी श्रमिकों के उपयोग को समस्याग्रस्त नहीं है। इस

प्रगम में हमारे सामने कुछ विनिष्ट उदाहरण है। जैसे जापानी लड़कियाँ मूर्खी बस्त्र-उद्योग में काम करने के लिए गाँवों में आती हैं और कुछ समय उपरान्त प्रियाह करने के लिए गाँवों का वापस लौट जाती हैं। स्त्री धर्मिका के प्रायण की ऊँची दर लगभग हर जगह पाई जाती है चाहे वे प्रवासी ही या न हों। मान्योदन वाले अस्थायी समुदाय हमारे दूसरे विनिष्ट उदाहरण है यदि स्वयं उद्योग ही अस्थायी ही तो वह स्थायी धर्मिक संसार नहीं कर सकता। इन विनिष्ट उदाहरणों का छाँवर कुछ उद्योगपतियों का यह भी विश्वास है कि अस्थायी धर्मिक रचना अधिष्ठान मन्त्रा पठता है। उनका विचार है कि एक गाँव के लिए ही गाँव छोड़कर आने वाले युवक अधिष्ठातृ साहस की भावना लेकर आते हैं, अतः कम मजदूरियों पर काम करने के लिए संसार हो जाना है, ये लोग अविवाहिता की मन्त्री और कष्टकर बँरकी में रहने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं क्योंकि इन बँरकी में दिन पाम करना होता है, धर्मिकवाचन की ऊँची दर रहने में प्रबल मजदूर सम-आन्दोलन पडा नहीं हो पाता, और यदि धर्मिकों की मन्त्रा में कमी करने की आवश्यकता होती है तो बेकारी वेतन दिने बगैर ही इन लोगों को अपने गाँवों में वापस भेजा जा सकता है। इस तक की मत्पता यही सदेहाग्रह है। केन्द्रीय धर्मिकों की मान्योदन वाली कल्पितियाँ भी, जिन्होंने पहले प्रवासी धर्मिक रखकर काम शुरू किया था, अब स्थायी धर्मिक रचना के लिए प्रयत्नशील हैं। अनुभवों और स्थायी रूप में बगे हुए धर्मिकों को रखने पर गंभीर किया गया पैसा प्रायः सबसे अच्छा पंजी-निवेश होता है। यदि उद्योग में एकदम पंजीय या दूसरे उतार-चढ़ाव आने हा तो लोगों को काम न दे सने को स्थिति में उनके गाँवों को वापस लौटाना अधिष्ठान सुविधाजनक मानूम द सकता है, लेकिन इन प्रकार की प्रणाली के अन्तर्गत उत्पादकता में निरन्तर सुधार की धाना करना व्यर्थ है।

नये औद्योगिक धर्मिक, स्थायी हों या प्रवासी, प्रायः मन्त्री बन्धियों में भर दिए जाते हैं जहाँ उन्हें सहरी जीवन की सुविधाएँ या लाभ उपलब्ध नहीं होते। ऐसे पर्यावरण में धर्मिकों को गाँव के गाँव अपना सम्बन्ध तोड़ने की बहुत कम इच्छा रह जाती है। कोई कारण नहीं है कि नये औद्योगिक गहर अच्छी तरह आयोजित और गाम्भीर्य भावना के मन्त्रा, स्कूलों, पार्कों, पूजा-स्थलों, गिनेमाघों और दूसरी ऐसी सुविधाओं से न्यून न हों, तिनमें धर्मिक पित होकर अधिष्ठातृ मनुष्य गाँव को छोड़कर गहर में रहने के लिए उत्सुक हो जाते। गमाज-नेवाघों—डाक्टरों सेवाएँ, बेकारी वेतन, पेंशन आदि—का स्थापन पैमाने पर विकास न करने के भी कोई कारण समझ में नहीं आते। इन सेवाओं के न होने से औद्योगिक धर्मिकों को विवश होकर गाँव से अपना सम्बन्ध बनाए रखना पड़ता है ताकि आवश्यकता पड़ने पर वह गाँव वापस आ

मके। इन सबकी यदि नमुचित व्यवस्था कर दी जाए तो अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ अधिक म्थायी रूप में बने हुए और काम में सुधार करने के दृष्टिक्रमिक नियम किए जा सकत हैं। ये चीजें तर्कसि अधिकतम हैं लेकिन उत्पादकता और मानव-मुख म वृद्धि के रूप में इनका प्रतिफल मिल जाता है।

नय भरती हुए क्रमिक को उत्पादकता के लिए स्वास्थ्य और आहार का विशेष महत्त्व है। अपेक्षाकृत नियम देगों में अधिकतम लोग एक-न-एक बीमारी, जैसे मलेरिया या अकृम वृमि के गिकार हात हैं जो उनकी ऊर्जा घाट जाती है और उत्पादकता कम कर देती हैं हाताकि लोग काम पर बराबर आते रहते हैं। जा औद्योगिक कम्पनियों नि मुख्य चिकित्सा-सेवा, अपने क्रमिकों के लिए अच्छे मकान और उनके घरों में नियमित रूप से टी० डी० टी० टिडकवान की व्यवस्था करती हैं उन्हें इसमें लाभ होता है। क्रमिका के लिए उचित आहार की व्यवस्था करने की दृष्टि में कैंटीनो में मुफ्त या नुस्ता भोजन देना भी लाभप्रद रहता है। यूरोप या उत्तरी अमरीका की अपेक्षा नियम देगों में फँकटरी के अन्दर अच्छी कल्याणकारी सेवाएँ जुटाना और भी ज्यादा जरूरी है। उत्पादकता में अन्तर होने का बहुत-बहुत कारण क्रमिकों के अस्वस्थ और अपुष्ट शरीर हैं।

क्रमिकों की उत्पादकता उन्हें मिलने वाले प्रशिक्षण पर भी निर्भर है। अब अपेक्षाकृत नियम देगों में भी नव प्रकार के कुशल कारीगरों—जैसे टमागती क्रमिक, मिन्त्री, विज्ञानी का काम करने वाले आदि—के लिए नये तकनीकी मन्थान स्थापित करने पर बहुत पैसा खर्च किया जा रहा है। ये मन्थान एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, क्योंकि आर्थिक विकास के दौरान कुशल व्यक्तियों की भारी कमी हो जाती है।

बैम, अधिकतम औद्योगिक क्रमिक ऐसे कुशल या अकुशल लोग होते हैं जो अपना काम किसी मन्थान में सीखने के बजाय काम करने-करते ही सीखते हैं। इस प्रकार का प्रशिक्षण अधिकतम ठीक से नहीं दिया जाता, नवागन्तुव को किसी एक क्रमिक के मुपुदं कर दिया जाता है जिसके जिम्मे उसे काम सिखाना होता है, यह प्रणाली अमन्तोपजनक है क्योंकि बहुत थोटे लोग ऐसे होते हैं जो स्वयं काम करने में हागिवार होने के नाथ-नाथ किसी दूसरे को काम सिखाने में भी पट्टे होते हैं। अधिकतर यह पट्टा तनी आती है जब लोगों को काम सिखाने का कुछ प्रशिक्षण दिया जाता है, या वे इसमें विशेष दिलचस्पी रखते हैं। अधिक कुशल फमें इस प्रयोजन के लिए ऐसे ही क्रमिक चुनती हैं जिनमें काम सिखाने के प्रति विशेष रम्यान और रुचि पाई जाती है। साथ ही वे नवागन्तुवों के लिए विशेष प्रशिक्षण नम भी बना सकती हैं और इस निमित्त विशेष अतिनारी भी नियुक्त कर सकती हैं।

प्रशिक्षण के सम्बन्ध में ये आक्षेप शिक्षिता की संगठित प्रणालियों पर भी उतरे ही लागू होते हैं। शिक्षिता की प्रणाली उन सभी व्यापारों के लिए आव-  
श्यक है जिनमें कारीगर के लिए अनुभवही होना अनिवार्य है। लेकिन शिक्षिता  
की अधिकांश प्रणालियाँ घाँघली बनकर रह जाती हैं। स्वार्थी सभ शिक्षिता की  
अवधि आवश्यकता से अधिक बढ़ा देने हैं ताकि इस काम को अपनाए जाने  
लोगों की संख्या कम रहे और वे दुर्लभता बनाई करने रह सकें। शिक्षिता की  
इस अनावश्यक रूप से लम्बी अवधि का दुष्प्रयोग किया जाता है—शिक्षु को  
दुष्प्राप्त के महीने फर्ग भाड़ने, शौद्धर उठाने चाय बनाने, या इसी तरह के  
और कर्मों में गुजारने होते हैं। जिस जर्नीमैन के सुपुत्र शिक्षु किया जाता  
है वह भी अच्छा बुरा या उदासीन हो सकता है। परंतु यह बड़ा आवश्यक  
है कि शिक्षिता की प्रणालियों का समय-समय पर पुनर्विचिन्तन किया जाए,  
शिक्षिता के माध्यमकालिक या मध्याकालीन अनुदेश की व्यवस्था की जाए,  
और जो फर्म शिक्षिता में सहयोग देती हैं वे शिक्षुओं को काम मिलाने वाले  
श्रमिकों का चुनाव करने समय विशेष सावधानी बरतें।

अंत में, उत्पादकता इस पर भी निर्भर है कि श्रमिक अपने काम में  
कितनी दिनचर्या लेता है। इसका सम्बन्ध अज्ञत वेतन, अज्ञत पदोन्नति की  
सम्भावनाओं, और अज्ञत फौटरी के सामाजिक वातावरण से है। जहाँ तक  
वेतन का सम्बन्ध है मुख्य आवश्यकता इस बात की है कि कुशलता, बेहतर  
उत्पादन और उत्तरदायित्व को देखते हुए भिन्न-भिन्न स्तर के लोगों के वेतन  
में पर्याप्त अन्तर होना चाहिए ताकि श्रमिक अच्छे-से-अच्छा काम करने के  
लिए उत्साहित हो, और अच्छे काम के लिए पुरस्कार अनुभव करें। ये प्रेरणाएँ  
व्यक्तिगत हो या श्रमिकों के समूह के उत्पादन पर आधारित हो, यह गौण  
बात है, जिसका निर्णय परिस्थितियों को देखकर किया जा सकता है। पदो-  
न्नति का सम्बन्ध अपेक्षाकृत छोटे श्रमिकों में ही होता है। अधिक लोगों से  
सम्बन्ध सब हो सकता है जब रम-भेद, धर्म, लिंग, राष्ट्रीयता या अन्य ऐसे ही  
किसी आधार पर श्रमिकों के माध्यमकालिक पैमाने पर भेद-भाव बरता जाता  
हो। इस तरह के स्थापित भेद-भाव से सामाजिक सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ने के  
माध्यम ही आर्थिक विकास की गति में भी कमी आती है, क्योंकि जिन लोगों  
के साथ भेद-भाव बरता जाता है उनमें से अच्छी प्रतिभा वाले लोगों का सम्ब-  
न्धन ही नहीं मिल पाता। जो भी हो, यदि पदोन्नति का सम्बन्ध वेतन  
कुछ ही लोगों से है तो भी यह अल्पगण्य बड़े महत्व की है, क्योंकि उत्तर-  
दायित्व के पद पर काम करने वाले लोगों के उत्पादन से कुछ उत्पादन की  
माना और कौटिल्य बढ़ा प्रभाव पड़ता है, परंतु यह महत्त्वपूर्ण है कि श्रमिकों  
में यह भावना रहे कि काम में योग्यता के लिए पदोन्नति का मार्ग खुला

है। जहाँ तक पंचदली के अन्दर सामाजिक वानावरण का सम्बन्ध है, यह विषय बड़ा जटिल है जिन पर हम अन्वयात् ३ न विस्तारसे चर्चा कर चुके हैं। उक्त सम्बन्ध अगत परम के आकार, अगत पंचदली के अन्दर उनका मुविधाआ अगत नमाह लेन क अवन और अगत यमिका औ उनके पयवेजवा क बीच परम्पर विवाम की मुक्त भावना स है। सार श्रौद्योगिक समुदाय इन नमस्या में जम् रह है और नमी हम निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि इसका बाद सावदगिक नमायान सम्भव है। अधिकांश प्रश्नक इस बात पर सहमत हैं कि पंचदली फोरमन की स्थिति बड़ी निर्णायक है। चाहे हम अन्दर मानव-सम्बन्ध कादम करने की बात का नें या उत्पादनता क उच्च स्तर तक पहुँचन की नमस्या का नें। अत चुनाव और पदोन्नति की प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि फोरमनो के उपयुक्त गुणा वाले लागू का जन्दी ही पता लग सके और उनके पद के महत्त्व को दन्त हुए उन्हें उचित प्रशिक्षण दिया जा सके।

श्रौद्योगिक जीवन के अनुसार समजन करने की अनेक समस्याओं की पृष्ठ-भूमि में आचार-संहिताओं के समजन की बड़ी समस्या छिपी है। बर्बोने के वानावरण से उद्योग के वानावरण में आन वाले रैगण्ट की आचार-संहिता बहुत अधिक व्यापक होती है जिनमें नार्इचारे, धारु, राजनीतिक या धार्मिक स्तर के आधार पर लोगों के बड़े दायरे के प्रति दायित्व निभाने पर जोर होता है। यदि वह ऐसे समाज से आ रहा है जो अपने-पैरे से परिचित नहीं है तो उसकी आचार-संहिता में मालिक और नौकर, श्रेता और विष्टेता, या मजदूर और उनके मेट के बीच के सम्बन्धों को लेकर कोई नियम निर्धारित नहीं होने; 'उचित दिन की मजदूरी के लिए उचित काम', या 'उचित दिन के काम के लिए उचित मजदूरी' जैसे नियम उनकी आचार-संहिता के लिए नये होते हैं, और नयी परिस्थितियों के उपयुक्त नयी आचार-संहिता अपना लेने पर ही वह इनके अर्थ समझ पाता है। उसके लिए इससे भी नया अनुभव कठोर परवेक्षण में प्रति-सप्ताह छ दिन नौ घण्टे रोज के हिसाब से निरन्तर काम करने का विचार होता है। नैतिक संहिताओं का मथर्ष कष्टकर होता है, और इसके परिणाम सधर्ष संहिताओं में से किसी एक संहिता में पना हुआ व्यक्ति नहीं समझ सकता। अत यह और भी वाच्छनीय हो जाता है कि नये श्रौद्योगिक विकास वाले क्षेत्रों में एक नये और मार्यक सामुदायिक जीवन की स्थापना के लिए विशेष प्रयत्न किय जाएँ, अन्यथा जो समुदाय अनुशासित नुवी और उत्पादक बन सकता था वह धार्मिक, राजनीतिक और श्रौद्योगिक तीनों दृष्टियों से रोगग्रस्त हो सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से, जीवन के नये टग की स्थापना के साथ धर्म के क्षेत्र में भी नयी उदल-मुदल होती है। श्रौद्योगिक सन्ति के दौरान इंग्लैंड और वेल्स के नये श्रौद्योगिक नगरों में पद्धतिवाद के विस्तार ने इन नये समुदायों में

एतना पैदा करन में वही मदद दी। पञ्चनिवाद से ही नगर-जीवन चलाने वाले नवाग-नुतों को ऐसी विचार-प्रणाली मिली जो उनकी गयी जिन्दगियों के अनुकूल थी और जिससे उनमें जीवन-सुखपूर्ण हो उठे। निस्तान्द्रह अन्य प्रौद्योगिक आविष्कारों में भी धन की सर्वोत्पत्ति का इसी प्रकार का योग देता है।

(घ) व्ययसाय का प्रबन्ध—आधुनिक विकास में व्ययसाय और लोकोपयोगी सेवा दोनों में गहन प्रस्तावना की गयी माँग पैदा होती है। अन्धकार निधन देना में व्ययसायों की गहरी-विनाशकर छोटे व्यापारियों की—बहुत क्षती होती है जिसमें गहन-ग-गहन बाजार में माल खरीदकर और नेत्र-नेत्र बाजार में बेच कर पैसा बना लन की भली प्रकार विरहित प्रवृत्ति पाई जाती है, साथ ही य आधुनिक-ने-प्रतिन दर पर खपा उठाकर धन कमाना भी सुख जानने है। इसके अन्दर उद्यम की भावना कम नहीं होती, केवल प्रस्तावना में अनुभव का अभाव होता है। यदि पैमाने के उत्पादन से आय में पर्याप्त वृद्धि हो सकती है यदि केवल ऐसे लोग मिल सकें जिन्हें बुद्धिमत्तापूर्वक बड़े उपक्रमों के प्रबन्ध का अनुभव है—इसमें कभी कभी लोग और बड़ी मात्राओं में स्थूल सामानों का प्रबन्ध भी शामिल है। निधन देना में सबसे अधिक कमी बड़े पैमाने के प्रस्तावना की समस्याओं की जानकारी और अनुभव का अभाव ही है।

महान् उपगन्तव्य पैदा होने हैं बनाए नहीं जा सकते। नयी वस्तुया या गणना की नयी प्रणालियों का जन्म देना या तो लोग—फोड़े या बुद्धि—पाठे ही होते हैं, और इच्छानुसार इनकी गहरी बर्दाई नहीं जा सकती। लेकिन अधिकांश व्ययसायों को केवल सामान्य प्रकार के काम करन होने हैं, विशेष लिए अपेक्षित योग्यता, जानकारी और अनुभव प्राप्त करने शामिल की जा सकती है।

कुछ ज्ञान व्यावसायिक स्कूलों के जरिए भी प्राप्त किया जा सकता है, लेकिन महत्त्वपूर्ण बातें केवल काम के प्रत्यक्ष अनुभव में ही सीखी जा सकती हैं, और वेग वाले व्यक्ति की प्रवृत्ति और चरित्र-गुणों की गुणों पर निर्भर करती है। व्यावसायिक स्कूल अभिनेता रगने की पद्धतियाँ किया सकते हैं (मात्र, डॉक्टर, जमा नाम आदि के अभिनेता), स्थूल सामानों के संभालने की विधियाँ सिखा सकते हैं (पैकटरी-विभाग, मशीना की दखलान, पैकटरी के काम की सुधारना), और लोगों का प्रबन्ध कराने की तरकीबें बना सकते हैं (घमने का पुनाय, बन्धनों का प्रतिनिधित्व प्रशिक्षण-पद्धतियाँ आदि)। लेकिन वे किसी व्ययसायी को यह नहीं सिखा सकते कि यह करने घमने के साथ किस प्रकार निर्भीक कर जिसमें कि घमना उसके प्रति निष्ठावान भी रह और बाय-बुद्धि भी—यह तो स्वयंसेवक यह प्रस्तावना अनुभव में ही सीख सकता है बाकी कि उगरी प्रवृत्ति इनके अनुकूल है। न के व्ययसायी का बहू व्यापार बुद्धि दे सकते हैं जिसमें उपयोग में बरवारी रोकी जा सकती है, उत्पादन की गति के

तथा अपने सम्पर्क में आने वाले व्यवसायों की ईमानदारी पर ही भरोसा करते हैं, दंग में से नौ मामलों में धोखा ग्या जाने हैं। दंग देशों में आप्रवासी व्यवसायों के अपेक्षाएँ अधिक गहन होने का एक कारण समुचित यह है कि मानसताई करन वाले विदेशी लोगों, वना और दली जनता तक का यह अनुभव है कि आप्रवासी अधिक विश्वगनीय होते हैं। कायद 'गुनाम का महत्व (या यह बात कि 'ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है) गीजन में समय लगता है, और प्रतियोगिता और व्यावसायिक नैतिकता की नयी महिमा का विकास ही गुनाम की समुदाय की परम्पराओं में विरोधा है। दंग बीच दम भावना के गापेश अभाव के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि सरकारों गन्धान छोटे व्यवसायों को कर्त देकर, या सविदे या व्यक्तिगत विश्वासनीयता पर आधारित दूगरे तरीकों में सहायता करने समय यही मात्रधानी में कदम बराएँ।

व्यवसाय-प्रग्रन्थ के प्रतिक्षण का दूगरा धोत्र महारारिता-आन्दोलन है जो यदि प्रजातान्त्रिक आधार पर चलाया जाए तो अनेक लोगों को व्यावसायिक समस्याओं की महारी जानकारी और वाणिज्य प्रग्रन्थ का अनुभव प्रदान करना है। सहकारिता आन्दोलन का यह भायद सबसे मूयमान पद्व है। उपज का विपणन, बचतों के उपयोग की व्यवस्था, गानाई करने के लिए सामान की परीद और इसी प्रकार के अन्य काम जितनी बुझलता में महारी गगटन करते हैं उतनी ही बुझलता से प्राय निनी उद्यम या सरकारों एजेगिया भी कर सकती हैं लेकिन दन दूगरी एजेगिया का संशिर मूय सरकारों गगटन के बराबर नहीं है। व्यावक दृष्टि में दंगन पर दन इसी तथ्य का एक दूगरा उदाहरण मानू गयता है कि प्रजातान्त्रिक क्षमता और उद्यमशीलता उन देशों में अधिक व्यावक पैमाने पर पाई जाने की सम्भावना है जहाँ निर्णय लेने का काम छोटे लोगों के यथाय अधिक लोगों के बीच विवेकितन हाता है। यह प्रजातन्त्र के पक्ष में दिय जाने वाले बटे तर्कों में से एक है और त्रिग प्रकार का-प्रजातन्त्र पर लागू होता है उर्गो प्रचार वाणिज्यिक जीवन पर भी लागू है। उन देशों की तुलना में, जहाँ राजनीतिक दलित धोद ही लोगों के हाथ में है, वाणिज्यिक जीवन यहाँ अतिर गगनत पया जाता है जहाँ संर-प्रजातन्त्र विवेकितन और प्रजातान्त्रिक है, और जहाँ लागू की गीव के स्तर में ही अपने सभी मामलों का प्रवन्ध स्वयं करने का धर्याग है। यह प्रतियोगिता के पक्ष में दिये जाने वाले प्रवन्ध तर्कों में से भी एक है जो धादिक जीवन के निर्णय लेने के काम और प्रजातान्त्रिक अनुभव को दूगो प्रकार विवेकितन कर देता है।

एक धाय कारण से ही प्रतियोगिता पर हावन में व्यावसायिक बुझलता के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। व्यवसायों में प्रतिक्षण और गगनत को सुविधाओं का लाभ उठाने की, और अपनी क्षमता बढ़ाने के सभी उपायों को लागू करने की

आमा उसी स्थिति में भी जा सकती है जब उन्हें ऐसा करने की प्रेरणा हो। सबसे गतिमानी मकारात्मक प्रेरणा मफनता की प्राप्ति है, और सबसे गति शाली नकारात्मक प्रेरणा दिवानिया होने का भय है। न दोनों प्रेरणाएँ प्रतियोगिता होन पर ही पैदा होती हैं। स्वयं प्रतियोगिता व्यवसाय की कार्यकुशलता नहीं बना सकती लेकिन यदि प्रतियोगिता का वायम न रखा जाए तो ओट और वायव भी कार्यकुशलता पैदा नहीं कर सता।

आविष्कार की सामाजिक पृष्ठभूमि पर एच० पी० इग्नट की इन्वेंशन, दो बेमिस ऑफ बन्धरल चेंज (नवीन प्रक्रिया, सांस्कृतिक परिवर्तन का आधार) न्यूयार्क १९५८, ३० टी० बर्नन की माइन्स एन्ड सन्दर्भ टिप्पणियाँ इटल्टी इन दो नाइन्टोन्य सेचुरी (उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान और उद्योग) लन्दन, १९५३, एच० बट-पीन्ड की दो ऑरिजिनल ऑफ मॉडर्न साइन्स (आधुनिक विज्ञान का उद्भव), लन्दन, १९५०, सी० फेरिगन की प्रीक् साइन्स (प्रीक् विज्ञान) लन्दन, १९४६, एन० सी० पिल्लिन्ग की दो सोशनीजी ऑफ इनवेंशन (आविष्कार का समाजतत्त्व), शिकागो, १९०९, एच० एम० हेटफील्ड की दो इनवेंटर एन्ड हिठ बहंड (आदिपत्तियाँ और उद्योग मन्तार), लन्दन, १९५३, एम० रिने की नेन, मेसॉस एन्ड हिस्ट्री (मनुष्य, मशीन और इतिहास), लन्दन, १९६८ और ए० पी० अन्स की एर्हिस्ट्री ऑफ मेकेनिकल इनवेंशन (नवीनी आविष्कार का इतिहास), न्यूयार्क, १९०२ देखिए। पेटेन्ट-सम्बन्धी चर्चा पर सबसे अच्छा परिचयान्तक लेख एफ० मेक्लर और ई० एफ० वेनरोज का है जो जर्नल ऑफ इकॉनामिक हिस्ट्री (आर्थिक इतिहास का जर्नल) नर्द, १९५० में 'उन्नीसवीं शताब्दी में पेटेन्ट विवाद' शीर्षक से छपा है। मार्क्सनीन जिशा पर मनुष्य गण्ट संक्षिप्त, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक सगलन द्वारा फेरिग से प्रवाहित एन्डमैन्डल एनुवेंशन, ए रवाटली कुलेटिन (मून जिशा, शैमासिक कुलेटिन) में १९४९ में अब तक के अक देखिए। कृषि-विस्तार पर ई० एम० ब्रूनर, आई० टी० सेंडर्स और डी० एनमिगर द्वारा सम्पादित फार्मर्स ऑफ दो बन्ड (मन्तार के विज्ञान), न्यूयार्क, १९४५, और एप्रोकल्चरल एक्मटेशन एन्ड एडवाइठरी बक, बिद स्पेसल रेफरेंस टू दो शॉनोलीथ (कृषि-विस्तार और सवाह-बाध, उपनिवेशों के विमेष प्रसंग महिन), हिड मेजेस्टीयल स्टेशनरी प्रॉडिग, लन्दन १९४९ पटिए। अमिक प्रवृत्तियों के अनुकूलन पर एनू० ई० मूर की इन्डस्ट्रियलाइवेशन एन्ड लेबर (उद्योगीकरण और श्रम), न्यूयार्क, १९५१ में चर्चा की गई है। छोटे व्यवसायों को सहायता देने के उदाहरण का वृत्तान्त मेरी करकारी रिपोट इन्डस्ट्रियलाइवेशन एन्ड गोल्ड कोस्ट (उद्योगीकरण और गोल्ड कोस्ट), अफगा, १९५३ में मिलेगा।



इस अध्याय में हम आर्थिक विकास के लिए अपनी पूँजी को मात्रा वृद्धि के मुख्य स्रोत और पूँजी के निवेश की प्रक्रिया पर अलग-अलग विचार करेंगे।

आर्थिक विकास का सम्बन्ध प्रति व्यक्ति पूँजी में वृद्धि से है। जमा निधि हमें देना पड़ती है इसका सम्बन्ध आय बढ़ावा से भी है। अर्थात् सम्बन्ध उन सम्पत्तियों से है जो प्रयत्न के लिए प्रस्थापित हैं। उन

१ पूँजी सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ हैं जो आर्थिक वृद्धि का भू-साधन आधारयुक्तता पर निर्भर हैं और बहुत दूर तक नीचे जा सकते हैं। आर्थिक विकास के लिए एकमात्र पूँजी ही उपयुक्त

नहीं है। यदि पूँजी उपलब्ध करा दी जाए परन्तु माध्यम ही उन पूँजी के उपयोग के लिए कोई साधन उपलब्ध न हो तो पूँजी व्यर्थ जा सकती है। इस अध्याय को लिखते समय इन दूनों के विषय पर पहले बड़ी-बड़ी बातों को सही मान लिया गया है। अतः अब हम इस बात का ध्यानपूर्वक अध्ययन कर सकते हैं कि यदि पूँजी के उपयोग के लिए उपयुक्त स्थिति सिद्धमान हो तो उमंग क्या लाभ हो सकते हैं।

पूँजी किससे आता है? इस बात का उत्तर पढ़ना बहुत कठिन है क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। विद्यमान दृष्टिकोणों में पूँजी और आय में हुई वृद्धि के सम्बन्ध में हमारे पास कुछ अनुमान प्रचलित हैं परन्तु ये अनुमान औद्योगिक दृष्टि से उनसे आगे-पीछे जा सकते हैं। इनमें कुछ बातें तो आय और पूँजी के बीच मात्रात्मक सम्बन्ध की जाँच करती हैं। हम जानते हैं कि आय और पूँजी के बीच मात्रात्मक सम्बन्ध की जाँच करती है। अतः हमें यह ध्यान रखना पड़ेगा कि आय और पूँजी के बीच मात्रात्मक सम्बन्ध की जाँच करती है। अतः हमें यह ध्यान रखना पड़ेगा कि आय और पूँजी के बीच मात्रात्मक सम्बन्ध की जाँच करती है। अतः हमें यह ध्यान रखना पड़ेगा कि आय और पूँजी के बीच मात्रात्मक सम्बन्ध की जाँच करती है।

इस अध्याय में हमें यह ध्यान रखना पड़ेगा कि आय और पूँजी के बीच मात्रात्मक सम्बन्ध की जाँच करती है। अतः हमें यह ध्यान रखना पड़ेगा कि आय और पूँजी के बीच मात्रात्मक सम्बन्ध की जाँच करती है। अतः हमें यह ध्यान रखना पड़ेगा कि आय और पूँजी के बीच मात्रात्मक सम्बन्ध की जाँच करती है।

और पूँजी-मूल उद्योगों को मित्राण देना जाए तो औद्योगिक देशों में पूँजी के मूल्य और उत्पादन के मूल्य का अनुपात सीमान्त पर विनष्ट हो स्थिर-ता दिखाई पड़ता है, और दूसरी बात यह है कि यदि भूमि तथा अन्य प्राकृतिक मापनों के मूल्य को पूँजी में से निगल दिया जाए और बाह्य परिस्थितियों का मूल्य पूँजी और धन दोनों में से निकाल दिया जाए, तो यह सीमान्त अनुपात ३ से १, और ८ से १ के बीच रहना है। इन परिस्थितियों को बर्तमान में प्रकट किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि औद्योगिक देशों के निवेश पर राष्ट्रीय आय में २५-पौंड से ३३ पौंड तक की वृद्धि प्रतिवर्ष होती है। या राष्ट्रीय आय में ३ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का अर्थ यह है कि राष्ट्रीय आय के ६ प्रतिशत में १० प्रतिशत तक का वार्षिक निवेश निवेश किया गया है। वास्तव में औद्योगिक देशों में मूल्य-हानि की व्यवस्था के अतिरिक्त १० प्रतिशत से १५ प्रतिशत तक निवेश करने की प्रवृत्ति होती है, और उनकी आय में ३ प्रतिशत से ८ प्रतिशत तक वार्षिक वृद्धि होती है।

गणित के विचार से पूँजी की वर्तमान गति और आय का अनुपात (अर्थात्, औद्योगिक जो सीमान्त अनुपात से भिन्न है) निवेश की गई राष्ट्रीय आय, निवेशों की औद्योगिक अवधि, और आय की वृद्धि की दर के सम्बन्ध में अनुपात का परिणाम-मान है। इन प्रकार, यदि इन आय स्थिर हो और १५ वर्षों की अवधि वाले निर्माणों में प्रतिवर्ष कुल १० प्रतिशत का निवेश किया जाए और ८ प्रतिशत का निवेश इन वर्षों की अवधि वाले उपकरणों में किया जाए, तो पचास वर्षों बाद पूँजी-आय का औद्योगिक अनुपात ३४ होगा (विद्यमान निर्माणों की मूल लागत हर समय राष्ट्रीय आय की ६० गुना होगी, और उपकरणों की मूल लागत राष्ट्रीय आय की ०८ गुना होगी, यह मानकर कि औद्योगिक पूँजी का आय का हानि हो चुका है, उनका औद्योगिक मूल्य-राष्ट्रीय आय का ३४ गुना होगा)। उनमें विद्यमान स्टॉक की मदद के रूप में अगर ०.५ जोड़ दें तो अनुपात ३९ हो जाएगा। आय की वृद्धि की दर में परिवर्तन होने से उतना अन्तर नहीं पड़ता जितने की आय की जाती है, उदाहरण के लिए, यदि हम यह मान लें कि राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष ३ प्रतिशत की वृद्धि होती है, और अन्य पूर्वधारणाएँ यथावत् हैं, तो वर्तमान स्टॉक मूल्य पूँजी-आय का अनुपात घटकर केवल ३० रह जाता है (उनमें कुछ अतिरिक्त अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि पहले वाली पूँजी, जिसका इन समय आने में अधिक हानि हो चुका है, सबकी वृद्धि के कारण, बाद वाली पूँजी में, जिसका हानि आने में कम ही हुआ है, बहुत कम है)। यदि पूँजी की औद्योगिक अवधि मालूम हो, तो पूँजी-आय अनुपात निर्धारित करने का मुख्य आधार राष्ट्रीय आय का वह

व्यवस्था बड़ी आसानी में खराब हो सकती है। परन्तु ध्यान रहे कि विकसित और कम विकसित दोनों प्रकार के देशों में एम्मा हान की सम्भावना समान होती है। मशीनरी के सम्बन्ध में अधिक प्रमाण उपलब्ध हैं, उदाहरण के लिए, इसके काफी प्रमाण हैं कि १९३०-१९३६ के बीच इजीप्टियरी उत्पादन में मशीनरी की तुलना में रूम की स्थिति अपेक्षाकृत कम अच्छी थी। इसके विपरीत जहाज निर्माण-काय दशक अन्दर ही करना होता है, मशीन आयात भी की जा सकती है और रूम प्रकार दक्षी उत्पादन की तुलनात्मक अनाभ-प्रदता से बचा जा सकता है। इन सब बातों के होना हुए भी यह आशा करना युक्तियुक्त ही दिवाड़े पड़ता है कि कम विकसित देशों में पूँजी-आगत आय की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक हानी है लेकिन इसमें शायद अर्थिक नार नहीं है।

दूसरी बात यह है कि पूँजी-आय अनुपात अधिक होने की आशा पूँजी की अधिक बरबादी के कारण की जाती है। इस सम्बन्ध में शका की अधिक गुजाइश नहीं है। पूँजी की बरबादी इस अर्थ में होती है कि पूँजीगत माल का प्रयोग उनकी आवश्यकताओं में नहीं किया जाता, जिनकी आवश्यकता से अधिक विकसित देशों में किया जाता है। कारीगर कम निपुण होना हैं, और अपने धौड़ार का प्रयोग पूरी आवश्यकताओं से नहीं करते, शायद और इज्जत के ड्राइवर अपनी मशीन सीमा से अधिक तब चलाते हैं और मड़कों, इमारतों तथा अन्य माज-सामान की देख-भाल उतनी अच्छी तरह नहीं की जाती। अतः कम विकसित देशों में मूल्य-हानि की दर अपेक्षाकृत बहुत अधिक होती है। लोगों का कहना है कि ऋणपूर्णा निवेश के कारण भी पूँजी की बरबादी बहुत अधिक होती है, क्योंकि लोगों को सम्भावनाओं के बारे में पता नहीं होता। कम विकसित देशों में मिट्टी, बर्षा, खनिज आदि साधनों के बारे में विश्वसनीय जानकारी नहीं होती, और देश के भीतर तथा विदेश के सम्भाव्य लाभप्रद बाजारों के बारे में भी उन्हें अधिक ज्ञान नहीं होता। अतः बड़ी-बड़ी भ्रष्टियाँ होती हैं और अनुभव बड़ा महंगा पड़ता है (इस प्रकार के हजारी उदाहरणों में सबसे अधिक प्रसिद्ध उदाहरण टांगानिका में मूंगफली की खेती करने के प्रयत्न का है, इस काम में सरकार की अपेक्षा गैर-सरकारी उद्यमकर्ताओं की सख्या अधिक थी)। पूँजी की बरबादी का एक अन्य कारण यह है कि पूँजी में अपने पुराने चिसे पिटे रूम पर ही चलन रहने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसका फल यह होता है कि कुछ उद्योगों में मात्रा में अधिक पूँजी का निवेश हो जाता है और कुछ में पूँजी जल्द से भी कम रह जाती है। यह सत्य है कि पूँजी का यह अपव्यय मापेक्ष है, क्योंकि विकसित देशों में भी पूँजी का अपव्यय होता है। उदाहरण के लिए, यदि प्रत्यक्ष हानि की दर कम हो, तो बस्तुएँ जल्दी-जल्दी अप्रचलित होने लगती हैं। फिर भी, यह लगभग निश्चित-सा है कि जिस देश के पास जितना ही कम अनुभव

हाना है, उगना म उतना हा अधिक् प्रपञ्च्य हाता है।

५ तीमरी बात यह कहा जा सकती है कि कम विकसित देगा म पूजा कम उत्पादक हागा यथाकि पूजा वा लाभप्रद उपयोग निरंतर उन्नतिशील प्रौद्योगिकी पर निर्भर हाता है और कम विकसित देगा म ज्ञान की वृद्धि मंद गति मे होना है। पर बात कर्तुं ठग न कही जा सकती है। इसका कहने का एक ढंग यह है कि विकसित देगा म ग्राम का प्रवृत्ति बचन की धार हाती है क्योंकि वही ज्ञान बढा रहा है और वही पूजा की वृद्धि चाह बढ हा जाए परंतु ग्राम बढती हा जाएगा जयकि कम विकसित ज्ञान म प्रौद्योगिकी का प्रगति बढने धीरे धीरे हाती है और इससे ग्राम का वृद्धि म बहुत कम सहायता मिलता है। एक ग्राम जग स इस बात की या कहा जा सकता है कि पूजा का उपयोग ग्राम नये प्रौद्योगिकी का गुण बचन के लिए किया जाता है घट जहाँ प्रौद्योगिकी का प्रगति धीरे धीरे हाती है वहाँ पूजा कम लाभप्रद हाती है। इसके विपरीत यह बात भी उतनी हा कि पूजा है कि प्रौद्योगिकी का प्रयत्न रिच्छनी प्रयत्न म भा ज्ञानदार प्रगति सम्भव है, क्योंकि यदि अधिक पिछड़े देगा म पूजा का निवेश किया जाए और साथ ही ज्ञान तथा प्रतिभण पर उम्मा धन खर्च किया जाए तो अधिक विकसित देगा का तुलना म एक देगा म भा तीव्र गति म विकास किया जा सकता है। अत बहुत म विचारका का विचार है कि विकास की उच्च प्रयत्न का पट्टे हुए देगा का तुलना म व देगा अधिक तजा स अधिक विकास कर सकते हैं जो अभी ज्ञान आरम्भ चरण म है। य ज्ञान प्रपन बचन की पुष्टि के लिए एक और ज्ञान का धर्म गहन अधिक् वृद्धि का उपाहरण प्रस्तुत करत है।

इसी प्रकार साधना सम्बन्ध बात के बारे म भा हम बिना टाग निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते। जिस प्रकार विद्यमान टकनाक म उच्च कोटि का नया टकनाक का आरम्भ करने में उगाई जान वाली पूजा विषय रूप स लाभप्रद सिद्ध होती है उगा प्रसार पहन म काम म साए ता र्ण साधना का बहुर उपयोग करने के लिए उगाई जान वाला पूजा की धर्म म नये समृद्ध प्राकृतिक साधना का उपयोग आरम्भ करने के लिए उगाई जान वाला पूजा अधिक लाभप्रद हाता है। अत सभी सभी यह कहा जाता है कि अधिक विकसित देगा की तुलना म कम विकसित देगा पूजा का अधिक लाभप्रद प्रयोग कर सकते हैं। परंतु उम्मा नहीं कि हम मानने म एगा न हाता हा। पहला बात तो यह है कि यह जम्मा नहा है कि कम विकसित देगा का साधना अधिक विकसित देगा का साधना म-हुर दृष्टि से अधिक समृद्ध हा। एगिया और साधना के सम्बन्ध म अभी यह सिद्ध नहा हा पाया है कि सिद्धा द्यत को साधना गतिन पण्यों की दृष्टि स स रवान बढन समृद्ध है और यह बात सिना भा रूप म स्पष्ट नहा है कि एगिया या साधना के नये साधना म निवेश का ज्ञान वाला पूजा म होने वाला लाभ

उस लाभ में अधिक होगा जो उत्तरी अमरीका के ज्ञात भागों में पूंजी-निवेश करने में होगा। इस प्रसंग में हमें महाद्वीप-जैसे बड़े-बड़े क्षेत्रों को न लेकर सीमित क्षेत्रों की विविध प्रायोजनाओं को लेना चाहिए। कम विकसित मनार के कुछ भागों में अनेक समृद्ध साधन हैं, जिनका अभी पता लगाना बाकी है, जबकि अन्य भागों में और अधिक पूंजी के बचत के तर्जनीका का लाभ उठाने के काम में ही लगाई जा सकती है। दूसरी बात यह है कि पूंजी का भुत्वाव उसी तरफ होना है जहाँ पहले से काफी पूंजी लगी हुई हो। किसी भी नये आगदार वा अपने उत्पादन के लिए अन्य कई कारोबारों की सेवाओं (लोकोपयोगी सेवा, इंजीनियरी सेवा, अच्छा माल मण्डार करने वालों, आदि) पर निर्भर रहना पड़ता है। अन अधिकवाय मामलों में अधिक लाभप्रद यही होता है कि जो स्थान अभी विकसित न हो, उनमें पूंजी का निवेश करने की वजाय उन स्थानों पर नयी पूंजी का निवेश किया जाए, जहाँ पहले से ही काफी पूंजी लगी हुई हो। इस सीमा तक विकसित देशों को कम विकसित देशों की तुलना में अधिक लाभ है, और यह भी बोटें स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है कि कम विकसित देशों में पूंजी की उत्पादन-शक्ती अधिक होती है। फिर भी यदि पहले से लगी हुई पूंजी ही महत्वपूर्ण है तो कम विकसित देश ज्यों ही अपना पूंजी-निवेश बढ़ा देंगे त्यों ही उनका स्थिति अनुकूल हो जाएगी। दुर्भाग्यवश, कम विकसित देशों के साधनों, या पूंजी के वर्तमान वा ह्याप्तमान प्रतिफलों के महत्त्व के बारे में हम इतना थोड़ा जानते हैं कि इन विषयों के सम्बन्ध में दिग्वासपूर्वक कोई सामान्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

अगली बात यह है कि तेजी में बढ़ती हुई जनसंख्या वाले देशों की अपेक्षा धीरे-धीरे बढ़ती हुई जनसंख्या वाले देशों में पूंजी-आय का अनुपात अधिक होने की आशा की जा सकती है। यह धारणा 'ह्याप्तमान-प्रतिफल के नियम' पर आधारित है, जिसके अनुसार धर्म की मात्रा थोड़ी न वजाय यदि अधिक हो, तो पूंजी से अधिक प्रतिफल मिलने की सम्भावना रहती है। यहाँ यही नहीं मान लेना चाहिए कि सारे कम विकसित देशों में जनसंख्या तेजी में बढ़ रही है, उदाहरण के लिए उत्तरी अमरीका की जनसंख्या एशिया की जनसंख्या की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ रही है। इसके विपरीत यदि जनसंख्या धीरे-धीरे बढ़ रही हो, जैसा कि फ्रांस में है, तो वहाँ मकानों के लिए कम पूंजी की जरूरत होती है, जिसका कि पूंजी-आय-अनुपात काफी अधिक है, और यह बात सम्भवतः अधिक महत्वपूर्ण है।

अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के नापेक्ष महत्त्व पर आधारित तर्कों की चर्चा हम कुछ अधिक विद्वान् के साथ कर सकते हैं। अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में पूंजी-आय-अनुपात में बहुत भिन्नता होती है। इस प्रकार, विनिर्माण-

सम्बन्धी क्षेत्र की तुलना में लाकांपवासी सेवादा के क्षेत्र में यह अनुपात बहुत अधिक होता है। किसी उन्नत औद्योगिक देश में भी यह पाँच या छ गुना अधिक होता है और आधिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में तो यह अनुपात और भी अधिक होता है। यद्यपि इस क्षेत्र में बड़े पैमाने का काम होने वाला मोटा लाभ आर्थिक विकास की वृद्धि का साधन-साधक इस अनुपात को तेजी से गिराना जाता है। इसके विपरीत लाकांपवासी सेवादा में निवेश की गई पूँजी केवल उसी क्षेत्र की नहीं बल्कि क्षेत्र-अर्थ-व्यवस्था की भी उत्पादन-क्षमता बढ़ा सकती है। अतः सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर इसका परिणाम यही होता है कि पूँजी-प्राय का अनुपात कम रहता है। कृषि और विनिर्माण की पूँजीगत आवश्यकताओं में भी बहुत अन्तर होता है। अधिक विकसित देशों में विनिर्माण सम्बन्धी अनुपात की तुलना में कृषि-सम्बन्धी अनुपात अधिक होता है, परन्तु यह सम्भव लगता है कि कम विकसित देशों में कृषि में यंत्रों का अधिक प्रयोग न होने के कारण इसका अनुपात विनिर्माण-सम्बन्धी क्षेत्र (कम-से-कम हस्तशिल्प-उद्योग को छोड़कर) के अनुपात में कम होना चाहिए। ऐसी स्थिति में जबकि हमें विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न अनुपात दिखाई देते हैं और यह भी पता चलता है कि अधिक विकसित और कम विकसित देशों में विभिन्न क्षेत्रों के बीच बिलकुल भिन्न-भिन्न अनुपात होते हैं यह स्वाभाविक ही है कि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को लेकर अनुपात बहुत भिन्न-भिन्न मिलेंगे। विकसित देशों की तुलना में कम-विकसित देशों में कृषि का महत्त्व विनिर्माण-उद्योगों की अपेक्षा वही अधिक होता है। उत्पादन-क्षमता के निचले स्तरों पर अर्थ-क्षेत्रों में लगी जनसंख्या में से ६० से ७० प्रतिशत जनसंख्या की उन्नत कृषि में होती है तब तो देश की जनता के भाजन के लिए अन्न पैदा किया जा सके, इसकी तुलना में इसी काम के लिए विकसित देशों में १२ से १५ प्रतिशत जनसंख्या पर्याप्त होती है। (परन्तु यह सब तुलना उन मारी कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए है जो जनसंख्या का पर्यावरण बनने समय सामने आती है। दादा उल्लेख हमने अध्याय ६ गण्ड १ (ग) में किया है)। निचले स्तरों पर भी कृषि में (भूमि को छोड़कर) बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता नहीं होती। पानी के सम्बन्ध में अर्थात् नहरें या सिंचन, भूमि का कृषि योग्य बनाना, मिचरि या बाढ़-निरोधन के लिए नारी रणों की उन्नत पद्धतियाँ हैं। कम जनसंख्या वाले कम विकसित देश भी प्रति-व्यक्ति कृष्य भेद का बढान के लिए यंत्रों का उपयोग करके लाभ उठा सकते हैं, परन्तु इसी जनसंख्या वाले देशों का कृषि में यंत्रों का अधिक प्रयोग करने में बहुत धोड़ा ही सीमा-लाभ होगा, क्योंकि यंत्रों के व्यापक प्रयोग में उत्पादन में जिनकी वृद्धि होगी, उतने वही अधिक मात्रा में बेरोजगारी बढ़ जायेगी (देखिए अध्याय ३, गण्ड ३ (ग))।

जल-संरक्षण में पूंजी के योगदान को छोड़कर, कम विकसित देशों में कृषि की उत्पादन-क्षमता की वृद्धि पूंजी की बजाय नयी तकनीक (गन्नायनिक ग्राह, बीज, कीटनाशन दवाओं, पत्तों की अदल-बदल आदि) पर अधिक निर्भर करती है। विनिर्माण-सम्बन्धी उद्योगों के विकास में बहुत अधिक मात्रा में पूंजी की जरूरत होती है। यह बात यह है कि कृषि उद्योगों का जहाँ-तहाँ विकास बाधनीय है वहाँ उसमें अधिक पूंजी की जरूरत नहीं पड़ती, परन्तु फैक्टरी उद्योगों के विकास की भी उपस्था नहीं की जा सकती और विकास के इन स्तरों पर कृषि की तुलना में फैक्टरी उद्योगों के लिए बहुत अधिक मात्रा में पूंजी की जरूरत होती है। चूंकि कृषि और विनिर्माण-सम्बन्धी उद्योगों में संज्ञानार देने की शक्ती में (६ १ में १० १ तक) इतना अधिक अन्तर है, और चूंकि कृषि की उन्नति पूंजी की बजाय कृषि-विस्तार और अनुसंधान पर होने वाले वार्षिक व्यय पर नहीं अधिक निर्भर करती है, अतः यह निष्कर्ष निकालना समीचीन प्रतीत होता है कि औद्योगिक देशों की तुलना में कम विकसित देशों में पूंजी में थोड़ी-सी ही वृद्धि करके आस में एक निश्चित मात्रा में वृद्धि की जा सकती है। इसके विपरीत, कम विकसित देशों को लोच-निर्माण तथा लोचो-पयोगी सेवाओं (बन्दरगाहों, रेलवे, मटकों, बिजली, मूलों आदि) पर बहुत अधिक धन खर्च करना पड़ता है, औद्योगिक देशों में आय का जितना भाग इन सेवाओं पर खर्च होता है, शायद उसमें अधिक अनुपात में कम विकसित देशों में खर्च होगा, अतः विभिन्न क्षेत्रों के नापसंद महत्त्व के प्रभाव के फलस्वरूप हो सकता है कि पूंजी-आय-अनुपात में अधिक अन्तर न पड़े।

अतः में, हम पूंजी की तुलनात्मक कमी से उत्पन्न होने वाली अन्नता की बात को लेते हैं कम विकसित देशों में पूंजी की विकसित देशों की तुलना में अधिक नभानु कर खर्च करना लाभप्रद होता है। उन प्रकार, यदि कोई ऐसी प्रक्रिया अपनाता सम्भव हो जिसमें आरम्भ में भारी मात्रा में पूंजी-निवेश करना पड़े और बाद में मजानत-व्यय कम हो, अथवा इसके बदले में कोई ऐसा उपाय चुनना हो जिसमें आरम्भ में थोड़ी पूंजी का निवेश करना पड़े और उस पर वार्षिक खर्च अधिक हो, तो प्रायः बाद वाला उपाय अपनाता अधिक उपयुक्त होता है। पचास वर्षों के लिए कोई निर्माण करने की बजाय बीस वर्षों के लिए निर्माण करना अधिक अच्छा है, ऐसे उपाय अपनाता अधिक अच्छा है जिनमें मशीनों की बजाय हाथ की मेहनत लगे, और सामान्यतया श्रम की तुलना में पूंजी में विफायत करना अधिक अच्छा है। परन्तु इन सब बातों को निरक्षेप नहीं बल्कि नापेक्ष माना जाना चाहिए, इसके पीछे यह नहीं है कि पूंजी बिलकुल खर्च ही नहीं की जानी चाहिए, बल्कि तब यह है कि चूंकि ऐसे देशों में अधिक विकसित देशों की तुलना में पूंजी अधिक दुर्लभ होती है, अतः उसे बचाने

विषयगत से सब बिया जाना चाहिए। यत् तक सब कम विकसित स्था पर नामू होता है परन्तु उन देगा पर यत् विगत रूप से नामू होता है जिनम भौतिक मायना की तुलना म श्रम का अधिक्य हा ब्याक्ति उन स्था म पूजा म बार्त् वृद्धि या टकताक म बार्त् सुधार बिय बिना हा श्रमिका की श्रम ता कुन कम गर्या उपात्न का वतमान स्तर कायम रूप मरती है। मध्य-पूर्व श्रौर अधिष्ठा कर्णिया क कृत् देग एमी स्थिति म है जने भाग्यवत जिनक बाग म बत् धारणा है कि वनी की कुन कृषि पाय भूमि पर वतमान उपकरण श्रौर टकताक क गाव सेगी करन क तिण जिनक व्यक्तियता का उत्कर्त है यत्। नगभग २/ प्रतिगत श्रितिक नाम सती क काम म नग हुए है। एम देगा म श्रम क स्थान पर पूजा नगाना बरबानी है श्रौर कृषि निमाण मध्य-प्री काम स्तारत श्रौर भवन निर्माण या श्रय बामा म वेवन उनी अवस्थाप्रा म भौतिक का स्तमान दिया जाना चाहिए जब मगान क दस्तमान म उत्पात्त म एमी वृद्धि सम्भव हो जो कि वेवन अधिन श्रम क प्रयोग मे न हा पाए। हम निष्पत्त का उपनिष्ठात यह है कि अधिन विकसित स्था की तुलना म कम विकसित स्था म श्राम म वृद्धि करन के लिए पूजा का याग कम-से कम नना चाहिए।

विकसित और कम विकसित देगा म पूजा श्राय का सीमात श्रद्ध्या भिन्न भिन्न क्या होता चाहिए, एग मम्ब २ म एम आधा दर्जन कारण पर विचार कर चुके है। सम्पूर्ण विन्नेषण का निष्पत्त यह है कि विगी कम विकसित देगा म पूजा श्राय का सीमात अनुगत क्या है यत् हम नया जानन श्रौर हत् नवन अनुमात सुशा गवते हैं कि श्रमरीका का तुलना म बिना देग का अनुपात कम है या अधिन। साथ हा यदि बिना श्रय प्रामाणिक नामश्रा क अभाव म हम श्रौचागिन देगा म पाय गए अनुदान क आधार पर रूप ता बत् गरवता म हम यना नग जाएगा कि कम विकसित देगा म श्राय म इतनी मत् गति म वृद्धि क्या हाती है। अनुमान है कि भारत जमा एग अपनी राष्ट्राय काक क नगभग ४ या ५ प्रतिगत का प्रतिवष निवग करता है। हत् श्रािका की तुलना श्रौचागिन स्था क श्रािकटा म करगा धामक है ब्याक्ति कम विकसित देगा क श्रािकटा क सम्बन्ध म हम परना जानवारा नत् है। उत्पत्तण क लिए हम यत् नत् मातूम कि गजार भर क पायक कमात बात्ता बिगान कपन बना क नयी भूमि का अता क पाय बनान म तहर-व्यवस्था या भूमि-सुरक्षा म श्रौर अवन महान का सुधारन श्राति म स्वयं जितना पूजा सगता है कत् बत् अनुमान बिना ना गवता है कि श्रामीण छात्रा म पूजा निमाण क सम्बन्ध म जो अनुमात लगामा क्या है बत् वास्तविक म कम है। किन्तु यदि हम एन श्रािकटा को रयीकार करत ता एका ५ प्रतिगत का वाचिक निवग निवग स्थाय श्राय म नत् म ३ प्रतिगत का वृत्ति कत् स्थाय स्था पर स्तारत का



जनमस्या टम ममय वट रही है। यदि निरग थोडा हो प्रौर उमका अयिन अंग आवात-व्यवस्था म लगाया गया हा प्रौर उत्पादक निवग कुल निवग वा थोडा अग रह गया हो ता राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर इनसे भी कम हा सकती है। ऐसी स्थिति म वर्तमान निवेग जनमस्या की वृद्धि की निवाहने-भर के लिए ही हागा, प्रौर रहन-महन का स्तर ऊँचा करन के लिए कृठ नहीं बचाया जा सकेगा। यदि भारत अपना रहन-महन का स्तर प्रतिवर्ष १ प्रतिशत बढ़ाना चाह ता उस अपन निवग की वर्तमान दर लगभग दूनी करनी हागी। भारत और अमरीका के रहन-महन के स्तर का अन्तर प्रतिवर्ष बढ़ रहा है, इस अन्तर को आम बटन से रोकने के लिए भारत के रहन-महन के स्तर का उमी दर में बढ़ाना हागा जिस दर में अमरीका का रहन-महन का स्तर बढ़ता है अर्थात् लगभग ११ में ० प्रतिशत वायिन दर से। ऐसा करने के लिए भारत को अपन निवल निवेग की दर राष्ट्रीय आय के ८ या ५ प्रतिशत में बढ़ाकर लगभग १० प्रतिशत तक करनी हागी।

इससे यह प्रश्न भी पैदा हाता है कि पूंजी की उत्पादकता को कम किये बिना ही पूंजी-निर्माण की गति किम प्रकार तेज की जा सकती है। इस समय जो अधशाहृत विकसित देस हैं, उन्होंने भूतकाल म कभी पूंजी-निर्माण की गति को तेजी से बढ़ाया था—अपने वायिन निवल निवेग की ५ प्रतिशत या उमसे कम की दर को १० प्रतिशत या उमसे अधिक कर दिया था। इन ही औद्योगिक क्रान्ति कहा जाता है। दुर्भाग्य से ऐसे आँकडे उपलब्ध नहीं हैं, जिनके आधार पर हम किमी विशेष मामले के बारे में यह बतना सकें कि उन मक्रमण में कितना समय लगा, या इन मक्रमण की अवधि में पूंजी की उत्पादन-क्षमता पर क्या प्रभाव पडा। जापान, जर्मनी, उत्तरी रोडेसिया और हन-जैसे देसों में हमने बहुत तेजी से (अर्थात् लगभग १० वर्षों में) मक्रमण होने देवे है परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि परिवर्तन की गति के प्रयत्नों की उत्पादन-क्षमता को कम किया या नहीं। साथ ही पूर्व-मिद्व आधारों पर यह कहा जा सकता है कि कोई देस उत्पादक डग के पूंजी-निर्माण बढ़ाने की दिशा में एव निश्चित सीमा में आगे नहीं जा सकता। इनमें से दो सबसे अधिक महत्वपूर्ण सीमाएँ (बिना उन्नत प्राकृतिक मापन, और उन्नत मत्सुानों के होन हुए भी) कौशल की कमी और लोकोपयोगी सेवाओं की अपर्याप्तता हैं।

कौशल की कमी के कारण केवल इतना ही नहीं कि लोग उत्पादक टग से पूंजी का इस्तेमाल नहीं कर पाए, बल्कि इसके फलस्वरूप यह भी हो सकता है कि लोग उसे किमी भी रूप में इस्तेमाल ही न कर सकें। अभी हम देखेंगे कि आगे से अधिक पूंजी निर्माण उभारता तथा निर्माण कार्य के रूप में होता है। अतः इमारत तथा निर्माण-कार्य कितना बढ़ाया जाएगा, उमी के अनुसार

पूँजी-निर्माण भी बढ़ेगा। यदि बडई, राजगीर, बिजली-मिन्नी और दूजीनियर न हों, तो कोई योजनाएँ पूरी नहीं की जा सकती, फिर चाहे वे गन्धको, पुनो, बांधो, कारखाना, बिजली के कारखानो व मकानो या अन्य किसी भी निर्माण-कार्य से सम्बन्धित हों। अतः हम प्रश्न में कि पूँजी-निर्माण का काम कितनी तजी में बढ़ाया जा सकता है, पहले यह प्रश्न पैदा होता है कि कितनी शीघ्रता से दूगारती उद्योग का विस्तार किया जा सकता है। दूसरी सीमा जो कि लोकोपयोगी सेवाओं की अभावमानता की है इमविषय लागू होती है कि नये उद्योगों की संचालन-मुविधा, मोदी-मुविधा, जल-सभरण-अवस्था बिजली शक्ति तथा एसी ही अन्य सेवाओं की जरूरत पड़ती है। परन्तु लोकोपयोगी सेवाओं के विस्तार (यह मानकर कि वित्त उपलब्ध है) के प्रश्न से यह प्रश्न पैदा होता है कि किस दर में इन सेवाओं का निर्माण किया जा सकता है, यह प्रश्न वेग ही कि निर्माण-उद्योग का विस्तार किस दर से किया जा सकता है। अतः अधिकाधिक पूँजी लगाने के मार्ग में सबसे मुख्य कठिनाई कौशल की कमी है।

कौशल के लिए या तो बाहर में लोगों को बुलाया जा सकता है, या देश के लोगों को प्रशिक्षण दिया जा सकता है। उत्तरी रोडेनिया में बारीगरो को जरूरत के मुताबिक बाहर से बुलाया गया था, और इसीलिए पूँजी-निर्माण का काम बिना किसी प्रत्यक्ष बाधा के तजी में आगे बढ़ाया जा सका। अन्य स्थानों पर कौशल का विस्तार काफी सीमा तक प्रशिक्षण पर निर्भर होता है, यद्यपि हर मामले में बारीगरा को बाहर से बुलाने से, चाहे उन्हें केवल प्रशिक्षण के प्रयोजन के लिए ही बुलाया जाए, पूँजी-निर्माण का काम अधिक आसान हो जाता है। किसी भी प्रशिक्षण-कार्यक्रम में राजगीरो और परवेशकों के प्रशिक्षण का काम बहुत बड़ा होता है, पर इसके अलावा और भी कई प्रकार के लोगों को प्रशिक्षण देने की आवश्यकता होती है। उन लोगों को भी प्रशिक्षण देना पड़ता है जिन्हें पूँजी की स्थापना के बाद उसे इन्फ्रामाल में लाना होता है। विकास-कार्यक्रम में पहले यदि उसके लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं की गई तो बड़ी निराशा उठानी पड़ती है। यद्यपि ये कार्यक्रम राष्ट्रीय धन को देगले हुए कर्दाबिन् ही बडे होते हैं, फिर भी उनको पूरा करने में प्रत्यक्ष कठिनाई आती है, और वे उतनी शक्ति में आगे नहीं बढ़ पाते जितनी शक्ति में उन्हें आगे बढ़ना चाहिए। इसके विपरीत यदि प्रशिक्षण का एक बृहद् कार्यक्रम आरम्भ कर दिया जाए, जैसा कि हम में हुआ, या जैसा कि मुझ आरम्भ होने पर नेताओं के शीघ्र विस्तार के साथ-साथ चलता है, तो कोई कारण नहीं है कि हम वर्षों के भीतर पूँजी-निर्माण की शक्ति को दूना करने में कौशल की कमी के कारण बाधा पैदा हों। यदि प्रशिक्षण-मुविधाओं की व्यवस्था कर दी जाए और यदि धन देना से अनुभवों परवेशकों को बुलाने का ध्यान रखा

की माथा उन्नीस घाय की तुलना में बहुत कम होती है। औद्योगिक दुर्घटनों में घुनघटपादन में लगी पूर्वी की माथा राष्ट्रीय घाय में तीन गुना से भी अधिक होती है जबकि अल्पविकसित देशों में भूमि का छोटा हिस्सा पूर्वी की माथा राष्ट्रीय घाय में कम होती है या उससे बहुत अधिक नहीं होती। इन तीनों देशों में मृत्यु-दर के लिए राष्ट्रीय घाय का संकेत २ या ३ प्रतिशत रहता है जबकि अल्पविकसित देशों में मृत्यु-दर के लिए राष्ट्रीय घाय का ७ से १० प्रतिशत तक रहता है। अतः अल्पविकसित देशों में मृत्यु-दर का घातक प्रभाव अधिक होता है।

यदि हम इन देशों पर विचार करें तो यह धारणा के विभिन्न अंशों में घाय पूर्वी-निर्देशन का विभाजन कि प्रसार होता है। हमारे पास बहुत उन्नत औद्योगिक देशों का छोटा हिस्सा है, जैसे देशों में कुल निर्देशन कुल राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग २० प्रतिशत होता है। ऐसे देशों के बीच परस्पर भी अंतर पाया जाता है परन्तु यदि हम किसी सामान्य मानक की विचार में एक कर दें तो हम पाएँगे कि कुल निर्देशन (यथा परिगणनिका का छोटा हिस्सा) का विभाजन इस प्रकार हो सकता है—

घातक-व्यवस्था	लगभग २५ प्रतिशत
नौकरी निर्माण और गतिशीलता के विकास	३४ "
विकास और कृषि	" ३० "
अन्य कारणात्मक	" १० "

१०० प्रतिशत

ये चौकट लक्ष्य घायियों का छोटा हिस्सा है, अलग-अलग देशों में इन घायों का घट-बढ़ होता रहता है, जिसकी पूर्ति करने की इन समय आवश्यकता नहीं है।

इन चौकटों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। सबसे पहले घातक-व्यवस्था का निर्माण। सामान्यतया लोग का यह मानना घातक होता है कि देश की जनता के रहने की व्यवस्था मान पर कुछ निर्देशन का एक बहुत बड़ा भाग व्यर्थ किया जाता है, परन्तु कम-से-कम औद्योगिक देशों का यह एक सामान्य लक्षण है। जनसंख्या की वृद्धि को देश के अनुसार देश का अनुपात घटता-बढ़ता रहता है। ऐसे देशों में भी यह अनुपात सम्बन्ध बहुत अधिक होता है जहाँ अभी भी लोग कृषि में इतने उद्योग को छोड़ जा रहे हैं क्योंकि इनके लिए इन्होंने का पैनी में निर्माण करना शुरू किया है। सामान्यतया कार्य के लिए निर्देशन में यह अनुपात लगभग २० प्रतिशत है और अल्पविकसित देशों में लगभग ३० प्रतिशत। घातक-व्यवस्था पर हमें जो कुछ कहना

की बड़ी आसानी से उपेक्षा हो जाती है, ऐसा लगता है कि हम में पृथ्वी पंचवर्षीय योजना बनाते समय इसकी उपेक्षा हो गई थी। कम विकसित देशों को आवश्यकता में अपने निवेश के २५ प्रतिशत से भी अधिक खर्च करने की जरूरत होती है यदि वे चाहते हैं कि विकास आरम्भ होना हो जिन शहरों में लोग आकर बसने लगेंगे उनकी अवस्था वैसी ही न हो जाए जैसी कि प्रायः औद्योगिक जाल्न्ति के समय शहरों की हो गई थी।

य आंकड़े यह भी बताते हैं कि लोक-निर्माण और लोकोपयोगी सेवाओं (मडका, गोदियो, परिवहन जल विजली, स्कूल अस्पताल, नरकारी इमारतों) का कितना महत्त्व है। औद्योगिक देशों में भी इस मद में लगने वाली पूंजी विनिर्माण-बायों में लगने वाली पूंजी में अधिक होती है। हम इस बारे में और अधिक जानना चाहते हैं कि आर्थिक विकास के दौरान यह अनुपात कैसे घटता-बढ़ता है परन्तु जो आंकड़े उपलब्ध हैं उनसे हम कोई विश्वसनीय निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। ऐसे कारण विद्यमान हैं, जिनके आधार पर विश्वास किया जा सकता है कि विकास की शुरु की दशाब्दिया में यह अनुपात विशेष रूप से अधिक होता है, और उसके बाद कम होता जाता है। इसका कारण यह है कि आरम्भिक विकास की अवस्था में लोकोपयोगी सेवाओं की स्थापना करनी पड़ती है, और यद्यपि उनसे अनुरक्षण, सुधार और व्यवस्था के विस्तार पर भी धन खर्च करना जरूरी होता है, परन्तु सम्भव है कि बाद में किये गए ये खर्चे आरम्भ में किये गए खर्चों की तुलना में कम हों। यह वैसी ही धारणा है जो कुल निवेश की तुलना में निवल निवेश के कम होने की सदिग्ध प्रवृत्ति का समाधान खोजते समय हमारे सामने आई थी। कुल पूंजी-निवेश के अन्तर्गत उपस्कर के खर्चों की तुलना में निर्माण-खर्च के कम होते जाने की प्रवृत्ति का समाधान करते समय हम फिर इस धारणा को देखेंगे। और आगे भी उन अर्थशास्त्रियों द्वारा दिये गए एक तर्क के रूप में हमारा इससे वास्तव में पडेगा जिनका विचार है कि अच्छी तरह से विकसित देशों को अपनी 'परिपक्व' बचतों का निवेश करने के लिए पर्याप्त अवसर ढूँढने में अधिकाधिक कठिनाइयाँ होती जाएंगी।

लोक-निर्माण और लोकोपयोगी सेवाओं में पूंजी-निवेश के महत्त्व का एक और दिलचस्प उपनिदान यह है कि गैर-सरकारी निवेश की तुलना में सरकारी निवेश अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। ऐसे देशों में, जिनमें सरकार लोकोपयोगी सेवाओं का काम गैर-सरकारी उद्यमकर्त्ताओं पर छोड़ देती है, सरकारी निवेश कुल निवेश का एक छोटा-सा भाग—१० प्रतिशत या इससे भी कम—होता है। परन्तु लोकोपयोगी सेवाओं का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर यह अनुपात बहुत अधिक बढ़ जाता है, और सैन्य और विनिर्माण में सरकारी पूंजी-

निवेश की चर्चा न भी करें ता सरकार द्वारा केवल घावाम के सर्वे की जिम्मे-  
दारी अपने ऊपर ले लेने में ही यह अनुपात और भी तेजी में बढ़ जाता है ।  
कम विकसित देशों में तो बहुत से देशों ने इन निवेशों की जिम्मेदारी अपने  
ऊपर यह जाने बिना ले ली है कि इनमें लक्ष होने वाली राशियों में सरकार  
पर सर्वे का बोझ इनका अधिक बढ़ जाएगा कि वह उसे मजाल नहीं पाएगी ।

निर्माण-क्षेत्र और कृषि में बीच निवेश का विभाजन क्या हो, यह हमें बात  
पर निर्भर होता है कि किसी देश की अर्थ-व्यवस्था में इन दोनों का सापेक्ष  
महत्त्व क्या है । ब्रिटन में कुल निवेश का केवल ५ प्रतिशत कृषि में लगाया  
जाता है, परन्तु वहाँ इसके केवल ५ प्रतिशत लोगों को रोजगार मिला  
हुआ है । अमरीका में कृषि में निवेश का अनुपात ८ में १० प्रतिशत के लग-  
भग है । हर देश में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के बढ़ने में कृषि की तुलना में  
निर्माण-क्षेत्र का विस्तार होता है, क्योंकि ज्यो-ज्या लोग अधिक धनी होने जाते  
हैं, वे खाद्य के उपभोग की तुलना में तैयार वस्तुओं की अधिक गरीब करने  
लगते हैं । अतः निर्माण-क्षेत्र में निवेश किये गए अनुपात के बढ़ने और कृषि में  
निवेश किये गए अनुपात के घटने की महत्त्व प्रवृत्ति होती है । इसके प्रतिस्पर्धा,  
सापेक्ष अनुपात किसी देश के प्राकृतिक साधनों और उसकी जनसंख्या की तुलना  
पर निर्भर करता है, क्योंकि हमसे यह निश्चित होता है कि उम्र देश में जन-  
संख्या का आधिक्य है या नहीं, और उम्र देश को खाद्य के आयात के बदले में  
तैयार वस्तुओं का निर्यात करना चाहिए अथवा समृद्ध बनने के लिए तैयार  
वस्तुओं के बदले में मूल वस्तुओं का निर्यात करना चाहिए । जापान या भारत-  
जैसे अधिक जनसंख्या वाले देशों में लोग यह माना करते हैं कि विरासत-साध-  
न के अन्तर्गत निर्माण-क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक निवेश किया जाए, क्योंकि  
सब लोगों को रोजगार देने या खाद्य के आयात के मूल्य का भुगतान करने का  
सूझा कोई उपाय नहीं है । इसके विपरीत, वर्मा और म्यांम-जैसे देशों में,  
जिनमें काफी मात्रा में उपजाऊ भूमि है, लोग माना करते हैं कि इस प्रकार का  
निवेश अधिक-अधिक किया जाए जिनमें प्रति व्यक्ति कृषि-उत्पादन बढ़े ।

अतः, हम हम बात पर विचार करेंगे कि निर्माण, उपकरण और भण्डार  
की वृद्धि करने के लिए पूँजी-निर्माण का विभाजन किस प्रकार होता है । हमें  
पढ़ने हम भण्डार की बातें करेंगे, क्योंकि प्रायः हमारी उपेक्षा की जाती है । किसी  
भी समय वर्तमान भण्डार राष्ट्रीय आय के ३ और ६ के बीच होते हैं । पर-  
न्तु यदि राष्ट्रीय आय में ३ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि होती रहती है तो राष्ट्रीय आय  
का लगभग १ से १.५ प्रतिशत तक भण्डारों में लगाया की उम्मीद रहती है,  
यह निवेश निवेश का लगभग १० प्रतिशत तक हो सकता है । विरासत-साधनों  
को रचना बनाने में प्रायः हम बड़ी मदद की उम्मीद की जाती है, जिसका परिणाम

ये आँकड़े कुछ गलत धारणाओं पर भी प्रकाश डालते हैं और इसी कारण महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए, ये आँकड़े पूँजी-निर्माण में इमारतों, भण्डारों और आवाग-व्यवस्था का महत्त्व स्पष्ट करते हैं जिसकी उपेक्षा करने के फल-स्वरूप बहुत से विकास-कार्यक्रम एकटक में पँस चुके हैं। यदि किसी देश में कोई व्यक्ति पूँजी-निवेश का कोई कार्यक्रम शरम्भ करना चाहे, तो साधनों और सम्भावनाओं के विस्तृत सर्वेक्षण के अलावा अन्य कोई चारा नहीं है, परन्तु अन्य देशों में जो कुछ हुआ है उसे दृष्ट लेना भी लाभप्रद होता है—कम-से-कम इतना तो पता लग ही जाता है कि किसी बड़ी मद की उपेक्षा तो नहीं हुई है।

(क) बचत की आवश्यकता—पिछले खण्ड में हमने इस तथ्य का प्रति-पादन किया है कि आर्थिक विकास के लिए निवेश बहुत जरूरी है। दूसरे ढंग में इसका मतलब यह है कि विकास के लिए बचत जरूरी है, क्योंकि बचत के अनुसार ही निवेश किया जा सकता है। फिर भी यह प्रश्न पूछा जा सकता है

२. बचत

कि लगातार निवेश करते रहने में क्या स्वयं जरूरत के मुताबिक बचत नहीं हो जाएगी, जिसमें हम बचत की मात्रा के सम्बन्ध में चिन्ता किए बिना ही निवेश पर ध्यान केंद्रित कर सकें। इतना ही नहीं, यह भी पूछा जा सकता है कि चूंकि बचत के फलस्वरूप वस्तुओं की विपरीत पर प्रभुता लग जाता है, अतः क्या हमसे निवेश पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा, और क्या इसीलिए लोगों को अपनी बचत के बजाय उसे खर्च करने के लिए प्रेरित नहीं किया जाना चाहिए। ये प्रश्न काफी समय से पूछे जाते रहे हैं और बचत के मोनों की विस्तृत व्याख्या करने से पूर्व हमें इन प्रश्नों का उत्तर देना है।

लोगों की धारणा यह है कि जितनी ही हो, परन्तु वे केवल बड़ी उपभोक्ता-वस्तुओं को खरीद सकते हैं जो उच्च मूल्य के होते हैं। चूंकि उनकी आय का शीघ्र उप-भोक्ता-वस्तुओं और निवेश-वस्तुओं का उत्पादन है, और चूंकि वे केवल उप-भोक्ता-वस्तुओं ही खरीद सकते हैं, अतः उन्हें अपनी आय का उचित भाग बचाना चाहिए जितना उत्पादन निवेश-वस्तुओं के मूल्य के बराबर हो। दूसरा धारणा यह है कि जितनी पूँजी का निवेश किया गया हो, उतना अवश्य बचाया जाना चाहिए। परन्तु यदि हम आधार पर बचत करने के लिए लोगों को बाध्य किया गया तो सम्भव है कि बचत अपनी नहीं हो, जितनी वे चाहते हैं। यदि लोग अधिक बचत करना चाहेंगे, तो वे उपभोक्ता-वस्तुओं का खर्च कम कर देंगे और यदि वे कम बचत करना चाहेंगे, तो उपभोक्ता-वस्तुओं का खर्च बढ़ा देंगे। दोनों ही अवस्थाओं में उनका खर्च तैयार की गई उपभोक्ता-वस्तुओं के मूल्य के ठीक बराबर नहीं होगा। यदि लोग पूँजी-निवेश में अधिक बचत

करेंगे तो उपभोक्ता-वस्तुओं का खर्च कम कर देंगे और यदि वे कम बचत करना चाहेंगे, तो उपभोक्ता-वस्तुओं का खर्च बढ़ा देंगे। दोनों ही अवस्थाओं में उनका खर्च तैयार की गई उपभोक्ता-वस्तुओं के मूल्य के ठीक बराबर नहीं होगा। यदि लोग पूँजी-निवेश में अधिक बचत

करना चाहते हैं तो उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादकों को घाटा होगा, क्योंकि लागत के रूप में अपनी आय का जो एक भाग उन्होंने स्वयं बच दिया है, वह विक्री के रूप में उनके पास वापस नहीं पहुँचेगा। और यदि लोग निवेश की गई पूँजी से कम बचत करना चाहते हैं तो उत्पादकों को अप्रत्याशित खान होगा। अननुलन को इन दोनों में से कोई भी अवस्था किसी भी दोष-निवारक उपाय का प्रभाव नष्ट कर देती है। यदि लोग पूँजी निवेश से अधिक बचत करना चाहते हैं, तो घाटे में चल रहे उत्पादक अपना परिष्कृत बचत करेंगे, और इससे आय और रोजगार में गिरावट आ जाएगी। इसके विपरीत, यदि बचत से अधिक पूँजी का निवेश होता है, तो उत्पादक अपना परिष्कृत बढ़ा देंगे और इससे आय बढ़ जाएगी। इस आय के बढ़ने का असर यह होगा कि वास्तविक उत्पादन बढ़ जाएगा, और यदि धन, भूमि तथा पूँजी निष्क्रिय पड़ेंगी, तो उनका उपयोग हो जाएगा। परन्तु यदि लागत बढ़ाने के लिए आवश्यक श्रोतों में से कुछ या सब श्रोतों का अभाव हो, तो आय की वृद्धि होने के बजाय कीमतों में स्फोटिकारी वृद्धि हो जाएगी।

बचत का महत्त्व है या नहीं, इन प्रश्न का यही उत्तर है। निस्संदेह बचत का महत्त्व है। निवेश के एक विशेष स्तर पर यदि लोग बचत के लिए अल्प-धिक इच्छुक हों, तो अवस्फीति पैदा हो जाएगी, और यदि उनसे बचत के लिए पर्याप्त इच्छा नहीं होगी, तो यदि सम्भव हुआ तो उत्पादन बट जाएगा अन्यथा कीमतों में स्फीति पैदा हो जाएगी। निवेश के एक विशेष स्तर पर लोगों में बहुत अधिक या बहुत कम बचाने की इच्छा की सम्भावना समान होती है।

विकटोरिया के शासन-काल में आम जनता के मन में ये समझौसे पैदा नहीं हुईं, क्योंकि लोग बचत के स्तर जो अलग रखकर निवेश के स्तर की बात सोचने के अभ्यस्त नहीं थे। उनकी धारणा के अनुसार उद्यमकर्ता अपनी बचत का या उधार लेकर दूसरों की बचत का निवेश करते थे; जो नहीं बचता था उसके निवेश का प्रश्न ही नहीं था और जो बचता था वह पूँजी-पूरा अपने-आप निवेश कर दिया जाता था। इन प्रकार बचत तथा निवेश दोनों सर्वद्व समान रहते थे और बचत के अनुसार ही निवेश की मात्रा निर्धारित होती थी। चूंकि विकटोरिया-काल के लोग निवेश बढ़ाना चाहते थे, अतः उन्होंने बचत बढ़ाने के उपायों पर ध्यान दिया। परन्तु हमारी वर्तमान धारणा के अनुसार मारी बचत का निवेश होना सदा ही आवश्यक नहीं है (कुछ बचत का निमूचय भी किया जा सकता है), और यह भी असुरी नहीं है कि वर्तमान बचत के बराबर ही निवेश हो (हो सकता है कि निश्चित बचतें निवारक या अतिरिक्त मुद्रा बनाकर निवेश किया जाए)। अतः हम बचत और निवेश का निर्धारण करने वाले तत्त्वों का अलग-अलग विश्लेषण करना है। और हमें

यह बात भी माननी पड़ेगी कि किसी समय के निर्वहन को देखते हुए बचन की मात्रा बढ़न ही कम या बहुत अधिक भी हो सकती है।

निवेश निर्धारित करने वाले तरका का अध्ययन करत समय हमें एक अन्य सम्भावना दिखाई पड़ती है, जिसकी ओर विस्तारितकारीन अधिवास लागों न ध्यान नहीं दिया था। यह काल्पनिक सम्भावना हमें बात की है कि बचन में वृद्धि के पलम्बरूप निवेश अपने आप बढ़ जान की बजाय घट भी सकता है, जैसा कि तत्कालीन लोग समझते थे। यह काल्पनिक तब हमें पूव-धारणा पर आधारित है कि ममाज की पूजी और उसके उपभोग का अनुपात निश्चित है। अगर ऐसा न होता तो पूजी-मलय उपभोग की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ रहा होता, और उपभोग की वृद्धि की दर से कोई कमी धाने में पूजी की वृद्धि की दर पर अनिवायन कोई स्कावट न आती। क्या पूजी और उपभोग का अनुपात निश्चित है? जरूरी नहीं कि ऐसा हो। पहली बात तो यह है कि उपभोजना-यन्त्रण पूजी-प्रधान या पूजी-न्यून दोनों प्रक्रियाओं में प्रभाव की जा सकती है। हमका चुनाव कुछ सीमा तक हमें आधार पर होता है कि अन्य माधना की तुलना में पूजी कितनी मस्ती है, अपान्-व्याज की दर क्या है। मिनधयपिता बढ़ने से व्याज की दर कम हो जाती है—यदि दर पहले ही कम हो तो उसमें बहुत अधिक कमी नहीं होनी परन्तु यदि पहले ही बहुत ज्यादा हो, तो उसमें बहुत कमी हो जाती है। इन मिनधयपिता बढ़ने में उलाहनों को पूजी-प्रधान प्रक्रिया का काम में लाने के लिए प्रोत्साहन मिल सकता है और हमके साथ उपभोजना-वस्तुओं में उत्पादन के लिए पूजीगत उत्पादन को भी बढ़ावा मिल सकता है भले ही उपभोजना वस्तुओं की मांग बहुत धीरे-धीरे बढ़ रही हो। यह सब काल्पनिक सम्भावना है। उपभोग की स्कावट और व्याज की दर में कमी, दोनों के प्रभाव प्रतिकूल होने हैं इन हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते कि परिणाम क्या होगा। चायद हमसे भी अधिक बटिनाई तब पैदा होनी है अब यह पूछा जाता है कि उपभोग में अभिप्राय क्या है। जैसा कि हम पिछले मण्डल में देन चुके हैं, ममृद घोषोवित ममुदाया में भी कुछ नियत निवेश का केवल लगभग ३० प्रतिगत विनिर्माण-उद्योग और कृषि में जाता है, और हम प्रसार दुकानों में इन यन्त्रणों की मयन में हमारा प्रयोग सम्बन्ध है। लगभग ६० प्रतिगत मकानों, तारोपयोगी सेवाओं तथा मावजनित्र निर्माण में जाता है। इनकी मांग या इनमें निवेश की मांग का दुकानों में उपभोजना वस्तुओं की विषय में कोई निवट का सम्बन्ध नहीं होता, हमका कारण यही है कि ये औपकारीत निवेश होने हैं और बगुन धरने के बाद इनमें पूजी की जरूरत पड़ती है। ये निवेश भी अधिक पूजी-प्रधान होने हैं और इनमें पूजी प्राय अनुपात विनिर्माण और कृषि के पूजी-प्राय



अनुपात का पाँच या छ गुना होता है। और इन कारण व्याज की दर के परिवर्तन का इन पर विपण प्रभाव पड़ता है। इन मितव्ययिता में वृद्धि होने में विनिर्माण में निवेश कम हो जाता और मकानों का निर्माण भी नैवाश्रो तथा नार्वेजिक निमाणों में उनकी तुलना में निवेश बढ़ जाता काफी तर्कमूलक लगता है। सिद्धान्त रूप में यह सम्भव है कि मितव्ययिता बढ़ने से निवेश को घटका लगेगा परन्तु इतनी ही सम्भावना इन बातों की भी है कि इससे निवेश को प्रोत्साहन मिलेगा।

बचत-स्तर अत्यधिक बढ़ जाना की सम्भावना पर उन देशों का विचार करना चाहिए जिनके पास पहले से ही इतनी बड़ी मात्रा में पूँजी है कि उन पूँजियों का लगान के लिए पर्याप्त प्रेरणा नहीं है, और इस बात का खतरा है कि निवेश के अवसरों का अभाव वही हमेशा ही न बना रहे। यह पूछा जा सकता है कि क्या ऐसे कोई देश हैं, क्योंकि सर्वाधिक धनी देश भी मकानों, संचार-माध्यमों और अल्पताला आदि के सम्बन्ध में अपनी इच्छा के अनुसार लगातार उसका स्तर ऊँचा उठा रहे हैं। इनके साथ ही वे नयी-नयी उपभोक्ता-वस्तुओं का और उत्पादन की नयी पद्धतियों का आविष्कार कर रहे हैं, जिनमें नयी पूँजी लगानी पड़ती है। ऐसे देशों की समस्या पर हम आगे (इस अध्याय के खण्ड ३ (घ) में) विचार करेंगे। कम विकसित देशों में ऐसा कोई खतरा नहीं है। इनके विपरीत यदि रफ़्तार मिल सके तो निजी व्यक्ति तो निवेश के इच्छुक हैं ही, साथ ही मछलियों, जल-सम्भरण, बाट नियन्त्रण, सिंचाई, विजली, कारखानों, स्कूलों, मकानों अल्पताला पर खर्च करने की अनेक आयोजनाएँ भी सरकारों के हाथ में हैं। कम विकसित देशों में माँग की कमी निवेश में बाधक नहीं है बल्कि पैसा लगान के लिए बचत ही थोड़ी है। इन देशों में कई दशाब्दियों तक राष्ट्रीय आय के लगभग १० प्रतिशत निवल का सार्वजनिक निवेश लाभप्रद ढंग से किया जा सकेगा। परन्तु लोग केवल ४ या ५ प्रतिशत बचत करना चाहते हैं। इन यदि बचत और निवेश के अन्तर को पूरा करने के लिए मुद्रा बनाई जाए, तो जिनके पास यह मुद्रा पहुँचेंगी वे इसका अधिकांश भाग उपभोक्ता वस्तुओं पर खर्च कर देंगे, और रफ़ीति की प्रवृत्ति पैदा हो जाएगी। परन्तु इसके विपरीत यदि लागू स्वच्छता में ही काफी बचत करेंगे तो बिना रफ़ीति के अधिकाधिक निवेश किया जा सकेगा। अधिक विकसित देशों के मामले में चाहे जो भी दान हो, परन्तु कम विकसित देशों में अधिकाधिक निवेश के रास्ते में बठिनाई यह है कि लोगों में बचत की प्रवृत्ति बहुत ही कम है।

कुछ लोगों का विचार है कि इन देशों में रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने के लिए निवेश को इतनी अधिक आवश्यकता है कि रफ़ीति का नकट भौल

लकर भी निवग किया जाना चाहिए। अत यह जानन के लिए आगे और विन्लेषण करना आवश्यक है कि यदि स्वेच्छा स की गई वचन म अधिव राणि का निवग किया जाए तो क्या परिणाम होगा।

मामा य गदो म इसका उत्तर यहा है कि द्रव्य व रूप म आय लगानार बहता रहेगी जब तक कि वह उस स्तर पर नहीं पहुँच जाएगा जहाँ वचन और निवग बराबर हा जाए। प्रस्तुत विन्लेषण का उद्देश्य यह पता लगाना है कि इस मनुष्यन सि दु पर किस पहुँचा जा सकता है तममे कितना समय लगता है और इस बीच की अधिव म कीमतो तथा उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

आइए हम सबसे पहल उत्पादन का बात ल। हम इन दो बातों का अन्तर समझ पना चाहिए कि तम प्रक्रिया स निमाण किय गए नय पजीगत सामान जब राभ देन लगन है ना तुरन्त क्या प्रभाव पडता है और कालांतर म क्या प्रभाव पडता है। नय पूजीगत सामान रा हान वाता उत्पादन एक-गा ही हाता है चाहे उगम वचन का धन लगाया गया हो या नया द्रव्य बना करके लगाया गया हा। कीमत पर भा इसका प्रभाव समान है अर्थात् इसम कीमत गिर जाती है। इस प्रगम म उपयोगी पजीगत सामान व निर्माण के प्रयाजन मे उपन की जान वाता स्फीति तथा अय प्रकार की स्फीतिया म महत्पुण अन्तर माना जाना चाहिए। हमम ने अधिकाग योग स्फाति का सम्बन्ध युद्ध जनिक स्फीति स समभन है जिनका उद्देश्य बाजार म माग न जाने देकर उहे विनागकारी कामा म लगा देना हाता है। ऐसी स्फीति का सचयी प्रभाव और भी अधिव खराब हा सकता है बघाकि एक और धन की सप्लाई बराबर बडती रहती है और दूसरी ओर माल की सप्लाई की दगा बराबर खराब हाती जाती है। इसक विपरीत लाभप्रत् पजी तयार करन व प्रयोजन म की गई स्फीति ऐसा होता है जा अन्त छाप हा गमाप्ल हा जाती है बघाकि इसक पन स्वरूप जल्दी ही या कुछ समय बाद बाजार म माल की सप्लाई बड जाती है। जिन उद्यमा म तम प्रकार धन लगाया गया हा उनकी प्रकृति पर ही यह निर्भर हाता है कि उत्पादन कितन कम समय म और कितना मात्रा म ागा। यदि मूल्य का इमान् बनवान व कायनम म तम तरह धन लगाया जाएगा ता काफी अरम तक कामन बन्ना रहेगी और बाद म ना जब अधिव बन्व स्तूल स पडकर निवचन लगन ना इसक पन्म्वन्प कीमता म विपय कमी रही हागी। परन्तु यदि दहाना म पानी एकत्र करन सम्बन्धी एमा योजनाया पर नया पन पच किया जाए जिनक तयार हान म कवन कुछ ही मगन लग और लागत बहुत घांता बड और इस जन मे मावा गई उमाना का उत्पादन दूना हा आए, ता स्फीति व कारण कामां म बन्व धोडी वृडि हांग और उसके बाद उत्पादन बन्ने व कारण प्राप्त हा कामने पदन म ना बाडा कम

हो जाएंगी।

स्मरण रहे कि लाभदायक पूंजी का निर्माण करने के प्रयोजन में की गई स्फीति अन्ततोगत्वा स्वयं समाप्त हो जाती है। साथ ही इस बात पर भी विचार करना महत्त्वपूर्ण है कि नयी पूंजी में लाभ मिलना शुरू होने में पूर्व की अन्तरिम अवधि में इसका क्या प्रभाव होता है। इस अवधि में उत्पादन पर, और परिणामस्वरूप कीमतों पर पड़ने वाला प्रभाव इस बात पर निर्भर होता है कि क्या अर्थ-व्यवस्था में कोई ऐसी निष्क्रिय माघन है जिनका उपयोग उत्पादन बढ़ाने के लिए आसानी से किया जा सकता हो। औद्योगिक देशों में गिरावट के उमाने में कारखाने बन्द हो जाते हैं और मजदूर बेकार हो जाते हैं। जब निवग बटा दिया जाता है तो नौकरी में लगाये गए लोग अपनी आय का एक भाग उपभोक्ता-वस्तुओं खरीदने में खर्च करते हैं, जिनमें उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादकों को अधिकधिक उत्पादन करने का प्रोत्साहन मिलता है। इसमें रोजगार बढ़ता है, और फिर यह प्रक्रिया इसी प्रकार चलती रहती है। परन्तु कम विकसित देशों में अवस्था इससे भिन्न होती है। वहाँ उपयोगी उपस्करों में मुमज्जित ऐसी फैक्ट्रियाँ नहीं मिलेंगी जो निष्क्रिय हों, और यदि होंगी भी तो इक्का-दुक्का ही, और माँग का थोड़ा-सा दबाव पड़ते ही वे अधिकतम उत्पादन करने लगेंगी। इनमें से कुछ देशों में—विशेषतया अफ्रीका में—एक दृष्टि में बेरोजगारी बहुत कम है कि यदि प्रचलित मजदूरी पर रोजगार दिया जाए तो लोग आसानी से मिल जाएंगे। कुछ अन्य देशों में, विशेषतया एशिया में, प्रायः देहातो में जनसंख्या की अधिकता है, परन्तु भारी जनसंख्या को रोजगार दे सकने लायक उपस्कर नहीं हैं। यदि अधिक धन का मन्वजन कर दिया जाए तो इसमें कृषि और दस्तकारी-उद्योग का उत्पादन थोड़ा-सा बट जाएगा, परन्तु बहुत ही जल्दी ये अपनी क्षमता के अनुसार अधिकतम उत्पादन करने लग जाएंगे, और द्रव्यरूपी आय में और अधिक वृद्धि करने पर उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन बटने के बजाय कीमतें ही बढ़ेंगी।

जिन अर्थ-व्यवस्थाओं में खाद्य का उत्पादन करने के लिए भूमि न होने के कारण या वस्तुओं का विनिर्माण करने के लिए मशीन न होने के कारण उपभोक्ता-वस्तुओं का उत्पादन बनाया नहीं जा सकता, उनमें भी भूमि या उपस्कर को अन्य कामों से हटाए बिना ही बेसी श्रमिकों को लगाकर कुछ विशेष प्रकार की पूंजी का निर्माण कराना सम्भव है। हम देना चुके हैं कि निर्माण-कार्य के रूप में लगभग ५० में ६० प्रतिशत तक नियत पूंजी लगी होती है। कई प्रकार का निर्माण-कार्य वस्तुतः बिना किसी उल्लंभ उपस्कर के हाथ दगा किया जा सकता है—गिरामिष्टों के निर्माण में लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में बनी रेलवे की लम्बी मुरों इसके उदाहरण हैं। किसी अन्य वस्तु का

उत्पादन घटाए बिना ही बड़ी श्रमिकों का उपयोग मजदूरों, सिचाई की नहरों, पानों के तालाबों, मरानों तथा अन्य प्रकार के निर्माण-कार्यों में किया जा सकता है और उनमें से कुछ निर्माण-कार्यों से—विशेषकर पानों की सिचाई तथा भूमि का कृषि योग्य बनाने सम्बन्धी कार्यों से—शीघ्र और पर्याप्त मात्रा में लाभ होता है। अतः एक दृष्टि से बड़ी श्रमिक वाले देशों की स्थिति उन देशों से अधिक अच्छी होती है, जिनमें बड़ी श्रमिक नहीं होते। इसका कारण यह है कि जिन देशों में बड़ी श्रमिक नहीं हैं उनमें उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन में लगे मजदूरों की वही में हटाए बिना पूँजी-निर्माण का काम नहीं बढ़ाया जा सकता जबकि बड़ी श्रमिकों वाले देशों में अन्य वस्तुओं के उत्पादन पर बिना कोई दुःप्रभाव ही पूँजी-निर्माण बढ़ा सकते हैं।

ऐसे बड़ी श्रमिकों के दम्तेमाल किए जाने के कारण में बाधा घबल पूँजी की कमी नहीं, बल्कि कार्यकर पूँजी की कमी है। यदि सिचाई की किमी नहर की सुदाई में लगे मजदूरों की मजदूरी दी जाएगी, तो वे बाजार में जाकर उससे सामान खरीदेंगे। इस प्रकार द्रव्य की मात्रा तो बढ़ जाएगी लेकिन उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन में उन्हीं हिसाब में वृद्धि नहीं होगी। अतः कीमते बढ़ने लग जाएंगी। मूल्य बढ़ जाने, और कीमते बढ़ने से उपभोक्ता-वस्तुओं के आयात को प्रोत्साहन मिलेगा। इससे भुगतान-दोष पर बुरा प्रभाव पड़ेगा, और यदि आयात और निर्यात पर बड़ा नियन्त्रण लगाकर इस प्रभाव को रोकना न गया, तो परिणाम यही होगा कि देश में गचलित मुद्रा की मात्रा बढ़ जाएगी और इस प्रकार देश के भीतर कीमतों पर अधिक दबाव पड़ेगा।

कीमतों में इस वृद्धि का कारण और प्रभाव उपभोक्ता-वस्तुओं का दोष-अवस्था में हटाने के रोजगार में लगाये गए नये लोगों में पुनर्वितरण करना है। रोजगार में लगाये गए नये लोग पहले किसी तरह मुझारा कर रहे थे, हो सकता है कि अपने रिश्तेदारों के सहारे रह रहे हों। अब उनकी आर्थिक दशा पहले से अच्छी है (अन्यथा सायद उन्होंने यह रोजगार स्वीकार ही न किया होता), अतः अन्य लोगों की हासत निश्चय ही पहले से कम अच्छी होगी, क्योंकि उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हुई है। अतः कीमतों की वृद्धि तथा कराधान दोना का प्रभाव एक-जैसा ही होता है। यदि सरकार सम्पूर्ण समुदाय पर कर लगा दे और उसमें होने वाली आय को सिचाई की नहर पर काम करने वाले मजदूरों की मजदूरी पर गचें करे, तो भी कीमतें बढ़े बिना परिणाम वितरण बँसा ही होगा। क्योंकि और कराधान में किसीको दण्ड दिया जाए इसका निर्णय राजनीतिक कारणों से किया जाता है। सरकारें स्थिति का सहारा सभी क्षेत्रों में जहाँ वे देखती हैं कि इस प्रकार का दबाव करने में कराधान द्वारा उतना ही धन खट्टा करने की संभावना

गजनीनिक कठिनाइयाँ कम हैं।

बिना स्फीति या वनाधान के पूंजीगत निर्माण-कार्य कराने का एक दूसरा तरीका यह भी है कि लोगों का दिना मजदूरी वान करने के लिए राजी कर दिया जाए। हम देख चके हैं (अध्याय : खण्ड १ (क)) कि ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसा किया जाना व्यावहारिक है यदि प्रत्येक व्यक्ति स्थानीय हित के लिए और गांव के उन्नयन के व्यक्ति का अपने नाम होना हो। एसी बात नहीं है कि ऐसे लोगों में सरकार को कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता। पहली बात भी यह है कि इन प्रयोजन के लिए प्रशासनिक व्ययस्था करना जानी है बिना काम गांव में इन निर्माण-कार्यों के लिए प्रचार करना होता है, गांव के लोग जा बूढ़ करना चाहते हैं उन पर विचार विमर्श और उनकी योजना तैयार करके बिना उन्हें मगटिन करना होता है, काम का पर्यवेक्षण करना होता है और इन कामों में प्रभावित होने वाले अन्य नव सरकारी विभागों में सम्बन्ध बनाए रखना जाना है (सामुदायिक विकास की दिशा में काम करने के लिए विशेष रूप से कर्मचारी रखे बिना कभी अधिक सफलता नहीं मिलती)। दूसरी बात यह है कि ग्राम लोग में सरकार को ऐसे कच्चे माल का प्रबन्ध करना होता है जो वहाँ स्थानीय रूप से न मिल सकता हो, और नाप ही कारोबारों तथा अन्य उद्योगों के लिए भी धन खर्च करना होता है। देखा गया है कि इन प्रकार किये गए कामों में सरकार को उनकी पूरी लागत का २० से ५० प्रतिशत तक खर्च करना पड़ता है, और शेष ५० से ७० प्रतिशत की पूर्ति अधिकों के मुक्त काम से होती है। इन प्रयत्नों का महत्त्व केवल इतना ही नहीं है कि उनमें लगी पूंजी से उत्पादन में वृद्धि होती है और हम स्फूर्ति तथा वृद्धि दोनों में बचे रहते हैं बल्कि कई कारणों से इनका महत्त्व और भी अधिक है। ये काम हम दृष्टि में भी महत्त्वपूर्ण हैं कि वे देहाती में सामुदायिक भावना को बढ़ावा देते हैं और गांववासियों में वह भावना पैदा करते हैं कि वे स्वयं अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं। यह एक ऐसी भावना है कि यदि एक बार पैदा हो जाए तो अन्य अनेक दिशाओं में भी लाभप्रद निष्पत्ति मिलती है। आयोजन तैयार करने का भी यह सर्वोत्तम ढंग है, क्योंकि गांव वालों को सामुदायिक आधार पर काम करने के लिए बाध्य नहीं किया जाता, उनको अपनी पसन्द की प्रायोजना पर काम करना होता है, उसके विपरीत सरकार के केंद्रीय स्तर पर तैयार की गई तथा सरकारी खर्च पर बनायी गई आयोजनाओं में चाहे दूसरे ग्रामीण क्षेत्रों की बिनाकुल उपेक्षा न की गई हो परन्तु कम-से-कम जनता की वास्तविक जरूरतें उनसे प्राप्त पूरी नहीं होतीं। सामुदायिक विकास में उनकी जरूरत के अनुसारनाएँ साधनों के लक्षण जाने का पूरा समर्थन किया जा सकता है, परन्तु दूसरी ओर यह भी

समझ लेना चाहिए कि पूँजी-निर्माण में हमसे मिलने वाला धनदान त्रिलकुल सीमित ही होगा, क्योंकि लोग केवल उन्हीं आयोजनाओं पर धन करेंगे जो त्रिलकुल स्वीकार्य हित की होंगी। धन दग उपाय को बट स्तर पर पूँजी-निर्माण के अन्य उपायों के म्यानापन्न के रूप में नहीं माना जा सकता। बिना मजदूरी दिये काम कराना उन देशों में भवने ही अधिक महत्वपूर्ण समझा जाय जहाँ अनिवासेन काम लेने की प्रथा प्रचलित हो परन्तु अन्य देशों में उमकी अधिक गुजादग नहीं है।

द्रव्य बनाकर पूँजी-निर्माण करने सम्बन्धी उपयुक्त धारणा के आधार पर ही धन हम उमसे पैदा होने वाली स्फीति के परिणामों पर विचार करेंगे। हम देखेंगे कि पटना परिणाम यह हुआ कि भुगतान-शेष प्रतिकूल हो जायगा। यदि आयातों पर नियन्त्रण रहे बिना स्फीति को धालू रखा जायगा, तो निदेशी मुद्रा की रक्षित निधियाँ बहुत जल्दी ही समाप्त हो जायँगी। निर्यात पर भी नियन्त्रण रखना जरूरी होगा यदि रखा न किया गया तो देश के अन्दर बढ़ती हुई माँग के कारण निर्यात की जा सकन वाली चीजें देश के भीतर ही खप जायँगी। यदि निर्यात की वस्तुएँ ऐसी हों, जो देश के भीतर उपभोग में नहीं आती (खर और योको) तो यह बटिनाई नहीं पैदा होगी, परन्तु यदि निर्यात की जान वाली वस्तुओं का उपभोग देश के अन्दर भी किया जाता हो (धावल, कपास, तिलहन) तो स्थिति बड़ी चिन्तनीय हो जायगी। निर्यात पर नियन्त्रण लगाना कोई गरन काम नहीं है, क्योंकि इसमें सादृशेण और अधिशृहण का भभट होता है। बड़ी फैक्ट्रियों या बागानों पर दग प्रकार की दमै लागू करना सामान है पर हस्तनिधिधियों या किमानों पर लागू करना सामान नहीं है। इसके अलावा देश के भीतर कीमते बढ़ने से निर्यात-बाजार में भी बटिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। यदि कोई देश प्रतिमागिता के आधार पर निर्यात कर रहा हो, तो उमकी स्फीति के कारण समार की कीमतों पर कोई प्रभाव नहीं पडगा क्योंकि उम देश का उत्पादन समार के उत्पादन का एक छोटा-सा भाग ही होता है और बिरय की कीमतों की तुलना में देश की उत्पादन-मागत बढ़ने के साथ उमका निर्यात घट सकता है। निर्यात के लिए निर्यात-उपदान जैसे अनेक उपाय किये जा सकन हैं, परन्तु बड़ी मात्रा में हुई स्फीति का अन्तिम परिणाम मुद्रा-धवलमूल्यन हो होता है। किमी छोटे देश के लिए इसका कोई प्रतिकूल महत्व नहीं है, क्योंकि उमके व्यापार पर मुद्रा धवल-मूल्यन का प्रतिकूल प्रभाव नहीं पडता और क्योंकि उमकी विदेशी परि-सम्पत्तियों और देहताओं का मूल्य सामान्यतया विदेशी मुद्रा के रूप में नियत होता है, परन्तु किमी बड़े देश के लिए धवलमूल्यन अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है। निर्यात-सम्बन्धी इन बटिनाइयों के अलावा पूँजी के समुद्र गन जाने पर

रोक लगाने की भी जरूरत है, स्फीति के कारण लोगों में धरतू मुद्रा की बजाय विदेशी मुद्रा रखने के लिए प्रोत्साहन पदा होना है, क्योंकि उन्हें धरतू मुद्रा के अवमूल्यन का भय रहता है। इन सब बाना पर विचार करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेशी मुद्रा की स्थिति पर एमा कार्टे पूर्ण नियन्त्रण रखना अत्यधिक कठिन है कि भुगतान शेष पर मुद्रा-स्फीति का कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़ने पाए पर कुछ देग अन्य देगा की तुलना में अधिक आसानी से स्थिति का संभाल लेते हैं।

यह मानते हुए कि भुगतान-शेष की स्थिति खराब नहीं हान दी जाते हम अगला विवेचन जारी रखते हैं। इसके बाद हम देखते हैं कि कुछ कम विक-मिन देशों में उत्पादन का स्थिर रखन हुए कीमतों पर दबाव डाले बिना थोड़ा-बहुत मुद्रा बढ़ाई जा सकती है। यह उस अर्थ-व्यवस्था में सम्भव है जिसमें मुद्रा-प्रणाली का अभी विस्तार हो रहा होता है अर्थात् गुठारे के साथ-साथ उत्पादन या अदल-बदल की प्रणाली के स्थान पर मुद्रा का उपयोग बढ़ रहा होता है। लोगों को लेन-देन के लिए जितनी मुद्रा की और जरूरत होती है उतनी मुद्रा कीमतों पर दबाव डाले बिना ही बढ़ाई जा सकती है। इसी प्रकार किसी भी ऐसी अर्थ-व्यवस्था में, जिसमें उत्पादन बढ़ रहा हो, कीमतों को बढ़ाए बिना अधिक मुद्रा-मचलन में लाई जा सकती है—उत्पादन बढ़ने का कारण चाहे जनसंख्या बढ़ना हो, या कृषि के अर्थात् अधिक भूमि का आ जाना हो, या उत्पादन-क्षमता का बढ़ जाना हो। हर ऐसी अर्थ-व्यवस्था में, जिसमें आर्थिक विकास हो रहा हो, लोगों का अधिक धन रखने की जरूरत होती है, अतः सरकार कीमतों को बढ़ाए बिना अधिक मुद्रा चला सकती है। परन्तु दुर्भाग्य से धन का यह स्रोत वस्तुतः बहुत बड़ा नहीं है। सक्रिय मचलन की मुद्रा और राष्ट्रीय आय का अनुपात हमेशा एक से काफी कम ही रहता है। अतः चाहे विनिमय-व्यवस्था के अन्तर्गत बिना गया उत्पादन प्रतिवर्ष ० प्रतिशत की दर से बढ़ रहा हो, परन्तु कीमतों पर दबाव डाले बिना राष्ट्रीय आय के लगभग १ प्रतिशत से अधिक भाग को निवेश में नहीं लगाया जा सकता।

निवेश में पैसा लगाने के लिए यदि हमें अधिक मुद्रा की मचलन दिया गया तो निवेश की मात्रा बचन से अधिक हो जाएगी। ऐसी अवस्था में मुद्रा-स्फीति आय तक लगातार बढ़ती जाएगी, जब तक कि बचन निवेश के बराबर नहीं हो जाती। इन नये मनुन तक पहुँचने में बिना समय लगाया, यह हम बात पर निर्भर करता है कि बचत की मात्रा का सम्बन्ध मुद्रा स्फीति आय से है या वास्तविक आय से है। यदि बचत का सम्बन्ध वास्तविक आय से है, तो मुद्रा स्फीति आय में वृद्धि करके बचत नहीं बढ़ायी जा सकती। अतः जब तक नये पूँजीगत पदार्थों की सहायता से उपभोक्ता-पदार्थों की वृद्धि नहीं

हानि उगता तब तक हम अनुचित पर नहा पहुँचा जा सकता। परन्तु यदि स्त्रीति व फलस्वरूप बचन न बनने बात वग का धाय बचन करने बात वग का मिलने उगता है ता वाम्बविर धाय म कोड बद्धि हण विना धोर नयी उय नाना-वस्तुधा के बाजार म धाने से पहन ही मन्वान तक पहुँचा जा सकता है।

आए हम इस बात पर धोर मन्त्री तरह से विचार कर कि बाजार म धान वाता उपभावता वस्तुधा का उत्पादन न बनने पर भा स्त्रीति व धपन धाय ही समान हा जाने की क्या सम्भावना हा सकती है। हम दृष्टिबाण म मरस अधि उपयुक्त स्थिति हम प्रहार समभाई जा सकता है। मान लाजिण विगा नदी पर बांध बनाने और सिधार्द का नहर बनाने व लिए सरकार बराजगर सागा का नौकरी पर नगा लेती है। ये ताग धपनी मजदूरी व पगा से बाजार म सामान खरादन है। इससे परिणामस्वरूप कीमत बढ़ जाता है। यदि हम यह मान लें कि दमका एकमात्र परिणाम यह होता है कि तागा म वृद्धि हा जाता है और ताभ की मारा रकम देवाकर रग ली जाती है या दमम मरवागी बाण्ट सराद लिय जाने है ता स्त्रीति समाप्त हा जाएगी। निष्ठा की गई मरिग व बराबर कीमते बना है ललित माथ ही बचन म भा दतनी ही बद्धि हुन है और म्गीलाण निष्ठा का प्रतिया चलती रहने पर भी कामन और तहा बडगी। यह एक तम्भ धवस्था है। इसी उदाहरण का द्वारा चरम धवस्था दगने व लिए हम यह मानना हागा कि कीमता व बदन हा समान व तब ताग धपनी वाम्बविर धाय तथा उपभाग म बाई परि वतन न हान देने व लिए अधि मजदूरा वता और ध्यात्र की मीग करने लगन है और उनकी मीग मान भी नी जाता है। एसा स्थिति म तब तक तनन तब नहा पहुँचा जा सकता जब तक उपभावता-वस्तुधा वा नया उत्पादन बाजार म उपलब्ध नहा हो जाता क्याकि स्त्रीतिर प्रतिया व फल स्वरूप धन बनाने तथा उय देवाकर रगने बात वग का वतना हुन धाय व रग म स्थान मुदा नहा पहुँच पाता।

इस हा मध यह हुमा कि ध्यावहारिक रूप म मद्रास्फाति का मामित रहना इन बातों पर निर्भर हाता है—(क) मद्रास्फाति म बचन करने बात वग की धाय बद्धी है अधवा नहा (ग) इन वग के ताग दम बचन का बगा करने है (ग) कितनी जसी उपभावता वस्तुधा व नया उत्पादन उपलब्ध हा पाता है।

जहाँ तक ऊपर (क) का सम्बन्ध है धान तोर त मद्रास्फाति का ताभ उलमरसा-वय विगात-वय धोर कुछ मामता व सरकार का मिलता है। उलम बताया व ताभ का कारण यह है कि जो वस्तुएँ व बचन हैं उनका कामना मजदूरी वतन विराया डिसेंबर स्पेज पेंशन तथा धाय कुछ मर्चों का लनता



में अधिक तेजी में बढ़ती है। किसानों को इसलिए लाभ होता है कि अन्य श्रेणियों की तुलना में खाद्यान्नों की कीमतेँ अधिक तेजी में बढ़ती है क्योंकि उनकी माँग मूल्य-निर्देश होती है। किसान और उद्यमकर्ता समाज के अन्य वर्गों के लोगों की तुलना में अधिक मिल-जुलती शक्ति हैं, इसीलिए मुद्रास्फीति में वचन में वृद्धि अवश्य होती है। इसमें विपरीत धारणा धारण लोगों पर ही लागू होती है। इसके अनुसार मुद्रास्फीति से वेतन भोगी मध्यवर्ग की वचन कम हो जाती है, क्योंकि इससे उनकी वास्तविक आय घट जाती है। कुछ तो इन आधार पर और कुछ इस कारण कि दूनरे वर्गों की तुलना में मध्यवर्ग के अन्दर अपनी बात को दूनरो के सामने रखने का मादा अधिक होता है यह बहुत मुनने में आता है कि मुद्रास्फीति के कारण वचन कम हो जाता है। परन्तु हमें ऐसा नहीं होना। मध्यवर्ग की वास्तविक आय में जितनी कमी होती है, उद्यम-कर्ता और किसान-वर्ग की वास्तविक आय में उतनी ही वृद्धि हो जाती है, और मध्यवर्ग की अपेक्षा उद्यमकर्ता व किसान-वर्ग में वचन बढ़ने की प्रवृत्ति अधिक होती है। इस बात पर विचार करना भी महत्वपूर्ण है कि सरकारों की वचन पर स्फीति का क्या प्रभाव पड़ता है। सरकारी राजस्व पर पड़ने वाला प्रभाव भिन्न-भिन्न मामलों में अलग-अलग होता है। यह इन बात पर निर्भर है कि करो के रूप में ली गई आय का सीमान्त अनुपात करो की औसत आय से अधिक है या कम। यदि सीमान्त कराधान औसत कराधान से बट जाए, तो मुद्रा-स्फीति आय बढ़ने से करो के रूप में वसूल की गई राष्ट्रीय आय का हिस्सा बढ़ने लगता है, इस प्रकार अपने खर्चों को चलाने के लिए मुद्रा-विस्तार का शोषण करने वाली सरकार अन्त में एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाती है जहाँ उम्मा राजस्व उतना अधिक बढ़ जाता है कि मुद्रा और बढ़ाए बिना ही खर्च के वर्तमान स्तर को कायम रखा जा सकता है। अनेक आधुनिक सरकारों इन अवस्था में पहुँच चुकी हैं (जैसे ब्रिटेन, अमेरिका और रूस), इसके विपरीत अन्य बहुत से देशों में स्फीति के कारण मुद्रा-स्फीति आय जिस प्रकार बढ़ती है, सरकारी आय में तदनुसार वृद्धि नहीं हो पाती। इसका परिणाम यह होता है कि स्फीति के कारण सरकार का घाटा कम होने की बजाय बढ़ता चला जाता है।

यहाँ तक उक्त (२) का सम्बन्ध है, यद्यपि स्फीति में वचन बट जाता है, परन्तु जब तक वचन का निःसंचय नहीं किया जाता या स्फीति पैदा करने वाले निवेश में लगाने के लिए अधिक नयी मुद्रा के बदले इस वचन का उपयोग नहीं किया जाता, तब तक स्फीति समाप्त नहीं होती। यदि उद्यमकर्ता अपने नये लाभ को नये निवेश में लगा दें, जैसी उनकी प्रवृत्ति होती है, तो पूँजी-निर्माण के लिए यह बहुत ही अच्छा है, परन्तु इनमें स्फीति बनी रहती है।

इसके विपरीत यदि वे अपने लाभ से मर्यादी बाण्ड मरोद में ता अपने बायें-यम में पैसा लगाने के लिए सरकार को नयी मुद्रा बनाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। (अगर स्फीति उद्यमकर्ताओं द्वारा बैरी से लिये गए ऋण के कारण पैदा हुई हो तो वह अभी समाप्त हो सकती है ज़रि स्फीति में लाभ बर्मान शक्ति उद्यम-कर्ता अपने लाभ को बैर के ऋण छुदा करने में खच करे या उसे निरसित कर या उमने नया निवेश करने वाले उद्यमकर्ताओं के ऋणपत्र मरोद में)। विमान अपने लाभ या धन ऋण पुराने और अधिर भूमि मरोदन में लगाना है अतः इसका प्रभाव हम बात पर निर्भर जाता है कि माह्रार और जमीन बेचने वाले इस धन का क्या इस्तेमाल करने हैं। माह्रार सम्भवतः धन निय-चित करने है और लाभप्रद समय (अर्थात् वह समय जब रिमानों को पुनः धन की बर्मी पडती है) की प्रतीक्षा करने है ज़रि भूमि बेचने वाले उभ धन का उपयोग कई प्रकार में कर सकते हैं। यदि सरकार धन का (वास्तविक) नया उच्च स्तर बनाए रखने हुए स्फीति को जल्दी-से जल्दी समाप्त करना चाहती है, और यदि वह बचत करने वाला को निरसित बचतों पर निर्भर नहीं कर सकती, तो उसे चाहिए कि वह लगाकर या सरकारी बाण्डों के लिए अनुकूल दानें प्रस्तुत करने निमी तरह में बचतों को अपने कब्जे में कर ले।

इसी प्रकार धेर उधार भी निरंतर बहन रहने व बजाय बीच बीच में मनुचित कर दिया जाता है। इस प्रकार नयी मुद्रा का प्रसार हुआ मर स्थिति पैदा किया बिना और मुद्रा व सरकारी बाण्डों में जनता का विश्वास किया बिना पूजो निमाण के काम में बाध दे सकता है। अनुकरणाय पड़ति यह है कि यदि पूजो निमाण व निण स्फीति का उपाय अपनाता है तो जमाना तथा र्ति व समय समय पर थोड़ी थोड़ी मात्रा में मुद्रा प्रसार किया जाए।

यहाँ तक उपर (ग) का सम्बन्ध है कि "म दाय चर" कि लाभप्रद पानी के निर्माण हेतु की गई स्थिति अपने आप ही समाप्त हो जाता है क्योंकि कुछ समय में बाद नयी पूजो बहुत बड़ी मात्रा में नये उपभोगता स्तुत पदा करता है जिसमें या तो कीमती व वृद्धि हो जाती है या काम में रुक जाता है। इससे अतिरिक्त वास्तविक उत्पादन में हानि वाली एक वृद्धि में वचन में वृद्धि हो सकता है और इस प्रकार हुई वचन में निरोग का अपराधन ऊँचा स्तर बनाए रखा जा सकता है। हमारा यह जल्दा नहीं है कि वास्तविक उत्पादन बढ़ने में बाध भी बड़े बड़ा वचन की मात्रा प्रति-व्यक्ति वास्तविक आय व स्तर में नहीं र्ति व आय व वितरण में सम्बंधित है। इस बात पर यहाँ अधिक्त चर्चा करने की जरूरत नहीं है क्योंकि जरा देर बाद तो हम वचन व बाण्डों पर विचार करेंगे।

यह तो हम पढ़ने हा पर चुर है कि यदि पूजा निमाण व निण स्फीति का महाराज बना हो तो स्फीति घाटे या इ अग के बाद और घाटे या इ मात्रा में हो ही जानी चाहिए। साथ ही यह भी अनुकरणाय है कि स्फीति का महाराज करने में निवृत्त व निण ही किया जाता चाहिए कि जल्दा में पूरा किया जा सके और साथ ही जा बटुन उत्पादन हो। इस बात का सम्बन्ध आगे का न किया जा सकता है कि नया मुद्रा का निर्माण एका कृषि विभाग में पर रख किया जा सकता है जिसमें अतिर उत्पादन व नये तकनीकी ज्ञान का प्रसार हो या मिर्चार्थक एक बाधना पर रख किया जा सकता है जिसमें नदियाँ पर बाँधी दीपवाचीन या बटुन अतिर मात्रा का निमाण काय न करना पर या जगत मिर्चार्थक उत्तर-व्यवस्था और भूमि का मनी बाण्ड बनाने वाला एका शक्तिता पर रख किया जा सकता है जिसमें नये उपजाऊ क्षेत्रों का अधि हो सके व बाण्ड बनाया जा सके। इससे अतिर एको बाण्डना में नया मुद्रा का महाराज उपयुक्त बना जाता जिसमें बाण्डों मात्रा में विद्वान् मुद्रा को उत्तर हो। (जैसे पर्यटकों व निण मनीररि को मरीर) या जितने पूर होना में बटुन समय पर (जैसे बटुनगा नये बाण्डों प्रायोजनार्थ) या जितने उत्पादन की तुलना में पूंजी का अनुपात बटुन अतिर हो। (जैसे बाण्डों विभाग का निर्माण)। यदि मांग बाण्डों बटुनी करके पूंजी वितरण व कामों में मिर्चार्थ

जाती है अतः कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त विद्वान्त विरोध रूप में अर्थपूर्ण नहीं है और यह दबाना बेकार है कि वार्पेंडम की बौननी दाजनाएँ स्वेन्टा-ववन के पीछे से चल रही हैं और जिनमें नयी मुद्रा बनाकर गणना गई है। इसलिए बहुर तर्कीय शायद यही है कि ऐसी जिनो भी योजना न पैदा न लगाया जाए जिनमें उत्पादन को दबाना हूए अर्थिक गणना नया या जिनके प्रां होने में बहुत समय लग या जिनमें अर्थिक विद्वान्त मुद्रा को उल्लंघन है। ऐसी स्थिति में नौमान्य दाजनाएँ दे ही होगी या उन दृष्टि से नदमं कम बाउलीन होगी, और विभिन्न मुद्रा मुद्रा इन्ही नौमान्य योजनाओं में लगायी जाती है। परन्तु व्यवहार में ऐसी बात नहीं है। उन कर्नाटियों का व्यक्त मने बिना ही बहुत ही दाजनाएँ निवेग-गर्बकन में रत की जाती है (जैसे लोक-स्वाम्य-संरक्षण, या उद्योगीकरण योजनाएँ), और किसी भी दृष्टि से यह बात सच नहीं है कि यह ही गई योजनाएँ सम्मिलित योजनाओं की अपेक्षा अतिवार्पें रूप में अर्थिक स्फीति पैदा करने वाली होती हैं। अतः पूँजी-निवेग का वार्पें-क्रम तैयार करते समय पहले तो यह निश्चय कर लेना चाहिए कि उनके लिए मुद्रा-प्रसार नहीं करना पड़ेगा, और बाद में अगर कुछ स्फीति करना अतिवार्पें दिशाई दे तो वार्पेंडम में ऐसी योजनाएँ सम्मिलित की जाती चाहिए जो पहले यह ही गई योजनाओं में से सबसे कम स्फीति पैदा करने वाली हो। (स्फीति की बात छोड़कर, यदि अन्तिम परिणाम अर्थिक लाभप्रद हो तो ऐसे निवेगों को भी अपनाया नहीं कहा जा सकता जिनका लाभ मिलने में काफी समय लगने की सम्भावना हो। ऐसे तथा अग्र निवेगों में से किसे चुना जाए यह बात व्याज की दर पर ही निर्भर करती है।)

(घ) आन्तरिक माधन—उन अध्याय के पहले खण्ड में हम देख चुके हैं कि जिन समुदायों में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय बट नहीं रही है वे प्रति वर्ष अपनी राष्ट्रीय आय का ४ या ५ प्रतिशत का इससे कम निवेग करते हैं, अर्थात् उन्नत देश प्रतिवर्ष १० प्रतिशत या इससे अधिक निवेग करते हैं। आर्थिक विकास के विद्वान्त में मुख्य समस्या उन प्रक्रिया को समझना है जिनके द्वारा ५ प्रतिशत बचत करने वाला कोई देश बटते-बटते १० प्रतिशत बचत करने वाला बन जाता है—साथ ही उनकी प्रवृत्तियों, सन्धानों प्रां टेक्नीकों में भी परिवर्तन हो जाता है।

आमनौर में इस परिवर्तन का कारण निम्नलिखित की दृष्टि और बचतों का अधिक लाभप्रद प्रयोग बताया जाता है। यह बात सच है कि निम्नलिखित दब जाती है, लेकिन इससे यह अन्तिम निदानना बहुत आसन्न होगा कि समाज के उच्च वर्ग अर्थिक निम्नलिखित या कम प्रिकृलपत्र बन जाते हैं। अन्तु, नौलिक परिवर्तन तो समाज में एक नये वर्ग—लाभ बनाने वाले उद्योगकर्ता—

का उद्भव है, जो समाज के अन्य सभी वर्गों (जमींदार, मजदूरी बसाने वाले किसान, धननभोगी मध्य वर्ग) की श्रमशक्ति अधिक मितव्ययी होता है और राष्ट्रीय आय में इन वर्ग का अंश अन्य सभी वर्गों की तुलना में अधिक होता है। निजी पूँजीवाद में इन उद्यमकर्त्तृत्वात् न निजी लाभ कमाया है और निजी काम में ही पुनः उसका निवेश कर दिया है जबकि कम मूल्यमान लाभों को 'पण्पावर्त्त कर' में रूप में वसूल कर लिया गया है और बाद में सारजनिक कामों में पुनः निवेश कर दिया गया है। परन्तु दोनों ही मामलों में ५ प्रतिशत से बढ़कर १० प्रतिशत बचत हो जाने की गारंटी विशेषता यह रही है कि राष्ट्रीय आय में लाभों की स्वयं बहुत बढ़ गई हैं।

लाभों का बढ़ना और आय के वितरण की असमानता बढ़ना अनिवाय रूप से ही हीं चीज नहीं है क्योंकि लाभों में वृद्धि होने के साथ किसानों में हीं वाली आमदनी का अंश बहुत उतना ही कम हो सकता है। सब तो यह है कि आय का अत्यधिक असमान वितरण उन समुदायों में नहीं पाया जाता जहाँ बड़े लाभों वाली अर्थ-व्यवस्थाएँ स्थापित हैं, बल्कि उन मरीच और अनाधिकार वाली अर्थ-व्यवस्थाओं में पाया जाता है जहाँ विराय बहुत अधिक है। श्रीलंका या मोटोरिका में आय बमाने वाले लोगों में से ऊपर के १० प्रतिशत लोग कुल व्यक्तिगत आय का लगभग ४० प्रतिशत बमाने हैं, जबकि ब्रिटेन या मद्रास राज्य अमरीका में ऊपर के १० प्रतिशत लोग बराधान से पहले, लगभग ३० प्रतिशत पाते हैं। यद्यपि कुछ धारणाएँ हैं क्योंकि व्यक्तिगत आय का निर्धारण में कम्पनियों के अविनिरत लाभों को सम्मिलित नहीं किया जाता यदि अविनिरत लाभों को सम्मिलित कर लिया जाए, तो हो सकता है कि दाँते स्थिति में अधिक अंतर न रह जाए। कुछ भी हो, आय के वितरण की असमानता का सामल में अधिक विकसित और कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के बीच कोई सामान्य तुलना करना सम्भव नहीं है। स्वयं कम विकसित देशों में इन सम्बन्ध में बड़ा अंतर पाया जाता है यह अंतर इस बात पर निर्भर होता है कि उनमें भूमि की कमी है या बहुतयाग है, भूमि बहुत से लोगों में बँटी हुई है या कुछ थोड़े-से लोग मारी भूमि के स्वामी हैं और गानों या बागानों-दिन पूँजीवादी उद्यमों का पण्यत विकास हुआ है या नहीं। उधर अधिक विकसित देशों में भी अंतर में बड़ा अंतर पाया जाता है और अविनिरत आय के वितरण में उनमें २० गान पहले की घोषणा अंतर कम असमानता (बराधान से पहले) पाई जाती है। (यद्यपि इनका मुख्य कारण यही है कि विनिरत लाभों की घोषणा अविनिरत लाभ बढ गए हैं।) इन तथ्यों से हमारा निष्कर्ष की ओर हीं पुष्टि हो जाती है कि इन मामलों में अधिक विकसित और कम विकसित देशों में कोई असाधारण अंतर नहीं है।

राष्ट्रीय आय और बचत का अनुपात केवल अनुमानता का ही परिणाम नहीं है, मरु तो यह है कि यह राष्ट्रीय आय और बचत का परिणाम है।

किराये की आय अधिकांश होने से बचत नहीं होती क्योंकि भूमि स्वामी अल्प-जात-वर्ग अपनी आय को उत्पादक-निवेश में लगाने की बात नहीं मानता— कम-से-कम तब तब तो मोचता ही नहीं जब तब कि अनुकरण करने के लिए कोई पूँजीवादी उदाहरण उसके सामने न हो। परम्परा के अनुसार किराये की आय को अधिकाधिक भूमि खरीदने में नौकर-चाकर रखने (यदि केन्द्रीय सरकार कमजोर हो या निजी सेना बन), गिरजाघर, मन्दिर बनवाने व म्मारक बनवाने, दान देने और जी ग्योतक मनोरंजन करने पर खर्च किया जाता है। समय के साथ-साथ पूँजीवादी दबाव के कारण प्रारम्भिक दशक ही हैं, यदि किराये पर दर लगा दिया जाए और लाभप्रद पूँजीवादी निवेश का उदाहरण सामने हो, तो जमींदार-वर्ग और भी अधिक मितव्ययी हो जाते हैं और उन्नत पूँजीवादी समाज में यह भी सम्भव है कि किराया उत्पादक निवेश के लिए बचत का एक साधन (एक नामूर्ती साधन ही नहीं) बन जाए। परन्तु ऐसा तभी होता है, जब ऊपर बतार्थी गई स्थिति पैदा हो जाए। अब हम यह नहीं कह सकते कि जमींदारों में मितव्ययिता बढ़ने के कारण ही विनी नमुदाय में ५ प्रतिशत में बढ़कर १० प्रतिशत बचत होने लगी है।

विज्ञान-वर्ग के बारे में भी यही बात है। उद्योग वर्ग के लोगों में स्वभाव से ही मितव्ययी होने और रूप लेने की प्रवृत्ति का विचित्र मिश्रण मिलता है। मितव्ययी वे इसलिए हो जाते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि जमीनी मरुत के अतिकार हो सकते हैं। कुछ देशों में तो मायदा ही ऐसा कोई साल बीनता है जब बाट या मूवा न पड़े, या टिड्डियों का आक्रमण न हो, या पशुओं की बीमारी न फैले, या अन्य कोई ऐसा ईश्वरीय प्रकोप न हो जिसके कारण केवल ऐसे कुछ किसानों को छोड़कर जो खुदे दिनों के लिए कुछ बचाकर रख लेते हैं, बाकी सब किसान बेघरदार हो जाते हैं। उनकी रूप लेने की प्रवृत्ति का आशिक कारण बार-बार आने वाले ये मरुत हैं। साथ ही, जो किसान कुछ धन बचाते हैं, वे या तो अधिक खरीद विमानों को रूप देने में या भूमि खरीदने में उन धन को लगा देते हैं और दोनों में से किसी भी सम्पत्ति में उनकी बचत से पूँजी-निर्माण में कोई वृद्धि नहीं होती। भूमि खरीदने में उनकी वीमत्त बढ़ जाती है और भूमि के वितरण में परिवर्तन हो जाता है, परन्तु उनके भूमि की उत्पादन-शक्ति नहीं बढ़ती। यदि किसानों के पास भूमि हो तो वे भूमि को सुधारने में अपनी बचत लगा सकते हैं। परन्तु भूमि में सुधार करने की अधिकांश टेक्नीकें (पानी भूमि पर देना करना, फसलों का हेर-फेर, धन लगाना, घास की पट्टी लगाना, भूमि के कटाव को रोकना) ऐसी हैं जिनके

कारण उपज में अन्वेषणों रूप में वर्गी है जानी है और जिन क्षेत्रों में भूमि पर पर्याप्त दबाव है वहाँ लाभप्रिय नहीं है । रिमान पण्डा म भी निवेश करना चाहते हैं, परन्तु अक्षिया और अक्षीका में अत्रिक्कर रिमान पण्डा का व्यापार ही बहुत नहीं मानते अतः बहुत में मामूली म यत्र निवेश लाभ का माघन बना ही बजाय बोझ बन जाता है । रिमाना ही एमी मरुत्पुण स्थिति और जमीन व पशुओं के प्रति उनके रीर "दायगाविर" अल्लबाण का दायर हूण यत्र पाई आश्चय ही घात नहीं है कि रिमान जितना निवेश पूँजी निर्माण करने है वह राष्ट्रीय आय का एक बहुत ही बड़ा भाग होता है ।

मजदूरी और बतन पान घात वर्गा ही आय रिमाना की घण ता अधिख नियमित होती है और शहर का मनुमान मजदूर भी औसत रिमाना की तुलना म अधिख कमा नेता है । फिर भी इन वर्गा के लोग बहुत बड़ा उच्चान है क्योंकि उनरी प्रवृत्ति बचन करने की उजाय लक्ष करने की जाती है । मजदूरा की बचन बहुत घाटी जाती है । रत्नभोगी मध्यवर्ग शारी-बहुत बतन वर सेना है, परन्तु हर ममुदाय म मध्यवर्ग अपन वेतन में जा बचाना है उग्रम उपा-य निवेश में बहुत घांटी वृद्धि जाती है । उन दला म निवेश रूप म एगा जाता है जिनम शासक-वर्ग मध्य कला निम्न वर्ग में भिन्न जाति का है क्योंकि एमी स्थिति में मध्य-वर्ग शासक-वर्ग की बराबरी करने की मुन म प्रदान उप-भोग पर अधिख लक्ष करने लगता है । (दक्षिण अध्याय २ पृष्ठ १ (१८) ) । तबभग मभी दला म बतनों में होत वाली बचन बहुत घाटी होती है । मध्य-वर्ग म अधिरान लाभ अपन परिवार के पोषण के लिए ही निरन्तर मध्य करने रहते हैं और उनके लिए यही बहुत बड़ी बात है कि वे बचन करने उम ममान या परीद मने जिनम वे रहते हैं । वे अपना बचन की रिभा के लिए या अपन बुद्धाव के महार के लिए बचन कर सकत हैं परन्तु जितनी बचन वे करते हैं उतनी ही राशि पटन बचे घन म में ही प्रयाजना पर लान करत चलते हैं । परन्तु यदि आय या जगमया बढ रही है तो नयी बचन की राशि पुगती मर की गई बचन में अधिख रहती, क्योंकि हर पीढी इतना बचन करके रही गई राशि पटरी पीढी द्वारा बचन करने रही गई और इन ममम मय की जा रही राशि में अधिख होती है । हमम वही मनेर नहीं कि बचन करने वाले व्यक्तिम के लिए ही बचन का बला महत्व है । बचनपदागे रात्र म भी मकट के दिना के लिए कुछ बचन करके रमना टौर ही है और ममात्र-मुदाय लोग का बचन करने के लिए टोक ही प्रामात्रन दा रह है । परन्तु उपाय निवेश की दृष्टि में एमी बचनो का कोई महत्व नहीं है क्योंकि एमी बचने रिमी स्थिति उपभाव के लिए जाती है और पटने में स्थिति बिना उपभोगा पर तिने जा रहे बतमात्र मर के कारण दला प्रभाव नष्ट होता चलता है ।

वैतनभागी मध्य-वर्ग की बचतों का स्तर नीचा होने से यह बात भी निश्चित होती है कि बचत और आय की असमानता में बड़े प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। औद्योगिक देशों की अपेक्षा कम विकसित देशों में मध्य-वर्ग की बचत और आय की तुलना में, या छोटे विमानों व अक्रूरान मजदूरों की बचतों की तुलना में काफी अधिक होती है। इसका प्राथमिक कारण यह है कि कम विकसित देशों में मध्यवर्गीय कारीगरों की बचत कम होती है परन्तु कुछ हद तक इसका कारण यह भी है कि मध्य-वर्ग में धनी और निधन देशों के बीच गतिशीलता अधिक होती है और धनी देशों का मध्यवर्गीय कारीगर निधन देश में उतार हो ऊँचे स्तर-महन के स्तर की माँग करता है, जितना वह अपने देश में पा सकता है। वास्तव में चूंकि निधन देशों की धनी देशों के मध्यवर्गीय कारीगरों की अपनी आय आकृष्ट करना होता है, इसलिए धनी देशों में मध्य-वर्ग के लोगों में अधिक ऊँचे स्तर से रहने की प्रवृत्ति होती है। अतः आय की असमानता का कारण यह है कि राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग मध्य-वर्ग के उपभोग पर खर्च हो जाता है।

मजदूरों, बेतनों और विमानों की आय में से होने वाली बचतों के बारे में हमारे पास बहुत ही कम प्रमाण है। जो प्रमाण उपलब्ध हैं, उनसे यह पता लगता है कि अधिन-अधिक धनी देशों में भी बचत बढ़ावर्धित हैं। राष्ट्रीय आय के ४ प्रतिशत में अधिक होती है। इन सम्बन्ध में जापान एक बिलक्षण अपवाद है, वहाँ बचत के आँकड़े ८ या १० प्रतिशत तक बनाये गए हैं। अभी तक की गई गणना के अनुसार कम विकसित देशों में छोटी बचतें राष्ट्रीय आय के १ प्रतिशत के आसपास होती हैं। चहना न होगा कि राष्ट्रीय आय आय की १ या २ या ३ प्रतिशत बचत को कौटुकी छोटी बात नहीं कहा जा सकता। छोटी बचतों को १ से २ या ३ प्रतिशत तक बढ़ाने के उपायों को असमर्थ में लाना उपयुक्त ही है। ये उपाय संस्थानों, प्रचार तथा वित्तीय प्रेरणा के माध्यम से किये जा सकते हैं। बचत करने वाली अनेक प्रकार की समस्याएँ घनाई जा सकती हैं, जैसे टावर बचत, मैत्री-समितियाँ, सहकारी उधार समितियाँ, सहकारी बुद्धि समितियाँ, धोमा पालनितियाँ, गृह-निर्माण समितियाँ और इसी प्रकार की अन्य समितियाँ। अनुभव से पता लगा है कि बचत की मात्रा असात इन बातों पर निर्भर होती है कि ये सुविधाएँ कितनी व्यापक हैं, यदि ये सुविधाएँ हर आदर्शों के विकसित परम तक पहुँचा दी जाएँ, यहाँ तक कि गली-गली में और फँटरी-फँटरी में बचत-समूह स्थापित किए जाएँ, या आय के स्रोत से ही बचत की राशियाँ काटने की व्यवस्था कर दी जाए, तो लोग उन समस्याओं की तुलना में अधिक बचत करेंगे जबकि नन्दो-ने-नन्दो-वानी बचत-समस्या भी थोड़ी-बहुत दूर होती है। बचत भी एक आदत है, जो कुछ हद



तत्र प्रकीर्ण द्वारा पत्र की जा सकता है। यदि तालों का बचत का कोई उपयुक्त कारण बनाया जाए तो वे अधिक बचत करत है। युद्ध-काल में लोग अधिक बचत करत हैं तथा एक कारण यह है कि उन्हें बताया जाता है कि ऐसा करना दण्ड भङ्गित है। विकास-वायुक्रम आरम्भ करने वाले देशों में यदि वायुप्रमा का महत्त्व समझ जाए और उन्हें आग्रहपूर्वक बना दिया जाए कि वे बचत करके भाग्य वायुप्रमा में अथवा महत्वाग द संजल ह ता सम्भ्रम ह लोग अधिक बचत करत हंग। इसके अतिरिक्त वागा का गमनाया जा सकता है कि वे अपने व्यक्तिगत या परिवार में हित के लिए शिक्षा के लिए मुद्राप के लिए मजान परादन के लिए विवाह या दाह मस्कार के लिए या सामाजिक अथवा शिक्षा संकट के समय उपयोग में जान के लिए बचत करे। यद्यपि एगा बचत अक्षिकागतया उपभाग पर सब हा जाती हैं फिर भी आत्म निभरता का आत्म डालता और निराश्रयता का परिहार करना अपने आपमें इनमें महत्त्वपूर्ण है कि इनके निमित्त बचना का बंधारा देने के लिए जो-कुछ भा किया जा सकता है किया जाना चाहिए। वामा का विद्या त आगामी में वागा का आग्रह कर रता है अत जीवन वामा का गस्ती के मुमगठित प्रणाली बचत का बंधारा देता है। एक अतिरिक्त बचत के लिए वित्तीय प्रेरणा भी पद्यान हानी चाहिए अर्थात् व्याज की दर घन्टी होना चाहिए। छाटा बचना पर सामान्यतया ०.५ प्रतिशत तक ही व्याज दिया जाता है किन्तु एक कारण यह है कि छाटा बचना का दरट्टा करने और उनका उपयोग में जान पर सब बहुत बैठता है परन्तु इन बात का समथन किया जा सकता है कि छाटा बचना पर नियम जान बाव व्याज का दर के लिए कुछ सरकारों महायता दा जाए ताकि इन पर अधिक ऊंचा दरम व्याज दिया जा सके। यदि पूजा निमाग के लिए समुदाय मुद्रास्फीति का सहारा भा न रहा हा जिगह कमस्वरूप मुद्रा का मूल्य कम हो रहा हा ता लागी बचना के वास्तविक मूल्य का गारण्य न जानी चाहिए। यदि एगा न किया गया तब छाटा बचत करने वाला के साथ असाय हागा (क्याकि वामना के बढने के साथ-साथ असाय परिणामितया का मूल्य बढ जाता है) और छाटा बचना के लिए वागा का उसाय ग हा जाएगा।

किन्तु म बचत का भावना का बंधावा नना निगाए रूप में महत्त्वपूर्ण है क्याकि आर्थिक विभाग में अर्थ का महत्त्वपूर्ण भूमिका पदा करना पन्ता है। आर्थिक विभाग के अन्तर्गत अर्थ में सम्बन्धित सभी यतिविधियाँ का विस्तार जाना है—इसका कारण यह है कि ग्राहक का मोग का असाय मोग जाना से कम होती है। इसलिए पुनर्नामत हटि में असाय व्यवसाय पर समय उत्पत्ति करत रहत है और इन व्यवसायों में काम करने वाला का मोग करने

वाते विमानों की उपज में ही विमानों पटना है। इन श्राविक दिशाम के निग यह पुनरी है कि विमानों की प्रति व्यक्ति उपज अवश्य बढे ताकि गैर-विमानों को विमान के लिए प्रति विमान अधिकारिक अनुप वचाया जा सके। उत्पादकता निम्नतम रहने की अवस्था में ही इन विमान परिवार जितना अनाज पैदा करता है। वह अपनी आवश्यकता के अलावा गैर-कृषि परिवार का पट और भर सकता है। जबकि उत्पादकता अधिकतम ज्ञान की अवस्था में हर विमान-परिवार इतना अधिक अनाज पैदा करता है कि उसमें उसके तथा मान अन्य परिवारों का पालन हो सकता है।

उन प्रक्रिया में बचन से सम्बन्धित प्रश्न का प्रश्न में पैदा होता है। पत्तों दात ता यह है कि कृषि-उत्पादन में अपेक्षित वृद्धि करने के लिए प्रायः यह आवश्यक होता है कि कृषि में श्राविक पंजी का निवेश किया जाए। उन प्रयोगों के लिए सरकार कुछ नक़द अथवा में निश्चितकर सामर्थ्य का उपाय-नमिनियों की माफ़त विमानों को कर दे सकती है। यह नीति अपनाते अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में इतर पंजी कृषि में चली जाती है (यद्यपि कि यह धन ज़मींदारों पर कर लगाकर ही वसूलन किया गया हो), और चूंकि अन्य क्षेत्र भी माघ-साय पंजी का माँग करते रहे हैं, इन विमान अपने पाम में जितनी पंजी का उत्पन्न कर सके उनका ही अच्छा है। उनमें साम-क्षेत्रों में बचत आन्दोलन तथा बचत मन्थानों की विशेष उपयोगिता मित्र होती है।

बचन का प्रश्न दूसरे टक में जो पैदा होता है। यदि कृषि-उत्पादन बढ रहा हो और गहरी जनसंख्या को विमानों के लिए अधिकारिक रेली अनु उपकरण हो रहा हो, तो सरकारें प्रायः कर लगाकर यह बनी विमानों में छिन-कर लोकोपयोगी सेवाओं या विनिर्माण आदि दूसरे क्षेत्रों के विस्तार में ला देने का प्रयत्न करती हैं। उनमें दोहरे प्रयाजनों की निधि होती है, एक तो विमानों पर कर लगाने से निदान आवश्यक गजम्ब का नया स्रोत खुल जाता है, और दूसरे, यदि विमानों पर कर न लगाया जाए तो उनकी वास्तविक आय उनको बढ सकती है कि यदि-क्षेत्र में अन्य क्षेत्रों में श्राविक अधिकारिक करने का निग गहरी में और दूसरे क्षेत्रों में वास्तविक मजदूरियों और वेतन बढ़ाने पट सकते हैं, जिनके लाभों में गिरावट होकर राष्ट्रीय आय में बचन की गति कम हो सकती है। इनके अनेक मामलों में कृषि की उत्पादकता की वृद्धि के साथ ही विमानों पर भारी कर लगाये गए हैं, और इस प्रकार प्राप्त धन अन्य क्षेत्रों के पंजी निर्माण में लगाया गया है। उनके बारे में दूरअमन टोक ही कहा गया है कि अन्य क्षेत्रों में केवल कृषि में पंजी लगाने की बात तो है, विमानों की औद्योगिक ज्ञान में स्वयं पैदा लगाने के लिए मजबूत होना

निर्माणों की महायत्ना में नहीं बल्कि मुग्धता में नष्ट हो जा, उबरको तथा कृमि-नाशक औषधियाँ और पानी की महायत्ना में बर्बाद नानी चाहिए। इसके पीछे भी एक सारनीतिक सम्मत्या यह है कि जिन दानों में क्रिमानों के हाथ में सार-नीतिक अधिभार है वहाँ से दान उस प्रकार का कार्यक्रम शुरू कर सकने है ? अध्याय ७ में इन विषयों पर फिर विचार करेंगे।

ऐसे मामलों का छांटकर जिनमें पैसे निर्माण के लिए धन की व्यवस्था करना बहुत दिमागों में पैसा बँटवना दिया जाता है किन्हीं भी अर्थ-व्यवस्था में बचत का मुख्य स्रोत वितरित या अविनिश्चित लाभ होता है। यदि कोई व्यक्ति यह जानने का प्रयत्न करे कि लाभ कमाने वाला दान कितना धन और उत्पादक बाना में पूँजी-निवेश करने के लिए अन्य नवीं दानों की अपेक्षा अधिक प्रवृत्त क्या होता है तो इस बात का उत्तर नापद यही है कि समान-सोपान में इन दानों की स्थिति ही ऐसी होती है। वेतन भोगों मध्यवर्ग के विपरीत पूँजी-पतियों का अन्य लोग पर अपने सामाजिक महत्त्व का रस जमाने के लिए प्रदर्शन उपभाग नहीं करना पड़ता, क्योंकि लाभ कमाने वालों के रूप में और दूसरे लोगों के मानिक के रूप में उनकी स्वतन्त्र हैमिपत और धनाध्यक्ष के रूप में उनकी प्रतिष्ठा उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करती है। मध्यवर्ग और निम्न-वर्ग के लोगों की वास्तविक आय चाहें किन्ती ही बट जाए पर वे कभी भी अधिक बचत नहीं कर सकते, क्योंकि वे अपने से अधिक धनी-वर्ग के लोगों के उप-भोग-स्तर का मर्दव अनुकरण करते रहते हैं, जबकि धनी लोग इसलिए बचत कर सकते हैं कि उनकी आय उनके उपभोग के मान्य स्तर के लिए पर्याप्त से अधिक होती है। लाभ कमाने वालों की सामाजिक प्रतिष्ठा भू-स्वामी अवि-जान-वर्ग की तुलना में कम होती है, परन्तु वे जानते हैं कि वेतन दिग्भावे की वस्तुओं पर खर्च करके वे अभिजातवर्गीय प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकते। इन उनमें से वेतन कुछ ही लोग ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं। अभिजातवर्गीय लोगों की ही भाँति उनमें भी शक्ति प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा होती है, पर शक्ति प्राप्त करने का उनका मार्ग भिन्न होता है। अभिजात-वर्ग अपनी नन्दता को बटाकर और (सामन्तवादी तथा प्राचीन पूँजीवादी युग में) उच्चतम राज-नीतिक, नैतिक और धार्मिक पदों पर एकाधिकार जमाकर शक्ति प्राप्त करता है। इनके विपरीत लाभ कमाने वाला जानता है कि उसकी शक्ति उसके धन में है, अतः वह धन बँटवना है और अधिकाधिक लाभप्रद ढंग से उनका निवेश करता है। उनका कुछ धन जितान के धन की भाँति दूसरे लोगों के उपभोग पर खर्च होता है, या भूमि नगरीयता में लगाना है। वे दोनों प्रकार के 'निवेश' ऐसे हैं जिनमें पूँजी-निर्माण में वृद्धि नहीं होती। परन्तु लाभ कमाने वाला जानता है कि अपने उचित लाभप्रद निवेश के होने हैं जिनमें नयी टैक्नीकीय उपयोग का

नये माधनों की उपलब्धि में महायत्ना मिलती है, और ये निवेश उमरी व्यक्ति अर्जित करने की महत्त्वाकांक्षा को भी उभारते हैं क्योंकि उमरा उत्पादन-निवेश जितना ही ज्यादा होगा उनसे ही ज्यादा आदमी उनके अधीन काम करेंगे। अतः पूँजीपति ही ऐसा व्यक्ति होता है जिसकी महत्त्वाकांक्षा उसे अपनी आप की बहरमाने लड़े करने में लचक करने की प्रेरणा देती है। अन्य वर्गों के लोग दूसरे ढंग से अपनी महत्त्वाकांक्षा ही पूर्ति करते हैं—येतनभोगी मध्यम प्रदर्शन उपभोग द्वारा, और कृषक-वर्ग भूमि खरीद करके या पद प्राप्त करते। पूँजीवाद की बाद की अवस्थाओं में ये अन्तर बहुत कम हो जाते हैं, पूँजीपति रिमी-न-विगो तरह से भू स्वामी अभिजात-वर्ग के साथ सम्बन्ध स्थापित करके और राजनीतिक पद प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। दूसरी ओर भूस्वामी बड़े-बड़े शहरों में यात्रा अपनी रिगया की आमदनी को उत्पादन-बाजारों में लगाने हैं, और रिगया लड़ को भी हम बात का जान हो जाता है कि अपनी वर्तमान भूमि को मुआवजे में धन लगाना उतना ही उपयोगी है जितना और अधिक भूमि खरीदने में धन लगाना। बाद की अवस्थाओं में मितव्ययिता और उत्पादन निवेश का प्रचार समुदाय के सभी वर्गों में हो जाता है परन्तु मूलतः उत्पादक पूँजी-निवेश पूँजीवादी वर्ग का ही काम है।

करना मनुष्य का नैतिक कर्तव्य है। यदि अर्थिकतम उत्पादन करना और मात्र ही उपभोग में मध्यम वर्गना हमारा नैतिक कर्तव्य है या हमका अर्थ यह हुआ कि हमी उत्पादन करना भी हमारा एक नैतिक कर्तव्य है। परन्तु यह सञ्च-रता भी प्रा-संगिक प्रमथान्त्र नक ही सीमित नहीं है। पूंजीवादी दर्शन की स्पष्ट विशेषता उनका सीमंग मुक्त है जिसमें हम वर्गों का एक विशिष्ट उप-योग उत्पादन पूंजी-निवेश निर्धारित किया गया है। अन्य दर्शनशास्त्रों में अन्य उपभोग वस्तुएं हैं—बर्गों का उपभोग दान के लिए या मन्त्र-क-मन्त्र नौकर-चाकर रखने के लिए या युद्ध करने के लिए या विगमित या मन्त्र-बरे या दहन में मन्त्र-या मन्त्र-या गिरजाघर बनवाने के लिए या विश्वविद्यालय स्थापन के लिए किया जाता चाहिए। बहुत पूंजीवादी दर्शन ही ऐसा है जो उपभोग में मध्यम या अल्प अर्थव्यवस्था की निष्ठागिरी करने के साथ-साथ बर्गों का उत्पादन-निवेश में मन्त्र की वांछनीयता पर जोर देता है। ये निष्ठागिरी अल्प में धार्मिक चारा धारणा कर लेती है, जिसमें मन्त्र-व्यवस्था एक गुण और दादगीवता अपने साथियों या चरित्र मन्त्र-व्यवस्था मानो जाती है। परन्तु उत्पादन टंग के निवेश करने की महत्त्वपूर्ण निष्ठागिरी का मन्त्र-व्यवस्था धार्मिक पुस्तकों में टूटने की वजह मन्त्र-सोमान में पूंजी-पतियों के स्थान और उनकी महत्त्वाकांक्षाओं के विरोध में टूटना प्रथम उपभुक्त होगा।

यदि वचन का मुख्य श्रोत नाम है, तो किसी अर्थ-व्यवस्था की वचन ५ प्रतिशत से बढ़कर १२ प्रतिशत तक हो जाने का कारण नहीं हो सकता है कि उनकी राष्ट्रीय आय में खान का भाग बढ़ गया है। यह सच होता है ?

एक सही उत्तर यह है कि यह पूंजीवादी लोगों के निरन्तर पुनर्निवेश के फलस्वरूप अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा पूंजीपति क्षेत्र में होना वचन विकास का परिणाम है। कम विकसित देशों में बहुत कम पूंजी होती है, और पूंजीपति बहुत घाट व्यक्तिगत और काम-व्यवस्था दे पाते हैं। पूंजीपति क्षेत्र का निरन्तर होना पर यह वर्ग वर्ग श्रोतों का उपयोग करने लगता है। अर्थ-व्यवस्था में सामान्यतया अधिको की बर्गी होती है, क्योंकि विज्ञान की अपनी श्रोत में उसके अधिकार के साथ व्यक्तिगतों के लिए पूरा काम नहीं होता, और लोग पूंजी-गत उद्यमों में काम करने के लिए शहरो की लग्न चले जाते हैं। इसी प्रकार हस्तशिल्प उद्योग से भी लोग शहरो की ओर चले जाते हैं, विशेष रूप से तब यदि पूंजीपति ऐसी नयी तकनीक का प्रयोग कर रहे हों जिससे हस्तशिल्प-उत्पादकों का महत्त्व घटता हो। पूंजीपतियों के यहां अपने नौकरों की काम मिलता है, और गरिब वर्गों की स्थिति ब मन्त्र-व्यवस्था भी उनके यहां काम पाती है, और इस प्रकार उनका काम करने वालों की दृष्टि में 'अर्थकर

धन्यो में लगी हुई' बयस्क महिलाओं का अनुपात बढ़ जाता है। यदि किसी समुदाय में जनान्धिय है तो यहाँ ऐसे श्रमिक बड़ी संख्या में होते हैं जिन्हें कभी-कभार काम मिल जाता है या जो छोटे-छोटे मुद्रा व्यापार में लगे होते हैं। ये बड़ी श्रमिक गुजारे लायक मजदूरी लेकर भी स्थायी रोजगार में लगने के लिए मुसी से तैयार हो जाते हैं। इनके अलावा यदि जनसंख्या बढ़ रही हो तो अन्य क्षेत्रों से लोगों को आकृष्ट किए बिना ही बढ़ने वाली जनसंख्या का कुछ भाग पूँजीगत रोजगार में लयाया जा सकता है। एडम स्मिथ और उनके बाद के गस्थापक अर्थशास्त्रों इस बात पर जोर देते थे कि आर्थिक विकास के कारण मजदूर गैर-पूँजीगत रोजगार से पूँजीगत रोजगार में चले जाते हैं—इसे उन्होंने 'अनु-पादक' से 'उ-पादक' रोजगार की ओर मगमण बताया—और मजदूरों के इस स्थानान्तरण की गति वृद्धि की मात्रा और पूँजी के विकास की दर पर निर्भर होती है। यदि छोड़ा भी उत्पादक निवेश हो तो अर्थ-व्यवस्था का पूँजीगत क्षेत्र अत्यंत बढ़ता है। अतः पूँजीगत क्षेत्र का विकास सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के विकास-अनुपात में ही हो रहा है अथवा नहीं, यह इस बात पर निर्भर होता है कि दोष अर्थ-व्यवस्था का किस दर से विकास हो रहा है—जनसंख्या की वृद्धि की दर पर, और विशेष रूप से इस बात पर कि अर्थ-व्यवस्था के कृषक-क्षेत्र में भी उत्पादन-शक्तता बढ़ रही है या नहीं। यह अनिश्चय नहीं है कि पूँजीगत क्षेत्र दोष अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक तेजी से ही उन्नति करेगा।

पहली बात यह है कि पूँजी-निवेश की राजनीतिक सुरक्षा पर बहुत-कुछ निर्भर होना है। अधिकांश पूँजीवादी राष्ट्रों में पूँजीपति सामंतीय अभिजात-वर्ग की दया पर निर्भर होते हैं। उनसे आशा की जाती है कि वे रईमों की पित्रुलक्ष्मी के उपभोग के लिए और महत्वाकांक्षी राजाओं के सैनिक प्रयोजनों के लिए ऋण दें, और यदि वे अपने धन का निवेश विशेष लाभप्रद कामों में करते हैं तो उन पर अज्ञानक ही और मनमाने ढंग से कर लगा दिया जाता है। ऐसी स्थिति में पूँजीपति बहुत सावधानी में बचक बड़ाने हैं, सबसे पहले तो वे ये कितने ऋणों में अपनी अधिकांश सम्पत्ति पैना कर सविनयाली सामंतों का संरक्षण प्राप्त करते हैं, और वे अचल पूँजी-निर्माण के रूप में अपनी सम्पत्ति बढ़ाने की बजाय ऐसी सम्पत्तियों में भी पैना लगाते हैं जिन्हें आसानी से छिपाया जा सके और आसानी से वहाँ भी लाया-ले जाया जा सके, जैसे भोता या हीरे-जवाहरात। अतः अर्थ-व्यवस्था के पूँजीगत क्षेत्र का तेजी से विस्तार संभव नहीं हो सकता जब तक कि उत्पादक निवेश मन-माते कराधान में समुचित रूप में सुरक्षित न हो।

यदि निवेश के अन्तर्गत बहुत लाभप्रद हो, राजनीतिक सुरक्षा प्राप्त हो पर, पूँजीगत क्षेत्र के तीव्र विकास की सर्वाधिक सम्भावना होती है। पूँजी

गत विकास की आरम्भिक अवस्थाओं में पहले बताए माधनों से केवल गुजारे-भर की मजदूरी पर बहुत अधिक मज्दगी में मजदूर मिल जाते हैं, इसका कारण यह है कि पूंजीगत रोजगार वृत्त जनसंख्या की तुलना में कम ही होता है, और यदि अर्थ-व्यवस्था में जनाधिक्य हो, या जनसंख्या तेजी से बढ़ रही हो, तो और भी अधिक मज्दगी में मजदूर मिल जाते हैं। एनी अवस्था में पूंजीगत क्षेत्र में उत्पादकता में होने वाली वृद्धि का सारा फायदा वस्तुतः लाभ में ही जाता है। उत्पादकता में यह वृद्धि प्रौद्योगिकी में उन्नति के कारण हो सकती है, या संचार-साधनों में सुधार होना या भौगोलिक खोज के फलस्वरूप व्यापार के अवसरों के बढ़ जाने से भी हो सकती है। उत्पादक निवेश के लिए जितनी तेजी से अवनय बढ़ेगा, उतनी ही तेजी से लाभ बढ़ेगा, और उतनी ही तेजी से पूंजी का संचय होगा। जिन समुदाय में प्रौद्योगिकी में परिवर्तन या भौगोलिक खोज नहीं हो रही होती, वहाँ लाभ धीरे-धीरे बढ़ता है, पूंजी धीरे-धीरे बढ़ती है, और सम्भव है कि इनकी वृद्धि दोष अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक तेज न हो। परन्तु एक बार यदि निवेश के लिए लाभप्रद अवसर पैदा हो जाएँ तो यह लगभग निश्चित है कि लाभ राष्ट्रीय आय की तुलना में बढ़ जाएँगे, और इसलिए राष्ट्रीय आय का बार-बार निवेश किया जाने वाला भाग लगातार बढ़ता जाएगा।

इसका अर्थ यह है कि किसी 'प्रौद्योगिक' क्रांति' अर्थात् पूंजी निर्माण की दर में आकस्मिक त्वरण का मूल कारण वन कमजोरों में आकस्मिक वृद्धि है, ये नये अवसर चाहे नये आविष्कार हो, या ऐसे साम्प्रदायिक परिवर्तन हो जिनमें विद्यमान सम्भावनाओं का लाभ उठाया जा सके। ब्रिटेन, जापान और रूस की प्रौद्योगिक क्रांतियाँ इसी प्रकार की हैं। ऐसे हर मामले में तात्कालिक परिणाम यह होता है कि बढ़ती हुई उत्पादन-क्षमता का फायदा उन वर्गों को नहीं मिलता जो अपना उपभोग बढ़ाते हैं, जैसे किसान तथा मजदूरी कमजोरों के, बल्कि निजी लाभों या लोक-करो में चला जाता है, और इस प्रकार हुई आय को आगे पूंजी-निर्माण में लगाया जाता है। अधिकाधिक मजदूरों को मजदूरी पर काम दिया जाने लगता है, परन्तु वास्तविक मजदूरी को उतनी तेजी से नहीं बढ़ने दिया जाता जितनी तेजी से उत्पादकता बढ़ती है।

पूंजीगत लाभ की इस वृद्धि को रक्षित से भी बढ़ावा मिलता है जोकि सभी पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्थाओं में नियमित रूप में पैदा होती है—चाहे व्यापार क्षेत्र के प्रसार की अवस्था में हल्के रूप में हो, या युद्धों और मरुवार की पिजूलनधी के कारण उग्र रूप में हो। स्थिति में अन्य आयों की अपेक्षा लाभ बढ़ जाते हैं, और धन को इमान्दों या कारखानों में लगाने की प्रेरणा मिलती

है। उस स्थिति व बाह्य अवस्थाति आना है और उम समय ताब वय हो जान है और नियम न जाना है। परन्तु अवस्थाति वा अवधि स्थिति की अवधि से प्राय गता है छाती हानी है। दीधकान म मग की मात्रा यत्ना जानी है और मू व चढ़त जा है या यदि मू व नम हान है ना यत्ना हूट उत्पादन क्षमता वा दानन हूण बहुत थीर मार वम हान है। अधिसाग एनिहामिक वाता म जिनम उत्पादन तजी म वटा है और राष्ट्रीय आय वा तुना म पूँजी नियम म वरिण वृद्धि हुई है यती कीमत तथा लाभ भी बढ़े है। १७८० व बाह्य की स्थिति शोचानिक प्राति या १८७० म १८६० की तुना म १८६० म १६१३ व बीच स्थित म नियम वा उच्चतर अनुपात (न्य और नियम दोना म) वा प्रथम विश्व युद्ध व बाह्य प्राग और जमना वा मग स्थिति व दोगम नियम वा अनुपात उच्च मार वा १८७० म १६१३ तक जागना प्रथम-व्ययस्था म तथा स उरति या मग की पत्ता दूगरी और तीगरी पक्षवर्षीय आवाजनाएँ अवया व्यापार तक वा स्थिर या गिरता है अवस्थाओं की तुना म प्रसार की अवस्था मग उत्पादन है। प्रादिक विज्ञान व विज्ञ स्थिति नितात आयुष्य तक है। स्थिति व रिता भा लाभ वट मका है और विना विद्या जा सकता है। मक विपरीत समय समय पर बाह्य वाता स्थिति होने म लाभ म वृद्धि होता है और नया निमाण अधिप नान पगता है।

यदि किसी अवस्थाओं की बचन १ प्रतिगत में बदल १२ प्रतिगत होना प्रतिवापत न्य बाव पर निर्भर है कि उमम राष्ट्रीय आय वा दानन हूए लाभ म वृद्धि अधिप हानी है ना दानन अवय यत् हूआ कि मग व न्या म बहुत धान्य बचन हान वा मही पारण यत् नहा है कि उ मरीच है बन्नि मगता मती कारण यह है कि उनका पूँजीगत धन बहुत छाया होता है। कोई भी न्य दानन मरीच नहीं होता कि पाह्य पर नी अनुपात राष्ट्रीय आय वा १२ प्रतिगत न बचा सक। मरीच न आज तक विती दान वा यत् छदन वा अनुपात धन वा और तरीका म बरशा करन म नया गता है। कम-न्य उम व क्षेत्र तो मरीच की धान लक्ष्य बचन न करन वा बाव नभ कर मता जिनम आय का-न बाता म म समय उम उरत व १० प्रतिगत नान वा विराय की सामन्ती पर निर्भर है। राष्ट्रीय आय वा ६० प्रतिगत वा दानन सगभय विनामिता पर बरशा कर मने हैं। एउ न्या म उत्पादन विना स्थिति नहीं बम हाना कि धन बचा नभ होता। उत्पादन नियम इमविण बम होता है कि बचा वा उत्पादन पैदा निमाण व नगा वा बरशा अनुपात दा नोकर धारण स्थान और निरक्षिण स्थिति व निम - नभ धन स्थिति मग वा मनुष्य। मग पर स्थिति गता है। मग दानन स्थिति वा न्य पूँजी स्थिति व प्राग ता व मग मती नान वा अनुपात नभ मग व स्थि



लेन बानी मरवार व पान करो के रूप में पट्टेव जाए, तो म्फोति के दिना ही काफ़ी मात्रा में निवेश सम्भव हो जाएगा। यह भी ध्यान रहे कि जब हम यह कहते हैं कि पूंजीगत क्षेत्र छाटा हान के कारण दबत बन है तो हमारा अभिप्राय केवल निजी पूंजीपतियों से ही नहीं होगा, बल्कि हमारा अभिप्राय राज्य-पूजीवाद से या किसी ऐसे अन्य आर्थिक संगठन से भी होगा है जिसमें पूंजी लोगो का राशनार दन के लिए प्रदान में लार्द जानी है, और जहाँ मजदूरी और वेतनों का अनुमान करन व बाद पर्याप्त मात्रा में बेगी बच रहती है किमके अर्थिक भाग का उत्पादक काम में पुन निवेश कर दिया जाता है। सोवियत रूस के उदाहरण के आधार पर कहा जा सकता है कि व्यवहारमें राज्य-पूजीपति निजी पूंजीपति की अपक्षा अधिक तेजी से पूंजी का संचय कर सकता है, क्योंकि यह इन प्रयोजन के लिए पूंजीवादी क्षेत्र के लाभो (कराधान के रूप में) का ही नहीं बल्कि किसानों से खबरदस्ती या कर लगाकर बसून की गई राशि, या स्फीति द्वारा सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को हथिदार प्राप्त की गई राशि का भी प्रयोग कर सकता है।

पूंजीवादी लाभो की वृद्धि के आर्थिक विस्लेषण के पीछे एक ऐसे पूंजीवादी वर्ग अर्थात् ऐसे लोगो के समूह के उद्भव की समाजशास्त्र-सम्बन्धी सनत्ता भी निहित है जो आय को उत्पादक कार्यों में लगाना ठीक समझता है। पूर्व-पूंजीवादी व्यवस्थाओं में मुख्य वर्ग—जमींदार, व्यापारी, साहूकार, पुरोहित, सैनिक, रजवाडे—इन प्रकार नहीं सोचते। किसी समाज में पूंजीवादी वर्ग का विकास किस प्रकार होता है, यह एक बड़ा बटिन प्रश्न है जिसका समाधान शायद सम्भव नहीं है। ऐसा लगता है कि अधिकांश देश आरम्भ में बाहर के पूंजीपतियों को बुलाते हैं। विदेशी व्यापार या विदेशी निवेशकर्ता नये अवसर पैदा करते हैं, लाभ कमाते हैं, और लाभो के एक भाग का निवेश पुन देश के भीतर ही कर देते हैं, इसके बाद उनका अनुकरण किया जाता है। नये अवसर पैदा होने के साथ ही देश के अपने पूंजीपति पैदा होने लगते हैं, चाहे इन अवसरों के उदाहरण विदेशो में प्रस्तुत किये गए हों, या स्वतन्त्र रूप से देश के अन्दर ही जन्मे हों। ये अवसर नयी टेक्नीको के रूप में हो सकते हैं, या विदेश-व्यापार के नये अवसरों, या देश में बेहतर संचार-साधनों, या अन्तर-रिक्त शान्ति के कारण बाजार का विस्तार होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो सकते हैं। यदि ये अवसर केवल व्यापार के लिए हों तो नये वर्ग का दृष्टिकोण मुख्यतया वाणिज्यिक होगा, परन्तु यदि नयी टेक्नीको या नये साधनों के रूप में हों, जिनमें पूंजी का फायदा उठाया जा सकता हो, तो ऐसे पूंजीपतियों का एक समूह पैदा हो जाएगा जो मुख्यतया अथवा पूंजी-निर्माण की बात सोचेंगे। अध्याय ३ में हम देखेंगे कि उद्भवती वर्ग के विकास में महापता

पहूँचाने या स्थापित पैदा करने में राजनीतिज्ञ, धार्मिक और जातिगत मन्थानों का क्या महत्त्व है। अथवा और य मन्थान एक दूसरे पर प्रभाव डालने हैं, और दोनों मितरर हम वर्गों की चूटि की दर और हमरी गतिविधियों की गोमा निर्धारण करन हैं।

जापान का उदाहरण विशेष रूप से दिलचस्प है। यहाँ यहाँ भूमिामी और कुलीन लोग बहून तेजी से पूँजीपति बन गए जैसा कि श्री धार्ड० धार्ड० प्रैमर ने अभी हाल में लिखा है (देविण मन्दर्भ टिपणो)। यह हमें बात का परिणाम था कि राज्य न कुलीन-वर्ग के सामान्यवादों अभिजात परीद लिए, और उन्ह प्रजासत्तिय कायों से वंचित कर दिया, गा ही राज्य न सामन्तो के श्रुणो का बोझ भी अपने उपर ले लिया। चूँकि गाँवों के पास धन की (या सरकारी बाण्डों की) बहुता हो गई और काम बाँट रहा नही हमलिय कुछ सामन्ता ने पहले से ही व्यसंगाय पुन लिया और जब १८८० में सरकार न अधिकाभी प्रयोजना के लिए स्थापित कुछ संसदियों का बचन का निश्चय किया तो इन सामन्ता ने उन्ह तत्वात् परीद लिया। उन्नीयरी शताब्दी के महत्त्वपूर्ण अन्तिम २५ वर्षों में जापान में उद्यमताया की मरुया बढ़ाने में पुराने हम के अभिजात-वर्गों के स्थान पर नय हम के पूँजीपति-वर्गों का पर स्थिति उदय बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा। गाथ ही जहाँ परत सामन्ती अभिजात वर्ग व्यापारी-वर्गों को लाभ से वंचित करने सूब धन कमा रहा था और चाण्डाल्य पूँजी के उपभोग के लिए उधार ले लेता था, यहाँ सब चाण्डाल्य वर्गों को उत्पादन कागों में निवेश करने की स्वातन्त्रता मिक गई और देश के कुछ सर्वाधिक धनी व शक्तिशाली परिवारों के उनका उद्यम में सम्मिलित होने से उनरी शक्ति और भी बढ़ गई।

वर्तमान समय में हम राज्य-पूँजीपतियों के एक नय वर्ग (जैसे मोरियात रूस, भारत) को दिक्कत करते हुए पाते हैं, जो रिम्भी-न-दिग्गी कारण लोक-धन के बल पर तेजी से पूँजी का निर्माण करने के लिए कटिबद्ध है। अथवा और उत्पादन निवेश के महत्त्व के सम्बन्ध में सरकारी पूँजीपतियों और निजी पूँजीपतियों के दृष्टिकोण में जहाँ तक समानता है वहाँ तक दोनों की उपयोगिता एक-सी है। राष्ट्रीय भावना, मैनिव शक्ति की इच्छा, और साम जनता की गरीबी दूर करने के लिए हर तरह से प्रयत्न करने की आशा का विनाश होने से हम प्रगति को सूब बच मितता है।

अभी तक हम उम प्रतियोगिता का परीक्षण करते रहे हैं जिगों द्वारा कोई कार्य-व्यवस्था अथवा यथा ५ प्रतिगत के स्तर में आगे बढ़ानी है। यह बात भी ध्यान में रखनी जानी चाहिए कि पूँजीवादी क्षेत्र राष्ट्रीय धन की कुलता में तेजी से बढ़ा ही नही बर समता, अथवा यदि यह तेजी से बढ़ता रहता,

तो कभी-कभी सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था टूटी में समा जाएगी। यदि हर व्यक्ति का पूंजीवादी रोजगार दन के लिए पर्याप्त पूंजी हो जाती है तो यह आपेक्ष विस्तार रुक जाता है। इसके अनिश्चित पूंजीवादी क्षेत्र जैसे-जैसे अर्थिक लोगो का रोजगार देना जाता है और अन्य क्षेत्रों की तुलना में छाटा नहीं रह जाता, जैसे-जैसे ही निम्न गुणों के स्तर के बनावट स्थिर वास्तविक मजदूरी देते हुए विस्तार कान की सम्भावना समाप्त हो जाती है। यदि कृषि पुनर्गठन पर ही मगठित रह, और यदि कृषि की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के लिए विशेष उपाय न किए जाएं तो प्रान की भानि ऐसी स्थिति अपनाएँ पहले ही पैदा हो सकती है। अतः एक ऐसी अवस्था आ जाती है जहाँ और अधिक पूंजी-मचर में वास्तविक मजदूरियाँ बटन लगती हैं। ऐसी अवस्था में चूंकि निवेश का लाभ बढ जाने में मजदूरों की माँग बढ जाती है, और इसी कारण वास्तविक मजदूरों भी बढ जाती है, अतः तकनीकी प्रगति का मारा फायदा लोगों में जाना बन्द हो जाता है। अतः एक ऐसा समय आता है जब यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि अधिक पूंजी-संचय और अधिक तकनीकी प्रगति से मजदूरों बढेगी या लाभ बढेगा, या अगर दोनों बढें तो अपेक्षाकृत कौन अधिक तेजी से बढेगा। भूतकाल में अधिकांश अर्थशास्त्री यही माना करते थे कि पूंजीवाद की बाद की अवस्था में लाभ की दर घट जाती है, अर्थात् वे माना करते थे कि अधिकाधिक उन्नति से होने वाले लाभ का अधिकांश भाग मजदूरों में जाता है। परन्तु ऐसा लगता है कि पिछले अन्धो वर्षों में उन्नत औद्योगिक अर्थ-व्यवस्थाओं में लाभ की दर स्थिर रही है, और मजदूरों तथा लाभ में समान अनुपात से वृद्धि हुई है। पूंजीवाद की आरम्भिक अवस्थाओं में लाभ राष्ट्रीय आय की तुलना में बढ़ता है, परन्तु बाद की अवस्थाओं में लाभ राष्ट्रीय आय के एक स्थिर अनुपात में ही होता है (चर्चित और दीर्घकालीन उत्तार-चढ़ाव के कालों को छोड़कर)। इसी प्रकार, पूंजीवाद की आरम्भिक अवस्थाओं में बचत की दर राष्ट्रीय आय की तुलना में बढ़ती है, परन्तु बाद की अवस्थाओं में निवल बचत राष्ट्रीय आय के एक स्थिर अनुपात में होती है। यह अनुमान कितना अधिक होगा यह इन बात पर निर्भर होता है कि मजदूरों की कमी या प्रमुख कृषि मजदूरों में वास्तविक पटने की स्थिति पैदा होने से पूर्व पूंजीवादी क्षेत्र अपना कितना विस्तार कर चुका है। इन प्रकार पहले कही गई एक असंगत बात का स्पष्टीकरण हो जाता है। चूंकि धनी लोग निर्धन लोगों की अपेक्षा अधिक बचत करने हैं, अतः आभा की जाती थी कि प्रति-व्यक्ति आय बढ़ने के साथ हर देश की बचत बढ़नी चाहिए। परन्तु अधिक धनी देशों में पाया गया है कि पचान में उत्तर वर्ष में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय दूनी हो गई, जबकि बचत के अनुपात में कोई वृद्धि

नहीं हुई। इसका उत्तर यह है कि बचन की दर का निर्धारण हम आधार पर नहीं होता कि वार्ड देश धनी है या निर्धन? बल्कि राष्ट्रीय आय के माप लाभ के अनुपात पर होता है, और विभाग की एक निश्चित अवस्था पर पहुँचन के बाद इन दोनों अनुपातों की वृद्धि रुक जाती है। परन्तु हमसे यह निष्पन्न नहीं निकालना चाहिए कि यह एक शाश्वत नियम है। हमें निश्चित रूप से यह पता नहीं है कि उन्नत पूँजीवादी समाज में राष्ट्रीय आय के साथ लाभ के अनुपात का निर्धारण किस आधार पर होता है अतः हम कोई निश्चयात्मक भविष्यवाणी नहीं कर सकते कि भविष्य में यह अनुपात घटेगा या बढ़ेगा।

बचन का विद्वेषण पूर्ण करने के लिए अब हमें सरकारी बचन पर भी विचार करना चाहिए। इस अध्याय के खण्ड १ में हमने देखा कि उन्नत औद्योगिक धर्म-व्यवस्थाओं में कुल नियत निवेश का लगभग ३५ प्रतिशत लोक-निर्माण-कार्यों और लोकोपयोगी सेवाओं में लगा होता है—यह कुल राष्ट्रीय आय का लगभग ७ प्रतिशत होता है। इसमें से राष्ट्रीय आय का लगभग २ से ३ प्रतिशत तक सही धर्मों में परिभाषित लोक-निर्माण-कार्यों (सड़कों, बन्दरगाहों, स्कुलो, घरपतालों, मार्केट-निर्माण, इमारतों, आदि) में और दोष ४ से ५ प्रतिशत तक लोक-प्रसाधन या अन्य व्यवस्थाओं के अन्तर्गत चलने वाली लोकोपयोगी सेवाओं (रेलवे, सड़क परिवहन, टेलीफोन बिजली, गैस आदि) में लगा होता है। अतः कुल निवेश में सरकार का भाग अतः हम बात पर निर्भर होता है कि सरकार ने लोकोपयोगी सेवाओं को किस सीमा तक निजी उद्यमकर्तव्यों के लिए छोड़ रखा है। बहुत से देशों में यह राष्ट्रीय आय का ७ प्रतिशत तक है (उदाहरण के लिए न्यूजीलैंड में), जबकि एक माप देश में यह २ प्रतिशत से भी कम है।

और नहीं तो लोक-निर्माण-कार्यों के लिए सभी सरकारों को बचन बनानी पड़ती है। ये चाहें तो पहले मन करके बाद में क्या सकती हैं, या बचतों में से बचें कर सकती हैं, किन्तु परिणाम दोनों का एक ही होता है। अभिप्राय यह है कि कुछ सरकारों का मान बचावों की बजाय शुरू में अल्प लेकर पूँजी-निर्माण में धन लगाना पसन्द करती हैं, परन्तु परिणाम सही होता है क्योंकि हम अल्प का अर्थ बचन के लिए सरकारों का अर्थ। यह शोधन-निधि स्थापित करनी पड़ती है जिसमें वर्तमान बचावों से से ही धन आता जाता है। यदि कोई सरकार अल्प लेकर एक निश्चित या अल्प दर में पूँजी निर्माण में धन लगाने से उगरी शोधन निधि में गति से गए भू-संग्रहण को देती समय में उगरी वापिस उधार से गई राशि के अन्तर्गत जाते हैं।

आर्थिक विभाग का एक अन्य अधिवाहक तथ्य यह है कि राष्ट्रीय आय में

सरकार का भाग बट जाता है। प्रति-व्यक्ति राष्ट्रीय आय के निम्नतम स्तर पर सम्भव है सरकार का भाग ऋद्ध हो, प्रतिशत हो, जबकि आयुनिर्भर औद्योगिक सरकारों में निम्न प्रयोजनों के अभाव (जिन पर हम समय १० प्रतिशत से भी अधिक खर्च होता है) अपने वास्तविक माध्याम का लगभग १० प्रतिशत तक वर्तमान प्रयोजना के लिए काम में जाती है। इसके अतिरिक्त सामाजिक माध्यामों का २ से ३ प्रतिशत तक पूँजी निर्माण में, तथा लगभग १० प्रतिशत अन्य अदृश्य राशियों के रूप में (पेंशन, बीमा-भुगतान, व्याज-भुगतान, आदि) लगाती हैं। अतः यह ज़रूरी है कि कराधान की सीमान्त दर औसत दर में अधिक होनी चाहिए ताकि करो की आय राष्ट्रीय आय की अपेक्षा अधिक तेजी से बटे। राष्ट्रीय आय में अपने भाग को तेजी से बढ़ाने की दृष्टि से मुद्रा-स्फीति का महारा लेने वाली सरकार के लिए यह विशेष रूप में ज़रूरी है, क्योंकि कराधान की उच्च सीमान्त दर एक ऐसा उपाय है जिसमें मजदूरों में अतिरिक्त मुद्रा आने पर कीमतों को तेजी से बढ़ने से रोका जा सकता है।

ज्या-ज्या सरकार की ज़रूरतें बढ़ती जाती हैं, त्यो-त्यो वह मोटी आम-दणियों पर ज्यादा-से-ज्यादा कर लगाती जाती है। जैसा कि हम देख चुके हैं, पिछड़ी अर्थ-व्यवस्थाओं में उर्मा के किराया से होने वाली आमदणियों पर लगाए गए करों से बचत पर सम्भवतः कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि ऐसी आमदणियाँ बचत का श्रोत नहीं होतीं। ऐसे कर भूस्वामियों को अपने नौकर-चाकरों की सख्या कम करने के लिए, अपेक्षाकृत छोटे मकानों में रहने के लिए, और दान, गिरजाघरों आदि में अपना अदान कम करने के लिए बाध्य करते हैं, परन्तु बचत पर इसका सम्भवतः कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु लाभों पर कर लगाने से विलकुल भिन्न परिणाम होने हैं, इनका लगभग पूरा बोझ उपयोग की बजाय बचतों पर पड़ता है। इसलिए यदि करो से होने वाली आय का उत्पादक टग से प्रयोग न किया जाए तो लाभों पर कर लगाने से आर्थिक विकास के काम को ठेस पहुँचनी है।

यदि सरकार धन बरबाद न करती हो तो एक दृष्टि में उसके सब खर्च 'उत्पादक' होते हैं। शिक्षा और नौकर-स्वास्थ्य पर सरकार जो खर्च करती है—आयुनिर्भर सरकारों के ये दो सबसे बड़े खर्च हैं—उम्रों विभिन्न मात्राओं में उत्पादन की वृद्धि होती है, और यहाँ तक कि रक्षा-सेना पर किया जाने वाला खर्च भी कुछ परिस्थितियों में राष्ट्रीय आय को लुटेरों से बचाए रखने की लागत माना जा सकता है। यह एक स्वय-सिद्ध सत्य है कि सरकारी को केवल लाभप्रद कामों पर धन खर्च करना चाहिए। निजी हैमिद्धत में किसी देश के नागरिकों के पास आय के जो श्रोत होते हैं उन्हीं में बढ़ती करके सरकार धन इकट्ठा करती है, अतः यदि सरकार इन धन का नागरिकों की अपेक्षा कम

उपयोगी ढंग में प्रयोग करती है, तो यह धन की बरबादी है। चाहे उपभोग में कटौती करके धन इकट्ठा किया गया हो या निवेश में कटौती करके, दोनों अवस्थाओं में यह बात उतनी ही सत्य होती है, परन्तु यदि यह दृष्टिकोण सही मान लिया जाए कि निवेश में कमी करना उपभोग में कमी करने की अपेक्षा अधिक उत्तरदायक है (इस दृष्टिकोण को हर व्यक्ति नहीं मानता) तो धन की कमी का निर्धारण करने में सरलता के क्षेत्र में दार्शनिक भावधारी वर्गनी चाहिए, यदि इनमें लगने वाला धन निजी बचत में कटौती करके इकट्ठा किया जाना हो।

हाल के वर्षों में उन्नत प्रौद्योगिक देशों में आभा पर इनका अधिक बरतना दिया है कि मजदूरी की अदायगी करने के बाद निवृत्त लाभार्थी बहुत ही कम रह जाते हैं और प्रयोज्य धापा में भेजे जाने वाली निजी बचतें बहुत कम हो गई हैं। करों की अदायगी के बाद निवृत्त लाभार्थी कम रह जाने का एकमात्र कारण बराबर ही नहीं है, इसका एक कारण यह भी है कि लाभार्थी के रूप में घोषित की जाने वाली रकम राष्ट्रीय आय के अनुपात में नहीं बढ़ी है। लाभों में तो राष्ट्रीय आय के लगभग समान अनुपात में वृद्धि हुई है परन्तु सम्पत्तियाँ अनिश्चित आय का एक बहुत बड़ा भाग काबू में लगी रहती हैं, और उसका एक बहुत बड़ा भाग लाभार्थी के रूप में बाँटती है। इस प्रकार ईश्वर की दीर्घायु की भीमता उन परिणामों के मूल्य के अनुपात में नहीं बढ़ती जिनका ये प्रतिनिधित्व करती हैं। सम्भवतः यह केवल भ्रमपूर्ण रूप में होता है, क्योंकि नयी स्थूल परिणामों में सही करने के निमित्त उद्योगों के रूप में उद्योग के लिए नहीं पूँजी आते ही दीर्घायु और परिणामों का मूल्य पुनः बराबर हो जाता है—यह अन्तर आभास कम करने की गृहस्थानीय और मुद्रांतर नीतियों का परिणाम है। बराबर का लाभार्थी को कम करने वाला प्रभाव सम्भवतः अधिक स्थायी हो जाएगा क्योंकि समानतावादी सिद्धान्तों की वास्तविकता स्वीकार करते हुए सभी आधुनिक सरकारों लाभों पर भारी कर लगाने लगी हैं।

व्यक्तिगत बचतों में एक प्रकार की भी हो जाने में विनिर्माण-उद्योगों के निवेश में कोई कमी नहीं होती, क्योंकि इनके माध्यम से उद्योगों में न बाँटे गए लाभों का अनुपात बढ़ जाता है, और विश्वमान विनिर्माण-कारणों की पूँजी को उतना ही बचाए रखते और उसे बढ़ाने के लिए वे लाभ पर्याप्त होते हैं। व्यक्तिगत बचतें कम हो जाने का मुख्य प्रभाव यह होता है कि सम्पत्तियों के निवेश में बाह्य प्रयोज्य बचतों की राशि कम हो जाती है और उधार लेने वाले विनिर्माण वर्गों की सम्भावनाओं पर इसकी बड़ी प्रतिनिधि होती है। परम्परागत रूप में धर्म धर्मशास्त्रों के विनिर्माण और वाणिज्यिक क्षेत्रों में धर्म के मनी नये निवेशों में लगने वाले धर्मों में से ही पैसा लगाने है, और इसके

दाद भी उनके पास धन बन जाता है जिसे वे लानागों के रूप में बाँट देते हैं, और जिसका कुछ अंश नये कारवाग को दिवशी उदारवर्तियों को, वृषि को, लोकोपयोगी सेवाओं और सरकार का उच्चा दन के रूप में प्राप्त होता है। परन्तु श्री ० टी० सी० रामदास द्वारा हाल में की गई गणना (द्वितीय सर्वेक्षण-टिप्पणी) के अनुसार निम्नी सरकारों में लोगों की राशि का निम्नान्वय रूप व्यक्तित्व वचन की राशि १६५० में त्रिंशत् म व्यक्तित्व आय का वेधन १५ प्रतिशत और अनमीता में व्यक्तित्व आय का वेधन २० प्रतिशत थी। नये विकास के दाद निम्न लानागों की राशि के रूप में जान से बड़े प्रकार के निवेदों को बड़ा धन लगाना है। चाहे अन्य प्रकार की वचनों के बट जाने से यह नमी बिलुप्त हो जाये। नये सरकार को इससे कितना धन लगाना है यह पूरी तरह से स्पष्ट नहीं है। नमी प्रकार जमे हुए विनिर्माण-कारवाग अपने काम के लिए हमेशा अपने अतिरिक्त लाना में से ही पैसा लगाते हैं, परन्तु नये सरकार को आरम्भ करने के लिए किसी बाहरी स्रोत से पूँजी लेनी ही पड़ती है, और चूंकि अन्य कारदारों के निवेदन से बाहर पूँजी का अभाव हो जाता है, अतः नये सरकार को निम्नी पोषक मिलना बहुत बठिन होता है। यह बठिन बठिन होता है कि यह बात कितनी महत्वपूर्ण है। अभी भी बठिन से अनमीर लोग ऐसे हैं जो यदि किसी नये उद्यम का पोषण करना चाहें, तो उनके पास ऐसी परिसम्पत्तियाँ हैं जिन्हें वे बेच सकते हैं (जैसे सरकारी बाण्ड)। कुछ लोगों की आशका है कि उनका दहन काफी प्रभाव पड़ता है, क्योंकि नये कारदार द्वारा पुनः नये सरकार के मुकाबले आने और उसे प्रतिस्थापित करने के अवसर कम करके यह अव्यवस्था में एकाधिकारवादी प्रवृत्तियों को और प्रौद्योगिकीय गतिरोध की प्रवृत्तियों को मजबूत करना है। ऐसे व्यक्ति मुझसे देते हैं कि सरकार को वनधान की प्रायः का कुछ भाग किसी एजेंसी या एजेंसियों के हाथ में दे देना चाहिए जिन्हें नये सरकार में धन लगाने में विशेषज्ञता हासिल हो। लेकिन पर्याप्त जानकारी प्राप्त न होने के कारण स्पष्टि अस्पष्ट है।

वृषि, विदेशी निवेदन, लोकोपयोगी सेवाओं और नये सरकार के लिए लाना ऐसी ही सम्पत्तियाँ पैदा हो जाती हैं। यदि नये सरकारों के रूप में उन वचनों को छोड़ लेती है, जिन पर पहले से उच्चा नये लाने निर्भर थे, तो नये सरकार को चाहिए कि वह उन वचनों का कुछ भाग नये लाने में पूँजी-निर्माण में लगाने के लिए प्रयोग करे। धन उठाने के लिए नये लाने में वृषि को हमेशा बठिनाई होती है। जिनमें वृषि में पैसा लगाने के लिए नये लाने का वास्तविक विज्ञान न बौध परम्परागत रूप से बँटा हुआ है, जमींदार लगाने में नये लाने-मुद्रा नये उद्योगों पर होने वाला खर्च देता है, जबकि विज्ञान लाने में से नमी-नये तथा अन्य कारवाग पूँजी की उत्पत्ति पूरी बठिता है।

व्यवहार्यता दोनों तथा म अपन पूरे निवृत्त निवृत्त क लिए पयाप्त वचन करन का प्रवृत्ति नहीं है अतः कृषि अथ-व्यवस्था क अथ धर्म म हृमणा उधार भेना रहा है । हात क वर्षा म उच्च करा तथा स्थिर नगान क संयोग क कारण नू स्वामा बहुत हा अरि परेगाना म पड गए हैं यद्यपि किमाना की स्थिति अगला तुन सधर गर्द है और ध पूजा कान क लिए अपन बढन हुए लाभ म स धन तगा मरन है । विन्गी निवृत्त म पैसा नगाना छोड भा कटिन हा गया है क्योंकि प्रसा व वचता म बहुत कमा हा गद है । कम्पना कारण अपना समुद्र पार परि सम्पत्तियो का बढान क लिए आमाना म पैसा नगा सकता है पर खानो या बागाना या फँकिरिया म किया जान बाता प्रयोग निवृत्त हृमणा विन्गी निवृत्त का नूनतम भाग हाता है । समय समय पर कुठ पूँजी बाह्य स्थिति धर्म म भी चली जाता है जिम कट्रीय बैंक प्रायात का नुगतान करन क लिए काम म जान रहे है । परन्तु विदगी निवृत्त का अधिराज भाग मरकार का या नोडा पदोधी सेवाका का (जा टग समय अधिराज मरकार क हाथ म हैं) दिष्ट गए कृष्ण के रूप म हाता है और प्रयाज्य वचता की कमा हा जान स इस प्रकार के उधार दन का सम्भावनाया पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है । जसा कि हम आगे एक खण्ड म दलन कि यह भी एक कारण है जिमन कनस्वरूप विदगी निवृत्त निजी उधार का अगला अन्तर-मरकारो अन्तरणा पर कहा अधिर निभर है । जहाँ तक दग क भारत का साकाययोगा संवासा का सवान है बापी समय म उनवी बीमता तथा लाभ का एक निम्न स्तर पर बनाए रखन की परिघाटी रहा है कि य उपक्रम अधिव धन सचिन नहा कर मर है और दह अपने विस्तार क लिए नय कृष्ण सन की आवश्यकता पडता रही है । इस नयी स्थिति म या ता उह विनिर्माण-व्यवगाय का भानि मूय उडा तना चाहिए और बग मात्रा म अचितरित लाभ कमाना चाहिए या अगनी अन्तरा क लिए मरकार म अधिराधिक पैसा नना चाहिए । इनम स पहन उगाय के लिए राजनीतिर वासायण विनष्टुन उपयुक्त नहीं है ।

शुक्ति मरकार द्वारा लाभ पर नागी कर नगाए जान स निशा वचन कम हा जानी है अतः यदि कुन वचन म मिरावट नहा घात दनी है ता यह पश्य साध्य है कि मरकार का स्वय अधिव वचन करनी चाहिए और माय हा उग एमी कार्टे व्यवस्था करनी चाहिए जिमम उधार दन बाता क एन वर्ग को कल निय जा मर जा अथ नय प्रयाज्य निजी वचना पर निभर रहे हैं । इनीतिर विन्म म म्हापुड क तराव याद क दनों म मुड पूर का परिष्कार क विपरान कट्रीय उधार न बग का प्राय का उत घना मर पूज निम्न म ही रहा नगया बनि स्थानाय प्राप्तिरणा का आवश्यकतानुसार उधार ना म म म्हा । अना हन म अन्तरणा कना दन कर दिया है यदि



सर्कार का प्रयोजन लाभों पर कर कम करना, और इस प्रकार निजी बचत को बढ़ावा देना है तो उम्मा यह कदम ठीक ही है परन्तु यदि उम्मा प्रयोजन या प्रभाव उपभोग को बढ़ावा देना है तो यह कदम तब तब ठीक नहीं है जब तक कि व्यक्तिगत उपभोग के खर्च का बढ़ाने के लिए पूँजी-निर्माण की दर को घटाने का इरादा न हो। यदि लाभ पर टनना ही कर लगा रहे जितना कि इस समय है, तो ब्रिटेन की सरकार करोड़ों आय में से केन्द्रीय व स्थानीय पूँजीगत व्यय के लिए धन देने की जिम्मेदारी ने ही नहीं बल्कि नये कारखाने, कृषि, विदेशी निवेश और नौकापयोगी सेवाओं के लिए बचत का स्रोत बनाने की जिम्मेदारी ने भी मुक्त नहीं हो सकती।

तो लोग निजी निवेश की सहायता में होने वाले आर्थिक विकास और निजी सम्पत्ति की वृद्धि को पसन्द नहीं करने उन्हें यह जानकर बड़ा मन्त्रोप होता है कि लाभों में होने वाली आमदनियों पर भारी कर लगाने में निजी बचतें कम हो जाती हैं। वे चाहते हैं कि राज्य ही सभी मुख्य कामों में धन लगाए, और अर्थिक सम्पत्ति बेवजह उम्मा के पास हो। यदि राज्य अर्थिक लाभों को किसी-न-किसी प्रकार अपने सज्जाने में ला सके और बाद में उसे निवेश में लगाए, तो इन सम्बन्ध में कुछ सफलता मिल सकती है, परन्तु प्रश्न यह है कि निवेश की प्रेरणा को घटाए बिना राज्य इस दिशा में कहीं तक आगे बढ़ सकता है। ब्रिटेन के बहुत से लोगों का विचार है कि यह स्थिति पहले ही आ चुकी है और समाप्त भी हो गई है, जबकि अन्य लोगों का कहना है कि वस्तुतः कराधान के वर्तमान स्तर के बावजूद इस समय ब्रिटेन में कुछ निवेश पिछली कई दशकियों में अधिक है। राज्य द्वारा सनभग सारा लाभ अपने कब्जे में ले लेने पर ही निवेश का स्तर ऊँचा बनाए रखा जा सकता है, बगैरे कि राज्य को और ने प्रवन्धक-वर्गों की इनकी प्रेरणा दी जाती रहे कि वे राज्य के निवेशों में काम करते रहें। यदि राज्य करों की आय को बचाकर रखने और उत्पादन में उम्मा निवेश करने की बजाय उम्मा चालू प्रयोजनों पर खर्च करता रहे, और यदि प्रवन्धक-वर्गों की वित्तीय और सामाजिक दोनों दृष्टियों से समुचित पुरस्कार न दिया जाए तो लाभों पर ऊँचा कर लगाने से विकास के काम को धनि पहुँचेगी, परन्तु यदि अन्य एनेमियाँ निजी निवेशकर्ता के काम को अपने हाथ में ले लें तो उम्मा समाप्त हो जाने पर भी विकास-कार्य में रुकावट नहीं आएगी।

लाभों पर कराधान की समस्याओं के अलावा, बहुत से लोगों का मत है कि कम विकसित देशों में सरकार द्वारा सामान्यतया किए जाने वाले निवेश की मात्रा बढ़ाने के उद्देश्य से सरकार का विशेष कर्तव्य होता है कि वह बचत के स्रोत के रूप में कर लगाए। चूंकि इन समाजों में लाभ राष्ट्रीय आय का

एक मामूली-ना हिस्सा जमा है अतः य वर मुख्य रूप म मजदूरगिया बनना सिगाना की छामन्तिया और किराया पर तगाण जा मरत है । एम सगाज म बड उर भूमरामो अपनी किराया स हान वाना छामन्तिया का बचाने की बजाय उम अतितर नीर-वाकर रणन और स्थानाम धमाय मन्वाछा कड सगायगा उर म मच करत है अतः ए छामन्तिया पर कर लगाने स जमागर लाग बाध्य हाकर मन्वयता अपनी सहायता पर निर्भर ब्यक्तिया का सन्धा कम करक अपना उपभाग कम कर दत है । राजनीतिक दृष्टि स छाजकर गरीबरा या किराना पर कर तगाण की बजाय जमागरा पर कर तगाण अधिष मरत है परन्तु सामायतया छामन्तिया का स्तर कम रिण बिनाकरा क रूप म का मारी कम करटा नहा का जा मरता । अर्थात् राणि करटा परत का सम्भवत मरग कम क त्वायक उपाय छामन्ती की वृद्धि पर कर लगाना है परन्तु यह उही समस्या म ब्यवसाय है जहाँ बाम्बव म प्रति ब्यक्ति छामन्ती बड रही हा । बसा और गोडकोस्ट जम दगा म जहाँ महापद क बा मरवार म ब्यापार स हान वान अधिकाण लाभ का अपन कर म स तिया है इम बाय म सपनता मित्री है जापान म भी १९१४ म पतव म्ग राय म सपनता मित्री जहाँ प्रति एका वृधि उपज बतान क उद्भय स जार दार प्रयत्न करा क साथ हा ऊँर कर भा लगाय गए जिनर पत्रस्तरूप वृद्धि का बागा भाग मरवारो राजान म पट्टैच गया ।

सम्भवत यह मच है कि हर देग अजर चाह ता अपना राष्ट्राय प्राय का १२ प्रतिशत बिना किमी बटिनाई क बचा सकता है । यह बात भी मच मानुम शनी है कि बह इनी राणि स्वच्छापूवक तभी बचा सकता है जब उमके लाभ उमकी राष्ट्राय प्राय के बागा बडे भाग बत चुक हा । यदि बह नही चाहता कि उमका विकास निजा लाभ पर निर्भर रू या यदि निजा लाभ पर निर्भर रहा की तयार है तबिन म्ग गति स बडा रूए लाभ क उम स्तर तक पहुँचने की प्रतीभा नही करना चाहता तो य बचत क लिए मजदूरन म्ग प्रगार या करधान का सहारा ल सकता है । कुछ समय म हम मरवार का बचन का एर बहुत बडा ग्यात मानन सग हैं । सम्भव है कि बीगवा गता म ऐग दगा म भी यह ग्योत महत्व की दृष्टि म घाब म ना म प्राय बड जाण जिनम बध उद्भय अधिराणन निजी उद्यमा क ग्या म भी है । म्गम पना हा बागा ममम्माषा पर हम डग अध्याय क ग्ग (क) और घागम ३ के ० (ग) म प्राय म्ग म्ग ।

(ग) बाहा विन — लगान एर म्ग अपन विकास का धारणित धरणाया म अपनो धारा बगता क पुरक क रूप म बाहा विन का म्गयता गता है । म्गयता और धारणा गता म द्गनद एर म्ग म्गयता ५। जबकि

उर्नामची तथा बीमची शताब्दी में आकर टगवैट ममार के लगभग हर देश को ऋण बन गया। आज का सबसे अधिक घनी देश मद्रुवन राज्य अमरीका भी उर्नामची शताब्दी में बहुत अधिक ऋण लेता था और बीमची शताब्दी में आकर वह आज सदमे बड़ा ऋणदाता बन गया है।

निर्मा भी विकासोन्मुख देश में चाहेन हुए भी केवल घरेलू बचतों में पूंजीगत वापसकी उम्मीद पूरी कर पाना कठिन होता है क्योंकि विकास-वापसकी में सामान्यतया विदेशों में कुछ पूंजीगत सामान मँगाना ही पड़ता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि कोई मन्वार पूंजीगत सामान मँगाने पर एक पौण्ड और मजदूरिया तथा बेलनों पर एक पौण्ड खर्च करने की आयोजना बनाती है और इस आयोजना के लिए एक पौण्ड कर लगा देती है। अगर मैं इन पर एना करना न तो अवस्थिति पैदा करने वाला लगता है और न स्थितिकारी लगता है, बल्कि धन और कर की राशियाँ एक-दूसरे के बिल-पुन बराबर हैं, परन्तु व्यवहार में ऐसा करना अवस्थितिकारी है और इनके भुगतान शेष पर बोझ पड़ता है। देश के भीतर खर्च किए गए एक पौण्ड का स्थानीय उत्पादन और भुगतान-शेष पर जो प्रभाव पड़ता है, वह एक पौण्ड के बराबर में लगभग समान हो जाता है। परन्तु विदेश में खर्च किये गए एक पौण्ड की पूर्ण स्थानीय उत्पादन पर एक पौण्ड कर लगाकर नहीं की जा सकती, क्योंकि इनके केवल एक पौण्ड विदेशी मुद्रा उपलब्ध हो सकती है (इनमें से आय की सीमान्त प्रवृत्ति है)। इसके अतिरिक्त विदेश में खर्च किये गए एक पौण्ड में घरेलू मजतन की उत्पादन कुछ कम हो जाती है जिसकी पूर्ण न हो पाने में अवस्थिति पैदा होने लगती है। यदि निर्यात और देश के भीतर का उपभोग एक-दूसरे का स्थान ले सकें तो इन बुरे परिणामों से बचा जा सकता है, क्योंकि देश के भीतर उपभोग कम होने से निर्यात अपने-आप बढ जाता है, अतः इनके विदेशी मुद्रा का भी प्रवन्ध हो जाता है और देश के भीतर की आय भी बनी रहती है। ऐसा कुछ सीमा तक ही होता है, पूर्णतः नहीं। आगे चलकर भुगतान शेष मनुलन पर आ जाता है, देश के भीतर अवस्थिति के कारण आयान मबुचित हो जाता है और कौमत्ते घटने के कारण निर्यात घट जाता है। एक बार आवदक समजन हो जाने के बाद कोई देश बिना विदेशी सहायता के पूंजी निर्माण या एक अपेक्षित स्तर बनाने रख सकता है। परन्तु पूंजा निर्माण की दर बढ़ाने का प्रभाव लगभग निश्चित रूप में यही होगा कि विदेशी मुद्रा में कमी हो जाएगी जिसकी पूर्ण करने के लिए यदि कोई विदेशी परिसम्पत्तियाँ हो तो उनकी बिक्री करना होगा, विदेशी मुद्रा पर निरन्तरता पाना होगा या विदेशी सहायता प्राप्त करनी होगी।

अगर इन सब बातों का पैना लगाया जाय तो चर्चा के लिए निम्नी वापसकी

मे अगर भुगतान सेव पर भार पड़ता है तो अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी ऐसे वायव्यम द्वारा भुगतान सेव पर और भी अधिक भार पड़ेगा जिसमें पूँजी निर्माण के लिए बेरोजगार लोगों को काम देना पड़े और इन प्रयोजन के लिए नयी पूँजी तैयार जाए। यदि इन वायव्यम में स्फीति न पड़े तो उभरता आग तक विदेशी मुद्रा में पूरा किया जाना चाहिए—कुछ आयात किए गए पूँजीगत मान की कीमत चुकाने में और कुछ देव के भीतर तक किए गए धन को वापस लेने के लिए आयात का एक उपभोग्य वस्तुओं की कीमत चुकाने में। यदि आयात की गई वस्तुएँ और ऐसी वस्तुएँ पूरी तरह तक दूसरे की स्थापनापन न हो तो देव में चाँदी में स्फीति हो जाएगी जिसमें आयात का सामान आयाती से लप जाएगा। व्यवहार में देव के भीतर का आग तक विदेशी मुद्रा में पूरा करने की जरूरत नहीं बर्खास्त देव के भीतर तक किए गए धन में कुछ धन दस्तावेज रूप किया जाता है और वह पूरे-जा पूरा उपभोग्य वस्तुओं पर तक हाता जरूरी नहीं है। उभर विदेशी एक निवेश प्राय दूसरे निवेश के प्रभाव का सम्मान कर देता है और एक प्रकार बची विदेशी मुद्रा विदेशी रूप से और अधिक विदेशी के काम में लग जाती है।

हमारे सामने मार रूप में बनी त्रियाद है जो अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निमाण तथा विनाश बँक और भावी उपायकर्ता राष्ट्रों के बीच देव बँक का स्थापना के समय पैदा हुआ था जिसका कारण यह था कि बँक ने अपने उद्देश्य की धारणा करत हुए कहा था कि वह विनाश प्रायोजकताओं के लिए आयात किए गए पूँजीगत मान की अदायगी के लिए ही विदेशी मुद्रा तथा देव के भीतर मजदूरी व बचत के लिए तैयार नहीं देगा। देव स्वयंश के अनुसार अगर देव के भीतर मजदूरी और बचत की अदायगी देव की धार में बाँटा जाय या समान मात्रा में अन्य धरेतू परिष्कृत का काम करत यात किया अन्य देव की महायज्ञ में बाँटा जाय तो जरूरत भर की सारी विदेशी मुद्रा उभर बँक में उधार मिल जाएगी। परन्तु यदि हमारा उद्देश्य अन्य धरेतू परिष्कृत को काम किए बिना ही बनी धमिका का तैयार पूँजी निर्माण करना हो तो बँक में उधार मिलत यात्री विदेशी मुद्रा अर्पणित होगी। काम विवर्धित देव में बचत की वर्तमान मात्रा को देखते हुए यदि वह देव कराधान या स्फीति के बिना देव के भीतर पूँजी निर्माण करना चाहता हो तो अपने अतिरिक्त वायव्यम व लाभ के रूप में बराबर अतिरिक्त विदेशी मुद्रा की जरूरत पड़ेगी।

यदि धरेतू बचत कायमा मात्रा में हो तो विदेशी निवेशकों का उद्देश्य करने का एक अर्थ में अनुमान के रूप में दिखता होगा कि देव अतिरिक्त विदेशी मुद्रा प्राप्त हो पाएगा।

विभिन्न देशों में निजी स्वामित्व में होने लान्दाभूपदों और विदेशी मुद्रा की मात्रा बहुत भिन्न-भिन्न है। दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में और मध्य-पूर्व के देशों में मात्रा और रत्नाभूपदों का निम्नवर्ष करने की धारणा प्रथा है अन्य देशों में वर्तमान निम्नवर्षों की मात्रा अनसह्य कम है। इस रूप में कितना धन टिपा पड़ा है यह पता नहीं है परन्तु अनुमानों के अनुसार यह राष्ट्रीय आय के २० प्रतिशत में अधिक नहीं है, ही यदि उसे प्रतिशत के रूप में न बताया जाए तो यह राशि बहुत बड़ी लगती है। इन राशियों की इकट्ठा करने का कोई मान उपाय नहीं है। बहुत से देशों में (जैसे ब्रिटेन) सरकारों को बनाए दिया गया या विदेशी मुद्रा रखना अपराध घोषित कर दिया है। परन्तु इसे बचाने का प्रभावी होना कुछ तो इन बात पर निर्भर होता है कि लागू बचाने का विनया पाठन करते हैं और कुछ इस बात पर कि विनये जो-शोर से और कड़ाई से इन बचानों को लागू किया जाता है। सोना गायकर रखने की प्रवृत्ति स्वीति के कारण पैदा होती है और लोगों से स्वैच्छापूर्वक धन निष्काशन की धारणा शायद उसी हान्य में ही जा सकती है जब लोगों को देश की मुद्रा की स्थिरता में विश्वास हो जाए। कुछ अर्थ के लिए आवश्यक बचाने देने की नीति को अपनाकर भी कुछ गंदा हुआ धन प्राप्त किया जा सकता है। बंदो नरकारें लगाने जनास्ट होते ही निजी निम्नवर्षों को इकट्ठा करने में सफल हो जाती हैं, परन्तु अपेक्षाकृत कम बंदो देशों में निम्नवर्ष धन धीरे-धीरे हो निम्नवर्षता है और विज्ञान के लिए अपेक्षित विदेशी मुद्रा के एक छोटे-से भाग के बराबर ही होता है।

देश की मुद्रा के पीछे उतनी ही मात्रा में विदेशी मुद्रा रखकर कुछ नरकारें रख्य जाती बड़े पैमाने पर धन दबाकर रखा रही हैं। उदाहरण के लिए, सभी ब्रिटिश औरनिवेशिक सरकारों में ऐसा ही है, क्योंकि औरनिवेशिक मुद्रा-प्रणाली के अनुसार उपनिवेश की मुद्राओं के पीछे १०० प्रतिशत स्थिर रखना जाना आवश्यक है। स्पष्ट है कि किसी देश की मुद्रा के पीछे १०० प्रतिशत विदेशी मुद्रा रखा जाना स्वयं है, क्योंकि ऐसी स्थिति परिस्थिति की बचपना नहीं की जा सकती जब देश की मारी मुद्रा एक छोप देशी उपचलन में गायब हो जाए। कुछ लोगों का कहना है कि ब्रिटिश उपनिवेशों के मानने में उन परिष्ठाटी से कोई हानि नहीं होती। मुद्रा के पीछे रखी गई देशी स्थिरता का निवेश उपम स्थानों में कर दिया जाता है, जिनसे दीर्घकालीन दर पर व्याज मिलता है और यदि इन उपनिवेशों को धन की उच्चतर पटो तो उसी दर पर लक्ष्य में स्थान लेने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होगी। यदि यह बात सच है तो मुद्रा के पीछे १०० प्रतिशत स्थिरता रखने से विज्ञान के मार्ग में कोई कठिनाई नहीं होती; यदि किसी उपनिवेश को उतने ही व्याज-दर पर

ऋण लेने में बठिनाई हो, जितने व्याज-दर पर वह ऋण दे रहा ही, तभी यह बात विचारणीय होंगी।

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान घोर उमके तुरन्त बाद अनेक देशों द्वारा मचित पीण्ड-पावने का भी उल्लेख किया जाना चाहिए। इनमें से अधिकांश देशों के पावने भव इतने कम रह गए हैं कि उनकी रकम मुद्रा की आवश्यक रशित निधियों से कुछ विशेष अधिक नहीं है। परन्तु एक या दो दस अथवा भी घपना पीण्ड-पावना बढा रहे हैं, क्योंकि उनकी विदेशी बमाई उनके घायानों की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ रही है। इन पावनों के कारण ही भारत या मिय-जैसे देश विदेशी मुद्रा की लगी अनुभव किये बिना ही अपने विकास-कार्यक्रमों को घ्राणे बढा पाए, और ये पावने उन महत्वपूर्ण कारणों में से एक है (दूसरा कारण घमरीकी विदेशी सहायता-कार्यक्रम है) जिनकी वजह से युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय निवेश की गति मन्द रहने के बावजूद विश्व-उत्पादन पूरी तेजी से बढा।

गया हुआ धन इकट्ठा कर चुकने के बाद विदेशी सहायता की सम्भावनाओं पर विचार करने से पहले हमें निर्यात की तुलना में घरेलू उपभोग की वस्तुओं के आयात का अनुपात कम करके विकास के लिए विदेशी मुद्रा प्राप्त करने की सम्भावना पर भी ध्यान देना चाहिए। परन्तु बचत बढाए बिना ऐसा नहीं किया जा सकता। अतः यह प्रश्न विदेशी वित्त-सम्बन्धी इस गण्ड की बजाय घरेलू बचतों के सम्बन्ध में पहले की गई चर्चा से सम्बन्धित है। आयात की वस्तुओं की स्थापान वस्तुएँ तैयार करके, निर्यात बढाकर, या विदेशी मुद्रा का राशन करके अधिक विदेशी मुद्रा उपलब्ध की जा सकती है। यदि प्रशासन कुशल हो तो विकास-कार्यों के लिए इसे इकट्ठा कर पाना अधिक बठिन नहीं है, पर ऐसा करने के परिणाम भेदे होते हैं। इसका कारण यह है कि यदि घाम जनता की इच्छानुसार आयातों पर सखं न करने दिया गया तो वह घरेलू सामानों पर अधिक सखं बरेगी। यदि निर्यात की जाने वाली घोर घरेलू उपभोग में घाने वाली वस्तुएँ एक-जैसी हों तो इससे निर्यात में कमी हो जाएगी, और इस प्रकार आयात-नियन्त्रण का प्रयोजन भी विफल हो जाएगा। यदि यह समस्या पैदा न हो, या इस पर बाबू पा दिया जाए, तो अतिरिक्त घरेलू धन्य के कारण देश में स्फीति पैदा हो जाएगी, जो कि बचन का एक रूप है। अथवा, यदि स्फीति से बचना हो तो बराधान के जगिए या स्वेच्छा बचत की मात्रा बढाकर देगी वस्तुमा पर होने वाले सखं में भी उन से हो कमी कल्ला आधुनिक होकर विदेशी कभी आयात के बरे गर्दे हो। अतः विदेशी मुद्रा की बमाई के नियन्त्रण की निवेश के लिए धन प्राप्त करने का अनिश्चित साधन मानने की बजाय घरेलू बचतें बढाने की नीति का एक अर्थ

जाती है। हर उद्योग एक अनुपात से विवर्धित होता है, शुरू में काफी धीरे-धीरे, उसके बाद तेजी से, और उसके बाद फिर बहुत धीरे धीरे। घट विनी विशेष काम में निवेश करने वाला के मामले में भी-न-न-भी ऐसी स्थिति अवश्य आ जाती है जब देश के भीतर उस काम में निवेश की अधिक गुंजाइश नहीं रह जाती। ऐसी स्थिति में वह अपने मचित लाभों को और दूसरे कामों में लगा सकते हैं। परन्तु उनके अन्दर उसी उद्योग में लगे रहने की इच्छा होती है जिसका उन्हें विशिष्ट ज्ञान होता है, और इसीलिए वे नये देशों में वही उद्योग शुरू करने के लिए अपने लाभों का उपयोग करना चाहते हैं। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन के रेल-उद्योग से सम्बन्धित लोग देश में रेलों का विकास कर चुकने के बाद विदेशों में रेलें चलाने और उनका विनाश करने की धार प्रवृत्त हुए। ब्रिटिश टिन कम्पनियों ने मलाया और नाइजीरिया में टिन की खानों में काम शुरू करने के लिए पूँजी निर्यात की, इसी प्रकार अमरीका के तेल और ताँबे के व्यापारियों ने विदेश में इन्हीं कामों में पूँजी लगाई। विवर्धित देशों से आने वाले माल पर लगी रोकों से प्रायः एसे पूँजी निर्यात को महायत्ना मिलती है जैसे कि अमरीकी विनिर्माता-गृहस्थाश्रमों को ब्रिटिश अमरीका में अपनी महायत्न गृहस्थाश्रमों के लिए पूँजी लगाने की प्रेरणा मिली। अथवा कम मजदूरी वाले देशों में नये नये विद्यासाधन उद्योगों के साथ होठ के कारण भी पूँजी के ऐसे निर्यात को महायत्ना मिलती है, जैसे कि ब्रिटेन को भारत में जूट और सूती कपड़े के कारखानों में पूँजी लगाने की प्रेरणा मिली।

पूँजी के इस प्रवर्धन में रक्षावट केवल एक कारण ही नहीं पड़ती कि विवर्धित देश में निवेश के नये अवसर सदैव उत्पन्न होते रहते हैं। बल्कि एक कारण भी पड़ती है कि कम विवर्धित देशों में निवेश-सम्बन्धी अनेक कमियाँ होती हैं। अतः यह नहीं मान लिया जाना चाहिए कि कम विवर्धित देशों में पूँजी-निवेश सिर्फ इसलिए लाभप्रद होता है क्योंकि वे कम विवर्धित होते हैं। मंच तो यह है कि इन देशों में पूँजी-निवेश के लिए कुछ अच्छी अनुविधाएँ होती हैं। एक बात तो यह है कि सामाजिक ढाँचा हमेशा इसके लिए उपयुक्त नहीं होता। जहाँ तक सम्भाव्य उत्पादन का सम्बन्ध है तो देशों का अनुवर्धित घटने काहे लगभग एक-जैसा ही हो, परन्तु उनकी सामाजिक विरासत विभिन्न भिन्न होती है। जहाँ एक ओर अतिशय धार्मिक लोगों की बनी, और मजदूरी-सम्बन्ध के साथ सम्बन्ध न होने के कारण उत्पादन कम रहती है वहाँ दूसरी ओर सरकार के एक ओर सामाजिक प्रवृत्तियों में भेद होने के कारण पूँजी निवेश की अतिवृत्तता घट जाती है। अतः यह जरूरी नहीं है कि विवर्धित देशों में मोटा लाभ दे सकने वाली ऐसी ऐसी कम विवर्धित देशों में निवेश के लिए विशेष आकर्षण मानिए। हमारे अन्तर्गत पूँजी की बनी का

दुर्भेद्य चक्र भी है। यदि कोई नया उद्यम आरम्भ किया जाए तो उसकी उत्पादकता केवल उसी पर निर्भर नहीं होती, बल्कि ऐसे अन्य सभी उद्योगों की कुशलता पर निर्भर होती है जिनकी सेवाओं की जरूरत उस नए उद्यम को पड़ने वाली हो—विशेष रूप से सामान्य इंजीनियरी सेवाएँ, पुरजे आदि की सप्लाई करने वाले उद्योग, परिवहन तथा अन्य लोकोपयोगी सेवाएँ। इन सेवाओं की कुशलता अर्थात् उस ध्यान पर निर्भर होती है कि इनमें कितनी अधिक पूंजी लगी हुई है। अतः किसी निवेश की उत्पादकता उससे पहले अनेक कामों में किये गए निवेशों की उत्पादकता पर निर्भर होती है। कम-से-कम एक निश्चित सीमा तक तो पूंजी-निवेश का प्रतिफल ह्यममान होने की बजाय वर्द्धमान ही होता है। अतः नये देशों में पूंजी-निवेश करने की बजाय ऐसे देशों में पूंजी-निवेश करना भी अधिक लाभदायक हो सकता है जिनमें पहले से ही खूब पूंजी हो। यदि सदैव ही ऐसा हो, तो कोई भी देश अपनी पूंजी किसी अन्य देश में नहीं लगाएगा, अधिक विकसित और कम विकसित देशों के रहन-सहन के स्तर का अन्तर लगातार और भी बढ़ता जाएगा, और शायद हम यह नियम बनाने का दुस्साहस भी कर सकें कि पूंजी में कम विकसित देशों से विकसित देशों की ओर जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। व्यावहारिक रूप में पूंजी का अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह बहुत थोड़ा होता है, और रहन-सहन के स्तरों का अन्तर भी बढ़ता ही है, अतः यह एक प्रकार की चेतावनी है कि केवल विकास के स्तरों पर आधारित सामान्य सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करना चाहिए।

अगर कोई स्वीकार्य सामान्य सिद्धान्त बनाना हो तो वह प्रति व्यक्ति पूंजी की मात्रा की बजाय उपलब्ध प्राकृतिक साधनों पर आधारित होना चाहिए। समृद्ध तथा सुलभ प्राकृतिक साधनों जैसे उर्वर भूमि, तेल, कोयला या कच्ची खनिज का लाभ उठाने के लिए किये गए निवेश सर्वाधिक उत्पादक होते हैं। नयी टेक्नीकों को प्रचलित करने में पूंजी-निवेश करना भी लाभप्रद है चाहे नये साधन न भी हों, परन्तु इससे उतना लाभ नहीं होता जितना लाभ नयी टेक्नीकों और नये साधनों दोनों को उपलब्ध कराने के लिए किये जाने वाले निवेश से होता है। यही मुख्य कारण है जिसकी वजह से गत सौ वर्षों में निर्मात की गई अधिकांश पूंजी उत्तर तथा दक्षिण-अमरीका और आस्ट्रेलेशिया चली गई, जहाँ नये साधनों की बहुलता थी, यह पूंजी भारत या चीन नहीं आई, जहाँ निवेश मुख्यतया पहले से ज्ञात साधनों का बेहतर इस्तेमाल करने के लिए ही किया जा सकता था। इसी कारण ब्रिटेन और पश्चिमी यूरोप तेजी से पूंजी-निर्यातकों बन गए (इनके प्राकृतिक साधन शीघ्र ही अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये थे), जबकि कनाडा, अमरीका और आस्ट्रेलिया इस बात के दावजूद कि वेप ममार की तुलना में इन देशों में प्रति-



व्यक्ति सम्पत्ति बहुत अधिक है, बहुत बाद में पूँजी-निर्माणकर्ता बन गए।

अतः निवृत्ततम सामान्य सिद्धान्त हम यह बना सकते हैं कि पूँजी में ऐसे स्थानों की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है जहाँ नये समृद्ध प्राकृतिक साधना का धामानी से लाभ उठाया जा सकता हो, और ऐसे स्थानों से दूर रहने की प्रवृत्ति होती है जहाँ के साधना में पहले से ही काफी मात्रा में पूँजी लगी हुई हो, और जहाँ नये साधन अनेकाकृत कम हों। यह बात हमसे भिन्न है कि कोई देश पूँजी निर्माण तक करता है जब उस कच्चा सामान या खाद्य मँगाने की जरूरत पड़ती है। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन ने अपने आयातों को ध्यान में रखे बिना उन स्थानों पर पूँजी-निवेश किया जहाँ उसे इन कमानों की धाना दिग्दर्श पड़ी। हम शताब्दी के आरम्भ में वह लेटिन अमरीका में पूँजी निवेश कर रहा था, शताब्दी के मध्य में यूरोप में देख बनना रहा था, और उसके बाद वह मिय में अपने कामों में लगाने के लिए धन दे रहा था। इसी प्रकार, अमरीका न देश के भीतर किसी वस्तु की कमी को दूरकर ही अपने विदेशी-निवेश निर्धारित नहीं किया। तबसे और तेल का आयात शुरू करने के बहुत पहले ही अमरीका विदेशों में इन साधना में पूँजी-निवेश कर चुका था, लेटिन अमरीका के विनिर्माण-उद्योग में भी अमरीका ने भविष्य में कुछ सामान प्राप्त करने की धाना में पूँजी-निवेश नहीं किया है।

प्रायः यह कहा जाता है कि यदि ब्रिटेन को बड़ी मात्रा में मूलतः आयातक वस्तुएँ परीक्षण की जरूरत न पड़ती तो यह ऋणदाता नहीं बन सकता था। परन्तु सत्य हम कथन की पुष्टि नहीं करने। पहली बात तो यह है कि ब्रिटेन को अपने विदेशगत निवेशों से जो कमाई होती थी और विदेशों को दिये गए कर्जों में जो जितना मूलधन वापस मिलता था उसे वह अपने आयातों का भुगतान करने की बजाय विदेशगत पूँजी की वृद्धि करने के काम में ही लगाना था, उसे जो प्राप्त होता था उसे वह फिर विदेशों में निवेश कर देता था। १८७३ में १९१३ के बीच के चौथे वर्षों में ब्रिटेन की औद्योगिक कमाइयों में अत्यधिक वृद्धि हो जाने के बावजूद १९१३ में उसका वास्तविक आयात राष्ट्रीय आय के उम्मीदनुसार (२० प्रतिशत) में बना रहा, जितना कि १८७३ में था। (गमय है कि श्री ए० आर० प्रेस्ट का १८७३ का राष्ट्रीय आय का प्राक्कलन, जिस पर यह गणना आधारित है, कुछ कम हो, परन्तु हम प्राक्कलन में उचित वृद्धि कर देने में भी यही निष्कर्ष निकलेगा कि विदेशी ऋणों पर मिलने वाला व्याज मुख्य रूप से राष्ट्रीय आय के साथ आयात का अनुपात बढ़ाने के लिए नहीं बल्कि विशेष रूप से राष्ट्रीय आय के साथ विदेशी निवेश का अनुपात बढ़ाने के लिए खर्च किया जाता था।) विदेशों में पुननिवेश की ऐसी नीति के परिणामस्वरूप विदेशी निवेश में तो तेजी से वृद्धि हो जाएगी परन्तु यदि राष्ट्रीय

आय की तुलना में देशी बचतों में वृद्धि न हो रही हो तो सम्भवतः इसमें देश के भीतरी निवेश पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। यदि लाभों, बचतों, घरेलू निवेश, और विदेशी निवेश को राष्ट्रीय आय के एक स्थिर अनुपात में बनाये रखना हो तो विदेशी निवेश के दीर्घकालीन प्रयत्न के पत्रम्बन्ध बालान्तर में राष्ट्रीय आय की तुलना में या तो दृश्य आयात बढ़ना चाहिए या दृश्य निर्यात में कमी होनी चाहिए।

इन सब उलझनों का कारण वह गति है जिससे देश को व्याज तथा ऋण-परिग्रहण से प्राप्त होने वाली राशियाँ देश के बाहर जाने वाली पूँजी के बराबर हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, यदि राष्ट्रीय आय स्थिर रहे, विदेशों को दिये जाने वाले ऋण उतनी ही मात्रा में रहे और बीस वर्ष बाद वे वापस मिलने हों, तो बीस वर्ष बाद लौटाई जाने वाली राशियाँ देश के बाहर गयी राशियों के बराबर होगी, और इसके अलावा पिछले २० वर्षों के निवेश पर व्याज भी आएगा, जिसे आयात की प्रवृत्ति बढ़ाकर या इसके बदले में दृश्य निर्यातों में कमी करने ही मर्यादा जा सकता है। यदि हम यह मानें कि राष्ट्रीय आय बढ़ रही हो, और विदेशों को दिये जाने वाले ऋण भी उसी अनुपात में बढ़ रहे हो तो, जैसा कि प्रोफेसर डोमर ने अभी हाल में बताया है (देखिए सदर्भ-टिप्पणी), बीस वर्ष बाद बाहर जाने वाली राशियाँ देश में आने वाली राशियों के ठीक बराबर रहेंगी, यदि ऋणों पर व्याज की दर और राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर समान हो। परन्तु, जैसी कि अधिक सम्भावना होती है, यदि व्याज की दर राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर में अधिक हो, तो देश में आने वाली राशियों का स्तर देश के बाहर जाने वाली राशियों के स्तर से बराबर ऊँचा बना रहेगा। यदि, जैसा कि ब्रिटेन के मामले में हुआ, राष्ट्रीय आय की तुलना में दृश्य आयात और निर्यात स्थिर रहे, और व्याज तथा ऋण-शोधन के रूप में मिलने वाली राशियों का पुनर्निवेश कर दिया जाए तो परिणाम और भी अधिक उलझनपूर्ण हो जाता है। ऐसे मामले में राष्ट्रीय आय के साथ विदेशी निवेश का अनुपात हमेशा बढ़ता ही रहता है, और यदि व्याज की दर और आय की वृद्धि की दर बराबर ही हो तो समान्तर श्रेणी में बढ़ता है, और यदि व्याज की दर आय की वृद्धि की दर से अधिक हो तो और भी तेजी से बढ़ता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि कोई देश प्रतिवर्ष अपनी राष्ट्रीय आय के २ प्रतिशत का निवेश विदेश में करता है, और उस पर मिलने वाले ५ प्रतिशत व्याज का पुनर्निवेश कर देता है, और राष्ट्रीय आय में ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होती है, तो चाहे ऋण असोध्य हो फिर भी वार्षिक निवेश पहले मान में राष्ट्रीय आय के २ प्रतिशत से बढ़कर तीसरे साल में राष्ट्रीय आय का ६ प्रतिशत हो

जाएगा, और हमसे भी अधिक तेजी से बढ़ता जाएगा। १८७० और १९१३ के बीच ब्रिटेन के विदेशी निवेश की स्थिति बहुत-कुछ हमसे मिलती-जुलती थी। यदि इससे बचना हो, और आयात की प्रवृत्ति को भी स्थिर रखना हो, तो राष्ट्रीय आय की तुलना में दुसरे निर्यात अवश्य कम किया जाना चाहिए। इस अवधि में अश्रीय और दीर्घकालीन उधार-चक्राव के कालों को छोड़कर ब्रिटेन का दुसरे निर्यात उगकी राष्ट्रीय आय के एक निश्चय अनुपात पर स्थिर रहा, परन्तु विनिर्मित सामान के निर्यात-निर्यात में उमका भाग तजी से कम होता गया, और यदि वह अपनी अदुसरे कमाई को विदेश में पुननिवेश करने के लिए तैयार न होता तो उगका भाग और भी तेजी से कम होता जाता।

ब्रिटेन के मामले में जो कुछ हुआ उगके बारे में भ्रान्त धारणाओं के कारण कुछ प्रेशकों में यह भय पैदा हो गया है कि अमरीका विश्व के ऋणदाता के रूप में ब्रिटेन का स्थान नहीं ले सकता, पर यह भय निराधार है। पहली बात तो यह है कि विदेशों से प्राप्त राशियों का पुननिवेश कर दिए जाने की स्थिति में बेसी आयात करना आवश्यक नहीं होता, दूसरी बात यह है कि ऐसी धाना करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता कि अमरीका का साथ और बच्चे मात का आयात उगकी राष्ट्रीय आय की अपेक्षा कम तेजी से बढ़ेगा (अधिकतम लोग यही धाना करने हैं कि आयात अधिक तेजी से बढ़ेगा), और तीसरी बात यह है कि इस समय सत्तार में विनिर्मित वस्तुओं के कुल निर्यात की तुलना में अमरीका का निर्यात इतना अधिक है कि अमरीका अपने तैयार मात के निर्यात की वृद्धि की दर कम करके काफी हद तक विश्व-संतुलन बनाए रखने में सफल हो सकता है। जब तक सत्तार में मूलतः आवश्यक वस्तुओं की मांग बढ़ती रहेगी, नये प्राकृतिक साधनों में निवेश करना लाभदायक बना रहेगा, और कोई कारण नहीं है कि निवेश करने वाले देश अनिवायंत सामान का आयात भी करें।

यदि नये प्राकृतिक साधनों का उपयोग प्रारम्भ करने के काम में लगाए जाने वाले निवेश सर्वाधिक लाभदायक हों, तो यह तर्क मुक्तिगणत मान्य होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी की तुलना में आजकल अन्तर्राष्ट्रीय निवेश की गुणात्मकता कम रह गई है क्योंकि पूँजी की कमी वाले ऐसे साधन-सम्पन्न देश अद्य नहीं हैं जैसे कभी अमरीका, कनाडा और आस्ट्रेलिया थे। यदि यह सच है तो अन्तर्राष्ट्रीय निवेश बहुत-कुछ सीमा तक इस बात पर निर्भर होता चाहिए कि अधिक विकसित देशों में जा उद्योग और प्रतिस्पर्धा लाभप्रद गिद्ध है। खुशी है लेकिन इस समय देश में अमरीका विचार प्रयोगात्मक धीमी गति में है। उनको नये देशों में प्रारम्भ करने के लिए नयी टेक्नीकों का अन्वेषण करना लाभप्रद गिद्ध होगा। (चूँकि इस प्रकार के निवेश के बढ़ने में साथ और बच्चे सामान का आयात अविवायन नहीं होता, अतः यह जरूरी नहीं है कि हमसे वे

नमस्याएं पैदा हों जिन्हें गतनी से मूलतः आवश्यक वस्तुओं से सम्बन्धित समझा जाता है।) यह तर्क अवश्य रखा जा सकता है कि अधिक विकसित और कम विकसित देशों के बीच अन्तर जितना ही बढ़ता जाता है, नयी टेक्नीकों को चालू करने से प्राप्त होने वाला लाभ भी उतना ही अधिक बढ़ता जाता है, अतः इस समय अधिक विकसित देशों (टेक्नीक की दृष्टि से) से अधिक पिछड़े देशों में कृषि-क्षेत्रों में पूंजी-अन्तरण की भारी गुंजाइश है। परन्तु टेक्नीक का अन्तरण केवल निवेश पर ही आश्रित नहीं है, यह सामान्य रूप से साम्प्रदायिक परिवर्तनों पर, और विशेष रूप से शिक्षा-सम्बन्धी और विज्ञान-सम्बन्धी सुविधाओं के बर्द्धन पर निर्भर होता है, जिसके लिए विभिन्न स्तरों पर प्रयत्न करने होते हैं। इस सम्बन्ध में अधिकांश काम सरकार को करना पड़ता है, उदाहरण के लिए, कृषि-क्षेत्र में विस्तार-मेवाएँ आरम्भ करना, सिंचाई-सुविधाएँ बढ़ाना, प्रचुर नक़्सा में ग्राम उद्योग-समितियों की व्यवस्था करना, और इसी प्रकार के अन्य काम। नये प्राकृतिक साधनों का उपयोग आरम्भ करने की अपेक्षा नयी टेक्नीकों लागू करने के काम में प्रत्यक्ष निजी विदेशी निवेश की गुंजाइश सम्भवतः बहुत अधिक सीमित होती है। विदेशी पूंजी को चाहे कितनी ही जरूरत हो, और उत्पादन पर इसका चाहे कितना ही प्रभाव क्यों न पड़े, परन्तु पुराने साधन लाभप्रद नहीं रह जाते। थोड़ी ही देर में हम पुनः उन बातों को लेंगे।

पहली बात तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय निवेश के वर्तमान प्रतिरोध का प्रत्यक्ष कारण कम-से-कम उनमें से कोई भी बात नहीं है जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। यह तो १९३०-१९३६ की बड़ी मन्दी और उसके बाद की घटनाओं के कारण पैदा हुआ है।

अन्तर्राष्ट्रीय निवेश का पूर्ण पुनरुत्थान पहले विश्वयुद्ध के बाद हुआ। उस युद्ध के तुरन्त पूर्व यह लगभग १६,००० लाख डालर था, और उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में यह लगभग २०,००० लाख डालर हो गया, यदि कीमतों में हुए परिवर्तन को ध्यान में रखा जाए तो वास्तविक रूप में दोनों का मूल्य लगभग बराबर ही था। हाँ, निवेश के प्रवाह के स्रोतों तथा दिशा में उल्लेखनीय परिवर्तन अवश्य हो गए थे। अमरीका निवल उधारकर्ता नहीं रह गया था, और उधार दी जानेवाली राशियों में से आधी वह देने लगा था, ब्रिटेन का असादान पहले से ही काफ़ी कम हो चुका था। और जर्मनी, जो प्रथम विश्वयुद्ध के पहले बड़ी मात्रा में उधार दे रहा था, अब उधार दी जाने वाली कुल राशि में से लगभग आधी स्वयं उधार ले रहा था। इसके साथ ही मूलतः आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले समुद्र-पार के देशों की स्थिति स्वभाव ही गई थी, साम्प्रदायिक मूल्य को देखते हुए

१९२०-१९२६ के बीच उन्हें प्रथम विश्वयुद्ध के पहले मिलने वाले उधार का लगभग आधा ही मिल रहा था। निवेश के प्रवाह की दिशा में हुए इस परिवर्तन को कुछ लोगों ने बहुत महत्त्व दिया है और इस सम्बन्ध में उनका तर्क यह है कि जर्मनी के पुनर्निर्माण में होने वाला निवेश मूलतः आवश्यक वस्तुओं तैयार करने वाले समुद्र-पार के देशों में होने वाले निवेश की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक समुद्रशून्य था, क्योंकि समुद्र-पार के देश एसी मूलतः घनिवाये वस्तुओं में भूगतान कर सक्ते थे जो मूलतः स्वीकार्य थी जबकि जर्मनी केवल प्रस्वीकार्य विनिर्मित वस्तुओं के जर्गल भूगतान कर सकता था। परन्तु इस तर्क की मान्यता के सम्बन्ध में हम पहले ही मन्देह प्रकट कर चुके हैं, और मंच तो यह है कि १९२०-१९२६ के बीच जब बड़ी आर्थिक मन्दी आयी तो मूलतः आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले देशों को भी अपनी ही क्षतिपूर्ति जितनी जर्मनी को, और अपनी देनदारियों को भूगतान में उन्हें भी अपनी ही कठिनाई हुई जितनी जर्मनी को।

इस मन्दी के परिणामस्वरूप घमरीबा का मुख्य ऋणदाता बने जाना एक बड़े महत्त्व की बात है, क्योंकि उस देश में विदेशी उधार-सम्बन्धी परम्पराओं तथा गस्यानों का अभाव था। यद्यत् है कि गस्यानों के अभाव में उधार देने की मागत भी बड़ी, और साथ ही ऋण देने समय पर्याप्त विवेक में भी काम नहीं लिया गया, जिसके कारण घमरीबी ऋण संकट का उतना गामना नहीं कर सके जितना विदेश के ऋण कर सके। विदेशी उधार की परम्पराएँ न होने में भी उधारदाता अधिक धबग गए। अनुभवों उधारदाता जानना है कि मन्दी के बाद तेजी घाली है, घन मन्दी घाने पर बहू हुआम नहीं होता। बहुत में घमरीबी उधारकर्ता १९२०-२६ के बीच घनि घागाजोदी प्रचार के कारण धोभे में घा गए, और इमी तरह १९२०-२६ के बीच घण्यधिक निरास हो गए। परम्पराओं या सम्थानों का अभाव वास्तविक कारण रहा हो म न रहा हो, परन्तु यह म्च है कि जब बड़ी मन्दी आई, और बहुत में उधारकर्ता अपनी देनदारियाँ नहीं भूगता पाए तो घमरीबी उधारकर्ताओं में विदेशी उधार की सम्पूर्ण सम्थाना के विरुद्ध उग्र प्रतिनिया हुई। मुद्रकालीन ऋणों की अदा-यगी न हो पाने पर तो और भी अधिक अज्ञान प्रकट किया गया। १९२६ के केंडरल एक्ट द्वारा घमरीबा में ऐसी बिगी सरकार के बाँड बेचना अग्रगण्य घोषित कर दिया गया जो घमरीबी सरकार के प्रति अपने दायित्वों को पूरा नहीं कर सती थी। यह एकट फिनर्नड की सरकार को छोडकर ममार की लगभग सभी महत्त्वपूर्ण सरकारों पर लागू हुआ। साथ ही, कई राष्ट्रों की विधानमन्धों ने एकट धान करने मास्थानिक उधारकर्ताओं की विदेशी सरकार के बाँड रम्भे में रोना। कूँकि सरकारें ही सबसे ज्यादा उधार लेती हैं,

अतः इससे अन्तर्राष्ट्रीय निवेश को बड़ी भारी ठेप पड़ूँगी, यहाँ तक कि १९१४ न भी अमरीका में किसी विदेशी सरकार के ऋण-पत्र सफलतापूर्वक बेच पाना सम्भव नहीं था। दूसरे विश्व-युद्ध के अन्त में जब राष्ट्रसभ का पुनर्निर्माण तथा विश्वास-बैठ खोना गया तो उसके प्रेसीडेन्ट को लगभग दो सत्र तक राज-विधानसभाओं में जा-जाकर उनसे ऐसे एक पान्त करने के लिए माह्रह करना पड़ा जिनके अनुसार साम्यानित्र निवेशकनामों को इस बैंक द्वारा जारी होने गए बाण्ड रखने की छूट मिल सके।

युद्धकालीन ऋण की अदायगी न करना एक राजनीतिक निम्नत्व था जो ऋणी देशों द्वारा १९३२ में लॉसिन में किये गए एक करार का परिणाम था। इस करार का आशय यह था कि ऋणी देश उन ऋणों का भुगतान छोड़ने के लिए तैयार थे जो उन्हें दिये थे, बगल कि इसके बदले में अमरीका उन ऋणों का भुगतान छोड़ने के लिए तैयार हो जो उसे इन देशों से बसूल करने थे। अमरीका तो अपना दावा छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुआ, पर अन्य देशों ने (फ्रिलैंड को छोड़कर) युद्धकालीन ऋणों को रद्द मानने का निर्णय कर लिया। वैसे, अन्य ऋणों की अदायगी न होने का कारण काफ़ी हद तक ऐसी परिस्थितियाँ थी जो ऋणी देशों के वन में नहीं थी। बड़ी मन्दी के प्रभाव बहुत भीषण थे। विश्व-व्यापार का डालर-मूल्य तीन वर्षों में ६० प्रतिशत घट गया। विनिर्मित वस्तुओं का विश्व-उत्पादन ३० प्रतिशत कम हो गया, और यद्यपि मूलतः आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन का घटने से रोकने में काफ़ी सफलता मिली, परन्तु आयात-निर्यात-स्थिति में अचानक प्रतिकूल परिवर्तन आ जाने के कारण मूलतः आवश्यक वस्तुएँ पैदा करने वाले देशों की आनन्द-नियों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। इस स्थिति में अमरीका को छोड़कर सभार के अधिकांश देश भुगतान-क्षम के गम्भीर संकट में पँस गए। विदेशी मुद्रा पर कठोर नियन्त्रण लगा दिया गया, और खाद्य तथा कच्चे माल के आयात-रूप आयातों को बनाए रखने के लिए कई मानकों में यह बिलकुल सच था कि ऋण का भार उतारने के लिए विदेशी मुद्रा कतई उपलब्ध नहीं थी। सचमुच ही ये देश ऐसे संकट में पँस गए थे कि न तो निजी खाते में धीरे न सरकार के खाते में कोई धन उभार ले सकते थे। १९३०-१९३६ के बीच अन्तर्राष्ट्रीय निवेश घटकर बिलकुल नहीं के बराबर रह गया। इन दस वर्षों में लेनदारों को भी कई अदायगियाँ नये उभार से धीमे-धीमे घटिनी थीं।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से विश्व के उत्पादन और व्यापार का पुनरुत्थान अन्तर्दुर्लभ-अवधि की अपेक्षा अधिक हुआ है, लेकिन अमरीकी सरकार के अनुदानों और एक साम्यवादी देश से दूसरे साम्यवादी देश को दी गई राशियाँ निरालवर अन्तर्राष्ट्रीय निवेश का औसत केवल २०,००० लाख डॉलर प्रति-

वर्ष के लगभग ही रहता था है। १९२० से १९२६ तक या प्रथम विश्व-युद्ध से तुरन्त पहले वाले वर्ष के औसत की तुलना में निश्चय ही यह बहुत कम है। यदि कीमतों में हुई वृद्धि को ध्यान में रखा जाए तो १९२० से १९२६ के निवेश का मूल्य इस समय लगभग ३०,००० लाख डालर के बराबर होगा, और यदि यह मान लिया जाए कि विश्व-उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ निवेश में भी वृद्धि होती है तो ये आंकड़े ४५,००० लाख डालर के लगभग बैठेंगे। यदि हम यह जानना चाहें कि इस समय निवेश का स्तर इतना कम क्यों है तो हमें यही पता लगेगा कि माँग और पूर्ति दोनों में कमी है।

पूर्ति की कमीयों ये रही हैं—(क) पश्चिमी यूरोप की अर्थशास्त्र गिरावट, (ख) प्रयाग्य बचतों में कमी और (ग) गारटी की माँग और माँग की कमी यह है कि निजी निवेश के लिए क्षेत्र कम हो गए हैं।

पश्चिमी यूरोप की गिरावट का अर्थ उत्पादन की गिरावट नहीं है बल्कि विदेशी निवेश के लिए उपलब्ध बर्तों भुगतान-क्षमता का कम हो जाना है। इसका कारण आयात-निर्गत-स्थिति का प्रतिकूल होना नहीं है क्योंकि इस समय भी यूरोप की आयात-निर्गत स्थिति १९१३ की स्थिति में बहुत भिन्न नहीं है, और न ही इस बात का कोई प्रमाण है कि पश्चिमी यूरोप इस समय १९१३ की अपेक्षा कम बचत कर रहा है। इसके बजाय इस बात का प्रमाण है कि वह स्थानोप रूप से अपनी बचत के अर्थशास्त्र बड़े भाग का निवेश कर रहा है। पश्चिमी जर्मनी अपने पुनर्निर्माण के बृहद् कार्यक्रम में लगा हुआ है। फ्रांस ने लगभग २५ वर्षों की औद्योगिक गतिरोध-जैसी स्थिति के बाद प्रायः शोती है और वह इतनी अधिक मात्रा में परेन्स निवेश कर रहा है जितना कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पुनर्निर्माण के आरम्भ दिनों से लेकर अब तक कभी नहीं किया था और ब्रिटेन अपनी राष्ट्रीय आय के उम अनुपात में देश के भीतर निवेश कर रहा है, जिस अनुपात में वह घनिष्ठ बार १८७०-७६ के बीच कर सका था। ये देश विदेशी निवेश के लिए पूर्णतः मान नहीं दे सकते, क्योंकि ये देश के भीतर इतना उपयोग कर रहे हैं। ब्रिटेन यदि विदेशी सरकारों को उधार लेना या अपने षोड-साधनों में से स्वयं करने की अनुमति दे भी देता है तो भी इनमें भुगतान क्षमता में अनुपूरण गति लाने में सफलता नहीं मिलती, क्योंकि अर्थात् पूर्णतः मान का निर्गत नहीं हो पाता। अतः वास्तविक वास्तविक कुछ भी है, परन्तु पश्चिमी यूरोप जब तक अपने साधनों का परेन्स उपयोग कम नहीं कर देता तब तक यह आशा करना बेकार है कि वह एक बार फिर वडा पूँजी निर्गतकर्ता बन जाएगा। ऐसा कम होगा यह पटने में नहीं बताया जा सकता। इस समय मरानों में, ब्रिटेन में, मनी की मनीयों में, कोसता मनीयों और हर एक क्षेत्र में पूरे शोक-शोक में

निवेश हो रहा है। एक समय ऐसा आ सकता है जब उन क्षेत्रों में से विदेशों में जैसे मकान-निर्माण या कृषि में, निवेश अपेक्षित स्तर तक पहुँच जाए। यदि अन्य धरेलू भागों में वृद्धि हुए बिना धरेलू निवेश कम हो जाए तो विदेशी निवेश सम्भव हो सकेगा। मापनों के सरकारी उपयोग में भी कमी हो सकती है जोकि इस समय, विदेशी रूप से पुनर्गठनीकरण पर बहुत बट गया है; आजकल (१९५३) ब्रिटेन सैनिक प्रयोगों के लिए अपने कुल राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग १३ प्रतिशत खर्च करता है जबकि १९३० में लगभग यह खर्च ६ प्रतिशत था। मापनों के सरकारी उपयोग में ज्ञान वाली कमी का कुछ भाग प्रत्यक्ष उपयोग में चला जाएगा, पर यह लगभग निश्चित है कि रसायन में कमी होने के पनस्वरूप करों में कुछ ऐसी छूटें भी दी जाएंगी जिनसे उपयोग बढ़ाने की दृष्टि से बचतें बढेंगी।

यदि यह मान लिया जाए कि पश्चिमी यूरोप स्वयं अपनी बचतों का प्रयोग कर रहा है, तो यह निश्चित कर पाना बहुत कठिन है कि इनके लिए वैयक्तिक प्रयोग्य बचतों में तुलनात्मक कमी की कितना महत्व दिया जाए। यदि यूरोप के बाजारों में विदेशी बाँटो की बिक्री का प्रस्ताव किया गया होता तो उन्हें कौन खरीदता? उदाहरण के लिए, युद्ध से पहले ब्रिटेन में आपूर्ति निकायकर निवल लानामा कम्पनियों की निवल आय (धरों से पहले) का ५५ प्रतिशत था, सरकार ३२ प्रतिशत ले रही थी और कम्पनियाँ अद्वितीय नानों के रूप में १३ प्रतिशत अपने पास रख रही थीं, जबकि १९५२ में लानामा घटकर १८ प्रतिशत रह गए (राष्ट्रीय आय के ४ प्रतिशत के बग-बर), जिनमें से अधिकार भी देना होता था। ऐसी स्थिति में बड़ी मात्रा में विदेशी निवेश तभी सम्भव हो सकता है यदि कम्पनियाँ या सरकारें धन लगाने के लिए इच्छुक हों। कम्पनियाँ विदेशों में नियन्त्रित या सम्बद्ध उपकरणों में प्रत्यक्ष निवेश कर सकती हैं और करती भी हैं। परन्तु विदेशी निवेश की मददमे बड़ी मद विदेशी सरकारों के बाण्डों की खरीद होती है और कम्पनियों द्वारा इनमें पैसा लगाए जाने की सम्भावना बहुत ही कम है। अतः विदेशी सरकारों के लिए वित्त-व्यवस्था अब लगभग पूरी तरह से सरकारों के आपसी अन्तरण पर ही निर्भर है। अमरीका में भी पश्चिमी यूरोप-जैसी ही प्रवृत्ति है—निजी प्रयोग्य बचतें कम हो गई हैं और साथ ही कम्पनियों व सरकार की बचतें बढ़ गई हैं। अमरीका में यह प्रवृत्ति उतनी तीव्र नहीं है जितनी यूरोप में है, फिर भी, ऊपर बताया गए कारणों से अमरीका के विदेशी निवेशकर्ता या तो विदेशी सरकार के बाण्ड खरीदना ही नहीं चाहते या खरीदने में असमर्थ हैं, इसलिए नवविषय में विदेशी निवेश मुख्य रूप से कम्पनियों द्वारा प्रत्यक्ष निवेश के रूप में और सरकारों के आपसी अन्तर्गण के रूप में ही होगा।



विदेशी सरकारों की मनमानी कार्रवाई के भय के कारण भी प्रत्यक्ष निवेश में रुकावट पड़ती है, विंगेय रूप में लाभों के अन्तर्ग्रहण के लिए, या पूँजी अपने देश में वापस ले जाने के लिए विदेशी मुद्रा दिये जाने की मनाही और राष्ट्रीयकरण का भय होता है। १९३०-३९ के बीच बहुत से मामलों में विदेशी मुद्रा देने में इन्कार किया गया, जिसका भीषण-सा कारण यह बताया गया कि विदेशी मुद्रा उपलब्ध नहीं है। अतः आजकल पूँजी-प्राधान्यकर्ता देशों में यह घोषणा करने की भाँग की जाती है कि वे लाभों या पूँजी के अन्तर्ग्रहण पर रोक नहीं लगाएँगे—कोई देश ऐसी घोषणा कर भी चुके हैं। ऐसी घोषणा सम्भावना का महत्वपूर्ण प्रमाण है, लेकिन विदेशी मुद्रा का सम्भार सबट घाने पर अधिक-से-अधिक सम्भावना को भी विदेशी मुद्रा की कमी के सामने झुकना पड़ता है। अतः पूँजी-निर्यातकर्ता देशों की सरकारों को सुझाव दिया गया है कि सम्भार मन्दी की अवधि में उन्हें इस प्रयोजन के लिए अस्थायी ऋण के रूप में विदेशी मुद्रा देने का तैयार रहना चाहिए। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि व देश में कोई विदेशी फर्म ग देश को लाभों या पूँजी का अन्तर्ग्रहण करने की अनुमति किन्हीं ऐसे समय पर माँगती है जब विदेशी मुद्रा उपलब्ध न हो, तो ग देश व देश के सेंट्रल बैंक को इस प्रयोजन के लिए अस्थायी राशि इस शर्त पर उधार दे सकता है कि वह राशि तीन वर्ष में वापस कर दी जाए (जब तक कि सबट समाप्त हो जाने की धारा है)। ऐसी योजना को वाणिज्य में पसन्द किया गया है और कुछ प्रकार के निवेशों के लिए इसे लागू किया जा रहा है।

राष्ट्रीयकरण अनेकानेक अवधि कठिन समस्या है। विदेशी फर्मों इस बात का आश्वासन चाहती हैं कि उनका राष्ट्रीयकरण नहीं किया जाएगा और कुछ सरकारें आश्वासन दे रही हैं कि एक निश्चित अवधि के बीतने तक, जैसे किन्हीं उद्यम के आरम्भ के २५ वर्षों तक, उनका राष्ट्रीयकरण नहीं किया जाएगा। ऐसे आश्वासन बिलने उपयोगी हैं इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कोई भी सरकार यह नहीं कह सकती कि उसके बाद घान वाली सरकारें पिछले वायदों को निभानी रहेंगी। इससे अधिक धरुटा आश्वासन यह है कि यदि फर्मों का राष्ट्रीयकरण किया जाएगा तो उनके मानिकों को स्वतन्त्र मध्यस्थों द्वारा निर्धारित उचित मुषावडा दे दिया जाएगा। इस प्रकार के आश्वासन की व्यवस्था देना के सविधान में की जा सकती है और तब यह बदलती हुई सरकारों की स्वच्छन्दता पर इनका निर्भर नहीं रहता। प्रायः कहा जाता है कि अब समय घा गया है जब विदेशी निवेशकर्ताओं के विश्वास की जाने वाली मनमानी कार्रवाइयाँ, जैसे अदम्यतर करगान बिना मुषावडा के राष्ट्रीयकरण, लाभों के अन्तर्ग्रहण पर रोक और इसी प्रकार की

अन्य कारंवाइयो को गैर-वानूनी घोषित करने के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय संहिता या अभिनमय होना चाहिए। ऐसे अभिनमय ने अन्तर्राष्ट्रीय निवेश का वातावरण सुधारने में सहायता मिलेगी, और इस प्रकार निवेश को प्रोत्साहन मिलेगा। परन्तु चूंकि वानून नहीं प्रभावी होते हैं जब उन्हें लागू किया जा सके अतः अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा के बजाय, जिसके पीछे केवल नैतिक शक्ति होती है अधिक उपयोगी यह है कि पूंजी आदान-दान देशों के अपने-अपने वानून हो जिन्हें वहाँ की सरकारों के विरुद्ध वहाँ के न्यायालयों द्वारा लागू करवाया जा सके।

जो प्रत्यक्ष निवेश किया जा रहा है उनके संरक्षण के अनिश्चित एक बड़ा प्रश्न यह भी है कि किस प्रकार निवेशों के लिए अनुमति दी जाएगी। यदि ऊपर बताया गए कारणों में विदेशी पूंजी की सप्लाई कम हो गई है, तो उसकी मांग भी कम हो जाएगी, क्योंकि जितने देशों में पहले विदेशी पूंजी का महत्व सबसे अधिक था उनमें अब प्रत्यक्ष पूंजी निवेश की अनुमति नहीं दी जाएगी। १९१२ में ब्रिटेन का समुद्र-पार निवेश इस प्रकार वितरित था—रेलवे तथा अन्य लोकोपयोगी सेवाओं में ८६ प्रतिशत, सरकार के स्टॉकों में ३० प्रतिशत, शानों में २ प्रतिशत, अन्य मध्ये में १५ प्रतिशत। आजकल बहुत ही सव्कारों के रेलवे तथा अन्य लोकोपयोगी सेवाओं का राष्ट्रीयकरण कर दिया है या करने की इच्छा है और बहुत ही अन्य सव्कारों को विदेशियों द्वारा शानों तथा बागानों के संचालन पर आपसि है। परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष निवेश विदेशों निवेश की बहुत थोड़ी गुञ्जाइश रह गई है। वाणिज्य में विदेशी पूंजी की अनुमति है, पर इसके लिए प्रायः देश के भीतर ही पर्याप्त पूंजी मिल जाती है और यदि उत्पादन के विपणन हेतु सांविधिक एजेंसियाँ स्थापित करने की प्रवृत्ति ने वाणिज्य में निवेश विदेशों निवेश की गुञ्जाइश को और भी सीमित कर दिया है। सामान्यतया विनिर्माण-उद्योग में विदेशी पूंजी का अच्छा स्वागत किया जाता है, परन्तु अधिकतर अधिकसिद्ध देशों में विनिर्मित वस्तुओं की मांग बहुत कम है, अतः लेटिन अमेरिका ही विश्व में ऐसा स्थान है जो विनिर्माण-उद्योग में अधिक विदेशी पूंजी आकर्षित कर रहा है। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के लिए बचे हुए सीमित क्षेत्रों को देखते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ज्ञान के वर्षों में अमेरिकी विदेशी निवेश कर ७० प्रतिशत मात्र सेल में लगाया गया है।

आर्थिक विभाग में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के महत्व के बारे में उन्ने मानस्य करने वाली और इनका समर्थन करने वाली, दोनों प्रकार के लोगों को सामान्य-तया बड़ी गतनसहमा है। विदेशी निवेश के समर्थन में कहा जाता है कि यह विदेशी मुद्रा को व्यवस्था करता है अतः प्रायः बढ़ाता है और देश के

भीतर कीजलु में वृद्धि करता है। धरेलु बचत इगलिए बकती है कि विदेशी उपजम स्थानीय लोगो को मजदूरी और वेतन देने है, स्थानीय वस्तुओं गरीबने है, और स्थानीय बर घटा रक्त है, इन घटापणियोमे उपभोग ही नहीं बकता ज़िगरों कउस्वरूप स्थानीय उत्पादन को शर्याहन मिलता है यिन इगवे कारण अधिब मात्रा म स्थानीय बचत करना भी सम्भव हो जाता है और खुना, चिकित्सा-मेवाधो तथा अन्य स्वाधो गुधारा पर लर्ब बन के लिए धन भी मिल जाता है। यदि स्थानीय पूँजी और विदेशी पूँजी दानो मे मे ज़िगी एन को पमन्द करना हा तो स्थानीय पूँजी को पमन्द करना लाभप्रद हा मन्ता है। परन्तु यदि जेगा कि प्राय होता है विदेशी पूँजी या गाधता की अधिकाधिक स्थिति के बीन ज़िगी एन को खुना हो तो इसमे कोई मन्दत नहीं है कि अधिकाधिक उपभोग, शिक्षा तथा सामाजिक निवेश मे लगाने के लिए धाय बकान म विदेशी पूँजी अत्यधिक उपयोगी भूमिवा घटा बरती है। भविष्य को सम्भावनाधो को दर्शन हुए विदेशो मे मिलने वाले पूँजी के घनदान की अपेक्षा कुशल व्यवस्था के रूप मे गहायता मिलना वही अधिब महत्वपूर्ण है। अधिकाधिक कम विकसित देशो मे विदेशी लोग ही नयो टेक्नीके लाते है, और जनता मे इन नयो टेक्नीको के फैलन के माध हो विकास होता है। इसी कारण भूतकाल के अनेक देशा मे अपनी समता मे बाहर जाकर भी विदेशिया को देश मे घाने और उद्योग स्थापित करने के लिए आमन्त्रित किया। यदि विदेशी अपन निरत्य के रहस्यो को अपन तब ही सीमित रने तो देश को अधिकात्म लाभ नहीं मिलता। घन विदेशियो को घाने की अनुमति इग घन पर दी जानी चाहिए कि उन्हें स्थानीय व्यक्तियों को अवसर प्रनिशित करना पडगा। इन दिना विदेशियो के पास सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निरत्य घटे-घटे उद्यमो का प्रबन्ध करने की टेक्नीक है। अन्य बहुत मे निरत्य तकनीकी कौशलों या विदवविद्यालयो मे सीधे जा सकते है, परन्तु व्यवसाय प्रबन्ध का ज्ञान स्थाप-हारिक रूप मे व्यवसाय के प्रबन्ध द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। घन यदि विदेशी लोग देशी लोगों को प्रबन्ध-मार्गधी परो पर, जिन पर रहकर मे अनुभव प्राप्त कर सकते है, रग्ने मे इन्कार कर दें तो वे देश की अर्थ-व्यवस्था पर हावी होकर अपना अधिपत्य जमाए रन सकते हैं। यही कारण है कि आजकल बहुत मे देश बानून द्वारा विदेशी व्यवसाय के लिए अनिवार्य बना देते हैं कि उन्हें एक निश्चित प्रतिता देशी लोगों को पर्यवेक्षण परो पर रगना पडेगा। ब्रिटन, रूस और जापान-महाि तैमा कोई देश नहीं है जहाँ विदेशी व्यवसाय मे धाय म अधिरिक्त वृद्धि करने और नयी टेक्नीके निरालर विकास के आरम्भिक चरणो मे महत्त्वपूर्ण योग न दिया हो।

कम विरहित देशो को गलीति और स्थािर देशो कारणो मे विदेशी

निवेग से भय होता है। राजनीतिक दृष्टि से इस बात का अर्थव्यक्ति नम रहना है कि इससे देश की स्वतन्त्रता छिन सकती है। यदि देनदार देशों के सम्मान और आदरों लेनदार देशों के सम्मान और आदरों से निम्न होते हैं तो लेनदार देशों में सचमुच साम्राज्यवादी कार्यवाहियाँ करने की आकांक्षा पैदा हो जाती है। ब्रनाडा को धन उधार देने वाले लेनदार यह जानते हैं कि ब्रनाडा के न्यायालयों में उन्हें उतना ही सुरक्षा मिलेगा जितना उन्हें अपने देश में मिलता, पर बहुत स देशों के बारे में ऐसा भ्रमान्ता नहीं किया जा सकता। लेनदार को न्यायालयों के भेद-भाव का या प्रशासनिक भेद-भाव का भय रहता है अतः अपने निवेग के सुरक्षण के एक माध्यम के रूप में ही उनमें साम्राज्यवादी प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। सुरक्षा की इच्छा के अभाव में वेगार लेने या करसे मुक्ति पाने, या लाभप्रद शर्तों पर देना पाने, या उपयुक्त म्पानों पर परिवहन-मुविधाओं की व्यवस्था कराने-जैसी विशेष सुविधाएँ प्राप्त करने की भी लालसा रहती है और इस लालसा के बगीभूत होकर भी कोई शक्तिशाली देश अपने निर्वल पटोमी देशों की स्वतन्त्रता छीन सकता है। स्वतन्त्रता का अपहरण आगिक भी हो सकता है और पूर्ण भी, यदि पूंजीपति राजनीतिको को रिश्वत देने, या किसी राजनीतिक दल के विरुद्ध किसी अन्य राजनीतिक दल का समर्थन करनेवाला ही सीमित रहें तो यह स्वतन्त्रता का आगिक अपहरण होता है, और यदि देनदार देश को औपनिवेशिक बना लिया जाए तो यह स्वतन्त्रता का पूर्ण अपहरण होता है। इस प्रकार के अनेक भय हैं, परन्तु इनकी महार्थता कुछ हद तक स्वयं उधारकर्ता देश पर निर्भर होती है—जैसे उस देश के सम्मान विदेशों को समुचित सुरक्षा देते हैं या नहीं, और उसका राजनीतिक जीवन इतना नैष्टिक है या नहीं कि विदेशी रिश्वत के लालच में न आए। उन्नीसवीं शताब्दी में इस भय के पीछे जितना तार था उतना बीसवीं शताब्दी में नहीं है, क्योंकि अब सुन्तमन्तुला साम्राज्यवादी व्यवहार करने की प्रवृत्ति कम हो गई है। इसके बावजूद ये भय बने हुए हैं, और यह भी एक सबल कारण है जिसकी वजह से कम विकसित देश इस बात के इच्छुक हैं कि पूंजी-अन्तरण के लिए राष्ट्र-संघ की उचित संस्थापन बनाने चाहिए ताकि पूंजी लेने के लिए उन्हें बड़ी-बड़ी शक्तियों में से किसी एक बड़ी शक्ति का आश्रित न बनना पड़े।

इन राजनीतिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त कुछ लोग इन भय के कारण भी विदेशी निवेग नापसन्द करते हैं कि इससे लाभ अर्थव्यक्ति बढ जाते हैं। विदेशी निवेग की लाभप्रदता को बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ाकर बताने की आम प्रवृत्ति पाई जाती है। परन्तु प्रमाणों से पता लगता है कि विदेशी निवेग धरेलु निवेग की अपेक्षा कोई बहुत अधिक लाभ नहीं देता, विशेषतया यदि हरण के जरिये

निवेश का होने वाली ज़ानि का भी ध्यान में रखा जाए। उदाहरण के लिए, १९१३ में ब्रिटेन के निवेश का लगभग ८० प्रतिशत रेलों में लगा हुआ था, परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मशीन-सम्बन्धन का तर्जो में विकास होने के कारण या कीमती पर नियंत्रण के कारण या महायुद्ध-पूर्व की कीमतों पर राष्ट्रीयकरण के कारण इन निवेश का अधिकांश अतामप्रद हो गया। इसी प्रकार दानों महायुद्ध के बीच की अवधि में मूल्य आवश्यक वस्तुओं (खर, टिन, चाय, गन्ना आदि) में किए गए प्रवेश निवेशों में बड़ा पाटा हुआ। केवल एक ही कुछ मामलों में विदेशी निवेश अल्पकालीन लाभप्रद रह है जिसमें चाय अज्ञानतायुक्त या राजनीतिक आलस में मूल्यमानवनिष्ठ वाली जमीनें बहुत ही कम शक्यता पर उठा दी गई हैं। एकाधिकार पैदा करने वाले और न करने वाले विदेशी निवेशों के बीच भेद करना भी बहुत महत्वपूर्ण है। यदि विदेशियों का निवेश शोषण, या गरीबों के उपजाऊ भूमि पर एकाधिकार दे दिया जाए तो स्थानीय लोग उन्हें अक्षय्य नहीं कर सकते, चाहे वे कितने ही महान बंधन हो जाएं। परन्तु बाणिज्य या विनिर्माण-उद्योग में विदेशियों का अना अनुशासन बटल कम उत्तरदायक है, क्योंकि इनमें प्राकृतिक एकाधिकार का कोई स्वर नहीं है, और स्थानीय लोग धीरे धीरे तत्कालीन महामत्ता उपसर्ग करने ही उन्हें अक्षय्य कर सकते हैं।

यदि कोई देश स्वयं ही पूँजी और तकनीकी ज्ञान जुटा कर तो विदेशी सहायता के बिना भी उसका विकास-राज्य लागू कर सकता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई देश पूँजी तो इकट्ठी कर लेता है पर तकनीकी ज्ञान नहीं जुटा पाता, एसी स्थिति में सबसे अच्छा उपाय महवाप ही हो सकता है। बहुत से कम विकसित देशों की सरकारें नए उद्योग शुरू करने के लिए विदेशी निवेशकों के साथ साझेदारी कर रही हैं जिसमें निजी रूप में उद्योग के लिए प्रसंग पर जुटाया है और सहायक पूँजी (कुल पूँजी का ६० प्रतिशत तक) देती है। ऐसी साझेदारी को दोषों पक्ष परन्द करके है, सरकार इसे दमनित परन्द करती है कि अलग बड़े अधिकांश पूँजी अथवा नाम में लगाए तो उद्योग की नीति पर कुछ नियंत्रण रख सकती है या अधिकांश लाभ देना के भीतर रख सकती है, और विदेशी रूप में इन दमनित परन्द करती है कि सरकार के साथ साझेदारी करके बड़े मुक्त परन्द करती है और भेद-भाव का दखल में देती रहती है। सरकारें इन के और विदेशी पूँजीनिवेश के बीच साझेदारी को भी परन्द करती हैं, क्योंकि एक तो हमारे लाभ इन के अक्षय्य ही रहते हैं और दूसरे इन के पूँजीनिवेशों का अधिकाधिक लाभ व अनुभव प्राप्त हुआ है। सम्भव है कि मुझसे इसी प्रकार की साझेदारी के आधार पर प्रत्येक विदेशी निवेश का विशाल हो—एक तो ये ऐसे मामलों में जिसमें किसी एक

प्रायोजना में बगलों पौट खर्च होने काया हो ।

दूसरी बात प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के समर्थन में चाहे जितने ही टोस वर्य हो परन्तु टोस न दान में मात्र पना चलता है कि हम तरह का निवेश बहुत सोदा ही जाना चाहिए । यह सोचना विवशुन गवन है कि प्रत्यक्ष निवेश कभी भी विदेशी निवेश का महत्वपूर्ण रूप नहा है या हा नहना है । जैसा कि हम दव चुके हैं कि १९१३ में जब विदेशी निवेश नृद उन्नत अवन्या न था, ब्रिटेन के विदेशी निवेश का तीन-चौथाई भाग मर्यादी बाण्यो या लोचानयोगी म्पॉको में था । यदि हम इन बात को भी ध्यान न रखें कि मर्यादी एजे-नियों की मात्रन पूंजी की अवन्या करके छाट पैमान की सेती का विकास करन की जितनी उम्गन है ता दह कहना अनुचित नहीं है कि आज जितने विदेशी निवेश की जरूरत है, उसमें से ८० प्रतिशत केवन मर्यादों की ही चाहिए । प्रत्यक्ष निवेश तो विदेशी निवेश की समन्या का एक छोटा-सा पहलू है, और गवन तथा विनिर्माण-क्षेत्र के बाहर उन्हा कौटे महत्व नहीं है । यदि निदेशी निवेश का पुनरुपान किया जाना है, तो मुख्य समन्याएँ प्रत्यक्ष निवेश से सम्बन्धित नहीं हैं—ऐसा निवेश बाहे जितना ही वाच्छनीय क्यों न हो—बल्कि विदेशी मर्यादों के लिए पूंजी की अवन्या करने से सम्बन्धित है ।

प्रत्यक्ष निवेश की मात्रा नई ही थोड़ी रहने का एक कारण यह है कि निजी उधारदाता को ह्दारी मौल दूर रहने वाले निजी उधारकर्ता की पात्रता निर्धारित करने में और उनकी गतिविधियों पर निगरानी रखने में कठिनाई होती है । पराक, या कुमानी, या क्रिा के किसी छोटे दागान, या फैक्टरी, या व्यापारिक कम्पनी, या गवन सम्या के शेरों का लन्दन के म्पॉके बाजार में कारबार करना आसान नहीं है । निवेशकर्ताओं के लिए इन उद्यमों की आर्थिक स्थिति जान पाना, या उनके प्रबन्धनों में बिस्वास रखना असम्भव है । घन अधिकांश विदेशी निवेश विचौधियों की माफत करना होता है । ब्रिटिश प्रसीका की मोने की नान की कम्पनियों ने कई मसूह बना-कर अपने को थोड़े-से दिन प्रतिष्ठानों के साथ सम्बद्ध कर लिया है । ये प्रतिष्ठान अपने अमीन कम्पनियों से कुछ शुल्क लेकर उनके लिए कुछ सचि-वीय, विपान-सम्बन्धी तथा अन्य काम करते हैं । ये इन कम्पनियों में छोटा-मोटा निवेश भी कर देते हैं । परन्तु निजी निवेशकर्ता के दृष्टिकोण से ऐसे प्रतिष्ठानों का एक मुख्य काम अपने अमीन कम्पनियों की नसायदता की गारण्टी देना है, जब इनमें से कोई कम्पनी शेरर जारी करती है तो लन्दन में वे अधिक आसानी से बिज जाते हैं, क्योंकि लोगों को पता होता है कि उसकी गारण्टी जितनी अच्छी नाम बाते कित्त प्रतिष्ठान न दी हुई है । पूर्व में चाप और खर के दागानों के मामले में भी ऐसी ही बात हुई । इनमें से बहुतों का प्रबन्ध

श्रीर प्रयत्न वरु विद्यात प्रदिष्टाना व गाय म है जिनका नाम बापाला वा गणायना वा गारता वा वाम करता है यदि प्रयत्न का य प्रया न वा गा छानी वा मध्यम श्रेणा की व्यापार-मध्यात विद्या पत्रा वात्रारा म माधे ता पदुंय मरती । ह्यद श्रीर वा वरु परिणाम गान है मरु परिणाम विद्या म्यामि य वा व्यापार मध्याघा म जग तिन वा नात्र रा ग्याता म गमामवन विद्यत्रर कम्पनियो श्रीर एवाशिरार म्यापित वरुन वा वरुता हू प्रभृति है यदि मध्यम श्रासार वा मध्यात विद्या वात्रार म गा र नता पदुंय मरती वा एन उपाय यरु है कि वरु छानी वा मध्यम श्रासार वा मध्याघा वा मिदात्र एन विद्यात व्यापार मध्या वा दो वाण । एवाशिरार वा वरु प्रभृति वन ग्या म पम न ता का जाला वनी एवाशिरार म्यापित गान है परन्तु यरु अशिरार म्य म ह्य वात्रार वैरा जाला है कि विद्या पत्रा वात्रार छाना छानी मरुत्र मध्याघा की अरुत पूरी तथा वरु मरुता दूगग परिणाम विद्या पत्रा वा वरु माया है जा उ नन ग्या वा कम्पनियो वम विरगित ग्या म श्रपता गायार या गणयत्र कम्पनियो मारवत्र उपरुद्वे वरुता है । तिन नात्र रा ग्यात श्रीर तन र वृषा य मरुत्र ध म प्राय गमा जाला ग्या है श्रा मच पूरा जाल मा यरु एन उपाय है जिनम विद्या पत्रा विनिमाण उद्याग म पदुंय मरुता है वम विरगित ग्या म जा विद्या विन-यापित पवत्रियो है व विरगित श्रीरा मित्र ग्या म पत्र ग्या कम्पनियो का या वरु उदा मरुत्र गार व्यागारिव कम्प नियो वा हा गायार वा गणयत्र कम्पनियो है ।

यना मुख्य कारण है कि निरा विद्या पूंजा अधिकांशतया मरुकार वाणा श्रीर वाशयवाया मवाघा म नगी है श्रीर ग्याम कृपि वा व्यापार म प्रय र म्य म वरुता वरुता पत्रा वगा हू है । यरु वाम विधीनियो व विद्या प्रभाया ह्य म नता हा मरुता । नूतवात म य विधीनिय श्राशिरार दगा म म्यापित विन प्रनिष्ठान मचिमाय कम्पनियो या पमो था यदि विधीनिय न हात ना पूंजा वात्रार म जग जमान व तित एवाशिरार नरा मरुचित म्यामि य की प्रभृति वरु मरु है जाला । यमी नात्र म मरुकार द्वारा प्ररुचित विद्या मध्याना व म्य म एव नन प्रचार व विधीनिय वा ज मरुता है जग कृपि वरु विद्याय वरु या घोषागिर विन निगम य मध्यात मरुकार का गारटा पर विद्या पूंजा वात्रार म पन उपाय वना है श्रीर दग वा छाना छानी वमो म निरुव वरुता है । एम यरु निरुव हाता है कि अत्रगणुदाय निरुव व मरु म मरुकार द्वारा विद्य जान याम ग्याग वा मरुत्र विद्या अधिरु है श्रीर निरा गयर ह्याग्य द्वारा प्रय र निरुव वा मरुत्र विनना वम है । विद्या निरुव व मरुत्रगणुदाय म मरुत्र मरुत्रगणुदाय है कि विद्या मरुकार वा एवाशिरार पूंजा वरु उपाय वरुता जाण ।

१९२६ से पहले सरकारों पृथी बाजार में निजी उधारदाताओं से उधार ले सकती थी। परन्तु अमरीकी विधान या यूरोप में विदेशी मुद्रा-निस्सर्पण, या प्रयोज्य निजी दक्षता के कम हो जाने के कारण या "ने न्यूयोर्क के सम्बन्ध में उनका की प्रतिकूल प्रतिनिधियों के कारण अब बड़ी मात्रा में इस प्रकार उधार ले पाना सम्भव नहीं है। अतः यदि सरकारों का उधार लेना होता है तो मुख्यतया उन्हें अन्य सरकारों से लेना पड़ता है। अन्तर्गोष्ठीय निजी उधार का पूरा १९२६ में समाप्त हो गया यदि अन्तर्गोष्ठीय निवेद्य का पुनर्स्थापन हुआ तो वह अन्तर्सरकारी विन-दान के रूप में ही होगा।

अन्तर्सरकारी उधार की व्यवस्था के सम्बन्ध में पहला महत्वपूर्ण काम १९२३ में अमरीकी विधान-सभाओं द्वारा किया गया था। वह बैंक अल्प-रूप में ही नहीं पर मुख्य रूप से केवल सरकारों को ही उधार देता है। इसके बाद महासुद्ध के अन्त में राष्ट्रसभ ने अपने बहुसंख्यक सदस्यों के अग्रदान में अन्तर्गोष्ठीय पुनर्निर्माण तथा विकास-बैंक स्थापित किया। इस बैंक को उधार लेने का भी अधिकार है, जिसका प्रयोग करने अमरीका और ब्रिटेन में किया है। ये दोनों बैंक कम व्याज पर (३ से ५ प्रतिशत) उधार देते हैं और उनके मुद्राण की अवधि अपेक्षाकृत लम्बी होती है। इनके अलावा उपनिवेशवादी देशों ने अपने उपनिवेशों में निवेद्य के लिए मुद्राणाओं की व्यवस्था कर दी है। ब्रिटेन ने सरकारों के लिए अन्तर्निवेद्यित विकास निगम स्थापित कर दिया है जिसका प्रयोजन सीधे निवेद्य करना है, परन्तु जो निजी उपक्रमों, लोकोपयोगी सेवाओं और लोक-निगमों को भी उधार देता है। यूरोप की अन्य उपनिवेशवादी सरकारों ने भी इसी प्रकार के कामों के लिए एजेंसियाँ बना ली हैं।

अन्तर्सरकारी उधारों के लिए यद्यपि ये मुद्राणाएँ उपयुक्त हैं, परन्तु विन जाने जाने हुए उधारों की राशि बहुत कम है, और विद्यमान मुद्राणाओं का पूरा लाभ नहीं उठाया जाता। इसका मुख्य कारण यह है कि वास्तव में ये उधार 'स्वयंशोधन' प्रायोजन-कार्यों के लिए दिये जाते हैं, अर्थात् ऐसी प्रायोजन-कार्यों के लिए दिये जाते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से स्वयं आय बनाती हैं, जैसे कोर्ट दिवली-घर या इन्सुर-मिल, ताकि इसकी आय से व्याज की अदायगी और पूंजीगत उधार की वापसी की जा सके। इस समय इन देशों में विकास-कार्यों के उत्तरीय स्वयं ऐसे हैं जिनमें स्वयं उधार-शोधन नहीं होता, जैसे शिक्षा, नहरों, लोक-स्वास्थ्य, अनुसन्धान, कृषि-विस्तार, या सामुदायिक विकास पर होने वाले खर्च, अथवा अनेक प्रायोजन-कार्यों के अन्तर्गत 'स्वयंशोधन' होती हैं, जैसे गाँवों में पानी की सफाई-सम्बन्धी योजनाएँ, भूमि-संरक्षण या भूमि-मुधार के काम। अधिकांश कम विकसित देशों में उन्हीं कामों की सर्वाधिक अग्रगण्य प्राप्ति होती है। १९२६ से पहले उधार बुकाने में सर्वत्र कोर्ट भी सरकार अन्तर्गोष्ठीय के



हिमो काम के लिए या सार्द काम बनाए बिना भी पूँजी बाजार में ऋण ले सकती थी। अब य एजिमियाँ हम प्रकार ही मुविधान नही दती। य लोकोपयोगी सेवाया के लिए ऋण दती है, परन्तु सरकार य विविध बायो के लिए ऋण नहीं दती जबकि पहले विदेशी उधार या एच लिजिट नाग हमी प्रकार य कामा के लिए होता था।

हमारे अनाया, अरि सरकार का लार-मेवाया म रिन्नाय वरन के लिए स्पया उधार नही मिलता अब लोकोपयोगी तथा अल्प स्वयन्सायक प्रायोदनायो के लिए स्पया उधार लेन की उनकी सामर्थ्य भी नही बढ पाती। धाम तोर म माग निरन पयाज लार-मेवा-ज्यवम्या पर ही निरन होता है। रिनेपनया यदि हिमा निवश का तरमि रिना जाना हो ना सभी शिक्षा-मम्बन्धी व प्रशिक्षण-मुद्रिधाया की मांग म भागी बढि ले जाती है। धायो जनाएँ बनान और उच्च कार्यायित वरन के लिए हजीनियरो वीजानियो तथा प्रशासना की उम्मत होती है और अल्प सभी स्तरो पर कारीगरा जेग राज-गीर, बडई, नतार्दगर विजसो मिम्बो आदि की उम्मत होती है। प्रमिधिन वर्मचागियो की वर्मा कुठ हद तक गण्टुमय मे समरीका मे कोनम्या आया-जना मे भाग लेने वाले राष्ट्रमण्टीय दसो की तरनोकी महायता मे और उप-निवेशा का उनकी उरनिनयवादी सरकारो द्वारा मिलन वाली महायता मे पूरी की जा सकती है, परन्तु हम बाव के अनाया कि गार नमार म विपयता की रमी है, इन दसा की मून आउरनयता स्पय धनद दग क लणो की प्रमिधिन यनान की है। उच्च मय प्रकार की शिक्षा पर बढन अधिध धन खर्च बनने की जरूरत है, और जब तक व हमारे लिए धन का प्रयुध नहीं वरन तब तक य स्वयन्सायक गणा का उपभोग नहीं कर सकते।

अब स्वयन्सायक न जाने वाले स्तरो के लिए धन का प्रयुध करने हेतु अन्तगर्वागी अन्तरणो की मुद्रियया के बार म कारी चचा की जाती है। गंडालिय रूप मे हम प्रयाजन के लिए भी अण मुविधान हो जा सकती है, योकि राष्ट्रीय उन्पादनता बढान वाला कोई भी गत स्वाक्ष और भुगतान प्रभाय का बाध उठा गयता है। परन्तु पूँजी बढी हुई उन्पादनता गीरे सर-कारी मन्दाय म नही आती अब स्वयन्सायक न जानयाने स्तरो म ऋण लेकर पैसा लगाय पाती सरकार जब तक कि उगकी राजकापीय प्रतापी बढन ही अणो न हो, वराज और पूँजी-भुगतान के समय विनीय कठिनार्द मे अण सकती है। अब हम समस्या पर अण की समस्या की बत्राय अन्तगर्वागी मन्दाय धनुदान की समस्या के रूप म विचार लिया जाता है।

हम मानते मे उपनिवेशवादी नक्तिपा ले पण्ट की और दूरे रिन्नुय के पने या बार म उणो कोपनिवेशित रिनाय विधियो स्थापित की,

जिनका उद्देश्य उपनिवेशों के लोच-व्यय में विनोय महायत्ना देना था। ब्रिटिश औद्योगिक विज्ञान एकट के अधीन अब प्रतिवर्ष १५० से २०० लाख पाँट के बीच बच हो रहा है और अन्य उपनिवेशवादी देशों में भी ऐसे एकट है। प्रायः कदम अमरीका में उदाहरण १९६० में आर्थिक महायत्ना कार्यक्रम आरम्भ किया। इस महायत्ना का सबसे अधिक भाग यूरोप को मिला है, परन्तु हाल के वर्षों में कम विकसित देश भी प्रतिवर्ष २००० लाख से ६००० लाख डॉलर तक की महायत्ना (सैनिक महायत्ना छोड़कर, या नहीं) राष्ट्रमध्य में आर्थिक विकास हेतु महायत्न अनुदान देने के लिए या अपने राष्ट्र देने के लिए राष्ट्र राष्ट्र मध्य एजन्सी बनाने का निश्चय कर दिया है, परन्तु यह तय होना बाकी है कि यह एजन्सी कदम अपना काम शुरू करेगी।

शास्त्र विज्ञान का सर्वोत्तम ज्ञान के बाद निश्चित रूप से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि युद्ध-पूर्व स्तर पर (वामनविक्रमियों में) अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर-रत्न का पुनरुत्थान अन्य जिनो धान को अर्पणा महायत्न अनुदान की समुचित प्रणाली की स्थापना पर अधिक निर्भर है। प्रत्यक्ष निजी निवेश से तो कम विकसित देशों की पूंजी को जम्मा के एक छोटे-से भाग की ही पूर्ति हो सकती है। विदेशी निवेश की उन्नति के बावजूद भी इसका अधिकांश भाग सरकारों को दिये गए ऋणों में या लोनोपयोगी सेवाओं में रखा हुआ था और उस समय की ही भाँति आज भी यही समस्या है कि अब अर्थ-व्यवस्था का जो सरकारी क्षेत्र है उसके लिए विज्ञान का प्रवर्धन जैसे किया जाए। स्वयंसेवक प्रायोजनवादी के लिए सरकारों को ऋण देने की जो सुविधाएँ उपलब्ध हैं, वे इस प्रयोजन के लिए पर्याप्त मात्रा में होती हैं। कमी केवल उन सरकारी क्षेत्रों में लगाने के लिए प्रवर्धन उधार देने की है जो उत्पादक तो हैं पर स्वयं-शोधक नहीं हैं। १९२६ में पहले सरकारें इन कामों के लिए धन उधार ले सकती थीं और लोनोपयोगी सेवाओं में सीधे लगा हुआ लगभग आधा धन इसी प्रकार उधार दिया हुआ था। शालू ऋण-सुविधाओं की बढियों को हटाकर, या महायत्न अनुदान प्रणाली की व्यवस्था करके जब तक यह कमी दूर नहीं की जाती तब तक अन्य सभी विदेशी निवेशों में सम्भवतः बाधा ही रहगी, क्योंकि सभी निवेश कुछ हद तक लोनो-सेवाओं की पर्याप्त रूपरेखा की व्यवस्था पर निर्भर होते हैं।

(क) मास्यानिक रचना—अध्याय ३ में हम इस बात की सामान्य चर्चा कर चुके हैं कि पहचान करने और जोखिम उठाने की भावना को बढ़ावा देने के लिए सांस्थानिक रचना किस प्रकार की होनी चाहिए। यहाँ हम बचत और निवेश के सम्बन्धों के बारे में कुछ विशेष बातें पा ही चर्चा करेंगे।

### ३. निवेश

पहली बात जिग पर हम विचार करेग, इग तथ्य का परिणाम है कि काफी बड़े पैमान पर बहुत पूँजी का निवेश किया जाता है। इस विषय के कुछ लेखक पूँजी-निर्माण का बड़ा सुन्दर चित्र उपस्थित करते हैं, जिगमें 'ग्राम आदमी' पर्यावरण के अनुसार अपने को ढालने हुए छोटी-छोटी राशियाँ बचाता या उधार लेता है और धीरे-धीरे अपनी हावत को सुधारता है। कुछ निवेश इस प्रकार का होता है। ग्राम आदमी अपने घर की या अपने काम की हालत सुधार सकता है या किसी दुकान या लारी में पूँजी का निवेश कर सकता है, पर यह आर्थिक विभाग के लिए अपेक्षित निवेश के आगे में भी कम है। सबसे बड़ी मात्रा में निवेश लोक-निर्माण-कार्यों और लोकोपयोगी सेवाओं में करना होता है और यद्यपि ग्राम आदमी सामुदायिक विकास की योजनाओं के माध्यम से लोक-निर्माण-कार्यों में लाभदायक सहयोग प्रदान कर सकता है, परन्तु सड़कों, रेलों, बन्दरगाहों विजलीघरों और अन्य बड़ी प्रायोजनाओं पर जनता और लोकोपयोगी-सेवा-उद्योगियों द्वारा बहुत अधिक धन व्यय करने की जरूरत होती है, जो कि पर्यावरण के अनुसार अपने को ढालने हुए ग्राम आदमी की क्षमता के बाहर होता है। निराशावादी व्यक्तियों का कहना है कि कई मामला में बड़ी-बड़ी राशियों के खर्च में भी कोई लाभ नहीं हुआ है, क्योंकि उन्हें चलन कामों में लगाया गया है, परन्तु यह निष्कर्ष निरासना एक विवेकशून्य बात है कि ऐसे खर्चों के बिना भी आर्थिक विकास सम्भव है, ये लोग अपने कथन के समर्थन में कोई ऐसा समुदाय नहीं बता सकते जहाँ इस प्रकार के भारी खर्चों के बिना ही आर्थिक विकास हो रहा हो। बड़े पैमाने के निवेश की अन्य बड़ी-बड़ी राशियाँ मनन-उद्योग निर्माण-उद्योग, आयात और निर्यात के शोक व्यापार, बैंकिंग और बीमा कारबार, गिनार्ड-निर्माण के कार्य, कुछ कृषि-उत्पत्तियों के प्रक्रियाकरण और कुछ विशेष प्रकार की सेवाओं में लगी होती है, और शहरों में मकानों के निर्माण में भी, जिगका आर्थिक विभाग के साथ तर्की में विचार होना है, बड़ी मात्रा में पूँजी लगती है क्योंकि शहर में काम करन वाला मजदूर-बग प्राप्त अपने खुद के मकानों में नहीं रहता। आर्थिक विकास की स्पष्ट विशेषता यह नहीं है कि ग्राम आदमी बचत कर रहा है और अपनी उत्पादन-क्षमता बढ़ा रहा है। यह एक आवश्यक और वास्तविक विशेषता तो है, लेकिन आर्थिक विकास की स्पष्ट विशेषता यह है कि कुछ निजी व्यक्ति निगम विकास, या सरकारी उद्योगों की अपितु खर्चों की प्रायोजनाओं पर बड़ी-बड़ी राशियाँ खर्च कर रहे हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि आर्थिक विकास की स्पष्ट विशेषता उद्यम-शीलता है, अर्थात् ऐसे व्यक्तियों, निजी निवेशकर्ताओं या सरकारी अधिकारियों के छोटे-छोटे समूहों का समुदाय है जो भारी मात्रा में पूँजी खर्च कर रहे हैं।

और जिनसे बड़ी सम्पदा में लोगों को रोडगाँव मिलता है। इन पहले ही कई स्थानों पर जैसे पैदा होने वाली सम्पदाओं पर विचार करना चाहिए है। इन सम्पदा के उद्भव, उनके प्रयोजनों तथा उनके लिए आवश्यक प्रमिताओं के बारे में पहले ही अनुमान लगा चुके हैं। इन सब भी देख चुके हैं कि उन सम्पदाओं का एक बड़ा भाग गहरे में इन सब जगहों है, जिसे स्वामित्व का नियन्त्रण के बिना अधिकांश के बिना इन सब प्रमिताओं में मन्तव्य का वेदन पर काम करना पड़ता है। उनका परम्परागत पैदा होने वाली अनुमानित सहायकों और औद्योगिक शक्ति-सम्पदाओं सम्पदाओं का गणनाओं की सर्वाधिक बड़ियाँ सम्पदाओं में से हैं। अन्त्याप ३३ में हम उनकी चर्चा कर चुके हैं। पर वेद है कि इनका कोई सरल हल नहीं देखा पाया है।

चूँकि निवेशकों का एक हद तक अपनी बचत का स्वयं प्रयोग नहीं करते, अतः ऐसे सम्पदाओं का होना आवश्यक है। उन निवेशकों को सहायता देने के लिए बचतकर्ताओं को पर्याप्त सहायता प्रोत्साहित देते हैं। उनमें प्रौद्योगिक सम्पदाओं में निवेशकों बहूत की मात्रा में अपनी बचतों को अपने नियन्त्रण के अधीन ही रखा रहे हैं। उदाहरण के लिए विनिर्माण-उद्योग मुख्यतया अद्विगल नामों के चल पर बट रहा है जबकि कुछ पहले की सम्पदा में यह उद्योग बाँटो हद तक बाँट सम्पदाओं में उद्योगों की कई पूँजी पर निर्भर था। इसी प्रकार, सरकारें निवेश के लिए आवश्यक धन काभी मात्रा में बर्ग द्वारा जमा कर रही हैं और ३० वर्ष पहले की तुलना में बहुत धीरे धीरे उधार लेती हैं। सैद्धांतिक दृष्टि में अद्विगल नाम गेयरहोल्डरों का होता है और कर की मात्रा करदाताओं की होती है, पर गेयरहोल्डरों द्वारा उपरोक्तों पर, या आम जनता द्वारा सरकार पर निवेश करने में पर्याप्त व्यावहारिक बड़ियाँ होती हैं। एक सीमित दृष्टिकोण से अद्विगल नाम और सरकार की बचतें इन अर्थ में निवेशकों की बचतें होती हैं कि इन बचतों की मात्रा और उपयोग में तो गेयरहोल्डर तब करते हैं और न आम जनता तब करती है। यह स्थिति ५० वर्ष पूर्व की स्थिति की अपेक्षा पूँजीवादी विज्ञान के आरम्भिक दिनों की स्थिति के अधिक निकट है। विज्ञान के आरम्भिक दिनों में स्वतंत्र बचत का बहुत बड़ा भाग निवेश में जाता है। कोई समुचित ढंग से संगठित पूँजी बाजार नहीं होता और उपरोक्त प्रयोजनों के लिए धन उधार देने और लेने को केवल आदिष्ट मुविदाएँ होती हैं (सहकार और गिरवी दस्तावेज को हमेशा होते ही हैं)। ऐसी स्थिति में अधिकांश उत्पादन पूँजी का निवेश अद्विगल नामों में से किया जाता है। आदिष्ट विज्ञान की पर्याप्त उन्नत सम्पदा में पहले-पहल ही बचत और निवेश के काम एक-दूसरे से बाँटो अलग हो पाते हैं।



जो अपनी पूँजी का कई जगह निवेश करना चाहें और इसके फलस्वरूप अन्ततोगत्वा सीमित दायता वाले निवेश एक बहुप्रचलित रूप धारण कर लेंगे। शायद इन मुविधा के आसानी से उपलब्ध होने के फलस्वरूप ही समुदाय के जेप लोगों में बचन के प्रति पूँजीवादी दृष्टिकोण पैदा हो गया है। बचतों पर चर्चा करने समय हमने कहा था कि पूर्व-पूँजीवादी मनाजों में तिनाना भूम्यामियों, अभिजात-वर्ग के लोगों, व्यावसायिक व्यक्तियों, मध्यवर्ग के लोगों तथा अन्य लोगों के पास या तो कोई बर्गी बचने होती ही नहीं या अगर कुछ होती है तो वे उनका उपयोग दान, नीकर-चाकर रखने मन्दिर व स्मारक बनवाने में करते हैं या अनुत्पादक कामों में उठा देते हैं परन्तु पूँजीवादी विकास की बाद की अवस्थाओं में नारे बाँधें म यह पूँजीवादी विचार पैदा हो जाता है कि बर्गी बचनों का उत्पादक ढंग से निवेश किया जाना चाहिए। बाद की अवस्थाओं में तो जमींदार और पादरी भी सीमित दायता वाले शेयर स्वरीदों हैं, वस्तुतः बचन तथा उत्पादक-निवेश की धारणा को लोकप्रिय बनाने में इस मुविधा का इतना ही महत्त्व है जितना किसी अन्य बात का।

उधार का प्रोत्साहन देने के लिए दूसरी उस्तान इस बात की है कि उधारदाता या तो अपने भुगतान का अधिकार बचकर, या यदि उधारकर्ता बर्ग न लौटाए तो उसकी परिमत्पत्तियों को बचकर आसानी से निवेश का नकद मूल्य प्राप्त कर सके। इसमें से पहली बात मुख्यतः बाणों, शेयरों, बन्धकों और वृष्टियों के त्रय विज्ञान की पर्याप्त मुविधा पर निर्भर है। इस प्रकार के त्रय-विश्रय का बाजार होने के लिए उस्तान इस बात की है कि 'बिना' का कारबार करने के इच्छुक व्यक्ति या सम्पान मौजूद हो, नाकि जो उधारदाता अपने निवेश का नकद मूल्य वापस लेना चाहें वे उधारकर्ताओं को सुरक्षित भुगतान के लिए तब किये बिना ही अपना धन वापस ले सकें। वित्त का कारबार करने जानों को अन्य व्यवसायों प्राप्त अपना धनु समझने हैं, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये एक महत्त्वपूर्ण काम करते हैं, क्योंकि यदि ये न हो तो अपना धन पैसे जाने के डर में बचन करने वाले उधार देने में हिचकिचाएँगे, और इन कारण उत्पादक निवेश में कमी हो जाएगी। यदि किसी तेजी से विकसित हो रहे समुदाय के धार्मिक इतिहास का अध्ययन किया जाए तो पता लगेगा कि आरम्भिक अवस्थाओं में वित्तीय 'पत्रों' के बाजार का विकास उसकी एक प्रमुख विशेषता, और आगे के विकास के लिए लाभदायक एक जरूरी शर्त रही है। ऐसे समुदायों में इन बाजारों की उस्तान नहीं होती जिनमें सारी भूमि लोक-स्वामित्व में होती है, और सारे कारबार लोक-वित्त में चलाए जाते हैं, परन्तु जिन समुदाय में निजी निवेश होते हैं वहाँ उत्पादक होना अनिवार्य होता है, और यदि बँकर, व्यापारों, स्टॉक के बाटठिरे और

वित्तदाता सामान्यतया उम काम का करने के लिए माफ़न न आने लों दम काम के लिए सरकारी एजिनिया राखना आवश्यक हा जाणगा । एमी सरकारी एजेसी खोलने म ति मन्दर फाई तरतीकी बठिताइ नजर नरी घाली जा उधारकर्ताओं द्वारा बच जान बाल बन्वरी मपरा बाणिज्यर विना अथवा अन्य वित्तीय पत्रा ना करीदन क लिए मदेब तयार रह परन्तु यह मदिम्व है कि क्या ऐमं जागिम के काम का सरकारी एजाजिकार द्वारा प्रतियापी बाजार की अवेक्षा अधिर बुशलतापूर्वक अथवा कम खच म रिया जा मरता है ।

वित्तीय पत्र की पण्यता व माय ही उसरी जमानत के रूप म दी गई भूमि मकान, आभूषण वस्तुआ के भण्डार मशीना कैमिडुमा और उमी प्रकार की अन्य स्थूल परिमम्पत्तियों की पण्यता भी आवश्यक है । यह बात भी अतत बाजार पर और अगन वानून पर आधारित है । जहाँ बाजार के लायन काफी बारबार होता है, वहाँ बाजार क्षीघ्र बन जाने है । एमी मुद्रियाया की व्यवस्था करने ना नियेप जान रखने बाने—वास्तविक सम्पत्तिधारी, वरीज जीहरी और घोर व्यापारी—आम नागरिकों के बीच प्राय अचछी दृष्टि से नही दम जान तयारि अपने कारखार मे सफ़तता प्राप्त करने के लिए उन्ह अपम व्यापार के जागिम, पूँजीगत मूल्यों की सदियता और रभी कभी उनम हान कात मारी उठार-चडाव के कारण बाव्य होकर पैनी दृष्टि बाता निमम और नन दन म कटार बनना पडता है । परन्तु परिमम्पत्तियों के बाजार का विलून करन का जो काम के करते है उनमे वित्त-पत्रा के अय-विप्रय के अगगर बढ जाने हैं, जिनके फलस्वरूप उत्पादन निवेश के लिए अणता इन उधार देने बाने बचतकर्ताओं की जागिम कम हो जाती है ।

बाजारों के इस अदन के अलावा भी भूमि के स्वामित्व और वित्री-मम्बन्धी वानून का बहुत महत्व है । विभिन्न ममाजा म विकास की आरम्भिक अर-स्थाओं मे उधारकर्ताओं के पाम बड लेन समय जमानत के रूप म पत्र रखन के लिए भूमि सबसे महत्वपूर्ण परिमम्पत्ति हावी है । कुछ देगो म जिमाना का माहूकारी के चगुल म बुरी तरह फमन से अचान के लिए बन्धना पर रोह लगाने के उपाय निये जा रह है । दम बात के अलावा ऋण के लेन दन की बढावा देने की दृष्टि से ऐसी व्यवस्था का होना आवश्यक है जिममे भूमि के वानूनी हक-मन्व-की बहुत अधिक उगभन के विना उम बन्धन रखा जा मने और बचा जा सके । यदि भूमि की रजिस्ट्री-प्रणाली मातमुजारी मबेक्षण के आधार पर हा तो इससे सीमाओं की अनिश्चितता से पैदा होन बाल वानूनी विवाद कम हो जाते है । कुछ ममुदाया मे, जहाँ उत्तराधिकार के जमित वानून है व्यापार परिवार-अथा है, स्वामियों, दरनदार और मामुदायिक प्राधिकायियों के बीच प्राधिकारों का जटिल विभाजन है वहाँ भूमि का आम्पिक अधिकायों का न है

यह जानन में कठिनाई होती है अतः यह मन्दत पैदा हो जाता है कि किनी व्यक्ति (या व्यक्तियों) को किनी भूमि के स्वामित्व-हस्तांतरण का अधिकार है या नहीं। विभिन्न प्रकार के सम्पत्ति-आश्रितों के अधिकारों के कारण भी विनी के समय गड़बड़ पैदा हो सकती है जब तक कि जानन में यह व्यवस्था न हो कि जमींदार को सभी प्रकार के प्रभाग में मृत स्वामित्व का अधिकार मिलेगा। चूंकि कम विकसित समुदायों में भूमि-सम्बन्धी जानन सामान्यतया बहुत जटिल और सम्पन्न व अनिश्चित जान है अतः आर्थिक विज्ञान की आरम्भिक अवस्थाओं में भूमि के स्व-विक्रय-सम्बन्धी जाननी टाके में यदि पूर्ण व्यवस्था नहीं या कम-से-कम उनमें स्व-जान जान के लिए धरा के विधान-मंडन का बहुत-बहुत करना पड़ता है।

कम विकसित समुदायों के विधानमण्डन उपाय देने वाले मन्थानों का निर्माण करना है जो निजी व्यक्तियों द्वारा दिन जान वाले उपाय के पूरा का काम करते हैं, इसका कारण यह है कि या तो सरकार के पास स्वयं वस्तु के लिए अतिरिक्त बचने होती हैं या सरकार विशेष प्रकार के निष्पत्ति को प्रत्यक्ष देना चाहती है।

हम उन कारणों पर पहले ही विचार कर चुके हैं जिनके सम्बन्ध में भविष्य में शायद अधिकाधिक बचने मा-कागे नियंत्रण में आने लगेंगी। या तो यह हो सकता है कि वे उन बचतों को बर्गे के रूप में हीन नहीं हो जिनके सम्बन्ध में निजी व्यक्तियों के नियंत्रण में रहती। जानों पर भारी कर लगान का यह परिणाम होता है। या यह हो सकता है कि सरकारें समुदाय को अधिकाधिक बचन करने के लिए मजबूर करने की दृष्टि से विमानों, उमीदाग, या दूसरे ऐसे बर्गों पर भारी कर लगा रही हों जो बर्गों के कारण अपना उप-भोग कम कर देने हैं, या फिर उधार-विस्तार या स्फीति का महाराज में रही हो। शयदा यह भी हो सकता है कि सरकारों के पास बाह्य दिन के ऐसे माधन हो जो निजी उधारकर्ताओं की पहुँच के दाहर होने हैं—विशेषतया आज के अन्तर्भरकारी अन्तरणों के युग में—और जिनमें उन्हें चाहे रूप के रूप में या महापत्र अनुदान के रूप में धन मिल सकता हो। इन दिनों अनेक सरकारों ने राष्ट्रीय आय की तुलना में पूर्ण निर्माण प्रद्विक करने का उत्तर-दायित्व अपने रूप ले लिया है, जबकि उनके पहले की सरकारों ने ऐसा कोई उत्तरदायित्व नहीं लिया था। इसका स्वाभाविक उपसिद्धान्त यही है कि हम प्रकार अपने निष्पत्ति में आने वाली बचतों के समुचित प्रयोग के लिए उन्हें मन्थान खोलने चाहिए।

चूंकि वित्त-मन्थानों की स्थापना की एक अन्य प्रेरणा का आधार यह है कि वित्त समूहों को निजी उधारकर्ताओं से धन लेने में विशेष कठिनाई होती



है उनसे लिए धन उपहार बरगया जाए। अग प्रसार के पीछे समूह पर अत्र तत्र विनाश ध्यान दिया जाता रहा है—किसान हस्तगत कागजर छान उप भासता मराना के मानिस और उद्यायपति।

छोट छान किसानों का निजा उपारकताप्रा से गन्ना पर प्रप नया मिन पाता क्यादि अग प्रकार के ऋण दन से क्या जागिम रन्ता है और रन्ता प्रप्रध भा मर्नीना रन्ता है। यदि मन्तारा ग्राम अग ममिनिया का माफन ऋण निजा जाण ता जागिम और मध दाना या वस्तु कम या जान है। ये ममिनिया रन्ता गन्ना हाता है कि रन्ता पर मन्म्य दूमर मन्म्या का यवन और उनका मन्तारापयता के वार से अछी तरन् जानता है। ये ममिनिया कभी कभी सामाय निजा उपारकताप्रा से जग वाणिज्य के काम ऋण से मरता है यहाँ तक कि साम जनता से जमा रन्म भा स्वाकार के मरता है। पर त सामायनया के धारण के कि मरन्तार उनसे सामता के पयव ण के और यह अग कि रन्का प्रप्रध कृपण रन्। मन्त आताका ये भा मन्तार है कि ये ममिनिया अगन मन्म्या का वचना या निजा उपार दानाप्रा से जो धन कट्टा के मन्त मन्म अतिरिक्त धन मन्तार दे। इति बाया के लिए उपार दन हेतु मरकार का मितना रागि अत्रग रगता चाष्टि यह अगन अग बात पर निभर करता है कि अग उपारकताप्रा के प्रति मर कार का क्या रन् है और अगन अग बात पर कि इति निजा के मयकम का ये मितना तडी से क्या रहा है। यदि मरकार निजा माहकारों के चुपुत से किसानों का वचाने का प्रपन कर रहा है—और विनाश अग म अग प्रया जन के लिए के किसानों का अगना भूमि गिरवा रगन से राक रन्। या मन्ताराप्रा से मरता के गन्त का वध मानन से इन्तार के रन् हा—ता उह किसानों के लिए वित्त का प्रप्रध करन से और भी अधिक धन रगना चाष्टि। दमा प्रप्रध एम दगा से जिनसे किसान वित्त के लिए कुछ रन् मन्त जमानरा पर निभर हाता है यदि मरकार जमानरा पर भारी कर रगनी है या किसानों का भूमि का मानिक रन्ता दगा है तास्व मरकार का जमानरा के स्थान पर विन्तारता का काम करना पन्ता है। यदि मन्त मय या मन्त कार का जारन्तार कृदि मित्तार मन्त चला रन्े हा और किसानों का अग रन्त का प्रयाग करन अगन पगु रा का मुन्तारन या अगन धोजारा मन्त रगता इमारता या जन मन्त का बहनेर मन्तार अगन के लिए मन्तारता मन्त प्ररित कर रन्े या ता उग किसानों का पयव का पयव बडा मोग का मूग रगता गगा—ता मन्त मय किसानों के अगन से मन्तार (मन्त मन्त) का विधाने रन्े के जगि) मन्तार हाता से उह के पन करता है। कृदि का पूजा-मन्तार का धार मन्ताराप्रा का अनुमान प्राय का मन्तारता से कम लगेवा

जाता है। कम विकसित अर्ध-व्यवस्थाओं में कृषि-उत्पादन राष्ट्रीय आय का प्रायः १० प्रतिशत होता है। पक्वत मीनमी हान के कारण इनमें बड़ी मात्रा में कार्यका पूंजी की उम्मत होती है जो इस समय अविज्ञानता के कारण पूर्ण की जाती है। यदि हमके अलावा उत्पादन के १० प्रतिशत का पुनर्निवेश का दिया जाए (आर्थिक विकसित देश अपने कृषि-उत्पादन के लगभग २० प्रतिशत का पुनर्निवेश करते हैं) तो निर्रत इसी में कृषि राष्ट्रीय आय का ५ प्रतिशत का जाएगा।

शिक्षा की अर्ध-व्यवस्था में हमसिखी प्राथमिक-वर्ग का बड़ा महत्त्व है, यद्यपि राष्ट्रीय या क्षेत्रीय अमरीका में इनका महत्त्व बहुत कम है। अध्याय ३ [अध्याय ४ (८)] में हम इनके जीवन रहन की कमी की चर्चा कर रहे हैं, और इन चर्चों हैं कि ऐसे असाध्य दान देशों में यह वर्ग कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है जिनमें पूंजी की भी कमी होती है। हम इन बातों पर भी विचार कर रहे हैं कि जातीयों को नई तकनीकों का प्रशिक्षण देकर, उनके नैदान मात्र के लिए विज्ञान की व्यवस्था में सुधार करके, और उनके लिए अपेक्षाकृत अच्छे कच्चे माल के उपकरण की व्यवस्था करके उनकी कुशलता को काफी बढ़ाया जा सकता है। इन सब बातों के लिए जरूरी है कि सरकार ऐसी एजेन्सियाँ बनाए जिन्हें पास अनुभवान्त के लिए, नये उपकरणों के लिए, और कच्चे माल, दान सह माल तथा नैदान मात्र के सफाई में लगान के लिए पर्याप्त धन हो। चूंकि इस समय उन उद्योगों की एक नवम् बड़ी कठिनाई भण्डार रखन की पर्याप्त सुविधाओं का अभाव है, इन केवल इसी काम की व्यवस्था में दखल बनी खस लग सकती है।

नीदरलैंड की भांति आस्ट्रेलिया में भी गहरा शिखी दलाली सेवा मोक्ष-प्रिय, उपयोगी, मन्ती और सर्वाधिक लाभप्रद सिद्ध हुई है। यह सेवा शहरो व दहात दानों में व्यापक रूप से उपलब्ध है। यह एक 'सामाजिक सेवा' है, जिनका प्रयोजन उत्पादक निवेश की सुविधाएँ देने के बजाय लोगों को मातृ-कार्यों के शौरा से मुक्त बनाना है। परन्तु यह सेवा कृषिपय मार्गों द्वारा स्थापित विनीय सम्मानों में अलग नहीं मानी जा सकती।

कम विकसित देशों में प्रायः अर्थिक विकसित देशों में भी गाँवों और शहरों दोनों में नये मकान बनाने के लिए कुछ सरकारें धन देने की सुविधाओं का प्रवण्य कर रही हैं। कुछ मामलों में सरकारें नयी बस्तियों की स्थापना कर रही हैं, या गरीब बस्तियों का इलाका उनके स्थान पर स्वयं मकान बनवा रही हैं, वहीं-वहीं बागान, गान, या गेव-जैसे कुछ उद्यम अपने-अपने कर्मचारियों को रहने के लिए मकान दे रहे हैं, और उन काम के लिए सहायक माशिनों को उन उद्यम दे रही हैं, कुछ अन्य मामलों में मकान के आगामी को धर्म प्राय पर न्यु

मकान बनवाने के लिए या मकान के निर्माण के लिए धन दिया जा रहा है। मकान बनवाने के लिए शिल्प प्रकृत का काम मकान या तो विरासत नियंत्रण का दायरे में आता है या मकान के निर्माण का स्तर उँचा उग्राय का दायरे में आता है। (ताला के पास प्रथम मकान या उस जगह का प्रागोक्त स्तर के लिए प्रमाणात् शीघ्र निर्माण का सरकार भा मकान प्रकृत के लिए धन आता है।) यदि विरासत पर ही स्तर नियंत्रण या शीघ्र न या उस सरकार के नियंत्रण प्राप्ति का भा मकान के निर्माण के लिए मामला बनता है। मात्रा में निम्न विधि उच्च स्तर का जाता है। अर्थात् एक बहुत गुरुत्वात् विधि है। परन्तु बार-बार नूतन भा उँचा स्तर के मकान के निर्माण का स्तर बहुत नाचा है जहाँ ताल प्रथम प्रतिष्ठित आय में उत्तर मकान बनाते या बजाय उस प्रागोक्त स्तर मकान में स्तर बनाया प्रथम के स्तर है।

उत्तर स्तर आयागित्त विभाग के लिए धन का प्रत्यक्ष करने का प्रथम प्राप्ति है। ताल मात्रा परस्परिद्या के मातृका ता ता धन प्रकृत स्तर में उँचा या कल्पित आता है जहाँ छोट स्तर विमान का स्तर प्रकृत सरकार भा उँचा विभाग प्रमा के बजाय जिनके कारण विनिर्माण उँचा पर कर्त्तव्य कार ता जात या प्रागोक्त स्तर है। छोट स्तर स्थानात् प्रथम या प्रागोक्त स्तर के लिए विभाग प्रकृत आता है शीघ्र स्तर स्तर में प्राय विधि विनायक स्थान बनती है। अध्याय ८ [सर्ग २ (घ)] में हम स्वयं स्तर पर विचार कर चुके हैं शीघ्र स्तर स्तर के लिए उँचा प्रथम के लिए जिनका कल्पित धन या प्रमा की है। उतनी या प्रकृत-मात्र भा स्तर की भा है। फिर भा हम हम स्तर में सम्मिलित है कि एक प्रमा प्रकृत भा आता या उँचा है जा छोट उँचा-परिभा का स्तर स्तर के साथ ही परस्पर शीघ्र प्रकृत-मात्र भा मात्रा भा है। परन्तु प्रमा धन नई है कि कथन स्तर या स्थानात् उँचा-परिभा या सरकार में पूजा माँगत है। बस-बस पूजा-परिभा का भी पूजा मात्रा का प्रकृत भा कारण विनिर्माण के लिए पूजा प्रकृत स्तर में कल्पित आता है। बस-बस उँचा-परिभा का कल्पित स्तर नई है कि कम विकसित स्तर में स्तर विनिर्माण प्रथम स्तर प्रकृत के साथ ही प्रकृत स्तर में प्रकृत है। स्थानात् पूजा के प्रथम भा श्रुति ध्यापार या बस-बस-मात्रा कारण मकान के लिए ता प्रागोक्त में मिल जाता है। परन्तु विनिर्माण उँचा के लिए तब तब ता माँगता जब तक कि स्तर का स्तर स्तर में धन जानकार न हो गया है। कल्पित प्रकृत मात्रा में भा विनिर्माण प्रकृत के लिए कल्पित मात्रा में पूजा न मिल पाता है। स्तर पूजा मात्रा में सम्मिलित प्रकृत मात्रा का प्रागोक्त भा प्रागोक्त-मात्रा कर्त्तव्य भा है। परन्तु विधि विभाग में ता का

जहरता को पूरा दूरन के लिए स्वयं विशेष मन्थान स्थापित करता है, जैसे मकान-निर्माण में धन की सहायता देने के लिए निर्माण-समितियाँ, और विनिर्माण-उद्योग में पैसा लगाने के लिए उधार प्रबंधन जैसे वैज्ञानिक मन्थान । जिन देशों में वार्ड सिद्धान्तिक आपत्ति न हो वहाँ सरकारी वित्त निजी वित्त के साथ-साथ काम कर सकता है । उदाहरण के लिए कुछ स्थानों में कृषि-उधार-समितियाँ को वित्त देने का काम वाणिज्यिक बैंक और सरकार अपने बीच बाँट लेती हैं । औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में भी कुछ नये वित्त-निगमों में सरकारी और निजी दोनों प्रकार की रकमें होती हैं । ध्यान देने की बात है कि मध्यमकाल का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, जो उपयुक्त प्रकार के निगमों के पक्ष में है और उन्हें धन उधार देने के लिए तैयार है, और चाहता है कि इन निगमों का अधिकारकारी बोर्ड धन बैंकों या निजी वित्तदाताओं का दिया हुआ होना चाहिए, और उसका प्रबंध सर-सरकारी लोगों के हाथों में होना चाहिए, या कम से कम राजनीतिक नियन्त्रण से बाहर तो होना ही चाहिए ।

विशेष रूप से छोटे-छोटे उधारकर्ताओं में प्रायः दृढ़ बारे में भ्रम होता है कि वे तत्स्थान वित्तीय दृष्टि से उनकी क्या सहायता कर सकते हैं । कुछ उधारकर्ता इन बातों में १०० प्रतिशत पूँजी या इसके लगभग पूँजी की माँग करते हैं । निजी उधारदाता या लोक-उधारदाता बोर्ड भी जमानत के मूल्य में अधिक उधार नहीं दे सकता । ये उधारकर्ता चाहते हैं कि जिन वस्तुओं पर वे धन रखें वैसे उन्हें भी जमानत में सम्मिलित समझा जाना चाहिए । लेकिन किन्हीं वस्तु का जमानत मूल्य उमकी लागत के बराबर नहीं हो सकता । यदि कोई मशीन १००० पीण्ड में खरीदी जाए तो उमके लगाए जाने के साथ ही उमना पण्य मूल्य गिरना शुरू हो जाता है । अतः कोई भी उधारदाता निजी मशीन की जमानत पर उस मशीन की कीमत के आधे में ज्यादा धन बढ़ाचिक्की उधार देगा । इसका अर्थ यह है कि भावी उधारकर्ताओं को अपने पास कुछ निजी धन या पण्य परिगम्पत्ति रखनी चाहिए, जिसे वे उन वस्तुओं के अलावा खरीदी के रूप में रखें जो ऋण के धन में खरीदी जाती हों । कम विकसित देशों में इस प्रयोजन के लिए प्रायः जमीन और गहना को काम में लाया जाता है, क्योंकि यही दो ऐसी पण्य परिगम्पत्तियाँ हैं जो सामग्री में लोगों के पास होती हैं (बड़े शहरों को छोड़कर अन्य स्थानों के मकान प्रायः धूल का भराव होते हैं और उनका पण्य मूल्य बहुत कम होता है) । जिन लोगों के पास खुद की जमीन नहीं होती उनको ऋण दे पाना और भी कठिन होता है, और इसलिए ऐसे देशों में जहाँ किसानों के पास अपनी जमीन नहीं होती वस्त्र के कारखाने के रूप में या बँटवाई पर ग्रेनी करके हैं, सरकारी समितियों द्वारा उधार दी गई प्रति-व्यक्ति राशि उम स्थिति की सुधना में

बहुत घोड़ी होती है जब किसानों के पाम देहन ग्वने के लिए अपनी निजी भूमि हो। इस समस्या का एक हल अमीमिन देयता वाली महकारी ममिनि है। अपनी जग्मभूमि (जमनी) में ऐसी ममिनियां सम्भवत बाड़ी सफन ग्ही, परन्तु कम विकसित देशों में इन्हें अधिक सफनता नहीं मिली, क्योंकि किसान एक-दूसरे के ऋणों का अमीमित उत्तरदायित्व संभालने के लिए तैयार नहीं होत। दीर्घकालीन दृष्टि से इसका सबसे उत्तम हल यही है कि किसानों को अपनी-अपनी जमीनों का मालिक बना दिया जाए।

सरकारी वित्त की एक विशेष कठिनाई यह है कि यह सामान्यतया पूंजी नहीं देना बल्कि ऋण देता है, क्योंकि जब तक सरकार के पास निजी पूंजी बाजार में अपने उधार पर पुन वित्त लेन की सुविधाएं न हों, तब तब वह धन की कमी के कारण अपने धन का चक्रवर्ती आधार पर प्रयोग करने के लिए बाध्य रहती है। ऋण और पूंजी का यह भेद धन की वापसी पर आधारित है। यदि शेषर जारी करके किसी कारबार में पैसा लगाया जाता है तो शेषरों को रकम वापस नहीं करनी होती, अतः निजी उपभोग की जरूरतों को पूरा करने के बाद बचे हुए लाभ की सारी राशि कारबार बढ़ाने में लगायी जा सकती है। इसके विपरीत यदि किसी कारबार में डिबेंचर या बन्धक के आधार पर उधार लेकर धन लगाया गया हो, तो कंपनी लाभों को पहले ऋण की अदायगी के लिए अलग रखना पड़ता है। सरकारी वित्त मस्यान सामान्यतया अपने ऋण की अदायगी की आशा करते हैं ताकि एक कारबार की जट जम जाने के बाद वहां से वापस मिला धन किसी अन्य मस्या में लगाया जा सके। लेकिन यदि किसी प्रयं को ठीक ऐसे समय पर पैसा वापस करना पड़ जाए जब कि वह बाजार में अपनी जड़ें मजबूत कर रही हों, तो उसके विकाम में स्तब्ध आ सकती है। यह अवश्य है कि मभी निजी कारबार स्थायी साभेदार के रूप में सरकारी मस्यान को इसलिए पसन्द नहीं करते कि उनके ऊपर ऐसे मस्यान मक्ष ही कड़ी नजर रखते हैं। लेकिन कुछ कारबार उधार की वापसी में अधिकाधिक दलीन पसन्द करत हैं, जबकि कुछ अन्य कारबार ऐसे भी होते हैं जो मस्यान से सम्बन्धित होने के कारण मिलने वाले मरक्षण या मस्यान को बनाए रखना अच्छा समझते हैं। यदि भविष्य में लोक-व्ययों का काफी बड़ा हिस्सा (और साथ ही बाह्य विन भी) सरकारी कोष में पड़ेंच जाए तो सरकार के वित्त-मस्यानों को प्रतिवर्ष अधिकाधिक धन मिल सकता है, और तब से मस्यान ऋण के म्यान पर अधिकाधिक पूंजी दे सकते हैं।

सरकारी वित्त-मस्यानों की तुलना में निजी वित्त-मस्यानों का महत्व सदैव बढतना रहता है। एक मनादी पूर्व यह बात पूर्णत सर्वमान्य थी कि वित्त का मामला निजी मामला है और सरकार केवल उपायकर्ता के रूप में बाजार में अपनी

थी। उमके बाद, जिन वर्गों की उन्नत आ तरिक पूंजी बाजार मे पर्याप्त रूप मे पूरी नही हो पाती थी उनके लिए वित्त का प्रबन्ध करने का काम सरकार ने अपने ऊपर ले लिया, और आजकल मसार के सबसे धनी देश अमरीका मे भी विदेश प्रवार के देसी और विदेशी उधारकर्ताओं की उन्नतें पूरी करने के लिए सरकारी वित्त-मस्थानों का जाल बिछा हुआ है। इसके साथ ही यदि हम बचनों पर बाराधान के प्रभाव को भी लें—चाहे य प्रभाव बचनों के निजी से लोक-नियन्त्रण मे आने के रूप मे हो या समुदाय का अधिकाधिक बचन करने के लिए बाध्य करने के रूप मे हा—तो हम जान सकते हैं कि विश्वाम के सभी स्तरों पर आज सरकार निवेश के लिए धन की व्यवस्था करने का महत्वपूर्ण साधन बयो बन गई है। इसके साथ ही यदि हम इस तथ्य को भी सम्मिलित कर ले कि प्रयोग्य आय मे से व्यक्तिव बचने बहुत थोड़ी होती है, और अधिकांश व्यक्तिव बचतें बीमा-न्यूनियों गृह निर्माण-समितियों और अन्य मास्थानिक निवेशकर्ताओं के पास चली जाती हैं तो हम देख सकते हैं कि एक शताब्दी पहले की अपेक्षा जबकि हर बचतकर्ता एक पृथक् उन्नतदाना से मिलना था और उमके साथ थोड़े तय करता था आज निर्येण व्यक्तिव मस्थाननिष्ठ बयो हो गया है। यह जान आज भी उतनी ही महत्वपूर्ण है कि बचन करने वालों को बचन करनी चाहिए और निर्येणकर्ताओं को निर्येण करना चाहिए, परन्तु जहाँ ये दाना अलग-अलग व्यक्तिव होतें हैं, वहाँ अब इनके बीच बड़ी के रूप मे अधिकांशत कोई निजी या सोश-विश्व-मास्थान होता है।

(ख) मोड—जब कोई देश एक बार अपनी राष्ट्रीय आय का निवल १० प्रतिशत निवेश करने लग जाता है और इसी के अनुकूल उमके दृष्टिकोण और मस्थान बन जाते हैं, तो यह बड़ी आसानी से जाना जा सकता है कि वह देश इतना निवेश किस प्रकार जारी रखता है। अधिकांश विश्वाम के प्रयोग मे चकरा देने वाली समस्याएँ विश्वाम का आरम्भ और अन्त है ५ प्रतिशत या इससे भी कम निवेश करने वाला कोई देश अंगे आगे बढ़ता है या विश्वाम की बाद की अवस्थाओं मे निवेश मे दीर्घकालीन बमी बयो पैदा हो जाती है, अब इसी की चर्चा की जाएगी। सबसे पहले हम स्वरण की अवस्था को लेते हैं।

स्वरण शुरू होने के साथ प्रवृत्तियों और सामाजिक मस्थानों मे होने वाले परिवर्तनों के सम्बन्ध मे हम पहले कुछ चर्चा कर चुके हैं और अन्तिम अध्याय मे हम पर और अधिकांश चर्चा करेंगे। इस लक्ष्य मे हम इस मामले के एक अधिकांश भूमिगत पहलू पर अर्थात् अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न एक ही क्षेत्र मे स्वरण आरम्भ करने की बटिनाई पर चर्चा करेंगे।

इस बटिनाई का पहला कारण यह बताया जा सकता है कि धन का प्रवाह तब तक पूर्णतः नहीं होता जब तक कि धन देने वाले धन देने वाले

कर दें। उन स्थिति पर विचार कीजिए जबकि कोई नया उद्यमकर्ता नोट नया कारखाना गुरु करके लोगों को काम-धन्यता देना है, जिसमें देश में रोजगार का स्तर पहले की अपेक्षा बढ जाता है। लोगों को रोजगार देने और अन्य उत्पादकों में वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने में नया उद्यमकर्ता धन का संचयन करता है और ऐसा करते समय वह यह ध्याना करता है कि उसका धन फिर उनके पास वापस आ जाएगा। परन्तु क्या उसका धन उसे वापस मिलता है? इस बात की सम्भावना बहुत ही कम होती है कि जिन व्यक्तियों को वह धन देना है, वे तुरन्त आकर उनीस वस्तुएँ खरीदने में उस धन का उपयोग करेंगे। व्यवहार में, वे लोग उन धन का कुछ भाग दूसरे लोगों में वस्तुएँ खरीदने में खर्च करते हैं और फिर वे लागू उम धन का एक भाग उपयुक्त नये उद्यमकर्ता की वस्तुएँ खरीदने में खर्च करते हैं। यदि सारी आय खर्च कर दी गई हो तो गुणक प्रक्रिया लागू हो चुकने पर धीरे-धीरे उसे अपना सारा धन वापस मिल जाएगा। परन्तु वास्तव में सारी आय संचयन में वापस नहीं पहुँच पाती; आय पाने वाले उसका कुछ भाग आयत की गई वस्तुएँ खरीदने में खर्च कर देते हैं, कुछ भाग करों के रूप में सरकार के पास चला जाता है और कुछ बचाकर रख लिया जाता है। अतः कोई भी नया उद्यमकर्ता केवल उन माँग पर निर्भर नहीं रह सकता जो उनके द्वारा दिये गए रोजगार से प्रत्यक्ष रूप से पैदा होती है। उन्हें दूसरे लोगों द्वारा पूरी की जा रही माँग के कुछ अंश को अपनी ओर खींचना पड़ता है। यदि यह देश के भीतर किसी वस्तु की माँग का मामला हो, तो नये उद्यमकर्ता में कोई नयी वस्तु बाजार में लाकर, या अधिक मुविधाजनक या आकर्षक सेवा देकर, या उत्पादन की किसी नयी टेक्नीक की सहायता से कम कीमत पर माल देकर अन्य लोगों के आह्वानों को अपनी ओर खींचने की सामर्थ्य होनी चाहिए, अर्थात् वह किसी नवीन प्रक्रिया का प्रवर्तक होना चाहिए। यदि यह विदेशी माँग का मामला हो, तो उसमें निर्यात के जरिए विदेशी माँग पर बढा करने की योग्यता होनी चाहिए।

इस प्रकार, आर्थिक क्रिया के निम्न स्तरों पर विदेशी बाजार के लिए उत्पादन आरम्भ करने से देश प्रायः आर्थिक विकास के मार्ग पर आ जाता है। इस अवस्था में घरेलू बाजार के लिए उत्पादन करके आगे बढ़ना आर्थिक बलि होना है। अब तक कि कोई नवीन प्रक्रिया नहीं निकाली जाती तब तक देश के भीतर की संपत्त के लिए और उत्पादन करना अत्यन्त प्रद हाता है, क्योंकि बड़े हुए उत्पादन की किसी से प्राप्त होने वाली अनिश्चित राशिवाँ उत्पादन-व्यय के बराबर तब तक नहीं हो पाती जब तक कि किसी दूसरे उत्पादक में छीनकर माँग अपने बज्र में न की जा सके और इसके लिए किसी नवीन प्रक्रिया के प्रवर्तन की आवश्यकता होती है। विकास के निम्न स्तरों

पर धरतु खपत के दिग सामान्यतया हिमी नवीन प्रतिया की रोज नही की जाती । नवीन प्रतिया में खेच नयी टेकनीकों की ही जल्द नही पटनी, जो कि विराग के इन स्तरो पर सामान्यतया विदग में छाती है बकि उमरे प्रथिग महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि एमी अग्रस्था म सामान्यतया सामाजिक वातावरण उन तागों के अनुसृत नही हाता जा अपन मायी उन्पादकों के बाजार के कुछ भाग को उनमे छीनकर उन कमान का प्रयान करत है । अत नवीन प्रतिया सामान्यतया सबसे पहन विदेगी व्यापार म लाग जाती है । इसका एन कारण तो यह है कि विदेगी ही नये विचार जान है और दूसरा कारण यह है कि देगी व्यापार में मघप करना समुदाय की नजर म अच्छा नही समभा जाता ।

सोमान्त आय में मे खर्च कम हान की बात जिन पर अगत यह तन आयागित है, प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था की यजाय गतिशील अर्थ-व्यवस्था में सम्बन्धित है । खयाल यह है कि सोमान्त आय का ता भाग बचन, करो की अदायगी और अत्यानों के भुगतान में निरत जाता है उगरी पूति अतिरिक्ता निवेग, सरकारी खर्च, या निर्यात की आय में उगी मात्रा में नही हो पाती, या अगर होती भी है तो इसमें काफी समय लग जाता है । इसमें विपरीत एक बार जब अर्थ-व्यवस्था प्रगति की आर उन्मुग हो जाती है तो निवेग सरकारी खर्च और निर्यात में अपने ही वन पर बहन की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है और बचने, कर और आयान पीछे रह जाते हैं । प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था में स्पीति की स्पूट प्रवृत्ति होती है, चाहे वह मामूली गो हो या उगके बीच-बीच में अयस्त्रीति के अन्तरालीन गरुट घान हो । और खूति स्पीति पूंजी-पतियों को गुननिवेग के लिए लाभ देकर और प्रेरणा के लिए उनके सामने बड़े-बड़े लाभो का प्रतीजन प्रस्तुत करके निवेग को बढ़ावा देती है अत प्रगति के मार्ग पर प्रवृत्त अर्थ व्यवस्था बराबर आग बढ़ती जाती है । इसमें विपरीत गतिरुद्ध अर्थ-व्यवस्था में गतिरुद्ध बन रहन की प्रवृत्ति होती है । यही निवेग, निर्यात और सरकारी खर्च निरिक्त रूप में घण्ट हो वन पर नही बढ पाते । अत जेन नये खर्च का कुछ भाग बचन, आयानो या सरकारी राजस्व में खता जाता है तो मार्ग की तुलत कमी के कारण वास्तव की गतिविधियों में मन्दी आ जाती है, चाहे उगके परिणामस्वरूप बाड में कभी निवेग, निर्यात और सरकारी खर्च बढ जाते । ऐसी अर्थ-व्यवस्था की यजाय जिनमें निवेग बचन का देगकर होता है, निर्यात आयान का अनुकरण करते हैं, या खर्च राजस्व को देगकर लिया जाता है, वास्तव उम अवस्था में अतिरिक्त खनता-पुनता है जब बचनों म निवेग के बराबर, आयानो में निर्यातों के बराबर, या राजस्व म सरकारी खर्च के बराबर होने की प्रवृत्ति होती है ।



परन्तु जिन अर्थ-व्यवस्था में सीमान्त मांग की कमी की चिरकालीन प्रवृत्ति नहीं होती, और जो नवीन प्रक्रिया तथा घरेलू बाजार में प्रतियोगी सतर्पण के बहुत-कुछ अनुकूल होती हैं, उसके सामन भी एक अन्य कठिनाई यह होती है कि यदि अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की प्रगति उचित अनुपात में न की गई तो उनमें से कोई भी क्षेत्र उन्नति नहीं कर सकेगा। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि घरेलू सपन के लिए साधानों का उत्पादन करने वाले कृषि-क्षेत्र में पर्याप्त नवीन प्रक्रिया लागू की गई है। इसका परिणाम यह होता है कि या तो गहरा म बचन के लिए साधानों की बेगी हो जाती है अथवा कृषि-क्षेत्र राश्ट्रगार टूटन वाल कृषि-श्रमिकों की बेगी हो जाती है, या फिर दोनों का मिला-जुला रूप सामन आता है। यदि विनिर्माण-उद्योग का भी इसके साथ ही और ठीक दर से विकास हो रहा हो तो वह बेगी बन्दुएँ और बेगी श्रमिक, दोनों का बचा सकता है। परन्तु यदि ऐसा न हुआ तो व्यापार-गर्त कृषि के प्रतिकूल हो जाएँगी, फ़ार्म-श्रमिकों और फ़ार्म-उत्पादकों की बेगी हो जाने के कारण कृषि में होने वाली आमदनियाँ कम हो जाएँगी, और इस क्षेत्र में और अधिक निवेश या नवीन प्रक्रिया की सम्भावनाएँ कम हो जाएँगी। यदि इस प्रक्रिया के फलस्वरूप किमान अपेक्षाकृत निर्धन होने की वजह धनी हो जाएँ तो वे अधिकाधिक मात्रा में आयात बन्दुएँ खरीदेंगे, जिसके कारण तब तक अवस्थिति फैलती जाएगी जब तक या तो आयातों की स्थानापन्न बन्दुएँ देश में बाज़ी मात्रा में न बनने लगेँ या निर्यातों में समुचित वृद्धि न हो जाए। यदि अन्य क्षेत्रों का विकास भी समुचित मात्रा में न हो रहा हो तो अर्थ-व्यवस्था के किसी एक क्षेत्र में ही नवीन प्रक्रियाओं के समावेश की अधिक सम्भावनाएँ नहीं होती।

यदि कृषि की उपशा करके आर्थिक विकास को केवल उद्योगीकरण पर केन्द्रित किया जाए तो भी बिलकुल वैसी ही कठिनाइयाँ पैदा होंगी जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। हम में ऐसा ही हुआ था। ऐसा करने पर कृषि-उत्पादों का निरान्त अभाव हो जाता है, उनकी कीमतों में स्थिति हो जाती है, और साथ-साथ अन्य वस्तुओं की कीमतें भी बढ़ जाती हैं। विनिर्मित वस्तुओं की लागत पर बचपान में भी कठिनाई होने लगती है। यदि किसानों की वास्तविक आय बढ़ती है, तो फैक्टरी के मजदूरों की वास्तविक मजदूरी भी उनके साथ ही बढ़ती है, जब कि फैक्टरी के उत्पादों की कीमतें अपेक्षाकृत कम ही रखी गई होती हैं। इनके दबाव, यदि किसानों की वास्तविक आय कम रहती है, तो वे विनिर्मित वस्तुएँ नहीं खरीद पाते, और ऐसी स्थिति में विनिर्मित वस्तुएँ तब तक लाभ के साथ नहीं बेची जा सकती जब तक कि उनके लिए विदेशी बाजार तैयार न किया जाए, या जब तक कि सरकार पंजी-

निर्माण और रक्षा के लिए बेसी विनिर्मित वस्तुएँ न खरीद ले, जैसा कि इस की सरकार न किया था। परन्तु ऐसी अर्थ-व्यवस्था में, जिसमें विमानों की आय बढ़ न रही हो, इन सरकारी अर्थों के लिए वित्त का प्रबंध करने की समस्या पैदा हो जाती है। यह ध्यान भी बचत के उम विश्लेषण से सम्बन्धित है जिसकी चर्चा हम खण्ड २ (ख) में कर चुके हैं। यदि वृत्ति में गतिरोध उत्पन्न हो जाए तो पूँजीगत क्षेत्र विकसित नहीं हो सकता, पूँजीगत लाभ राष्ट्रीय आय का एक छोटा-सा भाग बना रहता है और इसके साथ ही बचत और निवेश भी कम रहते हैं। निर्वाण आयिक विकास के लिए जरूरी है कि वृत्ति और उद्योग दोनों का साथ-साथ विकास हो।

यदि हम अर्थ-व्यवस्था को तीन क्षेत्रों में विभाजित मान लें, अर्थात् घरेलू बाजार के लिए वृत्ति-उत्पादन को 'क', घरेलू बाजार के लिए विनिर्माण-उत्पादन को 'ब', और निर्यात के लिए उत्पादन को 'न' मान लें तो इस सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट ढंग में व्यक्त किया जा सकता है। यदि 'ब' का विस्तार होता है तो 'क' के उत्पादों की माँग बढ़ जाएगी। यदि 'ब' का बड़ा हुआ उत्पादन आयात की वस्तुओं का स्थान ले ले तो इस प्रकार बची हुई विदेशी मुद्रा (ब) के आयातों का भुगतान करने के काम में लाई जा सकती है। यदि ऐसा न हो, और यदि 'ब' गतिहीन रह जाय कि 'ब' का विस्तार हो रहा हो, तो या तो 'क' की कीमतेँ बढ़ जाएँगी, या आयात बढ़ जाएँगे, जिससे भुगतान-क्षम में घटा हो जाएगा और इन दोनों में से किसी भी बात से 'ब' का विस्तार रूक जाएगा। हाँ, बढ़ती हुई माँग को 'न' की वृद्धि करके पूरा किया जा सकता है, जिससे आयातों का भुगतान करने के लिए विदेशी मुद्रा मिल जाएगी। अतः 'ब' के विस्तार के साथ-साथ या तो 'क' या 'न' का बढ़ना आवश्यक है, या आयात वस्तुओं की स्थानापन्न वस्तुएँ तैयार करना जरूरी है। इसी प्रकार 'क' के विकास के साथ-साथ या तो 'ब' या 'न' में वृद्धि होनी चाहिए, या आयातों को जाने वाली वस्तुओं के स्थानापन्न का उत्पादन किया जाना चाहिए। केवल 'न' ही बिना किसी बाधा के अनेक विकल्प कर सकता है चाहे 'ब' या 'क' में से किसी का विकास न हो रहा हो। इसका कारण यह है कि निर्यात के विकास के कारण उत्पन्न माँग को आयातों द्वारा पूरा किया जा सकता है जिनका भुगतान निर्यातों से कमाये गई विदेशी मुद्रा से किया जा सकता है। जैसा कि हम अभी देखेंगे, यह भी एक कारण है कि चाहे विनिर्मित वस्तुओं का मामला हो या आयातों का, विकास सामान्यतया निर्यातों के साथ प्रारम्भ होता है, न कि घरेलू बाजार के लिए उत्पादन के साथ, और यही कारण है कि आन्तरिक उपभोग के लिए उत्पादन में पिछड़ा होने पर भी कोई देश निर्यात-उद्योगों की मूल उत्पत्ति कर सकता है।

यदि हम पिन्हाण निर्विदेश व्यापार-व्यवस्था की ही बात को लें, तो जहाँ यह उम्मीर है कि विनिर्माण-उद्योग और कृषि दोनों का माय-माय विकास हो, वहाँ यह उम्मीर नहीं है कि शाना व विकास की गति समान हो। विनिर्मित वस्तुओं की मांग की आय-सापेक्षता ट्वाट में अधिक होती है, जबकि खाद्यान्न की मांग की आय-सापेक्षता ट्वाट में कम होती है। सेवाओं की मांग की आय-सापेक्षता विनिर्मित वस्तुओं की मांग की आय-सापेक्षता से भी अधिक होती है। अतः आर्थिक विकास के माय-माय कृषि उत्पादन को अपेक्षा विनिर्मित वस्तुओं के कुल उत्पादन में अधिक नहीं से वृद्धि होनी चाहिए, और सेवाएँ और भी अधिक तजी से बटनी चाहिए। किसी निर्विदेश व्यापार-व्यवस्था में विनिर्माण-उद्योग और कृषि व 'माय-माय' या 'उच्च दर से' या 'मनुलिन टग से' विकसित होने की बात करने समय हम जिन दरों का उल्लेख करते हैं वे समुदाय की विनिर्मित वस्तुओं की तुलना में कृषि-उत्पादों की सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति द्वारा निर्धारित होती हैं। विदेश-व्यापार वाले अर्थ-व्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक जटिल होती है, क्योंकि उसमें आन्तरिक उपभोग के लिए विनिर्मित वस्तुओं के विकास का मनुलन कृषि-उत्पादन के विकास के स्थान पर निर्यात के लिए विनिर्मित वस्तुओं के साथ किया जा सकता है। 'विनिर्मित वस्तुओं' की जगह 'कृषि' कहने पर भी यह तर्क ठीक बैठता है। अतः व्यवहार में हमें आयातों, निर्यातों, विनिर्माण और कृषि, सबके बीच मनुलन बनाए रखना होता है, न कि उनमें से किसी से के बीच।

यह तथ्य कि विनिर्मित वस्तुओं को बढ़ने हुए निर्यात का सहारा हो तो विनिर्माण-उत्पादन के विस्तार के लिए कृषि-उत्पादन के विस्तार की आवश्यकता नहीं होती, ऐसे जनाधिक्य वाले देशों के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण है जिन्हें भरसक प्रयत्न के बावजूद अपनी खाद्य को उम्मीर के मुना-विक अपना कृषि-उत्पादन बढ़ा पाने की आशा नहीं है। ऐसे देशों में उद्योगीकरण किसी भी दृष्टि से कृषि-विस्तार पर निर्भर नहीं होता, यद्यपि यह सत्य है कि उन्हें कृषि-उत्पादन पर बहुत अधिक ध्यान देना चाहिए। अतः इन देशों को अपनी विनिर्मित वस्तुओं के लिए निर्यात-बाजार बढाने की और अधिक ध्यान देना चाहिए, क्योंकि अन्ततः उनके निर्यात की वृद्धि-दर से ही उनके आन्तरिक विकास की सीमा निर्धारित होती है। ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था इसका एक स्पष्ट उदाहरण है। वहाँ औद्योगिक शक्ति के माय-माय कृषि-शक्ति भी हुई, परन्तु आन्तरिक मांग शीघ्र ही कृषि उत्पादन की क्षमता से अधिक हो गई, इनके बावजूद नैपोलियनो युद्ध के अन्त से अमरीकी गृहयुद्ध आरम्भ होने तक ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था के विकास की गति केवल इसलिए बढ़ती गई कि ब्रिटेन का विनिर्माण वस्तुओं का निर्यात ६ प्रतिशत प्रतिवर्ष की

सचयी दर में बढ़ रहा था। इसके विपरीत गत ८० वर्षों में श्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षाकृत बहुत धीमी प्रगति का कारण सम्भवतः यही रहा है कि नयी विदेशी प्रतियोगिता का सामना होने पर भी श्रिटेन काणि-बाल तथा मरुपना निर्यात २ प्रतिशत प्रतिवर्ष में अधिक नहीं बढ़ा गया। श्रिटेन जापान या भारत-जैसे जनाधिक्य वाले देशों में विनिर्माण-उत्पाण की वस्तुओं के निर्यात की वृद्धि-दर उनके आन्तरिक विकास की गरम मरुत्वपूर्ण सीमा हो सकती है (इसकी सचयी हम अगले अध्याय में करेंगे)। इन देशों का गर प्रकार में मरुपना वृधि-उत्पादन बढ़ाया जा भी प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि जितना ही अधिक वे मरुपना वृधि-उत्पादन बढ़ाएँगे उतना ही कम उन्हें मरुपने विनिर्माण उत्पादन को विश्व-बाजार में गणाने पर निर्भर रहना होगा।

व्यवहारगत सर्वाधिक पिछड़ी अर्थ-व्यवस्थाओं में जिन क्षेत्र में सामान्यतया अन्य क्षेत्रों के साथ-साथ विकास करने की गरम गरम प्रवृत्ति होती है और इगलिस जो हर प्रकार के आधिक विकास के मार्ग में बाधा होता है, वह देश के भीतर उपभोग के लिए आद्यान्त पैदा करने वाला वृधि-क्षेत्र है। इसका कारण यह है कि जब वृधि छोटे-छोटे विभागों के साथ में ही नयी प्रतिया का सामू करना निजी उद्यमकर्ताओं की अपेक्षा सरकारी गरम पर अधिक निर्भर होता है। यदि अन्य क्षेत्रों में, जैसे विनिर्माण-क्षेत्र में गरम बढ़ जाती है तो कुछ निजी उद्यमकर्ताओं को स्वयं उद्य क्षेत्र में प्रवेश करने की प्रेरणा होती है। पर विभागों को उत्पादन बढ़ाने के लिए मरुप लेगे उपाय गरम होने हैं जो अनिवार्यतः सरकारी क्षेत्र में होते हैं, जिनमें गरम अधिक गरम वृधि-अनुसंधान और वृधि-विस्तार पर, गरम पर, गरम की जल-व्यवस्था पर, और वृधि-उधार-मुविभागों आदि पर करना जाता है। जापान का अनुभव बताता है कि इन गरमों पर सरकार द्वारा किये गए गरम का विभागों के उत्पादन पर बड़ा सकारणी प्रभाव पड गया है (वही सीम यों में प्रतिशक्ति उत्पादन हुआ हो गया), और वृधि अन्य क्षेत्रों में पिछड़ी रहने और क्षेत्र अर्थ-व्यवस्था के मार्ग में बाधा बनने के बजाय अन्य क्षेत्रों के लिए गरम पैदा करने और उनके लिए पूँजी का प्रदान करने गरम की अर्थ-व्यवस्था का नेतृत्व कर सकती है। परन्तु अधिकांश ऐसे देशों की सरकारों ने वृधि की उपेक्षा की है, जिनका परिणाम यह हुआ है कि अन्य क्षेत्रों के विकास की गरम भी कम रही है। श्रेष्ठ श्रिटेन की गरमना में काम की, या जापान की गरमना में सीम की अर्थ-व्यवस्था के अपेक्षाकृत अधिक गरमों के जो कारण बताए जाते हैं उनमें गरम बुनियादी कारण मुझे यही लगता है कि इन देशों में वृधि उत्पादन की वृद्धि-दर अपेक्षाकृत कम रही है। अगर गरम मरुपनी गरम प्रगमना के लिए आद्यान्त का उत्पादन करना चाहे तो उसे गरम भी मरुपनी गरम गरम-

नर्या के एक-चौथाई भाग को वृष्टि में नगान को उररत है, जबकि अन्य सर्वा-  
त्रिक उन्नत दशा को अपनी जनमख्या का १० से १५ प्रतिशत तक लगाना ही  
बाफी होता है ।

नवीन प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न धरनु बाजार को ५ कमियाँ—चाहे  
व कुल भाग में हा या महत्त्वपूर्ण क्षेत्र की सापक्ष प्रगति में हा, या बाजारों  
को हृदियान व लिए प्रतियोगी सघर्ष की प्रवृत्तियाँ के रूप में हैं—यह बताती  
है कि किसी अर्थ-व्यवस्था का प्रगति के भाग पर लाकर खटी करने का भार  
प्रायः विदेशी व्यापार का ही क्या उठाना पडता है । निर्यात के लिए उत्पादन  
अन्य क्षेत्रों में ममुद्धित रूप से बटती हुई माँग पर निर्भर नहीं होता, इसमें  
दश के भीतर प्रतियोगी सघर्ष नहीं पैदा होता, क्योंकि आरम्भिक अवस्थाओं  
में विद्व की कुल माँग किसी एक दश के पृथक्-पृथक् उत्पादकों के उत्पादन  
की तुलना में नहीं अधिक होती है, और न यह देश के भीतर प्रभावी माँग  
पर ही निर्भर होता है, बल्कि निर्यात अन्य वस्तुओं की नयी प्रभावी माँग पैदा  
करते हैं, और इस प्रकार दशों स्वतन्त्र के लिए उत्पादन करनेवाले सभी उद्योगों  
को बढ़ावा देते हैं । निर्यात अन्व प्रकार से भी देश के भीतर के उद्योगों को  
बड़ावा देते हैं । निर्यात उद्योगों के लिए जुटाये गई कुछ सुविधाएँ, जैसे नकार,  
प्रशिक्षण-सुविधाएँ, या इजाजतियगी सेवाएँ देश के भीतर के उद्योगों के भी काम  
आती हैं, इनके अलावा निर्यात उद्योग देश के भीतर के उद्योगों के उत्पादन की माँग  
बढाने के साथ-साथ उनके अर्थिक भी अपनी ओर खीच लेते हैं, जिनके फलस्वरूप  
इन उद्योगों की अपनी उत्पादकता बढाने हेतु नवीन प्रक्रियाएँ ढूँढने के लिए बढ़ावा  
मिलता है । उन्नीसवीं शताब्दी के अर्थ-शास्त्रियों, जैसे मायथल और लिस्ट ने  
जब आर्थिक विकास का श्रीगणेश करने में विदेश-व्यापार के महत्त्वपूर्ण योग  
पर जोर दिया तो उन्होंने आयात और निर्यात, दोनों की भूमिकाओं को समान  
महत्त्व दिया था । उनका विचार था कि आयात नयी-नयी रचियाँ पैदा करने  
हैं, जिसके फलस्वरूप काम के लिए नयी ऊर्जा और उपलब्ध साधनों का नवी-  
नम उपयोग करने की शक्यता उत्पन्न होती है, ताकि नयी वस्तुएँ खरीदने के  
लिए अनिश्चित आय उपलब्ध की जा सके । आयातों का यह प्रभाव ऐसे देशों  
में अवश्य पडता है जहाँ ज्ञान उपनोक्ता वस्तुओं में विविधता न होने के कारण  
लागों में उपभोग के प्रति आकर्षण रह जाता है और नाली बँटे रहने की प्रवृत्ति  
बढती जाती है । परन्तु जिन देशों में यह प्रभाव उल्लेखनीय नहीं होता वहाँ भी  
विदेश-व्यापार निर्यात के लिए उत्पादन बढाने के प्रभावों के माध्यम से सम्पूर्ण  
आर्थिक वातावरण को बढाव देता है ।

विकास की आरम्भिक अवस्थाओं में विदेशी व्यापार का बड़ा महत्त्व  
होता है, अतः इस अवस्था में नैतन्त्र सामान्यतया विदेशी उद्यमकर्ताओं के हाथ

मे रहता है। हो सकता है कि देश के उद्यमकर्ता निर्यात के लिए किसी उद्योग का विकास करे, या बाजारों को साज में देश के बाहर जाएँ। पर अधिकांश-तया ऐसे विकसित देश ही सान्नाई के शोका की खोज में अपने वाणिज्यदूत बाहर भेजते हैं जिनका उपभोग बढ रहा होता है। इसके अलावा, अधिक विकसित देशों के उद्यमकर्ता उत्पादन, या विपणन, या परिवहन-सम्बन्धी टेक्नीकों के बारे में कुछ सीखी जानें जानते हैं जिनके कारण वे कम विकसित देशों के उद्यमकर्ताओं की तुलना में अधिक लाभजनक स्थिति में होते हैं। पर कुछ समय बाद जब देश के उद्यमकर्ता उन टेक्नीकों को सीख लेते हैं और अपनी सहायता भी बढा लेते हैं तो अपने हाथों देश के उद्योग चलाने में उन्हें कम खर्च की सुविधा के बल पर विदेशी उद्यमकर्ताओं को निकाल बाहर करत है। चाहे कोई चौदहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी के बीच निचले देशों (हालैंड आदि) के प्रसंग में ब्रिटेन के आर्थिक इतिहास का अध्ययन करे, या उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम २५ वर्षों के जापानी इतिहास के पन्ने पलटे या श्रीलंका के हाथ के विकास का इतिहास द्ये, उसे खगभय यही बात दगने की मिलेगी।

यद्यपि निर्यातों का विस्तार आर्थिक विकास आरम्भ करने का सबसे सरल उपाय है, पर निर्यात पर अत्यधिक जोर देना उतना ही अलाभप्रद है जितना किसी अन्य क्षेत्र पर अत्यधिक जोर देना। इसके फलस्वरूप आयात-निर्यात स्थिति प्रतिकूल हो जाती है। यदि खाद्य का उत्पादन करने वाले किसानों की उत्पादकता बढाने के लिए कुछ भी न किया जा रहा हो तो कृषि-मजदूर शानों, बागानों, या अन्य निर्यात-उपक्रमों में सस्ती मजदूरी पर काम करने के लिए उपलब्ध होने लगते हैं। उष्ण कटिबंध के कम विकसित देशों पर यह बात खूब लागू होती है, और इसी कारण चाय, कपास, निलहन, तथा विभिन्न मनिज उत्पादन आदि वाणिज्यिक वस्तुएँ औद्योगिक देशों को बड़ी लाभप्रद शर्तों पर मिल जाती हैं। इन वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए जहरी मजदूर बहुत सस्ती मजदूरी पर मिल जाते हैं, क्योंकि यदि मजदूर इतने कम पैसों पर काम न करें तो उन्हें गार्गान् उपजाने वाले कृषि-कार्मों पर काम करना होगा, जहाँ प्रति व्यक्ति उत्पादकता बहुत ही कम होती है। जब तक किगानी फार्मा की उत्पादकता कम रहती तब तक विश्व के कम-शीतोष्ण देशों को उष्ण-कटि-बंधीय मजदूरी की सेवाएँ बहुत सस्ती मजदूरी पर मिलती रहतीं। इसके अलावा एक बात यह है, निर्यात के लिए तैयार की गई फसलों की उत्पादकता बढ जाने पर भी उगमें में मजदूरी को कोई हिस्सा नहीं देना पटना, और वस्तुतः सारा लाभ औद्योगिक उपभोक्ताओं के लिए खर्चों कम करने में लगा दिया जाता है। मना-उत्पादन शकता एक मुद्दर उदाहरण है। यह एक ऐसा

उद्योग है, जिसमें मेशिन को देने के लिए उत्पादकता बहुत अधिक होती है। माघ ही, इस उद्योग में पिछले मन्त्र वर्षों के दौरान प्रति एकट उत्पादन लगभग तीन गुना हो गया है। वृद्धि की यह दर मन्त्र के किसी अन्य मुख्य कृषि-उद्योग में देने में नहीं आती—नेह उद्योग में तो निश्चित रूप से नहीं। पर गन्ना-उद्योग के मजदूर अब भी नये पैर चलते हैं और मामूली नौकरियों में रहते हैं जबकि गहरे पैदावान ज्ञान मजदूरों के रहन-सहन का स्तर मन्त्र के उच्चतम स्तर में है। गन्ना-उद्योग की उत्पादकता चाहे कितनी ही बढ़ जाए परन्तु उसका लाभ मुख्य रूप से उपभोक्ताओं को ही मिलता है। उदाहरण के लिए दूध की दूध (जो औद्योगिक देशों के लिए लाभ है) इसलिए उत्पन्न होती है कि उनके आर्थिक विकास में अर्थ-व्यवस्था के निर्यात-क्षेत्र पर सबसे अधिक जोर दिया गया है, और विदेशी उपभोक्ताओं व विदेशी पूंजी को मुख्य रूप से निर्यातों का विस्तार करने के काम में ही लगाया गया है। इसका परिणाम यह है कि इन देशों से निर्यात होने वाला माल औद्योगिक देशों को लाभप्रद शर्तों पर मिल जाता है।

सिद्धान्त की दृष्टि से निर्यातों का बढ़ना कोई गलत बात नहीं है लेकिन अर्थ-व्यवस्था के केवल इसी क्षेत्र पर बहुत अधिक जोर देना गलत है। आन्तरिक खपत के लिए उत्पादन करने वाले क्षेत्रों की, विशेषतया कृषि-क्षेत्र की, उत्पादकता बढ़ाने के लिए उपाय करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है, और यदि ऐसा किया जाए तो निर्यात-क्षेत्र के मजदूरों की वास्तविक आय भी माघ-माघ ही बढ़ सकती है। निर्यातों को प्रोत्साहन देना उतनी ही बड़ी गलती है जितनी बड़ी गलती निर्यातों पर बहुत अधिक जोर देना है, क्योंकि निर्यात की गति विनियमित मन्द होने से भी विकास का काम रूक जाता है। उदाहरण के लिए, आन्तरिक उपभोग से सम्बन्धित कामों में नियंत्रण करने के लिए लोगों में अधिकाधिक इच्छा होने पर भी उन्हें पूरा करने में विदेशी मुद्रा का अभाव बाधक बन सकता है। देश के आन्तरिक उपभोग के निमित्त विनिर्माण या कृषि में निवेश करने के लिए निजी उपभोक्ताओं के पास बची-बड़ी आयोजनाएँ हो सकती हैं, और सरकार के पास भी गिना, ऋणोपयोगी सेवाओं, तथा उमी प्रसार के अन्य कामों पर धन खर्च करने के अनेक कार्यक्रम हो सकते हैं, परन्तु ऐसे सब कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए अतिरिक्त आयुक्तों की आवश्यकता पड़ती है, चाहे वह आन्तरिक निवेश के लिए मशीन की हो, या कच्चे माल की हो, या उपभोक्ता-वस्तुओं की हो। देखा जाए तो विकास के हर कार्यक्रम से विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ती है, अतः यदि विदेशी मुद्रा अर्जित करने की क्षमता बढ़ नहीं हो तो माँग विकास-कार्य रूक सकता है। इस समय कुछ घोट-मे ही देना ऐसी व्यवस्था में है। अतः समूचे देश के लिए

कोई विभाग-वायव्य बनाने के साथ ही निर्वाता का विस्तार करने के लिए, या घाघात वस्तुओं की स्थानापन्न वस्तुएँ पैदा करने के लिए समुचित व्यवस्था प्रयत्न करनी जानी चाहिए। मूल पूँजी जात तो यह विदेशी व्यापार द्वारा प्राथमिक विभाग की आर्थिक प्रवृत्तियों में अक्षा की जान वाली भूमिका पर जोर देने का ही एक दुगुणा ढग है।

प्राथमिक विभाग की खाद की व्यवस्थाओं में यह ग-वायव्य वायव्य विदेशी व्यापार के एकाधिकार में नहीं रह जाता बल्कि हा मकता है कि पूरी तरह परन्तु बाजार के हाव में आ जाए। यह मन्त्रमण प्रमरीत्रा में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के लक्ष्य हुआ था। आरम्भ में निर्वाता के प्रभाव-स्वरूप परन्तु माँग में होने वाली वृद्धि मन्त्रमण पर देश के उद्यम-कर्ताओं का प्रोत्साहित करती है, और होत-होत देश के आन्तरिक उपभोग के उत्पादन में होने वाला निवेश प्राथमिक विभाग का आधार-स्तम्भ बन जाता है। यदि कृषि-क्षेत्र में पूँजीवादी ढग में वृद्धि नहीं हो पाती और उद्योग यदि वह माँग और धर्म की गारंटी पर निर्भर बना रहता है, तो इस मन्त्रमण में बहुत विघ्न हो सकता है, जैसा कि फ्रांस में हुआ। अथवा यदि प्राकृतिक साधनों की तुलना में जनसंख्या का अतिवृद्धि अधिक आधार देश की आघातों पर काफी हद तक निर्भर रहने के लिए मजबूर करे, जिससे मूल्य विस्तार की दर विदेशी बन्धुओं में बढ़ोतरी की दर से, या घाघात की स्थानापन्न वस्तुओं के उत्पादन की दर से कम हो रहे, तो हो सकता है कि प्रिटेन की भाँति यह मन्त्रमण कभी पूरा ही न हो।

इस विवेचन का एक उपसिद्धान्त यह है कि दुगुण उन स्थितियों का पना चलता है जिनमें विदेशी मुद्रा पर कोई दबाव डाले बिना ही प्राथमिक विभाग हो सकता है। यदि अर्थ-व्यवस्था-विकास का मुख्य कारण उमरे निर्वाता की माँग का तेजी से बढ़ना हो तो जब उपभाग के प्रयोजना के लिए होने वाले घाघात की मात्रा निर्वाता से कम हो जाएगी, तब उस अर्थ-व्यवस्था की हाव में वृद्धि हो जाएगी। इसके विपरीत, यदि कोई अर्थ-व्यवस्था मुख्यतया आन्तरिक मन्त्रमण के अन्त पर विकसित हो रही हो तो उसके घाघात तो बढ़ते जाएँगे (जब तक कि वह घाघात की वस्तुओं की स्थानापन्न वस्तुएँ पैदा करने लग जाएँ), परे निर्वाता में उतनी ही वृद्धि नहीं हो पाएगी। एगो अर्थ-व्यवस्था को यदि उड़ी मात्रा में विदेशी महापना (ऋण या अनुदान) नहीं मिलती तो हा सकता है कि उगे विभाग-वायव्य को पूरा करने के लिए विदेशी मुद्रा पर नियन्त्रण लगाया परे। एगो देश के निर्वाता की माँग बढ़ना उनके लिए मन्त्रमण ही करता होता है।

इस विवेचन का निष्कर्ष बहुत सीधा देने वाला नहीं है। निष्कर्ष यह है कि विभाग-वायव्य में अर्थ-व्यवस्था के मभी क्षेत्रों की एक साथ उन्नति



होनी चाहिए ताकि उद्योग और कृषि के बीच और धन उद्योग के लिए उत्पादन और निर्यात के लिए उत्पादन के बीच समुचित समन्वय रखा जा सके। यद्यपि यह निष्कर्ष बाज़ी स्पष्ट है परन्तु न तो आजकल हम पर कोई आचरण करना है और न ऐसा करने की कोर्ट मनाह ही देता है। उदाहरण के लिए औद्योगिक देशों में उदार अर्थशास्त्रियों का एक पूरा सम्प्रदाय ऐसा है जो उन्हें आदर्शों की दृष्टि देते हुए कृषि-प्रधान देशों को यह समझाने की कोशिश करता है कि उन्हें कृषि पर ही अपना साग योर लगाना चाहिए और उद्योगों को बढ़ाने के लिए कोर्ट प्रयत्न नहीं करना चाहिए। वही लोग, हमारे और, निर्यात की बढ़ाई के पुत्र बांधन हैं और ऐसे वायंजन से अभ्यस्त रहते हैं जिन्हें फलस्वरूप विदेशी व्यापार पर निर्भरता कम होने की सम्भावना हो। उन सम्प्रदाय की नुटियों के ठीक विपरीत मार्क्सवादियों और गाण्डवादियों के निदान हैं, जिन्हें अनुमान आर्थिक विकास का एकमात्र उपाय उद्योगीकरण पर पूरा जोर लगाना है। उन विरोधी मतों की गरमागरमी के बीच यह सही मान लेना बाज़ी वायंतापूर्ण लगता है कि अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रों का विकास माय-माय किया जाना चाहिए, लेकिन यह धारणा अतिनी मर्याद है उतनी ही अकारण भी है।

(ग) स्थायित्व—निरी निवेश का एक महत्वपूर्ण लक्षण उसकी अनिश्चितता है, जिसके कारण प्रायः और गोजगार में बहुत उतार-चढ़ाव पैदा होता है। गत चैट मौ वषों में इस समस्या के सम्बन्ध में बहुत अधिक लिखा जा चुका है, अतः हम पुनः हमें उनकी विस्तार से चर्चा करना अनावश्यक भी है और असम्भव भी। परन्तु यदि आर्थिक-विकास सम्बन्धी किसी पुस्तक में निवेश के इस उतार-चढ़ाव का कोई उल्लेख न हो तो यह बड़ी अजीब बात मानूस होगी, अतः इस समस्या के मुख्य-मुख्य पहलुओं पर यहाँ कुछ अतिष्ठ चर्चा अत्यन्त की जानी चाहिए।

हर देश में अस्थायित्व के अपने अपने आन्तरिक कारण होते हैं लेकिन इसके प्रभाव विदेशी व्यापार के माध्यम से पैदा होने वाले उतार-चढ़ाव भी हमें देश की प्रभावित करते हैं। अस्थायित्व के आन्तरिक कारण नयी नदियों की खोज, कुछ खेतों की समाप्ति, नयी भूमि की उपलब्धि नये आविष्कारों की प्रवृत्ति, सरकारों की नीतिभारी या अदम्भीतिभारी नीतियाँ, प्रवास, गृह-युद्ध, महामारी, भूचाल, आग, सूखा आदि हैं। विश्व-व्यापार चाहे बिना किसी उतार-चढ़ाव के एक स्थिर गति में बढ़ता रहे, फिर भी हर देश में अलग-अलग अपने उतार-चढ़ाव होते रहेंगे। व्यवहारगत अर्थिक विकास देशों के उतार-चढ़ाव के कारण विदेशी व्यापार में पैदा होने वाले उतार-चढ़ाव कम विकसित देशों की आन्तरिक अनिश्चितताओं के प्रभाव को नष्ट कर देते

हैं। ये उतार-चढ़ाव विद्व-ध्यापार के परिमाण और कीमतों में बहुत अधिक परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होते हैं। ये बड़े परिवर्तन उन्नत देशों की माँग के अभाव के साथ और अनुचित में पैदा होते हैं। इस प्रथम में प्राजकाल मगार की निजी उद्यमवाली मारी अर्थ-व्यवस्थाएँ अमरीका की तुलना में—जहाँ मगार की धाय का लगभग ३ भाग पैदा होता है—कम विकसित हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन और जर्मनी भी उतार-चढ़ाव के स्वतन्त्र स्रोत थे और कुछ तक आज भी हैं, परन्तु विद्व-धाय में उतार-चढ़ाव पैदा करने में अमरीका की तुलना में उनका प्रभाव अब बहुत कम रह गया है और अब वे (केवल मुद्रा या स्फीति के अभाव को छोड़कर) अपने ध्यापार की गतिविधियों की वजाय अमरीका की ध्यापारिक गतिविधियों में अपेक्षाकृत अधिन प्रभावित होते हैं। अतः ध्यापार-चक्र के बारे में अब केवल यही मान्य करना पर्याप्त है कि अमरीका या और भी व्यापक दृष्टि में अत्यधिक विकसित औद्योगिक समुदायों की गतिविधियों में उतार-चढ़ाव किन कारणों में पैदा होते हैं।

गतिविधियों में उतार-चढ़ाव पैदा होने का कोई एक नहीं बल्कि कई कारण होते हैं और कोई एक कारण, जो किसी एक चक्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण हो, किसी अन्य चक्र में बहुत कम महत्वपूर्ण हो सकता है। ध्यापार-चक्र के विस्तारण की कठिनाइयों में से एक कठिनाई यह जानने की भी है कि जब अनेक महत्वपूर्ण कारण एक साथ मिलाएँ और सम्भवतः एक-दूसरे पर प्रभाव डाल रहे हों तो सम्भावित कारणों में से कि-कि-को कितना-कितना महत्व दिया जाना चाहिए। ध्यापार-चक्र-मिडान्त अनेक सम्भव कारणों में से हर एक का अलग-अलग परीक्षण करने के लिए मूल मॉडल तैयार करने पर जोर देना है, परन्तु मॉडल बनाने से लेकर किसी नया उतार-चढ़ाव की व्योरेधार स्थापना करने तक के लिए किये गए प्रयत्नों में जिगमें हर कारण का समुचित महत्त्वांकन दिया गया हो, अभी तक किसी की भी गन्तीप नहीं हुआ है। बाल्प-नव मॉडल के स्तर पर भी किसी भी महत्वपूर्ण कारण के बारे में अंशगमनि नहीं है। अतः धाय की सर्वा में न तो ध्यापार-चक्र का कोई मॉडल प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है और न ही उच्चतम या निम्नतम मोडो और अन्वयर्ती स्वयंप्रभावी प्रतिपादा के सामान्य विस्तारण की किसी प्रणाली का अनुसरण किया गया है। इस विषय के सम्बन्ध विस्तारण के लिए जितना ध्यापार अपेक्षित है उतना प्रस्तुत पुस्तक में देने की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि उच्चतम पुस्तक का विषय ध्यापार-चक्र परिवर्तनों पर विचार करने की वजाय उन कारणों पर विचार करना है जो दीर्घ अवधि में विकास पर प्रभाव डालते हैं। अतः धाय की सर्वा में इस विषय के चयन कारणों के लिए कुछ ऐसे मूल कारणों का निर्धारण उचित किया गया है जो अनुमानित इन बात पर प्रभाव

डालन है कि निवेश की वृद्धि लगातार स्थिर गति से क्यों नहीं हानी। जिन कारणों का इस प्रयाजन के लिए चुना गया है वे इस प्रकार हैं नवीन प्रक्रिया की अनियमितता, बैंक उधार की न्यूनता, निवेश और आय में वृद्धि के बीच अस्थिर सम्बन्ध और आय के वितरण में परिवर्तन।

नवीन प्रक्रिया की अनियमितता का आसानी से समझा जा सकता है। कई बार कहा जा चुका है कि नवीन प्रक्रिया में एक तर्कसम्मत पद्धति से विकास करने की प्रवृत्ति होती है। जब मोटर कार का आविष्कार होता है तो लाकप्रिय बनाने में पहले अपनी उपयोगिता सिद्ध करने में उसे काफी समय लग जाता है। इसके बाद एसा दौर आता है जिसमें मोटर कार उद्योग का बड़ी तेजी में विस्तार होना लगता है और परिवहन के अन्य माधनों, विशेषतया घाड़ा का प्रयोग कम होना जाता है। इस अवधि में केवल कारें बनाने का कारखाना पर ही नहीं बल्कि सड़कों पर और इस उद्योग के लिए रबर, टिन, इस्पात, गीसा आदि कच्चा माल और पुर्जें सप्लाई करने वाले अनेक सहायक उद्योगों पर बड़ा भारी निवेश किया जाता है। अन्त में एक ऐसी अवस्था आ जाती है, जैसी कि अमरीका में आ चुकी है, जबकि लगभग सभी छोटे परिवहन के उपयोग से निकाले जा चुकने हैं और लगभग हर परिवार के पास अपनी कार हो जाती है। इसके बाद यह उद्योग सम्भवतः उतनी तेजी से नहीं बढ़ सकता जितनी तेजी से वह बीच की अवधि में बढ़ता रहा था, अतः निवेश की दर में भी उची हिस्सा से कमी आ जाती है। वास्तव में कोई नवीन प्रक्रिया किस प्रकार लागू होती है, इसका वर्णन करने के लिए 'तर्कसम्मत' शब्द आवश्यकता से अधिक सीधी-सादी गति का परिचायक है। निवेश कभी रुककर और कभी बहुत तेजी से बढ़ना है। जब कार लोकप्रिय हो जाती है तो बहुत सी फर्में बड़े उत्साह से इस कारखाने में प्रवेश करती हैं और अपनी उत्पादन-क्षमता विद्यमान माँग से कहीं अधिक बढ़ा लेती हैं। उनमें से कुछ फर्में दिवालिया हो जाती हैं और उद्योग में मन्दी आ जाती है। परन्तु माँग बढ़ती ही जाती है और कुछ समय बाद उद्योग की उत्पादन-क्षमता के बराबर हो जाती है। एक बार पुनः जोश की लहर आती है और उत्पादन क्षमता बढ़ाने की हाट लग जाती है, जिसके बाद एक बार पुनः अस्थायी रजामट पैदा होती है। आर्थिक विकास की प्रवृत्ति ही ऐसी है कि आगे बढ़ा होने वाला है यह कोई नहीं जानता। इसलिए लोगों से गलतियाँ हो जाती हैं और यह आशा करना अर्थ है कि ये गलतियाँ एक-दूसरे के प्रभाव को नष्ट कर देंगी और निवेश की वृद्धि बिना अधिक उतार-चढ़ाव के होनी रहेगी। यह प्रवृत्ति हमें निवेश के उन अच्छी तरह जमे हुए क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ती है जिनमें नवीन प्रक्रिया की अधिक जरूरत नहीं होती। जनसंख्या लगभग एक

नियमित दर से बढ़ती है, परन्तु मकानों की संख्या में इस प्रकार वृद्धि नहीं होती। इसके बजाय हर औद्योगिक समुदाय में मकानों के निर्माण का काम बीच-बीच में एकदम तेज गति में होता है। अत्यधिक गतिविधियों की एक अवधि होती है, लगभग १० वर्षों की, जिसमें इतनी अधिक संख्या में मकान बनाए जाते हैं कि हर जगह कुछ मकान खाली पड़े रहते हैं—भाष्य दस मकानों में एक मकान। उसके बाद लगभग १० वर्षों की ऐसी अवधि आती है जिसमें मकान कम बनते हैं और जनसंख्या बढ़कर मकानों के बराबर हो जाती है और उसके बाद यह चक्र पुनः नये सिरे से आरम्भ हो जाता है।

यदि हर प्रकार के निवेश की स्थिति ऐसी ही अनियमित हो, तो यह गणना की ही बात होगी कि विभिन्न प्रणालियाँ का एक-दूसरे के साथ ऐसा सामंजस्य हो जाए कि कुल निवेश एक निश्चित दर से बढ़ता रहे। इसके लिए यह जरूरी होगा कि प्रत्येक नवीन प्रक्रिया के नष्ट होने की अन्य नवीन प्रक्रिया उससे स्थान ले ले और किसी एक निवेश में होने वाले उतार-चढ़ाव की पूरी प्रतिपूर्ति दूसरे निवेश में होने वाले उतार-चढ़ाव द्वारा हो जाए। यद्यपि निवेश के कुछ अचमक हमेशा ही बने रहने हैं लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि निवेशों की घट-बढ़ एक-दूसरे की प्रतिपूर्ति कर दे। इसके विपरीत निवेश के उतार-चढ़ाव में एक-दूसरे के प्रभाव को समाप्त करने की प्रवृत्ति के बजाय उनके प्रभाव को बढ़ाने की प्रवृत्ति होती है जिसका कारण निवेश के अचमकों की एक साथ बढ़ने या घटने की प्रवृत्ति है। जब मोटर कार या मकान-जैसे किसी एक बड़े उद्योग का निवेश बढ़ रहा होता है तो उससे उत्पन्न आमदनियाँ तथा माँग के कारण अन्य सभी उद्योग समृद्ध हो जाते हैं। ऐसे मौकों पर अन्य उद्योगों में निवेश करने वालों का भी हौसला बढ़ जाता है और वे अपने निवेश में वृद्धि देने हैं। इसके विपरीत, जब किसी मुख्य उद्योग में निवेश कम हो जाता है तो व्यापार में मंदी आ जाती है, हौसले पस्त हो जाते हैं और निवेश में सामान्य गिरावट पैदा हो जाती है।

निवेश की राशि और उसके धरम उत्कर्ष पर पहुँचने में लगने वाली अवधि के अनुसार विभिन्न प्रकार के उद्योगों के निवेशों का महत्त्व ग्युनाधिक होता है। भूत भविष्य क्रियाओं का स्तर छोटे उद्योगों के निवेश की बजाय बड़े उद्योगों के निवेश द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए, यदि मकानों के निर्माण में कुल राष्ट्रीय आय का औसतन ५ प्रतिशत लग रहा हो तो इसके तेजी पकड़ने (लगभग ७ प्रतिशत तक पहुँच जाने) या मंद होने (लगभग ३ प्रतिशत रह जाने) का भविष्य क्रिया के सामान्य स्तर पर बड़ा प्रभाव पड़ेगा, जबकि नया मिल्क बॉर शोधने के कारण होने वाले उतार-चढ़ाव का प्रभाव अधिक नहीं पड़ेगा। इसके अनिश्चित, यदि कोई समुदाय

अपन मर्तुं नैवें चनाने का कार्यक्रम शुद्ध कर तो हममें सिर्फ पूंजी ही अधिक नहीं लगनी बल्कि बाफी असें तब—नगनग २० या ३० वर्षों तक बड़ी आर्थिक मन्त्रियता भी बनी रहती है। इस बीच अन्य प्रकार के निवेशों में कुछ उतार चढ़ाव ही जागणा परन्तु जब तक र्णों में निवेश का स्तर ऊँचा बना रहगा तब तक कोई बड़ी मन्दी नहीं आ सकती। यही कारण है कि सब गिरावटें एक-जैसी गम्भीर नहीं आती। जब मकान-निर्माण या किसी अन्य महत्वपूर्ण नवीन प्रक्रिया की घूम मची हो तो ऐसे समय में होने वाली गिरावट में अधिक गम्भीर हानी है और न दीर्घकालीन। परन्तु जब मकान निर्माण में मन्दी का समय हो, या किसी महत्वपूर्ण नवीन प्रक्रिया के उत्कर्ष की स्थिति अभी अभी गुजर चुकी हो, (जैसी स्थिति १९२६ में अमरीका में मोटर कार उद्योग की थी) तो यदि कोई गिरावट पैदा होगी तो वह गम्भीर प्रकार की और दीर्घकालीन होगी। चूंकि निर्माण-कार्य में कुल निवेश का औसतन २५ प्रतिशत लगा होता है और उनका चक्र १८ से २० वर्ष तक का होता है, अतः हममें कोई आश्चर्य नहीं है कि इस उद्योग में एक दशाब्दी तक समृद्धि रहती है और उसके बाद एक दशाब्दी तक अपेक्षाकृत मन्दी का दौर आता है।

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि निवेशों में एक साथ बढ़ने या घटने की प्रवृत्ति होती है। परन्तु बैंक उधार की नम्पता (जो उतार-चढ़ाव का दूसरा मुख्य कारण है) के बिना यह पूरी तरह सम्भव नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी में जबकि बैंक समाभेलन आन्दोलन अधिक उन्नति नहीं कर पाया था, औद्योगिक देशों में हजारों स्वतन्त्र बैंक थे जो ऋण देने के मामले में अपनी पृथक्-पृथक् नीति चला रहे थे। जिस प्रकार निवेशों में एक साथ बढ़ने या घटने की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार बैंकों में भी व्यावसायिक गतिविधियों के सामान्य वातावरण से बहुत अधिक प्रभावित होने की प्रवृत्ति थी, व्यापार में तेजी आने पर वे आसानी से ऋण देते थे (इस प्रकार तेजी को बढ़ाते थे) और मन्दी आने पर बहुत मुदिकल से ऋण देते थे (इस प्रकार मन्दी को घीर भी बढ़ा देते थे)। सन पचास वर्षों में केंद्रीय बैंकों का एक मुख्य काम यह रहा है कि उन्होंने चाण्णिक बैंकों द्वारा दिये जाने वाले उधार पर नियन्त्रण लगा दिया है। यद्यपि केंद्रीय बैंक न तो उधार के स्तर को स्थिर बनाए रखने में कहीं सफल हुए हैं और न बैंक उधार की नम्पता को तेजी की घूम और गिरावट की गम्भीरता में योगदान करने से रोक सके हैं, पर बैंक उधार को बरम अवस्थाओं के दुष्परिणामों को रोकने में उनका अवश्य बड़ा हाथ रहा है। यदि हम उन्नीसवीं शताब्दी के किसी सङ्कट के आँकड़ों की तुलना पुन-र्यवस्था (न्यू डील) के बाद अमरीका में आए किसी सङ्कट से करें, या बीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन में आए किसी सङ्कट से करें, तो यह बात दिनदुन स्पष्ट

हो जाएगी। उन्नीसवीं शताब्दी में हर मनुष्य का कारण यही था कि कुछ ऐसे बँक फेल हो गए जिन्होंने तेजी के जमाने में बिना समझे-बुझे बड़े-बड़े कृषि क्षेत्रों में, और जब बँक बन्द हो जाने की आशंका पैदा हुई तो जमाकर्ता अपना-अपना धन निकालने के लिए बैंकों पर दृढ़ पड़। लेकिन अब ऐसा नहीं होता। कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि मुद्रा को 'प्रभावहीन' बनाने के प्रयत्न करने चाहिए, अर्थात् सक्रिय सञ्चयन की मुद्रा को 'चत्रीय गति' में बदलने और घटने से रोका जाना चाहिए। यदि ऐसा किया जा सके, तो तेजी और मन्दी दोनों मामूली होंगी। परन्तु यह मन्दिग्रह है कि इसे पूरी तरह किया जा सकता है। इसके विपरीत कुछ अर्थशास्त्री समझते हैं कि तेजी के जमाने में उधार देने में निवेश का स्तर सामान्य स्थिति की अपेक्षा बढ़ जाता है। उनका कहना है कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया में बार-बार मामूली स्फीति पैदा होना एक अनिवार्य लक्षण है।

इसके बाद हम निवेश और आय की वृद्धि के सम्बन्ध पर विचार करेंगे। यदि पूँजी, आय और उपभोग के बीच अनुपात नियत हो, तो मनुष्य तभी कायम रखा जा सकता है जब इन तीनों की वृद्धि भी समुचित अनुपातों में हो। उदाहरण के लिए यदि निवेश उपभोग की वृद्धि-दर या पत्र हो तो उपभोग की वृद्धि पर कोई रोक लगाने में निवेश कम हो जाएगा, चाहे उपभोग बढ़ता ही रहे, निवेश में कमी होने में आय में कमी हो जाएगी जिससे रोजगार और उपभोग भी कम हो जाएगा। व्यापार-सत्र मिटान्त अभी तक उन सम्भव वास्तविक सम्बन्धों की व्याख्या करने की अवस्था में आगे नहीं बढ़ पाया है, जिनमें पता लगता है कि यदि वृद्धि की दरें मनुष्य की दरों में कम-अधिक हो जाएँ तो कितना भीषण परिणाम हो सकता है। हम अभी तक यह निर्धारित नहीं कर पाए हैं कि वास्तविक सम्बन्ध क्या है, या वे कितने अनस्य हैं, या विकास की मनुष्य की दरों के अपसरण का मात्रात्मक महत्त्व क्या है। परन्तु 'दर-मिडान्त' (अर्थात् आय की वृद्धि और निवेश-सम्बन्धी गतिविधि का परस्पर सम्बन्ध) कई मामलों में काफी स्पष्ट रूप में लागू होता है, इनमें से एक, वस्तुओं के भण्डार की स्थिति है। मान लीजिए वस्तुओं के भण्डार की जम्मत सामान्यतया राष्ट्रीय आय के ५० प्रतिशत के बराबर होती है। और यह भी मान लीजिए कि काफी बेरोजगारी की स्थिति में धारम्भ होकर राष्ट्रीय आय दो वर्षों तक दस प्रतिशत के हिसाब से बढ़ती है और पूर्ण रोजगार की अवस्था में जाती है, और उसके बाद राष्ट्रीय आय केवल दो प्रतिशत की दर से बढ़ती है। यदि यह दो प्रतिशत के बराबर है तो निवेश के बराबर है (वास्तविक वृद्धि हमें धारित या कम भी हो

सकती है)। अगले वर्ष भण्डार में राष्ट्रीय आय में केवल ०.८ प्रतिशत तक वृद्धि की जरूरत होगी, इस प्रकार भण्डारों में अपेक्षित निवेश में राष्ट्रीय आय के १.० प्रतिशत की कमी हो जाएगी जो कुल निवेश में लगभग ६ प्रतिशत कमी के बराबर होगी। इसके बाद इसमें स्वयं कमी होती जाएगी। वास्तव में उतार-चढ़ाव गलतियाँ के कारण बट जाते हैं। दो वर्ष तक अपनी विनी दम प्रतिशत की दर में बढ़ाने के बाद अन्त व्यापारी आशा करते हैं कि तीसरे वर्ष में भी उनकी विक्री उसी दर से बढ़ेगी, और जब पूर्ण रोजगार की स्थिति पर पहुँच जान के कारण विनी में वस्तु केवल दो प्रतिशत वृद्धि होगी तो उन्हें पता लगता है कि उन्होंने आवश्यकता से अधिक सामान मँगवा लिया है और उनके पास अनुमान से अधिक माल पड़ा हुआ है। विनी में उतनी कमी हो जान में भण्डार-खरीद पर होने वाला खर्च राष्ट्रीय आय के २ प्रतिशत से घटकर ०.८ प्रतिशत रह जाना चाहिए, लेकिन अपने भण्डारों में एकदम कमी कर देने के प्रयत्न में व्यापारी-वर्ग और भी कम माल मँगवाता है, जिसकी वजह से बेकारी फैल जाती है। भण्डार खरीद में उतार-चढ़ाव व्यापार-चक्र की एक मुख्य विशेषता है। तेजी की अवधि में हमेशा ही भण्डारों में, विशेषकर कच्चे माल में, धुआँधार सट्टा होता है, जिससे कच्चे माल की कीमतें पहले तो एकदम बढ़ जाती हैं और फिर एकदम गिर जाती हैं। वास्तव में यह आशा करना व्यर्थ है कि निवेश, चाहे निर्माण-कार्य में ही, मशीनरी में ही, या भण्डारों में ही, निरन्तर स्थिर दर से बढ़ता रहेगा, और आय या उपभोग में भी ठीक उतनी ही स्थिर गति से वृद्धि होती रहेगी। सब पूछा जाए तो निवेश की गति घटती-बढ़ती रहती है, वह कभी तो विकास के लिए अपेक्षित दर से कम हो जाता है और कभी बढ़ जाता है।

उतार-चढ़ाव का चौथा कारण, जिस पर समय-समय पर वादविवाद होता रहा है, आय के वितरण पर आर्थिक विकास का प्रभाव है। उदाहरण के लिए, कार्ल मार्क्स ने व्यापार-चक्र का वर्णन कुछ इस रूप में किया है। तेजी की अवधि में पूँजी संचित होती है और थम की माँग बढ़ती है। अन्त में, थम के लिए प्रतियोगिता बढ़ने के कारण मजदूरियाँ कीमतों की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ने लगती हैं और लाभ कम हो जाते हैं। जँमे-जँमे लाभ कम होता है, निवेश रुकता जाता है, और इस प्रकार मन्दो आरम्भ हो जाती है। ऐसी स्थिति में मजदूरियाँ कीमतों की अपेक्षा अधिक तेजी से गिरने लगती हैं, और अन्त में एक समय आता है जब नया निवेश पुनः लाभप्रद होने लगता है। इस तर्क के अनुसार कीमतों को देखने हुए मजदूरियों का एक ऐसा 'मैम्यक्' स्तर कायम किया जा सकता है जिससे स्थिरता बनी रहेगी, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता क्योंकि मजदूरियाँ हमेशा इससे कम या अधिक रहती हैं।

मावर्स के मिट्टा-तो में विद्यास न करने वाले समाजवादियों न दमी प्रवार का परन्तु बिलकुल इगमे उलटा मॉडल पेस किया है (जिमे कुछ मावर्सवादी गलती से मावर्स की ही देन मानते हैं)। इन माडल क अनुसार तेजी की प्रवधि में मजदूरियाँ लाभो की अपेक्षा अधिक तेजी में नहीं बढ़ती, बल्कि इसका उलटा होता है। बीमने मजदूरियाँ की अपेक्षा अधिक तेजी में बढ़ती है, जिससे लाभ बढ़ते हैं। परन्तु लाभो को उपभोग पर खर्च करने की बजाय मुख्यतया बचाकर रखा जाता है। इन उपभोग आय और पूँजी-मध्य दाना की अपेक्षा कम तेजी से बढ़ता है। उनका विचार है कि यह एक स्थिर अवस्था है। उपभोग में उतनी ही तेज वृद्धि न होने का कारण कुछ समय बाद आय और उत्पादन-क्षमता की अगमान वृद्धि में गतिरोध पैदा हो जाता है। लाभ की दर कम हो जाती है, निवेश घट जाता है, और आय तथा राजगार में अनुचलन पैदा हो जाता है। इस माडल का सम्बन्ध पिछले पैरा में की गई चर्चा से है, क्योंकि यह भी विभिन्न मात्राओं के बीच गुणिधारित अनुपात बनाए रखने पर निर्भर है। जहाँ तक तथ्यों का लक्ष्य मावर्सवादी विचार के साथ विवाद का प्रश्न है, यह बात निश्चित है कि तेजी के दौरान मजदूरियों की तुलना में लाभ अधिक तेजी से बढ़ता है, और मन्दी के दौरान अधिक तेजी से घटते हैं। इन बातों को देखते हुए कि औद्योगिक देशों में कुल निवेश का कुल लगभग ३० प्रतिशत प्रत्यक्ष रूप से कृषि और विनिर्माण-उद्योग में जाता है, और विनिर्माण उद्योग में भी अधिकांश निवेश खानू माँगों को बढ़ाने के लिए नहीं किया जाता बल्कि नवीन प्रक्रिया द्वारा नयी माँगें पैदा करने के लिए किया जाता है (नयी वस्तुओं या लागत घटाने वाली प्रक्रियाओं पर), और अधिक या कम पूँजीवादी प्रक्रियाओं में से किसी एक का चुनने की कुछ छूट होती है, यह बताना बड़ा कठिन लगता है कि निवेश किस सीमा तक उपभोग पर निर्भर है। (कुल निवेश का औसत ७० प्रतिशत भाग भी अपेक्षाकृत रूप से उपभोग पर निर्भर होता है, परन्तु यह उपभोग के वर्तमान स्तर के बजाय भविष्य के सम्भाव्य स्तर पर अधिक निर्भर होता है।)

अब यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि प्राथमिक रिकाम-सम्बन्धी किंगों भी पुनः उतार-चढ़ाव की चर्चा की अपेक्षा इसलिए नहीं की जा सकती कि उतार-चढ़ाव के जिन मुख्य कारणों का उल्लेख यहाँ किया गया है वे मूल प्राथमिक रिकाम में पैदा होते हैं। गुरानी वस्तुओं या प्रक्रियाओं के स्थान पर नयी वस्तुएँ या प्रक्रियाएँ घटाने का पारस्परिक नवीन प्रक्रियाओं का तर्क-सम्मत विभाग होता है। पारस्परिक में जोरदार गतिविधि के रूप में अधिक-अधिक उत्कर्ष की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, इसके बाद गतिविधि के दौर घटते हैं (स्थानिक अवस्थाओं के एक बार पीछे हट जाने पर इन दौरों का घाना



अनिवार्य है) पर लोग अपनी मांग का स्तर बराबर बढ़ाने चले जाते हैं। अथवा पूंजी और उपभोग, भण्डार और मांग, या मजदूरियों और लाभों के बीच उचित अनुपात बनाए रखने में कठिनाईयाँ होती हैं। कहना न होगा कि यदि कोई विकास ही न हो तो उतार-चढ़ाव भी नहीं होंगे, परन्तु विकास की प्रक्रिया-रूपी अर्थकारण में आगे बढ़ने पर निवेश की अनिश्चितताएँ और गलती की सम्भावनाएँ बढ़ ही जाती हैं। इसीलिए अनेक अर्थ-शास्त्रियों का कथन है कि उतार-चढ़ाव आर्थिक विकास के अनिवार्य परिणाम हैं, यदि मन्दी नहीं होगी तो तेजी भी नहीं आएगी और यदि तेजी नहीं होगी तो पूंजी-निर्माण और मूलतः उनकी तेजी से नहीं होगा जितनी तेजी से प्रायः होता है।

इस पुस्तक में उन सभी प्रस्तावों की चर्चा करना जरूरी नहीं है जो अमरीका की अर्थ-व्यवस्था को स्थिर बनाने के लिए दिये जाते रहे हैं, इस विषय पर स्वतन्त्र रूप से बहुत सा साहित्य विद्यमान है। अमरीका या अन्य मुख्य-मुख्य देशों के उतार-चढ़ाव के दौरान विश्व-व्यापार के स्तर को स्थिर रखने के लिए राष्ट्र-मध्य में समय-समय पर जिन प्रस्तावों पर वाद-विवाद हुआ है उनका भी नामोस्मरण कर देना ही पर्याप्त होगा। इस बारे में कुछ कहकर कि विश्व-व्यापार में उतार-चढ़ाव पैदा होने पर कम विकसित देश अपनी सहायता के लिए क्या कर सकते हैं, हम इस विषय को समाप्त कर देंगे।

व्यापार-चक्र का कुप्रभाव औद्योगिक देशों की अपेक्षा कम विकसित देशों पर अधिक पड़ता है, क्योंकि कम विकसित देश खाद्य और कच्चे माल की कीमतों पर अधिकाधिक निर्भर होते हैं, जो व्यापार-चक्र में विनिर्मित वस्तुओं की कीमतों की अपेक्षा बहुत अधिक घटती-बढ़ती हैं। तेजी के दौरान कीमतें एकदम बढ़ जाती हैं। साथ ही कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में मजदूरियों में भी एकदम वृद्धि हो जाती है (विशेष रूप से यदि शक्तिशाली मजदूर-सघ हो)। यह वृद्धि निर्यात-उद्योग के मजदूरों तक ही सीमित नहीं रहती। देश के भीतर खर्च बढ़ जाने के कारण देश में हर वस्तु—खाद्य, किरायों, सेवाओं आदि—की कीमतें बढ़ जाती हैं और इसके फलस्वरूप रहन-सहन के स्तर का खर्च बढ़ जाता है, जिससे मजदूरियाँ, वेतन और लाभ सभी में बहुत वृद्धि हो जाती है। सरकारी राजस्व में भी वृद्धि होती है, पर साथ ही सिविल कर्मचारियों पर, और अतिरिक्त सेवाओं की व्यवस्था करने पर सरकार का खर्च भी बढ़ जाता है। उसके बाद एकदम प्रवाह भग होता है, जिसके फलस्वरूप निर्यात-वस्तुओं की कीमतें १२ महीनों में ३० से ५० प्रतिशत तक घट सकती हैं। तब देश के भीतर वस्तुओं की कीमतों, मजदूरियों, किरायों, वेतनों को कम करने के लिए जोरदार प्रयत्न किया जाता है। यह काम बहुत कठिन होता है और इससे गम्भीर मनभेद और गृह-कलह का जन्म होता है, यदि कृषि-

क्षेत्र किंगानी-सेती के बजाय बड़ी-बड़ी आस्तियों पर मजदूरों से कराई जाने वाली ऐसी पर निर्भर हो तो यह मतभेद और गृह-वसह और भी उग्र रूप धारण कर लेते हैं, और यदि मालिक और नौकर अलग-अलग जाति या धर्म के होने हैं तो यह उग्रता अत्यन्त बढ़ हो जाती है। यदि ये देश विद्व-कीमतों के इस गम्भीर उतार-चढ़ाव से अपने को कुछ सीमा तक बचा सकें तो उनके आन्तरिक सामंजस्य की सम्भावनाएँ बहुत अधिक बढ़ सकती हैं। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि उनके लाभों में उतार-चढ़ाव कम होने के कारण उनके उत्पादन में थोड़ा-ही उतार-चढ़ाव आए (मन्दी में मजदूरियाँ कम करने में कठिनाई होती है, अतः उत्पादन बहुत कम हो जाता है)। और यदि इन देशों में तेजी के उमाने में अपनी विदेशी मुद्रा कमाइयों को बरबाद करने की बजाय उसमें से कुछ बचा लिया होगा तो मन्दी के उमाने में, जब कि कीमतें गिर जाती हैं, उनका अच्छा मूल्य मिल सकेगा।

कोई भी कम विकसित देश अपने भुगतान शेष को विद्व-व्यापार के उतार-चढ़ाव के प्रभाव से बचा नहीं सकता। यदि विद्व-व्यापार में मन्दी आ जाए तो उसके निर्यातों का मूल्य कम हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह उत्पादों-उत्पादा इतना कर सकता है कि इस गिरावट को देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में न घाने दे। यदि ऐसा करना हो तो उसे घरेलू उत्पादकों की आमद-नियों और निर्यातों से प्राप्त राशियों के बीच कुछ रोक भरपय लगा देनी चाहिए। इसका एक उपाय यह है कि सारा निर्यात किसी एक सरकारी एजेंसी की मार्केट किया जाए जसा कि ब्रिटिश पश्चिमी अफ्रीका, या गुगैण्डा, या बर्मा, या स्याम के मुख्य-मुख्य निर्यातों के मामले में किया जा चुका है। यह एजेंसी घरेलू उत्पादकों को घटा करने के लिए एक कीमत निर्धारित कर देती है, जो निर्यात की कीमतों के साथ नहीं घटती-बढ़ती, या यदि घटती-बढ़ती भी है तो बहुत थोड़ी। यदि ऐसी एजेंसी का प्रयोजन केवल घरेलू कीमतों को स्थिर करना हो तो घरेलू उत्पादकों को घटा करने के लिए ऐसी कीमत निर्धारित करनी होगी जो भविष्य की सम्भावी कीमतों का औसत हो। यदि यह कीमत ठीक-ठीक निर्धारित की गई हो तो तेजी के उमाने में एजेंसी बड़ा लाभ कमाएगी, जो मन्दी के उमाने में होने वाले घाटों की भरपाई करने के लिए रक्षित निधि में डाल दिया जाएगा। व्यवहार में कोई नहीं जानता कि भविष्य में कीमतें कितनी होंगी, अतः यह एक अमम्भाव्य सक्षोभ ही होगा यदि लाभों तथा हानियों को समान करने की भांति से निर्धारित की गई कीमत का ठीक अन्तिम परिणाम निकल आए। इन प्रकार के सभी सक्षन मामलों में कीमत के स्थिरीकरण के साथ बरापान का भी सहारा लिया गया है। तब अगर कोई अल्पनिर्णय हुई है तो जाने फलस्वरूप एजेंसी का बोध तानी होने के बजाय

संस्कार की वरों द्वारा निम्न की जाय में कमी या वृद्धि हो गई है। यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि वेजों के दौगन प्रमुख उप-शक्ति पर विद्युत प्रकृत नया जाए, उतनी ही विदेशी मुद्रा की रक्षित निधिओं का मन्वज किया जाना चाहिए। बात यह है कि मन्दी के दौगन निधियों कम हो जाने पर भी वास्तविकता का स्वर पहले विद्युत ही गया या मन्वज है। दूसरे कि प्रमुख आन्द-निधियों का स्वर पहले विद्युत ही बना २७। परन्तु यह उद मन्वज मन्दी है उद उद कि एजेंसी की रक्षित निधि के बगल-विदेशी मुद्रा मी-उद न ही।

संस्कारों एजेंसी की मन्वज निधियों करने के काम में संस्कार की कर्त-निम्न करने उद्योग पठने है और उन पर कर्त-एजेंसी जिम्मेदारियों का जती है, विद्युत दृष्टि की संस्कारों बखना चाहिए है। इस प्रकार की एजेंसी मन्वज निधि विद्युत ही लम्बग उतनी ही मन्वजना पैदा करने का एक उपाय यह भी है कि संस्कार निधियों की बीमते बने पर का बम कर दे, और बीमते पठने पर कर बटा दे। निधियों पर प्रचस कर लगाकर यह काम स्पष्ट रूप से किया जा सकता है, पर आजातों पर लगने वाले वरों में का दूसरे प्रचस के वरों में प्रच-बदल करके भी यह काम किया जा सकता है, यद्यपि उमका प्रभाव कुछ कम होगा। प्रचस टेक्नीक तो यह है कि ऐसे निधियों-कर लगाए जाएं जो बीमते के बने के साध-साध वेजों से बने जाएं, उदाहरण के लिए, ऐसी मन्वज-कर लगाया जा सकता है जो १०० पाँड प्रति टन की बीमते पर लग्य हो, २०० पाँड और १५० पाँड के बीच बने वाली बीमते के हर पाँड पर १० गिन्टिमी पी टन के हिसाब से बदे, और उमके बाद प्रति टन एक-एक पाँड बने पर १५ गिन्टिमी प्रति टन के हिसाब से बटता जाए; या यदि उमने भी अधिक मन्वजिक बाछ-नीय हो तो १०० पाँड से ऊपर बीमते जाने पर विद्युत कर लगाया जाए, उतना ही उतमान १०० पाँड के नीचे बीमते जाने पर दे दिया जाए।

व्यवहार में पूर्ण मन्वजिक न तो लागू जा सकता है और न ही वास्तविक है। मन्वजिक में बीमते का बम रख होगा, उद बने में कर्त-निम्नित मन्वजिक-बाणी करना मन्वज नहीं है, और यह वास्तविक है कि मन्वजिक-बाणी मन्वजिक की वन्वजियों के उत्पादन की मात्रा पर निम्न-बीमते में होने वाले परिवर्तनों का कुछ प्रभाव प्रचस पहले दिया जाए। ऐसी प्रभाव-नीय मन्वजिक भी है जिनके कारण बम मन्वजिक संस्कारों मन्वजिकों का सामना किने दिना मन्वजिक-बाणी मन्वजिक नहीं बला मन्वजियों। परन्तु अन्वजिक देना यदि चाहे तो निम्न-बाणी के उदाहरण-बाणी के प्रभाव से बने की कुछ चीजा उद दूर रख सकते हैं। आन्वजिक उदाहरण-बाणी को कम करने के लिए अन्वजिक देना द्वारा प्रचस न किने जाने का कारण यह नहीं है कि उनके सामने उदाहरण-बाणी की मन्वजिकों की मन्वजिक होती है, बल्कि के उदाहरण-बाणी मन्वजिक नहीं बने कि कुछ

राजनीतिक कारणों से तेजी के जमाने में वे अपने ऊपर कोई मयम बरतना नहीं चाहते। मन्दी में उपभोग को तभी बढ़ाया जा सकता है जबकि तेजी में उसे उताना ही कम रखा गया हो, इसका कारण यह है कि मन्दी के जमाने में भाषात बचाये रखने के लिए अपेक्षित विदेशी मुद्रा तेजी के जमाने में ही बचानी पड़ती है। अधिकतर देश तेजी के जमाने में सूब जीन्डोलकर रख करते हैं। ऐसे समय में भारी कर लगाने के प्रस्तावों का जोरदार विरोध किया जाता है। यदि किसी प्रकार भारी कर लगा भी दिए जाते हैं तो सरकारों में करों की धाय को रक्षित निधि में डालकर उससे बगबर की विदेशी मुद्रा मचय करने के बजाय उस धाय को अपने काम बढ़ाकर उनमें गचं कर देने की प्रवृत्ति होती है। यदि करों की धाय के बदले विदेशी मुद्रा जमा कर भी जाती है तो यह बड़ी लाभदायक गिद्ध होती है, क्योंकि विदेशी मुद्रा की रकम से तेजी की अपेक्षा मन्दी के दौरान अधिक धायाल-वस्तुएं खरीदी जा सकती हैं (क्योंकि मन्दी में कीमतें कम हो जाती हैं)। यह कटना बिलकुल गलत होगा कि यदि कम विकसित देश चाहें तो अपनी आन्तरिक धर्मव्यवस्था को बाहरी उतार-चढ़ाव के प्रभाव से बिलकुल अलग रख सकते हैं, पर यह अवश्य मरव है कि यदि वे चाहे तो तेजी और मन्दी के गम्भीरतम रूप में बचने के लिए पर्याप्त प्रयत्न कर सकते हैं।

ये बातें कम विकसित धर्मव्यवस्था की निर्यातों की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों से नहीं बल्कि उसकी कीमतों में होने वाले परिवर्तनों से अप्रभावित रखने पर लागू होती हैं। कुछ देश मन्दी के जमाने में भी अपने निर्यातों की मात्रा में कमी नहीं करते, वे जो भी कीमत मिलती है उसी पर अपना सामान बेच देते हैं, जिससे उपभोक्ता देश बेसी भण्डार जमा कर लेते हैं। कुछ देशों में कीमतें कम होने पर ही उत्पादन घटता है, घन यहाँ यदि घरेलू कीमतें स्थिर रखी जा सकें, तो मन्दी में भी उतनी ही मात्रा में निर्यात किया जा सकता है। परन्तु सभी देश ऐसी स्थिति में नहीं होते। कुछ देश ऐसे भी होते हैं जिनमें मन्दी के दौरान निर्यात-योग्य वस्तुओं का उत्पादन तभी स्थिर रखा जा सकता है जब कि वहाँ की सरकार वस्तुओं की खरीदकर उन्हें तब तक अपने पास रखे, जब तक कि उनका निर्यात-बाजार फिर में न खोल जाए। ऐसा न करने पर वहाँ उत्पादन कम हो जाएगा, और यदि उस वस्तु का उत्पादन मजदूरों की सहायता से किया जा रहा होगा तो बेरोजगारी बढ़ जाएगी। कम विकसित देशों की कुछ सरकारों ने निर्यातों की माँग घटने पर सम्बन्धित वस्तुओं की भण्डार जमा करके बड़े मात्रा में खरीदकर रखा है। ऐसा करना बहुत अधिक लाभप्रद हो सकता है, यदि निर्यात-बाजार गीम ही खोल जाए और तेजी घाने पर मान निवाना जा गये; लेकिन यह बहुत हानिप्रद भी

हा सकता है यदि बाजार के चेतन न उठनी अधिक देर लग जाए कि सरकार को कम कीमतों पर ही माल निकालने के लिए मजबूर होना पड़े। उन दशाब्दियों में इन नीति का अनुसरण बड़ा खतरनाक सिद्ध हुआ जब कीमतों की दीर्घकालीन प्रवृत्ति गिरने की ओर थी। इसी प्रकार ऐसी दशाब्दियों में इस नीति का अनुसरण करना बड़ा लाभप्रद सिद्ध हो सकता है जब कीमतें चढ़ रही हों। परन्तु जब मन्दी आरम्भ होती है तो कौन कह सकता है कि वह क्षणिक है, या काफी समय तक कीमतें गिराए गवैनी ?

कम विकसित देशों की अर्थ-व्यवस्था में तुलनात्मक स्थायित्व के हित में सबसे लाभदायक बात यह है कि उन्नत राष्ट्र अपने उतार-चढ़ाव पर नियन्त्रण रखन और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिकारिक स्थायित्व लाने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। इन मामलों में नीति अभी भी संशयशील और प्रयोगात्मक है। फिर भी इन समय इस बात का विश्वास करने के पर्याप्त कारण हैं कि निर्यात भविष्य में आर्थिक विकास निकट भूत की अपेक्षा कम अनिश्चित होगा।

(घ) दीर्घकालीन अतिरोध—अनेक देशों के इतिहास में कई दशाब्दियों या गताब्दियों तक पर्याप्त अच्छी उन्नति और उसके बाद कई दशाब्दियों या गताब्दियों तक अराशाहत गतिहीनता की अवधि रही है। कुछ मामलों में तो पासपास में गिरावट उठनी अधिक हुई है कि देश की जनसंख्या बिलकुल समाप्त हो गई है, और उर्वर मैदानों तथा अनुद नगरों के स्थान पर खण्डहर और मरुभूमि रह गए हैं। कभी-कभी इन परिवर्तनों का कारण प्राकृतिक हो सकता है। हो सकता है कोई भूकम्प आया हो, या कोई ज्वालामुखी फूट पड़ा हो, या कोई बाढ़ आ गई हो। कभी-कभी इसका राजनीतिक कारण भी हो सकता है, जैसे शान्ति, युद्ध, या घुरी सरकार—इन बाँटों के कारणों की चर्चा बाद के दो अध्यायों में की जाएगी। इस अध्याय के अन्तिम पैराग्राफों में हम उन कारणों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे जो इन कारणों पर आधारित हैं कि किसी देश में एक या एक से अधिक गताब्दियों तक पर्याप्त तेजी से आर्थिक विकास हो चुकने के बाद निवेश में अनिश्चित गिरावट पैदा होती है।

दीर्घकालीन अतिरोध की अनिश्चितता का समर्थन करने वाले तर्क प्राकृतिक घटना और राजनीति के अलावा प्रौद्योगिकी, मनोविज्ञान, एकाधिकार, माल वितरण, जनसंख्या और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिযোগिता पर निर्भर हैं।

प्रौद्योगिकी-सम्बन्धी तर्क का आधार यह है कि तकनीकी ज्ञान की उन्नति की दर आग चलकर कम हो जाती है। इस बात में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि गत गताब्दियों में प्रौद्योगिकीय उन्नति की दर में बहुत अधिक घट-बट होती रही है, यद्यपि यह बात संवमान्य है कि इस संकल्पना की ठीक ठीक माप-जोड़ अनुभव है। हाल की दशाब्दियों की

जन्तु अक्रान्ते के लिए पेटेण्टों की रजिस्ट्री की वार्षिक सख्या को आधार मानने से इन्कार किया जा चुका है। कुछ औद्योगिक देशों की जनसख्या की अपेक्षा वहाँ पेटेण्ट रजिस्ट्रियों की प्रति-व्यक्ति वार्षिक सख्या धीमी गति से बढ़ रही है, परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वहाँ तकनीकी ज्ञान की वृद्धि अपेक्षाकृत धीमी है। हो सकता है कि पेटेण्ट सम्बन्धी मुसदमेजाजी का र्च बढ़ जाने से पेटेण्ट-प्रणाली का उपयोग कम हो गया हो, या यह भी हो सकता है कि अधिकाधिक शिक्षित होते जाने के कारण आविष्कर्ता छोटी-छोटी चीजों को पेटेण्ट करवाने की चिन्ता न करते हो, या विशिष्टियों का अधिकाधिक मानकीकरण होने और साथ ही बड़े पैमाने पर तैयार होने वाली वस्तुओं की प्रमुखता के कारण वस्तुओं के केवल नये-नये रूप निकालने की प्रवृत्ति कम हो गई हो, या प्रौद्योगिकी में यांत्रिक प्रयुक्ति की अपेक्षा भौतिकशास्त्र व रसायनशास्त्र का और निजी आविष्कर्ता की अपेक्षा अनुसंधान-दलों का महत्व बढ़ जाने से ही पेटेण्टों की सख्या कम हो गई हो, चाहे आविष्कार उसी गति से हो रहे हों जिस गति से पहले हो रहे थे। निश्चय ही पेटेण्टों की सख्या को छोड़कर ऐसा सोचने का कोई भी अन्य कारण नहीं है कि इन समय तकनीकी ज्ञान के विकास की दर ७० या ८० वर्ष पहले की तुलना में किसी भी प्रकार कम है। परन्तु उन ऐतिहासिक कालों में भी, जिनमें ज्ञान के विकास में स्पष्ट गिरावट हो गई थी, इनमें दीर्घ-कालीन गतिरोध का कोई स्वतन्त्र कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ज्ञान की गिरावट स्वयं तकनीकी विज्ञान के क्षेत्र में बाहर के कारणों पर निर्भर होती है। वैज्ञानिक आविष्कारों का क्षेत्र कभी अनुचित नहीं होता, क्योंकि योजों की मभाव्यताएँ अनन्त हैं। और न यह मानने का कोई कारण है कि मानव-वृद्धि की ग्रहणशीलता—जीवात्मक अर्थों में—पीढ़ी-दर-पीढ़ी कम होती जाती है (परन्तु देनाएँ अध्याय ६, मण्ड १ (क) )। अतः यदि इन समय ज्ञान का विकास भूतकाल की भाँति तेजी से नहीं हो रहा है, तो हमें यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि ज्ञान की वृद्धि के लिए मनुष्य अब कम प्रवृत्त क्यों है। हो सकता है इनका कारण राजनीतिक अगुरक्षा हो (जिनमें उत्पादन निवेश में पूँजीपतियों की रचि कम हो गई हो), या वर्ग-रचना में हुए परिवर्तन हो, या कोई प्राकृतिक मन्ड हो, या राजनीतिक कारणों अथवा एकाधिकार के पत्रस्वरूप घपनाई जाने वाली अधिकाधिक गोपनीयता हो, या पिछले पंचाशक में उन्तितिक कारणों में से कोई कारण हो। अतः तकनीकी गतिरोध को हमें घाम गामात्रिक व्याधि का अन्वितिक कारण नहीं अन्वितिक एवं लक्षण मानना चाहिए।

मनोविज्ञान-सम्बन्धी तर्क का आधार प्रवृत्तियों के के परिवर्तन हैं जो

विकास की प्रक्रिया के ही महत् परिणाम हैं। विचारकों का एक ऐसा सम्प्रदाय है जिनका विश्वास है कि मानव-समाज नैतिकवादी और अध्यात्मवादी अवस्थाओं के बीच झूलता रहता है। कई दशान्दिया तक नैतिकवादी उन्नति की जोरदार गतिविधियों के बाद आर्थिक प्रगति और उनकी अवस्थाओं में लोग जब जाते हैं और उनका मुकाबल अधिक चिन्तनशील प्रवृत्तियों की ओर हो जाता है। इस सम्प्रदाय के कुछ विचारकों का विश्वास है कि वस्तुतः कुछ जीवात्मक परिवर्तन होते हैं जिनमें समाज के छोटे-छोटे दीर्घकालीन समूह एक दौर में एक प्रकार की जीवात्मक सतता वाले होते हैं और दूसरे दौर में उससे भिन्न प्रकार की। इनके अन्तर्गत और भी बहुरंग दृष्टि जा सकते हैं जिनसे लोगों के अन्दर आविष्कारिता की भावना समाप्त हो जाती है और समाज में एक ऐसा लम्बा दौर आता है जबकि उसके सर्वाधिक प्रतिभाशाली लोग अपने को विज्ञान और आविष्कार के काम में नहीं लगाते, या जब उनके प्रयत्नों का कोई परिणाम नहीं निकलता। यह सब मात्र अनुमान है, क्योंकि इन नवो-वैज्ञानिक परिवर्तनों का निर्धारण करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। इन बातों पर हम अध्याय ३, खण्ड ५ (ख) में चर्चा कर चुके हैं, और यहाँ हमें इस सम्बन्ध में कुछ और नहीं कहना है।

एकाधिकार-सम्बन्धी तर्कों के दो आधार हैं एक यह कि एकाधिकार से निर्वेग घट जाता है, और दूसरा यह कि एकाधिकार की मात्रा के मात्र ही आर्थिक विकास की मात्रा भी बढ़ती है। इनमें से पहले आधार पर हम अध्याय ३ में चर्चा कर चुके हैं, और उसके मानने-न मानने के कारणों पर भी विचार कर चुके हैं। दूसरा आधार अर्थिक विवादप्रण है। इनके सम्बन्ध में दो तर्क दिये जाते हैं। पहला तर्क यह है कि तकनीकी प्रगति से औद्योगिक प्रेम के आवार में दीर्घकालीन वृद्धि होती है। यह निश्चय ही सत्य है, क्योंकि इस बात के तकनीकी कारण मौजूद हैं कि आने वाली हर सताब्दी में औद्योगिक प्रेम का आवार क्यों बढ़ता जाता है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। यह सिद्ध करने के लिए कि आर्थिक विकास के साथ-साथ एकाधिकार बढ़ता जाता है, पहले यह सिद्ध करना आवश्यक है कि बाजार के आवार की तुलना में फर्म के आवार में अधिक तेजी से वृद्धि होती है, जो किसी प्रकार स्पष्ट नहीं है। चूंकि परिवहन की दान्तरिक लागत घटने की और जनसंख्या बढ़ने की एक दीर्घकालीन प्रवृत्ति होती है, अतः सम्भाव्य बाजार का आवार बढ़ने की भी एक दीर्घकालीन प्रवृत्ति होती है। गाँव की सीमा में बंधा व्यापार बढ़ते-बढ़ते निश्चयनानी हो जाता है। इस प्रवृत्ति में टैरिफ और मुद्रा-प्रतिद्वन्द्वों के कारण र्बावट पड़ती है, पर इस मामले में हम किसी दीर्घकालीन प्रवृत्ति होने का दावा नहीं कर सकते, कभी ये प्रतिद्वन्द्व बट गते हैं और कभी घट जाते हैं। गलत कई

सतान्दियों के आर्थिक इतिहास को देखकर हम अधिक ते-प्रधिक यही कह सकते हैं ।

दूसरा तर्क वित्तदाताओं के महत्त्व में अनिवार्य रूप से होने वाली वृद्धि पर आधारित है । इस तर्क के अनुसार 'आरम्भ में ठेठ पूँजीपति उद्योगपति होता है, जो स्वयं अपनी फँटरी की देखभाल करता है और उसमें सामान तैयार कराने और उसे बेचने का काम करता है, जबकि 'अन्त में' जाकर पूँजीपतियों में वित्तदाता ही सबसे अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं जो कभी किसी फँटरी में भाँकते तक नहीं, फिर भी नियन्त्रक कम्पनियों, उनके बिलय और गमामेलन, सहकारी कम्पनियों और अन्य बड़े-बड़े विभिन्न साम्राज्य गठे कर लेते हैं । अतः तकनीकी विकास की दृष्टि से औचित्य न होने पर भी वित्तदाताओं की निकडमो से एकाधिकार पैदा हो जाता है । इस प्रकार के वित्तीय लोगों का उद्भव अनिवार्य है, क्योंकि वे ही ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो धन के लिए धन को प्यार करते हैं और धनार्जन को सर्वोपरि मानते हैं । विमान अपनी जमान को प्यार करता है और उसमें अत्यधिक निवेश करने अपने को नष्ट भी कर सकता है । इसी प्रकार जब किसी उद्योगपति को अपनी मशीनों की आवाज, अपने अर्थात् काम करने वाले लोगों, अपने उत्पादन तथा दमारतो आदि से मोह हो जाता है, या जब वह अपनी वित्तीय निपुणता पर भावुकता का थोड़ा भी प्रभाव पड़ने देता है, तो उसके पथ-भ्रष्ट हो जाने का भय रहता है । केवल पैसेवर वित्तदाता ही ऐसा है जो रुपये-पैसे का कारबार करते हुए रुपये को रुपये के लिए ही प्यार करता है, और यही प्यार उसे वे भूनें करने से रोकता है, जिनमें अन्य व्यवसायी पँस जाते हैं । अतः इस तर्क के अनुसार उद्योग का नियन्त्रण अनिवार्यतः वित्तदाताओं के हाथ में चला जाता है । और जैसे-जैसे बाजार विश्वव्यापी होना जाता है वैसे-वैसे ही वित्तदाताओं के बीच एकाधिकारी करार भी व्यापक हो जाते हैं । वास्तव में यह तर्क उन लोगों का गढ़ा हुआ है जिन्होंने मुख्य रूप से जर्मनी के फँटरी उद्योग के उत्कर्ष का अध्ययन किया है, जहाँ उद्योगीकरण लाने में बैंकों ने अन्य देशों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदर्शित की थी । इस तर्क को उलट भी सकते हैं । यह भी कहा जा सकता है कि 'आरम्भ में' उद्योग वित्त के लिए पूँजी-बाजार पर निर्भर होता है, और इस बात की सम्भावना रहती है कि उद्योगपति वित्तदाताओं के चहुँपे में पँस जायेंगे । परन्तु पूँजीवाद की 'बाद का अवस्थापना में' उद्योग अविनिरत तन्मा के रूप में बड़ी मात्रा में अस्तित्व करने लग जाता है, अतः पूँजी-बाजार का महत्त्व घटोत्तम रूप में रह जाता है, और उद्योगपति बाहरी सहायता पर उतना अधिक निर्भर नहीं रहते । ऐसी बात किन्तु नहीं है कि उद्योग ज्यों-ज्यों पुराना पड़ता जाता है वह



विक्रमी विनयाताओं के चतुर्ण में फँसना जाता है, बल्कि मुचाई यह है कि उद्योगों का प्रवन्द करने वाले लोग बाहरी विनीय निदन्त्रण में आर्थिक स्वतन्त्र होने जाने हैं ।

इन अनुमानों के प्रतावा, हम इस तथ्य को उभेसा नहीं कर सकते कि कुछ उद्योग कालान्तर में एकाधिकार के अधीन हो जाते हैं । यह सत्य प्रवृत्ति बन्तुव ननी उद्योगों में पाई जा सकती है, परन्तु कुछ उद्योग दूसरों की अपेक्षा इसके अधिक विकार होते हैं । इसका एक स्पष्ट कारण सर्वसम्मत विज्ञान का सिद्धान्त है जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, इसके अनुसार हर नया उद्योग एक नए विज्ञान की अवस्था में गुडगता है, उसके बाद जब वह अपने पूर्ववर्ती उद्योग को उदात्त फँवता है तो उसकी प्रगति धीमी हो जाती है । जब कोई उद्योग धीमी प्रगति के दौर में प्रवेश कर रहा होता है तो दही फलों के लिए बाजार की तुलना में अपने आकार में अधिक वृद्धि करना काफी आसान होता है, और इस प्रवन्द में यदि वे छोटी-छोटी फलों को बिलकुल ही नहीं उदात्त फँवती तो कम-से-कम दिनों और जीने दी की नीति का अनुसरण अवश्य करती हैं क्योंकि वे जानती हैं कि अपेक्षाकृत धीमी गति से बढ़ने वाले बाजार में बाजार जमाने के लिए सफल करना निश्चित ही महंगा पड़ता है । यह ऐसी अवस्था होती है जब उद्योग नवीन प्रविद्या दृष्टने बाजारों के हाथों से निवन्तर नाकग्याही के हाथों में आ सकता है, उन पर प्रवन्द-कृत्यल व्यक्तियों का अधिकार हो जाता है, और बुनियादी तकनीकी परिवर्तन होने बन्द हो जाते हैं । परन्तु अला अला उद्योगों के सम्बन्ध में जो बात लागू होती है उसी नहीं कि वह सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर भी लागू हो । इसका कारण यह है कि नये उद्योग जगतार एक-दूसरे को चुनौती देते रहते हैं । यदि कोई उद्योग पुराना होने ही एकाधिकार के अधीन हो जाता है, और नवीन प्रविद्या में रचि सेना छोट देता है, तो हो सकता है कि इसी कारण कोई नया उद्योग उस उद्योग का प्रतिदोशी उत्पादन पैदा करके उसको पछाड दे । यदि नये निदन्त्रण में जगतार नये नये उत्पादन होते रहें, तो बाहे हर उद्योग अधिक अधिकारवादी हो जाए, परन्तु नमूची अर्थ-व्यवस्था अधिक एकाधिकारवादी नहीं हो पाती ।

परन्तु यह भी हो सकता है कि अर्थ-व्यवस्था शुरू में उद्योगकर्ताओं के व्यवहार के कारण नहीं, बल्कि उस व्यवहार के प्रति समुदाय की प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप अधिकारिक एकाधिकारवादी हो जाए । प्रतिदोशीता स्वयं अपने मनु पैदा करती है, और हो सकता है द्वन्द्वालक प्रविद्या के कारण उसमें स्वयं उद्योग ही गया छुट जाए । प्रतिदोशीता से विवेक, प्रकृतिक अप्रतिशील और मान्य-हीना को ज्ञान पटुचती है, और चूंकि इनकी नया प्रतिदोशीता से ज्ञान उदात्त

वालों की सख्या में वहीं अधिक होती है, अतः उन्हें प्रतियोगिता के मिडान्त के विरुद्ध जिहाद खड़ा करने में बड़ी आसानी होती है। आर्थिक विकास के प्रभावों का विरोध सबसे पहले किसान, हस्तशिल्प कारीगर, छोटे-छोटे व्यापारी और छोटे-छोट उद्योगपति करते हैं। बुजाल वर्गचारियों में भी तगड़ी विरोधी भावना पैदा हो जाती है, क्योंकि तबलीकी परिवर्तनों के कारण उनके कौशल के लिए हमेशा बठिनाई बनी रहती है। अतः आर्थिक विकास व्यापार-संधों और मजदूर-संधों को बढ़ावा देता है, जिनका उद्देश्य एकाधिकारवादी दबावों का महारा सेक्टर विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों का विरोध करना होता है। यह संध राजनीतिज्ञों का भी महारा लेते हैं जो मुट्ठी-भर प्रभावशाली व्यक्तियों के हितों के विरुद्ध बहुसंख्यक लोगों के हितों की रक्षा के लिए सीधता से कानून पास कर देते हैं। दार्शनिक भी समय की जरूरत को देखते हुए अपने दर्शन में समुचित परिवर्तन कर लेते हैं, पुरोहित-वर्ग मध्यकालीन 'सन्तुलित' समाज को वापस लाने की माँग करते हैं, अर्थशास्त्री प्रतियोगिता-असंयक्त तर्कों में दोष ढूँढते हैं और उनका प्रचार करते हैं, और वकील उन कानूनों की घुटियों को ढूँढ निकालते हैं जिनका आश्रय लेकर एकाधिकारी बरगार किए जाते हैं। हो सकता है कि इस मामले में प्रतियोगिता की पराजय हो जाए, क्योंकि आर्थिक विकास के सुगम परिणामों का उपभोग करते-करते ही लोग यह भी समझ जाते हैं कि आम जनता का हित और किसी वर्ग-विशेष का हित एक ही नहीं होता। साथ ही, विकास अपने मार्ग में स्वयं ऐसी भागी रचावटें पैदा कर लेता है जिनसे कुछ मामलों में नवीन प्रतियोगिता और नये विरोध की गति कम हो सकती है।

इसके बाद हम आर्थिक विकास की प्रगति के साथ-साथ घाय के वितरण में होने वाले परिवर्तनों पर आधारित धारणाओं पर विचार करेंगे। पहले हम मिडान्त पर और उसके बाद तथ्यों पर धर्षा करेंगे। यदि पूर्ण रोडगार के दौरान घाय के वितरण में ऐसा परिवर्तन हो जाए जिसमें राष्ट्रीय घाय की तुलना में उपभोग की इच्छा अधिक तेजी से बढ़ने लगे, तो हमें परिणामस्वरूप निवेश के साधनों के अनुपात में सापेक्ष कमी हो जाएगी, और राष्ट्रीय घाय में तुलनात्मक गतिरोध पैदा हो जाएगा। परन्तु यह भी कहा जा सकता है कि उपभोग की प्रवृत्ति बढ़ने से निवेश को बढ़ावा मिलेगा, और बचत के अभाव को उधार का विस्तार करने पूरा किया जा सकेगा। ऐसी स्थिति में स्थिति के मतलब बन पर (जिसे निरस्तग्रेह समय-असमय पर मन्दी आती है, जिसमें मुद्रा के मूल्य में लोगों का विश्वास बनाए रखने में सहायता मिलती है) निवेश का स्तर वापस रखा जा सकेगा। हमें विपरीत पर भी तर्क दिया गया है कि यदि आर्थिक विकास के पराजय उपभोग की तुलना में बचत

बढ़ जाएँ तो ज्यादा-ज्यादा देश की आय बढ़ती जाएगी त्यों-त्यों बचतों का समुचित उपयोग कर पाना देश के लिए कठिन होना जाएगा, जिससे दीर्घकालीन मन्दी के दौरे का भी सिकार बनना पड़ सकता है। इन तर्कों पर हम इन अध्याय के खण्ड ० (क) और ३ (ग) में पहले ही विचार कर चुके हैं और दम्य चुके हैं कि इन्हें ज्यादा-ज्यादा स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये उपभोग और निवेश के बीच एक काफी अनन्य सम्बन्ध मानकर चलते हैं। परन्तु ध्यान देने की बात है कि जहाँ एक ओर विकटोरियाकालीन अधिकांश अर्थशास्त्रियों का मत था कि बचत की बड़ी विकास के मार्ग में सबसे बड़ी अड़चन है वहाँ दूसरी ओर आज के अधिकांश अर्थशास्त्रियों का मत है कि बचत की अत्यधिकता ही मजदूर श्रमजीवी के विकास में सबसे बड़ी बाधा बनती।

यदि हम तथ्यों की बात लें, तो मुमकिन प्रश्न यह पैदा होता है कि राष्ट्रीय आय के बढ़ने के साथ-साथ लाभों पर क्या प्रभाव पड़ना है, क्योंकि बड़ी-बड़ी बचतें तभी होती हैं जब बड़े-बड़े लाभ होने हैं। इस अध्याय के पिछले एक खण्ड में हम देख चुके हैं कि आर्थिक विकास के उन सभी चरणों में लाभ राष्ट्रीय आय की तुलना में बढ़ते हैं जिनमें अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों से मजदूरों की पूँजीवादी क्षेत्र में एक स्थिर वास्तविक आय पर लाया जा सके। एक बार कृषि, या घरेलू नौकरी, या छोटे-मोटे व्यापार, या औरतों के घरेलू काम, या अस्थायी कारबार, अथवा जनसंख्या की वृद्धि से उत्पन्न 'बेशी' मजदूरों को रोजगार देने-भर का पूँजी-संचय हो जाने पर मजदूरियाँ पूँजी-संचय के साथ-साथ बढ़ती जाती हैं; इसमें किसी भी दिशा में अनिवार्य दीर्घकालीन परिवर्तन होने के प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। विकास की आरम्भिक अवस्थाओं में लाभों के बढ़ने के कारण निवेश में कोई बाधा नहीं पड़ती; बल्कि इससे निवेश को बढ़ावा मिलता है। चूंकि मजदूर उपलब्ध होने हैं, अतः पूँजी-संचय के कारण पूँजी और रोजगार में लगे मजदूरों के परस्पर अनुपात में कोई परिवर्तन नहीं होता, और इसीलिए लाभों की दर घटने की भी कोई प्रवृत्ति नहीं होती। बाद की अवस्था में जब मजदूरों की बड़ी हो जाती है, यदि नवीन प्रक्रिया द्वारा पूँजी-निवेश के लिए नये अवसर पैदा नहीं किये जाते तो लाभों की दर घट जाती है। बहुत से ऐसे अर्थशास्त्री (स्मिथ, रिक्वाडॉ, मार्शल, वीग्स और अन्य कई) हुए हैं जिन्हें यही आशा थी कि ऐसी अवस्था में लाभों की दर बढ़ने की बजाय घटेगी, और, वर्तमान धारणा के विपरीत, उनमें से अधिकांश अर्थशास्त्री यही आशा करने थे कि इससे निवेश को बढ़ावा मिलने की बजाय उसके मार्ग में बाधा ही पड़ेगी। हो सकता है कि आर्थिक इतिहास के आरम्भिक चरणों में ऐसे किसी कारण के फलस्वरूप लाभ कम हो गए हों, परन्तु गत

१०० वर्षों के दौरान लाभों की दरों में कोई दीर्घकालीन गिरावट दिखाई नहीं देती। इस प्रसंग में भी सरकारों को ध्यान में रखना चाहिए। यदि सरकारों में कोई दीर्घकालीन प्रवृत्ति होती है, तो वह लाभों पर कर लगाने और उपभोग को बढ़ावा देने की होती है, परन्तु 'परिपक्व अर्थ-व्यवस्थाओं में इससे निवेश में बाधा पड़ती है या मंदायता मिलती है, इस बात को विवाद-ग्रस्त समझकर छोड़ देना चाहिए।

मानव मानव की एक अन्य भविष्यवाणी भी सही सिद्ध नहीं हुई जो सर्व-हारा की तकलीफों के बढ़ने जाने के बारे में थी। मानव के मिथान्त के अनु-सार बढ़े हुए ज्ञान और चतुर्ता हुई पूँजी के माध्यम से उत्पादकता बढ़ने के बावजूद वास्तविक मजदूरियों गुजारे के स्तर पर ही बनी रहती हैं (चनीय उतार-चढ़ाव की अवधि को छोड़कर)। तकनीकी प्रगति का साग लाभ पूँजी-पतियों के पास जाता है जिससे मजदूरियों की तुलना में उनके लाभ बहुत बढ़ जाते हैं। हम देख चुके हैं कि यह विस्लेषण पूँजीवाद की धारमिभक अवस्था में तो लागू होता है पर बाद की उन अवस्थाओं में लागू नहीं होता जब मज-दूरों को रोजगार देने-भर का पूँजी-मक्य हो जाता है। साथ ही मानव मानव को आशा थी कि उद्योग पर अधिकाधिक एकाधिकार होने से पूँजीपति-वर्ग कम हो जाएगा, और छोटे पूँजीपतियों को समाप्त एक अवस्था करके मजदूर-वर्ग बढ़ेगा। इससे बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या बढ़ने के कारण मजदूरी-स्तर में उथल-पुथल पैदा हो जाएगी, और दोनों वर्गों के बीच खाई भी बढ़ जाएगी। जहाँ तक इस खाई का मामला है, बिलकुल उलटी बात हुई है, धार्मिक विकास के फलस्वरूप एक विशाल तथा मिला-जुला मध्य-वर्ग पैदा हो गया है, वास्तव में इसके कारण सामाजिक वर्गों का अन्तर इतना घस्पष्ट हो गया है कि उन्नत औद्योगिक समुदाय का लगभग हर व्यक्ति अपने-बाँ मध्य-वर्ग की किसी-न-किसी शाखा का सदस्य समझता है। मानव का कहना था कि चरम अवस्था में जाकर मशीनों का प्रयोग बढ़ने से मजदूरों को निकाल दिया जाएगा, और निरन्तर बढ़ती रहने वाली प्रौद्योगिकीय बेरोजगारी पैदा हो जाएगी। इन सभी बातों के कारण श्रमिक-वर्ग की तकलीफें बढ़ जाएंगी, जो गुजारे-भर की मजदूरी और निरन्तर बढ़ती रहने वाली बेरोजगारी के दबाव से पीड़ित होकर और वर्ग-भेद की निरन्तर बढ़ने वाली भावना के कारण सगठित होकर कभी-न कभी विद्रोह कर देंगे, और एक मक्य ज्ञानि हो जाएंगे। ज्ञानि द्वारा विगी भी परिपाटी को समाप्त करना सम्भव है, चाहे ज्ञानि के कारण कुछ भी रहे हो। पूँजीपति प्रणामी ने उन्नत अवस्था में आकर मजदूरों को अधिकाधिक सुरी बनाया है, कि अधिकाधिक सुरी, जैसी कि मानव की भविष्यवाणी थी। हो सकता है कि उसी यह धारणा

भी गलत हो कि तकतीकें बढ़ने से ही श्रान्ति होती है। सभी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्थाओं में आज मजदूर-वर्ग की १०० वर्ष पहेले की अपेक्षा वहीं अधिक आर्थिक व राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं और कोई नहीं कह सकता कि वे इसका क्या उपयोग करेंगे। हो सकता है कि वे विद्यमान प्रणाली को खोकार कर लें, और उसे सुधारन में ही लग रहें (जैसे अधिकाधिक म्पायित्व पैदा करके या निर्वत या हतभाग्या के लिए सामाजिक बीमा की व्यवस्था करके)। अथवा, यह भी हो सकता है कि वे प्रतिबन्धवादी नीति द्वारा, बहुत अधिक कराधान द्वारा, या मालिक-मजदूरों के बीच विस्वान घटाने वाले समन्वयपूर्ण शब्दों या कार्यों द्वारा इस प्रणाली को नष्ट कर दें। किसी भी अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में कोई व्यक्ति यह भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि आन्तरिक बलह के कारण उनमें गद्यवरोध नहीं पैदा होगा, ऐसा हमें लग सम्भव है, और अनेक बार ऐसा हुआ भी है। इसके विपरीत, धन के वितरण और गृह-कराह के बीच कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं है, अतः यदि हम इस बात को भविष्यवाणी कर भी सकें (जो हम कर नहीं सकते) कि मजदूरियों की तुलना में लान बढ़ेंगे या नहीं, तो भी इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि इसके फलस्वरूप सामाजिक सुमेल बढ़ेगा या सामाजिक फूट बढ़ेगी।

अगला तर्क उन भविष्यवाणियों पर आधारित है जो यह बताती हैं कि आर्थिक विकास की प्रगति होने से जनसंख्या पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में भी परस्पर विरोधी सम्प्रदाय हैं। इस सम्प्रदाय का कहना है कि आर्थिक विकास होने पर जनसंख्या अवश्य बढ़ती है। इसके परिणामस्वरूप प्राकृतिक साधन समाप्त हो जाते हैं, वन काट दिए जाते हैं, भूमि का नष्ट हो जाता है, और खनिज-सम्पत्ति चुकने लगती है। वस्तुतः उत्पादन भी कम हो सकता है, और अकाल पड़ने से लो मर भी सकते हैं। अथवा जनसंख्या की जरूरत पूरी करने के लिए प्रतिकूल व्यापार-शर्तों पर आयातों का अधिकाधिक आयात करना पड़ सकता है। एसी स्थिति में लोग और पूँजी ऐसे स्थानों को चले जाते हैं जहाँ स्थिति अधिक उपयुक्त हो, और देश में आर्थिक गति-रोध पैदा हो जाता है। इतिहास में इन प्रकार के अनेक उदाहरण हैं, जैसे जलीसर्वाँ शतान्त्री के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश द्वीप-समूह से लोग और पूँजी का उत्स्रवास। परन्तु यह बात निर्विवाद नहीं मानी जा सकती कि जनसंख्या सर्वत्र प्राकृतिक साधनों की सीमा तक बढ़ जाती है। अगले अध्याय में हम देखेंगे कि मृत्यु-दर कम होने के कुछ समय बाद ऐसी सामाजिक शक्तियाँ कार्यशील हो जाती हैं जिनसे जन्म-दर में भी होने लगती है। अतः किसी भी अर्थ में जन-धियम होने से पहले ही कम जन्म-दर और कम मृत्यु-दर की महायत्ना से देश में सन्तुलन स्थापित होना सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त मत के विरोधियों की विन्ना का कारण यही सम्भावना है। इन लोगों के अनुसार आधुनिक विकास के फलस्वरूप कुछ समय बाद जनसंख्या की वृद्धि प्रतिवार्यत धीमी हो जाती है, या निरग्रह दृष्टि से उगम विगवट आन लगती है। इसमें परिणाम इनमें सम्भवी होने हैं कि उगम दीघवार्थीन गति-रोध पैदा हो सकता है, चाहे इसके पीछे अर्थ-व्यवस्था का अधिकाधिक घनत्व होना, या जोखिम उठान की भावना में बमी होना, या अर्थ-व्यवस्था का कम प्रतियोगी हो जाना, या निवेश के अवसरों का कम हो जाना, कोई भी कारण हो।

अर्थ-व्यवस्था इसलिये कम नम्य हो जाती है कि धन-बाजार में आने-वाले नये मजदूरों की संख्या हर साल घटती जाती है। अर्थ-व्यवस्था की हर प्रणाली में माँग और पूर्ति में लगातार परिवर्तन होत रहत हैं, जिसका कारण उद्योगों तथा अन्य धन्यों में मजदूरों का पुनर्वितरण जरूरी हो जाता है। उम स्थिति की अपेक्षा जिसमें उद्योगों में आने वाले नये मजदूरों को ऐसे धन्यों में लगाना हो जहाँ उनकी सर्वाधिक आवश्यकता है, पुनर्वितरण तब अधिक कठिन होता है जब उन्हें कामों में लगाना हो जो वे पहले ही शुरू कर चुके हो। अतः जिस अर्थ-व्यवस्था में उद्योगों में हर साल अधिक संख्या में नये लोग आत हैं वह उम अर्थ-व्यवस्था में अधिक नम्य होती है जिसमें नये आन वालों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है। हो सकता है कि इस बात के महत्त्व को बहुत बड़ा-चड़ाकर बताया जाता हो, फिर भी हर ऐसी अर्थ-व्यवस्था में, जो पूर्ण रोजगार प्रदान करती है, अतिवाहन बहुत होता है। किन्ती उद्योगों में मजदूरों की बमी होने का कारण यह नहीं है कि उन्हें पर्याप्त संख्या में मजदूर नहीं मिलते बल्कि यह है कि जो मजदूर मिलते हैं उन्हें वे टिबानहीं पाते। किन्ती भी अर्थ-व्यवस्था के लिए मुद्ध, या मुद्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न धन्यों में बड़ी मात्रा में मजदूरों का अन्धानक अन्तरण कर सकता कठिन होता है, परन्तु जहाँ तब दान्ति-वाक में अपेक्षित साधारण सीमान्त-अन्तरण का मवात है, यह मन्देहजनक है कि प्रतिवर्ष नये मजदूरों का प्रवेश होने या न होने में स्थिति पर कोई बड़ा प्रभाव पडता है।

श्वरधी अर्थ-व्यवस्था में निवेश के अधिकाधिक जोखिम के बारे में काफी कहा जा सकता है। किन्ती ऐसे देश में, जहाँ जनसंख्या २ प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ रही हो, और साम्प्रतिक आय इसी या इसमें अधिक दर से बढ़ रही हो, वहाँ निवेश के मामले में मुश्किल से ही कोई बड़ी कठती होती है। यदि उद्यमकर्ता किन्ती निवेश प्रकार के काम में आवस्यता के १० प्रतिशत अधिक लगा देने हैं तो अस्वाधी रूप से उद्योग में अन्धी पैदा हो जाती है परन्तु पाँच लाख में या इसमें भी कम समय में माँग मन्तार के बराबर हो जाती है, और

कुछ दुर्बलता-लाभ भी होने लगता है। निवेश की गतिधियाँ उन दोनों उपायों से टोक जाती हैं—एक पूँजी का व्यापारिक मूल्य-हास होने से, जिससे मन्दाई कम हो जाती है, और दूसरे, आय तथा जनसंख्या की वृद्धि होने से, जिससे माँग बढ़ जाती है। यदि जनसंख्या बढ़ न रही हो तो निवेश की गतिधियाँ केवल मूल्य-हास और प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि से टोक होती हैं, लेकिन यह एक दीर्घकालीन तथा अष्टमाध्य प्रक्रिया हो सकती है। अतः हर प्रकार के निवेश में बाड़ी जोखिम रहती है। इसी से तीसरी बात पैदा होती है। यदि जायिम उठाने की भावना को ठेस पहुँचे तो अर्थ-व्यवस्था कम प्रतियोगी हो जाती है। एसा होने पर उद्यमकर्ता बाजार बाँटने की व्यवस्था में उस स्थिति को अपना अग्रिम रुचि लेन लग जाते हैं जब माँग तेजी से बढ़ रही हो। ये दोनों बातें, अर्थात् जायिम उठाने की भावना को कम और एकाधिकार की वृद्धि, निवेश का ठेस पहुँचाती हैं और इस प्रकार दीर्घकालीन गतिरोध पैदा करती हैं। परन्तु उसके विपरीत यह तर्क भी बड़ी आसानी से दिया जा सकता है कि जब बाजार का विस्तार बन्द हो जाता है तो बाजार के लिए सुधरे तैयार हो जाता है। अतः अनुमान पर आधुनिक तर्क पर विश्वास करने में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकलता, और न ही ऐसे पर्याप्त प्रमाण हैं जिनकी सहायता से कोई पक्का निर्णय दिया जा सके।

निवेश इसलिए भी कम हो सकता है कि जनसंख्या के विकास की गति कम होने से निवेश के अवसर कम हो जाते हैं। निवेश का कुछ भाग बतौर हुई जनसंख्या के लिए नये मकानों, नये हृदि-शक्ति, नयी मज्जा, अधिकाधिक परिवहन-सुविधाओं, अधिकाधिक कारखानों आदि की व्यवस्था पर लगाता होता है। अतः ज्यों-ज्यों जनसंख्या की वृद्धि-दर कम होती जाती है, त्यों-त्यों उसी मात्रा में निवेश के अवसर कम होते जाते हैं। परन्तु प्रति-व्यक्ति आय की वृद्धि-दर कम होगी या नहीं, इस प्रश्न को पूर्ण रोड़गार बनाए रखने के प्रश्न के साथ नहीं निर्याप्य जाना चाहिए। यदि निरुद्ध यह कठिनाई हो कि प्रति-व्यक्ति पूँजी में एक स्थिर दर से वृद्धि करन के लिए लोग जरूरत से अधिक बचत कर रहे हों, तो उपभोग बढ़ाने और बचत को निरुत्साहित करने सुन्दरी कार्रवाही करके इस कठिनाई का दूर किया जा सकता है। इस स्थिति में सरकार ऐसे कर्गों में दखौतरी का सकती है जिनका प्रभाव बचत पर पड़े, और ऐसे कर्गों में कमी का सकती है जिनका प्रभाव उपभोग पर पड़े, या फिर सरकार आवास, सड़कों, चिकित्सा-सुविधाओं तथा इसी प्रकार के अन्य खर्चों के लिए देगी बचत का उन्मोचन कर सकती है। यदि अनुचित उपाय किये जाएँ, तो आशा की जा सकती है कि जनसंख्या की वृद्धि-दर घटने के साथ प्रति-व्यक्ति आय की वृद्धि-दर उँची हो जायगी, क्योंकि बटती हुई

जनसंख्या की व्यवस्था करने के लिए पहले जिन पूजा की आवश्यकता पड़नी थी वह अन्न प्रति व्यक्ति पूजा बढ़ाने में लगाई जा सकती है। हमने विपरीत, यदि प्रति व्यक्ति पूजा बढ़ जाय तो जब तक काफी संख्या में नवीन प्रतिस्पर्धा नहीं होगी तब तक पूजा पर लाभ की दर घटती रहगी, और हमने निवेश की इच्छा में भी कमी आने की सम्भावना होगी (यदि आय समझने है कि निवेश ऊँचे लाभों की वजाय अन्न उपभोग पर निर्भर होना है और लाभों की दर में कमी अन्य आयों का बढ़ाकर उपभोग की प्रवृत्ति को बढ़ाती है तो निवेश की इच्छा बढ़ सकती है)। दीर्घकालीन वृद्धि के लिए अन्वेषण एवं अन्वेषणकारी नवीन प्रतिस्पर्धा के प्रसार पर और हमें बताने पर निर्भर करने है कि हम प्रवाह के करने के कोई कारण हैं या नहीं।

आ जनसंख्या-सम्बन्धी तर अन्वेषणकारी है। हम पूर्ण विश्वास के साथ नहीं कह सकते कि विकास की गति की अवस्थाओं में जनसंख्या माधुन्य में अन्न बढ़ जायगी। हमने विपरीत, यह आशा हो सकती है कि बाद की अवस्थाओं में जनसंख्या में स्थायित्व या गिरावट पैदा हो जायगी। हम यह भी नहीं जानते कि यदि यह आशा का गति साबित हुई तो यह कितनी गम्भीर होगी। लगता तो यह है कि जनसंख्या की वृद्धि-दर कम होना प्रति व्यक्ति पूजा तेजी के साथ बढ़ने लगेगी, परन्तु अन्वेषण और अन्वेषणकारी पैदा हो जाने की सम्भावना को भी बिलकुल ही नहीं ठुकराया जा सकता।

अन्त में हम अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा को बताने के लिए हैं। हमें तर्क के अनुसार 'पुराना' देश कुछ समय बाद विश्व-बाजार में अपना स्थान खोजेंगे है। हमें बाद लाभों में गिरावट आने के कारण, या हमें कारण कि नये विकासोन्मुख देश में निवेश करना अधिक लाभदायक होगा है, पुराने देश में निवेश घट जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की रूपरेखा में परिवर्तन होने के कारण भी 'पुराने' देश का व्यापार घट सकता है। नये व्यापार-मार्गों की खोजों के पक्षरूप में 'पुराना' देश अपनी भौगोलिक सुविधाओं में अधिक हो सकता है, जैसा कि अमेरिका की खोज के कारण हुआ। तबकीकी प्रगति के कारण उम्मेद खोजों की माँग समाप्त हो सकती है, या उम्मेद खोजों के साथ प्राकृतिक माधुन्य की माँग घट सकती है जिसके कारण वह बहुत प्रगति रहा हो, जैसा कि चिली की माइनेट की माँग के मामले में हुआ। विश्व-व्यापार की रूपरेखा में होने वाले परिवर्तनों के अभाव, 'पुराना' देश नये प्रतिस्पर्धियों के सामने जमे हुए व्यापार में अपना नेतृत्व खोजेंगे है, यदि यह नेतृत्व नवीन प्रगति की अक्षता पर ही निर्भर हो। हमें कारण यह है कि अन्य देश भी देख-गंवर नहीं देखना के माँग खोजें हैं और ऐसा होने पर पुराना देश अपनी अन्वेषणकारी, धैर्य उत्पादन और कर्मों की अन्वेषणकारी अधिक



क्षमता से वंचित हो जाता है। अतः नवीन प्रक्रिया पर आधारित नेतृत्व तभी तक कायम रखा जा सकता है जब तक वह देश नवीन विचारों के प्रवर्तन में अग्रणी रहे। इस प्रकार का नेतृत्व बनाए रख पाना कठिन होता है। यदि हम प्राकृतिक साधनों की तुलना में माँग में होने वाले परिवर्तन, और कुछ दशान्दियों से अधिक समय तक तकनीकी श्रेष्ठता बनाए रखने की कठिनाइयाँ, दोनों को ध्यान में रखें, तो यह जानकर कोई आश्चर्य नहीं होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई भी देश कुछ दशान्दियों से अधिक समय तक अपना नेतृत्व कायम नहीं रख सकता। राष्ट्रीय आय की तुलना में निवेश का अनुपात कम हो जाने से ही नेतृत्व खोने का अनिवार्य परिणाम गतिरोध नहीं होता। हाँ यदि इसके साथ ही आयात-निर्यात स्थिति प्रतिबल हो जाए, या यदि निवेश समुद्र पार के नये देशों की ओर आकृष्ट हो जाए, तो इस प्रकार का प्रभाव अवश्य पट सकता है। ऐसा लगता है कि ब्रिटेन में प्रति व्यक्ति उत्पादन की वृद्धि-दर उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ के ७५ वर्षों की तुलना में बाद के वर्षों में कम रही है, जिसके समाधान में कुछ लोग उपर्युक्त कारण देने हैं। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता पर अधिक चर्चा अध्याय ६ में की जाएगी।

अतः ऐसी अनेक खाइयाँ हैं जिनमें कोई देश दीर्घकालीन प्रगति के पतन-स्वरूप गिर सकता है, वह भौतिक वस्तुओं से उकना सकता है, उसके उद्यम-कर्ताओं में प्रतियोगिता की भावना कम हो सकती है, वहाँ की जनता परिवर्तन के मार्ग में रोड़े खड़े कर सकती है, आय का वितरण प्रतिबल तरीके से हो सकता है, उसके प्राकृतिक साधन समाप्त हो सकते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उसका महत्त्व समाप्त हो सकता है, या वह नवीन प्रक्रियाओं के क्षेत्र में पिछड़ सकता है। इनके अलावा हो सकता है कि वह किसी प्राकृतिक दुर्घटना का शिकार हो जाए, या बुद्ध, गृह-युद्ध, या कुरी सरकार के कारण बरबाद हो जाए। इनमें से कोई भी बात पैदा हो सकती है। जब इतनी सारी खाइयाँ हैं, जिनमें कोई देश गिर सकता है, तो यह जानकर तनिक भी आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि भूतकाल में कई देश इनमें से किसी एक या एक से अधिक खाइयों में गिर चुके हैं। कोई भी व्यक्ति भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि किसी देश में निवेश की दर कब कम होने लगेगी—दशान्दियों बाद या शताब्दियों बाद। परन्तु गत चार हजार वर्षों के आर्थिक इतिहास के सम्बन्ध में हम थोड़ा-बहुत जो कुछ भी जानते हैं, उसमें इस आशा की पर्याप्त पुष्टि होती है कि विकास की लम्बी अवधि के बाद कालान्तर में धीमी प्रगति, गतिरोध, या गिरावट अवश्य आती है।

इस अध्याय में जिन समस्याओं की चर्चा की गई है, उनमें से अनेक पर कोलिन क्लार्क की दो कडीशस ऑफ इकॉनॉमिक प्रोग्रेस (आर्थिक प्रगति की

सदरभं टिप्पणी) शर्ते) दूगग मस्वरण, लदन, १९५२ और प्रार० नुर्कसे की कंविटल फॉर्मेशन इन अडरडेवलपड कट्टीज (कम विकसित देशों में पूँजी निर्माण), ऑक्मफोर्ड, १९५३ में विचार किया गया है। पूँजी-गम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए बनाव की पुस्तक देखिए, एस० कुजनेट्ज द्वारा सम्पादित इनकम एण्ड वेल्थ सौरीज, २ इनकम एण्ड वेल्थ ऑफ दो युनाइटेड स्टेट्स (प्राय और धन, सीरीज २ अमरीका की प्राय और धन), कैम्ब्रिज, १९५२ भी देखिए। आर्थिक विवादा पर स्फीति के प्रभाव के लिए सी० श्रेगियानी-दुरोनी की दो इकानमिक्स ऑफ इन्फ्लेशन (स्फीति का अर्थशास्त्र), लदन, १९३७ देखिए, जिसमें जर्मन स्फीति का विश्लेषण किया गया है और धन जे० हैमिल्टन को क्वार्टरली जनरल ऑफ इकॉनमिक्स (अर्थशास्त्र का त्रैमासिक जर्नल), १९६० में 'लाभ, स्फीति और औद्योगिक क्रान्ति, १७४१-१८००' शीर्षक लेख देखिए। बचतों के स्रोतों पर बी० एफ० जान्स्टन को जनरल ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी (राजनीति का अर्थशास्त्र का जर्नल) दिसम्बर, १९५१ में जापान में वृद्धि-उत्पादकता और आर्थिक विकास' शीर्षक लेख पढ़िए, आर्ट० आर्ट० प्रैमर का लैंड इकॉनमिक्स (भूमि अर्थशास्त्र), नवम्बर १९५३ में मॉन्टी, 'जापान में भूमि सुधार और औद्योगिक विकास' शीर्षक लेख पढ़िए, ई० ए० रेडिंग की सेविंग्स इन ग्रेट ब्रिटेन १९२२-१९३५ (ग्रेट ब्रिटेन में बचतें १९२०-१९३५) ऑक्मफोर्ड, १९३६ पढ़िए, सी० टी० सोन्टग का मैनचेस्टर स्टैटिस्टिकल सोसाइटी (मैनचेस्टर साम्यकीय सोसाइटी) नवम्बर, १९५४ में 'बचतों और निवेश का स्वरूप' शीर्षक लेख देखिए, एशिया और सुदूर-पूर्व के लिए राष्ट्रमण्डल के आर्थिक आयोग का ही मोबीसाइडेशन ऑफ डोमेस्टिक कंविटल रिपोर्ट एण्ड डॉकुमेन्ट्स ऑफ दो सेक्ड अकिंग पार्टी ऑफ एक्सपर्ट्स (धरेंदू पूँजी का एकत्रीकरण विशेषज्ञों के दूसरे कार्यकारी दल की रिपोर्ट और प्रलेख), बीकाव, १९५३ पढ़िए। आगकी तुलना में लाभों और बचतों की वृद्धि की और अर्थिक व्याख्या के लिए मैनचेस्टर स्कूल (मैनचेस्टर स्कूल), मई १९५६ में मेरा लेख धन की असीमित सप्लाई के साथ आर्थिक विकास पढ़ें। ए० के० बॅरनब्राग की होम एण्ड फारेन इनवेस्टमेन्ट १८७०-१९१३ (घरेलू और विदेशी निवेश १८७०-१९१३) कैम्ब्रिज, १९५३ भी देखिए।

अन्तर्राष्ट्रीय निवेश के गम्बन्ध में जी० सी० एलन और ए० जी० डॉनी-पोर्न की वेस्टर्न एन्टरप्राइज इन फार ईस्टर्न इकॉनमिक्स डेवलपमेन्ट चीन एण्ड जपान (सुदूर-पूर्व के आर्थिक विकास में अन्तर्राष्ट्रीय अनुभव चीन और जापान), लदन, १९५४, एन० एम० सुवानन की इन्टरनेशनल इनवेस्टमेन्ट एण्ड डोमेस्टिक वेल्थकेपर (अन्तर्राष्ट्रीय निवेश तथा घरेलू बचत), न्यूयार्क, १९५५,

हल्लू० कनिथम की एतिपन इम्मिग्रेंट्स (टु इगनेट) (विदेगी आप्रवासी (इगनेट में) लदन, १८८५, ई० डी० होमर का अमेरिकन इकॉनमिक रिव्यू (अमरीकी आर्थिक समीक्षा), दिनम्बर १९५० में 'भुगतान-शेष पर विदेगी निवेश का प्रभाव' शीर्षक लेख, डी० पिच का इन्टरनेशनल मॉनिटरी फण्ड स्टाक वेपर्स (अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि कर्मचारी लेख) मितम्बर १९५१ में 'अविकसित देशों की निवेश सेवा' शीर्षक लेख, एच० फॉम की यूरोप, दी पल्ड्स चेंकर (विश्व का बैंकर, यूरोप) न्यू इवेन १९३०, वी० आर्ट० लेनिन की इम्पीरियलिज्म ( साम्राज्यवाद ) लदन टन्सू० ए० लुई की आस्पेक्ट्स ऑफ इंडस्ट्रियलाइजेशन (उद्योगीकरण के पहलू) काहिरा, १९५३, थार० लुक्जेम्बर्ग की दी एक्जुमुलेशन ऑफ कॅपिटल (पूँजी का मन्थन) लदन, १९५१, राष्ट्र-मन्थ का प्रकाशन रिपोर्ट ऑन ए स्पेशल यूनाइटेड नेशंस फण्ड फॉर इकॉनमिक डेवलपमेंट (आर्थिक विकास के लिए विश्व राष्ट्र-मन्थ निधि पर एक रिपोर्ट), न्यूयार्क १९५३, और दि इन्टरनेशनल फनो ऑफ प्राइवेट कॅपिटल, १९४६-१९५२ (निजी पूँजी का अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह, १९४६-१९५२), न्यूयार्क, १९५४ पटिए ।

व्यापार-चक्र के सम्बन्ध में थार० ए० गोडन की बिजनेस फ्लक्चुऐशन (वारवार में उतार-चढ़ाव), न्यूयार्क, १९५०, जी० टैवरनर की प्रॉस्पेक्टिटी एण्ड डिप्रेशन (समृद्धि और मन्दी) तीमरा सम्करण, जेनेवा, १९४१, टन्सू० ए० लुई और पी० जे० ओ० लियरी का दी मैनचेस्टर स्कूल (मैनचेस्टर स्कूल), मई १९५५, में 'उत्पादन तथा व्यापार में दीर्घकालीन उतार-चढ़ाव, १८७०-१९१३' शीर्षक लेख पटिए । राष्ट्र-मन्थ का प्रकाशन मेजर्स फॉर इन्टरनेशनल इकॉनमिक स्टेबिलिटी (अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थायित्व के उपाय) न्यूयार्क, १९५१ पटिए, दीर्घकालीन गतिरोध पर दो दृष्टिकोण जानने के लिए ए० एच० हैनसेन का अमेरिकन इकॉनमिक रिव्यू (अमरीकी आर्थिक समीक्षा), १९३९ में 'आर्थिक प्रगति और जनसन्ख्या की वृद्धि में गिरावट' शीर्षक लेख और जे० स्टीनहल की मॅन्चोरिटी एण्ड स्टॅगनेशन इन अमेरिकन कॅपिटलिज्म (अमरीकी पंजीवाद में परिपक्वता और गतिरोध), ऑक्सफोर्ड, १९५० पटिए ।

## जनसंख्या और साधन

इस अध्याय में पहले हम साधन, जनसंख्या और उत्पादन के सम्बन्धों पर विचार करेंगे, और उसके बाद साधन, जनसंख्या और लोगों तथा पदार्थों के पूर देना से दूसरे देश में आवागमन के सम्बन्ध की चर्चा करेंगे।

(क) जनसंख्या में वृद्धि—आर्थिक विकास का जनसंख्या की वृद्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है? मानवम द्वारा इस प्रश्न का जो समाधान दिया गया था उस पर अभी तक बड़ा वादविवाद चल रहा है।

१. जनसंख्या और उत्पादन—उगने पहली बात तो यह बड़ी कि रहन-गहन के स्तर में वृद्धि होने से जनसंख्या बढ़ती है। दूसरे, जनसंख्या में वृद्धि, साधनों के उत्पादन की वृद्धि में बाधा होती है। और परिणामस्वरूप तीसरी बात यह बड़ी कि जनसंख्या की वृद्धि पर जीवन-निर्वाह के साधनों की सीमित मात्रा मर्यादा प्रयुक्त रहती है। इसीसे चौथी बात पैदा होती है, जो मानवम के सिद्धान्त का मथेय है, अर्थात् साधनों बढ़ान की क्षमता में वृद्धि करने से जनसंख्या भी इस क्षमता की सीमा तक बढ़ जाती है। लेकिन ये मानवम के मौलिक समाधान थे। बाद में उगने स्वयं इस बात पर और दिया कि मनुष्य द्वारा जनसंख्या पर नियंत्रण करने से जनसंख्या और साधनों की वृद्धि का उपयुक्त मर-सम्बन्ध तोड़ा जा सकता है। वैसे, यह मुञ्जालन निकालने से मानवम के सिद्धान्त की सूची समाप्त हो जाती है, और तब से बाद तक उसके अनेक शिष्य इसे स्वीकार करने में त्विचकते रहे हैं। दूसरी ओर, मानवम की पहले दी हुई बातें भी कभी पूरी तरह से स्वीकार नहीं की गईं, क्योंकि मर्यादा ही कुछ लोगों ने मानवम के तर्कों के आधारों पर मर्यादा प्रकट की है।

पहले हम जनसंख्या की महज वृद्धि पर रहन-गहन के बढ़ने हुए स्तर के प्रभावों की चर्चा करेंगे। रहन-गहन के स्तर के जन्म-दर पर पड़ने वाले प्रभाव और मृत्यु-दर पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में अलग-अलग विचार करना

अधिक उत्पादन का परिणाम हो सकता है, या बेहतर वितरण का भी हो सकता है। आयरलैंड के मामले में, जहाँ की जनसंख्या १७०० और १८८० के बीच चार गुनी हो गई, मुख्य कारण खाद्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि थी जो आनु की खेती शुरू करने के कारण पैदा हुई—पहले अनाज पैदा करने में जितना उत्पादन होता था आनु की खेती से उससे वहाँ अधिक होने लगा। कुछ अन्य देशों में इसका मुख्य कारण वितरण में सुधार है जो लड़ाई के बाद होने से या खाद्य-पदार्थों का व्यापार आरम्भ होने से, या बेहतर संचार-माध्यमों की उपलब्धि से हुआ है। व्यापार और संचार-माध्यमों के अभाव में हर जिले को अपनी आवश्यकताओं के लिए मृदु पर ही निर्भर रहना होता है और स्थानीय रूप से प्रसन्न कराव हो जान पर दुर्भिक्ष और नुस्खेरी पैलने की नौदत आ जाती है, भले ही देश के दूसरे भागों में अन्न बहुत बाड़ी हो। अतः जिन देशों में वर्षों वर्ष प्रतिवर्ष बहुत घटती-बढ़ती रहती है वहाँ यदि संचार-माध्यम पर्याप्त न हों तो हर जिले को दुर्भिक्ष से बाड़ी हानि हो सकती है और ऐसे देश में व्याधानों का उत्पादन बढ़ाए बिना ही केवल संचार-माध्यमों में सुधार कर देने से मृत्यु-दर में बड़ी कमी की जा सकती है।

इन चरण में गुजर चुकने वाले देश की मृत्यु-दर में १० प्रतिशत की कमी आ सकती है। इसका मतलब यह है कि अगर उसकी जन्म-दर पहले जितनी रहे तो उसकी जनसंख्या में एक प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होगी और वह ७० वर्ष में दूनी और १४० वर्ष में चौगुनी हो जाएगी। यही शायद आयरलैंड में हुआ था। आयरलैंड के उदाहरण को विवाह की बहुत कम आयु, या बहुत ऊँची जनन-क्षमता की तुलना देकर समझना आवश्यक नहीं है। वहाँ जो कुछ हुआ वह ३५ प्रतिशत के आनपास की जन्म-दर और आनुओं के आम इस्तेमाल से आने से गिरी हुई २५ प्रतिशत की मृत्यु-दर के साथ टोक बैठ जाता है। इसी प्रकार, भारत और अफ्रीका की जनसंख्याओं में होने वाली वृद्धि व्यापार और संचार-माध्यमों के विकास और स्थानीय दुर्भिक्षों की समाप्ति के आधार देकर आसानी से समझाई जा सकती है। भारत और अफ्रीका के कुछ देशों की जनसंख्या पिछले पचास वर्ष में एक प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ी है, जो ४० प्रतिशत की जन्म-दर और ३० प्रतिशत की मृत्यु-दर के हिसाब से टोक बैठती है। इन देशों में मृत्यु-दरें अब भी ऊँची हैं, क्योंकि वहाँ अभी चिकित्सा-भूविद्याओं के विस्तार का चरण टोक से आरम्भ नहीं हुआ है।

चिकित्सा-भूविद्याओं के दो चरण हैं जो यूरोप में एक के बाद एक आए, लेकिन शेष संचार में एक साथ आ रहे हैं। इनमें पहला चरण प्रावर्तनिक स्वास्थ्य के उपायों का अवलम्बन है, जिनसे महामारियों का भय समाप्त हो

जाता है। दूसरा चरण लोगों के लिए निजी तौर पर चिकित्सा-मुनिधार देने की व्यापक व्यवस्था में सम्प्रतिष्ठित है। सार्वजनिक स्वास्थ्य के उपायों की संस्था रोगहर औषधियों की व्यापक व्यवस्था करने में अधिक समय लगता है क्योंकि इसके लिए बहुत अधिक माधन की आवश्यकता होती है, अस्पताल बनाने पड़ते हैं और चिकित्सकों को प्रशिक्षित करके देश में जगह-जगह भेजना होता है। मृत्यु-दर में कमी करने के इस अन्तिम चरण तक बहुत थोड़े काम-बिब-सित देश पहुँच पाए हैं। लेकिन सार्वजनिक स्वास्थ्य के चरण तक पहुँचकर अनेक देशों में महामारियों का उन्मूलन आरम्भ कर दिया है—प्लेग, चक्रे, टाइपस हैजा, विषम ज्वर, मलेरिया पीला बुखार (और अन्ततः तपेदिक)। इस चरण में मृत्यु-दर दस प्रति हजार और गिर जाती है। यदि जन्म-दर चालीस रहे तो जनसंख्या में दो प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होगी और पैंतीस वर्ष में जनसंख्या दुगुनी हो जाएगी। श्रीलंका, मिस्र, मरीशस, वेस्ट इंडीज, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के अनेक देश पहले ही इस चरण को पूरा कर चुके हैं। भारत अभी इसमें प्रवेश ही कर रहा है और यही कारण है कि उसकी जनसंख्या दस समय केवल १५ प्रतिशत प्रतिवर्ष की गति में बढ़ रही है। घाटा की जा सकती है कि थोड़े ही समय में भारत सार्वजनिक-स्वास्थ्य-मुनि-धाया के विस्तार के फलस्वरूप हैजा मलेरिया और दूसरी महामारियों में घट-कारा पा जाएगा और यदि उसकी जन्म-दर में कमी नहीं होती तब उसकी जनसंख्या लगभग दो प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ेगी।

तीसरे चरण में, जनसंख्या की आयु-रचना के अनुसार थोड़ी-बहुत कमी-बेनी के माध, मृत्यु-दर घटकर लगभग दस प्रति हजार रह जाती है। यह प्रत्येक व्यक्ति को चिकित्सा-सेवा प्रदान करने के फलस्वरूप होता है। यदि अन्न भी जन्म-दर चालीस रह तो जनसंख्या में तीन प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होगी और जनसंख्या पच्चीस वर्ष में दुगुनी हो जाएगी। पुमटोरिको-जैमे कुछ देश इस अवस्था तक पहुँच चुके हैं और श्रीलंका आदि दूसरे देश इस दिशा में काफी आगे बढ़ रहे हैं।

दस विस्तेषण से पता चलता है कि शुरू में ही जनसंख्या-वृद्धि का सम्पूर्ण साधन की सप्लाई के माध जोड़ना बड़ा अनुभव है। साधन की सप्लाई जनसंख्या की वृद्धि की सीमा निर्धारित कर सकती है, लेकिन साधन की सप्लाई में बाधाओं होना ही घटती हुई मृत्यु-दर का परमाणु कारण नहीं है। साधन की सप्लाई में वृद्धि होने का प्रभाव मुझे के निम्नतम स्तरों पर ही दिखाई देता है, और इन स्तरों पर हमें जनसंख्या में केवल एक प्रतिशत प्रति-वर्ष की वृद्धि होती है। यदि केवल साधन के प्रबन्ध की बात होती तो उसकी सप्लाई काफी कम तब जनसंख्या के माध-माध बढ़ाई जा सकती थी।

लेकिन मनाई शायद यह है कि मृत्यु-दर में वितनी बनी खाद्यान्नों की सप्लाई बटने में होती है उससे बड़ी अधिक बनी चिकित्सा-सुविधाओं में सुधार होने में पैदा होती है।

लेकिन जनसंख्या चार खाद्यान्न की सप्लाई के कारण बढ़े या चिकित्सा-सुविधाओं में सुधार के कारण मानवसंख्या जोर नो इन बात पर या कि खाद्यान्न में अपेक्षाकृत नहीं स वृद्धि न हो सकने के कारण एक स्थिति ऐसी आ जाएगी जब जनसंख्या की वृद्धि पर अंकुश लग जाएगा। उससे निम्नपत्र का यह पक्ष उन्नीसवीं शताब्दी की घटनाओं ने मुँटा साधित हुआ। सर्वोच्च-विश्वसनीय अनुमानों के अनुसार प्रथम विश्व-युद्ध में लगभग आधी शताब्दी पहले मनुष्य के खाद्यान्नों की सप्लाई दो प्रतिशत प्रतिवर्ष में कुछ ही नीची दर पर बढ़ रही थी, जबकि मनुष्य की जनसंख्या लगभग ०.७ प्रतिशत प्रतिवर्ष ही बढ़ रही थी। उन दिनों, जैसा कि हमें पता है, समुद्रों में प्राप्त पदार्थों के उपभोग में तेजी से वृद्धि होने के साथ-साथ यूरोप, अमेरिका और आस्ट्रेलिया के शक्ति-सर्गों की खराब न बटा सुधार हुआ। खाद्यान्न की सप्लाई बढ़ने के कारण जिस दर पर जनसंख्या बढ़ती है उसे मालवस में आवश्यकता से अधिक बना या (उसने यह दर तीन प्रतिशत बनाई थी, जिस तक कोर्ट यूरोपीय समुदाय नहीं पहुँचा)। उसने इस सम्भावना को गो ध्यान में रखा या कि बढ़ती हुई जनसंख्या नयी ज़मीनों पर खेतों बरके लाह-सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी कर सकेगी, लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में यह कितनी तेजी से होगा इसका अनुमान मानवसंख्या नहीं लगा सका और प्रति एकड़ उत्पादन में हो सकने वाली वार्षिक वृद्धि को भी हमने कम कृता था। लेकिन इनमें से कोई बात मालवस द्वारा प्रस्तुत समस्या के महत्व को कम नहीं करती। उन्नीसवीं शताब्दी में भूने हो किसी समुदाय की जनसंख्या तीन प्रतिशत की दर से नहीं बढ़ी, पर बीसवीं शताब्दी में कई जगह ऐसे हैं जो उस प्रतिशत तक पहुँच चुके हैं, इसके अलावा नैनी आरम्भ करने के लिए नयी ज़मीनों की सप्लाई भी असीमित नहीं है।

यह सिद्ध करने के लिए कोई अधिक तर्क देने की आवश्यकता नहीं है कि यदि मृत्यु-दर ४० से घटकर १० रह जाती है तो दुनिया में जन्दी ही जारी बटिनाई पैदा हो जाएगी, बसते कि जन्म-दरों में भी इतनी ही बनी न हो जाए। यह धारणा खाद्यान्नों की सप्लाई से सम्बन्धित तर्कों पर ही पूरी तरह निर्भर नहीं है। खाद्यान्नों की सप्लाई का तर्क आज महत्त्वपूर्ण है, लेकिन आने वाली शताब्दियों में यह स्थिति समाप्त हो सकती है। कोई नहीं जानता कि मनुष्य की वर्तमान धारण-समस्या कितनी है। उन सम्बन्ध में आहार और जन-संख्या की विभिन्न धारणाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न अनुमान प्रस्तुत किये जाते हैं। संसार की वर्तमान जनसंख्या जामा साई अरब है, और सबसे कम कुछ के

अनुसार कृषि की वर्तमान टेकनीको में इसमें अधिक जनसंख्या के लिए उचित आहार की व्यवस्था नहीं की जा सकती, कहने का तात्पर्य यह है कि यदि खेती योग्य सभी जमीन पर खेतों की जाने लगे तो खाद्यान्न के उत्पादन में इतनी वृद्धि हो सकती है कि संसार की समस्त वर्तमान जनसंख्या को यूरोप-निवासियों के स्तर का आहार दिया जा सकेगा। आहार के वर्तमान औसत स्तरों के आधार पर कुछ लोगों का अनुमान है कि संसार की धारण-क्षमता दस अरब है। इन अनुमानों को तैयार करने में एक कठिनाई ३०° उत्तर और ३०° दक्षिण के बीच स्थित उष्ण-कटिबंधीय देशों की कम पानी वाली जमीनों की अधिकतम धारण-क्षमता के बारे में अनिश्चितता है। संसार के इन भागों में लागू वर्गमूल कृषि योग्य भूमि ऐसी है जहाँ २५ से ४० इंच वर्षा प्रतिवर्ष होती है, लेकिन वह वर्ष के कुछ ही महीनों में होती है और वर्ष के बाकी भाग में मौसम सूखा रहता है जिसके दौरान वनस्पतियाँ मूल जाती हैं और भूमि तप जाती है। १९वीं शताब्दी में यूरोप में कृषि की टेकनीको में जो प्रगति हुई वह कुछ इलाकों में केन्द्रित थी जहाँ पूरे मात्र योग्य-बहुत वर्षा होती रहती है और जहाँ की जमीन तेज गर्मी से अभी नहीं तपती। जो टेकनीकें यूरोप और उत्तरी अमरीका में उपयोगी मानिं हुईं वे सबकी सब उष्ण-कटिबंधों में भी मोटे तौर पर लागू नहीं की जा सकती, बल्कि वास्तव में उन्हें लागू करने से खतरा भी पहुँच सकता है। उदाहरण के लिए मत्स्योत्पादन में किसी-किसी क्षेत्र की भूमि का अन्तगहन होने लगता है। जनसंख्या बढ़ने के साथ एक बड़ी समस्या जो मानव-जाति को मुलभानी पड़ सकती है इन लाखों वर्गमूल के क्षेत्रों का, जो हम समय बहुत विरल रूप में बने हुए हैं, अच्छे-बे-अच्छा उपयोग निकालना है, और हम अभी यह नहीं कह सकते कि यह क्षेत्र बड़े उत्पादन मिट्टे होंगे, या उन्हें हमें तब संसार के खाद्यान्नों की मर्यादा में थोड़ा ही योगदान करने रहने।

संसार की वर्तमान धारण-क्षमता की अधिक से अधिक कृषि से भी कोई अधिक गुंजाइश नहीं निकलती, क्योंकि वृद्धि की वर्तमान दर को देखते हुए संसार की जनसंख्या लगभग एक शताब्दी में ही दस अरब हो जाएगी। वैसे, संसार की धारण क्षमता बराबर बढ़ती जाती है। सर्वाधिक उन्नत कृषि प्रधान देशों में बहुत दिनों से प्रति एकड़ उपज ०.७ प्रतिशत से १.५ प्रतिशत प्रतिवर्ष के बीच बढ़ती आ रही है (सबसे अधिक तकनीकी सहायताएँ सर्वाधिक पिछड़े हुए देशों में हैं)। अगले तीस वर्षों में संसार की खाद्यान्न जुगाने की क्षमता के बारे में चिन्ता करना उचित ही है, क्योंकि इस बीच जनसंख्या और खाद्यान्न की मर्यादा में होड़ लगाकर वृद्धि करने की संभावना दिखाई देती है। लेकिन, इसमें हमें सच में खाद्य उत्पादन की टेकनीकों पर पूर्ण विश्वास रखना



साधन-पालन पर लगान पड़ते हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे उसे भार साम-भना धायद उन महत्वपूर्ण कारणों में से एक है जिनसे मृत्यु-दरें घटने पर थोड़े-बहुत समय में जन्म-दरें भी घटने लग जाती हैं। जन्म-दर और मृत्यु-दर के बीच अग्रतुलन की दूगरी हानि बढ़ती हुई जनसंख्या का प्रति व्यक्ति उत्पादन पर दुष्प्रभाव है। थोड़े-से देश अथवा वर्धमान प्रतिफलों के कारण में हैं जिनमें जनसंख्या बढ़ने से लोकोपयोगी सेवाओं का बेहतर उपयोग होने लगता है, और विनिर्माण-उद्योग के विकास में सहायता मिलने लगती है। ऐसे देश मुख्यतः अफ्रीका और लेटिन अमरीका में हैं (इस अध्याय का स्पष्ट १ (ग) देखिए), लेकिन ये संख्या में बहुत थोड़े हैं। सागर के अधिकांश देशों में जनसंख्या बढ़ने के साथ प्रति व्यक्ति उत्पादन में कमी आती है, बशर्ते कि नये लोगों को काम देने के लिए अतिरिक्त साधन जुटाने पर पूंजी बर्च न की जाए। जनसंख्या न बढ़ने की स्थिति में यह पूंजी घतमान जनसंख्या के प्रति व्यक्ति उत्पादन और पूंजी में वृद्धि करने के काम में लार्ड जा सकती है। हम ठीक-ठीक नहीं कह सकते कि बढ़ती हुई जनसंख्या के साथजुद रहन-गहन के स्तर को गिरने से रोकने के लिए कितनी पूंजी की आवश्यकता होती है। यदि पूंजी और उत्पादन का अनुपात ४ : १ रखा जाए तो किसी देश को एक प्रतिशत की दर से बढ़ती हुई जनसंख्या की स्थिति में इस काम के लिए अपनी राष्ट्रीय धाय का ४ प्रतिशत निबल निवेश करना होगा, यदि जनसंख्या २ प्रतिशत बढ़ रही है तो ८ प्रतिशत करना होगा, और ३ प्रतिशत बढ़ रही है तो १२ प्रतिशत करना होगा। यह देखने हुए कि सबसे कम विकसित देश मुख्यतः अपनी धाय का ५ प्रतिशत प्रतिवर्ष निवेश कर पाते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है यदि वे अपनी जनसंख्याओं में २ या ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि करने का शौक न छोड़ सकें तो उनके रहन-सहन के स्तरों में गिरावट आना अवश्यभावी है।

सौभाग्य से, उपलब्ध प्रमाण बताते हैं कि मृत्यु-दरें गिरने के बाद समय पाकर जन्म-दरें भी गिरने लगती हैं। हम इसके बारे में निश्चयपूर्वक तो कुछ नहीं कह सकते, क्योंकि जिस प्रकार हमें मृत्यु-दरें घटने का कारण पता नहीं है उसी प्रकार जन्म-दरें घटने का वास्तविक कारण भी मालूम नहीं है। पिछले सौ सालों में यूरोप के कुछ देशों की जन्म-दरें ३५ के आस-पास से घटकर १५ प्रति हजार रह गई हैं। इस गिरावट का एक प्राकृतिक कारण तो यह है कि अधिवाहित रहने वाली स्त्रियों की संख्या बढ़ती जा रही है, और कुछ कारण यह भी हैं कि विवाह की आयु बढ़ित होने जा रही है, लेकिन सबसे बड़ा कारण गर्भ-धारण की इच्छा में निरन्तर कमी होने जाना है। हम ठीक-ठीक नहीं बता सकते कि यह कमी क्यों पैदा हो रही है। समाजशास्त्र और विचार

यह है कि यह आर्थिक विकास की प्रक्रियाओं का अनिवार्य परिणाम है, और आर्थिक विकास की समान प्रक्रियाओं से गुजरने वाले सभी देशों में यही स्थिति पैदा होगी, लेकिन हम निश्चित रूप में नहीं कह सकते कि यह होगा ही।

यह धारणा बनाना गलत नहीं है कि जन्म-दर में कमी केवल मृत-निग्रह की नयी टेक्नीकों के कारण ही नहीं होती, बल्कि गर्भ-धारण के प्रति प्रवृत्ति बदल जाने के फलस्वरूप होती है। इस विश्वसनीय धारणा के दो आधार हैं। पहला तो यह कि जन्म-दरों में कमी नयी टेक्नीकों का प्रयोग आरम्भ होने से पहले ही होने लगी थी। फ्रांस की जन्म-दर १९वीं शताब्दी के आरम्भ में ही घटने लगी थी, और यूरोप के अन्य देशों की जन्म-दरें भी १९वीं शताब्दी के मध्य से कम होने लग गई थी, जबकि सन्तति-निग्रह के माधन १९वीं शताब्दी के अन्त में निनाले गए। दूसरे, आज भी सन्तति-निग्रह पर सफलतापूर्वक आचरण करने वाले लोगों का अधिकांश आधुनिक माधन प्रयोग में नहीं लाता। वे उन्नीसवीं शताब्दी की प्रवृत्ति का अनुसरण करते हैं जो बाइबिल में दी गई है, और जिसे मानव-जानि युगों से जानती है। दो शताब्दी पहले ही सन्तति-निग्रह पर आचरण न किये जाने का कारण यह नहीं था कि लोग उसके बारे में जानते नहीं थे, बल्कि यह था कि लोग सन्तति-निग्रह करना नहीं चाहते थे। यह अर्थ है कि एक बार गर्भ-धारण के प्रति प्रवृत्ति बदल जाने पर उन्नत और अधिक सुविधा-जनक टेक्नीकों की अभिनव उपलब्धि ने सन्तति-निग्रह की इच्छा बटाने में सहायता की, लेकिन निश्चय ही ये टेक्नीकों उतनी तेजी से न बढ़ पाती यदि गर्भ-धारण के प्रति लोगों की प्रवृत्ति न बदल गई होती।

यह प्रवृत्ति क्यों बदली? शायद सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि मृत्यु-दर में कमी होने लग गई थी। जिस समुदाय में ६० प्रतिशत बच्चे पैदा होने के बाद बचस्क होने में पहले ही मर जाते हैं, वहाँ यदि सामान्य परिवार ३ बचस्क पैदा करना चाहे तो उसे ८ बच्चे पैदा करने होंगे, जिनमें से औसतन ५ बचपन में ही मर जाएँगे। अनियन्त्रित मन्तानोत्पत्ति की स्थिति में भी सामान्यतया एक स्त्री ८ से अधिक बच्चों को जन्म नहीं दे पाती, अतः मृत्यु-गम्या के इन स्तरों पर अनियन्त्रित मन्तानोत्पत्ति से भी औसतन दो से तीन बच्चे ही बढ़कर बड़े हो पाते हैं। अनियन्त्रित मन्तानोत्पत्ति से जन्म-दर ४० प्रति हजार में कोई विशेष ऊपर नहीं जा पाती। अतः यदि मृत्यु-दर लगभग ४० हो तो स्त्रियों द्वारा यथेच्छ बच्चों को जन्म देने पर भी जनसंख्या मुश्किल से ही स्थिर रह पाती है। ऐसी स्थिति में कबीले को बनाए रखने की दृष्टि से मन्तानोत्पत्ति धार्मिक कर्तव्य बन जाता है, और सबसे अधिक सन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्रियों को ऊँचा सम्मान और आदर दिया जाता है, जबकि बाँध-पन शाप माना जाता है। मृत्यु-दर कम होने पर यह प्रवृत्ति अपने-आप बदल

जाती है। जब अधिक बच्चे जिन्दा रहने लगते हैं तो बहुत अधिक बच्चों को जन्म देना आवश्यक नहीं रह जाता। जहाँ तब जनमख्या को स्थिर रखने का प्रश्न है, यदि जन्म के समय मायु की मात्रा बढ़ने बढ़ने ६८ वर्ष तक पहुँच जाए तो जन्म-दर और मृत्यु-दर केवल १५ प्रति हजार रहने पर जनमख्या स्थिर रह सकती है, इस स्थिति में सामान्य परिवार को लगभग २ बच्चे पैदा करने की जरूरत होगी। थोड़ा बहुत समय में समुदाय के नेताओं के सामने निर्गन्तर बढ़ती हुई जनमख्या को हानियाँ प्रकट होनी लगती हैं, और अधिकतम मन्तान उत्पन्न करने के धार्मिक नियम तय दिए जाते हैं। अनेक आदिम समाजों में, जिनकी जन्म दरें आसपास ४० से कम थी, जनमख्या नियन्त्रण के तरीके अपना लिए हैं जिनमें बच्चा पैदा होने के दो वर्ष बाद तक सम्भोग का निषेध, गर्भ-पात और सिधु-हत्या तब शामिल हैं। (आयरलैंड में विवाह की मायु बहुत अधिक कर दी गई और २५ प्रतिशत स्त्रियाँ आजन्म अविवाहित रहने लगीं।) माना-पिनाओ की प्रवृत्ति में भी परिवर्तन हुआ है, यदि उन्हें तीन बच्चे बच्चे चाहिए तो इसके लिए ८ बच्चों को जन्म देना आवश्यक नहीं रह जाता। आरम्भिक अवस्थाओं में इतने अधिक लड़के-लड़कियों को पाल-पोसकर उपयोग्य बना देना भारी गौरव की बात समझी जाती है, लेकिन जैसे-जैसे १० बच्चों का पालन करने की क्षमता रखने वाले लोगो की संख्या तेजी से बढ़ती जाती है वैसे-वैसे इन उपलब्धि का गौरव भी घट जाता है, विशेषकर यदि ग्राह्य-पदार्थों की कमी हो, या रोजगार मिलना मुश्किल हो, या विरामत में देने के लिए भूमि काफी न हो। तब लोग इस बात को समझने लग जाते हैं कि बहुत अधिक बच्चे पैदा करना बड़ा हानिप्रद है, और फिर मन्तान-नियंत्रण की तकनीकों में दिलचस्पी बढ़ने लगती है। यदि उपर्युक्त विस्तारण सही है तो इसका निष्कर्ष यह हुआ कि मृत्यु-दर में कमी आरम्भ होने के कुछ समय बाद जन्म-दर घटने-माप घटती जानी चाहिए। जनमख्या में ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि केवल अस्थायी नीर पर ही होती है—सम्पादी शब्द का प्रयोग हम मापन अर्थ में ही कर रहे हैं, क्योंकि बड़े परिवार की हानियाँ दृष्टी स्पष्ट होने में, कि लगे-लगे फलस्वरूप सामाजिक प्रवृत्तियाँ बदलने लगीं, दो या तीन पीढ़ियों तक सकती हैं।

दूसरे कारण भी इसी दिशा में प्रभाव डालते हैं। स्त्रियों की शिक्षा, और घर में बाह्य रोजगार मिलने के अवसरों में वृद्धि होने के फलस्वरूप स्त्रियों की हैमियत ऊँची हो जाती है, इसके परिणामस्वरूप कुछ स्त्रियाँ गर्भ-धारण को अपने जीवन का केवल एक सम्पादी दौर मान सकती हैं, जिन्हें कुछ ही दिनों बाद उन्हें और काम करने के लिए फिर समय मिलना पड़ेगा। इनके अभाव में ऐसे काम भी करने लगते हैं जिन्हें करने करने समय का अधिकार

उपयोग किया जा सकता है। आर्थिक विकास के फलस्वरूप आनन्दोपभोग के लिए पढ़ने की अपेक्षा अधिक आय होने लगती है और आनन्दोपभोग में ममता लगता है। आर्थिक विकास के साथ-साथ विनोदकर मिनेमा और समुद्र-नट पर संरक्षण आदि, घर से बाहर के मनोरंजन बढ़ने लगते हैं। १९वीं शताब्दी के घर से मदद न लेने वाले कम आय के वर्गों की कुछ स्त्रियाँ गिरजाघर जाने के अलावा मुद्रिकल से ही अपने घरों में निकल पाती थी, जबकि आजकल वे धूमने-फिरने की वही अधिक आजादी चाहती हैं। कभी-कभी यह कहा जाता है कि मति-निग्रह का एक पक्का उपाय घर में विजली की व्यवस्था कर देना है ताकि हर परिवार को शाम से ही बिम्बरो में धुमने की अपेक्षा करने के लिए काफी काम रहे, लेकिन इस धारणा का अधिक महत्त्व देना मुद्रिकल है। समय का उपयोग करने के तरीकों में वृद्धि होने में गर्भ धारण के अवसरों में कमी नहीं होती, बल्कि इससे गर्भ-धारण को भार समझा जाने लगता है। दूसरा परिवर्तन यह भी होता है कि बच्चों का पालन अधिक खर्चीला हो जाता है, उन्हें ७ या ८ वर्ष की आयु से ही काम पर भेजना सम्भव नहीं रहता, बल्कि उन्हें १५ या इससे अधिक आयु तक भी स्कूल में भेजना पटना है। पश्चिमी देशों में पिछली दो या अधिक शताब्दियों के दौरान बच्चों के प्रति दृष्टिकोण भी बदल गया है—श्रम बाल्यकाल पर बड़ा जोर दिया जाने लगा है। सत्रहवीं शताब्दी में या उससे पहले बच्चों को कोई अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं था। उन पर कोई खास ध्यान नहीं दिया जाता था और वे मनचाहे तरीके से बटने थे। लेकिन श्रम बाल्यकाल में बच्चे के व्यक्तित्व का विकास सर्वाधिक महत्त्व की वस्तु माना जाने लगी है। माता-पिता अपने हर बच्चे के लिए अधिक-से-अधिक करना अपना कर्तव्य समझने लगे हैं, और इसीलिए जिनके बच्चों पर ध्यान दे सकने हैं उससे अधिक बच्चे पैदा न करना भी अपना कर्तव्य मानने लगे हैं। आर्थिक विकास के फलस्वरूप सामाजिक गतिशीलता में भी वृद्धि हुई है, और इसके साथ ही माता-पिताओं के अन्दर यह इच्छा भी जमी है कि अपने बच्चों को अच्छी-से-अच्छी शिक्षा दी जाए ताकि वे इस प्रकार जीवन आरम्भ करें कि अधिकतम सामाजिक उन्नति कर सकें; इससे बच्चों के ऊपर होने वाला खर्च बढ़ जाता है, और बच्चों की सस्या कम की जाने लगती है। यह बड़े भाकों की बात है कि अन्य लोगों की अपेक्षा सामाजिक उन्नति करने वाले लोगों के बच्चे छोड़े होते हैं, यद्यपि यह कहना कठिन है कि इसका कारण यह है कि जो लोग उन्नति करना चाहते हैं वे अपने पारिवारिक दायित्वों को कम गहन के पक्ष में रहते हैं, या यह है कि जिनके बच्चे कम होते हैं उन्हें उन्नति करने में आसानी होती है। इन सबके पीछे मानव-व्यवहार में तर्कों की अधिकारिक प्रयुक्ति भी छिपी है, लोग इस बात

में विद्वान्म वरना बन्द कर देना है कि वच्चे 'ईश्वर की देन है', उन्हें यह विद्वान्म होने लगता है कि वे अपने आनन्दोपभोग के लिए स्वयं अपने जीवन की योजना तैयार कर सकते हैं, और उन योजनाओं में वच्चा की जितनी संख्या ठीक बँटे उमरे अधिक वच्चे पैदा करने के लिए वे विवश नहीं हैं। पहले जो बात धर्म और नैतिकता का विषय थी वह अब सुविधा और संख्या-निर्धारण की बात रह जाती है। इनमें से अनेक कारणों का सम्बन्ध शहरीकरण में है—स्त्रियों की अधिकाधिक शिक्षा, उनसे लिए घर में बाहर अधिकाधिक रोजगार, अस्वास्थ्य का उपयोग करने के अधिकाधिक प्रवृत्ति, वच्चों के रोजगार पर बर्तनों, अपशाकृत अधिक सामाजिक गतिशीलता और जीवन के प्रति अधिक तर्कयुक्त दृष्टिकोण—इसीलिए शहरों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में जन्म-दर अधिक होती है।

ये सभी कारण आर्थिक विकास का परिणाम हैं। अब यह निष्कर्ष निकालना उचित ही मालूम होता है कि आर्थिक विकास ही जन्म-दर को कम करने का है, और हम प्रकार अपने पहले बिगाड़ टूट सन्तुलन को फिर से ठीक कर देना है। यह विदलेपण उन विचारों से से एक के साथ सम्बन्धित है जो जनसंख्या-सम्बन्धी नीति निर्धारित करने वाला म पाए जाते हैं। एक सम्प्रदाय के अनुसार जन्म-दर कम करने के लिए मृत्यु-निर्ग्रह की नयी टेक्नीकों का अधिकाधिक प्रचार किया जाना आवश्यक है और दूसरे सम्प्रदाय के अनुसार जब तक गर्भ-धारण के प्रति लोगों का दृष्टिकोण न बदल जाय तब तक इन टेक्नीकों के अपनाए जाने की आशा नहीं की जा सकती। गर्भ प्राण के प्रति दृष्टिकोण आर्थिक विकास में बदलता है। अब जन्म-दर कम करने के लिए आर्थिक विकास पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। जाहिर है कि यह विवाद भ्रामक है। वस्तुतः जन्म-दर कम करने के लिए य मारे ही काम करना उचित है। सामाजिक नताशा का ध्यान ऊँची जन्म-दर के स्तरों की ओर आकर्षित किया जाए ताकि प्रचलित विषय और धार्मिक आदर्श गर्भ-धारण के पक्ष में होने की अपेक्षा उमरे विरुद्ध हो जाएँ, यह मरण के स्तर और शिक्षा में तेजी से वृद्धि की जाए, जिनमें स्त्रियों को कम बच्चों पैदा करने में सुविधा दिखाई दे, और मृत्यु निर्ग्रह की टेक्नीकों का अधिकाधिक प्रचार किया जाए। जन्म-दर कम करने के लिए सभी प्रकार के प्रयत्न एक साथ करना आवश्यक है।

अन्युक्त उपायों में से कोई उपाय मरण नहीं है। शायद सबसे मरण स्तर सेनाओं को गृही शिक्षा में पर्य-प्रदर्शन करने के लिए तैयार करना है। यह बात सम्भवतः आसान है कि यदि जनसंख्या में केवल एक प्रतिशत परिवर्तन की ही वृद्धि होती रही तो एक हजार वर्षों में ही हम आदर्शों के लिए मरण-रहन-

भर ही जगह बच रहेगी। विशेषकर वे लोग यह बात अच्छी तरह समझ सकते हैं जो पिछली एक या दो दशकियों में कम विकसित देशों का नवतृत्व कर रहे हैं क्योंकि इनका दृष्टिकोण अधिकांशतः पश्चिम की तर्कशीलता से प्रभावित है। राजनीतिज्ञों की अपेक्षा पुरोहिता को समझाना अधिक कठिन है, लेकिन केवल रोमन कैथोलिक चर्च न हो इन बातों का तीव्र विरोध किया है, और उत्तम भी परिवार-सीमन का अनुमोदन कर दिया है बशर्ते कि इसके लिए मतति-निग्रह के धार्मिक साधनों का प्रयोग न किया जाए। पूर्व के बड़े धर्मों में इन विषय पर कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है और उनमें से हर एक के कुछ धार्मिक नेताओं ने मतति-निग्रह का अनुमोदन कर दिया है। सर्वाधिक जन्म-दर वाले देशों में से किसी में भी अभी तत्काल उपाय करने की आवश्यकता नहीं है लेकिन भविष्य में यह आवश्यकता पड़ सकती है। बहुरहाल यूरोप के अन्दर मतति निग्रह आन्दोलन का चमत्कारिक विस्तार न तो राजनीतिक बल पर हुआ और न सरकारों सङ्घटन की सहायता से।

उन अपेक्षित समाजों में, जिनकी स्त्रियाँ घरों की बहारदीवारी में बन्द रहती हैं, प्रचार करना उतना आसान नहीं है जितना कि पश्चिमी यूरोप में था। साथ ही, पश्चिमी यूरोप में इस्तेमाल किए जाने वाले मतति-निग्रह के साधन निरन्तर देशों के लोगों की आमदनियों को देखते हुए खर्चीले हैं, और उनके मकानों की हावत और रहन-सहन के तरीकों को देखते हुए अनुविभाजनक भी हैं। अतः मतति-निग्रह के किसी सम्ये या अधिक सुविधाजनक तरीके का आविष्कार करना अत्यन्त वाच्छनीय है। यही कारण है कि मतति-निग्रह में रुचि रखने वाले लोग आजकल ऐसी गौली तैयार करने की सम्भावनाओं में बहुत दिलचस्पी ले रहे हैं जो कोई और प्रभाव डाले बिना अन्धधोरे तौर पर बाँधपन पैदा कर दे। इन विषय पर तेजी से अनुसन्धान किया जा रहा है।

सबसे मुश्किल काम रहन-सहन के स्तर में वृद्धि करना है। यदि जनसंख्या १३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही हो तो कुल उत्पादन में वृद्धि करने का कम-से-कम लक्ष्य दो प्रतिशत प्रतिवर्ष रखा जा सकता है। इससे १४० वर्षों में जाकर रहन-सहन का स्तर दूना हो पाएगा, जबकि पश्चिमी यूरोप और अमरीका में ६० से ८० वर्ष के बीच ही स्तर दूना हो गया था। लेकिन कुल उत्पादन में दो प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि करना मूल नहीं है। इसके लिए शिक्षा और दूसरी लोक-सेवाओं पर काफ़ी खर्च करना पड़ता है, वर्तमान पूँजी-निर्माण दूना करना पड़ता है, और विन्वामी और नम्यानी में अनेक परिवर्तन करने होते हैं। जिन देशों की जनसंख्या २ से २.५ प्रतिशत की दर से बढ़ रही है वहाँ उत्पादन में ३ प्रतिशत की वृद्धि करनी होगी जो और भी कठिन बात है। अपने भौतिकवादी दृष्टिकोण और सम्यानों के साथ पूँजी

और शिक्षा पर भारी खर्च करके भी अमरीका १८७० और १९३० के बीच उत्पादन में केवल ४ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि कर सका था। साम्यवाद के लौह-आवरण के इस और वाले कम विकसित देशों में वे किसी से उत्पादन में २ से ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि करने योग्य समस्वार की आशा नहीं की जा सकती, न किसी अविद्य विद्यमान देश से यह आशा की जा सकती है कि यह इस समस्या के महत्व को समझकर इसे गुलामाने में उचित योगदान देने के लिए तैयार हो जाएगा। यदि जन्म-दर कम करने के लिए रहन सहन के स्तर में वृद्धि करना एक आवश्यक कार्य हो तो ऐसा लगता है कि जनसंख्या की समस्या समय बहुत दिन तक इसी प्रकार बनी रहेगी।

कम विकसित देशों की जनसंख्या की समस्या जितनी कठिन है उतनी यूरोपीय देशों की कभी नहीं थी, क्योंकि यूरोप की जनसंख्या में कभी ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि नहीं हुई (मालवस के अनुसार अमरीका की जन्म-दर लगभग ५० और मृत्यु-दर लगभग २० थी, जब वहाँ की जनसंख्या में ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की स्वाभाविक वृद्धि हो रही थी लेकिन ५० जन्म-दर के लिए प्रोत्सहन हर माँ को ८ से अधिक बच्चे पैदा करना उम्मी है जो प्रायः स्थियों की जनन-शक्ति से परे है)। यूरोप के देशों में वृद्धि की अपेक्षागत नीची दर का एक कारण तो यह था कि परिवर्तन के शुरू में ही वहाँ की जन्म-दरें ४० से ४५ की वजाय लगभग ३१ थी। और एक कारण यह भी था कि वहाँ मृत्यु-दरें द्रुतनी धीरे-धीरे घटी कि उनके निम्नतम स्तर पर पहुँचने के पहले ही जन्म-दरें घटनी शुरू हो गईं। जहाँ यूरोप को जन्म-दर में वीग की कमी करने में लगभग एक शताब्दी लगी वहाँ कुछ दूररे देशों में यह समस्वार ४० या इससे भी कम वर्षों में कर दिगाया है। चूँकि मृत्यु-दरों के घटने के प्रभाव-स्वरूप जन्म-दर कुछ समय बाद ही घटना आरम्भ होती है—यूरोप में जन्म-दरों में कमी आरम्भ होने के पचास या दसते कुछ अधिक वर्ष पहले ही मृत्यु-दरें कम होनी लगी थी—अतः यदि मृत्यु-दर एकदम तेजी से घटकर १० हो जाए और जन्म-दर ४० ही बने रहे तो जनसंख्या में भारी वृद्धि हो सकती है। जनसंख्या में होने वाली वृद्धि जितनी हो भारी होगी उस पर नियंत्रण करना उतना ही कठिन होगा, क्योंकि रहन-सहन के स्तर में वृद्धि करने के लिए कुल उत्पादन में उतनी ही घटिया गति से वृद्धि करनी होगी। दूररी और यह भी असम्भव नहीं है कि कम विकसित देशों में जब जन्म-दरें घटना शुरू हो तो वे मृत्यु-दरों की ही भाँति पश्चिमी यूरोप की अपेक्षा अधिक तेजी से घटें। जहाँ जन्म-दरों में १० प्रति हजार की कमी होने में पाना में ७० वर्ष लगे, स्वीडन और स्विट्जरलैण्ड में ६० वर्ष लगे और इंग्लैण्ड और डेनमार्क में ३० वर्ष लगे, वहाँ १९२४ से १९३६ के बारह वर्षों में यूनोरेटिया में जन्म-

दर ४० से घटकर २६ रह गई, पॉर्लण्ड में ३५ से घटकर २६ रह गई, चेकोस्लोवाकिया में २६ से १७ रह गई, और जापान में ३५ से २७ रह गई। १९वीं शताब्दी की अग्रणी शक्त हर चीज अर्थिक तेज गति में होती है।

उपरोक्त कारणों में जहाँ एक शक्ति यह मही है कि कुछ निम्न देशों की जनसंख्या की समस्या बड़ी गम्भीर है, वहाँ दूसरी ओर यह मही नहीं मान्य होना कि उनके रहन-सहन के स्तर न बढ़ सकने का मुख्य कारण उनकी जनसंख्या में वास्तविक या सम्भावित-वृद्धि है। उदाहरण के लिए, भारत की जनसंख्या इन समय १.६ प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ़ रही है। यह दर अमरीका की वर्तमान जनसंख्या वृद्धि की दर से कम है, जहाँ फिर भी प्रतिव्यक्ति उत्पादन ४० वर्ष में दुगुना हो जाता है, और यह दर १९वीं शताब्दी के दौरान यूरोप के देशों की जनसंख्या की वृद्धि की दर से भी अधिक नहीं है, जहाँ ऊँची दर के बावजूद रहन-सहन के स्तर काफी ऊँचे उठ गए थे। यदि जापान जनसंख्या बढ़ने के बावजूद १८८० के बाद से हर २५ साल में अपना प्रतिव्यक्ति उत्पादन दूना कर लेता है तो कोई कारण नहीं है कि एशिया या अफ्रीका के अन्य देश भी ऐसा ही न कर सकें। प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से जापान कोई विशेष सम्पन्न नहीं है, बल्कि भारत की अपेक्षा उनके पास कोयला और खनिज धातु की कमी है। अगली दो या तीन शताब्दियों में जनसंख्या की जिन दरों में बढ़ने की आशा की जा सकती है वह आर्थिक विकास के लिए अनुपयुक्त नहीं है। १ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ने वाली जनसंख्या की स्थिति में जितनी मरलता से प्रतिव्यक्ति उत्पादन बढ़ाया जा सकता है उतना २ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होना पर नहीं बढ़ाया जा सकता, लेकिन इन देशों में प्रतिव्यक्ति उत्पादन बढ़ाने में मुख्य बाधा जनसंख्या की वृद्धि-दर नहीं है बल्कि पूँजी निर्माण की लगभग ५ प्रतिशत दरें हैं, जो बहुत ही कम हैं। यदि ये देश १० या १२ प्रतिशत प्रतिवर्ष का निवेश करें तो उनका प्रतिव्यक्ति उत्पादन बढ़ सकता है, जिसके परिणामस्वरूप जन्म-दर स्वयं कम हो जाएगी, और जनसंख्या की वृद्धि-दर घट जाएगी।

जब परिवार-सीमा का विचार लोकप्रिय होने लगता है तो उसकी स्थिति ऐसी ही होती है जैसी हमारे देशों की होती है, अर्थात् यह पहले समाज के उच्चतम वर्गों द्वारा अपनाया जाता है, और बाद में नीचे के वर्गों में फैलता है। अतः मनुष्य-जात में हर समाज की जनन-शक्ति अधिक आमदनी और शिक्षा वाले वर्गों में कम होती है, और कम आमदनी और कम शिक्षा वाले वर्गों में अधिक पाई जाती है। कभी-कभी शक्ति में इन मालविक के तर्कों का उत्तर समझने हुए यह कहा जाता है, 'जैसे जैसे लोगों की आमदनी (या शिक्षा) बढ़ती जाती है उनकी जनन-शक्ति कम होती जाती है।' यह सन्देह-



जनक है कि जनन-शमता और आमदनी या शिक्षा का यह सम्बन्ध मध्यम-वर्ग-वाल के अतिरिक्त अन्य किसी स्थिति में भी पाया जाता है। इस बात का कोई पक्का प्रमाण नहीं है कि म्यूर समाजों में जन्म-दर बहुत अधिक होने की स्थिति में—जैसा कि १८वीं सताब्दी में यूरोप में था या आजकल भारत में है—या बहुत कम होने की स्थिति में—जैसी कि आजकल फ्रान्स में है—परीषदों की अपेक्षा अमीरों के गन्तव्यों कम होती हैं। हालाँकि इस बात की स्वीकार करना चाहिए कि ऐसे कुछ प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि समाज के वे सदस्य ही उच्चतम सामाजिक वर्गों तक पहुँचने में सक्षम हो पाते हैं जिनकी जनन-शमता कम होती है।

मध्यम वर्ग में सम्बन्धित एक और बात, जो सामाजिक वर्गों के अनुसार जनन-शमता के कम-अधिक होने का निष्कर्ष है, बुद्धिमत्ता के गिरने जाने का भय है। यदि समाज के उच्चतम वर्ग ही सबसे अधिक बुद्धिमान हों और वे निम्न-वर्गों की तुलना में कम बच्चे पैदा करें तो हम कह सकते हैं कि समुदाय में बुद्धिमान लोगों की संख्या कम होती जाएगी। इस तर्क में व लोभ अग्रहमन है जो यह नहीं मानने कि उच्चतम सामाजिक वर्गों के लोग ही सर्वाधिक बुद्धिमान होने हैं, अधिक धनी होने के कारण उच्च अधिक शिक्षा प्राप्त करने के अवसर तो होते हैं, लेकिन उनके बच्चे-परम्परा में प्राप्त गुण प्रतिवार्य रूप में श्रेष्ठ नहीं होते। मान्य प्रमाणा के अभाव में हम विवाद पर सभी अधिक विचार नहीं किया जा सकता है। वर्ग के अनुसार पाए जाते हैं अन्तर्गत की बात छोड़कर, हमारे प्रमाण उपलब्ध हैं कि समाज के हर वर्ग में छोटे परिवारों के बच्चे बड़े परिवारों के बच्चों की अपेक्षा बुद्धि-परीक्षणों में अधिक सक्षम होते हैं। इसका यह अर्थ भी लगाया जाता है कि समुदाय के अग्रगण्य अधिक बुद्धिमान सदस्य ही अधिकतर अपने परिवारों की सीमित रखने का प्रयत्न करते हैं। इससे फिर यह बात सामने आती है कि समुदाय में बुद्धिमान लोगों की संख्या के घटने का भय है। लेकिन छोटे परिवारों के बच्चे के अधिक बुद्धिमान पाए जाने का कारण यह भी हो सकता है कि उनके माता-पिता उनमें से हरेक की निजी तौर पर देखभाल करते हैं और ये बच्चे भी काफी हद तक अपने माता-पिताओं के अनुकरण करने का और ऊँची के समाज पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, जबकि लम्बे-चौड़े परिवारों के बच्चे अपने स्वयं-पने के गिलवाड में ही रह जाते हैं।

कुछ गुजान-गारियों की भी मृत्यु-दर में कमी होने से इतनी ही चिन्ता होती है, फिर चाहे जनगणना लगातार बढ़ रही हो या घट रही हो। इन गुजान-गारियों का कहना है कि जब मृत्यु-दर अधिक होती है तो पुनरुत्पादन की क्षमता कम न पहुँच सकी या तो लोग या अधिक बच्चे पैदा करने की क्षमता

तक पहुँचने से पहले ही मर जाने वाले लोग अधिकांशतः जीवात्मक दृष्टि में घटिया होने हैं, अतः इन लोगों का कहना है कि अधिक मृत्यु-दर की अपेक्षा कम मृत्यु-दर की स्थिति में आगे आने वाली पीढ़ियों की औसत जीवात्मक क्षमता कम होती जाती है। हर कोर्द इस बात से सहमत नहीं है कि अधिक मृत्यु-दर की स्थिति में जो लोग जीवित बच रहते हैं वे कम मृत्यु-दर की स्थिति में जीवित बचे लोगों की तुलना में जीवात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ होते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं अधिक मृत्यु-दर की स्थिति में लगभग आधे बच्चे १० साल की आयु तक पहुँचने से पहले ही मर जाते हैं इनकी सख्या कुल मौतों का लगभग आधा होती है। क्या यह मानने के आधार है कि बच्चों की यह आधी सख्या जो कम बचें तब पहुँचने से पहले ही मर जाती है, बचे हुए बच्चों की तुलना में शारीरिक दृष्टि से कम क्षमतावाली या मानसिक दृष्टि से कम चतन्य होती है या कि उनकी मृत्यु का कारण रहन-सहन की खराब परिस्थितियाँ, अपर्याप्त देखभाल, या महामारियाँ का आकस्मिक प्रकोप आदि हैं? यह अवश्य सही है कि आधुनिक समुदाय जान-बूझकर ऐसे अनेक बयस्कों को जीवित रखने का प्रयत्न करता है जो अन्यथा प्रतियोगितात्मक संघर्ष में मृत्यु ही पाएँगे, क्योंकि वे अस्थायी रूप से बीमार हैं या शारीरिक दृष्टि में अक्षम हैं या पागल, या मानसिक रूप से विक्षिप्त हैं या बाहिल हैं या कमजोरी या मूर्खता के कारण जीविका कमा सकने में असमर्थ हैं। इन जिन्दा रखे गए लोगों के कुछ लक्षण आने वाली पीढ़ियों को विरासत में मिलते हैं और कुछ नहीं मिलते। इन मामलों में पक्के निष्कर्ष तब तक नहीं निकाले जा सकते जब तक कि श्रेष्ठ और निम्न गुणों की स्पष्ट परिभाषा उपलब्ध न हो और इस बात की ठीक ठीक जानकारी न हो कि इन गुणों में से कौन-कौनसा किम-किम सीमा तक वंश-परम्परा से सन्तानों को मिलता है।

मृत्यु-दर गिरने में अन्य कई अधिक मनुष्यकालीन समस्याओं का जन्म होता है। एक प्रभाव तो यह है कि जनसंख्या में ६० वर्ष से अधिक की आयु वाले लोगों का अनुपात बहुत बढ़ जाता है। इस स्थिति में यदि निवृत्ति की आयु आम तौर पर ६० वर्ष रखी जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि कम आयु वाले लोगों का उत्पादन में अपना भरण-पोषण करने वाले लोगों की संख्या बढ़ती जाएगी। निवृत्ति की आयु बढ़ाने से यह समस्या केवल आंशिक रूप में ही सुलभ होती है, क्योंकि यदि निवृत्ति की आयु बढ़ाकर ७० कर दी जाए तो भी जन्म के समय ६५ वर्ष की औसत आयु आसता सहित स्थिर जनसंख्या वाले समाज में ७० और उससे ऊपर की आयु वाले लोगों की संख्या काफी अधिक रहेगी। वैसे, इस समस्या को बहुत बढ़ा-बढ़ाकर प्रस्तुत किया जाता है, क्योंकि जहाँ मृत्यु-दर गिरने से वृद्ध लोगों की संख्या बढ़ती है वहाँ जन्म-दर

घटने से बचने की सम्भवा भी अपेक्षाकृत अधिक घटने लगती है। उदाहरण के लिए, पिछली सताब्दी में ब्रिटेन में १५ से ६४ वर्ष की आयु के बीच के लोगों का अनुपात जन्म-संख्या के ६० प्रतिशत से बढ़कर लगभग ७० प्रतिशत हो गया है, यह भागे चलकर कम हो जाएगा, फिर भी उन दिनों की अपेक्षा काफी अधिक रहेगा जबकि जन्म-दर ऊँची थी। ये परिवर्तन केवल मनुष्यवादी हैं, क्योंकि यदि जनसंख्या और मृत्यु-दर दोनों स्थिर हो जाएँ तो ये अनुपात भी स्थिर हो जाएँगे। यदि जनसंख्या स्थिर हो और हर व्यक्ति ७५ वर्ष की आयु तक जीवित रहे, तो १५ से ६४ वर्ष की आयु वाले वर्ग जनसंख्या के ६७ प्रतिशत होंगे। जनसंख्या में १५ से ६४ वर्ष की आयु वाले लोगों का अनुपात उसी अवस्था में ६० प्रतिशत से कम हो सकता है जबकि जन्म-दर एवम तेजी से गाय बढ़ने लगे।

जनसंख्या की वृद्धि-दर घटने में मनुष्य-काल में जो कठिनाइयाँ आती हैं उनके प्रतिरूप जनसंख्या की स्थिरता को लेकर भी अनेक भय प्रकट किए जाते हैं। जैसा कि हम पहले ही देव चुके हैं दीर्घकालीन गतिरोध के समर्थकों को यह भय होता है कि जनसंख्या स्थिर रहने पर अर्थ-व्यवस्था की नम्यता कम हो सकती है और पूँजी-निवेश के अवसरों में भी कमी आ सकती है (दुर्भाग्यवश ५, पृष्ठ ३ (घ)। इन आर्थिक आशंकाओं के अलावा उन लोगों की राजनीतिक आशंकाएँ भी हैं जो रक्षा या साम्राज्य के उद्देश्य में जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होते रहना पसन्द करते हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि एक बार गिरना आरम्भ होने पर जन्म दर ठीक उसी स्तर पर गिर जाएगी, जहाँ यह जनसंख्या को स्थिर रखे। पश्चिमी यूरोप के कई देशों में २०वीं सताब्दी के चौथे दशक में जन्म-दर दस स्तर से भी नीचे चली गई थी, यद्यपि इसके बाद फिर यह स्थिरता की दर पर आ गई और अधिकांश मामलों में उससे भी ऊपर हो गई। इसी प्रकार हम यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि यह कम विकसित देशों में कभी उतन निम्न स्तरों पर आ सकेगी जिन तक यह यूरोप में आई थी। यदि मृत्यु-दर कम हो और जनसंख्या को स्थिर रखना हो तो इस रीति का प्रचलन होना आवश्यक है कि कोई व्यक्ति २ में कम और ३ से अधिक बच्चे पैदा न करे। इस सताब्दी के तीसरे दशक में यूरोप में केवल १ बच्चा पैदा करने की रीति प्रचलित हो गई थी (इस स्थिति में जनसंख्या का गिरने जाना अवश्यभावों है), लेकिन अब यह रीति नहीं रही है। जहाँ तक हम सम्भने हैं एशिया या अफ्रीका या यूरोप में ३ या ४ बच्चे पैदा करने की रीति चल पड़ने की सम्भावना है (इस स्थिति में जनसंख्या लगभग एक सताब्दी में दूनी हो जाएगी)। आजकल ये रीतियाँ मुख्यतः व्यक्तिगत सुविधा के विचार में ही निर्धारित

होती है जिनमें एक भोग तो मगान और पारिवर्णिक जीवन के प्रति प्रेम की भावना है और दूसरी भोग बर्षों को पालन-पोषण का श्रम और उसके दौरान होने वाली अनुविधा का विचार है। जनमन्या-मन्वन्था मन्वन्थाओं की बर्ष-मान बर्षों में एक बड़ा नाम यह है कि हमने गांधी माना-पिता उन माना-त्रिक मन्वन्थाओं पर ध्यान देने लगते हैं जो दो से वन या तीन से अधिक बच्चे पैदा करने की नीतियों उचित होने पर पैदा होती हैं। जनमन्या की मन्वन्था के सामाजिक पहलू पर मन्वन्थाओं की उचितियों का ध्यान सावधान बनने के लिए उनको शिक्षा के माध्यम से और भी प्रयत्न किया जाना चाहिए।

मन्वन्था में, हम देखते हैं कि मानव न अपने सिद्धान्त के मौलिक रूप में परिवर्तन करके बहुत ही उचित किया था। यह दरम्यान नहीं है कि जनमन्या की वृद्धि-दर का निर्धारण जीवन-निर्वाह के माध्यम करते हैं। उन मनुष्यों में यह काफ़ी हद तक नहीं हो सकता है जिनकी जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों ही उंची हैं, लेकिन जैसे जैसे मनुष्य जन्म और मृत्यु-दरों पर नियंत्रण करना सीखता जाता है बर्ष-बर्षों में यह धारणा उलट सिद्ध होती जाती है। एक मानव-दरवृत्त का एक नया युग आरम्भ होता है जिसमें अपने मन्वन्था का निर्माण हम स्वयं करते हैं। इस नए युग में यदि हम काफ़ी बच्चे पैदा न कर सकें तो मानव-जाति मिट सकती है, या यह भी सम्भव है कि जीवन-निर्वाह के साधनों की सीमा में रहने हुए हम अपनी मन्वन्था उलटाने कर दें कि और प्रती पर बनने के लिए न जा पाए तो पृथ्वी पर लोगों को केवल बड़े रहने की जगह बच जाएगी। हम उन दोनों में से किस दिशा की ओर बढ़ेंगे यह बताने नहीं जानता।

(ख) आकार और उत्पादन—जनमन्या के आकार पर प्रायिक विद्या के प्रभावों की बर्षों से एक सीधा संबंध यह कभी-कभी उजागर आता है कि साधनों की सीमा में जनमन्या का उचित आकार क्या है?

यह मुख्य रूप से आर्थिक प्रश्न नहीं है। हाँ, उदाहरण के लिए यह पूछा जा सकता है कि जिनकी जनमन्या होने पर प्रतिस्पर्धि उत्पादन सर्वाधिक हो सकेगा। उन प्रश्न का कोई ठीक उत्तर दिया जाना मुश्किल है, क्योंकि यह विविध प्रकार की बर्षों के बीच पर निर्भर करता है, लेकिन प्रश्न बंध है और अस्पष्ट भी। बर्षों, यह नहीं माना जा सकता कि जनमन्या का उचित आकार वही है जिसमें प्रतिस्पर्धि उत्पादन सर्वाधिक हो। सम्भव है कोई देश इनमें वन जनमन्या का हीना पसन्द करे, जिनका कारण यह हो सकता है कि वह देश छोटे राष्ट्र को होने वाले तय-व्यतिरिक्त न्यायों—जन्म की मुहूर्ति, राष्ट्रीय एकता की सरलतापूर्वक उपलब्धि, और बाह्य राजनीतिक उत्तरदायित्वों में सुविधा या फायदा उठाना चाहता हो, या यह भी हो सकता है कि वह देश

आप्रवास, अधिक मन्तानों की उत्पत्ति आदि बढ़ती हुई जनगणनाओं की प्रक्रियाओं को पसन्द न करता हो। या इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि कोई देश प्रतिध्वनि अधिकतम उत्पादन के लिए आवश्यक जनगणना से अधिक जनगणना रखना चाहे क्योंकि वह रक्षा या आप्रमण के लिए महत्वपूर्ण हो सकती है या बड़ी जनगणना के बन्ध पर विश्व-मामलों में अधिक महत्वपूर्ण योग देने या अथवा मिल सकता है या आप्रवासी, विशेषकर धार्मिक या राजनीतिक अन्याचारों से पीड़ित शरणार्थियों को बसाने की इच्छा अनुभव की जा सकती है, या सामान्यतया दूसरे लोगों के साहचर्य या विशेष रूप से बच्चा की अधिक संख्या के प्रति आनन्द अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार जनगणना के उचित आधार का प्रश्न एंगे-ऐसे मुद्दे पर न बनना है जिनका समाधान धार्मिक विशेषण की सीमा से पर है।

अपने की धार्मिक पहलुओं तक सीमित रखने हुए हमें 'जनाधिक्य' का प्रयोग चार भिन्न-भिन्न अर्थों में देखने को मिलता है। पहला, यह देश अधिक जनगणना वाला माना जाता है, जहाँ जनगणना घटाकर प्रतिध्वनि उत्पादन में वृद्धि करने की गुञ्जाइश हो। दूसरा, कभी-कभी इसका अर्थ इन अर्थों होना है कि बाहर से गाय-पशुओं का आयात किया बिना जितनी जनगणना का भरण-पोषण किया जा सकता है वर्तमान जनगणना उतना अधिक है। तीसरा, जो कि एक अर्थ है, यह है कि देश की जनगणना उतने साधनों की तुलना में इतनी अधिक है कि जनगणना में कोई परिवर्तन करने पर भी देश के कुल उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। और अन्तिम अर्थ, जो स्पष्ट है, यह है कि देश बड़ी संज्ञी के साथ उन प्राकृतिक साधनों को समाप्त करता जा रहा है जिनकी पूर्ति फिर से नहीं की जा सकती। हम पहले अन्तिम अर्थ से ही निपटे, क्योंकि, जैसा कि अभी हम देखेंगे, इससे कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकता।

और बातें समान रखने पर, जनगणना का आधार ही यह निर्धारित करना है कि देश के अन्तिम साधन किस गति में इस्तेमाल किये जा रहे हैं। तेल, कोयला, लोहा, टिन या दूसरे अन्तिमों का जितना ही अधिक उपयोग किया जाएगा उतना ही कम आधे के लिए पृथ्वी के गर्भ में बच रहेगा। क्या हम कोई ऐसी 'उचित' दर निर्धारित कर सकते हैं जिस पर इन साधनों का उपयोग किया जाना चाहिए ?

साधनों के संरक्षण की समस्या के तीन भिन्न-भिन्न पहलु हैं। पहला तो यह कि क्या हम एक साधन का उपयोग करने समय उतनी धूम्य का दूसरा साधन पैदा कर सकते हैं ? दूसरे, अनेकानुसंध अधिक मन्द गति में साधनों का उपयोग करने से क्या धार्मिक हानि होगी ? और तीसरे, अपने दावों की

तुलना में हम आने आने वाली पीढ़ियों के दावों को कितना महत्त्व देते हैं ? माघ ही, इन प्रश्नों का उत्तर देने समय हमें किसी एक देश की स्थिति और समूचे समार की स्थिति के बीच भेद करना होगा, क्योंकि इस समय कोई एक देश चाहे तो खुशी में अपने मारे खनिज निकालकर इस्तेमाल कर सकता है और भविष्य में अन्य देशों में आयात करके काम चला सकता है, लेकिन अपने समार के लिए यह नीति अपनाना सम्भव नहीं है।

किसी दूसरे साधन की जन्म दन के उद्देश्य से किसी एक साधन के इस्तेमाल की बात करते समय एक देश की स्थिति को लेकर विचार करना अधिक नमीचीन प्रतीत होगा। उत्तर रोटेशिया या मलाया या ट्रिनिडाड-जैमे देशों में, जिनके गहन-महन का स्तर नीचा है, ऐसे खनिज साधन पाए जा सकते हैं जिन्हें शेष समार बहुत अधिक महत्त्व देता है। यदि ऐसा देश ये खनिज निकालने में रुकावट कर देता है तो उसके गहन-महन का स्तर नीचा बना रहता है। दूसरी ओर, यदि यह खनिज निकाला जाने लगता है तो उसे विदेशों में बेचकर धन कमाया जा सकता है जिसे तरह-तरह से पूंजी उपस्कर में सुधार करने के लिए खर्च किया जा सकता है। शिक्षा, कृषि-भूमि के सुधार, निचाई-सुविधाओं, लोकोपयोगी सेवाओं अनुसन्धान, और नये साधनों की खोज या अन्य साधनों के इस्तेमाल के नये ढंग निकालने पर अधिक पैसा खर्च किया जा सकता है। परिणामस्वरूप उक्त खनिज के पूरी तरह समाप्त होने पर भी देश पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा भविष्य बनाने की स्थिति में आ सकता है वहाँ एक साधन का दूसरे साधन में स्थान ले लिया है। लेकिन सदा ही ऐसा नहीं होता। प्रायः विदेशों को साधन बेचकर जो धन प्राप्त होता है वह बर्बाद कर दिया जाता है, या चालू उपभोग पर खर्च कर दिया जाता है। हमका परिणाम यह होता है कि जब साधन पूरी तरह समाप्त हो सकता है तो उसके स्थान पर कोई और उपलब्धि देखने में नहीं आती, और अर्थ-व्यवस्था गतिरोध की स्थिति में पहुँच जाती है खनिज-उद्योग में नये भूतपूर्व नगरों और खनिजों की दृष्टि से सम्पन्न कई देशों की यही हालत देखने में आई है। प्रायः यह भी जाना है कि खनिजों की विक्री में प्राप्त आय किसी दूसरे देश में चली जाती है, सम्भव है चिदसी गेयरफोल्डर इन आय का अधिकांश भाग हथिया ले, और उस खनिज उत्पन्न करने वाले देश में लगाने के बजाय स्वयं अपने देश के पूंजी उपस्कर में सुधार करने पर खर्च कर दें, या यह भी हो सकता है कि खनिज कार्य आप्रवासियों द्वारा किया जा रहा हो जो जन्मदात्री में कितना अधिक खनिज सम्भव हो उतना करके खनिजों की समाप्ति के बाद अपने देश को वापस चले जाएँ और वहाँ केवल पौरो जमीलें छोड़ जाएँ। खनिज के बढ़ते उत्पन्न हो भूज के दूसरे साधन उत्पन्न किए जा सकते हैं, लेकिन

उसकी सम्भावना तभी होती है जब देश इस बात पर जोर दे कि मनिज-पदार्थों को बेचकर प्राप्त होने वाली आय का नये साधनों (शिक्षा समेत) में निवेश कर दिया जाए। फिर भी, नया साधन मदा ही पुराने साधन का पूरी तरह स्थान नहीं ले सकता। किसी ऐसे आदिम देश का उदाहरण लीजिए जिसमें कोयले या लोहे का पता चले। य साधन ऐसे हैं जिनके चल पर बड़े-बड़े उद्योग खड़े किए जा सकते हैं। सम्भव है ये देश अपने लोगों में अप्रशिक्षित शिक्षा या पूँजी का अभाव होने के कारण ऐसे उद्योग न खड़े कर सकें। अतः यह अस्थायी रूप में 'लाहा' या कोयला निर्यात करने का संकल्प ले ले जिसे प्राप्त धन उत्पादन-क्षमता बढ़ाने में लगाए। लेकिन यदि यहाँ में लोहा या कोयले का निर्यात किया जा रहा है तो ऐसा समय आने पर जबकि देश की स्थिति ऐसी हो जाए कि यहाँ इन मनिजों की सहायता में उद्योग स्थापित किए जा सकें, तब सम्भव है कि यहाँ लोहा या कोयला बचे ही नहीं। विरोध रूप में इन दो मनिजों के बारे में यह तय करना सदा ही असंभव नहीं होता कि धन कमाने की दृष्टि में इनका वर्तमान में निर्यात कर दिया जाए, या न कि किसी अनिश्चित भविष्य में स्थानीय उद्योग स्थापित करने की दृष्टि में बचा रने जाएँ।

किसी एक देश के राजस्व समूचे समार पर विचार करने समय भी बहुत-बहुत यही कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। समूचे समार के मामले में यह बहुत ही सीमित अर्थ में कह सकते हैं कि साधन खर्च होने में उतने ही मूल्य का दूसरा साधन पैदा हो सकता है। यह सही है कि पिछली दो शताब्दियों में मनिजों का जितना उपयोग किया गया है उतने देगले हुए हमारे ज्ञान और उत्पादन-क्षमता में बहुत अधिक वृद्धि हुई है, यदि हमने अपने वाची पौद्धियों को में मनिज इनका उपयोग बनाए बिना या दूसरा वैज्ञानिक ज्ञान सीधे बिना ही विरासत में दे दिए होने तो उन्हें कोई फायदा न होता। लेकिन वे उस बेर मारी जानकारी को लेकर करेंगे भी क्या यदि उमें समस म लाने के लिए उन्हे साधन विरासत में न मिले ? हाँ, यह सम्भव है कि ये इन जानकारी के बल पर नये साधन ही खोज लें, या पहले जिन साधनों को बेकार समझा जाता था उनके नये उपयोग िकान लें (अभी पिछले दिना नर बाँसगाइट और यूरेनियम साधारण 'पत्थर' समझे जाते थे)। यह भी हो सकता है कि वे हाइड्रोजन के एटमों में बनाकर अपनी जरूरत की मारी चीजें वायु में मरनेपित कर लें। दूसरे शब्दों में, यह तय कर पाना मुश्किल है कि यदि हम अभी अपने अपने साधन समाप्त कर दें तो हमारी मन्तकों को हमने कोई ज्ञान पहुँचेगी या नहीं, और यदि पहुँचेगी तो वह कितनी होगी। हो सकता है कि उन हमने फायदा ही न दे, क्योंकि हम अपने में उन को ज्ञान और पूँजी खोज जायेंगे

वह उनके बड़े काम का सबूत है। या यह भी हो सकता है कि वे इन हानिपूर्ण जिज्ञासुत्वों के लिए जैसे जैसे कि मध्यपूर्व और उत्तर अफ्रीका के लोग अपने पूर्वजों को क्रोधित करते हैं जिन्होंने वहाँ के जंगलों का नष्ट करके उत्पन्न बड़ा अनाकार किया है क्योंकि वह माया भ्रम अब रेगिस्तानी बन गया है।

मादनों के सतत होने जाने की दर अधिक सावधानी से मादनों के सर्व करने की लागत पर भी निर्भर होती है। उदाहरण के लिए, मनुष्य में कई प्रकार की मुक्ति वाली धातुएँ निकलती हैं। जमीन के जिनो एक टुकड़े से घटिया धातुएँ भी निष्कासक मजिज-उत्पादन में सदा वृद्धि की जा सकती है। उसी प्रकार जंगल धीम-धीम या अधिक तेजी के साथ काटे जा सकते हैं, भोज बनरोपण में भी कम या अधिक सावधानी बरती जा सकती है। टीक सही वृद्धि पर भी लागू होता है। अधिकांश देशों में यह एक नैतिक नियम बनता जा रहा है (कभी-कभी उन सम्बन्ध में कानून भी बना होता है) कि जमीन के उपजाऊन की रक्षा की जाती बानि। बैसे यह प्रवृत्ति सार्वभौमिक नहीं है। अनेक देशों में अब भी जहाँ बदन-बदलकर खेती करना बहुत प्रचलित है। इन प्रजाती के अन्ततः अणु हम मृत्ति के एक टुकड़े के उपजाऊन को बिल्कुल मरने का तो उसे काटे छेँ नहीं पड़ता, क्योंकि अनेक मात्र फिर दूसरे टुकड़े पर खेती आगमन की जा सकती है; यदि मृत्ति छोटे दिन परती छोटे जगह के बाद फिर बुराया उर्वर बन सके तो दूसरी स्थिति मजिज पदार्थों से धीरी मिल हो जाती है, लेकिन पानी छोटी मशीन अधिकारण करने सतिज-सम्बन्ध को देती है, जो खाद मिश्री के गुण की फिर से पैदा नहीं कर पाती। इन सभी मामलों में कुछ हानि उदाहरण निम्न-पेश रूप से या केवल अस्वास्थ्य अधिक सीमा तक प्राकृतिक मादनों का संरक्षण किया जा सकता है। बाणिज्यिक उपभोगकर्ता यह हानि मान में से पूरी कर लेता है, घटिया धातुओं के सतत का खर्चा उनकी कीमत से निकल आता है; यही बात बनरोपण, भोज-बोहा करके बन काटने, या मृत्ति-संरक्षण के उपायों पर भी लागू होती है। यदि अनुदाय में यह भावना स्वयं पैदा न हो सके तो तरह-तरह के प्रलोभन देकर या कानूनन उदरदम्पी करके लोगों को मादनों का अधिक सावधानी से उपभोग करने के लिए तैयार किया जा सकता है। प्रलोभन मुख्यतः मादनों के अधिक रहन उपभोग की पद्धतियों को अनादने के लिए उपदान देने के रूप में ही सज्जा है, दक्षिण अफ्रीका की सरकार द्वारा सोने की खानों पर सॉन्डी लगाने की पद्धति का यही प्रभाव है; या पेट लगाने के लिए, या घटिया पानीयों पर खेती शुरू करने या मृत्ति-संरक्षण के उपायों पर अमल करने के लिए उपदान के रूप में हो सकता है। दूसरी ओर, कानून भी फिर से पाने लगाने के या मृत्ति-संरक्षण के मानक निर्धारित



करके, या इन मानकों का उपनयन करने के लिए दृढ़ निर्धारित करके लोगानों को साधनों का अधिक सावधानी से उपयोग करने के लिए विवश कर सकता है।

इन सबके मूल में एक समस्या यह है कि भविष्य के प्रति हमारी पीढ़ी का दायित्व क्या है ? जो कुछ हम समय हमारे पास है क्यों न हम उसका उपयोग कर लें और आने वाली पीढ़ियों को अपनी व्यवस्था स्वयं करने दें ? हमारे वर्तमान गुण की अपेक्षा आगे आने वाली पीढ़ियों के गुण को अधिक महत्त्व क्यों दिया जाए ? उदाहरण के लिए जनसंख्या की समस्या को लीजिए। मान लीजिए जिमी दश के पास १० अरब मनुष्य-सर्पों के उपभाग योग्य पर्याप्त बोकला है। एसी स्थिति में बजाय इसके कि ५ करोड़ लोग उते २०० वर्ष में ही समाप्त कर लें यह क्या महत्तर माना जाए कि २ करोड़ लोग उसका ५०० वर्ष तक उपयोग करें ? या भूमि-भरणण का उदाहरण लीजिए, यदि हम हम समय काफी परिश्रम करें तो भूमि को उससे भी अधिक सुरक्षित रूप में अपनी सन्तानों को दे सकते हैं जिस रूप में यह हम अपने पूर्वजों से मिली थी। लेकिन हम आने वाली पीढ़ियों के लिए यह परिश्रम क्या करें ? या फिर हम इस तरह के कोई नियम क्या करें जिनका फल पूरी-पूरी तरह हम अपने जीवन-काल में ही न मिल जाए—उदाहरणार्थ, जल-विद्युत् पैदा करने के लिए नदियों पर बांध बनाने सम्बन्धी निवन्ध ? इन प्रश्नों का एकमात्र उत्तर यही है कि हम मानव-जाति को बनाए रखना अधिक बर्ण्य मानते हैं। हमसे से अधिकता की यह भावना है—चाहे यह सत्य हो या तस्कारगत—कि हमारे समुदाय का भविष्य महत्त्व की चीज है, और विशेषकर हमसे से हर व्यक्ति को और सामान्यतः हमारी पीढ़ी को, आने वाले पीढ़ियों की मानिए अपने गुण के कुछ धन का बलिदान करना चाहिए। यह बलिदान जितना हो सके निर्धारित करने के कोई उपाय नहीं है, और इसीलिए हम हम बात का भी कोई विषयपरक उत्तर नहीं दे सकते कि 'साधनों के उपयोग करने की उचित गति क्या है ?' हर पीढ़ी में हर समुदाय को ये बातें मुद्द तम करनी होती हैं।

वर्तमान उत्पादन और वर्तमान जनसंख्या के परस्पर सम्बन्ध के बारे में विचार करने समय हमें अधिक विद्वगनीय आधार मिल जाते हैं। जनसंख्या और प्रतिव्यक्ति उत्पादन का सम्बन्ध एक ओर तो विशेषज्ञता और बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभों पर निर्भर है, और दूसरी ओर प्राकृतिक साधनों के अधिक महत्त्व और कम महत्त्व उपयोग की हानियों पर आधारित है। जनसंख्या त्रिगुणी ही अधिक होगी, व्यवस्थित, जहाँ और उपयोगों को विनाशकारी के उत्पन्न ही अधिक अवसर मिलेगा। 'धन का विभाजन बाजार के विभाजन पर निर्भर होता है।' यह सही है कि अन्तर्जातीय आधार के परस्परस्पर्ध के जनसंख्या

के प्रकार से प्रभावित हुए बिना ही कुछ सीमा तक विनोदप्रता सम्भव है—अर्थ  
 धर्म में तो दरममल देग जितना ही छोटा होगा विनोदप्रता के अवसर उनमें  
 ही अधिक होंगे। चूंकि अनेक क्रियाएँ ऐसी हैं जिनका विदेश-व्यापार से सम्बन्ध  
 नहीं है—आवास-व्यवस्था, व्यक्ति-सेवाएँ, आन्तरिक परिवहन, आदि—  
 अतः इस बात में सच्चाई अधिक है कि आन्तरिक बाजार जितना बड़ा होगा  
 उनमें ही अधिक अवसर आन्तरिक विनोदप्रता के होंगे। इसके अलावा, विदेश-  
 व्यापार की अपनी मामियाँ हैं और वह अम्पिर भी होता है जिनके कारण  
 आन्तरिक व्यापार की तुलना में विदेश-व्यापार का आकर्षण कम होता है।  
 उपर्युक्त तर्क पूरे-आ-पूरा बड़े पैमाने के उत्पादन पर भी लागू होता है। बड़े  
 पैमाने के उत्पादन के लाभ कभी-कभी निर्यात के लिए माल तैयार करने  
 उठाए जा सकते हैं, लेकिन बहुत से मामलों में (उदाहरण के लिए, कुछ लोको-  
 पयोगी सेवाओं में) उत्पादन का रूप ऐसा नहीं होता कि उसका निर्यात किया  
 जा सके, जो भी हो, विदेश-व्यापार में अपेक्षाकृत बड़ी जोखिम होने के कारण  
 निवेशकर्ता विदेशी बाजारों में अपने अधिकार उत्पादन की बिजली पर भरोसा  
 करने की बजाय आन्तरिक बाजार में माल स्वयं के लिए बड़े पैमाने के उत्पा-  
 दन के लाभों का अधिक फायदा उठाना चाहेगा।

विस्तृत बाजार में सर्वाधिक लाभ उठाने वाले उद्योग लोकोपयोगी सेवाएँ,  
 और धातुओं की सहायता से माल तैयार करने वाले—विशेषकर धातु-उत्पा-  
 दन की आरम्भिक अवस्थाओं में—बृहत् पैकटरी उद्योग होते हैं। आबादी घनी  
 होने के साथ लोकोपयोगी सेवाओं—परिवहन, विजली, गैस, पानी—में बड़े  
 पैमाने के लाभ बहुत स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं, क्योंकि ऐसी स्थिति में  
 इनकी मरम्मत, पाइपों और तारों का अधिक माना में उपयोग होने लगता है।  
 उपभोक्ता पदार्थ और मशीन तैयार करने वाले पैकटरी उद्योग, दशतें कि वे  
 जुड़ाव उद्योग न हो, बहुत जल्दी ही इच्छित प्रकार तक पहुँच जाते हैं। मुख्य  
 रूप से कच्ची धातुओं का प्रक्रियाकरण करने वाले और मूल रसायन तैयार  
 करने वाले पैकटरी उद्योग भी ऐसे हैं जिन्हें बड़े पैमाने के लाभ सर्वाधिक मिलते  
 हैं। लेकिन जिन देशों की जनसंख्या इतनी काफी है कि वहाँ अनेक प्रकार के  
 दूसरे उद्योग चलाने की गुंजाइश है, वहाँ अधिकांश उद्योग चलाने में फायदा  
 रहता है, अतः ही सामान्य पैकटरी का आकार छोटा ही हो, क्योंकि पैकटरीयों  
 को कच्चे माल, पुर्जों और सेवाओं की सप्लाई के लिए, या अथवा उच्च  
 उत्पादन या गौण उत्पादनों की खरीद के लिए अनेक प्रकार के उद्योगों पर  
 निर्भर रहना पड़ता है। दूसरी ओर बड़े पैमाने की हानियाँ वृषि और खनन  
 में सबसे जल्दी दिखाई देने लगती हैं। जनसंख्या बढ़ने के साथ-साथ कम  
 उपजाऊ जमीनों पर खेती करना या उपजाऊ जमीनों पर ही और गहन खेती

करना आवश्यक ही जाता है और दोनों ही मामलों में ह्रासमान प्रतिफल मिलने लगते हैं।

घर यह कहा जा सकता है कि ह्रासमान प्रतिफल की स्थिति में पहुँचे बिना दान के बिना पित्तनी जनगणना उचित है यह हम बात पर निर्भर है कि उगने प्राकृतिक माधन धातुओं के तैयार हो जाने वाले पदार्थों और भारी रसायनों के निर्माण के उपयुक्त हैं या मुख्यकर कृषि-खाद्य के उपयुक्त हैं। पहली स्थिति में जनगणना में काफी वृद्धि हो जान पर भी वर्तमान प्रतिफल प्राण्य दिग्गज नहीं होते हैं, जबकि बाद वाली स्थिति में ह्रासमान प्रतिफल कहीं ज़रूरी मिलने लगते हैं। हमारे माय ही एक अग्रगण्य यह है कि कृषि-माधन की दृष्टि में जनगणना-पिचय वाला होना पर भी कोई देश औद्योगिक विकास की क्षमता की दृष्टि में जनगणना हो सकता है। समापना या मार्गगत-जैमे कुछ बहुत छोटे देशों के मामल यही समस्या है कि कृषि को दगा हुए तो उनकी जनगणनाएँ बहुत अधिक है, लेकिन माय ही व्यापक पैमाने पर औद्योगिक विकास करने के लिए बहुत ही थोड़ी है।

दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि कोई देश केवल उद्योगिक जनगणनाय वाला नहीं बनाया जा सकता कि उगरी जनगणना वहाँ की भूमि पर उगलन गायान्त को दगने हुए अधिक है। हम दूसर अर्थ में नी कभी-कभी जााधिकार दार का प्रयोग किया जाता है। हमारा कुछ मरुत दरमगत नर हो सकता था जब गायान्त का अन्तरीष्ट्रीय व्यापार सम्भव न होना, या बहुत मरुता होना, या हम हम समस्या को मरुता गुग्ता की दृष्टि में ही दग रहे हों। पश्चिमी यूरोप में एक एकट में एक स्थिति के योग्य भोजन-माधनों उपलब्ध होती है, यदि हम कम्ता का भी पूरा-पूरा नग विने और तीन एकट पाग पैदा करने वाली भूमि को लगभग एक एकट कृषि भूमि के बराबर मान लें। अमरीका में भी भोजन का ररर लगभग यही है, लेकिन भूमि की उत्पादन क्षमता बहुत कम है तिमारे कारण करीब दो एकट भूमि एक स्थिति में निग गायान्त जुग पायी है। घाय दोनों की स्थिति एक घोर तो उनके भोजन-ररर पर निर्भर है और दूसरी और उत्पादन-क्षमता पर। बहुत-कुछ पशुपत में मिलने वाले पदार्थों की उपभोग मात्रा (गोता, दूध, मरगतन पादि) पर भी निर्भर होता है क्योंकि भूमि के रूप में इनका मरुं बहुत अधिक देखा है। उदाहरण के लिए, यूरोप की तुलना में भारत में कपासियों का प्रतिस्थिति उपभोग दो तिहाई से भी कम है और प्रोटीन का उपभोग तो बहुत ही थोड़ा है, लेकिन भूमि की उत्पादन-क्षमता कम होने के कारण भारत की भोजन-ररर की हम कभी का तुलनात्मक लाभ नहीं मिल पाता, और उसकी क्षमता का प्रतिस्थापित भारत की क्षमता से ८/१ ररर में होता है।

खाद्यान्न आयात करने की सम्भावना हो तो कृषि-भूमि की धारण-क्षमता अधिकतम वाञ्छनीय जनसंख्या का निर्धारण करते समय निर्णायक नहीं रह जायें। एसी स्थिति में देश अथवा अर्थव्यवस्था अधिक मूल्यवान् कौशलों या साधनों के विकास पर ध्यान केन्द्रित करके ही अपनी आय बढ़ा सकता है और जान-बूझकर जमीनों का बेसार पड़ी रहने दे सकता है और अपनी जनसंख्या के योग्य खाद्यान्न उपजा लेने की सामर्थ्य होन हुए भी उनका आयात करने का फैसला कर सकता है। भोजन व्यवस्था के लिए काफी भूमि न होने पर भी कोई देश तब तक कम जनसंख्या वाला माना जाएगा जब तक कि उसके पास ऐसे दूसरे साधन या कौशल मौजूद हैं जिनका उपयोग करके बढ़ती हुई जनसंख्या प्रतिव्यक्ति उत्पादन बढ़ाती रह सकती है। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि कोई देश तब तक जनाधिक्य वाला नहीं माना जा सकता जब तक कि वहाँ के लोगों को विनिर्माण या दूसरे कार्यों में लगे रहने की गुंजाइश हो, क्योंकि यदि जनसंख्या कम करके प्रतिव्यक्ति उत्पादन बढ़ाया जा सकता हो तो यह मानना पड़ेगा कि विनिर्माण, कृषि या किसी अन्य क्षेत्र में जनाधिक्य है। इस पैग में हम यही कहना चाहते हैं कि किसी देश में जनाधिक्य है या नहीं, इसका निर्णय करने समय केवल उस देश के कृषि-साधनों को ही ध्यान में नहीं रखना चाहिए बल्कि अन्य सभी काम-धन्यो पर विचार कर लेना चाहिए।

लेकिन जहाँ एक ओर यह सही है कि भोजन का प्रबन्ध न कर पाने से ही कोई देश निश्चित रूप में अधिक जनसंख्या वाला नहीं माना जा सकता, वहाँ समूचे समार पर यह तर्क लागू नहीं होता। जैसा कि हम देख चुके हैं, समार की वर्तमान धारण-क्षमता २३ अरब और १० अरब के बीच है और वृद्धि की वर्तमान दर पर ( १३ प्रतिशत प्रतिवर्ष ) समार की जनसंख्या लगभग एक शताब्दी में अधिकतम अर्थात् १० अरब तक पहुँच जाएगी। साथ ही खाद्यान्न-उत्पादन की टेक्नीकें भी निरन्तर सुधर रही हैं। उन्नत कृषि-देशों में प्रति एकड़ उपज बहुत अधिक बढ़ी है और यह बता पाना लगभग असम्भव है कि भविष्य में तकनीकी प्रगति की दर क्या होगी। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि समार की जनसंख्या में हो रही वृद्धि प्रति एकड़ उपजों में हो रही वृद्धि से अधिक है, अनेक लोग इस तर्क को और जोर से पेश करते हैं कि किसी देश के लिए खाद्यान्न के आयात पर निर्भर रहना गतरनाक है। उदाहरण के लिए, उनका विचार है कि यदि ग्रेट ब्रिटेन की जनसंख्या द्वाई करोड़ से अधिक न हो तो ब्रिटेन का भविष्य कहीं अधिक सुरक्षित रह सकता है, क्योंकि इतनी जनसंख्या की सहायता से लोकोपयोगी सेवाओं और विनिर्माण-उद्योगों में बड़े पैमाने के लगभग सभी लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं, साथ ही ग्राह्य से खाद्यान्न मँगाने की भी बहुत

ही कम ज़रूरत पड़ती। वैसे ये सभी तरंग अत्यधिक अनिश्चित भविष्य के सम्बन्ध में अटनलों पर ही आधारित है।

यह बात भी स्पष्ट करना जरूरी है कि यदि हम यह सिद्ध कर सकें कि जनमर्या में २० प्रतिशत या इसके आसपास कमी करके प्रतिव्यक्ति उत्पादन बढ़ाया जा सकता है, तो इसका मतलब यह नहीं है कि फानू लोगो को बाहर भेजकर या जन्म-दर में अपेक्षित कमी करके प्रतिव्यक्ति उत्पादन बढ़ाया जा सकेगा। जनमर्या-सम्बन्धी ये तुलनाएँ हम पूर्व-धारणा पर आधारित हैं कि बूढ़े और बच्चे, पुरुष और स्त्री कुशल और अकुशल की दृष्टि में जनमर्या के गठन में कोई परिवर्तन नहीं हो रहे। लेकिन व्यवहार्यत जनमर्या में परिवर्तन होने के साथ उमरे गठन में भी परिवर्तन होता है और उमके परिणाम मदा ही लाभकर नहीं होते। मशमण की ममस्याओं पर हम हम अध्याय के मण्ड १ (क) में पहले ही विचार कर चुके हैं।

जनाधिवय के अन्तिम अर्थ का सम्बन्ध उम म्यिनि में है जबकि देश की जनमर्या इतनी अधिक होती है कि उमे और बढ़ाने में उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं की जा सकती। यह जनाधिवय के पहले अर्थ की ही चरम अवस्था है। पहले अर्थ में जनमर्या बढ़ने के साथ प्रतिव्यक्ति उत्पादन घटता है, लेकिन कुल उत्पादन बढ़ता है, इस अर्थ में कुल उत्पादन भी नहीं बढ़ता। दुर्भाग्य में जनाधिवय की यह चरम अवस्था भी कई जगह पाई जाती है। प्रायः यह अवस्था अर्थ-व्यवस्था के अनिपय क्षेत्रों में लगे लोगों की अत्यधिक मर्या के रूप में प्रकट होती है, विशेषकर घरेलू नौकरी, छोटे-छोटे व्यापार, मर्यामी रोजगार और कृषि में। घरेलू नौकरियों की मर्या इसलिए बढ़ जाती है कि ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओं में इस प्रकार के ममजन हो जाने हैं कि हर व्यक्ति जितने अधिक लोगों को रोजगार दे सकता है, देता है, सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक माना जाने लगता है कि हर व्यक्ति जितने हो सके नौकर रहे, और ममुदाय के अपेक्षाकृत धनी लोगों को अपने घर नौकरों के भुण्ड-के-भुण्ड रखने पड़ते हैं जो उमकी आय पर आवश्यकता में अधिक भार होने हैं। हमारा एक चरम उदाहरण वारयेटोम का द्वीप है जहाँ की जनगणना के अनुसार जनमर्या के १६ प्रतिशत लोग घरेलू नौकरियों में लगे हैं। छोटे-छोटे व्यापारों में भी इसी प्रकार का विकास होता है, बाजारों में छोटी-छोटी दुकानों की भरमार हो जाती है जिनमें हर बिक्रेता बहुत ही थोड़ी चीजें बेचना है—वह सामान भी बेचना चलता है और साथ ही अपने सहाकर ममय भी गुजारता जाता है। इनके अनिश्चित बुनियातों, छोटा मोटा काम करने वाले मालियों, और दूसरे लोगों की मर्या भी बहुत अधिक बढ़ जाती है जो मर्या में एक-आध दिन जब भी कोई अस्थायी काम मिल जाता है कर लेने हैं।

कृषि में यह फार्मों के छोटे आकार के रूप में दिखाई पड़ता है, श्रीमन्त परिवार का प्लाट इतना छोटा होता है कि उनके परिवार के सभी सदस्य पूरा समय उमर पर काम नहीं कर सकते। जनाधिक्य व प्रमाण कृषि-क्षेत्र में मिलेंगे, या घरेलू नौकरियों के रूप में या व्यापार और ग्रन्थायी कामों के रूप में। यह इस पर निर्भर करता है कि कृषि-कार्य मजदूरों की सहायता में होता है या विमान करते हैं। यदि कृषि-कार्य मजदूरों की सहायता में होता हो (जैसा कि बारपेटोम द्वीप में होता है) तो खेती के लिए जितना लागे की आवश्यकता होगी उममें अधिक लोग नहीं रख जायेंगे, और बगी योगों को कृषि-क्षेत्र से बाहर काम टूटना पड़ेगा। लेकिन यदि कृषि-कार्य विमान करते हों तो बगी लोग पारिवारिक फार्मों पर ही रहते हैं, और कृषि के बाहर के घण्टों में बहुत ही थोड़ी बगी दिखाई देती है। जनाधिक्य वाले देशों में सामान्य प्रवृत्ति यह पाई जाती है कि बड़े जमींदार कृषि-मजदूर रखकर खेती कराने की अपेक्षा अपनी जमीनें किसानों को किराये पर उठा देने हैं। इस प्रकार उन्हें अधिक धन मिलता है, क्योंकि किसानों ने किराए बसूल कराने के बाद उनके पास जो कुछ बचता है उससे वही अधिक कृषि-मजदूरों को मजदूरों के रूप में देना पड़ता है।

इस चरम अर्थ में जनाधिक्य कितना है यह जानने के लिए कई तरह के प्रयत्न किये गए हैं। दहात में बगी लोगों की संख्या निकालने के लिए यह अनुमान लगाते हैं कि वर्तमान फसलों, टकनीका और इस समय प्रयोग में आ रहे उपकरणों को देखते हुए प्रति एकड़ कृषि-भूमि पर कितने लोग अर्थकर ढंग से काम कर सकते हैं। कुछ फसलों दूसरों की अपेक्षा अधिक श्रम-प्रधान होती हैं, जैसे गेहूँ की अपेक्षा चावल और मक्का, कोको या खर की अपेक्षा गन्ना और चाय वही अधिक श्रम-प्रधान हैं। उपकरण में भी बड़ा अन्तर पड़ता है, क्योंकि कुदाल की सहायता से खेती करने वाला परिवार अधिक-से अधिक ८ या ५ एकड़ पर काम कर पाता है, पशुओं और हलों की सहायता से खेती करने वाला परिवार १० से १५ एकड़ तक के बीच खेती कर सकता है, और ट्रैक्टर में खेती करने वाला परिवार ३० या इससे भी ज्यादा एकड़ों पर काम कर सकता है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि भिन्न-भिन्न कृषि-कार्यों में श्रम की आवश्यकता भिन्न-भिन्न होती है, कुछ फसलों में खेत जोतने समय अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होती है, जबकि दूसरों फसलों में फसल काटने समय अधिक श्रमिक चाहिए। अतः जनाधिक्य की मात्रा किसी सामान्य निष्कर्ष के आधार पर नहीं बूती जा सकती, बल्कि हर जगह के लिए अलग-अलग गणना करनी चाहिए। कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में इस प्रकार की गणना करने से पता चलता है कि हलो और

पशुओं की सहायता से धान्यो (चावल को छोड़कर) की लेनी के लिए प्रति मी एकड़ कृषि-भूमि पर लगभग १८ से २० लोगो के श्रम की आवश्यकता होती है। भारत के सम्बन्ध में जहाँ इस समय प्रति मी एकड़ कृषि-भूमि पर लगभग २७ व्यक्ति श्रमकर ढंग से लगे हुए हैं, विस्तृत गणना से यह परिणाम निकला है कि कृषि पर निर्भर जनसंख्या का कम-से-कम एक चौथाई फालतू है। यह लगभग दो बरोड स्थायी रूप से बरोजगार लोगो के बराबर बैठता है, अतः इसे अक्सर 'प्रचलित बेरोजगारी' का नाम से पुकारा जाता है। अफ्रीका और लैटिन अमरीका में यह परिस्थिति अपवाद-स्वरूप ही पाई जाती है लेकिन चीन, इंडोनेशिया, मिस्र और पूर्वी यूरोप के अनेक देशों में देखने को मिलती है।

इस प्रकार के जनाधिक्य से श्रम की बरबादी होने के साथ-साथ प्रायः भूमि की उर्वरता भी कम होती है। इसका एक कारण तो यह है कि श्रम मामलों में लोग पशु नहीं रख पाते, क्योंकि पशुओं के लिए बहुत अधिक पुराक का प्रबन्ध करना पड़ता है, और पशु न रखने से किसानों को खाद नहीं मिल पाता (भारतीय किसान जितने पशु रखते हैं उतने रखना दरममल उनकी सामर्थ्य में बाहर है, लेकिन धार्मिक कारणों से पाले हैं, जैसे इतने अधिक पशु रखने पर भी भूमि को इसलिए लाभ नहीं मिल पाता कि वहाँ घाँसे के करीब गोबर ईंधन के रूप में जला दिया जाता है)। दूसरा कारण भूमि के हर छोटे-से-छोटे टुकड़ को इस्तेमाल में लाने की विवशता है, जो भूमि जगतों के लिए छोड़ दी जानी चाहिए थी या भूमि-संरक्षण के प्रयोजन से छोड़ देनी चाहिए थी उस पर भी खेती शुरू कर दी जाती है। इसके अनिश्चित भूमि पर आवश्यकता में अधिक फसलें उगाने का प्रयोजन भी देखने में आता है, एक साल में जितनी फसलें उगानी चाहिएँ उगमे कहीं अधिक उगाई जाती हैं। या जमीन परती छोड़ने की अवधि कम कर दी जाती है। ह्यममान प्रतिफल के नियम के अनुसार यदि बहुत ही घाँसे जमीन पर बहुत अधिक लोग खेती करें तो श्रम का सीमांत-उत्पादन ऋणान्धक होता है, और मनुष्य ही यह जनाधिक्य वाले देशों का एक घाम लक्षण है।

इतनी अधिक जनसंख्या की स्थिति के निश्चित रूप से हमारी नीति यही होनी चाहिए कि जितना अधिक-से-अधिक कृष्येतर रोजगार पैदा कर सकें उतना करें। हमें केवल कृष्येतर उत्पादन में ही वृद्धि नहीं होनी, बल्कि स्वयं भूमि की उर्वरता बढ़ने की दिशा में भी अनुकूल प्रभाव पड़ना है। यदि कुछ लोगों को कृषि के धंधे में हटाया जा सके, कुछ भूमि वापस जंगलों के लिए छोड़ी जा सके, कुछ भूमि बटाव पर नियंत्रण रखने के लिए छोड़ी जा सके, और जमीन को परती छोड़ने की अवधि बढ़ाई जा सके, तो मिट्टान की दृष्टि

से वृषि-उत्पादन में वृद्धि होने लगेगी, मने ही दम्बुन वृद्धि होने में थोड़ा कम्य लगे। इसमें धान किनास की जोत का आकार भी बढाया जा सकता है, लेकिन उसके परिणामस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि प्रति एकड़ अधिकतम उपज प्राप्त पानी के छोटे-से-छोटे होने पर ही प्राप्त होती है, लेकिन यदि बेहतर स्थिति में धान के कारण किनास अधिक धन बचाने लगे और उसे अपनी जूमि के सुधार पर खर्च करने लगे तो वृषि के उत्पादन में वृद्धि हो सकती है। लेकिन वृष्येतर रोडगारों में अपनी तेजी से विस्तार करना धानान नहीं है कि बटती हुई जनसंख्या को भी काम दिया जा सके और साथ ही वृषि-क्षेत्र के देशी लोगों की संख्या भी थोड़ी-बहुत घटाई जा सके। मान लीजिए वृषि-क्षेत्र में जनसंख्या के ७० प्रतिशत व्यक्ति लगे हुए हैं, और देश की जनसंख्या १.६ प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ रहा है, तो वृषि-क्षेत्र से देशी श्रमिकों की संख्या कम करने के लिए वृष्येतर रोडगारों में ४ प्रतिशत प्रतिवर्ष से अधिक की वृद्धि करनी होगी। बहुत ही थोड़े देश इतनी तेजी से उद्योगीकरण करने में सफल हुए हैं कि उनकी वृषि पर निर्भर जनसंख्या में निरपेक्ष कमी हो सकी है। जापान और रूस इस प्रकार के सफल देश माने जा सकते हैं, लेकिन अमरीका या जर्मनी उस की तुलना में भी उनके औद्योगिक विस्तार की गति चमत्कारिक रही है।

वृष्येतर रोडगार में अधिक लोग लगाने से भोजन की समस्या हल नहीं होती; बल्कि उत्पादन को सफाई को देखते हुए अपनी मांग बढ़ती जाती है। अतः अधिकाधिक उद्योगीकरण की किसी भी नीति के साथ वृषि-सम्बन्धी नयी जानकारी की अधिक-से-अधिक व्यापक उपलब्धि, उर्वरकों के अधिक-से-अधिक प्रयोग, बेहतर उप के बीजों की पैदावार और वितरण, पानी का अधिकाधिक संरक्षण और वितरण, और ऐसे ही दूसरे उपायों से वृषि की प्रति एकड़ उपज बढ़ाने का जोरदार कार्यक्रम भी शामिल होना चाहिए। जापान ने इसी प्रकार के उपायों से अपने वृषि-उत्पादन में तेजी से वृद्धि कर दिखाई है। इसके अलावा उद्योगीकरण की नीति में और भी बातें शामिल हैं। जब रहन-उहन का स्तर नीचा होता है तो विनिर्मित दम्बुओं की आन्तरिक मांग कम होती है—विनिर्माण के क्षेत्र में प्रविष्ट आय (अर्थात् बच्चे नामान के मूल्य को निगानवर) के अर्थों में राष्ट्रीय आय के पन्द्रह प्रतिशत से कम, और रोडगार में लगे लोगों की संख्या के अर्थों में इनसे भी कम। अतः यदि लोगों को विनिर्माण-क्षेत्र में रोडगार दे दिया जाए तो जल्दी ही एक ऐसी स्थिति आ जाएगी जब कुछ विनिर्मित दम्बुएँ नामप्रद बीमताँ पर देश में नहीं खप पाएँगी। इसलिए यदि पूर्ण रोडगार की स्थिति तक पहुँचना हो तो देशी विनिर्माण-दम्बुओं का निर्यात कर दिया जाना चाहिए। उन सब देशों में,



यहो भविष्य है जिनकी जनसंख्या उनके कृषि साधनों की तुलना में अधिक है—ब्रिटेन, जापान, मिस्र, जर्मनी, भारत आदि—वे अपने मजदूरों के लिए आजीविका का प्रबंध तभी कर सकते हैं जब विनिर्माण-क्षेत्र की वस्तुओं का निर्यात करें और बढ़ते में खाद्य और कच्चा माल संभालें। ऐसे सभी देशों के विकास-कार्यक्रमों में विनिर्मित वस्तुओं के विदेशी व्यापार पर बंधन बनने का प्रयत्न शामिल होना चाहिए (जैसा कि जर्मनी और जापान में रहा है), अन्यथा (भारत की पहली पंचवर्षीय आयोजना की तरह) उन्हें उद्योगीकरण में हाथ खींचना पड़ेगा, और कृषि क्षेत्र के देशी लोग जहाँ है वहीं रहेंगे।

विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-बाजार को अधिकाधिक हथियाना आसान काम नहीं है। धातु से बनी चीजों और इजीनियरी उत्पादों की माँग प्रायः स्थिर गति में बढ़ती है, लेकिन और वस्तुओं की माँग बहुत ही धीरे-धीरे बढ़ती है, या कुछ मामलों में (जैसे वस्त्र-उद्योग में) निरपेक्ष दृष्टि से गतिमान होती जाती है। अतः प्रयत्न करने पर वे देश विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-व्यापार में अपना भाग अधिक आसानी से बढ़ा सकते हैं जिनके पास कोयला और लोहा है। दूसरी ओर वे जनाधिक्य वाले देश, जिनके पास कोयला या कच्ची धातुएँ बहुत ही कम हैं, केवल ऐसी ही चीजों में प्रभावशाली दम में प्रतियोगिता कर सकते हैं (वस्त्र, चमड़े का सामान, छोटे बरतन), जिन्हें बेचना अधिकाधिक कठिन होता जाता है। बहने का तात्पर्य यह है कि जो देश अपने प्राकृतिक साधनों की तुलना में जनसंख्या को बहुत अधिक बढ़ने देता है, उसे अपने लोगों के लिए पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करने और रहन-सहन का उचित स्तर प्राप्त करने में बहुत अधिक कठिनाई होगी।

उपर्युक्त चर्चा के प्रकाश में क्या हम समार के विभिन्न देशों की जनसंख्या या जनाधिक्य की वर्तमान मात्राओं के बारे में कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं? यह बेहद कठिन काम है, क्योंकि विभिन्न देशों के साधनों का ठीक-ठीक पता नहीं है, और जितना पता है उमकी सम्भावनाएँ नयी टेक्नीकों और नयी माँगों के साथ बदलती रहती हैं। लेकिन जो भी जानकारी हमारे सामने है उसके आधार पर महाद्वीपों की जनसंख्याओं के बारे में निम्नलिखित अनुमान लगाए जा सकते हैं। अफ्रीका में जनसंख्या है, क्योंकि दस महाद्वीप में आज भी कृषि-योग्य भूमि गाली पड़ी है, और वर्तमान विरल जनसंख्या के कारण लोकोपयोगी सेवाओं पर काफी खर्च पड़ रहा है, यदि अफ्रीका की जनसंख्या बढ़ जाए तो मड़बो, बिजली, पानी की कमी, रेगों, घसपनाओं और दूसरी सेवाओं पर होने वाला प्रतिव्यक्ति खर्च कम हो जाएगा, साथ ही इन सेवाओं की कोटि में भी सुधार होगा। अफ्रीका में पूर्ण नाटकीयता, केन्या के कुछ भाग और दक्षिण अफ्रीका मध्य के कुछ भाग घन बने हुए हैं, लेकिन

न्याय में लेकर दक्षिण का सारा धर्म का महाद्वीप कम बसा हुआ है। सुन्नदत तटिन धर्मरीज और आस्ट्रेलिया भी पूरी धर्म न जनात्मता वाले देश हैं, यद्यपि इन दोनों देशों में कृषि-योग्य भूमि जितनी खाली पड़ी है, उसके बारे में बहुत कम निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। इनके विपरीत एशिया में बहुत जनाधिक्य है, यद्यपि दक्षिण-पूर्वी एशिया के कुछ भागों में ऐसा नहीं है। सुन्नद है मसिप में एशिया के प्राकृतिक साधन के मुख्य बंदों, नदी टेम्नाकों को महाद्वीप से उनकी जमीन हमारी वर्तमान रूप के मुकाबले बहुत अधिक उत्पादन बन सकती है या फिर नद तटिन साधनों के विज्ञान न्याय निर मकते हैं जिनके बारे में इस समय गुमान भी नहीं है। लेकिन वर्तमान जल-वागी के अनुसार यह निर्विवाद है कि जनसंख्या अधिक होने से एशियावासियों के रहन-सहन का स्तर निम्न बना हुआ है। इन दो बरत सम्बन्धता वाले देशों में हीन यूरोप और उत्तरी धर्मरीज को धर्म-सम्बन्धपूर्ण हैं। य एक-दूसरे को पूरक हो सकती हैं, अतः इन पर साथ ही विचार करना चाहिए। यदि यूरोप को उत्तरी धर्मरीज से सुन्ती कीमतों पर साथ और कच्चे पदार्थ मिलते रहें, जैसे कि १९३२ तक मिलते थे, तो यूरोप की जनसंख्या अधिक नहीं माना जायेगी। नये साधनों की खोज को देखते हुए बनाया जनात्मता वाला देश माना जा सकता है। धर्मरीज की स्थिति बड़ी सन्देहजनक है, साधन न तो वहाँ जनात्मता है और न जनाधिक्य है। यूरोप और उत्तरी धर्मरीज के बारे में पहले निर्णय न दे सके से प्रकट होता है कि साथ और कच्चे सामानों के प्रयोग में बड़ी जनसंख्या की क्षमता, और विनिर्माण, लोकोपयोगी सेवाओं और दूसरी सेवाओं के प्रयोग में उसके लोगों की तुलना करना कठिन है।

(ग) धर्म—जनसंख्या का धर्मों के अनुसार गठन उनकी आयु-रचना, साधनों की प्रकृति, साधन और प्रतिस्पर्धि दान्तरिक आय का परिमाण है।

जनसंख्या की परिभाषा के अनुसार जनसंख्या का 'अर्थिक धर्मों में लक्ष्य' या 'आर्थिक दृष्टि से सक्रिय' अनुसार अर्थात् जनसंख्या की आयु-रचना पर, और अर्थात् स्त्रियों के रोडकार की मात्रा पर निर्भर होता है। अन्तर्राष्ट्रीय तुलना के लिए अर्थिक धर्मों में लक्ष्य भागों की गणना करने का आधार ठंडना इसलिए कठिन है कि यह आसानी से तय नहीं किया जा सकता कि किसानों की स्त्रियों का वर्गीकरण किस प्रकार किया जाए। अतः जनसंख्या के आंकड़ों को सोच-समझकर काम में लाना चाहिए। वैसे, आंकड़ों को तुलना योग्य आधार देने पर मालूम होता है कि जनसंख्या का अर्थिक रूप से लक्ष्य अनुपात लगभग ३३ प्रतिशत से ४५ प्रतिशत तक होता है, जो देश जितना ही निर्भर होता है उसका अनुपात उतना ही कम होता है और जो देश धर्मों होता है उसका उतना ही अधिक होता है।

आयु-रचना महत्वपूर्ण है। इसमें बड़ा फर्क पड़ता है कि १५ वर्ष से कम की आयु के बच्चे कुल जनसंख्या का २० प्रतिशत, या ४० प्रतिशत और ६५ वर्ष से अधिक आयु वाले वयस्क कुल जनसंख्या का ५ प्रतिशत है या १५ प्रतिशत। इसमें भी फर्क पड़ता है कि बच्चे और बूढ़े काम पर लग हैं या नहीं। आर्थिक विकास का गाय साधन स्तूप जाने वाले बच्चों का अनुपात बढ़ता है, और स्तूर्णी जीवन भी लम्बा होना जाता है। निवृत्ति की आयु भी कम होने लगती है क्योंकि बीमा और पेंशन की याजनाएँ व्यापक रूप से लागू कर दी जाती हैं। लेकिन इन बातों के बावजूद जनगणना में बच्चों के घटते हुए अनुपात का प्रभाव इतना होता है कि यदि हम केवल पुरुषों की संख्या पर विचार करें तो हम देखेंगे कि निर्धन देशों की अपेक्षा धनी देशों में लगभग सर्वत्र ही अर्थकर काम में लगे जनसंख्या का अनुपात बहुत अधिक होगा।

अर्थकर धन्यों में लगी स्त्रियों का अनुपात कुछ तो वयस्क जनसंख्या में स्त्रियों और पुरुषों के तुलनात्मक अनुपात पर निर्भर होता है और कुछ परो के अन्दर स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले काम के परिमाण पर निर्भर होता है। य दानों वाले मिलकर बड़ा अन्तर पैदा करती है। ब्रिटेन में पुरुषों की संख्या के ४७ प्रतिशत के बराबर स्त्रियों अर्थकर धन्यों में लगी हैं जबकि समरीरा में, जहाँ जनसंख्या में वयस्क पुरुषों और वयस्क स्त्रियों का अनुपात बराबर है, अर्थकर धन्यों में लगी हुई स्त्रियाँ पुरुषों की संख्या के केवल ३३ प्रतिशत के बराबर हैं, और मिस्र में यह प्रतिशत केवल १७ है क्योंकि वहाँ स्त्रियों का रोजगार के बहुत ही कम अवसर प्राप्त हैं।

जनसंख्या में पुरुषों और स्त्रियों के अनुपात का अन्तर मुँह, प्रवास, लड़कियों की अपेक्षा लड़कों की अधिक पैदाइश और पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की दीर्घ आयु पर निर्भर होता है। ब्रिटेन में २० में ६८ के बीच के आयु-वर्गों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों ११ प्रतिशत अधिक हैं और यही मुख्य कारण है कि समरीरा की तुलना में ब्रिटेन में पुरुषों की अपेक्षा अधिक धन्यों में लगी स्त्रियों का अनुपात बड़ी अधिक है। (बाल मृत्यु-संख्या घटने में स्त्रियों की बर्ती कम हो रही है, क्योंकि दूधका प्रभाव लड़कियों की अपेक्षा लड़कों पर अधिक पड़ता है।) दूसरी ओर यदि हम विकसित और कम विकसित देशों की तुलना करें तो हम पाएँगे कि दूधका मुख्य कारण यह है कि अधिक विकसित देशों में स्त्रियों के लिए पर से बाहर काम करने के अवसर बहुत अधिक होने हैं।

धर में बाहर स्त्रियों के रोजगार की मात्रा मुख्यतः देश के आर्थिक विकास की अवस्था पर निर्भर होती है। आर्थिक विकास होने से स्त्रियों को धर की सहाय्यकारी में मुक्ति मिलती है। ऐसे अनेक काम, जो वे पहले अनुपात

दश में लेकिन बड़ी मेहनत में कर्मी थीं बाद में बाह्य प्रतिष्ठान करने लगे हैं, जो इन कामों को अधिक विनोदना और अधिक पूंजी लगाकर प्रजाम देते हैं—इंसे घरों में पानी पहुँचाना, अनाज पीसना दोपहर का भोजन तैयार करना मातना, बुनना और पोसाकें तैयार करना बच्चों की पढ़ाना, बीमारों की भोगारदारी आदि । इनके परिणामस्वरूप स्त्रियों को घर के काम से छुड़ी मिल जाती है, और वे बाहर के प्रतिष्ठानों में काम करने लगती हैं जहाँ या तो वे इन्हीं तरह के काम करती हैं या कार्यालयों दूकानों, फैक्ट्रियों और निम्न-निम्न व्यवसायों में ऐसे काम हाथ में लेती हैं जो पहले उन्हें उपलब्ध नहीं थे । अतः नृतना के लिए निम्न-निम्न जनगणनाओं का विद्वेषण करने समय पता चलता है कि एक दशाब्दी और दूसरी दशाब्दी के बीच ज्यों-ज्यों आर्थिक विकास होता जाता है त्यो-त्यो गृहस्थ से बाहर अर्थकर धन्यों में नगी स्त्रियों का अनुपात बढ़ता जाता है । (यदि आर्थिक विज्ञान के बिना ही जन-संख्या बढ़ रही हो तो उनमें ज्यादा हो सकता है, ऐसी स्थिति में रोजगार पाने की धींगामुक्ती में पुरुष स्त्रियों को रोजगारों में बाहर कर देते हैं, और अर्थकर दश में नगी स्त्रियों का अनुपात गिर जाता है । ब्रिटिश वेन्ट इन्डिज की जनगणनाओं में ऐसी बात देखने में आई थी, लेकिन परिभाषाएँ बदल जाने में इन जनगणनाओं की विश्वनीय व्याख्या करना कठिन हो गया है ।) अर्थकर दश में नगी स्त्रियों का अनुपात बढ़ जाने में ज्यादातः में उन्नी नीना तक वृद्धि नहीं होती, क्योंकि इनके साथ ही घरों के अन्दर स्त्रियाँ द्वारा किया जाने वाला काम कम हो जाता है । लेकिन इनमें कोई सन्देह नहीं है कि इनमें निवल वृद्धि अवश्य होती है, क्योंकि अदेसाहत अर्थिक विनोदना, पूंजी और मशीनों की मशरुता से बाह्य प्रतिष्ठानों में किया गया काम नहीं अर्थिक ज्यादातः होता है । साथ ही स्त्रियों की हैमिपत भी बहुत बढ़ जाती है, और उनके लिए रोजगार की सम्भावनाओं में भी भारी वृद्धि हो जाती है ।

एक ही देश के निम्न-निम्न स्थानों में भी स्त्रियों के रोजगार की मात्रा बड़ी छिन्न-भिन्न होती है । उदाहरण के लिए १९३८ में जहाँ नवानापर के इलाके में पुरुषों की नृतना में ४२ प्रतिशत स्त्रियाँ अर्थकर धन्यों में नगी थीं वहाँ माउथ वेल्स में यह अनुपात केवल १५ था । इन अन्तर का पड़ा कारण तो हर समुदाय के बुनियादी उद्योग से सम्बन्धित है, उन इलाकों में स्त्रियों को अधिक रोजगार मिल जाता है जहाँ हल्के उद्योग बहुतायत में स्थापित हैं, जबकि वे उलाके जहाँ भारी उद्योग, नवन कृषि या ऐसे धन्य बहुतायत में होते हैं जिनमें स्त्रियों को काम पर रखने की परम्परा नहीं है वहाँ अर्थकर धन्यों में नगी स्त्रियों की संख्या बहुत कम होती है । इसका मतलब यह है कि बाद वाले इलाके में यदि कुछ माहमी उद्यमकर्ता नये हल्के उद्योग खोल दें तो

काम पर आने योग्य स्त्री-श्रमिका की भारी गम्या उपलब्ध हो सकती है। वस्तुतः १९३६ के बाद से ग्रेट ब्रिटेन के रोजगार में जो भारी विस्तार हुआ है, उसका एक बड़ा कारण इसी प्रकार के इलाकों में नयी पंक्तिद्वयों की स्थापना है जिसमें स्त्री-श्रमिकों को नया रोजगार के अवसर मिल गए। कम विकसित देशों में राष्ट्रीय आय बढ़ाने का यह एक अच्छा उपाय है। इनमें से अनेक देशों में विशेषकर अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में, पुरुष-श्रमिका का अभाव है जिसकी पूर्ति स्त्री-श्रमिका का बहुरूप उपयोग करके की जा सकती है। यह समस्या एशिया के उन देशों के लिए उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जहाँ निश्चित रूप से पुरुष श्रमिका की कमी है। लेकिन वहाँ भी स्त्रियों के अनुकूल उद्योग आरम्भ करके आमदनियाँ बढ़ायी जा सकती हैं। ब्रिटेन-जैसे अर्थिक औद्योगिक देशों का अनुभव यह है कि जहाँ एक बार निजी उद्योग में ऐसे स्थानों की घोर गतिशील होने की प्रवृत्ति होती है जहाँ स्त्री-श्रमिकों का अभी पूरी तरह उपयोग नहीं किया जा रहा है वहाँ दूसरी घोर निजी पहल यही धीरे-धीरे काम करती है—यदि ऐसा न होता तो लघुशासन और गाउपरेलस के उपयुक्त आँडों में इतना अन्दर न पाया जाता। श्रमिक विभाग और दूसरे ऐसे विभागों सम्मानों को लोगों के लिए, जिनका काम श्रमिक बाजार की गति घोर सप्लाई का अनुकूल काम कर रहा है यह बात ध्यान में रखना बड़ा महत्वपूर्ण है।

अब तक हमने उन कारणों की खोज की जो यह निर्धारित करते हैं कि जनसंख्या में अर्थकर ढग से लगे हुए लोगों का अनुपात कितना होता है। अब हम यह देखेंगे कि अर्थकर ढग से लगे ये लोग भिन्न-भिन्न आर्थिक विभागों के बीच किस प्रकार बँटे होते हैं। यह कुछ सीमा तक देश के साधनों पर निर्भर करता है, लेकिन हमें भी अधिक दृष्ट के वर्तमान आर्थिक विकास के स्तर पर निर्भर होता है। आर्थिक अनुसन्धान की इस शाखा पर डॉक्टर वोलिन बार्नर ने बहुत अधिक काम किया है जिनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'दो बण्डो-शान्ग ऑफ़ इकॉनमिक प्रोग्रेस' से प्रेरणा लेकर इस विषय पर हाल ही में कई अनुसन्धान किए गए हैं। इन अनुसन्धानों की विचाराय सामग्री जनसंख्या की रिपोर्टों से मिलती है, लेकिन इन रिपोर्टों से निष्पन्न निकालने में कई कठिनाइयाँ सामने आती हैं जिन पर पहले खर्चा करके तब हम आगे बढ़ेंगे।

पहली कठिनाई आर्थिक विभाग के परिणामस्वरूप बढती हुई विधेयता के कारण पैदा होती है। उदाहरण के लिए, आर्थिक विभाग के निम्न स्तर पर मनुष्य स्वयं अपने लिए मजान बना लेता है, माने के लिए अन्न पैदा कर लेता है, उसे स्वयं खाकर ले जाकर बेच लेता है, बरत में मूल, इन आदि गरीब साता है और उसे खुद अपने लिए खपटें तैयार कर लेता है। जनसंख्या की

रिपोर्टों में ऐसे व्यक्ति को विमान की मजदारी दी जाती है। बहुत बड़ी विकास हो जाने के बाद उनमें से सभी क्रियाएँ विशेषज्ञों द्वारा की जाने लगती हैं— इमारत बनाने वाले राज मजदूरों द्वारा, विमानों द्वारा, परिवहन-उद्योग के कर्मचारियों द्वारा, वाणिज्यिक एजेंटों द्वारा और विनिर्माताओं द्वारा—उन जनगणना से इन व्यापारों में भारी विस्तार का पता चलता है और विमानों का अनुपात घटता दिखाई देता है। जनगणना में विशेषज्ञता की मात्रा का पता चलता है, यह नहीं पता चलता कि किस प्रकार का काम किया जा रहा है। ऐसी ही कठिनाई उन व्यापारों के विस्तार की व्याख्या करने में होती है जो घर के अन्दर किए जाने वाले कामों को अपने हाथ में ले लेते हैं, ज्यों ही गृहणियाँ पानी भरकर नाना बन्द कर देती हैं अपने हाथ में अनाज पीसना बन्द कर देती हैं, परिवार के बीमार सदस्यों की देखभाल बन्द कर देती हैं और इसी प्रकार के अन्य घरेलू काम-काज करना बन्द कर देती हैं, जनगणना की रिपोर्टें इन व्यापारों में विशेषज्ञता प्राप्त लोगों की संख्या में एकदम से वृद्धि प्रकट करने लगती है, जो समुदाय द्वारा साम्प्रदायिक में उन सेवाओं के उपभोग में हुई निवल वृद्धि में वहीं अधिक होती है। इसके अलावा एक और कठिनाई यह है कि जनगणना के आँकड़ों के अनुसार मनुष्य होने वाले व्यापार साम्प्रदायिक में इसलिए मनुष्यचित नहीं होते कि उनमें किये जाने वाले काम में सभी का गई होती है, बल्कि केवल इसलिए मनुष्यचित होते हैं कि उनमें लगे लोगों के पास पूरे वक्त का काम हो जाता है। अनाधिक्य वाले देशों में किसान, छोटे-छोटे व्यापारी, घरेलू नौकर और कई प्रकार के अस्थायी धर्मिक पूरे समय तक काम पर नहीं लगे होते। आर्थिक विकास होने के साथ लोग नये पैदा होने वाले रोजगारों में जाने लगते हैं और देशी धर्मिको वाले व्यापारों में मापदंड मनुष्यचित होने में 'प्रचलित वैरोजगारी' कम हो जाती है। मसाले यह है कि जनगणना के आँकड़ों में सेवाओं की माँग के बारे में केवल अप्रत्यक्ष प्रभावों का पता चलता है, अतः धर्मिक जनगणनाओं के परिणामों की तुलना करते समय हमें भिन्न भिन्न धर्मों में लगे लोगों की संख्या के परिवर्तनों की ही बात करनी चाहिए, और इन परिवर्तनों के कारण माँग में होने वाले परिवर्तनों का केवल संकेत करना चाहिए, और वह भी बहुत अधिक सावधानी के साथ।

धनी और निरर्थक देशों, चाहे वे एक ही समय के भिन्न-भिन्न देश हों या भिन्न-भिन्न-बालों में एक ही देश हों, की जनगणनाओं की तुलना करते समय सबसे उल्लेखनीय बात यह दिखाई देती है कि निरर्थकता की स्थिति से सम्बन्धिता की ओर बढ़ते समय वृद्धि में लगे लोगों का अनुपात तेजी से गिरता जाता है। सर्वाधिक निरर्थक देशों में ७० प्रतिशत या उससे भी अधिक लोग वृद्धि में लगे होते हैं, जबकि सर्वाधिक धनी देश अपनी जनसंख्याओं का केवल १२ से १५

प्रतिशत ही कृषि में लगाकर उससे दूना भोजन जुटा सकते हैं। जैसा कि हम अभी देग चुके हैं, कृषि-क्षेत्र में वास्तव में उतना काम नहीं होता जितना कि वह ७० या इससे भी ऊँचा प्रतिशत प्रकट करता है—इस स्थिति में किसान खेती के अलावा और बहुत तरह के काम करते हैं, कुछ 'प्रच्छन्न' बेरोजगारी भी होती है और किसानों की पत्नियों का वर्गीकरण करने की कठिनाइयाँ भी हैं। इसके अलावा कृषि-उत्पादन की माँग और मजदूरी को प्रभावित करने वाली ऐसी वास्तविक शक्तियाँ भी हानो हैं जो कृषि-क्षेत्र में किये जाने वाले वास्तविक श्रम को भी कम कर देती हैं। माँग को प्रभावित करने वाली शक्त यह है कि खाद्य की माँग की आय-मापक्षता इकाई में कम होती है अर्थात् जैसे जैसे प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बढ़ती जाती है, खाद्य-मापक्षता की माँग उसमें कम तेजी से ही बढ़ती है। मजदूरी का प्रभावित करने वाली शक्त कृषि-में पूँजी का अधिनाधिर उपयोग है, जिसके पत्रस्वरूप कृषक पहले की अपेक्षा अधिक एकड़ों पर कृषि करने में समर्थ हो जाता है और दूगरी चीज बढ़ती हुई तन्त्रीवी जानकारी है जिससे प्रति एकड़ उत्पादकता बढ़ जाती है। मेनी म जनमख्या का वितना अनुपात लगा होना चाहिए यह केवल इस पर निर्भर करता है कि प्रति व्यक्ति खाद्य की माँग कृषि-क्षेत्र में लग प्रति व्यक्ति की उत्पादकता की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ रही है या धीरे-धीरे बढ़ रही है। यदि इन दोनों की दरें समान हों तो कृषि-क्षेत्र के लिए अपेक्षित जनमख्या का अनुपात स्थिर रहेगा, जबकि, उदाहरण के लिए, यदि खाद्य की प्रतिव्यक्ति माँग में ०.८ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि हो रही हो और कृषि की प्रतिव्यक्ति उत्पादकता १.३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ रही हो तो ५० वर्ष में कृषि-क्षेत्र के लिए अपेक्षित लोगों का अनुपात २० प्रतिशत घट जाएगा। प्रति व्यक्ति आय बढ़ने के साथ कृषि-क्षेत्र में लग लोगों का अनुपात घटने जान का मुख्य कारण यह है कि प्रतिव्यक्ति उपभोग की तुलना में कृषि की प्रति व्यक्ति उत्पादकता अधिक तेजी से बढ़ती है।

इन सम्बन्ध को उलटा करके यह भी कहा जा सकता है कि निर्विदेग व्यापार-व्यवस्था में आर्थिक विकास के लिए एक आवश्यक शर्त यह भी होनी है कि कृषि-उत्पादकता तेजी से बढ़नी चाहिए। शान यह है कि यदि उत्पादकता माँग की अपेक्षा अधिक तेजी से नहीं बढ़ेगी तो और उद्योगों के विकास के लिए आवश्यक मजदूर कृषि-क्षेत्र में नहीं लिये जा सकेंगे और व्यापार-क्षेत्रों के निरन्तर अपने प्रतिवृत्त जाने में भी इन उद्योगों का विस्तार रुक जाएगा (अर्थात् अन्य सभी वस्तुओं की कीमतों की तुलना में खाद्यान्नों की कीमतें घटित तेजी से बढ़ेंगी)। विदेग व्यापार वालों अर्थ-व्यवस्था में भी कृषि की उत्पादकता बढ़ना बड़ा सुविधाजनक रहता है, क्योंकि इससे खाद्य में आर्थिक

विकास के साथ-साथ खाद्यान्न का आयात भी बढ़ना जाता है और यदि अन्य आयातों में कमी न की जाए या यदि निर्यात न बढ़ाये जाएँ तो भुगतान-अधिश्रमतुलित हो जाता है, ऐसी स्थिति में आर्थिक विकास निर्यातों की वृद्धि-दर पर निर्भर हो जाता है। दूसरी ओर यदि कृषि की उत्पादकता काफी तेजी से बढ़ रही हो तो किसानों की दलान् या स्वेच्छा बचतों में अर्थ-व्यवस्था के दूसरे क्षेत्रों में निवेश किया जा सकता है। इसलिए जनसंख्या का कृषि क्षेत्र में लगा अनुपात और कृषि की उत्पादकता में होने वाली वृद्धि-दर आर्थिक विकास की मात्रा के सबसे अच्छे दायक हैं।

आर्थिक विकास के साथ जिस प्रकार कृषि में लग लोगों के अनुपात में उल्लेखनीय कमी होती है उसी प्रकार विनिर्माण में लग लोगों के अनुपात में वृद्धि होती है। यहाँ भी हमें जनगणना के आंकड़ों में उचित कटीनी कर लेनी चाहिए, क्योंकि विनिर्माण-उद्योग में लग लोगों के अनुपात की वृद्धि का कुछ अंग घरो के अन्दर किये जाने वाले काम की ही कैक्टियों में कर रहा होता है। लेकिन हममें कोई संदेह नहीं है कि प्रतिव्यक्ति आय बढ़ने के साथ विनिर्माण-क्षेत्र के अनुपात में काफी वृद्धि होती जाती है। निर्धनतम देशों की जनगणना के अनुसार वहाँ विनिर्माण में पाँच से दस प्रतिशत तक लोग ही लगे होते हैं, जिन निर्धन देशों में घरेलू हस्तशिल्पों को सुरक्षित रखा जाता है (जैसे कि भारत में) वहाँ अनुपात निम्नतम होगा है, और जिन देशों में फैक्टरी की बनी हुई मशीन चीजें आयात करके घरेलू हस्तशिल्पों को जन्दी-से-जन्दी नष्ट कर दिया जाता है (जैसे कि श्रीलंका में) वहाँ यह अनुपात अधिक होता है। सर्वाधिक धनी देशों में, यदि वे विनिर्मित वस्तुओं का अपेक्षाकृत थोड़ा ही व्यापार कर रहे हों (जैसे कि अमरीका), यह अनुपात २५ प्रतिशत के आसपास होता है, जबकि उन धनी देशों में जो अपनी विनिर्मित वस्तुओं का लगभग एक-तिहाई निर्यात करके विदेश-व्यापार से जाबिका कमा रहे हों, यह अनुपात ३५ प्रतिशत या उससे भी अधिक पाया जाता है। विनिर्माण-उद्योग में अनुपात बढ़ने का एक कारण यह है कि आय बढ़ने के साथ-साथ विनिर्मित वस्तुओं की माँग में उनकी उत्पादकता की अपेक्षा वही अधिक तेजी से वृद्धि होती है और दूसरा कारण, जनाधिक्य वाले देशों में, यह है कि पूर्ण गैर-गार और साथ-साथ सान्नी की व्यवस्था करने का एकमात्र उपाय विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात है। अतः कृषि में लगे लोगों के अनुपात की प्राप्ति विनिर्माण उद्योगों में लगे लोगों का अनुपात भी आर्थिक विकास की मात्रा का बड़ा ही स्पष्ट दायक होता है।

स्वयं विनिर्माण के क्षेत्रों में विभिन्न उद्योगों के बीच काफी परिवर्तन होता है, जैसा कि डॉक्टर शॉफ़मैन ने बताया है (इस अध्याय की मध्यम



टिप्पणी दोगी)। आर्थिक विकास के आरम्भिक दिनों में प्रतिव्यक्ति पूँजी थोड़ी होती है और निवेश और मशीन के बदलाव का खर्च भी थोड़ा ही होता है। मृत विनिर्माण-उद्योग में लग लागों का अधिकांश उपभोगता वस्तुओं के उत्पादन में लगा होता है—विशेषकर कपड़ा के उत्पादन में। इससे विपरीत विकास की शुरुआत की अवस्थाओं में कुल निवेश बढ़ जाता है—उदाहरण के लिए यह कुल राष्ट्रीय आय के ६ प्रतिशत से अधिक २० प्रतिशत तक हो सकता है और इसके साथ ही उपभोगता पदार्थ उद्योगों की तुलना में इस्पात, मशीन, सीमेंट और इमारत बनाने के दूर सामानों के उद्योगों का विस्तार होता है। यह परिवर्तन तेजी से भी किया जा सकता है। शैक्षणिक दृष्टि से यह सम्भव है कि काफी पूँजी-निर्माण होने की अवस्था तक उपभोग को न बढ़ने देकर आर्थिक विकास के दृष्ट में ही भारी निवेश कर दिये जाएँ, १९३० और १९३६ के बीच सोवियत रूस की आयोजनाओं का यही आधार था। ऐसा किया जाने पर पहले पूँजीगत सामान तैयार करने वाले उद्योगों का भारी विस्तार होता है और उसके बाद उपभोगता पदार्थ तैयार करने वाले उद्योग विकसित होते हैं। इस प्रकार की आयोजना में सबसे बड़ी बाधा ऐसी समय में भारी पूँजी-निवेश के कार्यक्रम में पैसा लगाने की होती है जबकि वारंवारिक कामदनियाँ बहुत ही थोड़ी होती हैं। पूँजीगत सामान तैयार करने वाले उद्योगों पर जो खर्च होता है उससे उपभोगता वस्तुओं की माँग बढ़ती है और यदि उपभोगता वस्तुओं के उत्पादन की तुलना में पूँजीगत सामान तैयार करने वाले उद्योग अधिक तेजी से विकसित कर रहे होते हैं तो देश की स्थिति के सभी आर्थिक और राजनीतिक परिणाम भ्रमजनक पड़ते हैं, यद्यपि कि वही यद्यपि की प्रवृत्ति न बढ़ रही हो। अधिकांश देशों के लिए उद्योगीकरण के आरम्भिक दौर में उपभोगता पदार्थ तैयार करने वाले उद्योगों का विस्तार करना आसान पड़ता है, क्योंकि उन्हें काफी बचत करने में या उच्च स्तर के निवेश-कार्यक्रम में पैसा लगाने के लिए भारी कर लगाने में बहिर्नाई मालूम होती है।

उपभोगता पदार्थ और पूँजीगत सामान तैयार करने वाले उद्योगों का सापेक्ष महत्त्व प्राकृतिक माधनों और विदेश-आयात की सम्भावनाओं पर भी निर्भर होता है। सबसे महत्त्वपूर्ण पूँजीगत सामान तैयार करने वाले उद्योग सरले ईंधन और कच्ची धातुओं पर आधारित होते हैं और जिन देशों के पास ऐसे ईंधन और धातुओं के भण्डार नहीं हैं वे इस प्रकार के उद्योगों का अधिक विस्तार नहीं कर सकते। धातुओं का महत्त्व जिन जिन देशों की जीविके पर स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। उदाहरण के लिए मोल्डोविया की विनिर्माण वस्तुओं की अधिकांश आवश्यकताओं काधान में पूरी करना है और

न आयातों का (खनिज तेल छोड़कर) लगभग ८० प्रतिशत धातु से बनी वस्तुओं के रूप में होता है। या ब्रिटेन का उदाहरण लीजिए जहाँ विनिर्माण-उद्योगों में लगभग ४७ प्रतिशत धातु के सामान तैयार करने वाले धातु का उपयोग करने वाले उद्योगों में काम करता है। इसी प्रकार विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-आयात के आँकड़े देखने पर आप पाएँगे कि उनका ५६ प्रतिशत धातु से बनी विनिर्मित वस्तुओं के रूप में होता है। चूंकि ईंधन और लौह धातुएँ हर देश में नहीं पाई जाती, अतः अन्य देशों की अथवा कुछ देशों के लिए धात्विक उद्योगों में विनोदयता हासिल करना स्वाभाविक है। धातु से बनी चीजें कुछ देश निर्यात करती हैं और बाकी देश उनका आयात करते हैं। अतः जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि इन देशों में अपने कृषि-साधनों की देखभाल हुए जताधिक्य है उनकी स्थिति ठीक और भी खराब हो जाती है यदि उनके पास ईंधन और खनिजों के समुचित संचार न हों, क्योंकि तब उन्हें विवश होकर ऐसी वस्तुओं का निर्यात करने में विनोदयता हासिल करनी पड़ती है जो कोई भी देश अपने-आप बना सकता है, जायान ऐसे देश का उदाहरण है, जहाँ १९३६ में फैक्ट्रियों में लगे लोगों का केवल २८ प्रतिशत धात्विक उद्योगों में काम कर रहा था और जहाँ से निर्यात की जाने वाली विनिर्मित वस्तुओं में केवल २० प्रतिशत धात्विक थीं।

कृषि में लगे लोगों का अनुपात जितना गिरता है उतना ही विनिर्माण का अनुपात नहीं बढ़ता। यदि हम सर्वाधिक धनी देशों को लें, तो पाएँगे कि वहाँ कृषि में यदि ५५ की कमी हुई है (उदाहरण के लिए यदि अनुपात ६७ में गिरकर १० रह गया है) तो विनिर्माण-उद्योगों का अनुपात केवल २५ बढ़ा है (उदाहरण के लिए, ५ में बढ़कर २० प्रतिशत हो गया है), शेष ३० प्रतिशत अन्य प्रकार के उद्योगों के विस्तार में खप जाता है। आर्थिक विज्ञान के माप-काय प्रायः सरकारी काम-काज, शिक्षा, चिकित्सा-सुविधाएँ, निम्न-मूल्य प्रकार के मनोरंजनों और वाणिज्य एवं विज्ञान में तेजी से विस्तार होता है। यह विचारणीय है कि इन कामों में से कितना राष्ट्रीय आय में निवेश वृद्धि करने वाला माना जाना चाहिए (उदाहरण के लिए परिवहन का वह भाग जो सड़क-संपादन के काम में वादा जाता है राष्ट्रीय आय में निवेश वृद्धि करता है या नहीं) और कितना राष्ट्रीय उत्पादन बचाने के लिए बर्बाद माना जाना चाहिए (उदाहरण के लिए परिवहन का वह भाग जो माल ढोता है या लोगों को काम पर पहुँचाता है)। राष्ट्रीय उत्पादन में वास्तविक वृद्धि का आश्वासन करने समय कुछ लोग इन सेवा-उद्योगों में से अधिकांश को शामिल नहीं करते। वे जानेंगे कि राष्ट्रीय उत्पादन के आँकड़े में लगे हैं और आश्चर्य, शिक्षा, स्वास्थ्य और मनोरंजन की नहीं में भी शामिल

राजियाँ शामिल कर लेते हैं पर लोक-प्रशासन, परिवहन और वाणिज्य में होने वाली वृद्धि के अधिकांश को छोड़ देते हैं। हम यहाँ इन समस्याओं की अधिक चर्चा नहीं करनी है क्योंकि राष्ट्रीय आय का आरक्षण निम्न प्रकार किया जाण, यह यत्नाना इस पुस्तक का काम नहीं है (देखिए अध्याय १)। यहाँ इतना बताना ही पर्याप्त होगा कि आर्थिक विकास होने के साथ-साथ जनगणना की रिपोर्टें यह बताती हैं कि कृषि और विनिर्माण को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में लगे लोगों का अनुपात देश के कुल अर्थव्यवस्था से लगे लोगों के लगभग पच्चीस प्रतिशत या इससे भी कम से बड़ा पचास प्रतिशत या इससे भी अधिक हो जाता है। विभिन्न क्षेत्रों में लगे लोगों के प्रतिशत में कुछ ह्रास के धाँपड़े हम प्रस्तार हैं

	मिस्र	जापान	इटली	ग्रेट ब्रिटेन
	१९३७	१९४७	१९३६	१९३१
कृषि मान कार्य	७१	५६	४९	१२
विनिर्माण	८	१७	२२	३४
वाणिज्य	८	७	६	१६
सर्वार-साधन	२	५	६	७
निर्माण-कार्य	२	४	५	५
सार्वारी नौकरियाँ	३	४	५	८
अन्य सेवाएँ	६	७	६	१७
जोड़	१००	१००	१००	१००

मेरा-क्षेत्रों की वृद्धि का एक उल्लेखनीय परिणाम यह होता है कि मजदूरी केवल काम करने वाले लोगों का अनुपात घटता जाता है—जम-जे-जम सहरी क्षेत्रों में—और स्वतन्त्र रूप से काम करवा वाले और मालिकों का अनुपात बढ़ता जाता है। ऐसा इतिहास होता है कि मेरा-क्षेत्रों में मजदूरी केवल काम करने वाले लोगों का अनुपात अपेक्षाकृत कम होता है। यह का मतलब की अविश्वसनीयता का हीन उपाय है।

कृषि आर्थिक विकास के अन्तर्गत अर्थ-व्यवस्था में कृषि का महत्व कम हो जाता है जब कि निम्नलिखित रूप में सारी-रक्षण बढ़ता जाता है। २००० से कम की बसा-सट के क्षेत्रों में यह जाने लोगों का अनुपात कुल जनसंख्या के ८० प्रतिशत या इससे भी अधिक से घटकर ३० प्रतिशत या इससे भी कम रह जाता है। ऐसा इतिहास होता है कि जो काम बड़े पैमाने पर करने में सक्षम रहते हैं वे प्रायः महत्त्व के होते हैं—जिनिफर, धोत, किराया, लोकोमोटिवों के कार्गो, बेल्टेय सरकार का प्रशासन, विचार धारि। २०० एच० अनु० विचार में बताया है (मन्त्रों के विचारों के) कि यह देश के विभिन्न

आकार के नगरों की सख्या का अध्ययन करने से पता चलता है (एक परेटी नियम) कि ज्यों-ज्यों नगरों का आकार बढता जाता है, उनकी सख्या में कमी होनी जाती है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि जिन देशों की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय एक निश्चित स्तर तक पहुँच चुकी है उन सभी का एक निश्चित सीमा तक शहरीकरण हुआ है या होना आवश्यक है।

देशों की जनसंख्या का स्तर ५० प्रतिशत से कम किये बिना प्रति-व्यक्ति वार्षिक आय में वृद्धि की आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि २००० की बनावट में कम के कस्बों में बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ नहीं उठाए जा सकते। यदि कृषि के लिए अपेक्षित जनसंख्या का अनुपात घटकर १२ प्रतिशत रह जाता है, तो भले ही हम ऐसे विनिर्माण-उद्योगों को ग्राम-क्षेत्रों में स्थापित करने की नीति पर अधिक बल दें जिनके लिए एक स्थान पर स्थापित होना अनिवार्य नहीं है, पर २००० और उससे कम की बनावट के कस्बों में रहने वाली जनसंख्या को देश की कुल जनसंख्या के ३० प्रतिशत से नीचे गिरने से नहीं रोक सकते। यह भी नहीं माना जा सकता कि शहरीकरण वाञ्छनीय है। जैसा कि हम अध्याय ३ में देख चुके हैं, अनेक लोगों की राय है कि जीवन में जिन चीजों को हम सबसे अधिक महत्व देते हैं—विज्ञान, धर्म, कला आदि—वे शहरों में ही उपलब्ध होती हैं। हाँ, उत्पादन या सांस्कृतिक मूल्यों की हानि पहुँचाए बिना, और साथ ही अन्य दिशाओं में काफ़ी फायदा उठाये हुए, यह अपस्य किया जा सकता है कि एक साथ से अधिक की जनसंख्या वाले नगरों की संख्या न बढने दी जाए। फिर भी कुछ 'हर' क्षेत्र अवश्य स्थापित करने होंगे, जहाँ नारी जनसंख्या वाले बड़े-बड़े औद्योगिक इलाकों में ईंधन और कच्ची धातुओं की एक साथ उपलब्धि का फायदा उठाया जा सके। मगर यही है कि इन क्षेत्रों में ऐसे दूसरे उद्योगों को अपनी ओर आकर्षित करने की प्रवृत्ति होती है जो बिना अधिक हानि के दूररे स्थानों पर विकसित किये जा सकते हैं। अतः यदि अत्यधिक शहरीकरण में बचना हो तो यह आवश्यक है कि उद्योगों के स्थानीयकरण पर कुछ नियन्त्रण रखा जाए, उदाहरण के लिए, जो क्षेत्र वाञ्छनीय आकार के हो चुके हो वहाँ इमारतें बनाने पर कठोर नियन्त्रण लगाया जा सकता है।

संजी से बढता हुआ शहरीकरण उन सभी देशों के लिए एक समस्या है जहाँ आर्थिक विकास अभी अभी शुरू हुआ है। इन देशों में जनसंख्या प्रायः काफी तेजी से बढ रही होती है। साथ ही इनके देशी क्षेत्रों में रोजगार बहुत कम उपलब्ध होता है जिनसे लोग अस्थायी काम की तलाश में शहरों की ओर खिंचते हैं। बड़े शहर इसलिए भी विदेश रूप से आकर्षक होते हैं कि आर्थिक विकास के फल पहले-पहन वहीं खलने को मिलते हैं—मिनेमा,

बिजली, पानी, परिवहन की सुविधाएँ आदि के रूप में, और शहरों में ही स्वास्थ्य-सुविधाओं, स्कूलों महायता-प्राप्त भावामों और निधन-महायता आदि के रूप में समाज-सेवाओं की सर्वाधिक व्यवस्था होती है। अतः अधिक तेजी से आर्थिक विकास न भी हो रहा हो तो भी शहरों की जनमख्या २० वर्ष में दुगुनी हो जाती है। ऐसी स्थिति में उन सरकारों को, जो उद्योगीकरण की सक्रिय नीति पर चल रही है यह निर्णय लेना पड़ता है कि वे बड़े-बड़े शहरों में फैक्ट्रियों की स्थापना को बढ़ावा दें या नयी फैक्ट्रियों को जहाँ तक सम्भव हो विकेंद्रित करें—हो सके तो देहाती क्षेत्रों में ले जाएँ। इन समस्या के अनेक पहलू हैं। एक तो राजनीतिक पहलू है, कहीं-कहीं बेरोजगार लोगों में आक्रोश न बढ़ने देने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि बड़े शहरों में उद्योग स्थापित कर दिये जाएँ जबकि कुछ अन्य देशों में दूरस्थ प्रान्तों की विरक्ति के कारण अनेक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। इसके प्रतिरिक्त उन लोगों के मतभेद का सवाल भी महत्वपूर्ण होता है जो बड़े शहरों के जीवन को पसन्द करते हैं, और जो बड़े शहरों को पृथ्वी के लिए खलक मानते हैं। इस मतभेद को दूर करने के लिए आर्थिक दृष्टि से इतना ही कहा जा सकता है कि एक सीमा तक फैक्ट्रियाँ वहाँ एव स्थान पर केंद्रित करने से कई लाभ होते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उद्योगीकरण की आरम्भिक अवस्थाओं में आर्थिक दृष्टि से यह बेहतर होगा कि छोटे-से सुगठित औद्योगिक केंद्र बनाये जाएँ। जब वे भरी प्रकार स्थापित हो चुकें, और उद्योगीकरण के आरम्भिक कष्टों की अवधि समाप्त हो चुके, तो इन प्रकार के और भी केंद्र स्थापित किये जा सकते हैं।

अन्धों के अनुसार जनमख्या के विभाजन में होने वाले परिवर्तन—कृषि-क्षेत्र में विनिर्माण और दूररी सेवाओं के क्षेत्र में—पारिथमिक के अन्तरो में प्रभावित होते हैं। चूंकि कृषि-क्षेत्र सबुचित हो रहा होता है और गहरी षण्ठे बढ़ रहे होते हैं, अतः कृषि और उद्योग की प्रति-व्यक्ति आयदणियों में उल्लेखनीय अन्तर पाया जाता है। मुद्रारूपी आय के कुछ अन्तर तो आमक हैं, गाँव में काम करने वालों को कुछ आयदणी जिन के रूप में होती है, उह कई चौड़ें मस्ती मिलती हैं (विशेष रूप से भाष्ट-पदाधें और रहन के लिए मकान), और रहन-महन के दूररे सबों और सुयोपभोग (जैसे परिवहन) पर भी उनका पैसा नहीं खर्च करना पड़ता जितना शहरी जनता को करना पड़ता है। फिर भी यह सच है कि जिन देशों में अय अण्डों की अयेगा कृषि-क्षेत्र गकुचिन हा रहा हा वहाँ विनिर्माण की तुलना में कृषि-क्षेत्र में प्रति-व्यक्ति वास्तविक आय कम होती है। कृषि-क्षेत्र की वास्तविक आय कम होने के साथ ही अनेक नयी है यह महत्वपूर्ण है, क्योंकि यदि कृषि-उत्पादकता

बड़े जिना ही आर्थिक विकास होगा तो औद्योगिक आयों की तुलना में कृषि की आय घटन न होगी औद्योगिक क्षेत्र और कृषि-क्षेत्र की प्रति-व्यक्ति वास्तविक आयों का यह अन्तर नबन टय वान का खोनक होना है कि माध्य-पदार्थों की माग उत्तनी तजी मे नहीं बढ रही है जितनी तेजी मे कृषि-उत्पादकना बढ रही है ।

यदि कृषि और विनिर्माण को छोड़कर शेष सेवाओं एक जगह इकट्ठी कर दो जाएँ, तो पता चलेगा कि जिस प्रकार विनिर्माण क्षेत्र की प्रति-व्यक्ति आय कृषि-क्षेत्र की प्रति-व्यक्ति आय में अधिक होती है ठीक उसी प्रकार विनिर्माण की तुलना में अन्य सेवाओं में प्रति-व्यक्ति आय अधिक होती है । वैसे, प्रति-व्यक्ति आय एक आमक आकड़ा है । यह बात नहीं है कि मजदूरों को विनिर्माण की तुलना में इन अन्य सेवाओं में अधिक मजदूरी मिलती है, बल्कि नचाई यह है कि विनिर्माण की तुलना में इन सेवाओं में स्वतन्त्र कार्यकर्ताओं, वेतन-भोगी कार्यकर्ताओं और कुशल कार्यकर्ताओं का अनुपात कुन मित्राकर अधिक होता है । इसी वर्ग में दूकानदार, बाल बनाने वाले, लारियों के स्वामी और पदावर तथा स्वतन्त्र कार्य करने वाले दूसरे लोग होते हैं । इस वर्ग की अपेक्षाकृत अधिक आमदनियों का कारण शायद इसकी वर्ग-रचना है ।

चूँकि कृषि, विनिर्माण और दूसरी आर्थिक क्रियाओं की प्रति-व्यक्ति आय भिन्न-भिन्न होती है, अतः राष्ट्रीय आय में इन क्षेत्रों का योगदान ठीक उसी अनुपात में नहीं होता जिसे अनुपात में इनमें रोजगार में लगी जनसंख्या बँटी होती है । कृषि में प्रति-व्यक्ति आय औसत प्रति-व्यक्ति आय के ५० प्रतिशत और ७५ प्रतिशत के बीच होती है, अतः यदि कुल जनसंख्या का ८० प्रतिशत भी कृषि में लगा हो तो कृषि-क्षेत्र की कुल आय राष्ट्रीय आय के ६० प्रतिशत से अधिक नहीं हो पाती (संख्याशास्त्रियों के अनुसार राष्ट्रीय आय में कृषि-योग का आकलन बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि किमान द्वारा स्वयं उपभोग किए गए अनाज की कीमत शोक कीमतों के आधार पर लगायी गई है या खुदरा कीमतों पर) । विनिर्माण में प्रति-व्यक्ति आय औसत आय के बराबर से लेकर उसमें शायद डेढ़ गुनी तक होती है, और अन्य कार्यों में लगे लोगों की प्रति-व्यक्ति आय औसत आय के दुगुने तक होती है ।

औसत प्रति-व्यक्ति आमदनियों के इन अन्तरों से प्रायः बड़े अल्पक निष्कर्ष निकाल लिए जाते हैं । 'अन्य क्रियाओं' की तुलना में विनिर्माण में प्रति-व्यक्ति आय कम होती है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिए विनिर्माण से हटाकर लोगों को खुदरा व्यापार, मरकारों नौकरियों या अधिक प्रति-व्यक्ति आय वाली अन्य सेवाओं में लगा दिया जाए । न लोगों को कृषि से हटाकर विनिर्माण में लगाने से

वास्तविक आय बढ़ाई जा सकती है। आर्थिक विकास के साथ लोगों का कृषि से हटकर अन्य धंधों में लगना विकास का परिणाम है न कि उगका कारण। कृषि में विनिर्माण में अन्तर बिना कठिनाईयाँ पैदा किये तभी हो सकता है जब या तो कृषि की उत्पादकता बढ़ाई जाए या कृष्येतर पदार्थों के निर्यातों में वृद्धि की जाए। यदि कृषि की उत्पादकता बढ़ाए बिना ही इस प्रकार का अन्तरण किया गया तो उससे कृषि-पदार्थों की कमी हो जाएगी, यह कमी भुगतान शेष में घटा पैदा कर देगी या फिर रहन-सहन के गत्तों को बढ़ा देगी जिससे पत्तस्वरूप मजदूरियाँ बढ़ जाएँगी और नये विनिर्माण उद्यमों को लाभप्रद ढंग से काम करने में कठिनाई होने लगेगी। यदि कृषि की उत्पादकता बढ़ाए बिना ही श्रमिकों को कृषि-क्षेत्र से हटाया जाए तो उन्हें ऐसे उद्यमों में लगाया जाना चाहिए जो विदेशी मुद्रा कमाते हों, ताकि आयातों में बचत करके या निर्यात बढ़ाकर लाभ-पदार्थ मरीदे जा सकें, इसकी लाभप्रदता दस और विदेश की तुलनात्मक लागतों पर निर्भर करती है (इस अध्याय का खण्ड २ (क) देखिए)।

(क) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार—कोई दस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में किंग सीमा तक भाग ले सकता है यह कुछ तो उगके साधना पर निर्भर होता है, कुछ व्यापार में उगके द्वारा लगायी गई बन्दिनों पर २. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और कुछ उसके विभाग की अवस्था पर।

वह दस दरभगल आन्तर्निर्भर हो सकता है जिसके पास अनेक प्राकृतिक साधन हों—उपजाऊ जमीन, कई प्रकार की जल-वायु और अनेक खनिज। इसका सबसे अच्छा उदाहरण अमरीका है जिसके आयात उसकी राष्ट्रीय आय के केवल ८ प्रतिशत के बराबर हैं जबकि ब्रिटेन के आयात लगभग २५ प्रतिशत हैं और आयातों पर कटौत नियन्त्रण किये जाने से पहले के दिनों में लगभग ३५ प्रतिशत थे। इसका अर्थ यह है कि विदेश-व्यापार की सीमा घटत दंग के आकार पर निर्भर करती है, या इसको दूगरी तरह या भी कह सकते हैं कि देश की राजनीतिक सीमाओं पर अवलम्बित है।

दूगरे, विदेश-व्यापार की सीमा दंग की नीति पर निर्भर होती है, सभी देश प्रयत्न करने पर आपन को थोड़ा या अधिक आन्तर्निर्भर बना सकते हैं। आज से ४०० साल पहले से ही, जबकि अर्थशास्त्र के विषय की मान्यता मिली, विदेश-व्यापार के सरकारी नियन्त्रण के पक्ष और विरुद्ध में बराबर वादविवाद किया जाता रहा है, अतः इस विषय पर यहाँ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। मुक्त व्यापार के पक्ष में प्रस्तुत किए जाने वाले अधिकार तर्कों का आधार अन्तर्राष्ट्रीय विशेषता के साथ है, जिन्हें सभी जानते हैं। और मुक्त व्यापार के विरुद्ध दिने जाने वाले अधिकार तर्क मुक्त उद्यम प्रणाली

की सामियों पर आधारित हैं, जिनमें कीमते सामाजिक साधनों की वास्तविक छोटक नहीं रह जातीं। कुछ क्षेत्रों में ये सामियाँ विशेष रूप में स्पष्ट दिखाई देती हैं। उदाहरण के लिए मुक्त उद्यम प्रणाली में आर्थिक विवेकता की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है जिनमें इन बात का ध्यान नहीं रहता कि समूची अर्थ-व्यवस्था कितनी ज़ोनिम उठा सकती है। युद्ध-काल में मुफ़्त की बमों की ज़ोनिम, व्यापार-सर्तों में भारी उतार-चढ़ाव की ज़ोनिम, लगातार एक ही फसल उगाने से महामारियों के फैल जाने की ज़ोनिम। दूसरे गामी विनिर्माण में बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ हैं, जो काफी समय बाद मिलने शुरू होते हैं। अतः उद्योगीकरण की आर्थिक अवस्था में विनिर्माण-उद्योग को सुरक्षण देने के लिए विशेष उपाय करने पड़ते हैं। इसके अलावा बेरोजगारी की समस्याएँ हैं, जो उन देशों के लिए बहुत कठिनाई पैदा करती हैं जहाँ वृद्धि-साधनों की तुलना में जनसंख्या का आधिक्य है, और इसलिए जहाँ सुरक्षण देकर नये उद्योगों का विकास करने की आवश्यकता पड़ती है। सुरक्षण के पक्ष में इन आर्थिक कारणों के अलावा राजनीतिक और भावनात्मक कारण भी हैं जिनसे समूचे राष्ट्र के आर्थिक हितों का मेल नहीं बैठता। व्यापार-सर्तों की नीमा के बारे में कोई दीर्घकालीन प्रवृत्ति देखने में नहीं आती। यदि इसके केवल आर्थिक पहलू ही होते तो उद्योगीकरण की आर्थिक अवस्थाओं में विभिन्न राष्ट्र बाज़ी ऊँचे टेरिफ़ लगाते, और उद्योगों के अच्छी तरह स्थापित हो चुकने के बाद टेरिफ़ों का स्तर बाज़ी नीचा कर देते। १९वीं और १६वीं शताब्दियों में ब्रिटेन ने यही प्रवृत्ति दिखाई थी, और अब २०वीं शताब्दी में यही अमरीका कर रहा है, हम भी इनका अनुकरण करेंगे या नहीं यह देखना बाकी है। लेकिन आर्थिक विकास के साथ टेरिफ़ों की घट-बढ़ का सम्बन्ध बताने वाले सामान्य सिद्धान्त निर्धारित करना ठीक नहीं है, क्योंकि टेरिफ़ों की घट-बढ़ कितनी आर्थिक हितों पर निर्भर करती है उतनी ही राजनीतिक चलन पर निर्भर होती है।

आयानों पर इसलिए भी नियन्त्रण लगाया जा सकता है कि उनका कितनी मात्रा-वस्तुएँ खरीदना चाहती हो उतनी की अदायगी करने के लिए विदेशी मुद्रा उपलब्ध न हो। यह प्रायः देश के भीतर के उपभोग के लिए उत्पादन और निर्यात के लिए उत्पादन के बीच ठीक समझन न होने का चिह्न है। ज़रूरत कि हम पढ़ने ही देख चुके हैं (अध्याय ५, खण्ड ३(क)), यदि कम विकसित देश अपनी अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में उचित मूल्य स्थापित किए बिना ही देश के भीतर के उपभोग के लिए उत्पादन बढ़ाना आरम्भ करें तो उन्हें इस कठिनाई में फँसना पड़ सकता है। स्फीति के कारण भी विदेशी मुद्रा की कठिनाई पैदा हो सकती है (अध्याय ५, खण्ड २ (क)), या



इस कारण भी पैदा हो सकती है कि निवेश की दर में स्वरण होने के साथ-साथ आयात-प्रवृत्ति में परिवर्तन हो जाता है (अध्याय ५, गण्ड २ (ग))। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक देशों की प्रपेक्षा कम विकसित देशों को अपनी विदेशी मुद्रा की कमाइयों में वही अधिक चत्रीय उतार-चढ़ाव का सामना करना पड़ता है, क्योंकि मूलतः आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में भारी उतार-चढ़ाव होता रहता है (अध्याय ५, गण्ड ३ (ग))। अतः विदेशी मुद्रा पर प्रतिबन्ध लगाए बिना ही यदि ये देश चत्रीय उतार-चढ़ाव का सामना करने की सामर्थ्य पैदा करना चाहें तो इन्हें विदेशी मुद्रा की काफी मात्रा संचित रखनी चाहिए।

आदिम अर्थ-व्यवस्था में प्राथिक विकास आरम्भ होने से पहले विदेश-व्यापार राष्ट्रीय आय के अनुपात में प्रायः छोटा ही होता है लेकिन विकास के चरण बढ़ने के साथ-साथ यह अनुपात तेजी से बढ़ता जाता है। हम पहले ही देण चुके हैं (अध्याय ५, गण्ड ३ (ख)) कि प्राथिक विकास का श्रीगणेश करने में विदेश-व्यापार का योग कितना महत्त्वपूर्ण है। इसका एक परिणाम यह होता है कि विकास की आरम्भिक अवस्थाओं में आय की प्रपेक्षा विदेश-व्यापार अधिक तेजी से बढ़ता है। यह किसी एक देश के लिए भी गहरी है और समूचे विश्व-व्यापार के लिए भी। आरम्भिक अवस्थाओं में देश इसलिए आत्मनिर्भर होता है कि उसके उत्पादन का एक बड़ा भाग उन आत्मनिर्भर बिगानों द्वारा तैयार किया जाता है जो मुद्रा का बहुत छोटा उपयोग करते हैं, और अपनी उपज के बहुत ही छोटे भाग का व्यापार करते हैं। यही मुख्य कारण है कि नाइजीरिया के आयान उमकी राष्ट्रीय आय का केवल १० प्रतिशत है, और भारत के आयान राष्ट्रीय आय का केवल सात प्रतिशत है, यह निश्चित है कि प्रति-व्यक्ति आय बढ़ने के साथ, और घनत्व-घनत्व इलाकों को विश्व की अर्थ-व्यवस्था से जोड़ने वाले आन्तर्गिक संचार माधनों के विस्तार के साथ आयान के ये अनुपात बढ़ जाएंगे। समूचे विश्व व्यापार के साथ भी लगभग यही होता है। १८७० और १९१३ के बीच व्यापार का विश्व-उत्पादन २ प्रतिशत प्रतिवर्ष में कुछ ही कम बढ़ा था, और विनिर्मित वस्तुओं का विश्व-उत्पादन ४ प्रतिशत प्रतिवर्ष में कुछ ही कम बढ़ा था। इसी बीच विश्व की वास्तविक आय सायद २½ से ३ प्रतिशत की दर में बढ़ी, और विश्व-व्यापार में लगभग ३½ प्रतिशत वास्तविक वृद्धि हुई। यह स्पष्ट है कि प्राथिक विकास की आरम्भिक अवस्थाओं में आन्तर्गतीय विनिर्भरता में उल्लेखनीय वृद्धि होती है, जिसके साथ ही संचार-माधनों का भी विकास होता है, और पारस्परिक राष्ट्रीय आय की प्रपेक्षा व्यापार अधिक तेजी से प्रगति करता है।

विकास की राह की अवस्थाओं की स्थिति इतनी स्पष्ट नहीं है। १९वीं

शताब्दी के पहल पचहत्तर वर्षों में ब्रिटेन के आयात उनकी राष्ट्रीय आय की तुलना में बहुत तडी से बढ़े थे, लेकिन पुनर्निर्माण का छोड़कर और व्यापार-गती में हुए परिवर्तन का ध्यान में रखा हुआ, कहा जा सकता है कि पिछले साठ सालों में ब्रिटेन के आयात और राष्ट्रीय आय के अनुपात में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके विपरीत अमरीका के अनुपात ऐसी प्रथम-व्यवस्था के चीनक है जहाँ अन्नक साधन अभी प्रयोग में नहीं लाये गए। जैसे-जैसे अन्न-रीखा में अन्न साधना का प्रयोग आरम्भ किया राष्ट्रीय आय की तुलना में उसके आयातों की वृद्धि का अनुपात घटना गया और अन्नी वर्ष पहले की तुलना में अब यह अनुपात घटकर आधा रह गया है। अब अमरीका अने अनेक साधनों में से कुछ के उपयोग की पराकाष्ठा का पहुँच रहा है, और उनके कच्चे सामान के आयात बराबर बढ़ रहे हैं। कुछ लोगों का खयाल है कि अब अमरीका के आयातों में कम-से-कम उतनी वृद्धि अवश्य हुआ करेगी जितनी कि उनकी आय में होगी, लेकिन कहा नहीं जा सकता कि आगे क्या होगा। पिछले दो विश्व-युद्धों ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को इतना गड़बड़ा दिया है कि हम विश्वासपूर्वक नहीं कह सकते कि आगामी दशान्दियों में क्या होगा। यहाँ हम हाल के कुछ आँकड़ों दे रहे हैं, जो थोड़े-बहुत उपयोगी हो सकते हैं। १९४८ और १९५२ के बीच विनिर्मित वस्तुओं का विश्व-उत्पादन २७ प्रतिशत बढ़ा, विश्व का कृषि-उत्पादन ९ प्रतिशत बढ़ा, और विश्व-व्यापार ३४ प्रतिशत बढ़ा (इनमें रूस के आँकड़ों शामिल नहीं हैं)। इन आँकड़ों से पता चलता है कि विश्व-व्यापार उत्पादन की अपेक्षा कुछ अधिक तेजी से ही बढ़ रहा है—यद्यपि वृद्धि की इन लंबी दर का एक कारण युद्धकालीन निम्न स्तरों का पुनर्गठन भी है।

आर्थिक विकास के साथ-साथ विश्व-व्यापार के गठन में भिन्न-भिन्न वस्तुओं का, और व्यापार में भाग लेने वाले भिन्न-भिन्न देशों का सापेक्ष महत्त्व भी बदलता है।

कभी-कभी यह आशा की जाती है कि आर्थिक विकास होने पर विश्व-व्यापार में कच्चे माल और साध-पदार्थों की तुलना में विनिर्मित वस्तुओं का महत्त्व कम हो जाएगा, क्योंकि ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है देशों की विनिर्मित वस्तुओं के आयात की आवश्यकता कम रह जाती है और कच्चे सामान के आयात की दर बढ़ जाती है। लेकिन व्यवहार में ऐसा देखने में नहीं आता। पिछले अन्नी सालों के आँकड़ों हमारे पास हैं, जिनसे पता चलता है कि विश्व-व्यापार में विनिर्मित वस्तुओं के मूल्य का अनुपात स्थिर रहा है (पैंतीस प्रतिशत से चालीस प्रतिशत के बीच)। हा विश्व-व्यापार में कच्चे सामान का अनुपात बढ़ा है, लेकिन उसके बजाय साध के पदार्थों का व्यापार घटा है,

जिनकी माँग आय की अपेक्षा कम होती है। विश्व-व्यापार का विकास कुछ दम दम से हुआ है कि कतिपय दश मुख्य रूप से व्यापार-व्यापार और बच्चा सामान आयात करते हैं और उनसे बढ़ते विनिर्मित वस्तुओं और अदृश्य सेवाएँ (नौपरिवहन यात्राओं की भीषणता आदि) निर्यात करते हैं। वैसे, यह विश्व-व्यापार की पूरी तस्वीर नहीं है। विनिर्मित दश भी कुछ विशेष चीजों के उत्पादन में विशेषज्ञता हासिल कर लेते हैं और एक-दूसरे से बाजार-कुछ खरीदते रहते हैं और इसी प्रकार कृषि-प्रधान देशों में भी विशेषज्ञता और एक-दूसरे से मान खरीदने की प्रवृत्ति पाई जाती है। तुलनात्मक लागत-मिदानीय जिन प्रकार उद्योग और कृषि के बीच लागू होता है, उसी प्रकार एक विनिर्माण-उद्योग और दूसरे विनिर्माण-उद्योग के बीच भी लागू होता है। फिर भी औद्योगिक राष्ट्र विश्व-व्यापार में शामिल होनेवाली श्रुत आवश्यक वस्तुओं का दो तिहाई लेते हैं और विनिर्मित वस्तुओं का बेचने एक चौथाई आयात करते हैं। इस प्रकार विदेशी व्यापार मुख्य रूप से औद्योगिक देशों और मूलतः आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के बीच होता है। यदि औद्योगिक देशों में वस्तुओं अधिक खरीदते हैं तो इनके उत्पादन करने में अधिक विनिर्मित वस्तुओं होगा है। इसलिए मूलतः आवश्यक वस्तुओं का व्यापार और विनिर्मित वस्तुओं का व्यापार बारी बारी में बढ़ता है। इनका यह सम्बन्ध कभी-कभी उलट सकता है, सम्भव है विनिर्मित वस्तुओं का परस्पर विनिमय बढ़ जाय, या मूलतः आवश्यक वस्तुओं के परस्पर विनिमय में वृद्धि हो जाय, तथा हो पर विश्व व्यापार में विनिर्मित वस्तुओं का अनुपात बढ़ जायगा। इस समय हम इतना ही कह सकते हैं कि पिछले अरबों वर्षों में इन अनुपातों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है।

यदि विश्व व्यापार में विनिर्मित वस्तुओं का प्रानुपातिक मूल्य स्थिर रहे, तो विश्व व्यापार में मूलतः आवश्यक वस्तुओं के परिमाण की तुलना में विनिर्मित वस्तुओं के परिमाण की घट-बढ़ का दानों चीजों की मापन कीमतों पर निर्भर होती है। यदि विनिर्मित वस्तुओं की मापन कीमत बढ़ती है तो उसका मापन परिमाण कम हो जाता है और यदि उसकी मापन कीमत गिरती है तो मापन परिमाण बढ़ जाता है। इस प्रकार, इस घटनाओं के सीधे-सीधे सम्बन्ध में विनिर्मित वस्तुओं के व्यापार का परिमाण बहुत कम था, जबकि पाँचों देशों में यह परिमाण बहुत अधिक रहा है, और दानों ही मामलों में इसका कारण कारण कीमतों की घट-बढ़ थी। इन विश्व-व्यापार में विनिर्मित वस्तुओं की कमी या वृद्धि के लिए मापन कीमतों की घट-बढ़ बड़ा महत्त्व रखती है।

यद्यपि विश्व-व्यापार में विनिर्मित वस्तुओं का व्यापार बारी स्थिर रहा है लेकिन उसके अंश में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। वस्तुओं का व्यापार घट

उतना महत्वपूर्ण नहीं रहा, जबकि घाबरे और इजीनियरी की चीजों में स्मिथ गति में वृद्धि हो रही है। १८६६ में बम्बे और पोर्तुगल विनिमित्त वस्तुओं के विश्व-व्यापार का ४० प्रतिशत था, जबकि १८७० में घटते-घटते यह अनुपात केवल २० प्रतिशत रह गया। इसी बीच चातु में दोनों चीजों का अनुपात ३१ प्रतिशत से बढ़कर ५६ प्रतिशत हो गया, जबकि अन्य सभी विनिमित्त वस्तुएँ २६ से घटकर २४ प्रतिशत रह गईं। इन परिवर्तनों को समझना मुश्किल नहीं है। उद्योगीकरण बदन के साथ देश सबसे पहले अपने लिए बपटे बनाना आरम्भ करते हैं। वस्त्रोद्योग वहीं भी आरम्भ किया जा सकता है, क्योंकि इसके काम में जाने वाले कच्चे सामान हल्के और आसानी से टकरा-उपर से जाने योग्य हैं, और इनके लिए अपेक्षित कौशल भी आसानी से सीखा जा सकता है। चातुओं की बात इनसे बिलकुल उलटी है। इनका उत्पादन प्राप्त वे ही देश कर सकते हैं जिनके पास सस्ता ईंधन और कच्ची चातुएँ होती हैं। इजीनियरी में भी बराबर तकनीकी प्रगति होती रहती है, अतः नये देशों की तुलना में पहले से जने हुए देशों के पास सदा ही कुछ ऐसे कौशल होते हैं जिनके कारण वे अपेक्षाकृत सामर्थ्यमय स्थिति में रहते हैं। ऐसा कोई कारण दिखाई नहीं देता कि भविष्य में भी यही प्रवृत्तियाँ जारी न रहें। चातु की चीजों का विनिर्माण अन्य चीजों की तुलना में बराबर बढ़ता जाएगा, और जिन देशों के पास काफी ईंधन और कच्ची चातुएँ हैं उन्हें ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सर्वाधिक महत्व मिलेगा।

पिछले पचास सालों में विनिमित्त वस्तुओं के विश्व-व्यापार का विभिन्न देशों के बीच वितरण भी बहुत-कुछ बदल गया है। १८६६ में १८३७ की तुलना करने पर पता चलता है कि भारत और ब्रिटेन का महत्व घट गया है, और उनके स्थान पर अमेरिका, जर्मनी और जापान विश्व-व्यापार में अग्रिम-धिक भाग ले रहे हैं। कनाडा ने विश्व-व्यापार में जितना योग्य बढ़ावा है वह लगभग सागरी अजोहन चातुओं और लुग्दी एवं कागज के निर्यात के रूप में है। जापान ने मुख्य रूप से बम्बों का निर्यात बढ़ाया है, हालाँकि अन्य सभी वस्तुओं में भी इनने बड़ी प्रतियोगिता की है। अमेरिका ने भी सभी विनिमित्त वस्तुओं के निर्यात बढ़ाए हैं जिनका श्रेष्ठ मुख्य रूप से विश्व-सुदूरों को दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए, १८६६ और १८९३ के बीच विश्व-व्यापार में अमेरिका का योग ११ प्रतिशत से बढ़कर केवल १२३ प्रतिशत तक पहुँचा था; प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् १९१३ में २०३ प्रतिशत हो गया, लेकिन १९३७ में घटकर १६३ प्रतिशत रह गया, इसके बाद द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण फिर उसी में बढ़कर १८७० में २६ प्रतिशत हो गया। विनिमित्त वस्तुओं के विश्व-व्यापार में अमेरिका का उतना बढ़ा

भाग कायम रह सकेगा या नहीं यह कुछ तो हम पर निर्भर है कि धायता और विदेशी निवेश के जरिए अमरीका कितन डालर मकतन में ला सकता है और कुछ हम पर निर्भर है कि ग्यादान के मामले में विश्व के बाकी देश उम पर प्रतिबाधक निर्भर रहग या नहीं । विदेशी निवेश को धात छोड़ दोजिए, अमरीका मूनन आवश्यक वस्तुओं और विनिर्मित वस्तुधा दाना का निवत निर्यातक नहीं बना रह सकता, इनमें म कौन-म निर्यातों में अधिक कर्मा हागी यह देखना बाकी है ।

विश्व-व्यापार में ब्रिटेन के योग का ह्याम अयन-आयमें कोई चिन्ता का विषय नहीं है । जिनो दन के योग में परिवर्तन का अर्थ केवल इतना ही होता है कि उम देश के निर्यात और विश्व-निर्यात भिन्न-भिन्न दरों में बढ़ रहे है, और यह आवश्यक नहीं है कि सभी दन अपने निर्यातों में एक ही दर में वृद्धि करे । विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-व्यापार में यदि पुराने औद्योगिक देशों का योग घट रहा हो तो उन्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिए, बसने कि निरपथ दृष्टि में उनका योग इतना काफी हो जिसमें दन के भीतर पूर्ण रोजगार की स्थिति कायम रखी जा सके, और आवश्यकता के सभी धायता का मूल्य चुकाया जा सके । ब्रिटेन के मामले में यह बात महत्वपूर्ण नहीं थी कि विश्व-व्यापार में उमका योग कम हो गया था (१८६६ में ३० प्रतिशत था जो १९३७ में २० प्रतिशत रह गया), बल्कि यह थी कि १९२० के बाद उमका योग इतना काफी नहीं रह गया था कि देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रह सके, और १९३० के बाद ने तो इतना गिर गया है कि सभी अर्थात धायता का भुगतान नहीं किया जा सकता ।

विश्व-व्यापार के हम रग में आर्थिक विकास के उम मिटान की याद धानी है जिस पर १८वीं शताब्दी के कुछ अर्थशास्त्री चिन्ताग रखने थे । यह दीपकालीन अर्थशास्त्र के मिदान का ही एक रूप था । हमके समयों का कहना था कि जो देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रमुख बन जाना है वह फिर अपने-आप ऐसे काम करता है जिसमें कुछ समय में वह अपना नेतृत्व गो बँधता है । हमके निर्यातों की भारी माँग अन्य देशों की तुलना में हमकी कीमतों को बढ़ा देती है, जिसके फलस्वरूप और देशों का भी प्रतियोगिता के आधार पर उत्पादन करने का प्रोत्साहन मिलता है । पूँजी दन नये देशों में जाने लगती है जिसका एक उद्देश्य तो ऐसे उद्योगों की स्थापना करना होता है जिनकी मकतना की मनाबनाएँ अद्यगामी देश पहले ही मिद कर चुके हान है । दूसरा उद्देश्य नये देशों की मनी मजदूरियों और दूसरी कम कीमतों का पायदा उठाना होता है और तीसरा यह तर्क-सम्मत मिदान होता है कि हम उद्योग पुराने देश में उनके बाजार की अधिकतम सीमा तक विकास करना है और

उनके बाद पूंजीपतियों को अपने नामों का निवेश करने के लिए दूसरे म्यान कूटने पड़ते हैं (इस विषय पर अध्याय ५, खण्ड २ (ग) देखिए)। इनके अलावा सबसे पहले उद्योग आरम्भ करने की एक हानि भी बनाई जाती है - पुराना देश जो १८५० के कौमल और पूंजी उपस्कर में बंध चुका है वह १८८० में मैदान में आन बाँटने देशों में प्रतियोगिता करने में कठिनाई अनुभव करता है। लेकिन पुगने देश की प्रतिक्रम स्थिति वासी बात सभी आमक मालूम होती है, यदि १८८० में दो देशों के पास निवेश करने के लिए बराबर पूंजी है, तो यह नहीं समझ में आता कि जो देश १८५० में ही पूंजी निवेश करता आ रहा है उसे १८८० में काम आरम्भ करने वाले देश के साथ प्रतियोगिता करने में क्या कठिनाई हो सकती है, क्योंकि जो नया उपस्कर नया देश खरीद सकता है वही पुगना देश भी खरीद सकता है। सम्भव है पुगने देश जो अपने पुगने उपस्कर करने में ही काम दिव्य दे और उसे यह सुविधा भी हो सकती है कि जब तक नया देश पुगने कामों में उसकी बराबरी तक पहुँचे तब तक वह अपनी वस्तुओं का उपयोग करके नये काम शुरू कर सकता है। यह तर्क अधिक नहीं मालूम देता है कि पुगने देश को अपनी विशेषता के कारण हानि होती है, १८५० के बाद के वर्षों में भी वह १८५० में माँगी जाने वाली वस्तुओं की मर्यादा करने की सुविधाओं (बैंकिंग, विपणन, प्रशिक्षण, परिवहन, दूरीनिपटरी आदि) का विकास करता है; ऐसा करते-करते वह एक टर्रे पर पड जाता है, या इसी बात को और सुन्दर ढंग में यो कह सकते हैं कि वह १८५० और उसके बाद किने गए प्रयत्नों के बँग में बढ़ता जाता है और १८८० की बदलती हुई माँगों के अनुसार अपने को नहीं टाल पाता। अतः जब नये उद्योग जन्म लेते हैं तो वे उन नये देशों में स्थापित होते हैं जो पुगने तौर-तरीकों से बहुत अधिक नहीं बँधे होते। अपने टर्रे के कारण पुगने देशों को प्रौद्योगिक नेतृत्व भी खोना पड सकता है, क्योंकि उनके सर्वाधिक बुद्धिमान लोग पुगने उद्योगों की समस्याओं को ही हल करने में लगे रहते हैं। इस बीच नये देशों के बुद्धिमान व्यक्ति पुगने उद्योगों के सम्बन्ध में पुगने देश का अनुकरण और बराबरी ही नहीं करते रह जाते, बल्कि नये उद्योगों में आगे निरूपित जाते हैं, और विकास-शील व्यापारों में पुगने देश में प्रौद्योगिक नेतृत्व छीन लेते हैं।

इस पार्श्व से मे शायद ब्रिटेन का उदाहरण बहुत अच्छी तरह फिट होता है। एशिया में वस्त्र-उद्योग की उल्लिखित का एक बड़ा कारण वहाँ की अनेक-वृत्त कम मजदूरियाँ हैं और इसी के फलस्वरूप विश्व-व्यापार में वस्त्रों का अनुपात कम हो गया है। निम्न का तर्क भी ब्रिटेन के उदाहरण में ठीक बैठता है, १८७० में ब्रिटेन अपनी वस्तुओं का अधिकाधिक भाग विदेशों में

निवेग कर रहा था यहाँ तक कि १९१३ से ठीक पहले जगभंग आधी बचत  
 वाटर व देणो म निवेग की जाती थी । उनकी सहायता म विन्गा म विन्ग  
 कर उत्तरी अमरीका भारत और जापान म प्रतियोगी उद्योग म हा गए  
 जबकि ब्रिटेन प्रौद्योगिक उ नति म पिछड़ गया । यनी ननी रमायन मगानी  
 प्रौडार या विजनी के उपस्कर आन्ति तजी से बत्न बान उद्योगो म अपना  
 उचित याग बनाए रखन म या इन क्षत्रो या प्रौद्योगिक ननत्र प्राप्त करन म  
 भा ब्रिटेन को बडी अमफनता का सामना करना पडा । इस अमफनता का एक  
 कारण तो यह हो सकता है कि ब्रिटेन व व्यवसायी पहलू से जमे हुए वस्त्र  
 उद्योगो पर ही सारा ध्यान कद्रित किय रह और दूसरा यह हा सकता है कि  
 ब्रिटेन के प्राचीन विन्वविद्यालय और उनके विद्यार्थी बतानिव और प्रौद्योगिक  
 अध्ययन को नीची नजर से देखते रह । इसका विपरीत तो कारण तेम  
 दिवाई देते हैं जिनसे लगता है कि इस प्रकार के फामूल ब्रिटेन के मामल म  
 नागू नही होने । पहला कारण तो यह है कि वस्तु निर्यात की धीमी वृद्धि के  
 बावजूद १९१३ तक ब्रिटेन का भुगतान ण निरतर उसके ण म बढ़ रहा  
 था । इसका अर्थ यह भी हा सकता है कि निर्यातो की वृद्धि धीमी हान से  
 उत्पादन कम हो रहा हा और इसीलिए आयातो म भी वृद्धि न हा रहा ।  
 सकिन इसका एक भीधा-सादा कारण यह भी हो सकता है कि वस्तु निर्यातो  
 पर जोर देने के बजाय ब्रिटेन को यही लाभप्रद मालूम हुआ हा कि नौपरिवहन  
 बीमा और एमी ही दूसरी सेवाओं मे होने वाली अर्थ्य आय बढाई जाए ।  
 फामूलो के अन्तार दूसरी बात यह है कि चान्त हुए भी ब्रिटेन अपना स्पिनि  
 इससे बहतर नही कर सकता था । ब्रिटेन के लिए यदि वह चाहता तो इस  
 प्रकार का निर्यात व्यापार आदोतन चाना कोड बडा बात नहा थी जिसे  
 जमनी या जापान बान चला सक । वास्तविकता यह है कि जब तक ब्रिटेन  
 का आसानी म व्यापार-भविषाई मिनता रही तब तक उगन कोई बगार  
 प्रयत्न नही किय तबित निवट भविष्य म एक प्रयत्न करन पड सकते है  
 और यह बडा संदेहजाय है कि तब ब्रिटेनवागिया के चरित्र की मज्जना  
 उगम बाधक बना हा जाएगा । इसका अन्तया चकि बदन हुए बाजारो म  
 विन्व व्यापार का अधिकांश जापान या जमना व ननी बतिक अमरीका व  
 हाय म है अत यह भावना कि निधन प्रतियोगिया व साथ अधिन बगारना म  
 व्यवहार न किया जाए एक मामल म नागू नहा होगी और अपने से पना  
 देण म भिन्ने म साथे साथ ही परत्र बरना जाएगा ।

विन्व-व्यापार म मधुचित याग बनाए रखन व अपनाय ननत्र मधन  
 प्रविष्य पर भी धार हाता है । नवीन प्रविष्य व अर्थ म ब्रिटेन जगभंग एक  
 क्षान्ता म अर्थ्य म नति अर्थ्य म नत्र (जा विन्गा का आधिपत्य

के क्षेत्र के नेतृत्व में भिन्न है) लोगों के हाथ में चला गया है। नेतृत्व में इस प्रकार के परिवर्तन आना अपरिहार्य है, क्योंकि बुद्धिमानी या उन्माह पर किसी देश के लोगों का स्थायी एकाधिकार नहीं रह सकता। धानुओं और उत्पादन के उत्पादन और प्रयोग की नवीन प्रविद्याओं के प्रवर्तन में ब्रिटेन, जर्मनी और अमरीका के बीच हाड थी और उनसे पहले परिवहन-व्यापार में प्रायः और हार्लैंड के बीच हाड थी। इससे भी पहले कुछ समय तक स्पेन के हाथ में नेतृत्व था और इससे जितना पीछे चलने जाएं रोम और बर्सेइ के बीच होट में पहले के भी उदाहरण मिलने जाते हैं। यह केवल धार्मिक व्यापार पर ही नहीं सम्बन्धित जा सकता कि बड़े राष्ट्रों का नेतृत्व क्यों बदलता रहता है। मस्तिष्क की प्रवृत्तियाँ, देश की आंतरिक तनातनी, राजनीतिक घटनाएँ, साम्प्रदायिक परिवर्तन, युद्ध और दहृत-यों दूसरी बातें भी इसके लिए जिम्मेदार होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धात्मकता में परिवर्तन सामयिक देशों के भीतर होने वाले दूरगामी परिवर्तनों के प्रतिदिम्ब-मात्र होने हैं।

उन्नत औद्योगिक देशों के बीच नेतृत्व बदलने की प्रक्रिया जितनी दिलचस्प है उतनी ही दिलचस्प कम विकसित देशों की विदेश-व्यापार में अग्रता स्थान बना लेने सम्बन्धी असफलता है (इसका अपवाद केवल जापान है)। लोगों का कहना है कि यह भी एक देश के दूसरे देश पर पडने वाले सन्नाह के कारण होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तन्त्र ऐसा है कि विकसित और कम विकसित देशों के बीच की सार्द प्रतिस्पर्धा स्पष्ट से चौड़ी होती जाती है। जब कोई देश औद्योगिकी के क्षेत्र में नवीन प्रविद्या का सूत्रपात करता है और अधिक उत्पादन बन जाता है तो उसके निर्यातों को सीमित मिलने लगती है। जब ये सन्ते निर्यात कम विकसित देशों में पहुँचते हैं तो वहाँ के प्रतिस्पर्धी उद्योगों को नष्ट कर देते हैं। यह बात सही है, उदाहरण के लिए हम जानते हैं कि १९वीं शताब्दी में भारत को सही हानत हुई। मजगाधर और बॉम्बे के सन्ते कपड़ों ने भारत के अल्प विकसित हस्तशिल्प-उद्योगों को बड़ा आघात पहुँचाया। इस सिद्धान्त के अनुसार, यह आघात सबकी होता है। विनिर्माण-उद्योग में बड़े पैमाने पर उत्पादन करना लाभप्रद होता है, अतः जैसे-जैसे (मान लीजिए) इंग्लैंड के उद्योग उन्नति करते जाते हैं और (साल लीजिए) भारत के उद्योगों में गिरावट आती जाती है, जैसे-जैसे इन दो देशों की उत्पादकता का अन्तर बढ़ता जाता है। भारत कृषि पर अधिकाधिक ध्यान देने के लिए मजबूर हो जाता है, जिसमें बड़े पैमाने के कोई लाभ नहीं मिलते, जबकि इंग्लैंड निरंतर धनी होता जाता है।

यह सिद्धान्त उन सिद्धान्त से बिलकुल उल्टा है जिस पर हम पहले विचार कर चुके हैं, अर्थात् यह कि सबकी शक्तियाँ विकसित और कम विकसित देशों



के बीच के अंतर का बढ़ती नहीं बल्कि कम करती हैं। इस बारे में गरन निदान्त निर्धारित करना अनुपयुक्त है कि एक राष्ट्र की उत्पादकता बढ़ने में बाकी सभी राष्ट्रों पर क्या प्रभाव पड़ने है क्योंकि यह प्रभाव अनन्त प्रकार के होत है। यदि किसी देश की उत्पादकता बढ़ती है तो यह आवश्यक नहीं है कि वह अपना सामान मस्ती कीमतों पर बचे ही, उसकी मुद्रास्फी मायें बढ़ सकती हैं और आयात-निर्वाह स्थिति अपरिवर्तित रह सकती है। यदि वह अपना सामान दूसरे राष्ट्रों का मस्ती कीमतों पर बेचता है तो भी इन राष्ट्रों को हानि पहुँचना आवश्यक नहीं है क्योंकि तब वे दूसरे उद्योगों में विशेषज्ञता हासिल कर सकते हैं, यदि ऐसा होता है तो वहाँ की अर्थ-व्यवस्थाएँ कुप्रभावित होने के बजाय गतिरोध की स्थिति में निकल आती है। हम पहले भी प्रथम दमकी चर्चा करते रहे हैं कि विदेश-व्यापार बढ़ने के फलस्वरूप गति-रुद्ध देश प्रायः आर्थिक विकास के प्रगति-पथ पर घात खाता होता है। फिर भी यह अवश्य है कि उन्नत औद्योगिक देशों की प्रतियोगिता के कारण कम विकसित देशों को अपना उद्योगीकरण करने में बड़ी कठिनाई होती है। आइए, हम इस समस्या पर और अधिक विचार करें।

यदि विनिर्मित वस्तुएँ विदेशों से मस्ती खरीदी जा सकें तो अधिक दृष्टि में देश के लिए उन्हें स्वयं तैयार करना वाछनीय नहीं है। यह केवल देश के भीतर मान बनाने की द्रव्य-लागत और विदेश की द्रव्य-लागत की तुलना का ही मामला नहीं है, क्योंकि द्रव्य-लागत और वास्तविक लागत में प्रायः कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता। न इस प्रसंग में वर्तमान लागतों की तुलना करना ही उपयुक्त है, क्योंकि विकास का मतलब ही यह है कि हमसे लागतें कम हो जाती हैं। मत गहरी नीति निर्धारित करते समय उद्योगीकरण के फलस्वरूप लागतों पर पड़ने वाले प्रभावों के बारे में विचार करना आवश्यक होता है। यदि उद्योगीकरण की गति निजी उद्यमकर्ताओं द्वारा लिये जाने वाले निर्णयों पर ही पूरी तरह छोड़ दी जाए, तो यह लगभग गदा ही लाभप्रद गति में कम रहेगी।

पहले, काम शुरू करने की कठिनाइयों को लें। शुरू में गदा ही कारी गन्धें उठाना पड़ता है मत लोग पुराने काम से ही चिपके रहना पसन्द करते हैं। विशेषज्ञता के साथ ही उत्पादन के पैमाने के साथ है। ये लाभ उत्पादन के लगभग सभी क्षेत्रों में उपलब्ध होने हैं और इन्हीं के धारण में लोग एक काम छोड़कर दूसरा काम करना पसन्द नहीं करते। उदाहरण के लिए, जिन देशों में कृषि में विशेषज्ञता हासिल की होती है उनमें कृषि के लिए उपयुक्त परिवहन और प्रसिद्धि आदि की सुविधाओं का विकास देगने में घाता है, न कि विनिर्माता देशों में पाई जाने वाली सुविधाओं का। ऐसी स्थिति में थोड़ा परिवर्तन घसाभव होना है, लेकिन नये कामों को शुरू करने का भारी गन्धें उठा-

कर बड़ा परिवर्तन ला देने से कुछ समय में ही पुराने काम की अपेक्षा वहाँ अधिक लाभ होने लगते हैं। व्यवहार में इस तरह के बड़े परिवर्तन आसानी से नहीं किये जा सकते। य केवल अद्विग विश्वास के बल पर ही किये जा सकते हैं क्योंकि परिवर्तन के दौरान कम या अधिक समय तक नये कामों की उत्पादन-क्षमता अपेक्षाकृत कम होती है। कुछ निजी उद्यमकर्ता इस मामले में धैर्य दिखाने के लिए तैयार हो जाते हैं लेकिन आम तौर पर बड़े परिवर्तन सरकारों को ही करने पड़ते हैं और बाद में नये कामों को संरक्षण या आर्थिक सहायता भी देनी पड़ती है। यह तर्क उद्योगीकरण पर विशेष रूप में लागू होता है जब औद्योगिक क्षेत्र का विस्तार होने लगता है तो शुरू में उसकी उत्पादकता कम होती है, उसके अधिकारियों को ग्राम-जीवन छोड़कर उद्योग-जीवन के लिए उपयुक्त प्रवृत्तियाँ अपना देने में एक या दो पीढ़ियाँ लग जाती हैं, लोकोपयोगी सेवाओं का पूरा तरह इस्तेमाल शुरू नहीं हो पाता, मन के अपनी सेवाओं के बदले भारी प्रभार बमूल करती हैं, ऐसी अनेक प्रभों का जाल नहीं बिछ पाता जो एक-दूसरे का पोषण करती हैं। यदि ऐसी आशा हो कि वर्तमान ऊँची लागतें केवल आरम्भिक अवस्था की 'बटिनाइयाँ' हैं तो विनिर्माण-उद्योग को इस दौर से गुज़ार ले जाना अन्ततः लाभप्रद सिद्ध होता है। यह 'निगु उद्योगों' के तर्कों का ही बड़ा रूप है, जो पिछली डेढ़ शताब्दी से लगभग सभी अर्थशास्त्रियों द्वारा माना जाता रहा है और उद्योगीकरण की आरम्भिक अवस्था में सभी देशों ने इनके अनुसार आचरण किया है। उदाहरण के लिए, सन् १७०० के आस-पास तक औद्योगिक टेक्नीकों में इंग्लैंड यूरोप में पीछे था। इसने पहले उसकी सर्वाधिक औद्योगिक प्रगति के तीन काल रहे थे जिनमें यह गिल्डियों के आप्रवाहन को बढ़ावा देकर यूरोप के देशों में टेक्नीकों मौखिक रहा था—यह आप्रवाहन विशेषकर एडवर्ट तृतीय, एलिज़ाबेथ और उत्तरवर्ती स्टुअर्टों के शासन-काल में हुआ। इनके साथ बड़ी मात्रा-धानी में संरक्षण-आत्मक उपाय किये गए थे, दूसरे औद्योगिक देशों से काफी आगे निकल जान पर ही इंग्लैंड ने मुक्त व्यापार-प्रणाली अपनाई। उद्योगीकरण की आरम्भिक अवस्थाओं में ऐसी ही संरक्षण-नीति जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका और अन्य सभी औद्योगिक राष्ट्रों ने अपनाई थी। लेकिन ध्यान रहे कि यह तर्क उद्योगीकरण की केवल आरम्भिक अवस्थाओं पर लागू होता है। एक बार यदि देश उस अवस्था में पहुँच जाए जहाँ बड़े पैमाने के सारे लाभ मिलने लगते हैं तो संरक्षण के पक्ष में यह तर्क लागू होना बन्द हो जाता है।

आरम्भिक स्वर्ण के अलावा आरम्भिक अज्ञानता पर भी विजय पानी होती है, क्योंकि उनमें एक नये उद्योगों को शुरू करने में भी स्वावट पैदा होती है जो बिना संरक्षण के अपनातापूर्वक चलाया जा सकता है। उनमें औद्योगिक

देशों में अनेक अनुभवी उद्यमकर्ता नये-नये कामों की योजना करते हैं, लेकिन कम विकसित देशों में इनका प्रभाव होता है। विकास की आरम्भिक अवस्थाओं में कम विकसित देशों के उद्यमकर्ता कृषि और व्यापार में विशेषज्ञता हासिल कर लेते हैं, नये विनिर्माण-उद्योगों की वे न तो तकनीकें जानते हैं और न उन्हें अपनी जोखिम के बारे में कोई अनुमान होता है। अगर सरकार के विचार में लाभप्रद नये उद्योग केवल इसलिए गड़ नहीं बिय जा रहे कि लोगों को उनके बारे में जानकारी नहीं है, तो फिर सरकार का अग्रगामी का कर्तव्य निम्नाना चाहिए। वह माँग और उत्पादन की समस्याओं में अनुसन्धान आरम्भ करके सम्भाव्य उद्यमकर्ताओं की जानकारी के लिए उसके परिणामों का प्रचार कर सकती है। अगर यह काफी न हो तो वह बाहर से अनुभवी उद्यमकर्ताओं को बुलाकर देश में उद्योग स्थापित करा सकती है। अगर मुख्य बाधा जोखिम की हो तो सरकार कुल या कुछ पूंजी लगाकर, या नयी पूंजी पर ब्याज की गारंटी देकर, या नये उद्योग के अन्तर्गत बनी चीजों को (अपने अस्पतालों, कार्यालयों, जेलों आदि में इस्तमाल करने के लिए, या पुन-विश्रय के लिए) खरीदने का सबिदा करके, या अन्य तरीकों से उद्योग का आर्थिक सहायता या संरक्षण देकर काम आरम्भ करने की जोखिम अपने ऊपर ले सकती है। इस नेतृत्व का प्रभाव कितना हो सकता है यह सबसे अधिक जापान ने सिद्ध किया है, १८७० और १९०० के बीच वहाँ अनेक भी उद्योग स्थापित हुए उनमें से लगभग सभी सरकार ने ही स्थापित किये थे और वही उन्हें चलाती थी, और आरम्भ के कठिनार्थ के वर्षों के लिए पर उन्हें निजी उद्यमकर्ताओं को बच देनी थी। काम की सुरक्षा करा देने का महत्त्व इसलिए भी अधिक है कि बाद में बहुत लाभकर सिद्ध होने वाले उद्योग भी शुरू-शुरू में अक्सर फेल हो जाते हैं। जब कार्य नवीन प्रक्रिया लागू की जाती है, चाहे वह नयी मशीन हो, उत्पादन की कोई नयी चम्पू हो, रेल हो, या कोई नया विदेशी बाजार हो, तो प्रायः काम शुरू करने वाली फर्म दिवालिया हो जाती है और उसके बाद दो या तीन हाथों में गुजर चुकने पर ही वह उपयुक्त आर्थिक दृष्टि में सफल हो पाता है। काम शुरू करने की इस भारी कठिनार्थ में उद्यमकर्ता धराने हैं—विशेषकर कम विकसित देशों के, जहाँ उद्यमकर्ता न तो सख्या में बहुत होते हैं और न उनका अनुभव अधिक होता है। पर अधिक विकसित देशों की तुलना में कम विकसित देशों में अग्रगामी के रूप में सरकार का योग्य भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

कुछ छोटे देशों में उद्योगीकरण के लिए केन्द्र देश के भीतर के बाजार को ही अत्यन्त संरक्षण देने की आवश्यकता नहीं पड़ती यदि कोई सीमा-रूप स्थापित किया जाए तो वे भी अत्यन्त संरक्षण देना पड़ता है।

दो देश क और म का उदाहरण लीजिए जिनमें से किसी का बाजार इतना विस्तृत नहीं है कि वहाँ बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ उठाए जा सकें। ऐसी स्थिति में यदि कुछ उद्योगों में विशेषज्ञता हासिल कर ले और दूसरे में म करे, और वे अपने बाजार बाँट लें तो हो सकता है कि नए नए उद्योग के बिना ही समय पाकर दोनों के उद्योग कार्यकुशल और लाभप्रद हो जाएँ। कोई सीमाकर-संध न होने पर शायद क देश अपने उद्योग चालू ही न कर सके, क्योंकि सम्भव है वह शुरू में ही न के बाजारों में अपना मान रखाने के लिए प्रतियोगिता न कर पाए। परिणाम यह होगा कि न तो क देश के उद्योग आरम्भ हो पाएँगे और न न देश के। या फिर यह हो सकता है कि क और म दोनों ही नए उद्योग चालू कर दें, और अपने-अपने बाजार का सुरक्षण दें। ऐसी हालत में इन देशों में से किसी के उद्योग लाभप्रद रूप से नहीं चल सकेंगे। सीमाकर-संध से दोनों पक्षों को तब लाभ होता है जब दोनों उद्योगीकरण करें, और उनमें से हरेक निम्न उद्योगों में विशेषज्ञता हासिल करे। अगर उद्योगीकरण केवल क में ही किया जाए तो न देश को तब तक कोई लाभ नहीं पहुँचेगा जब तक क देश में उत्पन्न रोजगार के नये अवसरों का लाभ उठाने के लिए ल देश के लोग क देश में जाकर नहीं बनें। हाँ, यदि सीमाकर-संध बनाकर भी उद्योग उस कारण चालू न किए जा सकें कि वे लाभप्रद नहीं हैं, तो ऐसा संध बनाने से दोनों पक्षों को हानि होगी। अतः आर्थिक विकास को आगे बढाने के साधन के रूप में सीमाकर-संध के लाभ और हानियाँ हर मामले में बड़ी नावधानी से आँकी जानी चाहिए। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि कई ऐसे देश, जो इस समय टेन्ट के प्रतिवन्धों के कारण एक-दूसरे से बटे हुए हैं, समूचे संसार के लिए अपने प्रतिवन्ध कम करके फायदे में नहीं रह सकते (क्योंकि ऐसा करने पर उनके शिशु-उद्योग बनी आरम्भ ही नहीं होंगे), बल्कि तब अधिक फायदे में रह सकते हैं जब वे अपने पटोसी देशों से ऐसे सीमित करार कर लें जिनके अन्तर्गत हर देश कुछ निदिष्ट वस्तुओं का ही उत्पादन करें।

विपणन की समस्याओं, नये कामों की आरम्भिक कठिनाइयों, और अज्ञानता के कारण कम विकसित देशों को उद्योगीकरण करने में उन्नीसवीं शताब्दी में जितनी बाधाएँ थीं उनकी अपेक्षा आज वहाँ अधिक हैं, क्योंकि अन्य देशों की तुलना में सर्वाधिक उन्नत औद्योगिक राष्ट्रों को आज तकनीकी दृष्टि से जितनी श्रेष्ठता प्राप्त है उतनी उन दिनों नहीं हुआ करती थी जब वे अपना औद्योगिक जीवन आरम्भ ही कर रहे थे। यदि कम विकसित देशों में सुरक्षण के विशेष उपाय न किये गए तो विशेषज्ञता की तेज गति के कारण ही उनके और औद्योगिक राष्ट्रों के बीच की गार्ड चौटी होती जायगी। मन्थारक पर्व-

शास्त्रियों द्वारा मान्य अस्थायी औद्योगिक संरक्षण का तब मात्र जितना मूल्य मालूम होता है उतना पहले बंधी नहीं या ।

यह तर्क जनाधिक्य वाले देशों और जनान्यता वाले देशों पर समान रूप से लागू होता है । अब तब जा कुछ कहा जा चुका है उमके अलावा उन कम-विवसित देशों को, जिनकी जनमर्यादा कृषि-साधनों की तुलना में अधिक है, अपने विनिर्माण उद्योगों को इसलिए भी संरक्षण प्रदान करना चाहिए कि इन देशों में कीमत सम्बन्ध वास्तविक सामाजिक लागतों में कर्त प्रभावित नहीं होते । इसका कारण यह है कि उनके बड़ी श्रमिकों को, जिनकी सीमान्त उत्पादकता कृषि में शून्य या ऋणात्मक होती है उनकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक पारिश्रमिक दिया जाता है । यदि ये थोड़ा-बहुत भी निवल उत्पादन देते रहे तो इन देशों की श्रमिकों को विनिर्माण में लगाना वास्तविक सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद है । लेकिन कुछ प्राथमिक दृष्टि में इन्हें तब तक विनिर्माण में लगाना लाभप्रद नहीं माना जा सकता जब तक कि इनका निवल उत्पादन इन्हें मिलने वाली मजदूरी से अधिक न हो । इनसे भारत-जैसे एक देशों में विनिर्मित वस्तुओं के मुक्त व्यापार की छूट देकर (या छूट देने के लिए मजदूर किये जाने से) नुकसान उठाया है, इसके बदले उन्हें लाभ कोई नहीं हुआ बल्कि उनके देशीय उत्पादन मंदा के लिए ममाप्त हो गए और बराबर की समस्या बढ़ गई । ऐसे देशों में सही नीति यही है कि विनिर्माण-उद्योगों में जितना अधिक-से-अधिक रोजगार दिया जा सके, दिया जाए, और जब तक विनिर्माण में श्रमिकों का निवल उत्पादन धनात्मक न हो जाए तब तक प्रतियोगी आयतनों की कीमतों में संरक्षण प्रदान किया जाए । यह तर्क सामान्य रूप से सभी कम विवसित देशों पर लागू नहीं करना चाहिए, यह भारत, मिस्र या जर्मनी-जैसी जनाधिक्य वाले देशों पर लागू होता है, सोवियत यूनियन या ब्राजील जैसे जनान्यता वाले देशों पर लागू नहीं होता ।

यद्यपि अन्य देशों की ध्वंसा इन जनाधिक्य वाले देशों की अधिक तेजी से उद्योगीकरण करने की जरूरत है, लेकिन उनकी कठिनाइयों के कारण मात्र का ध्वंस की समस्या में और भी बढ़ जाती है । रहन-सहन का स्तर नीचा होने के कारण इन देशों में विनिर्मित वस्तुओं की मांग प्राच-प्रदायों की मांग अधिक होती है । अतः, एक प्रकार से, इन देशों में औद्योगीकरण की एक मुख्य बाधा प्राच-प्रदायों के आयतन के बढ़ते विनिर्मित वस्तुओं के निर्माण की है, अर्थात् इन्हें विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-व्यापार में अपना हिस्सा अधिक-अधिक बढ़ाने की जरूरत होती है । ऐसा करना सम्भव है, यही पहले ब्रिटेन ने किया, उमके बाद जर्मनी और जापान ने किया और मध्य पूर्व भारत और दूसरे देश भी करेंगे । लेकिन मात्र यह उतना सामान्य नहीं

है जितना कि ब्रिटेन के उद्योग में था क्योंकि अब पहले की मनेसा अरिष्ठ जैसे देशों की प्रतिदोषिता का सामना करना पड़ता है। उद्योग और उद्योगी प्रवृत्तियों मरणांगुली द्वारा घोषित निर्वासन-आंदोलन के बरत ही विश्व-व्यापार में अपना स्थान बना सके। उन्होंने बड़ी जोरदार नीतियाँ अपनायीं, मगर मर के दारुणों में अपने विरोधकार नर दिए। उद्योग की व्यापक सुविधाएँ थीं, बीमियों में श्रमिकों की श्रम अपने आह्वानों की दृष्टियों का बड़ा लिहाज रखा। एक दूसरा उदाहरण यह भी है कि मातृ की विधियों में प्रतिदोषिता करके विश्व-व्यापार प्रदोषित व बन्धन अन्तर्गत देशों में ऐसे व्यवस्थापकों द्वारा विनिर्माण की विधियों को पहले से ही बन हुए ही श्रम जो नर देशों में आकर फेक्ट्रियों लड़ी करें और यही न अपने पहले बात बाजारों में ले जाकर मान देंगे। लगभग छः शताब्दों पहले उद्योग न दली प्रकार विश्व-बाजारों में कदम रखा था। अन्तर्गत देशों में उद्योग उदाहरण का अनुकरण किया है, जिनमें सबसे उल्लेखनीय हाव वा उदाहरण पुर्तगाली की अन्तर्गत विनिर्माणों की अपने यहाँ बुलाने की सज्जता है। जिनो बाजारों की हदिका सेना इतना बढित होता है कि यदि ऐसे उद्योगिकियों से काम शुरू करता जाए, जिनकी विधियों के श्रम पहले से ही बने हुए ही तो अपना निर्वासन मार दिया मनसिद्ध। उनके प्रलाप एक बात यह भी है कि अन्तर्गत देशों में बाजारों हाथ में निवल जाने पर औद्योगिक राष्ट्र जितना हंगामा मचाने है उससे कहीं कम श्रम तब होत है जबकि उनके अपने ही व्यवस्थापकों द्वारा उद्योग अपनी ही पूँजी से उनका बाजार छीन लेते हैं। लेकिन इन विकसित देशों उन प्रकार अपना निर्वासन करना बुरा समझते हैं (केम्ब्रिज प्रकाश १, पृष्ठ २ (ग) )।

इन कम विकसित देशों की कठिनाई यह है कि वे अपने यहाँ मनुष्यों का वह स्तर नहीं रख पाते जिनसे विश्व-बाजारों में प्रतिदोषिता की उमरें। यदि उद्योग केवल आन्तरिक बाजार के लिए ही उत्पादन कर रहा हो तो दूसरे देशों से मनुष्यों की बीमियों अधिक होने पर भी मरणांगुली के बत पर उद्योग को बचाए रखा जा सकता है, लेकिन विश्व-बाजारों में अपना सामान बेचने के दृष्टिकोण अनावश्यक बाले देश को आन्तरिक मरणांगुली से निरपेक्ष रक्षित नहीं पहुँचता, क्योंकि यदि वह ऐसी बीमियों पर सामान उत्पादन न कर सके जो आन्तरिक बाजार पर बच्चा बनाए रखने के लिए अतिरिक्त हों तो दूसरे बाजारों पर बच्चा करने के अवसर भी थोड़े रह जाते हैं। यह कठिनाई मुद्रा की लागत और वार्षिक लागतों के अन्तर के कारण पैदा होती है जिस पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। अन्तर्गत की बेगी होने की स्थिति में उन्हें विनिर्माण-उद्योग में लगाने की वार्षिक लागत न के बराबर होती है, लेकिन मुद्रा की लागत बाजारों में मरणांगुली बचाने के लिए

जिम्हानी बमार्ड के औसत स्तर की अपेक्षा विनिर्माणों में अधिक मजदूरियों देनी पड़ती है, क्योंकि शहर के रहन-सहन का व्यय अधिक होता है। इसके अलावा मजदूर-मूल्य भी होते हैं जो औद्योगिक व्ययों को संश्लेषित करने में मदद करते हैं, और मुद्रास्फी मजदूरियों लगातार बढ़ाने रहते हैं। मुद्रास्फी मजदूरियों के इस स्तर पर प्रायः यह होता है (जैसा कि हम समय-समय पर जानते हैं) कि देश केवल इसीलिए उत्पादों की तृष्णा कर पाता कि उसके उत्पादन की मुद्रास्फी लागत बहुत उंची होती है। इसका उपाय या तो उत्पादन में अधिक सहायता देना है, या मुद्रा का अवमूल्यन करना है। गुन्तमगुन्तम आधारित सहायता देना से औद्योगिक प्रतियोगी विरोध करने हैं, अतः अधिकतर औद्योगिक देश कम स्पष्ट प्रकार की सहायता ही देते हैं, जैसे वाणिज्यिक क्रियाओं पर फौजदारी उठाना, रेटो और करों में छूट देना, बिजली, पानी या परिवहन के लिए कम प्रभाव देना, आदि। यह हमारा काफी नहीं होता, अतः जैसा कि जापान में किया गया, निर्यात-आन्वेषण प्रारम्भ करने के साथ-साथ मुद्रा का अवमूल्यन भी करना पड़ सकता है। अतिरिक्त विकसित देशों की अपेक्षा कम विकसित देशों का अवमूल्यन करने में कम कठिनाई होती है, क्योंकि उनकी आयात-निर्यात स्थिति पर हमारा बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है (उनके आयातों और मूल्य आधारित वस्तुओं के निर्यातों की कीमतों की दृष्टि से मुद्रा में होने वाले कारण उन पर अवमूल्यन का प्रभाव नहीं पड़ता), और क्योंकि उनके बाह्य ऋण और परिणामितियों प्रायः विदेशी मुद्रा में की जाती हैं। हाँ, रहन-सहन के खर्च और इसके परिणाम-स्वरूप मुद्रास्फी मजदूरियों पर पड़ने वाले प्रभावों के कारण अवमूल्यन का उपयोग अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यदि मुद्रास्फी मजदूरियों को उनीची सीमा तक बढ़ाना पड़े तो अवमूल्यन का कोई लाभ नहीं होगा। बढ़ने का सम्बन्ध यह है कि जब तक किसी देश के लोग इस काम में सहभाग्य देने को तैयार न हों तब तक देश अपनी आर्थिक समस्याएँ नहीं सुलझा सकता।

विश्व-व्यापार में घटना स्थान बनाने में इसकी बाधा होती है कि केवल गार्हगी और दुर्क-प्रतिष्ठ राष्ट्र ही उभरते-उभरते जा सकते हैं। उनीची सीमा की पूर्वाधिक में ब्रिटेन में घातक विधोकार मारी दुनिया में भेजकर हम काम में सफलता प्राप्त की थी। उन दिनों यह मान्य थी अपेक्षा करने या क्योंकि ब्रिटेन को घातने में बहुत बड़े प्रतिस्पर्धियों में सौदा नहीं देना पड़ा। इसके बाद जर्मनी घातक, जिम्हें प्रयत्न और भी दुर्क के और जिम्हें मरकागी सहायता भी अधिक प्राप्त थी। इसीलिए उसे घरेलू मूल्य बढ़ाने की कठिनाई हुई लेकिन विश्व-व्यापार में जितना स्थान वह चाहता था उतना उसे मिला गया। जापान का यह दुर्भाग्य था कि वह बड़ी मन्दी के दौरान इस क्षेत्र में घातक,

उस समय समूचा विश्व-व्यापार नष्टचिन्त हो रहा था लेकिन उसके बाद कुछ जपान ने १९२२ और १९२७ के बीच अपने निर्यात दृगुण कर लिए। भारत और इटली-सुईडन देशों के लिए विश्व-व्यापार का बड़ा महत्त्व है, लेकिन उनमें मजदूरी की कमी है। इन विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-व्यापार में जिनका योग १८२२ में २.३ और ३.७ प्रतिशत था वह १९२७ में घटकर ०.१ और ३.०६ प्रतिशत रह गया। न दोना देश ऐसे हैं जो यदि अपनी जनसंख्या के समान ३५ प्रतिशत को विनिर्माण-कार्यों में न लगाएँ तो अपने दमबाजियों को रोज-गार और अच्छा खाना नहीं दे सकें और यह सब नहीं बिना जो सबका जब तक विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात बंदान का धान्दोवन उनको प्राथमिक नीतियों का सबसे प्रमुख अंग न समझा जाए। ऐसे देशों में भारत आदि का स्थान सबसे अनुकूल है, क्योंकि उनके पास धातु-उद्योगों के लिए अनेकित ईंधन और अच्छी धातुएँ मौजूद हैं। लिन आदि हमारे देशों की इस सामर्थ्य में स्थिति अच्छी नहीं है, क्योंकि वे केवल उन्हीं वस्तुओं का निर्यात कर सकते हैं जिनकी विश्व-मांग बढ़ती रहने की सम्भावना नहीं की जा सकती। यदि उन्हें अपनी जनसंख्याओं को रोजगार देना है और उनके लिए भोजन की व्यवस्था करनी है तो उन्हें और भी जोरदार प्रयत्न करने होंगे। इनसे निस्सन्देह औद्योगिक देश दो भागों में बँट जाते हैं—एक तो वे जो धातु और रसायनों का निर्यात करते हैं और दूसरे वे जो खनिज-सम्पदाओं की कमी के कारण लकड़ और दूसरी ऐसी वस्तुओं का निर्यात करने हैं जिनमें कुछ जीवित को देखते हुए धातु पर लागू गड़े लागत घोंठी ही होती है।

वहमें की आवश्यकता नहीं है कि उन्नत औद्योगिक देश इन निर्यात-धान्दोवनो का विरोध करते हैं। वे इनके योग-सुरीकों को चुग बताते हैं—विक्रीका, उधार की गुञ्जाइशों, उपदान विदेशों में प्रारंभ करने वाले विनिर्मा-दाओं के सामने रखे गए आकर्षण, मुद्रा-प्रदमूल्यन कम मजदूरियों, करों में छूट—और इस बात पर बड़ा हो-हल्ला मचाते हैं कि इन निर्यात-धान्दोवनों के पीछे सरकार का हाथ होता है। लेकिन विश्व-व्यापार के क्षेत्र में पदार्थ करने वाले नए-नए देशों के पास एक अतर्क्य उत्तर होता है, वह यह कि वे जितना बेचते हैं उतना ही खरीदते भी हैं, प्रायः उनके विश्व-बाजार में अपने से बिली दस के विश्व-व्यापार में कमी नहीं आनी चाहिए। यदि उन्हें मूलतः आवश्यक वस्तुओं की अधिक उम्मत पत्नी है तो उनमें पुराने औद्योगिक देशों की विनिर्मित वस्तुओं के बढ़ते मूल्य आवश्यक वस्तुएँ आयात करने की क्षमता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। नए देशों के उद्योगीकरण में पुराने देशों को उनी कठिनाई पैदा होती है जबकि मूलतः आवश्यक वस्तुओं का विश्व-उत्पादन चाप-चाप नहीं बढ़ रहा होता। यह समूचे समार की



अर्थ-व्यवस्था के अनुनन की समस्या है। मूलतः आवश्यक वस्तुओं की सप्लाई बढ़ाने का उत्तरदायित्व स्पष्टतया उन देशों पर है जिनके पास ये माधन हैं— सर्वाधिक उत्तर और दक्षिण अमरीका, ऑस्ट्रेलिया और अफ्रीका के विरल ससावट वाले महाद्वीपों पर। यदि ये देश शायद समार का आवश्यकतानुसार सामान सप्लाई करने के लिए आप्रवासियों को भी निकाल दें और मूलतः आवश्यक सामानों का विकास भी न कर सकें, तो इसका दाप मुख्य रूप से उन्हीं के ऊपर होगा।

धूम फिरकर हम फिर उसी मयाग पर आ जाते हैं जो हमने पहले उठाया था, अर्थात् यह कि विश्व-व्यापार में सन्तुलन विनिर्मित वस्तुओं वच्चे सामानों और ग्राह्य-पदार्थों की सन्तुलित वृद्धि पर निर्भर है। १९०६ से पहले के पचास वर्षों में जब विनिर्मित वस्तुओं का विश्व-उत्पादन लगभग ४ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर में बढ़ रहा था तो वच्चे सामानों में ३ १/२ प्रतिशत और ग्राह्य-पदार्थों में २ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होने पर आयाज-निर्वात स्थिति अपरिचित रहती थी। विनिर्मित वस्तुओं, वच्चे सामान और ग्राह्य-उत्पादन का यह सम्बन्ध अभी तक वायम है या नहीं यह तो हमें नहीं पता लेकिन हममें कोई बड़ा परिवर्तन होने का कारण दिखाई नहीं देता। इसकी तुलना में विकास की दर में बड़े परिवर्तन आ सकते हैं। वास्तव में कम विरमित देशों के उद्योगीकरण में इन देशों पर बहुत थोड़ा फल पड़ता है। उदाहरण के लिए, एशिया के औद्योगिक विकास की दर में काफी परिवर्तन आने पर भी विनिर्मित वस्तुओं के विश्व-उत्पादन की वृद्धि में उनका अन्तर नहीं आया जितना कि अमरीका के उद्योगों के विकास की दर में थोड़ा-सा परिवर्तन आने पर ही पैदा हो आया। जैसे, यदि अमरीका गिरावटों पर नियन्त्रण करने की पद्धति निकाल ले, तो उसके आधिक विकास की सामान्य दर में जो वृद्धि होगी वह मूलतः आवश्यक वस्तुओं की विश्व-सप्लाई पर उसमें कहीं अधिक दबाव आनेगी जो भारतीय उद्योग के १० प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि होने पर पड़ सकता है। इसी प्रकार, भूमि एशिया और अफ्रीका मिलकर समार के ग्राह्य-पदार्थों का आधे से बहुत ही कम उपभोग करते हैं अतः काफी विकास कर लेने तक ये महाद्वीप ग्राह्य-पदार्थों की विश्व-माँग पर उतना प्रभाव नहीं डाल पाएँगे जितना कि इन समय यूरोप और अमरीका की वृद्धि-दरों में थोड़ा-सा परिवर्तन ही डाल सकता है। इन महाद्वीपों के आधिक विकास के प्रभाव तक तक पना नहीं करने जब तक कि हम इन्हें समूचे विश्व की माँग या सप्लाई की तुलना में गहरा नहीं देखें। अतः हमें जाननी है कि इन देशों के वृद्धि-मूलक आवश्यक वस्तुओं की कमी पैदा हुई तो वह अफ्रीका या एशिया की जनसंख्या-वृद्धि या उद्योगीकरण के परम्पर्य बढ़ने वाली छोटी-मोटी माँग के कारण नहीं होगी, बल्कि

यूरोप और अमरीका की पहल से ही बड़ी हुई मांग में और द्रुत विस्तार होने का कारण होगी।

अब अनेक लोग यह आशंका प्रकट करने लगे हैं कि १९२६ से पहले की अनुसृत विकास वाली अवस्था दुबारा लाना कठिन है। उनका विचार है कि औद्योगिक वस्तुओं का विश्व-उत्पादन अब औसतन ६ प्रतिशत प्रतिवर्ष में भी ऊँची दर न बढ़ेगा क्योंकि औद्योगिक दश गिरावटों पर नियन्त्रण करना सीख गए हैं और इनके अलावा नये-नये दश अपना उद्योगोत्थरण कर रहे हैं। यह कच्चे सामान के उत्पादन की वृद्धि पर निर्भर है जिसके बिना औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि नहीं की जा सकती। जैसे कच्चे सामान का उत्पादन वाणिज्यिक आधार पर किया जाता है अतः अनिश्च-पदार्थों की कमी को छोड़कर, ऐसे आसार दिखाई नहीं देने कि बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए यथेष्ट कच्चा सामान उपलब्ध नहीं होगा।

खाद्यान्न के उत्पादन की सम्भावना इससे अधिक सन्देहजनक है। १९२६ तक खाद्यान्न के उत्पादन में जो २ प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि हो रही थी उसका एक कारण यह भी था कि उत्तर और दक्षिण अमेरिका और आस्ट्रेलिया में नयी-नयी जमीनें खेती के काम में लाई जा रही थी। अब चूंकि नयी जमीनों को खेती के उपयोग में लेने का काम धीमा हो चला है, अतः खाद्यान्नों के उत्पादन की पहली जितनी दर पायस रखना प्रति एकड़ उपज की वृद्धि पर निर्भर होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि दो या तीन दशकियों तक एशिया और अफ्रीका में प्रति एकड़ उपज में नमुचित वृद्धि होती रहेगी, क्योंकि इन समय इनकी प्रति एकड़ उपज बहुत कम है जिसे भविष्य में बढ़ाने की काफ़ी गुंजाइश है, लेकिन कृषि के उत्पादन में जिन प्रकार की वृद्धि जापान में हुई वैसी ही इन देशों में होना मुश्किल है, क्योंकि इसमें भारी राजनीतिक और शिक्षा-सम्बन्धी बाधाएँ हैं। अब हम विश्वास के साथ नहीं कह सकते कि आगामी दो या तीन दशकियों में समार के खाद्य-उत्पादन में अपेक्षित दरों पर वृद्धि हो सकेगी। जैसे, सभी लोग इन आशंकाओं को ठीक नहीं मानते। कुछ लोगों का तो विश्वास है कि निकट भविष्य में ही ऐसी नयी कृषि आन्विज्ञाने वाली है जिसने नारा समार खाद्यान्न में पट जाएगा। यदि इन लोगों का विश्वास सत्य हो तो समार में केवल उत्तर अमरीका ही ऐसा देश बच रहता है जिसमें खाद्यान्न की कमी दूर करने की आशा की जा सकती है। खाद्यान्न की कमी की आशंका करने वाले लोग अपने तर्कों के समर्थन में पिछले २० वर्षों के परिवर्तनों का लेखा-जोखा दे सकते हैं। १९४० में लेटिन अमरीका के निकट कृषि-निर्वात १६३४-३८ की अपेक्षा ३७ प्रतिशत घट गए और निकट-पूर्व और सुदूर-पूर्व के निर्वातों में भी क्रमशः २२ प्रतिशत और

६० प्रतिशत की कमी हुई। इन कमियों को दूर करने के लिए किन्हीं अन्य देशों में अनुरूप वृद्धियाँ नहीं हुई। अर्थात् व निर्यात-निर्यात १६ प्रतिशत बढ़े और प्रोडियाना के २१ प्रतिशत पर सबसे अधिक वृद्धि अमरीका न की जिसके कृषि-निर्यात बढ़ते-बढ़ते दून हो गए। अस्तुत्तन का भय इस पर आधारित नहीं है कि आयात का विश्व उत्पादन निरपेक्ष दृष्टि में समुचित मात्रा में नहीं बढ़ेगा, बल्कि यह है कि अमरीका के बाकी देश अपनी कमियों की पूर्ति के लिए अमरीका पर अधिकाधिक निर्भर हो जायेंगे। यदि अमरीका की जनसंख्या वर्तमान जैसी दगे पर ही बढ़ती रही तो सम्भव है कि अमरीका भाग चलकर आयात का निर्यात न कर सके, लेकिन फिरहाल—अर्थात् अगले २४ वर्ष या इसमें भी अधिक तक—अमरीका अमरीका की आयातों की कमी का दूर करता रह सकता है बशर्ते कि इसमें उसे कोई आर्थिक घाटा न हो।

आयात के लिए अमरीका पर निर्भर रहने में दो कठिनाइयाँ हैं, पहली आयात-निर्यात स्थिति पर पड़ने वाले प्रभावों की है और दूसरी डालरा की माँग और उनकी साज्जाई पर पड़ने वाले प्रभावों की है। अमरीका पर निर्भर रहने से आयात-निर्यात की स्थिति अन्य औद्योगिक देशों व प्रतिवृत्त हो जायगी। अमरीका की श्रेष्ठता कृषि-वस्तुओं की अनेक विनिर्मित वस्तुओं की उत्पादन-क्षमता में है। अतः यदि अमरीका आयात करता है तो उसके बदले अन्य देशों को विनिर्मित वस्तुओं के रूप में बहुत महंगी कीमत चुकानी पड़ेगी। अर्थात् अमरीका में आयात करने वाले औद्योगिक देशों को आयात किसे गए आयात के बदले बहुत अधिक विनिर्मित वस्तुओं अमरीका को भेजनी होंगी। लेकिन अमरीका को अन्य देशों की विनिर्मित वस्तुओं का आयात करने की आवश्यकता बहुत ही कम है। वह आयातों के निर्यात के बदले अधिकाधिक विनिर्मित वस्तुओं का आयात करना नहीं चाहेगा, बल्कि अपने विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात कम करके भुगतान-योग्य वस्तुओं को अपने का प्रदान करेगा। अमरीका के ऐसा करने पर विनिर्मित वस्तुओं के विश्व व्यापार में उमका योग कम हो जायगा। अर्थात् विश्व-व्यापार में अमरीका की विनिर्मित वस्तुओं की प्रतियोगिता करने की क्षमता बहुत अधिक है, अतः अमरीका के साथ में कमी करना पर्याप्त कठिन है। यह कठिनाई डालरा की कमी के रूप में प्रकट होती है। यह कमी इस बात का संकेत है कि अन्य राष्ट्र अमरीका में आयात भी आरोध रहे हैं और विनिर्मित वस्तुओं में से रहें हैं। अर्थात् अमरीका में उन्हें अमरीका के विनिर्मित वस्तुओं कम-से-कम लेनी चाहिए और दूसरे देशों में अनेकानेक अधिक आरोधनी चाहिए।

युद्धोत्तरापीत समय की कमी विश्ववृत्त देशों प्रकार की है। द्वितीय

विश्व-बुद्ध के अन्तर्गत अर्थनी और ज्ञान का औद्योगिक उत्पादन कम हो गया और ज्ञान और शक्ति के वृद्धि-उत्पादन को भी धक्का लगा, अतः विश्व के सभी देश खाद्यान्न कच्चे सामान और विनिर्मित वस्तुओं, चीनों के मागने में अमरीका पर अधिकाधिक निर्भर हो गए। जापान की वर्तमान कमी उन्नीस दूर हा मंगी यदि अमरीका पर अन्व देश की निर्भरता कम हो जाए। १९३२ में पहले मन्त्र के बाकी देशों का अमरीका में खाद्यान्न मागने की उन्नत नहीं पड़ती थी। बाकि अमरीका ही खाद्यान्न का निर्यात आयातक था। यह स्थिति फिर वापस आ सकती है यदि मन्त्र के बाकी देशों में खाद्यान्न व उत्पादन में उन्नीस वृद्धि की जा सके। यद्यपि यदि खाद्यान्न का उत्पादन उन्नीस नहीं बढ़ेगा तो विनिर्मित वस्तुओं की कृपना में खाद्यान्न मन्त्रों और औद्योगिक देशों को विश्व-बाजार में अमरीका की विनिर्मित वस्तुओं के योग में कमी करना अत्यन्त कठिन हो जाएगा। इस कठिनाई की मात्रा मुख्य रूप से इस पर निर्भर है कि स्थिति को देखते हुए बीमती में उचित समझन कितनी उन्नीस में होगा है। जापान की कमी केवल उन्नीस बात की दृष्टि है कि अमरीका अपनी विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात के लिए बहुत ही कम बीमती वस्तु बना रहा है या मूलतः आदर्यक वस्तुओं के आयात के लिए ही बहुत कम बीमती अदा कर रहा है। बीमती में उचित समझन होने पर जापान की कमी अपने-आप दूर हो सकती है, लेकिन समझन में समझ लगता है।

मक्षेप में, विश्व-व्यापार के भविष्य के बारे में कुछ भी कहना असम्भव है। अन्तिम मन्त्र के कुछ देश अपनी अर्थमस्या के लिए खाद्य-पदार्थों का प्रबन्ध स्वयं नहीं कर पा रहे, अतः मूलतः आदर्यक वस्तुओं के निर्यात आयातकों और इन वस्तुओं के निर्यात निर्यातकों के रूप में विश्व दो भागों में बँटा रहेगा और कुछ उनाधिक्य वाले देशों के विश्व व्यापार में जोर-जोर के साथ आ जाने पर यह स्थिति और भी गम्भीर हो सकती है (विश्व-व्यापार में अपना योग तेजी से बजाने वाले देशों में जापान, इटली, चीन, जावा और थायलैण्ड कम हैं)। उद्योगीकरण बढ़ने के साथ-साथ ये देश थायलैण्ड अपनी खाद्यान्न और कच्चे सामान की माँग अधिकाधिक बढ़ाएंगे। यह मुख्यतः मापस बीमती और मापस सप्लाई पर निर्भर करेगा कि बीमती दूसरे देश मूलतः आदर्यक वस्तुओं के निर्यात आयातक या निर्यात निर्यातक बन जाते हैं। अमरीका की स्थिति दो बार बदल चुकी है (पहले वह निर्यात निर्यातक था, उसके बाद निर्यात आयातक हुआ, और अब फिर निर्यात निर्यातक बन गया है) और यह नहीं कहा जा सकता कि अब अमरीका किस करवट बँटेगा। यह तो निश्चित है कि विश्व-व्यापार में निरन्तर वृद्धि होगी, लेकिन इस बारे में मौन रहना ही अच्छा है कि मूलतः आदर्यक वस्तुओं की सप्लाई करने में कौन देश प्रमुखता

प्राप्त करेंगे, या समुचित मसाले प्राप्त करने के लिए क्या बीमारे भ्रम करनी होगी।

(ख) प्रवास—अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास के अनेक कारण होने हैं जिनमें से सभी का सम्बन्ध आर्थिक विकास से नहीं होता। कुछ लोग धार्मिक राजनीतिक या जातिगत कारणों से दूसरे देशों में जाते हैं जिनके पीछे या तो अपने यहाँ के उत्पीड़न से बचने की भावना होती है या प्रचारक के रूप में दूसरे देश में अपना संदेश ले जाने की इच्छा होती है। विश्व इतिहास में प्रवास के अनेक उदाहरण मिलते हैं। मिस्र में यहूदियों का प्रवास, अमेरिका में यूरोपियों का प्रवास प्रायः ही जूनियों का प्रवास और इसी प्रकार के अन्य प्रवास। दुर्भाग्य से बीमारी जनसंख्या के पहले पचास वर्षों में उपयुक्त कारणों से जितना प्रवास हुआ है उतना पहले कभी नहीं हुआ था, जिसका कारण यही बताया जा सकता है कि विज्ञान या धन से वृद्धि होने के साथ स्वतन्त्रता और सहिष्णुता की भावना में वृद्धि नहीं हुई है। इन पचास वर्षों में साम्यवाद और फासिस्टवाद सम्बुद्ध के कारण और पैलेस्टाइन, भारत और कोरिया के विभाजनों के कारण बड़े पैमाने पर लोगों की भगदड़ और कत्ल हुए हैं। पिछले पाँच हजार वर्षों में साक्षर होना पर भी मानव-जाति अपनी किसी दुष्ट प्रवृत्ति को छोड़ नहीं पायी है।

यदि हम प्रवास के शुद्ध आर्थिक कारणों पर विचार करें तो देखेंगे कि इतिहास के कुछ सबसे भारी प्रवास दुर्भाग्य और भुगमरी से बचने के लिए हुए हैं। मध्य एशिया के मैदानों से दूरी और मंगोल आदि जातियों के भारी प्रवास का कारण प्रायः जनसंख्या का परिवर्तन बताया जाता है। हालाँकि हम ठीक से नहीं कह सकते कि वास्तविक कारण क्या था। भूमि की समस्या के अलावा लोग इसलिए भी दूसरे देशों में जाकर प्रवास करते हैं कि वहाँ उन्हें अपने देश की अपेक्षा अधिक सुरक्षा या बेहतर आर्थिक अवसर मिलने की आशा होती है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जो बड़े प्रवास आन्दोलन आरम्भ किये गए और प्रथम विश्व-युद्ध के ठीक पहले जिनकी चरम अवस्था में इन लोग भी अधिक यूरोपवासियों, चीनियों और भारतीय हर गाँव स्थायी रूप से अपने देश छोड़ रहे थे, मुख्यतः इसी कारण पर आधारित थे कि समुद्र-पार देशों में बेहतर आर्थिक अवसर उपलब्ध हैं।

आर्थिक विकास की दृष्टि से उत्पन्न का सम्बन्ध अपरिहार्य जनसंख्या के निदान से है। इस निदान के अनुसार जो देश गोभाग्य से अपने रहन-सहन के स्तर को उठाते या कोई माध्यम ढूँढ़ रिखावता है—उदाहरण के लिए शिक्षा-व्यापार का अवसर या मिर्चाई या बेहतर धोखा या प्रमत्तों के नए हेर-फेर-बैंगन कोई नयी कृषि-तकनीक—या अपनी मृत्यु-दर कम करने का कोई उपाय विचार

केता है—उदाहरण के लिए पाना की कच्चाई या मोठ-स्वच्छता में सुधार—  
 उनकी जनसंख्या में इतनी तेजी से वृद्धि होती है कि आर्थिक दृष्टि से वह  
 देश विच्छेदी हाथ में पड़ने जाता है। अतः हम ऐसा देश, जहाँ आर्थिक विकास  
 थोड़ा-बहुत हो चुका है अन्ततः अपने आर्थिक उत्पादन की स्थिति में पड़ने  
 जाता है कि उसे अपने देशवासियों को अन्य देशों में भेजना पड़ता है। विदेश-  
 परिवहन में अल्प एसा हुआ है ईसा से ७४० से ४५० वर्ष पूर्व के बीच  
 शीत उपनिवेशों की स्थापना इसका माना हुआ उदाहरण है। श्राव के जनाने  
 में आयरलैंड, ब्रिटेन मान्य इतनी शीत और आराम के उत्पन्न भी उनी  
 प्रकार के थे। इन्हीं तर्कों से उत्पन्न निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि  
 उत्पन्न ने उत्पादन की समस्या को जोड़ गहन नहीं मिलती, क्योंकि यदि  
 जनसंख्या में जीवन-निर्वाह के साधनों की सीमा बंधने की प्रवृत्ति होती है  
 तो उत्पन्न के प्रसन्न पैदा होने वाली जनसंख्या की कमी जल्दी ही पूरी  
 हो जाती है। इन्होंने पर आपद उनके कुछ उदाहरण मिल सकते हैं। लेकिन  
 ऐसा कि हम पहले देश चुके हैं, जनसंख्या की अनिश्चित वृद्धि अपरिहार्य नहीं  
 है—आपद पहले बनी गयी हो लेकिन आज तो निश्चय रूप से नहीं है।  
 मनुष्य ने जन्म और मृत्यु दोनों पर नियंत्रण करना सीखा लिया है और नदियों  
 में कुछ भी अममनव नहीं है।

उसके अनिश्चित, ऐसा कि हम देश चुके हैं, उत्पादन या स्वभाव आप  
 उत्पन्न नहीं है, जिसमें जनसंख्या बर वह भाग, जिम्मेदार देश में अल्प नहीं  
 जुटाया जा सकता, बाहर के देशों में चला जाता है। इसका एक दूसरा उदाहरण  
 यह भी है कि विदेश-आधार में अपना योग बढ़ाया जा, विविधता-उद्योगों  
 या नागरिकता, बीमा, पर्यटन-उद्योग, छिन्न-उद्योग आदि का विकास करके  
 अल्प स्वयंसे के लिए निदेशी मुद्रा बनाई जाए। इससे हम प्रथम में तो उत्पा  
 प्रिय दूर नहीं किया जा सकता कि देश के नागरिकों को अन्य स्थानों में  
 अधिक उत्तमाने के अल्प मिल सकते हैं—ब्रिटेन के ऊँचतरी मजदूरों की  
 मूर्खीयें आज प्राचीन पर काम करना अधिक मानकर सिद्ध हुआ था—  
 लेकिन उस प्रथम में अल्प उत्पादन की स्थिति को दूर किया जा सकता है  
 कि ऐसा न करने पर लोगों को शीत से मोहन नहीं दिया जा सकेगा (इसी  
 कि भारत और चीन में उस समय स्थिति है)। लेकिन यह भी हम शीत-  
 बालीय गतिरोध के सिद्धान्तवादियों से नहीं बंध सकते। ईसा कि हम इस चुके  
 हैं, उन लोगों का कहना है कि विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात-आधार बढ़ाने से  
 उत्पादन की श्राव में वेद अस्थापी गहन निवृत्त है, क्योंकि देश विदेश-  
 व्यापार में अपना योग अधिक दिन तक वापस नहीं रख सकता, ऐसी शक्तियें  
 सदिन हो उठी हैं उनके कारण देश को विदेश-आधार में अपना स्थान खो

देना पड़ता है। (देखिए इस अध्याय का गण्ड २ (क)) घन के कहते हैं कि प्राथमिक सफलता का अपरिहार्य अन्त जनाधिक्य और उत्प्रवास है। इस बात में इन्कार नहीं किया जा सकता कि विश्व-इतिहास में ऐसे घन उदाहरण मिलते हैं आपत्ति केवल 'अपरिहार्य' शब्द के प्रयोग पर है।

कभी-कभी अधिक जनसंख्या वाला देश उत्प्रवास के लिए सुविधाएँ देना चाहता है, हालाँकि गदा ही ऐसा नहीं होता। कुछ कभीना ने घन सदस्य दासों के रूप में काम करने के लिए बच है। चीन और भारत आदि कुछ देशों की सरकारों ने अन्य देशों के भग्नीकरण को बरतकर अधिक ले जाने की सुविधाएँ दी हैं—नगरबद्ध अधिकों की स्थिति अस्थायी दासों में कोई विशेष भिन्न नहीं होती। ब्रिटेन ने भी उत्प्रवास की सुविधाएँ दी हैं, १७वीं, १८वीं और १९वीं शताब्दियों में उमने अफ्रीका और वाशिंगटन के दूररे देशों में जाकर बसाया और अब २०वीं शताब्दी में लोगों को कामिनियों में जाकर बगन के लिए यात्रा-भत्त का कुछ हिस्सा सरकारी खजाने में दिया जाता है।

उस देश के सामने बड़े समस्याएँ आ जाती हैं जहाँ के लोग अन्य देशों में बसने के लिए जा रहे होते हैं। भरती करने के योग्य में उत्प्रवासियों को बचाने की समस्या के अलावा बहुत भीड़भाड़ वाले या समुद्र-यात्रा की दृष्टि में अयोग्य जहाजों में लोगों के भेजे जाने का खतरा, नया देश में मानिकों का दुर्घटन, या जाति या धर्म के कारण उत्पीड़न के प्रश्न भी होते हैं। ये समस्याएँ काफी बड़ी हैं, और अत्यन्त हीन पर भारत सरकार ने कई बार उन देशों के लिए उत्प्रवास पर शब्दी लगाई है जहाँ उनके विचार में प्रवासी भारतीयों के साथ उचित व्यवहार नहीं किया जाता। निष्ठा की समस्या भी एक बड़ी समस्या है। उत्प्रवासियों को बसाने वाले कुछ देश उन्हें आसमानों पर लेना चाहते हैं क्योंकि हमारे अर्थव्यवस्था के कारण पैदा होने वाली समस्याओं में काफी समी ही जाती है। इसी बात को ध्यान में रखकर वे अपने रूतों या अदालतों में आप्रवासियों की भाषा या भाष्यता नहीं देते, आप्रवासियों के बच्चा और देशी बच्चा के साथ अभावभाव एकता ही व्यवहार किया जाता है। अमरीका की आप्रवास-सम्बन्धी नीति का आधार यही है। सोवियत और अफ्रीका शताब्दियों में यूरोपीय महाद्वीप में आने वाले आप्रवासियों के प्रति ब्रिटेन ने भी यही नीति अपनायी थी कानून के द्वारा उनके लिए यह अनिवार्य बना दिया गया था कि उन्हें देशी अर्थों को निधुआ के रूप में रखना पड़ेगा, इसके अलावा प्रतापनित उपायों को अपने सदस्य बनाने या अन्य प्रकार में ब्रिटेनवासियों के साथ गुन मिल जाने का विशेष करने में रोक लगाया था। इन नीतियों का विशेष ऐसे आप्रवासी रखने है जो नद देश में अपनी गरहति और भाषा धर्म में जीवित रहना चाहते हैं। चीन के

उत्प्रवास्य चीन देश व प्रति अल्पसंख्यक निष्ठा छाटन के लिए तैयार नहीं है। यदि प्रवासियों नया देश व लक्ष्य व साथ धुनन-मिलन में उत्सुक बन दें तो दम्भुत जमान अनेक अनाध्य गणनीतिक कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। यही ही कठिनाइयाँ तब भी पैदा हानी हैं जब प्रवासियाँ नया नया देश उन प्रभुसत्ता जगत्तल देश व आन्तरिक मान्यता में दखन इन नया जाना है जिनमें प्रवासियों लोग जाकर बसे हान हैं। दूसरी ओर, यदि आप्रवासियाँ का धुन-मिलन जानें की अनुमति न दी जाए या उनके प्रति भेदभाव करता जाए तो उनका मूल देश निरक्षय ही विरोध करता है। जैसे कि अल्बानियाँ गणराज्य में ब्रिटेन ने चीन से विरोध प्रकट किया था और चीनकी गणराज्य में भारत न दक्षिण अफ्रीका से किया है।

इन राजनीतिक कठिनाइयों के अलावा, उत्प्रवास में धार्मिक कठिनाइयाँ भी पैदा होती हैं। उत्प्रवासियों में अधिष्ठतर २० और ३० वर्ष के बीच के लोग होते हैं। मूल देश उनके पालन-पोषण और शिक्षा पर लक्ष्य करता है लेकिन जब उनकी काम करने की उम्र आती है तब वे देश से बाहर चले जाते हैं। इन जवान लोगों के चले जाने पर देश की जनसंख्या में बड़े और आप्रियों का अनुपात बढ़ जाता है और काम करने की उम्र वाले लोगों के ऊपर अधि-धार्मिक भार पड़ता है। हाँ, यदि उत्प्रवासियों अपने पीछे छोड़े हुए लोगों का भरण-पोषण करने के लिए सपना भेजते रहें तो मूल देश के लोगों के ऊपर भार नहीं पड़ता। साथ ही, इन प्रकार से प्राप्त सपनों की सहायता में देश के भुगतान-भोग की स्थिति भी बुरी सुधार जाती है। उत्प्रवास से स्त्री-पुरुषों की संख्या का अनुपात भी बिगड़ जाता है, क्योंकि स्त्रियों की संख्या पुरुषों का उत्प्रवास अधिक होता है, वर्तमान गणराज्यों के तीसरे दशक में बारबेडोस में भारी उत्प्रवास के उत्तरगत व्यस्त स्त्रियों की संख्या पुरुषों से दूनी हो गई थी। अपने कुशल लोगों को बाहर भेजने में भी प्रायः हर देश को बड़ी हित-विचाहट होती है, विशेषकर जब यह पता हो कि लोग बाहर जाकर ऐसे प्रति-योगी उद्योग चले करेंगे जिनसे मूल देश को हानि होगी, अनेक देशों ने उदाहरण के लिए १९वीं गणराज्य में ब्रिटेन ने, इसलिए अपने कुशल स्त्रियों को बाहर भेजने पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न किया है।

मूल देशों की भाँति आप्रवासियों को बनाने वाले देशों का दृष्टिकोण भी भिन्न-भिन्न होता है और वह भी धार्मिक, राजनीतिक, जातीय और धार्मिक विचारों के उसी भिन्ने-भिन्ने रूप में प्रभावित होता है।

धार्मिक दृष्टि से, मान्य सनी देश कुशल आप्रवासियों का स्वागत करते हैं विशेषकर यदि उनमें किन्हीं नये उद्योगों को शुरू करने की सामर्थ्य हो। स्वागत की भावना तब और अधिक हो जाती है जब आप्रवासियों पूरी तरह देशों



लोगों के साथ घुन मिल जान के लिए इच्छुक हों, क्योंकि अधिकांश देश विदेशी वस्तुओं के प्रति सन्तुष्ट होते हैं। आप्रवासियों को बगान वाले देश को प्रमत्तता तब और बढ़ जाती है जब आप्रवासी देशी शिक्षुओं को अपना कौशल सिगाने के लिए तैयार हो जाते हैं। १४८६ के ब्रिटेन के वानून ने जो १५२३ में दुबारा पास किया गया, आप्रवासियों पर यह बरिदा लगा दी थी कि वे अपने बच्चों के अलावा अन्य कोई विदेशी शिक्षु न रख सकेंगे। यदि आप्रवासियों के पास कोई नया कौशल न हो, विशेषकर यदि वे सब किसी एक ही व्यापार के विशेषज्ञ हों तो अधिक कठिनाई पैदा होती है। उदाहरण के लिए, अनेक प्रकार के कौशलों की जानकारी रखने वाले आप्रवासियों के समूह की तुलना में केवल हाथदरों या छान रोदने वालों के आप्रवास का विरोध अधिक होता है। विदेशी व्यवसायियों के आप्रवास से भी इसी प्रकार की समस्याएँ पैदा होती हैं। अनेक देश इस बात के लिए जोर देने हैं कि इन व्यवसायियों को देशी लोग नौकरी में रखने चाहिए। कुछ देश चाहते हैं कि आप्रवासी केवल नये उद्योगों तक ही सीमित रहे और ऐसे नियम बना देने हैं कि आप्रवासी छोटे-छोटे देशी व्यापारियों की प्रतियोगिता में काम-धन्ये राहें नहीं कर सकेंगे। नई पैक्टियों के समान नये-नये उद्योग राहें करने के लिए आने वाले व्यवसायियों का पूर्ण निर्धारित शर्तों के अनुसार अवश्य स्वागत किया जाता है जबकि पश्चिमी अफ्रीका में आने वाले सीरियावासी या वेस्ट इंडीज में आने वाले चीनी पसारियों आदि ऐसे व्यवसायियों का काफी विरोध होता है जो केवल देशी व्यापारियों के साथ प्रतियोगिता करने के लिए आते हैं।

वैसे, बहुतसाल लोंगों के भारी आप्रवास की अपेक्षा विशेष योग्यता प्राप्त आप्रवासियों से बहुत ही थोड़ी राजनीतिक समस्याएँ पैदा होती हैं। भारी आप्रवास का स्वागत केवल बहुत ही सीमित परिस्थितियों में किया जाता है। ऐसा तभी सम्भव है जबकि देश में बहुत जमीन खाली पड़ी हो और ऐसा समझा जाता हो कि जनसंख्या बढ़ने से बड़े पैमाने के लाभ उठाए जा सकते हैं, उदाहरण के लिए अफ्रीका में आप्रवास के लिए सब तर्क द्वार खुले रहे जब तक कि वहाँ भूमि उपलब्ध थी लेकिन गारी भूमि पर बगावट हो चुकने के बाद आप्रवास के विरुद्ध इतनी आवाजें उठी कि उनकी उपेक्षा करना कठिन हो गया। राजनीतिक कारणों से भी आप्रवास का स्वागत किया जा सकता है, आस्ट्रेलिया आदि देशों से आप्रवासियों को नहीं बगा रहा, बल्कि उमरा मुसलमन उद्देश्य एगिया के विरुद्ध अपनी सुरक्षा पशाना है। आर्थिक दृष्टि में उचित न होने पर भी अजरबैजान इमीलिए आप्रवासियों को बगाने की अनुमति दे रहा है क्योंकि वह अन्य देशों में उन्मीलित सभी पदार्थों के लिए अपने देश का द्वार खुला रखना अपना कर्तव्य समझता है। ब्रिटेन और

अमरीका-जैसे कई राष्ट्रों की आप्रवास-सम्बन्धी नीतियाँ बड़ी हद तक उन्मीलित लोगों को आश्रय देने की भावना से प्रभावित रही हैं।

जहाँ तक आर्थिक हितों का प्रश्न है, आप्रवास के परिणामस्वरूप मजदूरों और पूँजीपतियों या भूस्वामियों के बीच संघर्ष छिड़ जाने की काफी सम्भावना रहती है। यदि बड़े पैमाने के उत्पादन के मान मिलने की गुंजाइश हो तो जनसंख्या के सभी वर्गों को आप्रवास से लाभ पहुँचता है, लेकिन इसमें भी पूँजीपतियों और भूस्वामियों का सबसे अधिक लाभ मिलता है। बड़े पैमाने पर आप्रवास होने से मजदूरों का घटकर आप्रवासियों के मूल देश की मजदूरियों के स्तर पर आ जाती है और बिराये एवं लाभ एकदम बट जाते हैं। इससे प्रेरित होकर भूस्वामियों और पूँजीपतियों में बाहर से दास लाने (देखिए अध्याय ३, खण्ड ८ (ख)), या भारत या चीन में करारबद्ध मजदूर लाने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। कालान्तर में इससे मिश्रित मजदूर की सामाजिक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं, लेकिन पूँजीपति और भूस्वामी इसकी परवाह नहीं करते। जब तक भूमि काफी मात्रा में उपलब्ध हो या आप्रवासियों की संख्या के अनुसार नये उद्योग खड़े किये जा रहे हों, तब तक देशी किसान या मजदूर नवागन्तुओं को सहते रहते हैं, लेकिन देश-सुर्वे के भारी आप्रवास के विरोध में अपने को संगठित कर लेते हैं और मताधिकार मिलते ही आप्रवास का मार्ग बन्द करा देते हैं।

आप्रवासियों द्वारा अपने मूल देश को भेजे जाने वाले धन से भी कई बार काफी हगामा भवता है, क्योंकि देश के आन्तरिक विकास की तुलना में यदि उसके निर्यात न बढ़ रहे हों तो इस प्रकार भेजे जाने वाले धन से कठिन समस्या पैदा हो सकती है। वैसे, प्रायः आप्रवासियों द्वारा भेजे जाने वाला यह धन भुगतान-क्षेत्र की एक छोटी-सी ही मद होती है और राजनीतिक आधार पर इसका विरोध आप्रवास के विरुद्ध सामान्य आन्दोलन के एक अंग के रूप में ही किया जाता है।

आप्रवासी कितनी जल्दी नये देश का पाट देते हैं, यह अन्य बातों के साथ-साथ आप्रवासियों में स्त्री और पुरुषों के अनुपात पर निर्भर करता है। यदि केवल पुरुष ही आकर बसें तो अगली पीढ़ी नहीं चल पाती और आप्रवासियों की देशी जनसंख्या स्थापित नहीं होती। इस दृष्टि से केवल पुरुषों का आप्रवास कोई मानी नहीं रखता। उदाहरण के लिए, लाखों अफ्रीकी दास बनाकर वेस्ट इंडीज भेजे गए थे, लेकिन उसका कोई खास नतीजा नहीं निकला। चूंकि उनमें स्त्रियों की संख्या थोड़ी ही थी, अतः आप्रवासी पुनरुत्पादन के द्वारा अपनी संख्या स्थिर नहीं रख पाए और इसके लिए प्रतिवचन अनेक दासों को खाने की वृत्त पर पड़ती रही। सभी आप्रवासी समुदायों में पुरुषों की संख्या

अधिक होती है, अतः यदि स्त्री-पुरुषों का अनुपात ठीक रखने का प्रयत्न न किया जाए तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी इनकी संख्या घटती जाती है। यही कारण है कि आप्रवास में सहायता देने वाले देश आजकल प्रायः इस बात पर बड़ा ध्यान देते हैं कि पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों भी जाएँ। बहरहाल आजकल जब कि स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले काम-धंधों का क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है, पत्नियों और माताओं के रूप में अपना योग देने के साथ-साथ अर्धकर धंधों में लगने के लिए भी स्त्री आप्रवासियों का स्वागत किया जाता है।

भारी आप्रवास के प्रति अनुसूच दृष्टिकोण होने पर आप्रवासियों को बसाने की दर बड़ी बातों पर निर्भर होती है। यह आप्रवासियों की जाति, धर्म और संस्कृति पर निर्भर करता है कि वे कितनी जल्दी आत्ममान् बन लिए जाते हैं और कुछ देश (जैसे अमरीका और ऑस्ट्रेलिया) आप्रवासियों की गप्टीयता और संख्या के बारे में निर्णय करने समय इन बातों का बड़ा महत्त्व देते हैं। आर्थिक दृष्टि में आप्रवासियों को बसाने, उमीने या नीवरियों की जरूरत होती है और उतने ही आप्रवासी बसाए जा सकते हैं जितने के लिए इनका प्रबंध किया जा सके। इस प्रबंध के लिए पूँजी की जरूरत पड़ती है। कुछ आप्रवासी अपनी पूँजी लेकर आते हैं, अथवा आप्रवासियों को बसाने वाला देश विदेशों से इस काम के लिए कर्ज ले सकता है। यदि विदेशों से धन न मिल सके तो आप्रवास की दर घरेलू बचतों की दर पर निर्भर होती है और यदि घरेलू निवेश घरेलू बचतों से बढ़ जाए तो उसका कारण पैदा होने वाले भुगतान-लेप के भारी घाटे पर भी निर्भर करती है। धन उपलब्ध होने पर भी स्थूल कारणों से पूँजी-निर्माण की दर पर अनुसूच लग सकता है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं (अध्याय १ लण्ड १) पूँजी-निवेश का ५० से ६० प्रतिशत तक अमरीकी और उतने निर्माण-कार्य में लगता है, अतः निवेश अमरीक उद्योग की क्षमता में अधिक नहीं बढ़ सकता। यदि उचित ध्यान रखा जाए तो अमरीक उद्योग को बढ़ाना मदा सम्भव होता है, लेकिन यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि अल्पसंख्यक काम के अनुसार अमरीक उद्योग की क्षमता न बढ़ने के कारण निवेश की घरेलू प्रायोजनार्थ घटपट हो जाती है। इन वित्तीय और स्थूल बटिनाइयों को देखते हुए यह कोई अचम्भे की बात नहीं है कि पिछली सताब्दी के बड़े-से-बड़े आप्रवास भी आप्रवासियों को बसाने वाले देशों की जनसंख्या के १ या २ प्रतिशत वाधिक में अधिक नहीं रहे।

नये देश में पहुँचने पर आप्रवासियों को शुरू-शुरू में प्राप्त बड़ी बटिनाई उद्योगों पड़ती है और उनमें से कुछ लोग परेशान होकर वापस लौट जाते हैं। नये देश में आने और बसा जाने की इच्छा कुछ मीमांसात्मक आप्रवासियों के लिए की गई संशयों पर निर्भर होती है। इसमें बड़ा परां पड़ता है कि

आप्रवासियों के लिए पट्टे में मकान तैयार कर लिये गए हैं, या उन्हें बँकों या नम्बुपो में रखा जाएगा, या अपनी व्यवस्था स्वयं करने के लिए छुट्टी दिया जाएगा। उन्हें आन ही नौकरियों दे दी जाएंगी, या अपनी सोजी-बहुत जमा-पूँजी बग़दाद करत हुए उन्हें शरी-शरी मकाम के लिए गाक छाननी पड़ेगी? यदि उन्हें खेती करनी है तो उनके लिए जमीन तैयार रखी जाएगी, या उन्हें स्वयं जगल काटकर जमीन तैयार करनी पड़ेगी? जमीन तक आने-जान के मार्ग बन हींगे और पानी उपलब्ध होगा या उन्हें स्वयं मडकें बनानी पड़ेंगी और अपने बुएँ खादने पड़ेगें। पट्टी प्रदान तैयार होन तक वे किस प्रकार अपना जीवन निर्वाह करेंगें या खाद और पशु-धन में लगाने के लिए या अन्य पूँजीगत कार्यों के लिए पैसा कहां से लाएंगें? लोगों को जमीन पर बसाने का काम बड़ा कठिन रहा है। आप्रवासियों के लिए जमीन तैयार रखने पर, और उनके आवास और कार्यकर पूँजी के लिए मोटी रकमों की व्यवस्था करने पर कुछ सरकारी ने बड़ा पैसा खर्च किया है। दूनरी और, जैसे मुनाशा में, आप्रवासियों के लिए यह भी बड़ा मुश्किलजनक रहा है कि वे अपने पहले मौज्जद के दौरान दूसरे किसानों के साथ रहें, उनके यहां मजदूरी पर काम करके देश के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करें, कुछ पैसा बचाएँ और कुछ मित्र बनाएँ। चूँकि आप्रवासियों का बहुत छोटा-सा अंश ही कुशल किसानों के रूप में शोका है, अतः जैसा कि गिबन बेकफ्रीन्ड न कहा है, "मह शायद बड़ा वादनीय है कि आप्रवासियों को अपने कामों पर खेती शुरू करने से पहले शहरों में या कामों पर कुछ समय के लिए नौकरी करनी चाहिए।"

अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास से सर्वाधिक कठिनाइयाँ तब पैदा होनी हैं जब उनके पनस्वरूप दो भिन्न भिन्न जातियों, धर्मों या मन्त्रियों के लोग एक दूसरे से मिलते हैं। पिछले उदाहरणों से पता चलता है कि आप्रवास के पनस्वरूप किसी-किसी देश के आदिवासी पूँजि या असात नष्ट हो गए हैं। अनेक बार आदिवासी केवल इसीलिए समूल नष्ट हो जाते हैं कि नवागन्तुक अपने साथ कोई ऐसी विचित्र बीमारी लाते हैं जिसकी प्रतिरोधक शक्ति आदिवासियों में मौजूद नहीं होती—हालाँकि कुछ मामलों में इससे उलटी बात भी हुई है। उदाहरण के लिए, पश्चिम अफ्रीका के तटीय लोग उत्तर में आने वाली सेबे मक्की के उत्पाद से इसीलिए बच सके कि उसने मुसलमानों के घोड़े मार डाले, और समुद्री मच्छरों ने इसलिए बच सके कि उन्होंने मलेरिया और पीना बुझार पीलाकर यूरोप में आने वाले आप्रवासियों को स्वस्थ कर दिया। बीमारियों के अलावा, दाम बनाकर या जमीनों से खदेड़कर या अन्य किसी व्यवहार से भी देशी लोगों का सफाया किया जा सकता है—इस प्रकार एंगो-सैबमनों के आने पर सेन्टो, जुनुपो के आने पर होटेनटोटो, अमरीकियों के

आने पर रेड इडियनो या यूजीनैट्स का आन पर माथरिया का सफाया कर दिया गया। बहुत कुछ तो इस पर निर्भर करता है कि आप्रवासियों के मुकाबले देशी लोग की संस्कृति कितनी दृढ़ है। सभी कभी पराजित जातियाँ ही विजेताओं को आत्मसन्तुष्ट कर नहीं हैं जैसे मुसलमानों ने तुर्कों को किया या चीनियों ने मंगोलों का किया।

यदि एक ही देश में दो संस्कृतियों के योग साथ-साथ रह रहे हों तो उनकी प्रतिपत्तितात्मक शक्ति प्रायः एक समान नहीं रहती। यही घोर अर्थ मलायी और चीनी भारतीय और अफ्रीकी बाघन और अग्रज भारतीय और अर्मी अग्रज और फ्रांसीसी काठियन इन्हीं और मुसलमान सभी के साथ यही बात है। प्रतिपत्तितात्मक शक्ति के इन अंतरों का कारण कभी कभी जाति बताया जाता है लेकिन यदि जाति से हमारा इतरा जीवामक क्षमता से है तो इसमें कोई विषय राक्षस नहीं माना जा सकता क्योंकि जातियों की जीवा मरता के बाद में हमारा जान अभी बहुत बड़ा है। कुछ लोग इन अंतरों का सम्बन्ध धर्म से भी जोड़ते हैं लेकिन इसका अनोचित्य हम पहले ही देख चुके हैं (अध्याय ३ पृष्ठ ८ (क)) (बोस भी आगिर काल्विन के अनुयायी हैं और यह माना जाता रहा है कि गत्यात्मक ध्याव साधक शक्ति को बढ़ावा देने में काल्विन का मत सबसे प्राण है)। वास्तव में मुख्य कारण आप्रवासियों की मनोवृत्ति मानुस हानी है। आप्रवासी चुन हुए लोग होते हैं व अपनी स्थिति को अंतर बनाने के लिए ही अपना देश छोड़ते हैं। स्वयं आप्रवास की परिस्थितियाँ उन्हें अधिक पैसा बना देती हैं क्योंकि इसका दौरान में एक नये पर्यावरण के सम्पर्क में आते हैं और उनकी आनाचना शक्ति भी बढ़ती है (हर आप्रवासी की उम्मीद होती प्रतिक्रिया यह होती है कि वह हर नये चीज की आलोचना करता है)। उनमें देशी लोगों को नीची नजर से देखने की और उन पर अपनी बेहतर वापक्षमता की धार जमान की सहज प्रवृत्ति होती है। वही-वही आप्रवासी समुदाय के लोग एक दूसरे की सहायता करने औरियों शिवा और रखा उदार मन में कोई उत्तर नहीं उठा गये परिणाम यह होता है कि देशी समुदाय की अग्रणी आप्रवासियों का समुदाय शक्ति उत्पन्न करता है क्योंकि देशी समुदाय आप्रवासियों के अग्रणी अग्रणी ही सीमित रगन के लिए विषय प्रयत्नगत नहीं होता। आप्रवास का स्मृति धुंधली पड़ जाने पर ये प्रवृत्तियाँ बदल जाना है तीसरी या चौथी पीढ़ी में जाकर आप्रवासी देशी लोग से इतने दूर मिल जाते हैं कि उन्हें अलग से पहचाना भी नहीं जा सकता (जैसे योपका में भारतीय) और इसके बाद यदि किसी दूसरी जाति के साथ आन है तो ये सभी आप्र हुए इन आप्रवासियों को भी काल्विन समझकर उनका ही नीचा नजर में रखते हैं जैसी

से उठाने मूल निवासियों को देना था ।

यदि दो जातियों के लोगों को बिना बट-भंग के एक ही देश में रहना हो, तो उनकी जातियों का कोई आर्थिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए । कहने का तात्पर्य यह है कि सभी सामाजिक वर्गों में धाय व सभी स्तरों पर, और सभी वर्गों में दोनों जातियों के लोग होने चाहिये और उनकी प्रतियोगितात्मक शक्ति भी बराबर होनी चाहिए । यह सबसे अधिक शिक्षा पर निर्भर करना है । दोनों जातियों के बच्चों की शिक्षा पर प्रति व्यक्ति खर्च बराबर होना चाहिए, और यदि सम्भव हो तो उन्हें एक ही स्कूल में पठाना चाहिए । उनके अभाव, भूमि के स्वामित्व की कुछ अप्रवासी समुदायों में खुदरा व्यापार में विशेष-ज्ञान और 'एकाधिकार' प्राप्त करने की प्रवृत्ति की, महर्गकरण की शक्ति का भी, और इसी प्रकार की अन्य समस्याएँ भी हैं । यदि दोनों जातियों की स्थिति इन मामलों में एकसाँ न हो—उदाहरण के लिए यदि अप्रवासी अपेक्षाकृत अधिक शिक्षित हो, या उन्हें व्यवसाय का अधिक अनुभव हो—तो देशी लोगों के बच्चों की शिक्षा का खर्च निकालने के लिए अप्रवासियों पर भारी कर लगाने चाहिये, और इसी प्रकार की अन्य नीतियाँ बनानी चाहिये जिससे दोनों जातियों के लोग समान स्तर पर आ सकें । वास्तव में, समान स्थिति में साथ-साथ रहने के लिए सहिष्णुता की आवश्यकता होती है जिसका प्रायः अभाव पाया जाता है, अतः इसे उपर से लागू करना पड़ता है । सर्वश्रेष्ठ साम्राज्यवादी शासकों—रोमन साम्राज्य, आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य, आटोमन साम्राज्य और ब्रिटिश साम्राज्य—की सबसे बड़ी खूबी कम-से-कम लड़ाई-भंगे के साथ भिन्न-भिन्न जातियों को साथ-साथ रखने की योग्यता थी । सदा तो नहीं पर अविनाश मानकों में इसका रहस्य साम्राज्यवादी जाति में अल्पसंख्यकों के प्रति अनादर की भावना से उत्पन्न तटस्थता और साथ ही हर व्यक्ति को अपना काम-पन्ना स्वतन्त्रतापूर्वक करने देने की उदार भावना, और लोगों के बीच शान्ति बनाने रखने की उच्छा थी ।

इसके विपरीत, साम्राज्यवादी शासन की स्थिति तब बहुत खराब होती है जब सरकार साम्राज्यवादी जाति के केवल मुश्की-भर लोगों के हाथ में होती है जो देशी लोगों की भारी संख्या की प्रतियोगिता में आकर जीविका बनाने का प्रयत्न करते हैं । ऐसी स्थिति में साम्राज्यवादी देशों में आकर बसने वाले लोगों के लिए स्थान बनाने के खयाल से देशी लोगों को उनकी जमीनों से खदेड़ दिया जाता है, या दाम बनाकर, या कराधान के जरिए दाख्य करके या दूसरी आर्थिक उबरदस्तियाँ करके उन्हें खानों, बागानों या घरेलू नौकरियों में जाने के लिए मजबूर कर दिया जाता है; और काम-धंधों में ऐसी जातीय बन्धियों लगा दी जाती हैं जिससे सर्वाधिक लाभप्रद काम और व्यापार

केवल साम्राज्यवादी जाति के सदस्यों के लिए ही रक्षित रह जाते हैं। त्रिम जाति के प्राथमिक हित निष्पक्षता को दबा दे यह जाति किसी दूसरी जाति पर शासन करने योग्य नहीं होती।

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान यूरोपवासियों के उत्तर या दक्षिण अमरीका या आस्ट्रेलिया में भारी आप्रवासन में इन तरह की कोई भी समस्याएँ उभर रूप में पैदा नहीं हुईं, क्योंकि खासतौर पर दबने हुए इन महाद्वीपों की देशीय जातियाँ छोटी थीं और उनमें अधिक प्रतिरोध की शक्ति भी नहीं थी। लेकिन यूरोपवासियों के एशिया और अफ्रीका में प्रवास, और जापानी, भारतीय और चीनियों के अन्य एशियाई देशों में या अफ्रीका, आस्ट्रेलिया या अमरीका में प्रवास की बात बिलकुल दूसरी थी। यदि समूह समार के दृष्टिकोण से देखा जाए तो इन समय प्रवास की सर्वाधिक आवश्यकता भारतीयों, जावा निवासियों, चीनियों और जापानियों का है जिन्हें बाह्य इंडोनेशियाई द्वीपों, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और दक्षिण एशिया, उत्तर अमरीका में बसाया जाना चाहिए। लेकिन समूह समार का दृष्टिकोण-जैसी कोई चीज नहीं है। अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि देश आप्रवासियों को बसाने के लिए तैयार नहीं होंगे, क्योंकि इनमें जातीय समस्याएँ गंभीर हो जाती हैं। इनके अलावा यदि काफी बड़ी संख्या में आप्रवासियों भेजे जाएँ तो उत्तर और दक्षिण अमरीका तथा आस्ट्रेलिया के रहने-गहने के स्तर में भी काफी गिरावट आ जाएगी। आप्रवासियों के बसाने के विरुद्ध यूरोपवासियों प्रायः यह तर्क देने हैं कि भारतीय और चीनियों की अपनी जनसंख्या इतनी बढ़ाने का कोई हक नहीं है, और यदि वे बढ़ाने हैं तो उन्हें दूसरे देशों में अपनी भारी जनसंख्या के परिणामों को भुगतने के लिए नहीं कहना चाहिए। लेकिन भारत या चीन की विशेषता उत्तर और दक्षिण अमरीका तथा आस्ट्रेलिया में जनसंख्या की महत्व वृद्धि-दर अधिक है, और यदि भारत एवं चीन की जनसंख्या घटकर १० प्रति हज़ार भी रह जाएँ तो भी जातीय या प्राथमिक कारणों से बड़े पैमाने पर इनके प्रवास का इतना ही विरोध किया जाएगा।

इन समस्याओं के भविष्य के बारे में इन समय कुछ नहीं कहा जा सकता। त्रिम देश के लोगों को जगह की कमी न गताया है वे सदा ही दूसरे देशों में गये हैं, और युद्ध के उदरित वहाँ के लोगों की जमीनें छीन ली हैं। इनमें उद्देश्य में आप्रवास दो सहाइयाँ छेद मुक्त है और कोई बचक नहीं है कि एक-एक दिन भारत और चीन भी ऐसा ही न करें। यह शोचनीय अन्धा सत्यता है कि प्राथमिक विभाग अतिशयतः सामंजस्य पैदा करता है त्रिमों-लोगों को बिना न्याय-भंग के वे साधन-साधन रहते का व्यवहार मिलता है, लेकिन वास्तव में यह बात सत्य नहीं है। इनके विपरीत, अनेक भिन्न-भिन्न विचारों वाले लोग कह

चुके हैं कि आर्थिक विज्ञान की परिभाषा अत्यन्त साम्राज्यवाद और युद्ध के रूप में होती है जिस पर हम सभी विचार करेंगे ।

(ग) साम्राज्यवाद—साम्राज्यवाद के कारण पूर्णतः आर्थिक नहीं है, लेकिन इसके राजनीतिक कारण भी आर्थिक विज्ञान की धारणा में कुछ-न-कुछ सम्बन्धित अन्तर्गत हैं । हम पहले उन कारणों पर विचार करेंगे जो आर्थिक माने जाते हैं उनके बाद राजनीतिक कारणों पर विचार करेंगे और अन्त में घोषित जनता और साम्राज्यवादी राष्ट्र दोनों पर साम्राज्यवाद के प्रभावों की चर्चा करेंगे । यह बहुत बड़ी समस्या है जिसका आर्थिक विज्ञान के क्षेत्र में कोई-सी सम्बन्ध है अतः हम इन पर बहुत अधिक नहीं विचार करेंगे ।

कुछ राष्ट्र साम्राज्यवाद और युद्ध की ओर हमारा अनुभव करते हैं कि उन्हें अपने देशवासियों को बनाने के लिए आर्थिक और बहुराजनीतियों की आवश्यकता होती है । हम पहले देख चुके हैं कि आर्थिक विज्ञान का एक परिणाम यह भी हो सकता है । आर्थिक विज्ञान का पहला ही परिणाम यह होता है कि हमने जनसंख्या बढ़नी शुरू हो जाती है, और इस बात की बाड़ी सम्भावना रहती है कि कुछ समय बाद हम अपनी दली जनसंख्या के लिए अन्न नहीं जुटा पाएंगे । ऐसी स्थिति में या तो प्रवास का सहारा लेना पड़ता है, या विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात-व्यापार बढ़ाना पड़ता है या किसी दूसरे देश से नजरें बमूल करने की कोशिश की जाती है । इन तीनों में से किसी भी उपाय के परिणामस्वरूप युद्ध छिड़ सकता है ।

प्रवास के कारण युद्ध तब छिड़ता है जब दूसरे देश आर्थिकियों को बनाने में इन्कार कर देते हैं या उनके साथ कुछ व्यवहार करते हैं, या आर्थिकी वहाँ जाकर देशी लोगों को उनकी जमीनों से अदेहर, या उनके राजनीतिक अधिकार छीनकर या उनका निरकुल सफाया करके उन्हें अपदम्य करने का प्रयत्न करते हैं । आर्थिक दृष्टि में समस्त राष्ट्र अपनी जनसंख्या की समस्याओं को सुलझाने के लिए दूसरे देशों के समझौते लोगों की जमीनों छीनना का मुदिवाजनक उपाय मानते हैं । नजरें बमूल करना इसी में सम्बन्धित है, और इसके भी कई रूप होते हैं । पण्डित लोगों का पूरी तरह सफाया कर देना सदा ही सामंदायक नहीं होता । फायदा इसी में रहता है कि उन्हें दास बना लिया जाए, और निरन्तरियों के खान के लिए स्थानों या बागानों में काम पर लगा दिया जाए । या यह भी किया जा सकता है कि उन लोगों को इन्हीं की जमीनों पर विरासतदारों के रूप में रखा जाए, और उनसे उत्पादन के पचास प्रतिशत या उनसे भी अधिक के बराबर विरासत और कर बमूल जिने जाएं । मनुष्य में मरते माथियों का शौराग करने की प्रवृत्ति वस्तुतः असीम है ।

शौराग की इस प्रवृत्ति को सब मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि



साम्राज्यवाद के मूल मर्यादित आवश्यक्ता का होना अनिवार्य नहीं है। सम्भव है कोई राष्ट्र जनमर्यादा की वृद्धि या अन्वय के भय से दूसरे देश पर आक्रमण करे लेकिन ऐसा होना अनिवार्य नहीं है। आशान्ता वम जनमर्यादा वाला राष्ट्र भी हासबता है जिगवा प्रमुख उद्देश्य मानर गोपण हा। इमी प्रकार अरिब उन्नत राष्ट्र ही गदा वम उन्नत राष्ट्र पर आक्रमण नही करत। वरर जानियाँ भी अकगर विनी धनी और शान्तिप्रिय गम्यता का नृत्न र उद्देश्य मे आक्रमण कर दती हैं। ईसा मे ६००० वष पूव जमकि महान नगर गम्यताएँ जम्मी यूरोपिया महाद्वीप का इतिहास बताना है कि तानाबदान पुढसकार जातियाँ प्राय अपने घाम के मैदाना मे निरकर अग्रभातृन एनी रिगात बस्त्रियो पर आक्रमण कर देती थी। तानाबदान जातियाँ के य गमय समय पर होने वाले भीषण अभियात आधुनिक समय म ही जातर गम प्त हुए जव कि प्रौद्योगिक उन्नति के कारण नगर गम्यताप्रा की गे-व तर्का निश्चित रूप मे उनमे छेप्ट हा गई। पश्चिम मूडान (अफ्रीका) म भी उनीमवी शतादी के अन्त तक एमी ही घटनाएँ हाती रही। आधुनिक विराग र कारण जहाँ पर आर उन्नत राष्ट्रों को दूसरा पर बल-प्रयोग करने का मोता मितता है वहाँ दूसरी और उन्नत शान्तिप्रिय राष्ट्रों को नृत्ने के प्रयत्न भी किय जान है।

प्रवाम और नदरें बगून करने के अलावा जनामिय की ममस्या मुन-भाने का नीगरा उपाय विनिमित वस्तुओं के निरान व्यापार का विराम, परि-कहन के धेय म विशेषज्ञता या अन्य प्रकार की निषान-मरण उपरन्ध बरना है। उदार सगार म यह उपाय बिना युद्ध के अचनाया जा सकता था लेकिन दुर्भाग्य से सगार उदार नहीं है। हो सकता है दूसरे राष्ट्र जनाधिक्य वाले देश मे विनिमित वस्तुएँ मनीदना न चाट, या अया ही नोपग्विवहन का मरक्षण करने पर जोर दें। ऐसी स्थिति म अनुदार राष्ट्रों व्यापार के लिए मजबूर करने की दृष्टि मे मुद्ध छेडा जा सकता है। मानसी और सपहरी शताब्दियो म यूरोपीय राष्ट्रों न लेटिन अमरीका म स्वन के गिराएर मुद्ध छेडने का एक कारण यह भी बताया था इमी वजह म उनीमवी शताब्दी म यूरोप, चीन और जापान व गम्यन्ध विगडे थे और म नी एक कारण था कि हर यूरोपीय राष्ट्र अफ्रीका के एक न-एक रिगमे पर अचना करवा करना चाहता था। 'उदार' युद्ध का उद्देश्य व्यापार आरम्भ करना हो सकता है, जबकि 'अनुदार' युद्ध व्यापार के लिए विशेष गुविषाएँ प्राप्त करने की दृष्टि मे छेडा जा सकता है। साम्राज्य का एक उपयोग यह है कि शान्ति जतना को अँधी कीमत पर साम्राज्यवादी देश म बनी चीजें मनीदन और साम्राज्यवादी देश के हाथो अग्रभातृन मन्ती कीमतों पर अचना मान बचन के लिए विवना किया जाता है। ब्रिटिश साम्राज्य ने १८६६ और १९१६ व बीच यह

नीति त्याग दी थी, लेकिन उमका यह काम एक अपवाद ही माना जाएगा। जिन देशों की जीविका का मुख्य साधन नौरग्वहन या विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात है व दर-नंबर 'उदार' या 'अनुदार' युद्ध की और प्रवृत्त उन्मुख होने हैं। जर्मनी और जापान इसके सबसे ताजा उदाहरण हैं और यदि युद्ध की सम्भावनाओं को समाप्त करने वाले नये राजनीतिक मन्थान स्थापित न किये गए तो अन्य राष्ट्र भी निस्सन्देह ऐसा ही करेंगे।

वाजारे की खोज, विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के प्रयत्न और खाद्य एवं कच्चे सामान के स्रोतों की खोज सब एक ही बात के भिन्न-भिन्न पहलू हैं। इसका सम्बन्ध हम तर्क के माध्यम नहीं जोड़ना चाहिए कि अपने उत्पादन का स्वयं उपभोग न कर पाने के कारण विनिर्माता राष्ट्र को विदेशों में मात्र उपाने की आवश्यकता पड़ती है। आयातों का भुगतान करने की दृष्टि से निर्यात करना, और उपभोग एवं उत्पादन के अन्तर को बनाए रखकर निर्यात करना अलग-अलग बातें हैं। कोई विनिर्माता राष्ट्र खाद्य आयात करने के लिए अपनी विनिर्मित वस्तुओं को विदेशों में बेचने के प्रयत्न कर सकता है। यदि राष्ट्र की वृद्धि-उत्पादकता को देखते हुए जनसंख्या अधिक हो तो यह वस्तुतः अनिवार्य हो जाता है। एक दूसरी सम्भावना यह है कि कोई छोटा देश इसलिए निर्यात करना चाहता है कि जब तक वह कुछ विशेष चीजों के उत्पादन में विशेषज्ञता प्राप्त न करे तब तक उसे बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ नहीं मिल सकते, अतः वह अपनी आन्तरिक आवश्यकता से अधिक बरतुएँ तैयार करके उसके बेसी भाग का निर्यात कर देता है। इन निर्यातों के बदले वह आयात भी करता है, जो या तो विनिर्मित वस्तुएँ हों सकती हैं या मूलतः आवश्यक वस्तुएँ। सभी छोटे-छोटे विनिर्माता राष्ट्र (उदाहरण के लिए हालैंड और स्वीडन) इसी नीयत से निर्यात करने हैं। और यह भी एक कारण है कि विनिर्माता राष्ट्र स्वयं बड़ी मात्रा में विनिर्मित वस्तुओं का आयात करते हैं, जैसे हालैंड और स्वीडन, जो खाद्य की दृष्टि से आत्म-निर्भर हैं अपनी विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात के बदले दूसरी विनिर्मित वस्तुओं और कच्चे सामानों का आयात करते हैं। यह उग गिनति से बिलकुल भिन्न है जिसमें विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात इसलिए किया जाता है कि अन्तरिक्ष बाजार में उनसे जहाँ अधिक उत्पादन से कम होती है। यदि इन प्रकार की निवल कमी होती है तो निर्यात के बदले मंगायी गई आयात-वस्तुएँ आन्तरिक बाजार में नहीं खपाई जा सकती।

यह तर्क कि किसी उन्नत औद्योगिक राष्ट्र को अपनी पूंजी का निर्यात इसलिए करना पड़ता है कि उसकी आन्तरिक मांग कम होती है, हमें वापस दीर्घकालीन गतिरोध के सिद्धान्त पर ले जाता है जिसके बारे में हम प्रथम

५, राण्ड ३ (घ) में विचार कर चुके हैं। यदि उपभोग की अवस्था बचत अधिक तन्वी से बढ़ रही है और यदि निवेश मुख्य रूप से उपभोग से ही निर्धारित होता हो तो सारी बचतों का देश के अन्दर ही इस्तेमाल करने योग्य निवेश के अक्षर अर्थ नहीं रहेगा या कम-से कम इन बचतों को प्रतिफल की उचित दर पर निवेश के लिए नहीं दिया जा सकेगा। जैसा कि हम देण चुके हैं अधिनाश प्रयोजनात्मिकों का यह मत रहा है कि पूँजी-मध्य के परिणामस्वरूप आर्थिक विकास की बाढ़ की अवस्थाओं में पूँजी की लाभप्रदता कम हो जाती है। हम यह भी देण चुके हैं कि यदि नये आविष्कार पर्याप्त मात्रा में किये जाने रहें तो सभी स्थिति आना अनिवार्य नहीं है, क्योंकि तब पूँजी की माँग लगातार बन्दी रहती। निवेश की दर आर्थिक विकास के साथ-साथ मित्त जाना अनिवार्य नहीं है। इसके विपरीत, हम यह भी देण चुके हैं कि अनेक कारणों से विदेशी निवेश अधिक लाभप्रद छिड़ हो सकता है। (अध्याय १, राण्ड २ (ग)), और इसके साथ-साथ उन अनेक कारणों पर भी चर्चा कर चुके हैं जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नेतृत्व एक राष्ट्र में दूसरे राष्ट्र के हाथ में चला जाता है (इस अध्याय का राण्ड २ (ब) देखिए)। निष्कर्ष यह है कि यद्यपि यह अनिवार्य नहीं है कि अधिक विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं को कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में कुछ निवेश करना लाभप्रद दिखायो ही दे पर हमें कई आश्चर्य की बात नहीं है कि वे प्रायः हम प्रकार का निवेश करते हैं।

अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जो देश विदेशों में पूँजी-निवेश करना चाहे उसे माझाग्यवाद या युद्ध का सहारा लेना अनिवार्य है। बन्धुत विदेशी निवेश का बड़ा भाग उपनिवेशों में नहीं लगा होता, सबसे बड़े उधारकर्ता देश अमरीका कनाडा, आस्ट्रेलिया और अर्जेंटीना रह हैं—इन सभी की सरकारें पूर्णप्रभुत्वगम्य नहीं। विदेशी निवेश के लिए युद्ध छेड़ना आवश्यक नहीं है लेकिन इसकी सम्भावना कम हो सकती है जबकि यह देश, जिनमें विदेशी लोग पूँजी लगाना चाहते हैं या तो इनके लिए रिफायमें देने को तैयार नहीं होता या भिन्न भिन्न उधारदाताओं के बीच भेदभाव करता है, या अपने वायदे तोड़ने के प्रयत्न करता है। हम तरह की दिमी भी कार्रवाई से 'उधार' सुख छिड़ सकता है, जिसका उद्देश्य निवेश के अक्षर अर्थ में रचना, व्यवहार की सम्मानना और गविदों के प्रति आदर-भाव पैदा करना हो सकता है। कम विकसित देश प्रायः हम तरह की लक्ष्यों में फँस जाते हैं, क्योंकि वे विदेशियों के प्रति गहानु होते हैं या उचित रिफायमें नहीं देना चाहते, या अपने वायदों को पूरा करने में ढीले होते हैं, जिस नायद इनका पत्रका उदाहरण है। एक और जहाँ ऐसे दो देशों के बीच उधारदाता अन्तः पर युद्ध

की गुजाइश नहीं होती जिनके दृष्टिकोण, मन्वृत्तियाँ और वानुनी सम्पत्तियाँ एक-दूसरे में मिलते जुलते हैं, वहाँ दूसरी ओर यह लगभग अनिवार्य होता है कि उन अर्थोद्योगिक राष्ट्रों के पूँजीपति कम विकसित देशों की प्रयाशों और नसयानों से इतने परेशान हो जाते हैं कि या तो वे उन देशों में पूँजी निवेश के लिए तैयार ही नहीं होते या फिर उन्हें साम्राज्यवादी शासन के अन्तर्गत लेना चाहते हैं। इतनी ही सम्भावनाएँ 'अनुदान' युद्धों की भी हैं जिनमें कोई देश अपने निवेशकर्ताओं के लिए ऐसी विशेष सुविधाएँ प्राप्त करना चाहता है जो या तो अन्य किसी विदेशीय या प्राप्त नहीं, या जिनसे उस देश के लोगों को हानि पहुँचती हो जहाँ निवेश किया जाना है। साम्राज्य से एक लाभ यह होता है कि न्याय और वागमानी में काम करने के लिए पर्याप्त अधिक उपलब्ध होने रहते हैं, और विदेशी पूँजी की उम्मीदों को दबाने हुए दयान्दात महकें और बन्दरगाह बनाए जा सकते हैं। कमजोर जातियों में फ़ायदा उठाने की प्रवृत्ति बड़ी बलवती होती है, और सबत राष्ट्र इस पर अमल करने का लोभ मबरण नहीं कर पाते।

इन प्रकार, साम्राज्यवाद और युद्ध के अन्तर्गत आर्थिक बाग्य हो सकते हैं, जिनमें कुछ कारण 'आवश्यकताजन्य' होते हैं—जूमि और भूमि, बाजार और मूलतः आवश्यक वस्तुओं की कमी—और कुछ 'लोभजन्य' हो सकते हैं—ईर्ष्या, शोषण की इच्छा, या अधिक लाभप्रद बाजारों की खोज। इन सब कारणों को दूर करने के उपाय उन लोगों ने सुनाए हैं जिनका विश्वास है कि युद्ध के मुख्य कारण आर्थिक होते हैं। इन प्रकार एक 'उदार' दृष्टिकोण यह है कि यदि सभी देश मुक्त व्यापार-नीति अपनाएँ और किसी प्रकार के प्रति-द्वन्द्व न रखें तो युद्ध के खतरे कम हो सकते हैं, निश्चय ही इससे साम्राज्य स्थापित करने के विरोध लाभ नहीं रहेंगे क्योंकि तब कोई देश, प्रवास, व्यापार, या निवेश के ऐसे अवसर उपलब्ध नहीं कर सकेगा जो किसी अन्य देश के लोगों को उपलब्ध न हो, और अन्य राष्ट्रों द्वारा अपने को बचिन नष्ट दिए जाने के भय से किसी को उपनिवेश स्थापित करने से आकर्षकता भी नहीं रहेगी, लेकिन कौन कह सकता है कि हर देश इन प्रकार की प्रतिद्वन्द्वीय व्यवस्था में योग देता रहेगा? इसके अलावा शासक और शक्ति के सम्बन्धों का मुद्दा भी है, जब तक शोषण के तरीके बने हुए हैं तब तक कुछ देश दूसरों पर शासन करने के इच्छुक रहेंगे। इसका समाधान उन विचारकों के पास है जो चाहते हैं कि युद्ध के खतरों को कम करने के लिए सभी साम्राज्यवादी शक्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय मरक्षण के अधीन कर दी जाएँ, या सारे उपनिवेश अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के अधीन हो जाएँ। इनमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि बदले में कोई लाभ मिले बिना ही साम्राज्यवादी शक्तियों को उपनिवेशों का विकास

करने पर भारी गन्ध तरापीट तो सामंजस्यवाद की लक्षप्रियता कम हो जाएगी। एक सम्प्रदाय या यह भी विश्वास है कि युद्ध की सम्भावनाएँ कम करने का एकमात्र उपाय यह है कि कम विकसित देशों का तर्की में विकास किया जाए ताकि ये कमजोर और शोषण के पात्र न बनें। इसमें भी कोई गन्देह नहीं है कि यदि कमजोर राष्ट्र मजबूत हो जाएँ तो पहले से मजबूत राष्ट्रों में उन पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति कम हो जाएगी। इसका अर्थवा एक दृष्टिकोण हीनता का है जिसमें अन्तर्जातियाँ न अपना विषय है जिसका अनुसार युद्ध का कारण विद्वेगी निरोग है जो देश में लालची की दर कम हो जाने पर किया जाता है और लालची की दर तब कम होती है जब उपभोग घटता होता है। अतः युद्ध रोकने का उपाय यह है कि सरकारी खर्च बढ़ाकर या कराधान को जटिल उपभोग बढ़ाया जाए यदि अथ व्यवस्था पूँजीवादी हो और यदि अथ व्यवस्था समाजवादी हो तो या तो यही उपाय अपनाये जाएँ या इनके प्रतिरिक्त निवेश की दर और उपभोग के स्तर का सम्बन्ध भी तोड़ दिया जाए। युद्ध रोकने के लिए समाजवाद न तो आवेद्यक है और न उम्मीद पर्याप्त कारण। यदि युद्ध जनसाधक के कारण पैदा हो या लालची और कच्चा सामान प्राप्त करने की जरूरत के कारण हो या क्रूरता जानिये का शोषण करने की इच्छा से हो तो ये सभी कारण जिस प्रकार पूँजीवादी समाज में पैदा हो सकते हैं उसी प्रकार समाजवादी समाज में भी हो सकते हैं जहाँ तक मूल स्पार्टावादिता के आधारों सम्बन्धों का प्रश्न है स्पार्टा मनभोग एक साम्यवादी समाज था।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि युद्ध के कुछ कारण आर्थिक भी हैं और इन्हें दूर करने के उपायों से युद्ध की सम्भावना कम हो सकती है। लेकिन केवल आर्थिक नीति से युद्ध का उन्मूलन नहीं किया जा सकता, क्योंकि युद्ध के मूल में अन्तर्गत रूप से या मुख्य रूप से आर्थिक कारण ही नहीं होते। मिस्र और नूब पर और सीडर न पश्चिम पर इसलिए आधिपत्य नहीं किया था कि उन्हें व्यापार निवेश या भूमि के प्रति कोई विशेष आकर्षण था। यह बताना बड़ा कठिन है कि युद्ध में आर्थिक कारणों का योग कितना रहा है। यदि हम विश्व इतिहास के सभी युद्धों का अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि इनमें से अधिकांश का बाजारों या जनसंख्या की समस्या से बहुत ही छोटा सम्बन्ध था, वे मुख्य रूप से यंगमों के आर्थिक या सैन्यिक कारणों से लड़े गए या पूरता-प्रदान या अन्तर्जातीय स्थापित करने की इच्छा से प्रेरित थे। यद्यपि इन युद्धों का भी एक आधिकांश पट्टा था, लेकिन प्रायः यह मुख्य पट्टा नहीं था। इस प्रकार में आर्थिक विभाग का सम्बन्ध इतना ही है कि आर्थिक रूप से मजबूत होने के बाद ही किसी देश में साम्यवादी महत्त्व प्राप्त करने की इच्छा

पैदा होती है। यदि कोई देश आर्थिक दृष्टि में सफल हो जाता है, और दूसरों की तुलना में अधिक धनवान बन जाता है तो उसमें राजनीतिक बहिष्कार के विचार पैदा होते हैं जिनसे प्रेरित होकर वह सैन्य-वृत्ति अपना सकता है। लेकिन सदा ही ऐसा नहीं होता। इतिहास में प्रायः ऐसे धनी राष्ट्रों का उदाहरण मिलता है जो शान्तिप्रिय व्यापारी के रूप में चलते रहते हैं और उन पर सैन्य-वृत्ति वाले ऐसे निर्धन राष्ट्रों ने आक्रमण किये हैं जो उनके वैभवपूर्ण रहन-सहन को घृणा की दृष्टि में देखते थे।

कोई राष्ट्र सैन्य-कीर्ति को महत्त्व क्यों देता है इसका समाधान नहीं दिया जा सकता। इस समस्या पर वर्ग-रचना से कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, क्योंकि ऐसे राष्ट्रों पर प्रायः अभिजात लड़ाकू जाति का प्रभुत्व रहता है, जो बाकी वर्गों को दबाकर रखती है—इन अधीनस्थ वर्गों में व्यापारी-वर्ग भी रहता है जो बुल मिलाकर युद्ध से डरता है और युद्ध की प्रवृत्ति रखने वालों का विरोध करता है। हाँ, कुछ व्यापारी अवश्य ऐसे होते हैं जो युद्ध का समर्थन करते हैं—जैसे, मेनाषो के लिए हथियार तैयार करने वाले या अन्य सामान तैयार करने वाले व्यवसायी, और वे लोग जिन्हें विजय के बाद रिश्वतें मिलने की या युद्ध के दौरान भारी लाभ कमाने की आशा होती है—लेकिन ये लोग अन्य व्यवसायियों की तुलना में बहुत छोटे होते हैं। अधिकांश व्यवसायी तो जानते हैं कि युद्ध में क्या बढ़ते हैं, विदेशी व्यापार-मित्रों के साथ सम्बन्ध बनाए रखने में अड़चन होती है, और अभिजात लड़ाकू वर्ग की शक्ति सर्वोपरि हो जाती है जिन पर व्यवसायी समुदाय की आमतौर में अविश्वास होता है। लड़ाकू जाति के शासन में चलने वाले समुदाय की अपेक्षा वह लड़ाई बहुत कम छेड़ता है जिसका शासन व्यापारी-वर्ग के हाथ में होता है। वैसे, लड़ाकू जाति ही हमेशा राष्ट्र को युद्ध में प्रवृत्त नहीं करती। कई बार ऐसे महान् शूरवीर भी पैदा हो जाते हैं जो शक्ति और कीर्ति तथा साम्राज्य के स्वप्न देखा करते हैं—सिवन्दर और सुलेमान जैसे राजे-महाराजे, या मुसोलिनी या नेपोलियन-जैसे महत्त्वाकांक्षी। लेकिन यदि हम यह जानना चाहें कि कुछ-राष्ट्र अपने को युद्ध में अपेक्षाकृत दूर क्यों रखते हैं जबकि दूसरे राष्ट्र लड़ाकू जातियों और शूरवीरों के बराबर पैदा हुए हैं तो हमें यह मानना पड़ेगा कि इन प्रश्न का कोई पूर्णतया गन्तोपजनक समाधान हमारे पास नहीं है।

कीर्ति कमाने के सपनों और आर्थिक विकास की अवस्था के बीच यदि कोई सम्बन्ध है तो वह केवल आर्थिक विकास की 'बीच' की अवस्थाओं में देखने को मिलता है। सर्वाधिक धनी देश प्रायः शान्तिप्रिय होते हैं, जो कुछ उन्हें उपलब्ध होता है उसका उपभोग करते हैं, और किसी में ईर्ष्या नहीं रखते, और सर्वाधिक निर्धन देश इतने जटिल और असंगठित होते हैं कि युद्ध

नहीं छेड़ सकते। केवल उन्नति के मार्ग पर पद रखने वाले और अपने पड़ोसी देशों से कुछ आगे निकल जाने वाले देश ही ऐसे होते हैं जो धनुर्वल परिस्थितियाँ पैदा करने की इच्छा से लड़ाई व ममूख बाँधने हैं। बाजारों और कच्चे सामानों के लिए अपेक्षाकृत पुराने और धनी देशों के साथ बढ़ती हुई प्रतियोगिता से भी य ममूखे पैदा हो सकते हैं। उन देशों की अपेक्षा जो अपने भूतकाल पर गर्व कर सकते हैं, वे देश प्रायः विश्व-शांति के लिए अधिक यत्नरत गिद्ध होते हैं जो समझते हैं, कि उनका भविष्य बड़ा सुनहरा है। हम प्रकार विश्व का सैन्य-नतुत्व भी एक देश के हाथ से दूसरे देश के हाथ में ठीक उगी प्रचार जाया करता है जिन प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नेतृत्व जाता है और दोनों के कारण भी सम्भवतः समान हैं (हम अध्याय का खण्ड २ (क) देखिए)।

युद्ध के समस्त कारणों का विश्लेषण करना हम पुस्तक की विषय वस्तु से बाहर है। हमारा उद्देश्य केवल आर्थिक विकास और युद्ध के सम्बन्ध की चर्चा करना है। चूँकि युद्ध अनन्य रूप से या केवल मुख्य रूप से आर्थिक कारणों से नहीं छिड़ता, अतः आर्थिक विश्लेषण से युद्ध के बुनियादी कारणों पर बहुत ही थोड़ा प्रकाश पड़ता है। युद्ध के कारणों का समाधान देना अर्थ-शास्त्रियों का नहीं बल्कि मनोविज्ञान, राजनीति, कानून, धर्म और मानव विज्ञान के विद्यार्थियों का काम है।

साम्राज्यवाद के कारणों की चर्चा के बाद अब हम उसके आर्थिक प्रभावों के बारे में कुछ कहेंगे। सामित देशों की प्रजा के ऊपर उसके गाय नियम एवं व्यवहार के अनुसार साम्राज्यवाद के प्रभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। एक चरम स्थिति तो यह होती है कि सामित देशों की प्रजा का बिलकुल नष्टा हुआ जाता है। दूसरी चरम स्थिति में वे इतनी तेजी से आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति करती हैं जितनी कि उनके पिछले इतिहास में कहीं देखने में नहीं आती। एक ही साम्राज्यवादी शक्ति भिन्न-भिन्न लोगों के साथ भिन्न-भिन्न व्यवहार करती है, ब्रिटेन वालों की केन्द्रीय शक्ति में राजगार के मामले में रण-भेद की कठोर नीति के साथ पश्चिम अफ्रीका के अफ्रीकियों के साथ समान्ययुक्त सामाजिक समानता की नीति की मुताबक करने देना है। ब्रिटेन साम्राज्यों से मानव-मुक्त में भारी घुट्टि हुई है, उन्होंने व्यापक क्षेत्रों में शांति स्थापित की है, सड़कें बनवाई हैं, नार्वेजिक गुधार किया है, व्यापार को बढ़ावा दिया है, कानूनों में गुधार किया है, नया तकनीकी ज्ञान प्रदान किया है, और इसी प्रकार के अच्छे काम किये हैं। इसके विपरीत बुरे साम्राज्यों की स्थापना के दौरान मृत्यु, बंधन और दासता का शोचनीय चक्र चल रहा है।

एक साम्राज्यवादी शक्ति पर पड़ने वाले प्रभाव भी उसके अपने व्यवहार

पर निर्भर करने है। सभी साम्राज्यवादी शक्तियों को साम्राज्य का मूल्य बचाना पड़ता है। कुछ को हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होता है, जबकि दूसरे अपने ही साम्राज्यवाद के कारण व्यापार में नष्ट हो जाते हैं।

साम्राज्य का मूल्य घटने का भय बचाना पड़ता है। पड़ता तो युद्धों का प्रथम व्यय है। उनका निराकरण भंगनी करनी पड़ती है और रसद का प्रवण करना पड़ता है। उपनिवेश की शक्ति के निमित्त बड़ा की जनता पर बाड़ी कर लगा देने के बावजूद युद्ध के कारण उपनिवेशवादी देशों के माधुनिकी पर भारी बोझ पड़ता है। उनके अलावा साम्राज्य की रक्षा के लिए शान्ति-कार्य में भी बड़ी मेहनत करनी पड़ती है और साम्राज्य जितना ही बड़ा होता है उपनिवेशवादी देश के अपने ही अधिक लोग उस काम पर लगाने पड़ते हैं। साम्राज्यवादी देश का इतना बड़ा शासन प्रदान के लिए भी अपने सबसे योग्य व्यक्ति नियुक्त करने पड़ सकते हैं। वैसे, शासन-कार्य के लिए प्रायः बीच की योग्यता के लोगों को भेजने की प्रवृत्ति होती है जिससे साम्राज्य के पतन की नींवत आ सकती है, लेकिन इस काम के लिए यदि सर्वाधिक योग्य व्यक्ति बाहर भेज दिए जाएं तो उपनिवेशवादी देश के परेन्स कामकाज चलाने में कठिनाई होती है। प्रायः देखने में आता है कि उपनिवेशवादी देश के बीच की योग्यता वाले लोग तो उपनिवेशों का शासन संभाल रहे होते हैं, और उपनिवेशों के सर्वाधिक योग्य व्यक्ति उपनिवेशवादी देशों में जाकर जन्म लेते हैं। साम्राज्य से शान्ति-प्रदा को भी बड़ावा मिलता है, साम्राज्य में संतुष्टि का सबसे अधिक महत्त्व होता है, और लड़ाई-जातियों की प्रतिष्ठा इर्नालिए होती है कि उन्हें भारी उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं। इसे मात्र संयोग ही नहीं कहा जा सकता कि बड़े-बड़े साम्राज्य (रोमन और आटोमन) घटने अवमान-काल में मैनिफेस्टो के चहुँपने में फँस गए थे।

आर्थिक विकास के फलस्वरूप अपेक्षाकृत बड़ी और सचौली लड़ाइयाँ लड़ी जा सकती हैं। यदि सम्राज्य में जहाँ जनसंख्या का ७० प्रतिशत या उससे भी अधिक देश के लिए अपने युद्धों के निमित्त खेती में लगा होता है, बहुत ही थोड़े लोग सेना में भरती किये जा सकते हैं। ऐसे देशों में युद्ध के अभियान फल बट चुकने और नती फलन दोए जाने के बीच की अवधि में ही चनाए जाते हैं, अन्यथा सेना को अपनी रसद के लिए अधिकांश लूटमार पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके विपरीत जब इतना आर्थिक विकास हो चुकता है कि जनसंख्या का केवल २० प्रतिशत देश के लिए स्वायत्त का प्रवण कर सकता है तो भारी सेनाएँ तैयार की जा सकती हैं, और उनके लिए देश से ही रसद भेजी जा सकती है। साथ ही लड़ाई के साह-सामान तैयार करने पर अपेक्षाकृत बहुत लोग लगाए जा सकते हैं, और वैज्ञानिक उन्नति के बल पर



सम्पत्तियों की महारक संज्ञा बहुत अधिक बढ़ाई जा सकती है। अतः एक और जहाँ घाटिम गमाज बड़ी कठिनाई से ही युद्ध का रज उठा सकता है यहाँ दूसरी ओर भली प्रकार उन्नत अर्थ-व्यवस्थाएं अतः माधन का ५० प्रतिशत या इतने भी अधिक युद्ध पर रज कर सकती हैं।

कभी-कभी कहा जाता है कि युद्ध में आर्थिक विभाग को बढ़ावा मिलना है। कुछ हद तक यह ठीक हो सकता है। युद्ध के दौरान कुछ उपयोगी आविष्कार किये जा सकते हैं, लेकिन प्रोग्रेस के वृद्धि के अनुमानों से पता चलता है कि ऐसे उपयोगी आविष्कारों की संख्या बहुत ही घटती जाती है। युद्ध में ऐसे उद्योगों का बढ़ावा मिल सकता है जिनका विस्तार हर दृष्टि में वांछनीय है—उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में नैपोलियन लड़ाइयों के दौरान लोहा उद्योग, प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान रसायन-उद्योग, और द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान इलेक्ट्रोनिक्स और जेट-चालन को प्रोत्साहन मिला, लेकिन युद्ध का सामान तैयार करने वाले उद्योगों में युद्ध के बाद कई साल तक प्रति-विस्तार और बेरोजगारी की समस्याएँ भी पैदा हो जाती हैं। युद्ध के दौरान कुछ व्यवसायों को लक्ष्य बनाया जाता है जिन्हें अत्यंत पूर्ण-निर्माण बढ़ना है, लेकिन पूर्ण-निर्माण पर युद्ध का नियंत्रण प्रभाव प्रायः यही होता है कि यह युद्ध के दौरान घट जाता है। इसके अलावा तटस्थ देशों से युद्ध का सामान खरीदने में विदेशी-निवेश और मोता भी रज करना पड़ता है। युद्ध में संपत्ति का नाश हमेशा उतना नहीं होता जितनी कि घातका की जाती है, बात यह है कि संपत्ति का मूल्य-ह्रास होता ही रहता है और देर-गरेर उतना बढ़ावा करना पड़ता है मुख्यतः मूल्य-ह्रास के नैजी से हो जाने के रूप में होती है। यदि निष्क्रिय माधनों का उपयोग लड़ाई के कामों में कर लिया जाए, या लड़ाई के बाद उनसे मूल्य-ह्रास की पूर्ति कर ली जाए तो भी लड़ाई उतनी महंगी नहीं पड़ती जितनी कि लड़ाई देती है। अमरीका इसके एक उत्कृष्ट उदाहरण है, द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण अमरीका की विद्युत् एक दगावरी का प्रतिरोध गमाए हो गया, और उत्पादन में इतनी कृद्धि हुई कि नागरिकों के रहन-सहन में कोई कमी किये बिना ही लड़ाई का रज उठाया जा सकता था। लेकिन लड़ाई न भी होती तो भी सावद अमरीका की अर्थ-व्यवस्था देर-गरेर सुधरती ही, क्योंकि महानों और दूसरी पूँजियों का मूल्य-ह्रास हो जाने पर थोड़े-बहुत दिनों में नये निवेश में तेजी अवश्य आती। नये बाजारों पर बम्बा करने के उद्देश्य से भी युद्ध देखा जा सकता है, लेकिन उसके पलम्बक्य बाजार छिन जाने की भी उतनी सम्भावना रहती है। नये-नये बाजार मिलने की दृष्टि में विद्युत् दो विश्व-युद्धों में सबसे अधिक लाभ अमरीका को हुआ है, जिसका विनिमित्त वस्तुओं का विश्व-व्यापार पहले विश्व-युद्ध के दौरान प्रतिशत ८ प्रतिशत का और

दूसरे विश्व-युद्ध के दौरान प्रतिरिक्त ६ प्रतिशत बढ़ा, और युद्धों के बाद भी यह बढ़ोतरी वापस रही। युद्ध के कारण मरने वाले लोगों में अनेक बड़े मेधावी होते हैं जिनके न रहने से भी अर्थ-व्यवस्था की बड़ी हानि होती है। पहले और दूसरे विश्व-युद्धों के बीच फ्रांस की राजनीतिक और आर्थिक शक्ति के ह्रास का यही कारण बताया गया है और इसमें शायद कुछ सत्यता भी हो।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आर्थिक दृष्टि से युद्ध का बहुत अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। विजय हो जाने पर उसके बदले कुछ लाभ भी हो सकते हैं। वर्तमान युद्ध-विरोधी प्रचार का दावा है कि ये लाभ नाग्य होते हैं, लेकिन सदेव ऐसा नहीं होता। अनेक बार विजेताओं के कब्जे में बड़ी संपत्ति जमीनें आ जाती हैं, या दास मिल जाते हैं, या व्यापार की भारी रिमाइनें मिलती हैं। यदि विजेता और कुछ न करके पहले के गटबट शान्तन को मनाए कर उसके स्थान पर शान्ति ही स्थापित कर देते हैं तो उनको और दासों जमीनों की व्यापार के विस्तार से इतना लाभ होता है कि उनके सामने युद्ध का स्वयं कोई चीज नहीं है। सर्वसत्तावादी व्यापार पर दो मनाने रूप से मजबूत सरकारों द्वारा लड़े जाने वाले आधुनिक युद्धों का स्वयं उनके बदले मिलने वाले लाभ से नहीं अधिक होता है, लेकिन सभी युद्ध इतने खर्चिन या अतानकर नहीं होते। जिन देशों ने अभी हाल ही में आर्थिक विकास शुरू किया है उन्हें एक अल्पकालीन जोरदार नडाई से स्वयं को देखते हुए वहीं अधिक लाभ हो जाता है (जर्मनी की १८७० की लडाई, अमरीका की १८६८ की लडाई, जापान की १८६४ की लडाई इसी प्रकार की थी)।

अन्त में, युद्ध छेड़ने वाले देश स्वयं उन्हीं के शिकार हो जाते हैं। साम्राज्यवाद से दासों या नडरों या व्यापार के रूप में दो या तीन शताब्दियों तक भारी लाभ हो सकते हैं, लेकिन साम्राज्यवाद अपने अन्त का कारण स्वयं बनता है। शासित प्रजा देश-सुदूर साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह कर देती है—विद्रोह तब और भी जन्दी होता है जब शासित प्रजा के साथ साम्राज्यवादी लोग अच्छा व्यवहार करते हैं, क्योंकि तब आर्थिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से उनका बड़ा उत्कर्ष होता है, और छोटे ही समय में वे अपनी हीन स्थिति के विरुद्ध आवाज उठा देते हैं। अच्छे साम्राज्यों में हीन स्थिति लगना मिट जाती है, और दूसरे उपनिवेशों के लोग शासकों के देश में ऊँचे-ऊँचे पदों पर काम करते दिखाई देते हैं। लेकिन इतना होने पर भी शासित प्रजा विद्रोह करती ही है, क्योंकि राष्ट्रीयता सदा ही साम्राज्य को सन्द-सन्द कर देती है और तब साम्राज्यवादी देश के लोग जो बहुत दिनों से प्रशासन, वाणिज्य, पर्यटन उद्योग और उपनिवेशवादी जीवन के अन्य अर्थों से जीविका

वमाने के प्रादी हो चुकते हैं, फिर से कृषि और उद्योग घटाने में भारी कठिनाई अनुभव करते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि शासित प्रजा के विद्रोह करने से पहले ही बाहरी शत्रु साम्राज्य को तहस-नहस कर देते हैं। साम्राज्य जितना ही विशाल और समृद्ध होता है साम्राज्यहीन राष्ट्र उमके प्रति उनसे ही अधिक ईर्ष्यान्वु होते हैं। साम्राज्य का गव तरफ से घेरने के लिए ईर्ष्यान्वु राष्ट्र आपसी साँठ-गाँठ करते हैं। परिणामस्वरूप साम्राज्य की रक्षा बड़ी खर्चीली हो जाती है। उसकी लडाइयों से, जिनकी मरुता बराबर बढ़ती जाती है, कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि ये विद्रुद्ध रक्षात्मक लडाइयाँ होती हैं, जिनमें सफलता मिलने पर भी लडाई का स्वर्च निवालेने के लिए न तो नयी जमीनें हाथ लगती हैं और न कोई लाभप्रद रिभायतें मिलती हैं। ऐसी स्थिति में साम्राज्यवादी देश के लोगों की हिम्मत टूटती जाती है और वे स्वयं इस बात पर शक करने लगते हैं कि उन्हें इतने विशाल क्षेत्र पर शासन करने का अधिकार है या नहीं। इसके बाद घान्तरिक और बाह्य दवावों के कारण साम्राज्य जल्दी ही छिन्न-भिन्न हो जाता है।

साम्राज्य की निवल प्राधिक लाभप्रदता पर मदेह करने वाले लोग ही कभी-कभी यह विचार व्यक्त करते हैं कि सबसे सुखी और समृद्ध राज्य वे होने हैं जो पहले कभी साम्राज्यवादी रहे थे। उनके सुख का रहस्य उनकी पिछली कीर्ति की स्मृतियाँ होती हैं और वे सानदार भविष्य के सपने देखने की गलतियाँ नहीं करते। लेकिन यह प्रावश्यक नहीं है कि ऐसे देश समृद्ध भी हों। उदाहरण के लिए स्वीडन समृद्ध है लेकिन स्पन नहीं। दूसरी ओर, साम्राज्य नष्ट हो जाने के बाद अपने ही काम-काज पर ध्यान लगाने वाले टर्की को नया जीवन मिला। कौन यह सकता है कि हार्नेड, जो अपने साम्राज्य खोने वाले राष्ट्रों में सबसे बाद का है, हिम्मत गो बँटेगा, या अपने अनुभव में नया जीवन पाएगा।

राष्ट्रगण की दि डिटरमिनेट्स एण्ड वाग्सोबवेसेड ऑफ पाँपुलेशन ट्रेन्स (जनसह्या की प्रवृत्तियों के निर्धारक और परिणाम), न्यूयार्क, १९५३, में सम्बन्धित साहित्य के व्यापक सादरों गहिन जनसह्या सदर्भ-दिष्पणी के मिडान्ला और फोरडो का उत्तम सर्वेक्षण दिया गया है। एच० ब्राउन की दो चेलेंज ऑफ मॅन्स क्युचर (मनुष्य के भविष्य की चुनौती) न्यूयार्क, १९५३, सर चार्ल्स डारविन की दो मॅन्सट मिलियन ईयर्स (प्राणामी दम त्याग वर्ष), लंदन, १९५२, जी० एफ० बोर्किनवर्नी की दो नैशनल्युजिफिकेड सॉयुलेशन थ्योरी (सांस्कृतिक जनसह्या मिडान्ला), लंदन, १९५३, सर जान रगेन की वॉर्ड पाँपुलेशन एण्ड एड सप्लाइड (विदय की जनसह्या और साद-वदावों की सादर), लंदन, १९५४,

एल० डी० म्याम्स की अवर अडरडेवल्स बन्ड (हमाग बन विक्रित विन्व), लन्दन १९४३ भी देखिए ।

व्यावसायिक रचना और गृहीकरण पर आर्थिक विज्ञान के प्रभावों के बारे में कोलिन क्लार्क की दो बडोगम आक्र इकॉनमिक प्रोग्रेस (आर्थिक प्रगति की शक्ति), द्वितीय सम्स्करण, लन्दन १९४०, एम० ब्रुजनेट्स द्वारा सम्पादित इनकम एण्ड वेल्थ, मीरीट ० इनकम एण्ड वेल्थ आक्र दी यूनाइटेड स्टेट्स (आय और धन, मीरीट ० अमरीका की आय और धन), केंब्रिज, १९४०; एव० डब्ल्यू० सिगर का इकॉनमिक जर्नल (अर्थशास्त्र जर्नल), जून १९३६, में 'बाई दे पॉपुलेशंस परेटो के नियम की सादृश्यता' में शीर्षक लेख पढ़िये । उद्योगीकरण पर डब्ल्यू० होफमैन की स्टैटिस्टिक एण्ड टाइमिंग डर इन्डस्ट्रियलाइजिसेशन, जेना, १९३१ (जिनका समीक्षित संस्करण अग्रेजी में १९४४ में छपेगा), डब्ल्यू० ए० सुर्ट्स का इन्डस्ट्रियल डेवलपमेंट इन दो बेरिडियन (बेरिडियन में आर्थिक विकास), पोर्ट आफ़-मॉन, १९५०, के० मैटिलवान (अब मार्टिन) की दो इन्डस्ट्रियलाइजेशन आक्र बैंक ब्रैड कंट्रीज (भिडडे देशों का उद्योगीकरण), आक्सफोर्ड, १९४५, जे० यू० नेफ की इन्डस्ट्री एण्ड गवर्नमेंट इन फ्रान्स एण्ड इगर्नेड १५४०-१६४० (फ्रान्स और इगर्नेड में उद्योग और सरकार १५४०-१६४०), न्यूयार्क, १९४०, पी० एन० रोडेंस्टीन-रोटन का इकॉनमिक जर्नल (अर्थशास्त्र जर्नल) जून-नवम्बर १९४३, में 'पूर्व और दक्षिण-पूर्व यूरोप में उद्योगीकरण की संस्थाएँ' शीर्षक लेख; एव० डब्ल्यू० सिगर का इन्डियन इकॉनमिक रिव्यू (भारतीय अर्थशास्त्र समीक्षा), अगस्त १९४०, में 'आर्थिक विज्ञान का तन्त्र' शीर्षक लेख पढ़िये ।

विश्व-व्यापार की स्वरूपा और विकास पर ए० जे० ब्राउन की इन्डस्ट्रियलाइजेशन एण्ड ट्रेड (उद्योगीकरण और व्यापार), लन्दन, १९४३; ए० ए० हिगमैन की नेशनल पॉवर एण्ड दो स्ट्रक्चर आक्र फॉरेन ट्रेड (राष्ट्रीय शक्ति और विदेश-व्यापार की स्वरूपा) बर्ले, १९४५; डब्ल्यू० ए० सुर्ट्स का माचेस्टर स्कूल, मई १९५२, में 'विश्व-उत्पादन, बीमते और व्यापार, १८००-१९६०' शीर्षक लेख, डब्ल्यू० ए० लुई का डिस्ट्रिब्यूट वेज रिव्यू (द्विभा बँक समीक्षा), दिसम्बर १९५४ में 'व्यापार आन्दोलन' शीर्षक लेख, ई० स्टेला की वर्ल्ड इकॉनमिक डेवलपमेंट (विश्व का आर्थिक विकास), माड्रिड, १९४४, एव० टिड्मन्को का माचेस्टर स्कूल, जितम्बर १९५१, में 'विनिमित्त बन्तुओं का विश्व-व्यापार १८९९-१९४०' शीर्षक लेख; गण्ट्सब की इन्डस्ट्रियलाइजेशन एण्ड फॉरेन ट्रेड (उद्योगीकरण और विश्व-व्यापार), जेनेवा, १९४५ पढ़िये ।

प्रवास पर डब्ल्यू० जे० वेटर की दो इकॉनमिक सोल्युशन आक्र दो चाइनीज

इन दो नीदरलैंड्स इंडीज (नीदरलैंड इंडीज में चीनियों की आधिकारिक स्थिति),  
 सिंगापो, १९३६, आई० फेरेंजी और डब्ल्यू० एफ० विलवाक्स की इण्डियन  
 माइग्रेशन (अन्तर्राष्ट्रीय प्रवासन) न्यूयार्क, गण्ट १, १९२९, खण्ड २, १९३१,  
 जे० आर्टज़व की इकॉनमिक्स ऑफ़ माइग्रेशन (प्रवासन का अध्ययन), लंदन,  
 १९४७, सी० कोट्टापी की इण्डियन प्रोवरसोड, १९३८-१९४९ (प्रवासी भार-  
 तीय १८३८-१९४९), नयी दिल्ली, १९५१, डब्ल्यू० ए० नुर्दंग का जर्नल ऑफ़  
 एप्लीकस्ड इकॉनमिक्स (वृत्ति-अध्ययन का जर्नल), जून १९५४, में 'भूमि  
 पर बसाने के सम्बन्ध में विचार' शीर्षक लेख, ग्रिनले टामस की माइग्रेशन  
 एण्ड इकॉनमिक प्रोब्लम (प्रवास और आर्थिक विचार), कैम्ब्रिज १९५४ देखिए ।  
 युद्ध पर प्रोवर बलान की ए प्लेस इन दी सन (अनुकूल परिस्थिति) न्यूयार्क,  
 १९३७, जे० ए० होबसन की इम्पीरियलिज्म ( साम्राज्यवाद ), तृतीय  
 संस्करण, लंदन, १९३८, जे० यू० नेफ की वार एण्ड ह्यूमन प्रोग्रेस (युद्ध  
 और मानव-प्रगति), लंदन, १९५०, एन० सी० रॉबिंस की दो इकॉनमिक  
 कॉलेज ऑफ़ वार (युद्ध के आर्थिक कारण), लंदन, १९४०, ई० स्टेव्री की  
 वार एण्ड दी प्राइवेट इन्वेस्टर (युद्ध और निजी निवेशकर्ता) न्यूयार्क, १९३५,  
 विवसी राइट की ए स्टडी ऑफ़ वार ( युद्ध का एक अध्ययन ), सिंगापो,  
 १९४२, पढ़िए ।

आर्थिक क्रिया को बढ़ावा देने या निरुत्साहित करने में सरकार का योग भी उनका ही महत्वपूर्ण होना है जितना उद्यमकर्ताओं, माना-पिताओं, वैज्ञानिकों या पुरोहितों का होना है। लेकिन राजनीतिक पूर्वाग्रह के कारण यह महत्व सरलता में मामने नहीं आ पाता। एक ओर तो वे लोग हैं जो निजी पहल को गवा की दृष्टि में देखते हैं, और सरकारी योग को अधिक-से-अधिक बढ़ाना चाहते हैं। दूसरी ओर वे हैं जो सरकारों के प्रति गवानु हैं, और निजी पहल में अधिकाधिक वृद्धि पसन्द करते हैं। इतिहास को घटनाओं से दोनों पक्षों का समर्थन किया जा सकता है। कोई देश अपनी बुद्धिमान सरकार से मजिय प्रोत्साहन पाए बिना आर्थिक विकास नहीं कर सका है। इंग्लैण्ड के बारे में तो यह पूरी तरह सच है, जिसकी विशाल औद्योगिक शक्ति की नींव एडवर्ड तृतीय और उसके बाद के बुद्धिमान शासक रखने धाए हैं। इसी प्रकार, अमरीका की राज्य और सघीय सरकारों ने भी आर्थिक क्रिया को बढ़ावा देने में सदा ही बड़ा योग दिया है। इसने विपरीत, कुछ देशों के आर्थिक जीवन को वहाँ की सरकारों ने इतने आघात पहुँचाए हैं कि आर्थिक जीवन में सरकारी योग के विरुद्ध चाहे जितना लिखा जा सकता है। बुद्धिमान लोग इन तर्कों में नहीं पँसते कि आर्थिक विकास सरकारी कारंवाई के फलस्वरूप होता है या निजी पहल के, वे जानते हैं कि इसके मूल में दोनों का योग होता है, अतः वे अपने को इसी बात पर विचार करने तक सीमित रखते हैं कि दोनों का समुचित योग कितना होना चाहिए।

इस क्षेत्र में सरकारों की असफलता का कारण यह होता है कि या तो वे बहुत कम योग देती हैं, या बहुत अधिक दे बैठती हैं। इस अध्याय के पहलें दो खण्डों में हम इस बात पर विचार करेंगे कि आर्थिक विकास को बढ़ावा देने में सरकारें किस प्रकार योग दे सकती हैं। अन्तिम खण्ड में उन तरीकों पर चर्चा की जाएगी जिनसे कोई शरारती सरकार विकास में बाधक बन

जाती है, या गतिरोध घौर गिरावट पैदा कर देती है।

इस खण्ड में हम सरकार और समूची धर्म-व्यवस्था के परस्पर-सम्बन्ध पर विचार करेंगे। अगले खण्ड में विशेष रूप से धर्म-व्यवस्था के लोक-क्षेत्र पर विचार किया जाएगा, अतः इस खण्ड में सर-  
३. उद्यम की रूपरेखा कार और निजी क्षेत्र के सम्बन्धों पर ही अधिक जोर दिया गया है।

(क) सरकार के कार्य—धार्मिक विभाग की दिशा में सरकारें घनेक चारंवाइयाँ करती हैं। हम इन्हे निम्नलिखित नौ वर्गों में बाँट सकते हैं—लोक-सेवाओं को बनाए रखना, प्रवृत्तियों को प्रभावित करना, धार्मिक स्थापन बनाना, साधनों के उपयोग को प्रभावित करना, धर्म के वितरण का प्रभावित करना, मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करना, उतार-चढ़ाव को नियन्त्रित करना, पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करना और निवेश के स्तर को प्रभावित करना। पिछले अध्याय में सरकारी क्रिया की अपेक्षा अधिक व्यापक प्रसंग में विचार करते समय हम इन सभी समस्याओं पर प्रकाश डाल चुके हैं, अतः धर्म के पैराग्राफों में सम्बन्धित समस्याओं का संक्षेप देना ही पर्याप्त होगा।

पहले लोक-सेवाओं की बातें। सरकार का मुख्य कार्य धर्म-सेवा बनाए रखना है। समय के साथ इसमें अन्य सेवाएँ भी शामिल हो गई हैं—सड़कें, स्कूल, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सर्वेक्षण, अनुसन्धान और निरन्तर बढ़ती हुई अन्य सेवाएँ। इन आन्तरिक कार्यों के अलावा अन्य सरकारों के साथ सम्बन्ध बनाए रखने के तिलमिले में सरकार के बाह्य कार्य भी होते हैं—नागरिकों का संरक्षण, सन्धि, युद्ध आदि। लोक-सेवाओं के बारे में अधिक कुछ कहने की नहीं है, जो कुछ है हम अगले खण्ड में कहेंगे, इस समय तो हम सरकार और धर्म-व्यवस्था के निजी क्षेत्र के सम्बन्धों पर ही विचार करेंगे।

सरकार का दूसरा काम प्रवृत्तियों को प्रभावित करना है—धर्म के प्रति, मितव्ययिता के प्रति, परिवार के आकार के प्रति, विदेशी व्यवसायियों के प्रति, सामाजिक-गतिशीलता के प्रति, नाभाजन के प्रति, पशुधन की पवित्रता के प्रति, नई टेक्नाइकी के प्रति। हम बार-बार यह देना चुके हैं कि विभाग के प्रतिवृत्तियों की अपेक्षा उमके प्रवृत्तियाँ किसी समुदाय के धार्मिक विभाग में कितनी अधिक सहायक होती हैं। इन प्रवृत्तियों के निर्धारण में सरकारें बड़ा योग देती हैं। यह सही है कि सरकारों पर जनमत का बड़ा दबाव होता है, वे जनमत में न तो बहुत धागे जा सकती हैं, और न बहुत पिछड़ सकती हैं। लेकिन यह भी सही है कि जनमत तैयार करने में सरकार का कुछ-न-कुछ हाथ अवश्य होता है। स्थान-स्थान सांस्कृतिक नेताओं के भाषण और लेख, और विधानमण्डल द्वारा कोई चारंबाई करने या न करने का

निर्णय जनमत बनाने में बड़े महत्त्व होते हैं। जनमत को डारने या उसकी अवज्ञा करने में कुछ सरकारें दूसरों की अपेक्षा अधिक उदार होती हैं, जो इस पर निर्भर करता है कि उनकी जनता को अपनी सरकार में विश्वास अधिक है या वह उसमें डरती बहुत है।

इस प्रसंग में सरकार एक नया काम करती है। समुदाय के और बहुत से वर्ग भी यह कर्तव्य निभाते हैं—पुरोहित समाचार-पत्रों के सम्पादन, मजदूर-संघ के नेता, अध्यापक और अन्य महत्त्वपूर्ण लोग। स्थिर समुदायों में सरकार बहुत ही छोटे मामलों में दखल देती है उदाहरण के लिए, वह जग्ग-दर पर निर्णय देने का काम पुरोहितों पर छोड़ देती है, और कृत्रिम न्यायों पर निर्णय देने का काम वैज्ञानिकों को करने देती है, लेकिन जिन समुदायों में तेजी से सञ्चलन हो रहा है वहाँ की सरकार शायद ही किसी पहलू की अपेक्षा कर सकती है। गतिरोध से निश्चयकर आर्थिक विकास के पथ पर आने वाले समाजों के जीवन का हर पहलू उसमें प्रभावित होता है—धर्म, वर्ग-सम्बन्ध, आचार, पारिवारिक जीवन, आदि—और हर मामले में कानून बनाकर नहीं तो कम-से-कम भाषण देकर सरकार के नेताओं को ऐसे मामलों में हाथ डालना पड़ता है जो अधिक स्थिर समाजों में राजनीतिज्ञों द्वारा सहज ही अन्य सस्यानों पर छोड़ दिए जाते हैं। यह भी एक कारण है कि क्रान्ति के बाद—वह हिंसामय हो या शान्तिपूर्ण—नयी सरकार समुदाय के जीवन के लगभग हर क्षेत्र—धर्म, समाचार-पत्र, कानून, विभिन्न पेशे, सेना, बैंक विश्व-विद्यालय, उद्योग आदि—के पुराने नेताओं को अपदम्य कर देती है और उनके स्थान पर अपने ही विचारों वाले नये लोगों को बिजती है और उसके बाद इस और से भावस्त होकर कि अन्य क्षेत्रों में जनमत उन्हीं के अनुकूल बन रहा है, नयी सरकार के राजनीतिज्ञ अपने 'सामान्य' क्षेत्रों में काम करने लगते हैं जो क्रान्तिकारी हर बड़े सामाजिक सम्बन्धों को अपनी क्रान्ति से प्रभावित नहीं कर पाते वे मुश्किल से ही अपने उद्देश्य में सफल होते हैं और उनकी सत्ता भी बनी रहना कठिन हो जाता है।

भव हम आर्थिक सस्यानों पर आते हैं। हर सरकार को इन मामलों पर अपना दृष्टिकोण निर्धारित करना पड़ता है कि वह बड़े पैमाने के उद्यम प्रोत्साहन करती है या छोटे पैमाने के, प्रतियोगिता को पक्षपाती है या एकाधिकार की, विपरीत उद्यमशीलता को समर्थक है या सहकारी संगठनों की। ना लोक-संचलन की, और उसका दृष्टिकोण पर कानून के माध्यम से धमक डालना है या प्रशासनिक कार्रवाई के द्वारा। उसे यह भी समझनी पड़ती है कि देश के कानूनों में न्याय और प्रेरणा दोनों का सामन्तत्व है। इस दृष्टि में सुविधों, अधि-धारणाधिकारों, कम्पनियों, सामेदारियों, सहकारी संगठनों, मजदूर-संघों,



एकाधिकारों और पारिवारिक सम्पत्ति आदि के बारे में व्यापक कानून बनाए जाने हैं। अनेक ऐसी एजेंसियाँ भी स्थापित की जाती हैं जो (घन या गलाह देकर) निजी सहायकों का नियमन करती हैं या उनकी महायत्ना करती हैं उदाहरणार्थ न्यास-विरोधी एजेंसियाँ महत्कारिता-विभाग कृषि-विस्तार मन्त्री उधार एजेंसियाँ, आदि। इन सभी मामलों में उन देशों के कानून और प्रथाएँ आर्थिक विभाग के प्रतिबन्ध होती हैं जिनमें अभी तक आर्थिक विकास नहीं हुआ है। अत आर्थिक विभाग की धारम्भिक व्यवस्थाओं में आर्थिक विभाग के उपयुक्त नया कानूनी और प्रशासनिक ढाँचा ब्रह्मा करने में काफी समय लग जाए तो कोई बड़ी बात नहीं है।

साधनों के उपयोग को प्रभावित करने की जरूरत सरकारों को इतनी पड़ती है कि सीमित-तन्त्र के, जो साधनों के उपयोग का मुख्य निर्धारक है, परिणाम सामाजिक दृष्टि से सदा ही स्वीकार्य नहीं होते। हम इनके कई उदाहरण देना चुके हैं, जैसे साधनों के संरक्षण की समस्या है (देखिए अध्याय ३, गण्ड ३ (ग) और अध्याय ६, गण्ड १ (म), लोग मिट्टी, पानी, जल या यन्त्रित वाली भूमि-गतहों का कभी-कभी इस प्रकार उपयोग करने हैं कि वह भारी बरबादी ही मानी जा सकती है, या कभी-कभी सरकार किसी मूल साधन—जैसे कोई नदी-धारा—को इस प्रकार विकसित करना चाहती है जिसके लिए सारे सम्बन्धित क्षेत्र में जमीन के उपयोग पर नियन्त्रण करने की जरूरत होती है। इलाकेबन्दी की बरबादियों के जरिए भूमि के उपयोग को नियन्त्रित करने की घाम समस्या इसीसे सम्बन्धित है, नगरों के लिए यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, यदि उनका विकास व्यवस्थित ढंग से करना हो, जिसमें बाग, मकान और मनोरंजन के लिए अलग-अलग स्थानों का समुचित निर्धारण किया गया हो, लेकिन देहांत में भी कृष्येतर कामों के लिए उपजाऊ जमीन के इस्तेमाल पर रोक लगाने की दृष्टि से कुछ इलाकेबन्दी की जरूरत होती है, और अत्यधिक केन्द्रण, अत्यधिक छिन्नराय, और गन्दे इलाकों को बचाने से रोकने के लिए उद्योगों की स्थापना के मौकों पर भी कुछ नियन्त्रण रचना जरूरी होता है (देखिए अध्याय २, गण्ड २ (ग), और अध्याय ६, गण्ड १ (ग))। इसके अलावा प्रति विवेकता की घाम समस्या भी है जिसकी वजह से संरक्षण, उपदान आदि के जरिए या तो कुछ बरबादियों रोक देने पड़ती हैं—उदाहरण के लिए, एक ही पसल उगाने जाने के पहले को रोकने के लिए उमके निर्णय पर कर लगाया जा सकता है, या महक-व्यवहान के मामले में कार्बोस-शेषा लागू की जा सकती है—या कुछ बरबादियों को प्रोत्साहन देना पड़ता है—उदाहरण के लिए, उद्योगीकरण को। कुछ सरकारें उद्योग के गठन में परिवर्तन लाने के लिए साधनों पर सीधा नियन्त्रण करती

है—उदाहरण के लिए, वित्तिय वस्तुओं के उत्पादन या आयात पर प्रतिबन्ध लगाती है, या दूध के उत्पादन में आर्थिक महायत्ता देती है—जबकि अन्य सरकारें आय के वितरण को प्रभावित करके अल्पव्यय रूप से उपभोग को प्रभावित करना पसन्द करती है।

आय के वितरण के कारण कम विकसित देशों में विचित्र रूप से कृत्रिम समन्वय पैदा होती है, क्योंकि ये देश आय की समानता बनाए रखना चाहते हैं, और साथ ही प्रेरणाओं और बचतों के उच्च स्तर में भी गम्भी नहीं होने देना चाहते। आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि कोषागार, कृत्रिम परिश्रम, शिक्षा और जोखिम उठाने और उत्तरदायित्व संभालने की इच्छा को दबत हुए आमदनियों में समुचित अन्तर रखे जाएं। साथ ही यह भी आवश्यक है कि राष्ट्रीय आय में होने वाली वृद्धि का पर्याप्त भाग उन लोगों की जेबों में जाने की वजाय, जो उस उपभोग पर खर्च कर देंगे, उन लोगों के पास पहुँचना चाहिए जो उसे बचा लेंगे। निम्नतम आय वाले वर्ग—अकुशल मजदूर और शायद किसान भी—उनमें से किसी भी श्रेणी में नहीं आते जिनके उत्कर्ष में विकास को बाधा मितता है, यदि आय के अन्तरों और बचतों को ही नसोटी माना जाए तो अन्य वर्गों की तुलना में निम्न आय वाले वर्गों की आमदनियाँ बढ़ाने के स्थान पर घटाई जानी चाहिए (देखिए अध्याय ४, खंड २ (ख), और अध्याय ५, खंड ० (ख))। दूसरी ओर, जिन देशों में जमींदार थोड़ा ही उत्पादक निवेश करते हैं वहाँ उनकी आय छीनने से विकास में कोई विशेष बाधा नहीं आती। लेकिन लान छीनने से विकास में भारी खा-बट आ सकता है, क्योंकि एक तो इससे निवेश के प्रति प्रेरणा समान्त हो जाती है, और दूसरे जमीनों के पास नये निवेश के लिए पैसा नहीं बचता। अतः करों के रूप में लानों का एक बड़ा भाग छीनने के गम्भीर परिणाम होते हैं। यदि ऐसे करों की आय से सरकार शरीकों का उपभोग-स्तर बढ़ाने का प्रयत्न करे तो इसके परिणामस्वरूप बचतें कम हो जाएँगी। लानों पर लगाए जाने वाले कर का आय शिक्षा और पूँजी-निर्माण जैसे उत्पादक कामों पर खर्च की जानी चाहिए। इसकी कुछ राशि विकास-बैंक जैसे सरकारी वित्त-संस्थानों को मार्केट उत्पादक उद्यमों को वित्तीय महायत्ता देने के लिए भी निर्धारित करनी चाहिए। और यदि लानों पर कर लगाने से प्रेरणाओं का हवन होता हो तो सरकार को नये उद्योगों की स्थापना में अग्रणी बनना चाहिए, और जिन कामों की भारी जोखिम उठाने के लिए लोगों में बहुत कम प्रेरणा दिखाई देती हो वहाँ उचित प्रतिफल की गारण्टी देनी चाहिए। कम विकसित देशों की प्रगति एक ऐसी शताब्दी में आरम्भ हो रही है जब हर आदमी दो घोड़ों पर एक साथ सवार होना चाहता है—आर्थिक समानता के घड़े पर, और आर्थिक

विकास के घोड़े पर। हम तो समझ गया है कि दोनों घोड़े एक ही दिशा में नहीं बढ़ते, अतः उसने एक को छोड़ दिया है। अन्य कम विकसित देशों को भी इस मामले में अपना-अपना निर्णय लेना पड़ेगा।

यदि द्रव्य मुख्यतया बहुमूल्य धातुओं के रूप में हो तो सरकार को उसकी मात्रा का नियमन करने की आवश्यकता नहीं है, यद्यपि मिकको के खरेपन पर नियंत्रण रखने के लिए उसे मिनके बनाने के काम पर नियंत्रण रखना चाहिए। लेकिन इन दिनों मुद्रा प्रायः एसी धातुओं से बनाई जाती है जिनका वास्तविक मूल्य अंकित मूल्य से कम होता है, ऐसी स्थिति में यदि सरकार मुद्रा की मात्रा का नियमन न करे, तो निजी लोग इतनी मुद्रा बना डालेंगे जिनसे कीमते तब तक तेजी के साथ बढ़ती चली जाएंगी जब तक कि हर मिकके या नोट का अंकित और वास्तविक मूल्य बराबर न हो जाए। यदि मुद्रा बाजार या निवृष्ट धातुओं से तैयार की जाती हो तो उसकी मात्रा पर बंदोबस्त नियंत्रण रखना चाहिए। इसके लिए नियंत्रण की कोई स्वच्छ प्रणाली भी अपनायी जा सकती है। उदाहरण के लिए, स्वर्णमान के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक अपनी ही मुद्रा जारी कर सकता है जितने का सोना उसके पास सुरक्षित है, अथवा ब्रिटेन के उपनिवेशों की मुद्रा-प्रणाली के अन्तर्गत, बैंकों या मुद्रा प्राधिकारियों द्वारा जारी किये गए नोटों के मूल्य के बराबर स्टैलिंग अणु-पत्रों का होना आवश्यक है। स्वच्छ प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा-नियंत्रण की सप्रयाम प्रणाली भी अपनायी जा सकती है, अर्थात् स्वर्ण या अणु-पत्रों के रूप में रक्षित निधि होने पर भी सरकार को यह अधिकार हो सकता है कि वह जब चाहे मुद्रा जारी करे, या जब चाहे वापस ले ले। इसी प्रकार बैंक-जमा का परिमाण, जो औद्योगिक देशों में मुद्रा का सबसे महत्वपूर्ण रूप होता है, बढ़ाना या घटाना बैंकों के विवेक पर छोड़ा जा सकता है, या किन्हीं स्वच्छ नियमों के आधार पर केन्द्रीय बैंक द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है, या सरकार स्वयं अपने विवेक के अनुसार केन्द्रीय बैंक की मार्फत नियंत्रित कर सकती है। मुद्रा के परिमाण का सप्रयाम नियंत्रण बुद्धिमानों से करना बहुत कठिन होता है। इतिहास में हम बात के अनेक उल्लेख मिलते हैं कि जहाँ सरकारों ने अपने विवेकाधिकार का अत्युत्तमस्तूप तक से प्रयोग किया है वहाँ वे बुरी तरह असफल रही हैं, इसीलिए मुद्रा-नियंत्रण की स्वच्छ प्रणालियों का अधिकारिक उपयोग उन्नीसवीं शताब्दी की एक बड़ी उपलब्धि मानी जानी है। वैसे स्वच्छ प्रणालियों मुद्रा और गिरावट के दोषों में ठीक से काम नहीं कर सकी हैं, और बीसवीं शताब्दी में सरकारों ने बढ़ते हुए अधिकारों में भी इनका भरोसा नहीं रखा। अब फिर से मुद्रा के परिमाण पर सरकार द्वारा अधिकारिक नियंत्रण की प्रथा चल पड़ी है। बुद्धिमान सरकार के हाथों अधिकारिक नियंत्रण का

नाभप्रद सिद्ध होता है लेकिन यदि प्रशासन में घुड़ि का अभाव हो, या बे कमजोर या भ्रष्ट हों तो इसके धानक परिणाम भी निम्न रहने हैं।

श्रीलोकिक देशों में मुद्रा-परिमाण के नविवेक नियंत्रण की वर्तमान लोक-प्रियता का एक मुख्य कारण यह है कि उनकी महत्त्वता में मुद्रा घटा-बटाकर अन्य आर्थिक उतार-चढ़ावों के प्रभाव दूर किये जा सकते हैं और उन प्रकार आर्थिक प्रणाली में अधिकाधिक स्थायित्व लाया जा सकता है। अर्थशास्त्र सर-कारों अब यह मानने लगी हैं कि आर्थिकाधिक स्थायित्व पैदा करना उनके वर्तव्यों में से एक है। अध्याय ५, खण्ड ३ (ग) में हम इस विषय पर पहले ही चर्चा कर चुके हैं, अतः श्रीलोकिक देशों में उतार चढ़ाव के नियंत्रण के बारे में यहाँ कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं है। हम यह भी देख चुके हैं कि कम विकसित देशों के बड़े-बड़े उतार-चढ़ाव विद्व-व्यापार के उतार-चढ़ावों का परिणाम होने हैं, जिन पर उनका कोई वग नहीं चलना। वे अधिकाधिक-अधिक यही कर सकते हैं कि घरेलू कीमतों में उतनी घट-बढ़ न होना दें जितनी उनकी विदेश-व्यापार की कीमतों में होती है, और तेजी के उमाने में विदेशी मुद्रा की रक्षित निधियाँ बना लें जो गिरावट के दौर में उनके काम आयें, और इस प्रकार अपनी आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को विद्व-व्यापार के उतार-चढ़ावों से कम-से-कम प्रभावित होने दें। यह कर सकता काफी कठिन होता है, क्योंकि यह कोई नहीं जानता कि विद्व-व्यापार की कीमतें भविष्य में घटेंगी या बढ़ेंगी। फिर भी, अधिकाधिक कम विकसित देश अपने बचाव के लिए जितने प्रयत्न करते हैं उनसे अधिक करने की गुंजाइश है।

श्रीलोकिक देश मुद्रा के परिमाण पर नविवेक नियंत्रण इसलिए भी करते हैं कि उन्होंने अपनी अर्थ-व्यवस्थाओं में पूर्ण रोजगार की स्थिति कायम करने का दायित्व मँभाल लिया है। वैसे, श्रीलोकिक देशों में इसके लिए मुख्यतः उतार-चढ़ावों की मात्रा कम कर देने में ही काम चल जाता है। इनके विन-रीत, कम विकसित देशों में बेरोजगारी का मुख्य कारण लोगों के पास काम करने के लिए साधनों का अभाव है। इसे केवल पूँजी निर्माण से ही दूर किया जा सकता है, जिसके परिणामस्वरूप नये साधन पैदा होते हैं, या वर्तमान साधनों (जैसे पूँजी) के अधिकाधिक प्रयोग निकाले जाते हैं। उन प्रकार रोज-गार की समस्या आर्थिक विकास की सभी समस्याओं से सम्बन्धित है। मुद्रा के परिमाण का नविवेक नियंत्रण केवल पूँजी-निर्माण में ही सहायता पहुँचा सकता है जैसा कि हम देख चुके हैं (अध्याय ५, खण्ड ३ (क))। विभिन्न परिस्थितियों में उधार विस्तार के जरिए पूँजी-निर्माण को बढ़ावा दिया जा सकता है, लेकिन किन्हीं अन्य परिस्थितियों में, या गलत हाथों में, उसके नाम मिलने के बजाय हानियाँ ही मिलने लगती हैं।

अब हम सरकारों द्वारा अपना हाथ म निय गए अन्तिम काय पर घाने है, अर्थात् निवेश वा स्तर ऊंचा करके विकास की गति बढ़ाने का काम । अध्याय ५, पण्ड २ (ग) में हम देख चुके हैं कि सरकारी हस्तक्षेप के अभाव में घरेलू बचत की दर मुख्यत राष्ट्रीय धाय के अनुपात में नाभो की दर पर निर्भर होती है । जहाँ लाभ कम होते हैं वहाँ बचतें भी कम होती हैं और पूँजीवादो क्षेत्र के बढ़ने के साथ-साथ बढ़ती जाती है । यह मानने के कोई स्पष्ट कारण नहीं हैं कि इस प्रकार निर्धारित बचत की दर ही सबसे वाछनीय दर क्यों मानी जाए । वास्तव में जिन देशों में अमिको की देशी है वहाँ कुछ प्रकार के पूँजी-निर्माण लगभग शून्य वास्तविक लागत पर किय जा सकते हैं । ऐसी परिस्थितियों में लाभप्रद उपाय काय में न लाना कोई बुद्धिमानी नहीं है । दूसरी ओर, घरेलू बचत की दर जबरदस्ती करके ही बढ़ाई जा सकती है—किमानो और जमींदारों पर कर लगाकर या स्फीति के माध्यम से । इस प्रकार की जबरदस्ती की जाए या नहीं, यह एक राजनीतिक समस्या है जिसे हर देश को अपनी परिस्थितियों के अनुसार स्वयं सुलभाना चाहिए । जापान की सरकार अपनी विनिष्ट परिस्थितियों में यह काम 'कर ले गई', और गोल्ले कोस्ट की सरकार अपनी परिस्थितियों में इस पर धमक कर रही है, लेकिन बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में रूसी सरकार द्वारा की गई जबरदस्ती का किसानों की ओर से इतकर विरोध किया गया, जिसमें लागो जानें गईं । भारत-जैसे देश के सामने इस समय सबसे बड़ा राजनीतिक प्रश्न यह है कि क्या यह अपनी जनता में व्यापक रूप से घुणा और द्वेष पैदा किये बगैर अपनी घरेलू बचतें दूनी या तिगुनी कराने के मामले में जबरदस्ती कर सकता है ।

जंगल कि उपर बनाये गए सरकारी कार्यों में स्पष्ट है, सरकार द्वारा किये जा सकने वाले लाभप्रद कार्यों का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है, और उन्नत अर्थ-व्यवस्थाओं की अपेक्षा कम उन्नत अर्थ-व्यवस्थाओं में तो यह और भी विस्तृत है । उदाहरण के लिए, कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में अनुसंधान-काय निजी धन की अपेक्षा मोह-धन पर अधिकाधिक निर्भर होता है, लोगों की प्रवृत्तियों में अनुकूल परिवर्तन लाने के लिए सरकार को अधिकाधिक प्रयत्न करने पड़ने हैं, कीमत-नियंत्रण के काम नहीं करता, अपनी के रूप में सरकार को अधिकाधिक काम करने होते हैं, बचतों की समस्या भी विकट होती है, गरीबी दूर कराने का काम भी बड़ा भारी होता है, और इसी प्रकार के अन्य काम भी होते हैं । एक साथ ही कम विकसित देशों की सरकारों को इतने अधिक काम करने में समय नहीं होती । उनका प्रशासन अधिक विकसित देशों की तुलना में अधिक अष्ट और कम कुशल होता है, और सरकारी काम के लिए

राष्ट्रीय आय का अपेक्षाकृत कम भाग ही खर्च किया जाना सम्भव होता है। यह भी आर्थिक विकास का एक विरोधाभास है। जिस प्रकार निर्यत देशों की धनी देशों की अपेक्षा अधिक बचत करने की आवश्यकता होती है, पर वे कर नहीं पाते, उन्हीं प्रकार धनी देशों की अपेक्षा निर्यत देशों की सरकारों को वहीं अधिक काम अपने हाथ में लेने की आवश्यकता होती है, लेकिन वे छोटे-से ही काम कर पाती हैं, और जो कर पाती हैं वे भी ठीक तरह से नहीं होने। वास्तव में किसी काल्पनिक आधार पर यह मानना बकार है कि कोई सरकार कितने काम अपने हाथ में ले सकती है, जब तक कि उस सरकार की अमत्ताओं को ध्यान में न रखा जाए। कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में सरकार पर कर्तव्यों का अधिक बोझ लादना बड़ा आमान है, लेकिन यह विलक्षण स्पष्ट है कि अधिक हाथ-पैर फैलाने के बजाय उन्हें केवल अपने ही कामों में हाथ डालना चाहिए जितना उनकी सामर्थ्य में हो।

यहीं अन्तर्गट्टीय तकनीकी सहायता कार्यक्रमों की उपयोगिता सिद्ध होती है। जिस प्रकार बाह्य वित्त घरेलू बचत का पूरक होता है, उन्हीं प्रकार घरेलू सरकार बाह्य सहायता में अपने अभाव दूर कर सकती है। इस प्रकार, साम्राज्यवादी सरकारें यदि चाहें तो प्रशासन के खर्च का कुछ अंश अपने पास से देकर, या योग्य कर्मचारी भेजकर, या अधिक नुसल और कम अष्ट प्रशासन स्थापित करके अपने अधीन देशों की सहायता कर सकती हैं। लेकिन कुशलता की दृष्टि में लाभप्रद स्थिति में होने पर भी उपनिवेशी सरकारों में नकल्प का प्रायः अभाव होता है, क्योंकि अपनी जनता के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने के लिए नयी उपनिवेशी सरकारें अग्रता के आधार पर कार्यक्रम तैयार नहीं करती। साम्राज्यवादी सरकारें अपने अधीन लोगों को इस बात का विश्वास नहीं दिला पाई हैं कि वे उनकी दशा सुधारना चाहती हैं, और गण्ट्वादी नेताओं ने इस असफलता का खूब लाभ उठाया है। उनका कहना है कि यदि वे ताकत में आ गए तो लोगों की भलाई के लिए अधिक काम करेंगे। लेकिन स्वतन्त्र देशों की नयी सरकारें अपने देशवासियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने के प्रति सचेष्ट नहीं हैं, उनमें से कई तो इस मामले में साम्राज्यवादी सरकारों में बहुत पीछे हैं। और जिन सरकारों में नकल्प है उनमें क्षमता नहीं है। बिना प्रतिबन्धों के ही गई और ली गई अन्तर्राष्ट्रीय तकनीकी सहायता से धन और तकनीकी कौशल की कमी दूर होती है, और योग्य सरकारें इनसे बड़ा लाभ उठा रही हैं। लेकिन तकनीकी सहायता विकास के लिए मकल्प या प्रशासन की ईमानदारी का स्थान नहीं ले सकती।

(ख) उत्पादन-कार्यक्रम—हर अर्थ-व्यवस्था के लिए एक पूरा कार्यक्रम तैयार किया जा सकता है, जिसमें यह बताया गया हो कि सरकार देश के

साधनों का किन किन कामों में प्रयोग करना चाहती है। इस प्रकार के कार्यक्रम का सांख्यिकीय भाग भिन्न-भिन्न प्रकार की सारणियों के रूप में होता है, जिनमें से हर सारणी अर्थ-व्यवस्था के एक-एक पहलू पर प्रकाश डालती है। एक सारणी में भिन्न-भिन्न प्रकार के (भिन्न भिन्न शीतल वाले) श्रमिकों का ब्योरा दिया होता है, और वे उद्योग या मचाएँ दी गई होती हैं जिनमें जन-संख्या की रोजगार दिया जाएगा। इसी प्रकार की अन्य सारणियों में बच्चे सामान, भूमि, इमारतों या मशीनों के उपयोग बताया जा सकता है। एक अन्य सारणी में साधनों के प्रस्तावित बँटवारे के अनुसार हर उद्योग का अनुमानित उत्पादन दिखाया जा सकता है। एक और सारणी यह बताने के लिए तैयार की जा सकती है कि उत्पादन कार्यक्रमों में कितनी धाय होगी, और उम्मीद कि किस प्रकार उपयोग किया जाएगा, इस सारणी से ही यह पता चलेगा कि उपभोग, पूँजी निर्माण और सरकारी सेवा के बीच राष्ट्रीय धाय का विभाजन किस प्रकार किया जाना है। एक सारणी ऐसी भी तैयार की जा सकती है जिसमें दृश्य और अदृश्य निर्यात से होने वाली धाय, और दृश्य और अदृश्य आयातों के लिए किये जाने वाले भुगतान के अनुमानित घाँबे हों। इस प्रकार, अर्थ-व्यवस्था के व्यापक कार्यक्रम में बीसियों पृष्ठ घाँबों के रूप में हो सकते हैं।

उत्पादन कार्यक्रम तैयार करते समय कई समस्याएँ पैदा होती हैं। पहली तो यह कि कार्यक्रम का उद्देश्य क्या है? दूसरी साधनों के उपयोग का निर्धारण—अर्थात् मनुजित विक्राम की समस्या। तीसरी समस्या सामग्र्य की है। और चौथी यह है कि कार्यक्रम के लक्ष्य किस प्रकार प्राप्त किए जाएँ।

कार्यक्रम का उद्देश्य क्या है? उत्तर इस पर निर्भर करता है कि अर्थ-व्यवस्था मुख्यतः कीमतों से नियमित होती है या सरकारी नियंत्रण में। यदि श्रमिकों, इमारतों, बच्चे सामानों, और आयातों या उपभोग या पूँजी-निर्माण के स्तरों के बारे में सरकार को निरन्तर निर्णय लेने पड़ते हों तो अपने निर्णयों में सामग्र्य रखने के लिए सरकार को सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के बारे में व्यापक पैमाने पर घाँबे एकट्टे करने होंगे। इसके विपरीत, यदि सरकार को छोटे ही निर्णय लेने पड़ते हों तो जाणकारी भी अधिक इकट्टी करने की आवश्यकता नहीं होगी। जिन अर्थ-व्यवस्थाओं का नियंत्रण कीमतों द्वारा होता है वहाँ उत्पादन कार्यक्रम तैयार किये बिना भी काम चल सकता है, इस स्थिति में हर आदमी अपना अलग कार्यक्रम बनाता है, और छोटे-से केन्द्रीय नियंत्रण की सहायता से ही बाजार-कार्य सब लोगों की प्रादिक शिखाओं का समन्वय कर लेता है।

व्यापक उत्पादन-कार्यक्रम बनाने के लक्ष्य-नाभ पट्टी हैं जो केन्द्रीय कार्या-

लय में आयोजना नैयाग करने क होने हैं। यहाँ इस पर व्योरेवार विचार करना शायद खीक न होगा, मैं इस विषय पर अलग में एक पुस्तक प्रकाशित कर चुका हूँ। मोट तौर पर व्योरेवार केन्द्रीय आयोजन के विरुद्ध यह कहा जाता है कि यह अलोकतन्त्रीय, नीकरसाही और अनम्य होता है और इसमें गलती या गटबड की गुजाडग बहुत रहती है। इसके अलावा यह अनावश्यक भी है। टुकडो में तैयार की जाने वाली आयोजनाओं का समर्थन करने के लिए अपेक्षाकृत अधिक आधार है। ये आयोजनाएँ उन थोडे-से मामलों को लेकर तैयार की जाती हैं जिन पर विशिष्ट प्रभाव डालना होता है, जैसे निर्यातों की मात्रा पर, या पूँजी-निर्माण औद्योगिक उत्पादन, या खाद्य-उत्पादन के स्तर पर, और गेप अर्थ-व्यवस्था को माँग और सप्लाई के अनुसार स्वयं समझित होने के लिए छोड दिया जाता है। कुछ-न-कुछ आयोजन आवश्यक होना ही है, क्योंकि माँग और सप्लाई के परिणाम सामाजिक दृष्टि से पूरी तरह मान्य नहीं होते, लेकिन आयोजन उन क्षेत्रों तक सीमित रखा जा सकता है जहाँ यह दिखाई देता हो कि केवल बाजार की शक्तियों से पैदा होने वाले परिणामों में हेर-फेर करना आवश्यक है।

टुकडो में तैयार की जाने वाली आयोजनाएँ अर्थ-व्यवस्था के उन क्षेत्रों के लिए सबसे आवश्यक होती हैं जहाँ वर्तमान कीमतों पर माँग और सप्लाई का सन्तुलन स्थापित नहीं हो पाता। यदि स्फीति की अवस्था चल रही हो, विशेषकर यदि सरकार कीमतों पर नियन्त्रण लगाकर स्फीति का सामना करने की कोशिश कर रही हो, तो मारी ही अर्थ-व्यवस्था में माँग और सप्लाई असन्तुलित होती है। स्फीति से वस्तुओं की कमी पैदा हो जाती है जिसके कारण आवश्यक साधनों, विशेष रूप से खाद्य, कुछ कच्चे सामान, विदेशी मुद्रा और इमारत बनाने की क्षमता पर राशन या प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता पडती है, और इस प्रकार का राशन तब तक प्रभावशाली ढग से नहीं लगाया जा सकता जब तक कि राशन की गई हर वस्तु के लिए अलग-अलग ऐसा बजट तैयार न किया जाए जिसमें अनुमानित माँग और सप्लाई के अंकडे दिये हो। स्फीति के अलावा, विकासशील अर्थ-व्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में अक्सर माँग बढ जाती है, जबकि दूसरे क्षेत्रों में मन्दी की स्थिति चल रही होती है। ग्राम तौर से सभी प्रकार के कुशल श्रमिकों की, और विशेष रूप से इमारत उद्योग के कुशल श्रमिकों की, माँग लगभग निश्चित रूप से बढती है, अत यह बडा आवश्यक हो जाता है कि कुशल श्रमिकों की सप्लाई के बारे में और उनकी सम्भावित माँग के बारे में जितने अधिक-से-अधिक अंकडे इकट्ठे किए जा सकें, किए जाएँ। यदि धरेलू उत्पादन आयातों की स्थानापन्न वस्तुएँ तैयार किये बिना ही निर्यातों की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ रहा हो तो



विदेशी मुद्रा की माँग भी बढ़ जाती है। यदि अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों के विभाग के मुद्राबले कृषि-उत्पादनता पिछड़ रही हो तो व्यापक-पदार्थों की माँग बढ़ जाती है। चरि यह आशा नहीं की जा सकती कि अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्र एक-दूसरे के साथ बिलकुल ठीक-मनुन बनाने लगकर चल रहेगे, अतः अधिक विकास के पत्रस्वरूप किन्ही क्षेत्रों में विशेषी और शिष्टी में कमियाँ पैदा हो जाती है और यही पर माँग और गार्लार्ड का अमन्तुलन अधिभ स्पष्ट और प्रबल हा उठता है। अतः इनके बार में अधिक-से अधिक जानकारी इकट्ठी करनी चाहिए और दम बात का प्रयत्न करना चाहिए कि सीमित मात्रा का अच्छ-म-अच्छा उपयोग हा।

तीन सबसे बड़े अभाव, जो किसी उत्पादन-कार्यक्रम का स्वरूप निर्धारित करते हैं पूँजी का अभाव, कुशल श्रमिका का अभाव और विदेशी मुद्रा का अभाव है। इन्हें दूर करने के लिए तीन उपाय काम में लाने चाहिए, एक तो सम्पूर्ण कार्यक्रम का आकार उपलब्ध साधनों की सीमा को दृष्टिपूर्वक निर्धारित करना चाहिए दूसरे, प्रायोजनाओं का ऐसे तरीकों में कार्यान्वित करना चाहिए जिनमें दुर्लभ साधनों का अधिभ में अधिक मितव्ययितापूर्ण उपयोग हो और तीसरे उन प्रायोजनाओं का अग्रता दी जाए जिनसे दुर्लभ साधनों की गार्लार्ड तेजी से बढ़ाई जा सके। अन्तिम बात सबसे महत्वपूर्ण है, यद्यपि दमकी प्राय उपाशा कर दी जाती है आयोजना की मच्छी कमीठी यह नहीं है कि दुर्लभ साधनों के उपयोग पर जितने प्रभावपूर्ण दम से प्रतिबन्ध लगाया जाता है उन्वि यह है कि इन साधनों की गार्लार्ड में वृद्धि करने जितनी जल्दी इनका अभाव दूर किया जाता है।

सभी अर्थ-व्यवस्थाओं में पूँजी की कमी नहीं होती। द्वितीय विश्व-युद्ध के ठीक बाद कई देशों में जैसे जैसे जिनके पास बड़ निवेश कार्यक्रमों में पैसा लगाने के लिए काफी पूँजी और विदेशी मुद्रा थी किन्तु उनकी मुख्य समस्या अल्प-शिक्षित मजदूरों और इन्सान तथा मीमेट-जैंगी यस्तुओं की कमी थी। वेग, यह एक समस्या थी स्थिति थी जिसका कारण रशियन निर्मियों का गुडका रीन सचय था। अधिकांश काम विकसित देश अब फिर पूँजी के अभाव की पुगनी स्थिति में आ गए हैं। अब दूर-दूर अवन निवेश कार्यक्रमों को उपलब्ध विन की सीमा में रचना है, साथ ही उपभोग पर बन्धन लगाकर अधिभ-से-अधिभ बिल उपलब्ध करना है। निवेश और बचन के बीच उचित मनुन रचना इन्सान धारण्य है कि इन दोनों में अधिभ अन्तर होने से स्थिति पैदा हो जाती है। हम दम पुते हैं कि योर्डी-की स्थिति पूँजी-निर्माण में गार्लार्ड होती है, लेकिन कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था की अभावा यह उद्योग-प्रधान अर्थ-व्यवस्था में अधिभ बारबर होती है, और दम पर बड़ी सावधानी से नियन्त्रण रचना पटना है,

अथवा यह अर्थ-व्यवस्था को हानि पहुँचा सकती है (अध्याय ५, पृष्ठ २ (क))। अतः उपलब्ध बचतों और अनुमत स्फीति (यदि स्फीति की मुद्रास्फीति हो) के योग से अधिक का निवेश कार्यक्रम नहीं बनाना चाहिए। साथ ही पूँजी-निर्माण की दर बढ़ाने वाले कार्यक्रमों में उपभोग पर बन्दन लगाने के उपाय भी शामिल होने चाहिए, चाहे वे बन्दन स्वैच्छा बचत के रूप में हों, बिना-बन्धुओं के उपभोग पर नियन्त्रण के रूप में हों, या कराधान के रूप में हों। इन सभी अध्यायों में प्रायः सनकर (पृष्ठ ७ (ग)) इन विषयों पर और चर्चा करेंगे।

पूँजी की कमी का प्रभाव प्रायोजकों के चुनाव पर भी पड़ता है और उन्हें कार्यान्वित करने के तरीके पर भी। प्रायोजकों के चुनाव करने समय यह नियम सामन्य रूप से जाना है कि वे उन उद्योगों में निवेश किया जाए जिनमें पूँजी का प्रति इकाई सीमान्त प्रतिफल अधिकतम हो। इनका अर्थ-तन्त्र केवल इसी आधार पर नहीं किया जा सकता कि उत्पाद किस कीमत पर बेचा जा सकेगा, क्योंकि कुछ प्रायोजकों में उनके मुद्रास्फीति प्रतिफलों की अपेक्षा बड़ी अधिक लाभ मिलता है, यह बात विशेषकर लोकोपयोगी सेवाओं पर लागू होती है—परिवहन, पानी और बिजली की सप्लाई में मुद्रास्फीति से इन सेवाओं की आमदनी को देखते हुए अन्य उद्योगों के उत्पादन में बड़ी अधिक वृद्धि होती है। न यह नियम उन प्रायोजकों पर लागू होता है जहाँ अर्थ के अनुपात में पूँजी का प्रयोग बाकी कम किया जाता है, क्योंकि अधिकतर जिन उद्योगों में पूँजी के कारण उत्पादन बढ़ता है वे पूँजी-प्रधान नहीं होते हैं—जैसे कुछ लोकोपयोगी सेवाएँ, खाने या उत्पाद के कारखाने।

किसी प्रायोजना को कार्यान्वित करने के लिए चाहें तो बहुत कम पूँजी का उपयोग कर सकते हैं और चाहें तो बहुत अधिक पूँजी भी लगा सकते हैं। यदि पूँजी की कमी हो तो ऐसे उपाय अपनाएँ चाहिए जिनमें पूँजी कम लगे, अर्थात् जिनकी आरम्भिक लागत लागतों की तुलना में अनुपात में छोटी हो और जिनमें उत्पादन आरम्भ करने में समय भी छोटा लगे। विभिन्न उपायों की तुलनात्मक लागत का आकलन करते समय यदि ब्याज की दर उंची रखी जाए (सरकारी बांडों की ब्याज-दर में अतिरिक्त, जो समुदाय के लिए पूँजी के वास्तविक मूल्य के प्रायः कम होनी है), तो यही पद्धति अनुकूल पाई जाती है।

उन देशों में विशेष आवश्यकताएँ बरतने की जरूरत है जहाँ अनुदान अर्थियों की भारी बेगी होती है क्योंकि ऐसी स्थिति में मुद्रास्फीति मजदूरियाँ अर्थियों के उपभोग की वास्तविक नामात्मक लागत का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। इन परिस्थितियों में यदि पूँजी उन नामों पर बर्तनी जाए जो अर्थियों की उत्पत्ति

ही अच्छी तरह कर सकते हो तो पूँजी उत्पादक मिद्ध नहीं होती, मजदूरियों के इस स्तर पर पूँजी निवेश पूँजीपतियों को बहुत लाभ दे सकता है लेकिन मजदूरों के समुदाय की दृष्टि से यह लाभप्रद नहीं माना जा सकता क्योंकि हममें उत्पादन तो नहीं बढ़ता लेकिन बेरोजगारी अत्यन्त बढ़ जाती है। पूँजी का दुरुपयोग अधिकारित होती के मशीनीकरण और कुटीर-उद्योगों की प्रतियोगिता में बड़े पैमाने के उद्योग पड़े करन के रूप में दिगार्त देता है (अध्याय ३, खण्ड ४ (घ) और (ङ)), अतः हम प्रकार के निवेशों को हतोन्मात्तित करना चाहिए। कभी-कभी पूँजी निवेश में उत्पादन में कोई वृद्धि न होने पर भी इसके प्रति विशेष ध्यान देना है कि हममें श्रम की बड़ी वृद्धि होती है (उदाहरण के लिए मिट्टी उठान की मशीन) या मजदूरों में कराने की अपेक्षा हममें पैसा कम लगता है और जिन वित्त-मन्त्रियों को धार-निवेश के लिए धन उपलब्ध करने में कठिनाई होती है वे निश्चय ही ऐसे तरीकों से बचना चाहते हैं जिनमें मजदूरों के ऊपर बहुत अधिक खर्च होना हो, लेकिन तथ्य यह है कि—सामाजिक दृष्टिकोण से इन दमों में ऐसे कामों में मशीनों का इस्तेमाल करना बरबादी है जो वही श्रमिक भी उतनी ही अच्छी तरह कर सकते हैं। इन दमों की पूँजी उर्ध्व रोजगार बढाने या कामों में सर्वाधिक उत्पादक हो सकती है जहाँ यह एसी प्रायोजनाओं पर लगाने जाएँ जिनमें हाथ से काम करना सम्भव न हो या जिनमें हाथ से काम कराने पर सामर्थ्य में अधिक खर्च पड़ता है (वित्त-मन्त्री प्रायः इस वाक्य की दुहराई देते हैं)। हाथ से किए जाने वाले कामों के स्थान पर पूँजी लगाना तब भी उत्पादक मिद्ध हो सकता है जब अनिश्चित उत्पादन बेरोजगारी पैदा किए बिना खपाया जा सके—माँग की मूल्य-मापकता या उदाहरण के लिए पूँजी के प्रयोग में होने वाले सुधार के खर्च पर ऐसा करना सम्भव है। ऐसे भी काम हैं जिनमें पूँजी लगाकर राष्ट्रीय उत्पादन तो बढाया जा सकता है पर साथ ही बेरोजगारी भी बढ जाएगी, जैसे घोंटों और मनुष्यों की सहायता में की जाने वाली कृषि के स्थान पर मशीनों का इस्तेमाल करके पागों के लिए अधिक अन्न उपजाया जा सकता है। निर्माण अधिक कमोटी यह है कि पूँजी उन कामों में लगाने जाएँ जहाँ हममें कुछ राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि होती हो, जैसे ही रोजगार या मुद्रारूपी लागत पर हमका कोई भी प्रभाव पड़े। लेकिन, व्यवहार में, राजनीतिक कारणों से यह सामान्य नहीं होता कि जहाँ मुद्रारूपी लागत काफी कम है वहाँ श्रमिकों के स्थान पर पूँजी का व्यर्थ प्रयोग रोका जा सके या जहाँ बेरोजगारी पैदाने का भय है वहाँ पूँजी के स्थान पर श्रम की बरबादी रोती जा सके।

मुद्रागत श्रमिकों की सभी से भी बेगी ही समझाने पैदा होगी है।

पूँजी की कमी में होती है। यदि कुशल श्रमिका की कमी हो तो निम्नलिखित वस्तुओं की दृष्टि में काम के व नगीचे बनने चाहिए जिनमें कौशल की अधिक आवश्यकता न पड़े। इन प्रसंग में एक कमी, जो उद्योग मरदा देने में भी घाती है वह उद्यमों के प्रशासन में कुशल व्यक्तियों की है। इन कम विकसित देशों में इन प्रकार के बाधकन पैदा किए जाने चाहिए जिनमें बड़े पैमाने के उद्योगों की अपेक्षा छोटे पैमाने पर कार्यन्वित किया जा सके (अध्याय ३, पृष्ठ २ (ग) )। अत्यन्त ही गरीबी को रोकने के लिए यह भी आवश्यक है कि कार्यक्रम का विस्तार करना न किया जाए कि उनलक्ष्य कौशल कम पड़े जाए। यह बात विशेष रूप से इमारत उद्योग पर लागू होती है। हम देख चुके हैं (अध्याय ५, पृष्ठ १) कि निवेश का पचान से नाश प्रनिमित्तक इमारतों के निर्माण में रूका होता है और इमारत उद्योग की क्षमता कम होने से हमें प्रायः पूँजी-निर्माण की गति बटाने में बहिर्भाई होती है। वैसे, यह कोई बहाना नहीं है, क्योंकि जितनी तेजी से सेना का विस्तार किया जा सकता है उतनी ही तेजी से इमारत उद्योग को भी बढ़ाया जा सकता है, बसने कि सम्मत्ता पर टोक से ध्यान दिया जाए और अपेक्षित श्रमिकों की भरती और प्रशिक्षण के उपाय कर लिए जाएं। लेकिन यह देखकर आश्चर्य होता है कि अनेक उत्पादन-कार्यक्रम इमारत उद्योग का विस्तार न करने के कारण ही असफल हो जाते हैं।

देश में विदेशी मुद्रा की कमी है या नहीं, यह इन पर निर्भर करता है कि आर्थिक विकास मुख्यतः निर्यात उद्योगों में किया जा रहा है या अन्य उद्योगों में (अध्याय ५, पृष्ठ ३ (ख) ) और देश जितनी विदेशी पूँजी का आयात कर रहा है। यदि मुख्यतः घरेलू क्षेत्रों का विकास किया जा रहा है (जैसे कि भारत या आस्ट्रेलिया में) तो विदेशी मुद्रा की कठिनाई अल्पकाल की है। ऐसी स्थिति में उत्पादन के वे नगीचे बनाने चाहिए जिनमें आयात की जाने वाली मशीनों और कच्चे सामान का उपयोग कम-से-कम होता हो। नाप ही, यह भी वास्तविक है कि जो उद्योग विदेशी मुद्रा बनाते हैं या उनकी बचत करते हैं उनका पोषण किया जाए—उन्से कुछ अधिक जो इन उद्योगों की दृष्टिकोण से लागत और दृष्टिकोण से आय को देने में हुए उचित हो। इन दिवस कार्यक्रम का उद्देश्य देश और विदेश व्यापार के बीच समुचित समुचित बाधक बनाने का है। कम विकसित अर्थ-व्यवस्था में आयात उतनी ही तेजी से बढ़ते हैं जितनी तेजी से आय बढ़ती है, बल्कि प्रायः इससे भी अधिक तेजी से बढ़ते हैं। अब, चीन या अमेरिका जैसे देश जहाँ अनेक प्रकार की उद्योगों की प्राकृतिक साधन हैं अनेक विकल्पों के साथ-साथ आयातों की स्थानापन्न वस्तुओं का देशीय उत्पादन बढ़ सकता है अब इन देशों की आर्थिक आयातों में उद्योग

की वृद्धि हुए बिना ही बढ़ सकती है। अथ अधिकतर एक ही दृष्टि में बढ़ छोटे है। उसी अर्थ वस्तु के माप-माप उक्त अधिकाधिक वस्तुओं और कच्चे सामान आयात करने पड़ते हैं और यदि उसी जनसंख्याएँ तब से बढ़ गई हों तो माप-माप का आयात भी बढ़ाना पड़ता है। अतः विवाह-आयश्रम में मवाधिक अग्रता निर्वाह-आय वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने और नये बाजारों के विकास का दली-आय आयातों की आगिर अभावों के लिए विदेशी निधि और अनुदान मित्रों की सम्भावना में स्थिति और भी उत्तम जाता है। अतः नियत बढ़ावा की आवश्यकता अस्थायी रूप में कम हो जाती है लेकिन बाद में जब मूलभूत और व्याज की अभावगियाँ करनी होती हैं तो नियतों को और भी अधिक बढ़ाना पड़ता है। दा माप-माप में यह समस्या विषय रूप में कठिन होती है। एक तो तरफ़ देश का अधिकाधिक नियत प्राप्त पदार्थों का रूप में होना है अतः स्थिति में यदि माप-माप में तब से वृद्धि न की जाए तो आतंरिक माप-माप पर उनभोजन का रूप में भी बढ़ जाता है साथ ही साथ है और निर्वाह के लिए प्राप्त पदार्थ न। अब पाठ अन्वयना में यही दृष्टा है। दूसरा मामला उन जनाधिक्य वाले देशों का है जिनमें उद्योगों के विकास करना है और विनिर्मित वस्तुओं का विव-व्यापार बढ़ाना है (अध्याय पृष्ठ २ (क) )। यह निश्चय करना मना में सामान्य नहीं जाता कि कौन से वस्तु निर्वाह की जाए और उन किस देश को देना जाए लेकिन कठिन होने के कारण ही समस्या में भ्रम नहीं माड़ा जा सकता।

द्वितीय मनुष्य की कमी अतः बात की छात्रक होती है कि एक के विनिर्माण और वृद्धि क्षेत्रों के बीच समुचित समन्वय नहीं है। यदि अतः में किसी एक क्षेत्र का विकास बढ़ता है तो दूसरे क्षेत्र का उत्पादन का माप भी बढ़ जाता है और यदि एक बढ़ती हुई माप का पूरा न किया जा सके तो भुगतान रूप पर दबाव पड़ता है। उद्योगों का तब से विकास हान के माप वृद्धि का भी तब से विकास हाना आगिर। औद्योगिक धर्मिता का अधिकाधिक भावन का आवश्यकता होती है। अतः ही मनुष्य में मजदूर भरती करने हारा है उपभोगों का माप के लिए विमानों की साम-निर्वाह बढ़नी आवश्यकता होती है या औद्योगिक निर्माण में विमानों का बचता या उनमें निधि रूप करों का पसा उद्योग हाना है। अतः प्रकार वृद्धि-क्षेत्र का तब से विस्तार हान के माप उद्योग भी बढ़ने आगिर अतः वृद्धि-क्षेत्र का बचा उपभोग और धर्मिता अतः क्षेत्रों में गवाए जा सकें और विमानों का अधिकाधिक उपभोग और पत्रागण वस्तुओं उपभोग कर है जा सकें। प्रतिध्वंसित वृद्धि उद्योगों में वृद्धि न हान में उद्योगों के विकास में रक्षापट्टी हाना है और भुगतान रूप पर दबाव पड़ता है अतः कि तब विकास-माप उद्योगों का अधिकाधिक

धिक आदान करने पड़ेंगे और वही उत्पादन का निर्वाह करना पड़ेगा। दूसरी बात यदि कृषि-उत्पादकता बढ़ रही है तो औद्योगिक उत्पादन और भी तेजी से बढ़ना चाहिए क्योंकि प्रतिव्यक्ति आय की वृद्धि में लाल-पदार्थों की मांग जितनी तेजी से नहीं बढ़ती तितनी तेजी से विनिर्मित वस्तुओं की बढ़ती है। मनुष्य की शक्ति का अर्थ समान वृद्धि नहीं है बल्कि मांस की वृद्धि-दरों के अनुस्यू वृद्धि है। यदि उद्योग और कृषि-अर्थों के बीच मनुष्य कायम करने पर ध्यान न दिया जाए जैसा कि आस्ट्रेलिया या अर्जेंटीना में हुआ, या ठीक मनुष्य को स्थापित न किया जाय जैसा कि रूस में हुआ तो प्रायः उन्नति नहीं हो पाती अन्य देशों की तुलना में जापान की विज्ञान आयाजना की श्रेष्ठता इसका स्पष्ट उदाहरण है।

आन्तरिक सामञ्जस्य की दृष्टि में उत्पादन-कार्यक्रम के विभिन्न अंगों की जाँच करने पर भी मनुष्य के अभाव का पता चल सकता है। पहले तो यह देखने के लिए कि उपलब्ध साधनों के अनुस्यू कार्यक्रम बनाया गया है या नहीं, सम्पूर्ण मनुष्य के बारे में जाँच की जा सकती है। उदाहरण के लिए, भिन्न-भिन्न वर्गों के कुशल श्रमिकों की मर्यादा बताने वाले श्रम-शक्ति बजट से यह पता चल सकता है कि वास्तव में जितने श्रमिक उपलब्ध हैं, विज्ञान-कार्यक्रम के लिए उनसे अधिक की आवश्यकता तो नहीं पड़ेगी। इसी प्रकार के बजट कच्चे सामानों, पूँजी, विदेशी मुद्रा, परिवहन-सुविधाओं, इमारतों या अन्य ऐसे साधनों के लिए तैयार किए जा सकते हैं जिनकी कमी पढ़ने की सम्भावना हो। इन व्यापक परीक्षणों से यह पता चल जाता है कि अर्थ-व्यवस्था को कुल जितने साधनों की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार उत्पादन की मांग के बारे में भी जाँच की जा सकती है। बजट के अध्ययन में हम बाजार के कुछ सबेरे मिल सकते हैं कि आय में वृद्धि होने पर उपभोग किस प्रकार बढ़ेगा। इस प्रकार की जाँच से यह पता चलता है कि आय के प्रायोजित स्तर पर आदान की प्रायोजित मर्यादा जितनी प्रायोजित मांग के बराबर है या नहीं। इसीसे यह भी पता चलता है कि प्रायोजित मर्यादा की तुलना में उपभोक्ता वस्तुओं की मांग कितनी होगी, और यह भी पता चल जाता है कि उपभोक्ताओं से जितनी राशियों की आशा की जाती है उसकी तुलना में वस्तुओं की प्रायोजित रकम कितनी रखी जा सकती है। इसके बाद लिगेन्टीफ की साधन-उत्पादन टेक्नीक की सहायता से हर उद्योग की अलग-अलग जाँच की जा सकती है। पुर्ण, परिवहन, पानी, इंजीनियरी सेवा आदि मर्यादा करने वाले उद्योगों के उत्पादनों में जितने विन्धार की योजनाएँ बनायी गई हैं उनकी तुलना इन उत्पादकों में लगने वाले प्रायोजित साधनों से की जा सकती है, और प्रायोजित उत्पादनों की तुलना निर्यातों, उपभोक्ता मांग और गौण उत्पादों से की जा सकती है।

मध्यवर्ती उत्पादों का प्रयोग करने वाले उद्योगों के प्रायोजित विस्तार से भी जा सकती है। चूंकि विकास-कार्यक्रम में मुख्य बाधा इमारत उद्योग की है अतः इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि उत्पादन या आयातों के जरिए इमारती सामान और घटक वस्तुएँ—विशेषकर सीमेंट, इस्पात और लकड़ी का प्रायोजित उत्पादन घट्ट रहें। दृष्टान्त में मुख्य बाधा पानी की कमी है, अतः इस बात की विशेष रूप से जाँच करनी चाहिए कि कार्यक्रम में देशकी क्षेत्रों के लिए पानी की कमी के संरक्षण और विस्तार की गति क्या रही है।

यदि आवश्यक जानकारी उपलब्ध हो तो इस प्रकार के अनेक मासिकीय परीक्षण किए जा सकते हैं जिनमें उत्पादन-कार्यक्रम के अनुसंधान का पता चल सके। लेकिन मुख्य कठिनाई यही है कि जानकारी उपलब्ध नहीं होती। बजट प्रथम, उपभोग-सम्बन्धी आँकड़े, श्रम-शक्ति की गणना, उत्पादन की गणना, आधन-उत्पादन की माँगियाँ, राष्ट्रीय आय की माँगियाँ आदि अप्रतिष्ठित आँकड़े या तो उपलब्ध ही नहीं होते, या उनमें त्रुटि की भारी गुंजायश होती है। यदि आँकड़े ठीक भी हों तो माँग और उत्पादन के परस्पर सम्बन्धों में अप्रत्याशित परिवर्तन हो सकते हैं। हमें ध्यान देना चाहिए, उत्पादन और निर्यातों के प्रायोजित अनुमान इस पर निर्भर होते हैं कि उत्पादन-कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए उठाये गए कदम कितने प्रभावशाली होंगे जो एक ऐसी बात है जिसे पहले से ठीक-ठीक नहीं जाना जा सकता। विकास-कार्यक्रम बहुत-बहुत धारणा पर आधारित होता है, हमें प्रायोजित अनुमान एकदम सही नहीं माने जा सकते, यह तो केवल इतना ही बताया है कि अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में कितना-कितना विकास होने की धारणा है। फिर भी कार्यक्रम चाहे कितना अनुमानमूलक हो, आन्तरिक सामंजस्य की दृष्टि में उसकी जाँच करना आवश्यक है, भले ही जाँच के उपाय भी अनुमानमूलक ही हों क्योंकि जाँच न किए जाने की स्थिति में अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों का परस्पर अनुदान बुरी तरह बिगड़ सकता है। ऐसे मामलों में चाहे अनुमान पर चलने के बजाय यह अधिक सुरक्षित है कि पहले आँकड़ा पर विश्वास किया जाए और उसके बाद अनुमानों का सहाय्य किया जाए, भले ही आँकड़े स्वयं धारणा रूप में अनुमान पर आधारित हों।

एक तक की अर्थ-व्यवस्था कागर्जी कार्रवाई के बारे में भी, अर्थात् अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के अन्तर्गत, के बारे में, ऐतिहासिक क्षेत्रों में निर्धारित करने का कोई महत्त्व नहीं है। अतः ही अर्थ-व्यवस्था की गति रिकार्डों में प्रयुक्त के लिए विशेष जाँच वाले उपाय हैं—श्रमिकों का प्रशिक्षण, गाँव उत्पादनता बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन, उपभोग पर नियंत्रण, निर्यात को प्रोत्साहन

त्रादि। यह आनन्दना का सबसे बड़ा धर्म उपेक्षित पद है। अर्थ-व्यवस्था के लोच-भ्रम में तो इसे करना ही भी आसान है। लेकिन निजी क्षेत्र में अपेक्षित काम करना लेना बड़ा बड़ा धर्म है—उसे उचित कामों में मजदूर लगवाना, प्रशिक्षण-क्रमों में दाखिला करना, उद्यमकर्ताओं में पूँजी-निवेश करना, उनका से बच कराना, विमानों को नयी टेक्नीकें अपनाने के लिए राजी करना, उपकरणों की खरीद या निर्यात के रूप में विदेशियों से अपेक्षित योग लेना। उत्पादन-कार्यक्रम की सबसे निर्णायक कमीठी यह है कि निजी लोगों से अपेक्षित काम करवा देने में वह कितनी सफल होती है।

निजी लोगों का सहयोग प्राप्त करने के लिए सरकार समझाने-बुझाने, दल प्रयोग करने और पारिश्रमिक के प्रयोग का महत्त्व लेती है। समझाने-बुझाने का प्रभाव बड़ा क्षणिक होता है, लोग अपनी निजी उच्छा के विरुद्ध कोई काम अपेक्षित दिन तक नहीं करते रह सकते, भले ही राजनीतिक नेता कहते रहें कि यह सार्वजनिक हित की बात है। कार्यक्रम के प्रभाव तबों को लेकर भाषण और प्रचार करना उपयोगी होता है और जनता का उद्योग समर्थन प्राप्त करना बड़ा बाधनीय भी है, लेकिन अपेक्षाधिक समर्थन तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कार्यक्रम में हर आदमी से निरन्तर काम करने की अपेक्षा यह स्पष्ट किया गया हो कि इसमें सहयोग देने से उन्हें कितना व्यक्तिगत लाभ होगा। दल-प्रयोग का भी सीमित उपयोग है। इसकी महत्त्वता में लोगों की कुछ ऐसे काम करने से रोका जा सकता है जिन्हें करना कार्यक्रम के प्रतिफल हो, लेकिन उनकी महत्त्वता में लोगों को कार्यक्रम की निष्ठा के लिए काम करने को प्रेरित करना बड़ा मुश्किल है। विशेषकर लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में। जैसे, लोगों पर अपेक्षित अधिकार करने की दृष्टि से कुछ दम्पुओं का समर्थन किया जा सकता है, या कच्चे माल या उद्योगों के लिए राज-सेव-प्रदाय लागू की जा सकता है, लेकिन उद्यमकर्ताओं को उद्योगों में पूँजी-निवेश करने के लिए और विमानों को बेसी आश्वासन उपदान के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता, जैसा कि बाद में हम ने अनुभव किया। आर्थिक-प्रदाय इस अर्थ में उपयोगी है कि यह लोगों को अपेक्षित काम करने से रोकती है और इस प्रकार, अपेक्षित रूप में, वांछित कामों की सम्भावनाओं को बढ़ाती है। लेकिन विकास-कार्यक्रम को कार्यान्वित करने का मुख्य तरीका पारिश्रमिक का होना चाहिए। यदि श्रमियों का अपेक्षित सहयोग प्राप्त करना है तो काम के अनुसार मजदूरियों में उचित अन्तर होने चाहिए। यदि विमानों का सहयोग लेना है तो उन्हें उनके लाभ दिखाई देने चाहिए। इसी प्रकार, यदि उद्यम-कर्ताओं से पूँजी-निवेश कराना है तो समुचित लाभों की सम्भावना होती चाहिए। उत्पादन-कार्यक्रम की सफलता सुनिश्चित करने का सबसे सरल



उपाय यह है कि अवाञ्छित कार्या पर कर लगा दिया जाए और वाञ्छित कार्या को बढ़ावा देने के लिए उपादान (किमी न-किमी रूप में) दिया जाए।

एक और अनुकरणीय उपाय यह है कि उत्पादन कार्यक्रम की जिन मदों में निजी क्षेत्र में सहयोग लेना हो उसकी रूपरग्ग संवार करने समय निजी क्षेत्र का सहयोग ले लिया जाए। राजनीतिक दृष्टि में ऐसा करना मरदा आगान नहीं होता। कुछ कम विकसित देशों की सरकार सामान्यतया निजी उद्यम और विशेषतया विदेशी उद्यम के विरुद्ध है और इन्हें उत्पादन कार्यक्रम की तैयारी में भाग लेने की अनुमति नहीं दे सकती। वे हमें कार्यक्रम संवार करती हैं जो अभी कारगर हो सकते हैं जब व्यवसायी उनमें सहयोग दें लेकिन साथ ही वे निजी लाभ और सहयोग दोनों से भ्रमण बचने का प्रयत्न करती हैं। ऐसी स्थिति में यदि कार्यक्रम अमफल हुआ तो आश्चय नहीं करना चाहिए। किसानों में सहयोग लेना भी उतना ही मुश्किल होता है। कुछ सरकारों पर जमींदारों का बड़ा प्रभाव होता है जो भूमि-सुधार के उपायों पर ध्यान नहीं देने देना चाहते, जिनके अभाव में किसानों का उत्पादन बढ़ाने के प्रति कोई प्रेरणा नहीं होती। कुछ जमींदार किसानों की बगीचों का पूंजी-निर्माण के काम में लगान की कोशिश में रहते हैं। यदि सरकार पूंजीपतियों और किसानों दोनों का सहयोग प्राप्त कर ले तो विकास कार्यक्रम की सफलता सुनिश्चित हो जाती है, लेकिन बहुत घाटी सरकारें ऐसी हैं—रूस-मेक्सिको-ब्राजील-आदि देशों में—जो कार्यक्रम की सिद्धि के लिए लोगों में अज्ञान फैलाकर लाने पर भी उनका राजनीतिक विश्वास प्राप्त कर लेते हैं।

उत्पादन-कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए बड़े निष्ठा के सहयोग की आवश्यकता पड़ सकती है। निस्सन्देह बड़े पैमाने पर होगा जिनमें सरकार पूंजी-निवेश करना चाहेगी, पर उद्यमकर्ता उनके लिए संवार नहीं हाय। ऐसी स्थिति में सरकारी एजेंसियों को अनुसंधान करने उनके परिणामों का प्रचार करना पड़ सकता है, और कुछ पूंजी लगाने या विश्वी या नाभागी की गारण्टी देने की जरूरत पड़ सकती है। जिन अर्थ-व्यवस्थाओं में सरकार निजी उद्यम-कर्ताओं को प्रेरित करने, उनका मार्गदर्शन करने और उन्हें बहावा देने का प्रयत्न करती है बड़ी व्यवसाय और सरकार मूल पुन-मित्त जान है, जैसे कि जापान में। किसानों में भी उनमें ही निष्ठा सहयोग की आवश्यकता होती है। सरकारी एजेंसियों अनुसंधान करती हैं, किसानों को नए तरीके अज्ञान के लिए राजी करती हैं, उन्हें उपाय देती हैं कृषि-उपकरणों के विपणन में सहायता करती हैं और गांवों में पाठों पढ़ाती हैं। जब तक किसानों का विश्वास प्राप्त न किया जाए तब तक इन कामों का कोई फल नहीं निकलता।

अंतिम निजी क्षेत्र में अज्ञान सहयोग सिखाना बहिन होता है रूस-मेक्सिको

नगरों की शक्तों पर अतः कुछ सरकारें निजी उत्पादकों के सहयोग के बिना ही कार्यक्रम पर अमल करना आरम्भ कर देती हैं। यदि किसान मुग्न या गरीबानु हान ह या खाद्यान्न की कीमतें ऊँची बरगन पर बन देते हैं तो सरकारें अपने पाम खान लती हैं और इन्हीं की उपज बढ़ाने की कोशिश करती हैं। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में (सामूहिक श्रेणी से पहले) रूस की यही नीति थी और उसी नीति का अनुकरण करते हुए ब्रिटेन की सरकार ने अशोभी किसानों का आद्य-उत्पादन बढ़ाने पर पैसा खर्च करने की बजाय अरीबों में मर्यादी श्रेणी की बड़ी-बड़ी यात्राएँ चालू की थीं। जब रूस में यह नीति अमल पर रही तो वहाँ की सरकार ने ऊँच कर और कम कीमतों वाली नीति के स्थान पर किसानों को अपने सामूहिक पानों में काम करने के लिए विद्युत् विद्या, जहाँ उन्हें ऊपर से मिल आदनों के अनुसार काम करना पड़ता था। बहुत-कुछ ऐसा ही दृष्टिकान उद्योगपतियों के मामले में भी अपनाया जा सकता है। कुछ सरकारों का विचार है कि निजी व्यवसायियों को जितने लाभों की जरूरत होती है वे प्रेरणा और निवेग दोनों दृष्टियों से बहुत अधिक हैं और समृद्धि के नाम पर इनका अनुमोदन नहीं किया जा सकता। वे कौनों और लाभ दोनों घटा देती हैं और इससे यदि निवेग को घबका लगता है तो लोक उद्योग स्थापित करके निजी क्षेत्र का काम अपने हाथ में ले लेती हैं। ऐसा करने में उनके ऊपर पूँजी, तकनीकी जानकारि, प्रबन्ध-कौशल और उद्योगीकरण का शीर्षण करन के लिए उपयुक्त उद्यम आदि दुर्लभ साधन जुटाने की भारी जिम्मेदारी और आ जाती है। आर्थिक विकास का काम करना बटिन है कि कम-से-कम आरम्भिक प्रबन्धों में मारी उपलब्ध जान-कारी और पहल एक जगह ल आना वाछनीय होता है, लेकिन बहुत सी सरकारें, जिनके यहाँ प्रति व्यक्ति उत्पादन कम है, इस विचार से महमत नहीं हैं।

(क) लोक-व्यय के कार्यक्रम—उत्पादन कार्यक्रम समूची अर्थ-व्यवस्था के लिए हो या न हो, परन्तु यदि सरकारी अधिकारी-वर्ग पर नियंत्रण रखना है तो लोक-व्यय के लिए किसी कार्यक्रम का होना उच्चरी है। व्यवहार्यत हर सरकार अपने बजट में वाणिज्य व्यय का एक कार्यक्रम बनाती है। अभिजात जन

विकसित देश एक वर्ष में अधिक अवधि के लिए भी ऐसे कार्यक्रम बना रहे हैं, कुछ न पाच या छ या दस वर्ष तक के कार्यक्रम बनाए हैं। सब तो यह है कि कुछ देशों को अन्तर्राष्ट्रीय सहायता की एक शर्त के रूप में ऐसा करना पड़ता है। १९८५ में जब ब्रिटेन की सरकार ने ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकारों को अनुदान देने के लिए १२०० लाख पाउण्ड की राशि अलग से निर्धारित की, तो उसने औपनिवेशिक सरकारों से कहा कि वे किसान-सम्बन्धी व्यय का एक

२५ वर्षीय कायत्रम प्रस्तुत कर इमा प्रकार १९५० म कायत्रमो आयोजना म सम्मिलित किय गण गंगा म छ वर्षीय आयोजनाए पग करने का मांग का गई थी । राष्ट्र गण का अन्तराष्ट्रीय बन् भी चाहता है कि विभिन्न दण एमी आयोजनाए बनार्गे और इन् बनान म मन् दन के लिए वह अविश्वमित दण म अर्पण गिण्ट मण्डन भजता है अमरीका न एक कम्प और बनकर यूरोप का मागल महायना दण का प्रस्ताव गया जिन् दणो का सहायता ती गई उन् अपना अथ व्यवस्था के हर क्षत्र—नाक और निजी—को सम्मिलित करन हुए चार वर्षीय आयोजनाए पग करना पन्ती थी—य एम दण न मांगा था जहो आयोजना गण पर कतई वि रास नगी किया जाता ।

बहु वर्षीय आयोजनामा क लाभ बहुत स्पष्ट हैं । इन कायत्रमा का कच्चा रूपरेखा बनाने की प्रक्रिया म सरकार के अन्त विभागा तथा एजमिया का सम्भवत पन्ती बाग स्वय अर्पण त्थ निधारित करन पन्त है । आयोजना बनान म उनके काम का एक गिणा मिल जाता है और काम का चरणा म र्ण जाता है जोकि अ यथा सम्भव न हाना । उमक बाग जब विभिन्न एजमिया के कायत्रम एव म्वाण पर अर्पित हो जान ह ता उनकी एक रूपता और समुचित अर्पणाका क निधारण का अवसर मिलता है । सरकार का एक अण प्राय यन् नही जानता कि उमका दूसरा अण क्या कर रहा है और सरकार के सब कामा म विण एव कायत्रम बनान का उन् रत अण पर उनके समन्वय का अवसर मिलता है । इमक अनाका कुछ विभागा क अर्पणा म दूसरा का अण ता अधिक पहन हाना है और अर्पणाको व्यापूण प्रणाना क अनुसार उनक विभाग का जितना धन मिलना चाहिए उमक अधिक धन क अर्पणे विभाग के कायत्रम क लिए ल जान ह । यद्यपि व्यापक कायत्रम होने पर भा एमा ता मजता है परन्तु यदि मभा विभागा म एक साथ अर्पणे अर्पण कायत्रम भजने का कहा जाए और यदि अर्पण रूप म उनको बनने वाली एजमा एक रूपता क अर्पणा क महत्त्व का अर्पण गण और उम समुचित समन्वय म्वादिन करन का अर्पण हो ता इम बात का सम्भावना कम हो जाता है । यह सब काया गामा सब कायत्रम आयोजना प्राधिकरण का कुशलता और उमक प्राशिराण पर निर्भर हाना है । यदि प्रस्तुत किय गण कायत्रम निश्चय हो उपरान्त माधना म बहुत अधिक गण हैं अत कायत्रम क पुनार और उमका काया र्पण म कठिनाई हाना है और अमरीकन प्राशिराण को सरकार क मुख्य मथा का पूण समन्वय गिणता और आयोजना म उमका जितकरी गता जरुरा हाना है । एम प्रकार एक बार कायत्रम बज जान क बा यन् उा तागा क विण अण उपागा गिण्ट हान है जि एम काया र्पण गणा है । सरकार क विनाय अर्पणा म्वादिन का

अनुमान करके पहले से ही अपनी आयोजनाएँ बना सकते हैं। इंजीनियर अपने कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार कर सकते हैं। खरीद करने वाले विभाग सामग्री की खरीद के लिए समय पर आदेश दे सकते हैं, और इसी प्रकार अन्य काम हो सकते हैं। आयोजना बनी जाना के कारण काम की प्रगति भी आँकी जा सकती है। नए लोग का पता जाना है कि किसी एजेंसी में क्या आशा की जाती है, इसलिए वास्तविक में निर्धारित रकम को देखते हुए उसकी सफलता आँकी जा सकती है।

वह-वर्षीय आयोजना के त्वर भी उनमें ही स्पष्ट है। चूंकि भविष्य के बारे में, यहाँ तक कि भावी पाँच वर्षों की अवधि के बारे में भी, कोई कुछ नहीं जानता अतः ऐसी किसी आयोजना के उपबन्धों में पूर्णतः बंधक बनना अलाभप्रद हो सकता है। ये कार्यक्रम जल्दी ही पुराने पड़ जाते हैं। हो सकता है कि कीमतें तेजी से बढ़ जाएँ या उपलब्ध ज्ञान वाताघन आशा में अर्थिक या कम (प्रायः कम) पड़ जाएँ। कुछ प्रायोजनाएँ नियत समय से पहले पूरी हो जाती हैं, अधिकांश प्रायोजनाएँ सामग्री, कारीगरों, वैज्ञानिकों, या धन की अपेक्षित कमी के कारण रुक जाती हैं। अतः ऐसी कोई भी आयोजना निरन्तर पुनरीक्षण के अधीन होनी चाहिए। इस कठिनाई का दूर करने के लिए पुस्तक-रिक्तों की सरकार अपनी छ-वर्षीय आयोजना का पुनरीक्षण हर साल करती है, और हर साल अगले छ वर्षों की आयोजना बनाती है। किसी भी उपाय में यह सुनिश्चित नहीं किया जा सकता कि आयोजना भविष्य में बदलने वाली परिस्थितियों के अनुरूप हमेशा ठीक ही बैठे। उनके विपरीत, यद्यपि हम भविष्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कह सकते, पर आयोजना की जरूरत इसलिए होती है कि उन समय उपलब्ध जानकारी के आधार पर भविष्य के लिए कोई आयोजना बनाएँ बिना हम समुचित ढंग में काम नहीं कर सकते।

इनमें से कुछ कार्यक्रम सरकारी विभागों, लोक निगमों, सरकारी वित्त निगमों तथा अन्य सरकारी एजेंसियों के प्रस्तावित पूँजीगत खर्चों की सूची-बान होने हैं। अन्य आयोजनाओं में सामान्यतया बजट में आने वाले सभी पूँजीगत या चालू खर्चों के खर्च सम्मिलित होने हैं। केवल पूँजीगत खर्चों के बजाय सभी खर्चों का कार्यक्रम बनाना अधिक अच्छा होता है। पहली बात तो यह है कि पूँजीगत खर्चों के कारण बाद में चालू खर्च बढ़ते हैं, स्क्रू बनाने के फलस्वरूप बाद में अध्यापकों को वेतन देना होता है, या ट्रैक्टर खरीदने के फलस्वरूप उनके लिए ड्राइवर रखने होते हैं। यदि आवश्यक खर्चों के बिना ही पूँजीगत खर्चों का उद्देश्य कर दिया जाए, तो यह जानना कठिन होता है कि कौन-सी प्रायोजना पर कितना खर्च बैठेगा, और हो सकता है कि वित्तीय आयोजना विफल चलने लगे। दूसरी बात यह है कि यदि आयोजनाएँ बनाने वाले

न कहा जाण कि व पजागत प्रय तत्र नोमित कायप्रम प्रस्तुत कर ता हा सरता है कि उनस स्वय गदता न जाण । विकाम कवच पजीगत सच पर हा निभर तथा नता इसर त्रिग विभिन्न पिशा कायप्रमा पर जम टुपि विस्तार पर भारा आवर्ती सच करना पन्ता है । यदि पजीगत सच पर न जाण हा ता न कायप्रमा का उपमा न ज्ञान का सम्भावना पन्ता है ।

यन् वन्त वाञ्छनीय न कि ताक व्यय क कायप्रम नशा कर्न सम्य र्चिन अग्रताया का यन म रखा जाना चाहिण पर न उचिन अग्रता निरंतरित करन क त्रिग वा न नियम निश्चित कर पाना सम्भव नती है । अग्रिय न अग्रिय नम दन कर गहन न कि उन वाता का अन्त कर द जिह् तकर कुछ कायप्रमा म प्रतिया पायी गई है ।

पहली बात यन् है कि ताक भद्र क कायप्रमा का निजी क्षत्र का गति विविधा क साथ समुचित सम्बन्ध हुना चाहिण । लाहापयाया मवाया—जम रवव गान्धिया जम यवस्था विजरी अन्ति का ममूना कायप्रम निजी निवण कताया की मगा क अनुस्य नता चाहिण ताकि जब और जमी सुविधाया की जरूरत हा उह उपनय कराया जा सक । दमा प्रकार कारीगरा क प्रति क्षण का कायप्रम दम वान पर निभर शता है कि किन प्रकार क कोणन का जरूरत पन्ती । अत ताक प्रय क कायप्रम और उत्पानन क कायप्रम साथ साथ संपार निय जान चाहिण । दोर प्राधिकारिया का ना यह पना हाना चाहिण कि निजी उद्यम क्या करता चाहता है और निजी ध्यवमाया का ताक कायप्रम का स्वरूप निर्धारित करन म हाथ बगाना चाहिण ।

दुसरी बात यह है कि कुछ कायप्रमो में नगरो का अत्यधिक महत्व दिया जाता है और शहातो का उपमा की जाती है । अनेक कायप्रम दशमो का सचता म जहाँ अग्रिया जमगम्या रहता है नगरो की मजान और उनम अद्य मकाना म्कृता पाना क अहतर सपनाड या विवि मा सुविधाया की अ्यवस्था का बहुत प्रमुयता दन हैं । गहरा म बंटकर दहाना क त्रिग बनाया गद अवाजनाया का एक अत्य विष्ण म धान वाता की अमार्त करना होता है । छोटे स गान्धार राज्या क निमाण पर वन्त अग्रिय सत सच क दिया जाता है जबकि गतिहान म हा तत्र की अमार्त मन्को र निमाण पर त्रिनन उत्पानन का अग्र ताज्ज अन्ति लाभ हा मरता है वन्त ती कम ध्यान दिया जाता है । अथवा किता एव नती क निवन्त पर वन्त वन्ती मात्रा म गापन तथा दिए जान हैं जबकि या उपन हा सच न अनेक कम नाताय और छाटा छाटा महरे अन्तर जल से म्का अन्ति दाद न म्जना है । अम तरह का गन्धार अवाजना कनी कभा टाक नाति पर ना अर्था न हाता है उता हा ताज्ज की छाग जग क अवाजनाया का पना एक र्ण

प्रयोजना विकास की दृष्टि में अधिक हितकर हो सकती है। हम यह नहीं कहते कि शानदार आयोजनाओं में बचा जाय, बल्कि आयोजना तैयार करने के काम का समुचित विवेक्षण किया जाना चाहिए। देशों को प्रोत्साहित किया जाए कि वे स्वयं अपनी आयोजनाओं तैयार करें, और आयोजना-प्रक्रिया में उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए ताकि उनकी जरूरतों की उपेक्षा न हो सके। इस सम्बन्ध में सर्वोत्तम उदाहरण 'सामुदायिक विकास' प्रणाली (अध्याय ३, खण्ड १ (क) और अध्याय ५ खण्ड २ (क)) का अनुसरण है। चूंकि यह स्वच्छता और पर निर्भर नहीं है, अतः वही योजनाएँ पूरी हो सकती हैं जिन्हें वास्तव में लागू करना है। सामुदायिक विकास अपने ढंग का सबसे अच्छा कार्यक्रम है और हर आयोजना में इस काम के लिए राष्ट्रीय आय का एक या दो प्रतिशत के दरपर स्वयं अलग में निर्धारित की जानी चाहिए।

सामुदायिक विकास का लाभ यह भी है कि इसमें पूंजीगत खर्च की फिजूलखर्ची कम हो जाती है, जोकि अन्य कार्यक्रमों की तीव्र श्रुति है। कम विकसित देशों में पूंजी दुर्लभ होती है, अतः उसे बहुत सोच-समझकर खर्च किया जाना चाहिए। चित्तनी मस्ती-से-मस्ती इमारतों से काम चलाया जा सके, उसमें अधिक कीमती इमारतों खरी नहीं करनी चाहिए। पचान बरस तक चलने वाले स्कूल, या ग्रामपाल या नापीय बिजलीघर बनाना प्रयत्न है, यदि उससे कम खर्च में तीस वर्ष चलने वाली कोई इमारत बनाकर काम चलाया जा सकता हो—ऐसी बहुत सी इमारतें मरने में परिवर्तन होने या घायल व वृद्धि होने के कारण तीस वर्ष बाद अनुपयुक्त समझकर स्वयं ही गिरा दी जाती हैं। इसी प्रकार, पुरानी मशीन नयी मशीन की अपेक्षा प्रायः अधिक उपयुक्त होती है, और उन्नत देशों में अप्रचलित मशीनें जाने वाले उपकरण यदि मसत मिल सकें, तो और भी विपणित हो सकती है। अच्छी सरकार अपना हर काम अच्छे ढंग में करना चाहती है, और इस बात की इच्छा होती है कि उसके द्वारा बनायी गई इमारतें बहुत दिन तक चलें और शानदार भी हों, परन्तु बहुत गरीब देश इस काम का मनचाहूँ ढंग में नहीं कर सकते। निर्माण-कार्यक्रमों का एक सामान्य दोष सीमेंट और इस्पात का अंधाधुन्दा प्रयोग है।

वस्तुतः ऐसे कार्यक्रमों का एक अन्य दोष यह भी है कि इनमें भौतिक वस्तुओं के विकास के लिए अत्यधिक और मनुष्य के कल्याण के लिए बहुत कम निवेश किया जाता है। इसका प्रभाव विशेषतया लोक-स्वास्थ्य-कार्यक्रमों और शिक्षा-कार्यक्रमों में निवेश की कमी के रूप में दिखाई पड़ता है। जहाँ तक लोक-स्वास्थ्य का प्रश्न है, हम पहले (अध्याय २, खण्ड २ (क) और

अध्याय ४, खण्ड ३ (ग)) देव चुके हैं कि तुराब में सुधार करने के उपायो से, और शरीर क्षीण करने वाले रोगों का उन्मूलन करने के उपायों में उत्पादनता बहुत बढ़ाई जा सकती है। और जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है हम शुभाव दे चुके हैं कि प्राथमिक, माध्यमिक, तकनीकी और विश्वविद्यालय-शिक्षा पर बिय जान वाले सामान्य स्तर के प्रमाणा वृत्ति-प्रधान दशों को चाहिए कि वे अपने राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग एक प्रतिशत वृत्ति-सम्बन्धी अनुसन्धान और वृत्ति विस्तार पर धन से खर्च करें (अध्याय ४ खण्ड ३ (ख))।

अन्तिम बात यह है कि लोक-क्षेत्र के बाहर प्रयाग के लिए पूँजी देन के मामले में सरकारी योग के महत्त्व को ध्यान में रखा जाना चाहिए। हम पहले देव चुके हैं (अध्याय ५, खण्ड ३ (क)) कि घरेलू बचतें कम होने के कारण छोटे पैमाने की वृत्ति, औद्योगिक विकास, पोषोपयोगी सेवाओं और मरामों के लिए सरकार को ही मुख्य रूप से पूँजी देन का काम बंधो करना पड़ता है चाहे हम पूँजी की व्यवस्था सरकारी बचतों से भी जाय या इसके लिए विदेशों से धन लिया जाए, या मुद्रास्फीति के जरिए पैदा किया जाए। लोक-क्षेत्र के लिए कार्यक्रम तैयार करने में एक गहरा यह भी हो सकता है कि लोक-सेवा एजेंसियों की माँगों पर अत्यधिक ध्यान दिया जाए और समुदाय के साधनों का बहुत बड़ा भाग अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रों की उपस्था करने हुए हा पर खर्च हो जाए। यह एक अन्य कारण है कि लोक-क्षेत्र का कार्यक्रम बनाने का काम समूची अर्थ-व्यवस्था का सर्वेक्षण करने के काम के माध्यम से किया जाना चाहिए। सम्पूर्ण विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि लोक-सेवा का सर्व-अर्थ-व्यवस्था के 'उत्पादन' क्षेत्र में दिया जाना चाहिए और इस बात का ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि समाज तथा कल्याण सेवाओं पर अर्थ-व्यवस्था की उत्पादन-क्षमता में अधिक खर्च न किया जाए।

(ख) राजकोषीय समस्या—सरकारों की वित्त-सम्बन्धी आवश्यकताएँ गंभीर बढ़ती रहती हैं, क्योंकि लोक-क्षेत्र समूची अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ता है। हमें प्रमाण अनेक स्तरों में मिलते हैं, सरकारी नौकरियों में नए लोगों की बढ़ती हुई संख्या में, सरकार द्वारा अधिक-अधिक साधनों के प्रयोग में, या राष्ट्रीय आय में कर-प्रदान के निरन्तर बढ़ते हुए अंतर में। पहले नौकरियों में नए लोगों की मात्र तीजिए। रक्षा की छोड़कर मिदियन नौकरियों में लोगों की संख्या बढ़ाविल ही अर्थ-क्षेत्रों में नए लोगों के २ प्रतिशत में कम होती है, और घमरीका में लगभग १० प्रतिशत तक य वित्त में ११ प्रतिशत तक है (केन्द्रीय तथा स्थानीय प्रशासन का मिताकर)। हमें महत्त्व से नए जोड़िए, जो कि देवमात्र में लगभग १०० में से कर क्षेत्र में आधिकारिक

बरना चाहें, और यदि उनकी विफायता से सिर्फ ५ प्रतिशत की बचत होनी हो, तो ७ प्रतिशत की कमी रह जाएगी जो किसी-न किसी प्रकार पूरी बरनी होगी। १२ प्रतिशत का लक्ष्य कोई असाध्य लक्ष्य नहीं है यह दर लगभग उतनी ही है जितनी औद्योगिक शक्ति के आग्निभ्र चरणों में यूरोपीय अर्थ-व्यवस्थाओं की थी, साथ ही यह कम और जापान की दरों से कम है। यदि हम पूंजी-धाय का अनुपात ८ : १ मानें तो १० प्रतिशत निवेश होने पर वास्तविक धाय में ३ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि हो जाएगी यदि जनसंख्या १.३ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर में बढ़ रही हो और लगभग पचास वर्ष में दूनी हो जाती हो, तो प्रतिव्यक्ति वास्तविक धाय १.३ प्रतिशत वार्षिक की दर में बढ़ेगी। इस गति में कम विकसित देशों में रहन-गहन का स्तर उगी दर में बढ़ेगा जिस दर में पश्चिमी यूरोप के देशों में बढ़ रहा है और इस प्रकार धनी और गरीब देशों के बीच गार्ड ज्यों-ती-र्यों बनी रहेगी। यदि इस गार्ड को पाटना हो तो और भी अधिक निवेश की जरूरत पड़ेगी।

कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की सरकारों अधिक विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की सरकारों की तुलना में कम राजस्व इसलिए नहीं इकट्ठा करनी कि उन्हें छोटे ही राजस्व की जरूरत होती है, बल्कि इसलिए कि उन्हें राजस्व इकट्ठा करना मुश्किल पड़ता है। इस मामले पर वास्तविक माधनों के मन्दर्भ में विचार करना सबसे अधिक धामान है। उम अर्थ-व्यवस्था की संपत्ति जहाँ केवल १२ प्रतिशत लोगों को मेली में लगाने की जरूरत होती है उम अर्थ-व्यवस्था में सरकारी काम के लिए बहुत छोटे लोग उपलब्ध किये जा सकते हैं जहाँ जनसंख्या का ७० प्रतिशत मेली में लगा होता है और बाकी दूसरे कामों के लिए केवल ३० प्रतिशत जनसंख्या बच रहती है। कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में करो के रूप में उतनी रकम वसूल नहीं की जा सकती, जितनी अधिक विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में की जा सकती है। फिर भी प्रयत्न करने पर वर्तमान से अधिक रकम वसूल की जा सकती है। इन देशों में अधिक राजस्व इकट्ठा करना मुश्किल है, परन्तु इतना मुश्किल नहीं है, जितना कभी-कभी कहा जाता है। इस अध्याप में लोक-वित्त पर कोई आरम्भिक लेख देने की गुंजाइश नहीं है, इस मण्ड में हम अध्यापन निधन देशों की कुछ विशेष समस्याओं पर ही चर्चा करेंगे।

सबसे पहले टेक्निक की समस्याएँ हैं। बरापात का एक विज्ञान यह है कि ऐसे करो से बचा जाए जिनको इकट्ठा करना बहुत मुश्किल होता है क्योंकि ऐसे कर बहुत से लोगों में वसूल करने होते हैं और हर आदमी के उन मामूली-सी राशि देना है। प्रयोग और संप्रदाय दोनों प्रकार के करो के सम्बन्ध में यह बात बराबर लागू होती है। यह भी एक कारण है जिनको



वजह से अपेक्षाकृत बड़ी-बड़ी आमदनियों वाले व्यक्तियों पर ही आय-कर लगाया जाता है। उदाहरण के लिए, अधिकांश देशों में १५० पीट प्रतिवर्ष में कम कमाने वाले व्यक्तियों में आय-कर लेना लाभप्रद नहीं समझा जाता। परन्तु गरीब देशों में १५० पीट वार्षिक से अधिक कमाने वाले व्यक्तियों का अनुपात कुल जनसंख्या को देखते हुए बहुत छोटा होता है। इसीलिए, धनी देशों की तुलना में गरीब देशों में आय-कर से अपेक्षाकृत कम आय प्राप्त होती है। मंच तो यह है कि गरीब देशों का काफी दृढ़ तब अप्रत्यक्ष करों पर इन-लिए नहीं निर्भर रहना पड़ना कि वे किसी अन्य प्रकार से कर-भार का दिन-रण करना चाहते हैं—इस सम्बन्ध में वाठिन परिणाम निकलना आवश्यक नहीं होना—बल्कि इसलिए निर्भर होना पड़ना है कि व्यावहारिक छूट सीमा के ऊपर राष्ट्रीय आय बहुत थोड़ी होती है। करगणवचन की समस्या भी इसी से सम्बन्धित है, क्योंकि यदि कर लगाई जा सकने वाली आय का बहुत बड़ा भाग उन छोटे-छोटे व्यापारियों के हाथों में होता है जो टोक डग से हिसाब-किताब नहीं रखते तो कर के उपबन्धों को लागू कर पाना अत्यधिक महंगा पड़ता है। अधिकांश कम विकसित देश यदि कर-सम्बन्धी कानूनों को अधिक प्रभावी ढंग से लागू करें, तो उन्हें बहुत बड़ी मात्रा में लाभ हो सकता है, परन्तु इन कानूनों की अप्रत्यक्ष कटौत से लागू करने पर भी आय-कर उनके राजस्व का मुख्य स्रोत तब तक नहीं बन सकता जब तक कि कुछ ऐसे बड़े-बड़े बन्दन निगम या अन्य निगम न हों जिनसे भारी मात्रा में कर वसूल किया जा सके।

कुछ देशों की अप्रत्यक्ष करों की टांगी में भी बड़ी तकनीकी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अप्रत्यक्ष कर बनी आसानी से उन अवस्थाओं पर लगाया जा सकता है जहाँ से राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग मुद्रा-भर लोगों के हाथों में होकर गुजर रहा हो। आयात और निर्यात का काम प्रायः थोड़े-से थोड़े व्यापारियों के हाथों में होता है, जिनसे आयात-निर्यात शुल्क आसानी से टकट्ठा किया जा सकता है। औद्योगिक देशों में उत्पादन का बहुत बड़ा भाग थोड़ी-सी बड़ी-बड़ी फर्मों में होता है और इसलिए उत्पादन-कर और सरोद-कर टकट्ठा करने पर अधिक सब नहीं पड़ता। परन्तु सभी कम विकसित देशों की अवस्था इसी मुविधाजनक नहीं होती। श्रीलंका में निर्यात राष्ट्रीय आय के लगभग चालीस में पचास प्रतिशत तक होता है, अतः वहाँ बहुत थोड़े प्रशासकीय व्यय की सहायता से आयात या निर्यात-करों द्वारा राष्ट्रीय आय के एक बहुत बड़ा भाग को वसूली कर ली जाती है। परन्तु उनके पड़ोसी देश भारत का निर्यात उनकी राष्ट्रीय आय के १० प्रतिशत से भी कम है, अतः वहाँ विदेशी व्यापार पर राजस्व का बड़ा हिस्सा ही आय

व्यवस्थाओं की अपेक्षा और भी अधिक अग्रिम होना है। इनके पूँजीकृत क्षेत्रों में मजदूरियों को दबाने हुए लाभों का अनुपात औद्योगिक अर्थ-व्यवस्थाओं की अपेक्षा अधिक होता है—यहाँ तक कि कुछ मामलों में, जैसे मध्य अफ्रीका की तान्ज़ी की गानो में, लाभ निवल उत्पादन का आधा या उससे भी अधिक होता है। अतः कम विकसित देशों के मध्यम में कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। कुछ कम विकसित देशों में आय का वितरण अमरीका की अपेक्षा भी अधिक अग्रिम है, जबकि कुछ अन्य देशों में जैसे गॉन्ट कोम्स्ट और नाट-जीरिया में, यह अपेक्षाकृत बहुत कम अग्रिम है।

कम-से-कम वित्तीय आय में वृद्धि लाना शुरू किया जाए, यह अतः इस बात पर निर्भर करना है कि आय का वितरण कितना अग्रिम है, पर अतः इस बात पर भी निर्भर है कि प्रेरणा तथा वचनों पर बराबर का क्या प्रभाव पड़ता है। बाद वाली बात अधिक विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की अपेक्षा कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में अधिक महत्वपूर्ण होती है। अधिक विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में भी इसका पर्याप्त महत्व है, पर ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओं में विकास की एक गति होती है, जो प्रेरणाएँ और वचन कम हो जाने पर भी बनी रहती है। कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में जमींदार-वर्ग पर वृद्धि लाना सबसे आसान होता है—इसके दो कारण हैं, एक, इससे प्रेरणाओं और वचनों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और दूसरे, राजनीतिक दृष्टि से भी यह आसान है क्योंकि अब लगभग सभी जगह (पर हर जगह नहीं) जमींदार राजनीतिक कृपा से वंचित हैं। किसानों को हमेशा करो का अधिक बोझ उठाना पड़ता है परन्तु कुछ ऐसे देशों में, जहाँ उन्हें हाल में ही मताधिकार मिला है (जैसे भारत में), उनके राजनीतिक शोभ को देखते हुए उन पर भारी कर नहीं लगाए जाते, यद्यपि इससे सरकार को परेशानी हो गई है। अधिकांश कम विकसित देशों में बेतनभोगी मध्यवर्ग पर वृद्धि लाने में भी कठिनाई होती है, जिसका एक कारण तो यह है कि नयी राष्ट्रीय सरकारों पर उनका राजनीतिक प्रभाव होता है, और दूसरा यह है कि इस वर्ग के विस्तार के लिए प्रेरणाओं का बने रहना आवश्यक होता है, आर्थिक विकास का एक मुख्य परिणाम यह होता है कि समुदाय में अर्थकुराल, कुशल और पेशेवर लोगों की संख्या काफी बढ़ जाती है, और इन वर्गों के लोगों पर भारी कर लगाने से इनकी वृद्धि पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। लाभों पर वृद्धि लाना भी कठिन होता है। हाँ, यदि पूँजी विदेशियों की हो तो राजनीतिक दृष्टि से लाभों पर वृद्धि लाना आसान होता है, परन्तु लाभों पर वृद्धि लाने से प्रेरणा तथा वचन दोनों को धक्का लगता है। वचन की बात अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि कोई भी मममदार सरकार निजी वचन की पूर्ति लोक-वचन से कर सकती है, पर जिन देशों में

उद्यमशीलता की कमी हो, यहाँ प्रेरणा की बात महत्वपूर्ण जाती है। विनाम की प्रोत्साहन दन वाली कुछ मरजारें वस्तुतः इसका उदाहरण कर रही हैं, ये नये उद्योग शुरू करने वरते पूँजीपतियों का अध्यायी रूप में प्राप्त-कर में छूट दे रही हैं।

जिन मरजारों को मुख्यतः निम्न व्यवस्था में समर्थन मिलता हो परन्तु जा साथ ही विनाम के काम का प्राय बढ़ाने के लिए धानुर हो उनको धनी लोगों के साथ के साथ व्यवहार करना चाहिए, यह एक सम्भार समस्या है। स्वयं कृषि न करने वाले जमींदारों की समस्या कोई अधिक विवट नहीं है। उनकी जमीनों खरीदी जा सकती हैं और जब उनका पाम मुदावजे का धन प्राप्त जाए और करने के लिए कोई काम न रहता जैसा कि जापान में हुआ, वे पूँजीपतियों का पैसा अपनाकर उद्यमशीलता की भारी कमी को दूर कर सकते हैं (अध्याय ५, पृष्ठ ७ (ग))। उनकी जमीनों का हण करने से भी अधिक विनाम पर कोई प्रतिफल प्रभाव तब तक नहीं पटगा जब तक कि जमींदार लोग बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों पर नये ढंग में स्वयं पैतों न कर रहे हों। वाणिज्यिक और औद्योगिक पूँजीपतियों का सामना हमने विस्तृत भिन्न है, जोकि बचन तथा उद्यम के मुख्य स्रोत होने हैं। आर्थिक अध्यायों में अधिक विनाम के कारण राष्ट्रीय आय में लोगों का भाग बढ़ता है (अध्याय ५, पृष्ठ ७ (ग)), इसीलिए भूतकाल में मुद्री-भर लोगों के हाथों में बड़ी मात्रा में निजी सम्पत्तियाँ एकट्ठी हो गई थी। यह बात आगामी में समझी जा सकती है कि लोकतन्त्रात्मक मरजारों हम प्रक्रिया के प्रति अधिक सज्जित क्यों रहती हैं, और वे क्यों नहीं चाहती कि अधिक विनाम के पत्रस्वरूप पूँजीपति बड़े-बड़े लाभ कमाएँ, लेकिन यदि लाभ कम रहे जाँ, या उन पर भारी कर लगा दिया जाए, तो निजी बचन घटती रह जाँगी, और निजी उद्यम के लिए कोई प्रेरणा नहीं बच रहती। ऐसी दिविधा के बीच उधार माग यही है कि निजी पूँजीपतियों का अपने जीवन-काल में अधिक-अधिक लाभ कमाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाए, और उनकी मृत्तु के उपरान्त उन पर भारी कर लगाया जाए। यदि बहार्द के साथ पैसा दिया जाए, जैसा कि अभी तक कमी नहीं दिया गया है तो इसका फल यह होगा कि हर पीढ़ी के सामने अपने अधिक जीवन आरम्भ करने समर्थ सफल समान अवसर हों, सम्पत्ति कमाने की प्रेरणा अवश्य कुछ कम हो जाएगी, पर हो सकता है कि अधिक अवसर बहने रहने के कारण इसका कोई दुःप्रभाव न पडे (अध्याय ३, पृष्ठ ३ (ग))। हम समस्या का समाधानकारी रूप देते हैं कि निजी पूँजी-पतियों को सम्मान कर दिया जाए और राज्य ही उद्यम आरम्भ करे, लाभ कमाएँ और बचन कर। हम हम की स्वतन्त्रता हम बात पर निर्भर है कि

राज्य विन्यास उद्यमशील बन सकता है, और उत्पादक निवेश का काम हाथ में लेने के लिए यह वहाँ तक तैयार है। निःसन्देह उन हर जो अमन में लगे जा सकता है विशेष रूप से एम्बे दशों द्वारा जिन्हें अग्रणी बनने की बजाय जबल उन्नत दशों का अनुकरण करना है (अध्याय : गण ३ (क) )। इन पर अमन करने में तभी कठिनाई आएगी यदि राज्य निजी उद्यम पर उतना बर नगाए कि प्रेरणा तथा निजी बचतें अपचाप्य रह जाएँ, लेकिन इन अभाव को पूर्ण अपनी प्रेरणा और बचना में न कर।

इस विम्लेषण में बराधान में राजनीतिक दृष्टिकोण में महत्व की बात भी पैदा होती है। अधिकांश सरकारों को अपने विरोधियों पर बर लगाना और अपने मनसुखों को बर में मुक्त रखना आसान मानूँ माना है और बर-भार के वितरण का निर्धारण बर में इन बात का भी उतना ही महत्वपूर्ण स्थान होता है जितना साम्या प्रेरणा या बचतों का। फिर भी इन बात में इन्कार नहीं किया जा सकता कि इनमें से अधिकांश अर्थ-व्यवस्थाओं में सरकार आर्थिक विकास में अपेक्षित भूमिका तब तक अदा नहीं कर सकती जब तक कि वह सभी वर्गों पर वतमान की अनेका अर्थिक भारों को नहीं लगा देती। ऐसे अधिकांश देशों में सबसे बड़ी राजनीतिक समस्या लोगों को इन बात का महत्व समझाने की, और आवश्यक कार्रवाई करने के लिए उनकी अनुमति प्राप्त करने की है। इस काम को सत्तावादी सरकारों लोकतन्त्रात्मक सरकारों की तुलना में अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं। वे इन बात की विन्ता बिने बिना कि चुनाव पर इनका क्या प्रभाव होगा—यदि वहाँ चुनाव होते हो—राष्ट्रीय आय का बीस या तीस प्रतिशत भाग सरकार के हिस्से में ले सकती हैं, और उनके आय भाग को पूर्ण निर्माण में लगा सकती हैं। लोकतन्त्रात्मक सरकारों को इस मामले में अधिक कठिनाई का सामना करना होता है। लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में यदाकदा ऐसा कोई नेता पैदा हो जाता है जो राष्ट्र के निर्माण के लिए जनता में आर्थिक स्थान बरके भी उतना विश्वास तथा उत्साह अधुना बनाने रखने में मनसुख होता है। परन्तु ऐसे नेता बहुत ही कम होते हैं। अनेक देशों में आर्थिक विकास की त्वरित वृद्धि के मार्ग में लोकतन्त्र एक बड़ी बाधा है। नापद यह स्वाभाविक भी है, लेकिन इस अध्याय में हमारा प्रयोजन आर्थिक विकास की बाधनीयता या अबाधनीयता पर विचार करना नहीं है (देखिए परिशिष्ट)।

राजनीतिक दृष्टि से किसी निश्चित राष्ट्रीय आय में से सरकार के भाग को बढ़ाना चाही कठिन है, लेकिन इन बात की व्यवस्था करना अधिक कठिन नहीं है कि राष्ट्रीय आय में होने वाली वृद्धि का अधिकाधिक भाग सरकार को मिला करे। राष्ट्रीय आय में सरकार का भाग बढ़ाने का यही मुख्य उपाय

है। कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में कराधान की सीमान्त दर औसत दर से काफी ऊँची होनी चाहिए। अधिक विकसित देश भी इस सिद्धान्त का पालन करते हैं। मुख्यतः दसवीं महायुद्ध में वे राष्ट्रीय आय में होने वाली कमी-बढ़ती का सामना करते हैं, यद्यपि इसके प्रभाव-स्वरूप मंदी में सरकार का राजस्व तेजी से कम हो जाता है और तजी में तजी में घट जाता है। स्थिति का सामना भी वे इसी उपाय से करते हैं, उदाहरण के लिए यह भी एक कारण है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ब्रिटेन और अमेरिका में कीमतों में केवल पचास प्रतिशत या इससे भी कम वृद्धि हुई जबकि अन्य बहुत से ऐसे देशों में, जिनका युद्ध में अपशाहत बहुत कम सम्बन्ध था कीमतें २०० या ३०० प्रतिशत या इससे भी अधिक बढ़ गईं और यही कारण है कि युद्ध के बाद ब्रिटेन में मापनों पर मुद्रास्फी माँग का दबाव अत्यधिक बढ़ जान के बावजूद कीमतें अपेक्षाकृत तेजी से नहीं बढ़ी हैं। इन देशों में सीमान्त आय का लगभग चालीस या पचास प्रतिशत कराधान द्वारा वसूल कर लिया जाता है। यदि इसके पत्र-स्वरूप राजस्व बहुत तेजी से बढ़ने लगता है तो सीमान्त-दर को कम किए बिना ही कराधान का घौगत-भार घटाया जा सकता है।

इसके विपरीत, कम विकसित देशों में प्रायः कराधान की सीमान्त-दर औसत दर से कम होती है—अर्थात् सरकारी आमदनियाँ राष्ट्रीय आय की अपेक्षा कम तेजी से बढ़ती हैं। कारण यह है कि सरकार आमाम्य कीमतों बढ़ने के साथ अपने नियंत्रण में चलने वाली कीमतों को बढ़ाने में हिचकती है। रेल की दरें, टार की दरें, टेलीफोन की दरें और अन्य सरकारी कीमतों धीरे-धीरे बढ़ती हैं, भूमि-बरो में, यदि वे मुद्रा में नियत हों, कीमतों की वृद्धि के अनु-स्वरूप बढ़ती नहीं हो पाती, या यह हो सकता है कि आयत और निर्यात-कर मूल्यानुसार होने के बजाय विविध प्रकार से आधारित हों। स्थिति में सरकार के पास धन बढ़ना चाहिए, क्योंकि सीमान्त-आय का बड़ा भाग कराधान के अर्थ में सरकार को मिलता है पर इसके बजाय अनेक कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में कीमतों बढ़ने के पत्र-स्वरूप बजट में घाटा पैदा हो जाता है। साजसज्ज जबकि कीमतों का दीपकालीन रूप वृद्धि की ओर है, वह विविध दरों की बजाय मूल्यानुसार होने चाहिए और लाहोरपोली मेकअप तथा मोर-तेकामों की कीमतों में फेर-बदल का उगा प्रभाव होना चाहिए कि बढ़ती हुई कीमतों का तेजी से समझन हो सके।

सीमान्त कराधान की उच्च दर मुनिस्त्वन करन के लिए आय-कर की सीमान्त-दर ऊँची होनी चाहिए उन उद्योगों का समुपों पर ऊँचा कर लगाया जाना चाहिए जिनकी भाग अत्यधिक तेजी से बढ़ती है और निर्यात-करों की सीमान्त-दरें ऊँची रखनी चाहिए।

अपमान है जिनमें राष्ट्रीय आय की तुलना में आय का कम है या जिनमें आयों की कीमतों में कोई वृद्धि हुए बिना ही स्थिति का अनुमान पर नु कीमतें बढ़ रही हैं। दोनों ही अवस्थाओं में यदि सरकार मुद्रास्फी आय की वृद्धि का एक बड़ा भाग उत्पन्न करने का उपाय कर लेगी तो उमे बढ़ेगा और विनिर्माण-कार लगातार बढ़ सकते हैं।

सरकार बहुत और आर्थिक स्थिति का प्रयोग में निर्यात-करों की चर्चा हम पहले ही अध्याय १, गण्ट २ (ख) में कर चुके हैं। निर्यात-करों का उपाय जो वस्तुओं की कीमतें बढ़ाने के साथ ही पहले में निर्यात-करों के अन्तर्गत लेनी में बढ़े। सरकारी विपणन एजेंसियों के जय किसी वस्तु की वस्तु कीमत का उगरी निर्यात-कीमत के मामलों में बढ़ने में रोक्की है तो उगम पर प्रभाव होता है। हम देख चुके हैं कि कुछ देशों में विनिर्माण-बर्मा और गॉल्ड स्टैंड न इमी दृष्ट में बहुत अधिक बचने की है। ऐसी योजनाएँ लागू करने का सर्वोत्तम समय नर होता है जब अमरीका में मन्दी हो। ऐसे समय पर कीमतें कम होती हैं और प्रभावों पर भी कम होता है। मन्दी के बाद यदि मन्दी के उमा में लागू किए जाएँ तो वे उमे स्थिति की अपेक्षा अधिक स्वीकार्य हान है जब वे उँची कीमतों के उमा में शुरू किये जाते हैं और आरम्भ में ही वगाधान की उँची दरें लागू करने हैं।

ध्यान रहे कि वगाधान की उच्च मीमांसा-दर में सर्वोत्तम चर्चा बढ़नी हुई मुद्रास्फी आय पर लागू होती है, न कि बढ़नी हुई वास्तविक आय पर। जिन देशों में ऐसा प्रयत्न करने की सर्वाधिक आवश्यकता है, उनमें प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय बिलकुल ही नहीं बढ़ रही (जैसे भारत में) है। यदि वहाँ की सरकार प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय की वृद्धियों का अतिरिक्त भाग देने तक ही अपना प्रयत्न सीमित रखे तो उमे दावद बर्मा सरलता में मिले। यदि प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय बढ़ रही हो तो घटता ही है परन्तु स्थिर वास्तविक आय के अतिरिक्त भाग का बन्ने में सेना भी उगना ही महत्वपूर्ण है। वास्तविक आय का बढ़े या न बढ़े, परन्तु मुद्रास्फी आय के बढ़ने की पूरी सम्भावना होती है। औद्योगिक देशों में कीमतों का एक वृद्धि की ओर है, जिनका आर्थिक कारण स्वीकृत दबाव है, और आर्थिक कारण यह है कि महदूर-भय की कारणों के कारण मुद्रास्फी महदूर-वृद्धि उत्पादन की अभाव में विनिर्माण-लेनी में बढ़नी है। औद्योगिक देशों में पर की बर्मा हुई माँग में वृद्धि वस्तुओं की कीमतों को बढ़ाने की प्रवृत्ति होती है—ए. वृद्धि उपाय-व्याय हो रही है—और वृद्धि निर्यात के लिए उत्पादन-लेनी वृद्धि-वृद्धि औद्योगिक माँग के अनुमान नहीं बढ़ने, है यह प्रवृत्ति आगामी कुछ

वर्षों तक बनी रह सकती है। यदि किसी सरकार का वाणीय ढांचा ठीक होना कीमती म बढन की प्रवृत्ति होने पर सरकार राष्ट्रीय आय का एक अपेक्षा-कृत बड़ा भाग प्राप्त कर सकती है, चाहे वास्तविक आय बढ रही हो या न बढ रही हो।

यदि किसी सरकार के लिए कराधान द्वारा राष्ट्रीय आय का अपेक्षाकृत बड़ा भाग या सबका राजनीतिक दृष्टि से बहुत कठिन हो तो वह स्फीति के जरिये बँधे ही परिणाम प्राप्त कर सकती है। यद्यपि कि राजनीतिक दृष्टि में यह भी उतना ही कठिन न हो। कम विकसित देशों में स्फीति और कराधान का लगभग एक-जैसा ही प्रभाव होता है [अध्याय ५, खण्ड २ (क)]। इनमें उपभोक्ता वस्तुएं सप समुदाय में हटकर उन लोगों की ओर पहुँच जाती हैं, जो पूँजी-निर्माण में लगते हैं। बेरोजगार वाली औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था में पूँजी-निर्माण पर पैसा लगाने के लिए कराधान के बजाय उधार-विन्नाय अधिक अच्छा होता है, क्योंकि इसके फलस्वरूप अधिकाधिक उपभोक्ता वस्तुएं पैदा हो जाती हैं, परन्तु कम विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में श्रमिकों की बर्गी होने हुए भी यह कुछ अधिक सीमा तक सम्भव नहीं है। स्फीति कराधान में इस अर्थ में भी भिन्न होती है कि इससे लाभ बढ़ते हैं, और इसलिए निजी उद्यमकर्त्ताओं द्वारा पूँजी-निर्माण को बढ़ावा मिल सकता है। थोड़ी स्फीति आर्थिक विकास में सहायक होती है यद्यपि कि उसे सीमा के भीतर रखा जाए। यदि कीमतें ब्याज-दर की अपेक्षा धीमी गति से बढ रही हो तो मट्टे में कोई लाभ नहीं होता। अतः यदि कीमतें औसतन तीन या चार प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ रही हो, तो पूँजी-निर्माण के लिए स्फीति सब प्रकार में लाभप्रद रहती है और इस बान का कोई खाम खतरा नहीं रहता कि इसमें सट्टे में तेजी आ जाएगी या लोग मुद्रा में पलायन करने लगेंगे—विशेष रूप में यदि स्फीति के दौरान हर तीन या चार वर्ष के बाद कीमतों में थोड़ी अव-स्फीति पैदा की जाती रहे। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, पूँजी-निर्माण के लिए की गई स्फीति कालान्तर में अपने-आप समाप्त हो जाती है। स्फीति की तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहली अवस्था में जब पूँजी-निर्माण हो रहा होता है, तो कीमतें बहुत तेजी से बढती हैं। दूसरी अवस्था में स्फीति अपने-आप समाप्त हो जाती है, क्योंकि कीमतें बढ़ने से आय का पुनर्वितरण हम ढग से हो चुका होता है कि निवेश की जरूरत पूर्ण करने के लिए खर्चा बचने तेजी से बढने लगती है। तीसरी अवस्था में जब पूँजी निर्माण के फलस्वरूप तैयार किए गए अतिरिक्त उपभोक्ता पदार्थ बाजार में आन लगते हैं, तो कीमतें कम हो जाती हैं। इनमें पहली अवस्था ही खतरनाक और कष्टकर होती है।

पूँजी-निर्माण पर स्फीति का प्रभाव स्फीतिके प्रयोजन पर निर्भर होता है। यदि स्फीति का उद्देश्य सरकार द्वारा मिविल कमचारिया को अधिक वेतन देना, या मुद्रा म लगान के लिए धन उपलब्ध करना हो, तो इस स्फीति में पूँजी निर्माण में तब तक वृद्धि की आशा नहीं की जा सकती जब तक बिदेस के भीतर काफी मर्या में ऐसे पूँजीपति न हों जो अपने स्फीतिकालीन लाभ का प्रचन पूँजी में लगाते हों और इसकी सम्भावना अधिकमित देशों की अपेक्षा विक-मित देशों में अधिक होती है। इसके विपरीत कोई देश अधिकविकसित हो या न हो, यदि स्फीति का उद्देश्य सरकार द्वारा सिचाई-प्रणाली जैसी उपयोगी परि-मर्पतियों के निर्माण पर धन खर्च करना हो तो इसका तात्कालिक प्रभाव यह होगा कि ऐसी उपयोगी परिमर्पतियाँ बढ जायेंगी, चाहे स्फीतिकालीन लाभों का कुछ भी प्रयोग हो रहा हो। हाल के साहित्य में कुछ मीधे-भादे अनुमानकर्ताओं ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि स्फीति में पूँजी-निर्माण नहीं बढ़ता, और अपने अपने के समय में उन्होंने अनेक स्थानों के नाम गिनाये हैं (सामग्री में ईटिन अमरीका), जहाँ स्फीति होने पर भी पूँजी-निर्माण नहीं बढ़ा है। परन्तु स्फीतिके प्रभावों के सम्बन्ध में इस प्रकार कोई सामान्य सिद्धान्त बनाना बुद्धिमानो नहीं है। विष्वक्वारी प्रयाजना के लिए की गई स्फीतिके प्रभाव भी विष्वक्वारी ज्ञाता है, जबकि पूँजी निर्माण के स्वरण के लिए की गई स्फीतिके पन्स्वरण त्वरित पूँजी-निर्माण होता है, जैसा कि रूस या जापान में हुआ या हर ध्यापार-वच की उन्मुगी अवस्था में होता है।

कुछ देश अन्य देशों की अपेक्षा अधिक और राजनीतिक दोनों दृष्टि में अधिक उधार-विस्तार कर सकते हैं। अधिक दृष्टि में मुख्य बाने ये हैं स्फीतिकालीन लाभ वित्त में, और वे उनका क्या उपयोग करेंगे, उन्हें उपभोग पर खर्च करेंगे या वस्तुओं के मट्टे में लगाएँगे, उनमें नया प्रचन पूँजी का निर्माण करेंगे, या उन्हें दबाकर रखेंगे, या उनमें सरकारी बाण्ड जारी देंगे ? क्या उपभोगिता वस्तुओं का उत्पादन तेजी से बढ़ाया जा सकेगा, या स्फीतिके प्रथम अवस्था लम्बी होगी ? क्या यह ऐसी अर्थ-व्यवस्था है जिसमें चोर-बाजारी को बहुत अधिक न बढ़ने देना हूँ अत्यावश्यक वस्तुओं की कीमतों पर आगामी से पर्याप्त निप्रयण रखा जा सकता है ? क्या वहाँ सकिनागी मजदूर-मध्य आन्दान है, जो माल-स्फीतिके सामन-स्फीति में बदन दे ? क्या विदेशी मुद्रा की म्यति को सुरक्षित रखा जा सकता है ? क्या वहाँ कराधान की सामान्य-दर इतनी ऊँची है जिसकी महादता में स्फीतिके कारण बढ़ने वाली मुद्राओं का धन का पचाग प्रतिगत सरकार कायम में लेनी है ? इन प्रश्नों के उत्तर के सम्बन्ध में विभिन्न देशों में बहुत अन्तर है, जिसका



परिणाम यह है कि एक ही मात्रा में उद्योग-विस्तार में एक देश में जौमतेँ कम प्रतिघन बढ़ जाती है जबकि किसी दूसरे देश में इमने दूनी हो जाती है। स्फीति में राजनीति पर पढ़ने वाला प्रभाव भी भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न होता है। कुछ देशों में राजनीतिक दृष्टि में यह आवश्यक माना जाता है कि सरकार को साम्प्रतिक आय में पर्याप्त वृद्धि करने के लिए भारंवार करनी ही चाहिए। चाहे इनके लिए कुछ स्फीति भी पैदा करनी पड़े, अतः स्फीति उनके राजनीतिक अस्तित्व के लिए एक प्रकार में आवश्यक बन जाती है। हाल के वर्षों में कुछ देशों की जनता विष्वन्नात्मक प्रयोजनों के लिए की गई स्फीति के अष्ट नल चुकी है, और अपनी सरकारों से आशा करती है कि अब वे मुद्रा पर बड़ा नियंत्रण करें। चूंकि स्फीति मुख्यतः जनमान का न्याय-पत्र है, अतः इनका सहारा दिया जाए या नहीं, यह एक राजनीतिक निर्णय होता है, और इसे एक राजनीतिक विवरण के रूप में ही चूना पड़ता है।

स्फीति के विरुद्ध एक बड़ा राजनीतिक तर्क यह है कि यदि एक बार स्फीति का सहारा लेने की सम्भावना स्वीकार कर ली जाती है, तो जिन मात्रा में स्फीति का सहारा दिया जाना चाहिए, उन मामलों में सरकारों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। बजट मन्तुलित होना चाहिए, इस सिद्धान्त का एक बड़ा लान यह है कि उसके बन पर वित्त-मन्त्री मन्त्रिमण्डल में अपने आधिपतियों पर अनुशासन रख सकता है। मन्त्री चांग किसी मुद्दा के विस्तार के पक्ष का जोरदार समर्थन कर सकते हैं, पर जहां तक वित्तमन्त्री द्वारा बजट को अनुचित रखने की बात है, उनकी बात अस्तिन होती है। एक बार इस सिद्धान्त का त्याग कर देने पर सरकारी तर्क पर जोर निरन्तर नहीं रह जाता। इस अठिनाई को हल करने का एक उपाय यह है कि दो बजट बनाये जाएँ। एक, जिसमें राजस्व का पैसा लगाया जाए, और दूसरा, जिसमें केवल उत्पादन को तेजी से बढ़ाने वाली सेवाएँ ही शामिल हो (विद्युत्, नूनि-मुधार, गाँवों में पानी की व्यवस्था, प्रशिक्षण-मुविद्याएँ, और कृषि-विस्तार), जिसका तर्क उद्योग-विस्तार द्वारा पूरा किया जाना चाहिए। फिर भी, इसमें समझना में पूरी तरह बचा नहीं जा सकता, क्योंकि दो बजटों की प्रणाली अपनाते में यह मतभेद पैदा हो सकता है कि दूसरे बजट में बाँत-जौन-जौन मर्दे शामिल की जाएँ। दम्भुत कोई प्रशासनिक उपाय सरकार को नाहन का परिचय देने और नरम चलने में मुक्ति नहीं दे सकता।

जनमान और उद्योग-विस्तार के आवादा सरकार के राजस्व का एक अन्य स्रोत के छोटी-छोटी बचतों हैं जो सरकारी सम्पत्तियों में उना ली जाती हैं, जिनमें डाकघर बचत देव सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। जिन वन विकसित देशों में छोटी बचतों के लिए प्रयत्न किये गए हैं वहाँ नयी प्रका की छोटी

बचने मिलकर राष्ट्रीय धाय के दो प्रतिशत तक बँटती है जिनमें गृहकारी आन्दोलन और मंत्री-समितियों की बचने भी सम्मिलित होती है। कहना न होगा कि ऐसी बचतों के लिए बड़ाया देने का बड़ा महत्व है। बचतकर्ता के लिए इसका महत्व यह है कि इसमें उसे साम्प्रतिभरता मिलती है साम्प्र-सम्मान मिलता है और आठ दिना म गहायता मिलती है और उन बाता का महत्व ऐसी बचता म राष्ट्र को मिलन वाली सहायता से भी अधिक है। इस क्षेत्र म सर्वाधिक सफलता जापान को मिली है जहाँ छोटी बचने अनुमानत राष्ट्रीय धाय की लगभग आठ प्रतिशत है। यह बड़ा ही अनुकरणीय है (अध्याय ५, गण्ड ० (ग) )।

अन्तिम प्रश्न अनुदान द्वारा या ऋण द्वारा दान के बाहर से धन प्राप्त करने की सम्भावना म सम्बन्धित है। इस काम के लिए कुछ देशों की स्थिति अन्य देशों की अपेक्षा अधिक अच्छी होती है। परन्तु कुल मिलाकर सभी कम विकसित देशों को इस माध्यम म अधिक धन मिलने की आशा नहीं करनी चाहिए। अफ्रीका और एशिया (चीन, जापान और रूस को छोड़कर) की राष्ट्रीय धायों का योग लगभग ७५०,००० लाख अमरीकी डॉलर प्रति-वर्ष के बराबर है। इसका एक प्रतिशत ७५०० लाख डॉलर बँटता है और यह राशि उम विदेशी निवेश तथा विदेशी सहायता से बहुत अधिक है जो इस समय इन दोनों महाद्वीपों का मिल रही है। यदि इन महाद्वीपों म निवल राष्ट्रीय धाय के बराबर प्रतिशत के बराबर पूँजी-निर्माण करना हो तो उसके लिए अप-क्षित राशि किन्ती सम्भव विदेशी निवेश या विदेशी सहायता से बहुत अधिक होगी। अत यदि इन देशों का पर्याप्त उन्नत करनी हो तो विदेशों से मिलने वाली राशि के अभाव में उन्हें स्वयं भी कमर बगकर प्रयत्न करना होगा।

इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं है कि अधिराज कम विकसित देश यदि चाहे तो वे अपना पूँजी निर्माण काफी बढ़ा सकते हैं। इन सभी देशों के सामने रूस और जापान का उदाहरण है जहाँ प्रतिव्यक्ति वास्तविक उत्पादन अन्य सभी देशों की अपेक्षा अधिक तेजी से, अर्थात् लगभग ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ा है—रूस म १९२९ में और जापान म १९३० में लगा-तार—जबकि इसकी तुलना से अमरीका म यह वृद्धि ० प्रतिशत में कम रही है, अत उसका नकार इन दोनों देशों का बाद आता है। (यह उल्टी गही है कि उत्पादन में जितनी वृद्धि हो उतनी ही उपभोग म भी हो रूस म १९२९ की तुलना में १९३९ में प्रतिव्यक्ति उपभोग अर्धशतक अधिक नहीं था, क्योंकि रक्षा तथा पूँजी-निर्माण के लिए उत्पादन का प्रयोग बहुत बढ़ गया था।) इन देशों में विकास की इसी उँची दरें सभी सम्भव हा पारं जब

मानव-जीवन के हर क्षेत्र में बड़ा परिवर्तन हुए यहाँ तक कि निवन पूँजी-निर्माण पन्द्रह प्रतिशत वार्षिक या इससे भी अधिक दर में बढ़ा। इन दोनों ही मामलों में स्त्रीनि तथा उच्च बर्गधारी न बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। स्त्रियों न उद्योगीकरण पर ध्यान केन्द्रित किया और किसानों की प्रति-एकड़ उपज बढ़ाने के उपाय विधान की बजाय इस मामले में उनसे उबरदस्ती की। पन्द्रह वर्षों में उनका वार्षिक वृद्धिमाने का औद्योगिक उत्पादन तो तीन गुना बढ़ गया लेकिन कृषि-उत्पादन वहाँ की जनसंख्या की तुलना में थोड़ी ही तेजी में बढ़ पाया। इस अनुसूचन में बीमारी बहूत बढ़ गई—दस वर्षों में लगभग नौ गुना। जापान न अफेण्डकृत अर्थिक समझदारों से काम लिया। कुछ मिलाकर उनका उत्पादन उनकी ही तेजी में बढ़ा जिसकी तेजी में स्त्रियाँ, परन्तु उनमें उद्योग और कृषि दोनों की ओर बराबर ध्यान दिया। प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व तीन वर्षों में वहाँ प्रति-व्यक्ति कृषि-उत्पादन दूना हो गया। इतना ही पर, और बहुत बड़ी मात्रा में वार्षिक जल के बावजूद इस अवधि में वहाँ मृत्यु-दर दूना ही हुआ। लगता है कि पूँजी-निर्माण और विकास को इतनी उँची दरें थोड़ी-बहुत स्त्रीनि के बिना सम्भव नहीं हैं, क्योंकि पन्द्रह प्रतिशत या अधिक निवन पूँजी निर्माण के लिए अपेक्षित बर्गधारी और वचता के स्तरों तक इनके बिना नहीं पहुँचा जा सकता। परन्तु इन में बाह्य प्रतिशत तक पूँजी-निर्माण स्त्रीनि पैदा किए बिना केवल बर्गधारी और स्वेच्छा दत्तों से ही सम्भव हो सकता है, यदि सरकार और जनता दोनों आर्थिक विकास के उद्देश्य में सहमत हो। ऐसे देशों में तो यह और भी आसान है कि या न सकता है, जहाँ अमिको की बर्गों के कारण उपभोग को बढ़ाए बिना ही कुछ विशिष्ट प्रकार के उपयोगी पूँजी-निर्माण करना सम्भव है।

सन्देह की बात यह नहीं है कि पूँजी निर्माण को दर बढ़ाना आर्थिक दृष्टि से सम्भव है या नहीं, बल्कि यह है कि लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में रहते हुए राजनीतिक दृष्टि से ऐसा किया जा सकता है या नहीं। मुख्य समस्या यह है कि किसानों पर पर्याप्त रूप से न्याय राजनीतिक दृष्टि से व्यावहारिक है या नहीं। हम पहले देख चुके हैं [ अध्याय ५, पृष्ठ = (४) ] कि कृषि पर भारी कर लगाए बिना अविकसित देशों में पूँजी-निर्माण का स्वल्प असम्भव है। सत्तावादी सरकारें ऐसा कर सकती हैं और करती भी हैं, क्योंकि उन्हें चुनाव की चिन्ता नहीं होती। लोकतन्त्रात्मक सरकारें भी ऐसा कर सकती हैं—गोल्ड कोन्ट और बर्मा में इस समय ऐसा ही हो रहा है—परन्तु वे ऐसा तभी कर सकती हैं, जब उनका नेतृत्व करने वाले राजनीतिक ऐसे ही निरर्थक प्रतिशत जनता का विरोध तथा समर्थन प्राप्त हो। सरकार के

अनेक देशों में नयी राष्ट्रवादी सरकारें राष्ट्रीय भावना की उमंग लेकर सत्ता-रुद्ध हो गई हैं, देवना है कि वे अपने देश की गरीबी दूर करने के लिए माहम तथा सकल्प जुटा सकेंगी या नहीं।

देश के आर्थिक विकास पर वहाँ की सरकारों का आदर्शजनक प्रभाव पड़ सकता है। यदि सरकारें सही काम करती हैं तो आर्थिक प्रगति को बढ़ावा मिलता है। यदि वे पर्याप्त प्रयत्न नहीं करती, या गलत काम करती हैं या किसी बात की अनिश्चयता करती हैं, तो विकास रुक जाता है। इस दृष्टि का आरम्भ हम उन उपायों के परीक्षण में करेंगे जिनमें विकास के मार्ग में बाधा पड़ती है, और उपसहस्र उन सामाजिक परिस्थितियों का सकेत करते हुए करेंगे जिनके फलस्वरूप अच्छी सरकार बनती है।

(क) गतिरोध के कारण—जिन कारणों से सरकारें आर्थिक गतिरोध या गिरावट पैदा कर देती हैं उन्हें हम नौ भागों में बाँट सकते हैं— शान्ति बनाये रखने में विफल होकर, नागरिकों को लूटकर, एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण को बढ़ाकर, विदेशी मसगं के मार्ग में रोड़े भरकर लोक-सेवाओं की अवहेलना कर, अत्यधिक निर्बंध नीति को अपनाकर अत्यधिक नियंत्रण लगाकर, अत्यधिक धन खर्च करके, और अर्थात् मुद्रा आरम्भ करके। इनमें से हर कारण पर थोड़ी-थोड़ी चर्चा की जा सकती है।

कमजोर सरकारें अपनी सीमाओं के भीतर शान्ति स्थापित नहीं कर पाती। चोरी-दर्रती और आगजनी के कारण सम्पत्ति सुरक्षित नहीं रह जाती। बटमार, लुटेरे तथा डाकू राहगीरों को लूट लेते हैं, और इन प्रकार आर्थिक वाणिज्य कम हो जाता है। छोटे छोटे सरदार व्यापार पर टोल लगाकर और देश का गृह-युद्ध में भौनकर विद्रोह कर देते हैं। जब भी कोई शासन करता है, उत्तराधिकार के लिए संघर्ष भ्रष्ट हो जाता है। मगार का अधिकांश इतिहास इसी प्रकार का जाता से भरा पड़ा है, केवल कुछ ऐसे अवसरों को छोड़कर जब किसी शक्तिशाली साम्राज्य ने विस्तृत क्षेत्र पर शांति स्थापित की हो। मच पूछा जाए तो इस बात का मध्यम बुद्धिमान पुनिन, प्रभावशाली न्यायालय और सम्पूर्ण देश में निष्ठावान प्रशासन की व्यवस्था बनाये रखने में है। परन्तु मुख्यतया किम प्रकार कायम की जाए, इन बातों में समार के संबंध में लोग एकमत नहीं हैं। सरकार आजापालन पर निर्भर करती है, और एक बार यदि जनता में आजा भंग करने की भावना पैदा हो जाए तो शान्ति स्थापित बड़ पाना बहुत कठिन तथा मुश्किल हो जाता है। अतः केवल सामुचित सरकारी तंत्र स्थापित करने की ही सम्मत्ता नहीं है बल्कि ऐसे ढंग में काम करने की भी सम्मत्ता है जिनमें लोगों को आजातवाद के अधिकार का

बाध हो और व हृदय में आजायात्मक बन लगे। आर्थिक विकास हो जाने पर सम्भवतः लोगों से मरुकारों आजायों का पालन अधिक सरलता से किया जा सकता है क्योंकि उनके परम्परागत मरुकार के ज्ञान में अधिक शक्ति आ जाती है और वह प्रेम व रूढ़िया-जैसे मनु उपायों का मरुकार सेवन इनका के मनामाशा का प्रभावित कर सकती है। फिर भी आर्थिक विकास में अतिनी अशक्ति है उनकी अपेक्षा १९०० में कम थी।

U आर्थिक विकास का मांग में दूनरी बाधा अप्टाचार है और कूट ही मरुकारों उनसे मुक्त होना है। अधिकांश देशों में सिविल सेवा के लोग, या राजनीतिज्ञ या दानों ही पर समन्वय है कि प्रमुखयोगी गवर्न, कुनबाउन्सी, या स्वयं लाभप्रद टैके सेवन उन्हें घन बमाने का अधिकार है। वस्तुतः यह एक प्रचण्णा है कि उन्नीसवीं शताब्दी में इन युगदियों को जैसे दबाया गया। १९०० में ब्रिटेन का सार्वजनिक जीवन उतना ही अप्ट या अतिनी कि अन्य अधिकांश देशों का था, परन्तु १९०० में लोकमत में बड़ा परिवर्तन हुआ, जिससे अप्टाचार बहुत कम हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कूट देशों में अप्टाचार का एक कारण यह है कि सिविल कर्मचारियों को पर्याप्त वेतन नहीं दिए जाते; ऐसी स्थिति की अपेक्षा, जिसमें सिविल कर्मचारियों को समतुल्य धनो में लगे उनके समकक्षियों से बहुत कम वेतन मिल रहा हो, उन स्थिति में अप्टाचार को समाप्त करना अपेक्षाकृत अधिक सरल होता है जब सिविल कर्मचारियों को समुचित वेतन मिल रहे हों। जो भी हो, आर्थिक विकास पर अप्टाचार के दुप्रभावों को बहुत अधिक बटा-बटाकर बटाया जा सकता है। व्यापारी के दृष्टिकोण से स्थिर चित्तों रिश्तान के बढ़ने में बिना गया महत्वमाना है। परन्तु शर्त यह है कि जिस सौदे के सम्बन्ध में स्थिर दो जान उनके नामों को देखते हुए स्थिर को गति काफ़ी कम हो, और यह भी शर्त है कि सौदा बने समय इसका पूर्वानुमान हो, ताकि उसे लागत का ही एक कम मानकर राष्ट्र से बनूँ की जाने वाली कीमत में शामिल किया जा सके। व्यापार में बाधा पदाधिकारियों के अप्रत्याशित व्यवहार के कारण पडती है। न जान किम समय की आदमी टाग अडा दे और उसे खूब करने के लिए अतिनी घन देना पड जाए। पूर्व-पूर्ववादी समाजों में वार्निगिफ़ बर्ग सानात्तया सरदागे और रजवाडों की कृपा पर आश्रित होते हैं, जो कभी न लौटाने की नीयत से न्याय मांगते हैं, और इनके मनमाने बनी में भय नाकर पूर्वोपति अपनी सम्पत्ति ऐसी चीजों के रूप में रखते हैं जिन्हें आसानी से ठिपाया या हटाया जा सके। इससे निवेश के काम की घण्य लगता है, जो एक मुख्य कारण है कि ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओं में पूर्वोवादी क्षेत्र का विकास इतने धीरे-धीरे होता है। [अध्याय ५, पन्ना ० (क)]

नाममा बान एक बग द्वारा दमक बग क गायण का है। दमक उपाहरण इतिहास म भर पडे हैं। वस्तुतः माकमवाशिया का कहना है कि इतिहास म कवन यहा बान मिलती हैं। गायण कई प्रकार क हान है जिनम सबग धाम उमीशारा द्वारा रिमाना का साधण है। अनाधिवय की घवस्था म जमानार विमाना की उपज का साधा भाग हइव जान है। दाम प्रया और कृषि-भाग प्रया क उपाव भी इतिहास म बन्नायन म मिलन है। बर्गा क रूप म समाज का यह विभाजन कुछ चाये म रागा द्वारा सम्पत्ति क स्वामित्व पर साधारित हो गवता है। बिना रिगव जात्राय धार्मिक या सांस्कृतिक सम्पू क विपया धिकारा की बनाय रगन क अय उपाय भी हान है जत धौशागिक रग भेद म उपाय प्राय अल्पमस्यका द्वारा काम म राग जान है परन्तु बहुमस्यक भा अल्पमस्यका क विरुद्ध इनका काम म ला गवन है। इनक अनावा मानिका और मोररा क बीच भी वय-वयपं जारी है।

वस्तुतः सभी सरकारें इनम म बिगा बग को बढ़ावा देता है क्योंकि उ- इनम म किमो-न बिगा बग का समवन मिलता है। कृषर सरकारें जमानारा और गहरा क विरुद्ध हैं उमीशारा की सरकारें विमाना और उपागपनिधा के विरुद्ध है। दमक अनावा इनक प्रभुत्व बाता सरकारें वन रिगोधा सरकार दामा क स्वामिया की सरकारें कयातिक सरकारें प्राकृष्य सरकार पूजा पनि सरकारें और मजदूर सरकारें हैं—वस्तुतः मनुष्य-मसाय क इर सम्भव विभाजन क साधार पर सरकारें उनी हुई हैं। तस्य सरकार गायण ही काम बना हा। कुछ सर्वोत्तम मसावागी सरकारो 7 बिगिन बर्गो क बीच तस्य रहन की कोशिस की है परन्तु तस्य रहने का अय भी मयापूव स्थिति का समथन करना है। सारतनात्मक सरकारा क त्रिण तस्य रहना उनका सागन नहा है जिनका मसावाता सरकारा क लिए है क्योंकि यदि मसावाता म गटिधुना तथा समभ का परिपाटी न हो ता अधिकाग मन उहा सोपा का मिलने है जा उनी बग भावनासा को मवसा अधिक उभाग गवन है।

इम कवल दमा म मततब है कि बग गायण का साधिक विभाग पर क्या प्रभाव पडता है। मुख्य बान अगक सामाजिक रनिगीनता और प्रगतासा पर पन याद प्रभाया की है। दाम प्रया कृषि-भाग प्रया साद-ना कश्चितया क हाया म सम्पत्ति का बन्ना और उ-न-नार, जम जाति या धूम पर साधा रिग ममस्त बर्गोहरण उपाय और दशावसायिक रनिगीनता का कम करना है त्रिगक परिणामसवरूप प्रविग गायण उपाय प्रदा पर नया प-व पात और उनको जगद समाज का परिषदा लोपा इर विभर रस्ता रहता है [अध्याय 2 म 2 (स)]। दमका प्रभाव रिगन पटना है यह दमपर निभर है कि रिगन विकार प्राप्त बग बिजना बरा और मरिगु है। यदि या बारा बरा राग है ना

उच्च पदों के लिए अपक्षित प्रतिभागानी व्यक्तियों की माँग पूरी कर सकता है। यदि यह महिष्णु होता है तो अन्य बचिन वर्गों के सर्वाधिक प्रतिभागानी व्यक्तियों को अपवाद मानकर उन्हें उच्च पदों पर रख लेता है और इन प्रकार सामान्य जागा को अपनी कड़ी अधीनता में रखन हूण भी बुद्धिमान गुणामों, या यहूदियों या अन्य जाति-निष्कामिता की प्रतिभा का उपयोग करके अपनी शक्ति को बढ़ा सकता है। ममृद्धि के लिए केवल इननी-मी उदर गतिशीलता की आवश्यकता होनी है कि निचले वर्ग के सर्वाधिक योग्य व्यक्ति उभर उठ सकें। परन्तु इसके लिए अपक्षावृत्त व्यापक प्रेरणाओं की आवश्यकता होनी है, क्योंकि उचित यही है कि हर व्यक्ति के सामने जो अवसर हो उनका लाभ उठाने के लिए कुछ प्रेरणा अवश्य होनी चाहिए।

प्रेरणा की कमी से कृषि-शामो, गुणामों, विमानों तथा भूतकालीन अथ निचले वर्गों में से अधिकांश पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस सम्बन्ध में अब सब लोग एकमत हैं। प्रेरणाओं की नमस्याओं को लेकर आजकल दिलचस्पी मुख्य-तया मालिकों और उनके कर्मचारियों के बीच चलने वाले वर्ग-संपर्क पर केन्द्रित है। आजकल सभी पूँजीपति सरकारों को मजदूर किया जा रहा है कि वे पूँजी-पतियों पर भारी कर लगाएँ, और उनसे होने वाली आम से अमियों को हर प्रकार की सामाजिक सेवाएँ उपलब्ध करें। इस नीति की दोनों बातों की आलोचना की जाती है, पूँजीपतियों पर कर लगाने की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इससे निवेश को धक्का लगता है, और अमियों को सामाजिक सेवाएँ उपलब्ध कराने की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इन सेवाओं से मजदूरों की काम करने की, और स्वयं अपने बच्चों की शिक्षा या बेरोह-गारी, बीमारी आदि के विरुद्ध बीमा का प्रबन्ध करने की प्रेरणा समाप्त हो जाती है। इस सिद्धान्तिक सम्भावना के सम्बन्ध में कोई समय नहीं है कि गरीबों द्वारा अमीरों का धन सूटे जान से ममृद्धि समाप्त हो सकती है, परन्तु व्यावहारिक प्रश्न यह है कि इसे किम सीमा तक करना निरापद है। इस सुदर्भ में अनेक ऐतिहासिक उदाहरण मिलते हैं—२५०० ई० पू० से २००० ई० पू० के बीच मिस्र की ममृद्धि के नष्ट होने के बारे में अनेक सन्दिग्ध अनुमान हैं, ईसा की तीसरी शताब्दी में रोमन-साम्राज्य की ममृद्धि नष्ट करने में मनमाने कराधान का कितना हाथ था, इस सम्बन्ध में भी उतने ही सन्दिग्ध अनुमान हैं, और हाइती में जाति के जो नतीजे निकले उसका उदाहरण भी बहुत सन्दिग्ध है। यदि रोम वाले मामले की प्रामाणिक माना जा सके तो उसमें यही परिणाम निकलता है कि भारी कराधान की बजाय मनमाने कराधान का विध्वंसक प्रभाव ही इसके लिए उत्तरदायी था। व्यवसायी-वर्ग सम्भवतः कितना ही कर दे सकता है, दशतों कि उसे कर की राशि का पहले से

पता हो। जैसा कि भ्रष्टाचार के मामले में हम ऊपर दृष्टि डाले हैं, कराधान भी शायद तभी घातक होता है जबकि उगड़ बार में पहले से अनुमान न हो, उदाहरण के लिए रोमना पर अज्ञानता का लगाव गण्य है। हम इस बात को स्वीकार कर सकते हैं कि उद्यमशील अल्पसंख्यक वर्ग धन छीनने में उतना ही गतिरोध पैदा हो सकता है जितना बहुसंख्यक वर्ग शासन द्वारा लेकिन यहाँ हम यह बताने की स्थिति में नहीं हैं कि कौनसे मामलों में अल्पसंख्यक वर्ग सम्बन्धित हैं और कौनसे बहुसंख्यक वर्गों से।

चौथी बात यह है कि विदेशियों के साथ समर्पण के माग में बाधाएँ पैदा करने के कारणों में अधिक विकास में रुकावट डाल सकती हैं। हम यह देना चाहते हैं कि प्रायः विदेश-आधारित ही स्वरित आर्थिक विकास का शोषण होता है [अध्याय ५, पृष्ठ ३ (ख)]। विदेशी लोग नए क्षेत्रों में नवीं शक्ति और पूँजी लाते हैं, और बाजार का विस्तार करते हैं। वे शोषण शुरू भी शुरू करते हैं, पर यदि शोषण से बचाव की पुनः कोई विदेशियों को देना में आने ही न दे तो देश विदेशियों में प्राप्त होने वाले प्रोत्साहनों में भी बर्बाद रह जाएगा। अधिराज्य सरकारें विदेशी समर्पण में बाधा डालने में लोभ का संवर्ण नहीं कर पातीं, क्योंकि विदेशियों को तब तक न तो निरूपण ही सरकार की लोकप्रियता बढ़ती है। इसमें विपरीत, बहुत ही कमजोर सरकारें भी हुई हैं जिन्होंने बहुत छोटे-से मुद्रावृद्धि के बड़े विदेशियों को बहुसंख्यक गिनाएँ दी हैं, या मजदूरों को विदेशी निर्यातकों को दया पर निर्भर होकर अपनी प्रभुता को दी है [अध्याय ५, पृष्ठ २(ग) और अध्याय ६, पृष्ठ २(ग)]। अधिराज्य कुशल सरकारें ही विदेशी धन और कौशल का अधिराज्य लोभ-दायक ढंग से प्रोत्साहन कर सकती हैं। इस समय अधिराज्य कम विकसित देश उन्नीसवीं शताब्दी के साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया की अवस्था में हैं। उनमें विदेशी पूँजी और विदेशी प्रशासन के प्रति घृणा पैदा हो गई है और वे वर्तमान अवसरों का लाभ उठाने की अपेक्षा धन को और शोषण में बचाने के लिए अधिक चिंतित हैं।

पाँचवीं बात यह है कि लोक-नेतृत्व पर पर्याप्त धन खर्च न करने के कारणों में अधिक विकास के माग में बाधाएँ बन सकती हैं। विकास के लिए मजदूरों, पानी की व्यवस्था, शिक्षा, स्वास्थ्य-सुधार आदि की जरूरत होती है। इनकी कमी गम्भीर नहीं होती यदि इनकी पूर्ति के लिए निजी उद्यमियों के सामने पर्याप्त अवसर हो। सरकारें जो काम करती हैं तब भी वे गरीब काम—जैसे—निजी कर्मियों ने कभी-कभी अवसर दिये होते हैं। जब पूँजी जाए तो शोषण के अधिराज्य में घटती या काम निजी उद्यमियों ने किया



है और सरकारों ने अपेक्षाकृत बाढ़ की अवस्थाओं में ही इन कामों को अपने ऊपर लिया है। परन्तु सरकारों ने हर जगह ये सेवाएँ निजी उद्यमकों को देने अपने हाथ में ले ली हैं क्योंकि हर स्थान पर यही सुविधाजनक नहीं है कि 'लोक सेवाएँ' 'लोक' प्राधिकरणों द्वारा ही चलाई जाएँ। इन सेवाओं की व्यवस्था के लिए सरकारों को उबरना ही या न हो, परन्तु सरकारें पर्याप्त लोक-सेवाओं का विकास करके प्राथमिक विकास के काम में योग्य अवस्था दे सकती हैं, क्योंकि अन्य उद्यमों के विकास के लिए इन सेवाओं का होना अनिवार्य है।

सरकारों को अपनी केन्द्र में भी बड़ा महत्त्वपूर्ण काम करना होता है, जिनमें प्राथमिक विकास सरकारें विफल रहती हैं। उन्हें इस क्षेत्र में क्या-कृत करना चाहिए, यह इस पर निर्भर होता है कि देश के निजी उद्यमकों की संख्या में कितने हैं, उनकी कौटिल्य कौशल है, और उनके जोखिम उठाने की प्रवृत्ति कितनी है। देश कितना ही पिछड़ा होगा, अग्रगामी के रूप में उठना ही प्राथमिक काम वहाँ का सरकार को करना होगा। एशियाई प्रथम के शासन-काल में हमें के, और उल्नीम्बी गतावदी के अन्त में जापान की सरकार के प्राथमिक कार्य इनके शासनदार उदाहरण हैं। सरकारों को अनुसन्धान के लिए सहायता देनी होती है, नये उद्योग स्थापित करने के लिए आश्वासनों को आनन्दित करना होता है, नये उद्योगों को सुरक्षण देना होता है, विदेश-व्यापार-आन्दोलन को बल देना होता है, कृषि-विस्तार-सेवाएँ स्थापित करनी होती हैं, और सस्ती व्याज-दरों पर ऋण उपलब्ध करना होता है। प्रत्येक पिछड़े देश के लिए यह दुर्भाग्य की बात होगी यदि वहाँ की सरकार प्रमादबन्ध या वैज्ञानिक विज्ञान की दृष्टि से निर्वन्ध नीति का पालन करे। उल्नीम्बी और बील्की गतावदी में ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य की ऐसी ही दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति थी। ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य का शोषण इतिहास के अन्य किसी साम्राज्य की अपेक्षा कम किया गया है, क्योंकि लगभग एक गतावदी तक व्यापार पटन ही कर-जोही प्रतिबन्ध थे, न कोई नहरें बननी की जाती थीं, और जाति-प्रथा के जरिए भी प्राथमिक जीवन में दृष्ट ही थोड़ा शोषण होता था। इसके स्थान पर ब्रिटेन के उपनिवेशों में शान्ति स्थापित की गई, अप्टाचार कम किया गया उचित न्याय-व्यवस्था स्थापित की गई, विदेश-व्यापार बढ़ाया गया, लोक-सेवाएँ स्थापित की गई और उनका विस्तार किया गया। प्राथमिक दृष्टि से इस साम्राज्य ने अपनी यही की कि वह निर्वन्ध नीति का पालन करता रहा। विमानों को न तो वेतनी के नये उद्योग मिलाने गए और न उन्हें नये बीज या उर्वरक दिये गए; इसी प्रकार औद्योगिक क्षेत्र में नये विनिर्माणों के विकास के लिए और उनको आर्थिक सुकृष्ट से उद्योगों के लिए कुछ भी

नहीं दिया गया। अतः कुल उत्पादन की वृद्धि-दर हमेशा ही बहुत कम रही और जनसंख्या की वृद्धि-दर में, जो अन्य अनुसूचित परिस्थितियों का कारण बराबर बढ़ रही थी, मुश्किल में ही अधिस थी। मगर आधुनिक मामूलात्म्य निवन्ध नीति का अनुमरण नहीं करने। उच्च लोगों ने इण्डोनेशिया में १९३०-३९ के बीच निवन्ध नीति त्याग दी और अनेक हितचक्षुष कायधम आरम्भ विय परन्तु तब तक यहाँ की जनता में उच्चों के प्रति निष्ठा समाप्त हो चली थी। यत्नियम की सरकार बागों में जोरदार आधिस कायधम चला रही है। दलना है वहाँ दगका क्या परिणाम होता है।

निवन्ध नीति के विरुद्ध विपरीत अर्थ "उत्सवा क" नियमन में अत्यधिस जोदा दिगानर भी सरकारें आधिस विवाग में बाधक बन गवती हैं। कालवर्तने कवडो का अर्थ तद निर्धारित कर रगा या, और रूत को सरकार निर्त्री मुदरा ध्यापार पर भी नियन्त्रण रगना जरूरी समझती है। चूकि कई भी सरदार जनता की पटल और उमवी भूम-भूम का ध्यान नहीं ले गवती, अत यदि वह अघनी जनता को पटल करने या भूम भूम में वरग रत में गवती है तो हममें आधिस दिवाग में जरूर रूकावट पडेगी। उदाहरण के लिए, रग अघनी गफवता का कारण केन्द्रीय आयोजन मानता है, पर यह बात गलत है। उगकी गफवता का कारण पूत्री-निर्माण का उच्च स्तर है—जापान न रगी दग के आयोजन और उतनी स्पीति के बिना ही पूत्री-निर्माण का यह स्तर प्राप्त कर दिया था। यदि रूत में अधिस पहल की छुट दी गई होती तो उतने ही गध में उपभोक्ताओं को और अच्छी सेवाएँ मिली होती, और कृषि-उत्पादन बहुत अधिस बढ़ गया होता। आधिस जीवन में सरकारों के गामने अत्यधिस आयोजन और बहुत कम आयोजन तथा अत्यधिस राष्ट्रीय-करण और बहुत कम राष्ट्रीयकरण के बीच एक अनुचित रईया अघनाने की गमस्या है। हम विषय पर यहाँ सम्बी ध्यास्या करने की आवश्यकता नहीं है, बसकि अघनी एक अन्य पुस्तक में मैं पटने ही दगरी गधों पर चुका हूँ।

हमके अघनाया, सरकारें गमुदाय के गाधनों का बहुत अधिस भाग अघने वित्री प्रयोक्तों पर, रगारग, टोडेनहॉल, विरामिद, गायत्रिनिक बाग, गटके, या अन्य लोक-नेवाओं पर गलत करके भी आधिस विवाग में रोडे दान गवती है। सरकार की गगभग गभी त्रिवाएँ अत्रग्यथ रूत में उत्पादन बढ़ाने में योग देती है, परन्तु उनमें से कुछ त्रिवाएँ दगरी त्रिवाओं की अघना अधिस उत्पादन हानी है। यदि सरकार अघनी नेवाओं पर अन्धाधुन्य गल करती हो तो हमका अर्थ यह हो गवता है कि वह हमें गाधनों का उपयोग कर रही है तिनका निर्त्री धेव में निवेश दिया जाना अघेशाहत अधिस उत्पादन हो गवता है। ऐसा अघापु-ध गधें कभी-कभी उन देनों में उचित दरगाया गगना

है जिनमें श्रमिकों की बेरोज़गारी है, और इनके समर्थन में कहा जाना है कि यदि श्रमिकों को इन कामों में न लगाया जाए तो वे बेरोज़गार रहेंगे। यह सच है कि बड़ी श्रमिकों का उपयोग करने पर खर्च बहुत ही बड़ा होता है, यदि उनके साथ मामूली और भ्रष्ट आदि दुर्लभ माधनों का इस्तेमाल न किया जाए परन्तु सामान्यतया ऐसा नहीं होता। इसके अलावा, चाहे बेरोज़गारी को अलाभप्रद कामों पर लगाने से उत्पादन में कोई कमी न पड़ती हो, परन्तु उत्पादक ढग से उनका इस्तेमाल करने पर उत्पादन अवश्य बढ़ाया जा सकता है। यदि श्रमिकों की बेरोज़गारी हो तो उनकी मदद में पिरामिड बनवाने की बजाय मिचर्ड-प्रणाली आदि का विस्तार करना अधिक लाभप्रद है।

माधनों के अपव्यय के अलावा, सरकार के अन्वेषण खर्च से आर्थिक विकास में तब भी बाधा पड़ सकती है जब इनमें पैसा लगाने के लिए इस प्रकार के कर लगाये जाए जिनमें प्रेरणाओं का हनन होता हो। यह मुख्यतया टेकनीक का प्रश्न है। यदि लोगों को पता हो कि उन्हें अपनी कमाई का एक बड़ा भाग किसी अन्य व्यक्ति को देना होगा तो वे कमाई बढ़ाने की दृष्टि से और अधिक प्रयत्न करने के प्रति अनिच्छुक हो जाते हैं। ऐसा होना मदा ही आवश्यक नहीं है, क्योंकि यह भी हो सकता है कि रहन-सहन का अपेक्षित स्तर प्राप्त करने के लिए ही लोग कठिन परिश्रम करें, परन्तु इस प्रतिक्रिया की सम्भावना अवश्य है। यदि लोगों में यह प्रतिक्रिया होती हो, तो आय-कर और उत्पादन के अनुपात में लगाये गए भूमि-कर प्रेरणा को हतोत्साहित करते हैं, और यदि ये कर सीमान्त रूप में एक-तिहाई से अधिक हो तो हो सकता है कि वे और भी अधिक हतोत्साहित करें। परन्तु प्रत्यक्ष करों की बजाय अप्रत्यक्ष कर लगाकर इस प्रभाव में काफी हद तक बचा जा सकता है। कर-दाता सामान्यतया यह नहीं जानता कि वस्तुओं की जो कीमत वह बढ़ा करता है उसमें कितना कर सम्मिलित है, अतः जहाँ तक कराधान के मनोवैज्ञानिक दुष्प्रभाव की बात है, उसे प्रत्यक्ष करों की बजाय अप्रत्यक्ष कर लगाकर दूर किया जा सकता है (हम खण्ड २ (ख) में देख चुके हैं कि अप्रत्यक्ष कर उतने ही आरोग्यी हो सकते हैं जितने कि प्रत्यक्ष कर)।

इसके अलावा, करों में परिवर्तन कराधान के निरपेक्ष स्तर की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है। लोग करों के बढ़ाये जाने का विरोध करते हैं, और यह भी हो सकता है कि वृद्धि का वात दिमाग में उतर जाने तक उनमें इससे प्रतिकूल प्रतिक्रिया होती रहे। किसी अप्रत्यक्ष कर में वृद्धि होने पर उसके प्रभाव-स्वरूप लोगों में मेहनत करने की प्रवृत्ति घटने की बजाय संभवतः बढ़ जाती है। अध्याय २, खण्ड २ (क) में हम देख चुके हैं कि जहाँ ज्यों लोगों के परिश्रम का प्रतिफल बढ़ता जाता है त्यों त्यों वे काम कम करते

हैं, क्योंकि आय बढन के साथ-साथ उनम धाराम करन की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। इसका मतलब यह है कि कर की दर बढ़ाने के प्रभाव-स्वरूप लोग अधिक मेहनत करने लगते हैं बशर्ते कि वृद्धि किसी अप्रत्यक्ष कर में की गई हो। लोग उन करों का भी विरोध रूप से विरोध करते हैं जो अनिश्चित होते हैं, और जिन्हें कराधान-प्राधिकारी अपनी इच्छा से घटा-बढ़ा सकते हैं। यदि आमदनीयों की बजाय वस्तुओं पर स्थायी कर लगा दिये जायें तो लोग अधिक-अधिक कर देने रह सकते हैं बशर्ते कि उससे बाद भी उनके पास रहन-सहन के समुचित स्तर के लिए धन बचा रहे। ऐसी स्थिति में धार्मिक प्रयत्नों पर करों के उच्च स्तर का वही प्रभाव होता है जो अनुवर भूमि या प्राकृतिक साधनों की कमी के फलस्वरूप प्रयत्नों पर पड़ना है, कम उत्पादकता प्रयत्न को बढ़ावा देगी, या हतोन्माहित करेगी या उमका उम पर कोई प्रभाव नहीं होगा, यह हम कुछ नहीं कह सकते (देखिए अध्याय २, पृष्ठ ३)। (किसी कर की दर बढ़ाने का क्या प्रभाव पड़ेगा, यह तो निश्चय के साथ बताया जा सकता है लेकिन साथ ही यह नहीं कहा जा सकता कि कर की ऊँची दर का प्रभाव क्या होगा, क्योंकि कर की तात्कालिक और अन्तिम प्रतिक्रिया मदा एष-जैसी नहीं होती।) इस प्रकार यदि कर अप्रत्यक्ष हों और उनके आधार भी अपरिवर्तित रहें, तो दीर्घकाल में कराधान कम होगा तब बढ़ाया जा सकता है—पच्चीस प्रतिशत तक या पचास प्रतिशत तक—यह मरम्मत से निर्धारित नहीं किया जा सकता। अतः यदि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बढ़ रही हो, और अप्रत्यक्ष कराधान अंश की अपेक्षा गोमान पर अधिक हो, तो सरकार का भाग हमेशा बढ़ता रहेगा, गाय ही लोगों के रहन-सहन का स्तर भी बढ़ता जाएगा, और करों के आधार में कोई परिवर्तन न स्थि जान के कारण जनता उनकी तरफ से बेगबर बनी रहेगी। धन यदि कराधान ठीक ढंग से न किया जाए तो उच्च कराधान के फलस्वरूप प्रेरणा को पकड़ा जा सकता है, परन्तु यदि मशीं टेक्नीक का प्रयोग किया जाए तो प्रेरणा पर कराधान का कोई प्रभाव नहीं पड़ना। धार्मिक विभाग पर उच्च कराधान का वास्तविक भार इस रूप में पड़ना है कि हमने के माधन चुक जाने [है] जा अपेक्षाकृत अधिक उत्पादक कामों में लगाय जा सकते थे।

माधनों का चरम अपेक्ष्य उम स्थिति में जाना है जब या तो इनका प्रयोग अपेक्ष्य धारामत मुद्रा में किया जाता है, या ऐसे सचन मुद्रों में किया जाता है जिनके परिणामस्वरूप विवेका देण को पराजित देण में उनकी मुक्ति-धारे नहीं मिल पाती जिनका मुद्र में खर्च हो गया होता है। मुद्र में पूर्वी-निर्माण रक जाना है, धनक बुद्धिमान और उद्यमी नवयुवक नष्ट हो जाने हैं, और धार्मिक रमान वालों को बचाय मैनिक रमान वालों को नष्ट कर

जाती है और धन विस्वाम के विरुद्ध इनमें उपयोगी आविष्कार के लिए कोई बड़ावा नहीं मिलता [ दक्षिण अफ्रीका २, पृष्ठ ३ (ग) ] । यह सिद्ध नहीं होगा पढ़ता है इसका अभी हाल का उदाहरण जर्मनी का मामला है : इस बात पर कौन सन्देह कर सकता है कि यदि जर्मनी १८१६ और १८३६ के युद्धों में न हारना होता तो आज वहाँ के लोग अस्वास्थ्य बहूत अधिक मनुष्य होते ।

इस सच्चाई के इन सभी मामलों का उल्लेख कर चुके हैं किनेसे आर्थिक विकास के ज्ञान में स्वाध्याय पढ़ती है। स्पष्ट है कि अज्जी सरकारें हालांकि हैं अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि अधिकांश देश अपने इतिहास की लम्बी अवधि के बीच अज्जी आर्थिक प्रगति करने में विफल रहे हैं, जो कुछ आर्थिक मनुष्य देश सरकारों की उपस्थितियों के फलस्वरूप नष्ट हो गए हैं । सरकार को न अपवित्र स्वयं करना चाहिए, न बहूत कम स्वयं करना चाहिए, न बहूत अधिक नियन्त्रण लगाना चाहिए, न बहूत कम नियन्त्रण लगाना चाहिए, न बहूत अधिक पहल करनी चाहिए, न बहूत कम पहल करनी चाहिए, उसे न तो विदेशियों के मुनाफों को प्रोत्साहित करना चाहिए और न ही उनके चंगुल में फँसना चाहिए, उसे न तो अन-आपस होने देना चाहिए, और न ही दगे-दग का बड़ावा देना चाहिए, आदि । इन परम्परा-विरोधी स्वतंत्रों में कुछ सरकारें दूना की अनेक अधिकाधिक उद्योगों में अपना मार्ग निर्धारित करती हैं । पर ऐसा क्यों होता है, यह बताना मुश्किल है ।

(ख) राजमन्यता के लिए पृष्ठभूमि—हमें एक या दो दशाब्दी तक चलने वाली अज्जी या बुरी सरकारों की छूटछूट अदृष्टियों को नहीं बल्कि एक या दो शताब्दियों या इनसे भी अधिक समय तक चलनेवाली दीर्घकालीन प्रवृत्तियों को समझने की जरूरत है । हर देश में समय-समय पर अज्जी या बुरी सरकारें होती हैं बले ही दीर्घकालीन दृष्टि से वहाँ की सरकार अज्जी, बुरी या नष्पन दरजे की हो । एक शताब्दी या इनसे अधिक समय तक चलने के बाद अज्जी सरकारें जन जाती हैं, क्योंकि जनता के व्यवहार के उच्च स्तर निर्धारित हो जाते हैं जो बाद में देश की परम्परा का एक अंग बन जाते हैं, और आतमी पीढ़ियों के व्यवहार को नियमित करते हैं । इसी प्रकार यदि लम्बे अज्जी तक बुरी सरकार चलती रहे तो बाद में बेहतर सरकार की स्थापना की सम्भावना कम हो जाती है, क्योंकि नयी पीढ़ियाँ व्यवहार के निम्न स्तर में पैदा होती हैं और उनके सामने कोई अज्जी परम्पराएँ अनुकरण के लिए नहीं होतीं । इसका अर्थ यह है कि किसी देश के इतिहास में किसी काल विधि के दौरान उसके सार्वजनिक जीवन की कौटुकी व्याख्या करने के लिए उसके प्राचीन इतिहास और परम्पराओं का बहूत-कुछ महत्त्व दिया जा सकता है । अतः

यह है कि किसी देश में अपेक्षाकृत अच्छी सरकारें या अपेक्षाकृत बुरी सरकारें ही क्यों रही हैं।

एक बार पुनः हम भौतिक साधनों और मानवीय गुणों के माध्यम से सम्बन्ध पर विचार करना होगा। कुछ लोगो का विश्वास है कि कुछ जातियों में अन्य जातियों की अपेक्षा उच्च कोटि की सरकार बनाने की क्षमता अधिक होती है। यदि 'जाति' का प्रयोग सामूहिक धर्म में किया जाए तो हममें वही समस्या पैदा होती है जिसे हल करने का हम प्रयत्न कर रहे हैं। यदि हमें जीवात्मक अर्थ में प्रयोग किया जाए तो हम पर तब तक आग चर्चों नहीं की जा सकती जब तक कि हम विभिन्न लोगों के आनुवंशिक गठन के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त न कर लें। धर्म-बहुत जा हम जानते हैं उससे हम विचार की कोई पुष्टि नहीं होती कि अच्छी सरकार के लिए अपेक्षित जीवात्मक गुण वाले लोग किन्हीं विशेष देशों में ही पाए जाते हैं। जन-वायु-सम्बन्धी आधार भी हमें हम सम्बन्ध में कुछ अधिक महारा नहीं देता। विश्व के हर प्रकार की जलवायु वाले भागों में, हर जाति में, और प्राकृतिक साधनों के अभाव या समृद्धि की सभी अस्थितियों में अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की सरकारें हुई हैं। मानव-उत्पत्तियों के मूल में केवल प्राकृतिक साधन नहीं होते।

पेटो के समय से लेकर अब तक के सभी राजनीतिक दार्शनिकों ने सर्वप्राथमिक स्वरूप के आधार पर अच्छी सरकार की व्याख्या की है, और अपने-अपने दृष्टिकोण या समय के चलन के अनुरूप विचारों ने यह गिड़ बगन का प्रयत्न किया है कि अच्छी सरकार लोकतन्त्र की परिस्थितियों में पतनशील है, किंगी ने कहा है कि तानाशाही में पतनशील है, और किसी ने बुलीनतन्त्र या राजतन्त्र की दुहाई दी है। यह दृष्टिकोण इतिहास के नमूनों के अनुरूप नहीं है। उदाहरण के लिए, इटली का २५०० वर्षों का विगित इतिहास है, और हम देश ने सभी प्रकार के सर्वप्राथमिक स्वरूप दंगे हैं। परन्तु उसके इतिहास में शासन के किसी विशेष सर्वप्राथमिक स्वरूप को चाहे लोकतन्त्रात्मक स्वरूप हो, या राजतन्त्र हो, या तानाशाही हो, लेकर यह कह पाना सम्भव नहीं है कि अन्य तन्त्रों की अपेक्षा प्रमुख तन्त्र के अन्तर्गत ही मरदा इटली में बर्धिया सरकारें बनी हैं। यही बात चीन, मिस्र, भारत या चीन के सम्बन्ध में भी लागू होती है, जिनके अपेक्षाकृत अधिक लम्बी अवधि के विगित इतिहास मौजूद हैं। अच्छी सरकार के लिए शासन की बुद्धिमत्ता और प्रजा की महत्ता का संयोग आवश्यक है, और हम नमूनों पर किसी राजा, या लोकतन्त्रवादी, या तानाशाह की बर्धनी नहीं है। कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि साम्या-निक नियन्त्रणों या सर्वप्राथमिक स्वरूप का कोई महत्त्व नहीं है। लोकतन्त्रात्मक

प्रणाली के अन्तर्गत यदि कायाग के अधिकारों पर समुचित नियन्त्रण रखा जाए तो सरकार अन्तर्गदी नहीं कर सकती। परन्तु सभी लोकतन्त्रान्तरक प्रणालियों में समुचित नियन्त्रण का विधान नहीं होता, और सर्वोत्तम सविधान भी इस बात की गारण्टी नहीं दे सकता कि निर्वाचित सरकार अच्छी ही होंगी। सरकार का अच्छा या बुरा होना सरकार के स्वल्प की अपेक्षा इस बात पर अधिक निर्भर होता है कि उन देश के मतदाता कैसे हैं।

बीमबी शताब्दी का साम्यात्मिक सिद्धान्त कभी-कभी साम्राज्यवाद की अपक्षा स्वशासन को अधिक अच्छा बताता है। परन्तु इतिहास को ध्यान में रखते हुए हम यह नहीं कह सकते कि स्वशासन देश का शासन विदेशी शासन की अपेक्षा अनिवाद्यत अर्थिक अच्छा होता है। इसके विपरीत, इतिहास के कुछ ऐसे काल सर्वाधिक लुप्तहाली के काल रहे हैं जब महान् साम्राज्यों ने अपने स्वर्णिम-युग में विस्तृत भूखण्ड पर शान्ति स्थापित की और लोक-सेवाओं की समुचित व्यवस्था की। बीमबी शताब्दी में अनेक नयी राष्ट्रीय सरकारें जन्मी हैं जिनकी स्थिति उन साम्राज्यवादी सरकारों की अपेक्षा अधिक अच्छी है जिन्हें अपदस्थ करके वे आई हैं। ये सरकारें निर्वन्ध नीति को अधिक पसन्द नहीं करती, क्योंकि पिछड़ी अवस्था में निर्वन्ध नीति उपयुक्त नहीं होती। वे विमानों के कल्याण का अधिक ध्यान रखती हैं, और उन्हें जमींदारों तथा साहूकारों के शोषण में बचाने के लिए बड़ी प्रयत्नशील हैं। इनमें से अधिकांश सरकारें रंग-भेद को, और अपने देशवासियों के उद्यम पर लगे अन्य प्रतिबन्धों को बुरा समझती हैं। इनमें से कई ने आत्म-सम्मान को दुहाई देकर अपने देशवासियों में विकास के प्रति उत्साह की यह भावना पैदा कर दिखाई है जो उनकी पूर्ववर्ती साम्राज्यवादी सरकारें नहीं कर सकी थी। लेकिन इन सरकारों में कुछ त्रुटियाँ भी होती हैं। उनमें अधिक स्थापित्व नहीं होना, और कुछ मामलों में तो वे देश के भीतर अमन-चैन भी नहीं बनाए रख सकती। आमतौर से ऐसी सरकारें (एकाध को छोड़कर) अपनी पूर्ववर्ती सरकारों की अपेक्षा अधिक भ्रष्ट होती हैं। वे शहरों के हितों का अधिक ध्यान रखती हैं, और किसानों पर कर लगाकर उमी पैसे से शहरों को सुविधाएँ देती हैं। वे बड़ी आसानी से विदेशियों की धमकी से डर जाती हैं। वे अपनी पूर्ववर्ती साम्राज्यवादी सरकार द्वारा स्थापित धार्मिक, वर्गीय और जातीय निष्पक्षता को छोड़ देती हैं, जिससे देश में कलह पैदा हो जाता है। इसी प्रकार की अन्य त्रुटियाँ भी हैं। स्वशासन के बहुत समर्थक भी उनका पक्ष इसी आधार पर लेते हैं कि स्वशासन गुणात्मक से अच्छा होता है। परन्तु इसका समर्थन इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि स्वशासन हमेशा ही अन्य किसी भी प्रकार की सरकार से अच्छा होता है।

कुछ लोग विचाराधीन समस्या का हल सांस्कृतिक सजातीयता में ढूँढते हैं। यदि किसी राष्ट्र के सभी सदस्य एक ही जाति, धर्म और भाषा वाले हों, तो उनके बीच भगड़े की सम्भावना कम रहती है और उनमें सहिष्णुता की भावना पैदा हो सकती है। यदि वहाँ न अत्यधिक धनी लोग हों और न अत्यधिक गरीब लोग हों, यानी सम्पत्ति व्यापक रूप से बँटी हुई हो, तो वहाँ का राजनीतिक जीवन अपेक्षाकृत अधिक मरल होता है। इसके विपरीत, सांस्कृतिक सजातीयता जहाँ भगड़े के कारणों को समाप्त करती है वहाँ यह निश्चय नहीं है कि इसके फलस्वरूप सरकार दृढ़तापूर्वक या बुद्धिमानों से काम कर सकेगी। दूसरी ओर, कुछ सर्वाधिक अच्छी सरकारें, साम्राज्यवादी सरकारें रही हैं जो अनेक जातियों, धर्मावलम्बियों तथा भाषा-भाषियों पर नियंत्रणात्मक शासन कर चुकी हैं। सहिष्णुता पनपन के लिए किसी विशिष्ट परिस्थिति का होना ही अनिवार्य नहीं है।

आद्य पाप में विश्वास करने वालों का विचार है कि अच्छी सरकार किसी राष्ट्र के इतिहास में छोटे ही दिन चल पाती है, क्योंकि मानव-जाति इतनी चतुर नहीं है कि वह सरकारों को अधिक गतिरोध की ओर बढ़ने से रोक सके। इस प्रकार, वर्तमान तथा नये पैदा होने वाले राष्ट्र आणामक युद्धों का ताता लगाए रखने के लोभ का शिकार नहीं कर पाते, कुछ दशाब्दियों तक इन युद्धों से लाभ ही भवता है पर अन्त में इनसे देश बरबाद हो जाता है [अध्याय ६, पृष्ठ ३ (ग)]। या, इसके विपरीत यदि कुछ दशाब्दियों तक शांति बनी रहती है तो लोक-अपय के बड़-बड़े कार्यक्रम लेकर नौकरशाह प्रभुत्व में आ जाते हैं और भारी-भर लगाकर देश को नष्ट कर देने हैं। या सरकार में अथ-व्यवस्था पर नियंत्रण रखने और गलतियों को सुधारने की तात्परता बहुत अधिक बँट जाती है और अधिकाधिक नियंत्रणों द्वारा पट्ट की व्यक्तिगत भावना का गन्ना घोट दिया जाता है। या फिर सरकार अनिवार्य रूप में विभिन्न वर्गों के विवाद में उत्पन्न जाती है, उद्यमकर्ताओं को परमान करने लगती है, या किसानों को दास-प्रथा के बंधनों में बन्धने लगती है, या शोषण को बढ़ावा देने लगती है, या प्रेरणाओं के रूप में रोड़े भरवाने लगती है। इस दृष्टि से विचार करने पर आश्चर्य की बात यह नहीं है कि मानवता के इतिहास में अच्छी सरकारें कितनी कम हुई हैं, बल्कि यह है कि मनुष्य की सीमित बुद्धिमत्ता और अमादों राजमर्मणों के मार्ग में पड़ने वाले अनेकानेक प्रतिकूलों के होने हुए भी अच्छी सरकारों की संख्या इतनी बनी क्यों रही है।

इस पुस्तक में जब भी हमने मानव-इतिहास का सूत्र ढूँढने की कोशिश की है, हम धनरत रहे हैं। चापड दगवा कोई सूत्र है ही नहीं। मानव-व्यवहार की हर व्याख्या स्वयं में एक प्रश्न है। अगर हम यह जानना चाहें कि



## क्या आर्थिक विकास वांछनीय है ?

ए. पी. जे. के. १९६२

हर दूसरी चीज की तरह आर्थिक विकास का भी मुख्य खताना पडता है। यदि आर्थिक विकास बिना किन्हीं हानियों के करना सम्भव होना तो हर आदमी पूरी तरह उसके पक्ष में होता। लेकिन आर्थिक विकास की कुछ वास्तविक हानियाँ हैं, जिन लोग इसके लाभ और हानियों के प्रति जैसा सापेक्ष दृष्टिकोण रखते हैं उन्हीं के अनुसार विकास के प्रति उनके अपने-अपने विचार बन जाते हैं। सम्भव है वे आर्थिक दृष्टि से विकास कर रहे समाज को पगन्द न करें, और स्थिर समाजों में पाए जाने वाली प्रवृत्तियों और समस्याओं का ही तरह-ही हों। या यदि वे विकासशील समाज के संस्थानों के प्रति सहमति का दृष्टिकोण भी रखते हों तो वे सन्नमन-काल की प्रक्रियाओं की तालमेल कर सकते हैं जिनसे होकर स्थिर समाज विकासशील समाजों का रूप ग्रहण करते हैं, अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि जहाँ-जहाँ विकास का लाभ इतने अधिक नहीं है कि उसके लिए अपेक्षित उद्यम-श्रम होने दी जाए, या वे यह चाह सकते हैं कि विकास धीरे-धीरे होना चाहिए ताकि समाज को आर्थिक विकास के लिए अपेक्षित परिवर्तनों के अनुरूप अपने को ढालने के लिए अधिक-से-अधिक समय मिल सके। हम पहले विकास के लाभों पर विचार करेंगे, उसके बाद विकास के लिए अपेक्षित प्रवृत्तियों की चर्चा करेंगे, और अन्त में सन्नमन-काल में होने वाली उद्यम-श्रम की समस्या को लेंगे।

(क) आर्थिक विकास के लाभ—आर्थिक विकास का लाभ यह नहीं है कि पन में वृद्धि होने से मुग में वृद्धि होती है, बल्कि यह है कि दमन मनुष्य के चुनाव का क्षेत्र अधिक व्यापक हो जाता है। पन और मुग का सह-सम्बन्ध स्थापित करना बहुत कठिन है। मुग जीवन के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण पर, हर परिस्थिति के अनुसार पन को दान देने की प्रवृत्ति पर, धार्मिकता को पन का रक्षक-वर्धन प्राप्त पर और अन्त में निरभय रहकर जीने की कला पर धरा गी है। पन की महत्त्वता के मुग में वृद्धि उन्हीं स्थिति में

हो जबकि हमारे पत्र-स्वरूप आवश्यक्ताओं की तुलना में माधन अधिक बढ़ें, लेकिन अनिवाय रूप में ऐसा नहीं होता, और इस बात के कोई प्रमाण नहीं है कि निर्धन की अपेक्षा धनी अधिक सुखी होते हैं, या आय बढ़ने के साथ-साथ लोगों के व्यक्तिगत सुख में वृद्धि होती है। यदि धनाजन के दौरान मनुष्य परिस्थितियों के अनुसार अपने को नहीं ढाँच पाता, और मापनी और भविष्य के बारे में अधिक चिन्तित रहने लगता है तो धन में वृद्धि होने पर भी सुख में वृद्धि नहीं हो पाती। ऐसा होने के वस्तुतः कुछ प्रमाण मौजूद हैं, जहाँ नए आर्थिक विकास आर्थिक प्रक्रमों की खोजने और उनका उपयोग करने की जागरूकता का परिणाम है वहाँ तक यही आशा करनी चाहिए कि हमें वह सुख नहीं मिल सकता जो उन समाजों में है जहाँ लोग विकास के प्रति उत्सुक नहीं हैं। अन्य देशों की तुलना में अमरीका में मानसिक अशान्ति बहुत अधिक पायी गई है और आँवटों के भेदों के लिए गुज़ारग छोड़ देने के बाद भी, यह ठीक ही माना जाता है कि आत्महत्या की बढ़ती हुई दर का सम्बन्ध धनी समुदाय के लोगों में पाई जाने वाली अधिकाधिक सफलता की उत्कट इच्छा में है। निश्चय ही हम यह नहीं कह सकते कि धन में वृद्धि होने से लोग अधिक सुखी होते हैं। हम यह भी नहीं कह सकते कि धन में लोगों का सुख घटता है, यदि कहने की स्थिति में होने भी तो आर्थिक विकास के विरुद्ध यह निर्णायक तर्क नहीं माना जा सकता था, क्योंकि सुख ही जीवन में सबसे अच्छी वस्तु नहीं है। हम यह तो नहीं जानते कि जीवन का उद्देश्य क्या है, लेकिन यदि सुख ही जीवन का उद्देश्य होता, तो यदि क्रमिक विकास बहुत पहले ही रूक जाता तो कोई हर्ज नहीं था, क्योंकि इस बात के कोई प्रमाण नहीं हैं कि मनुष्य सूअरों या मछलियों की तुलना में अधिक सुखी है। सूअर और मनुष्य में भेद यह है कि मनुष्य को अपने पर्यावरण पर अधिक नियन्त्रण प्राप्त है, न कि यह कि मनुष्य अधिक सुखी होता है और इसी आधार पर आर्थिक विकास की वाछनीयता सिद्ध की जा सकती है।

२ आर्थिक विकास के पल में तर्क यह है कि हमसे मनुष्य को अपने पर्यावरण पर अधिकाधिक नियन्त्रण करने का अवसर मिलता है, और इससे हमकी स्वतन्त्रता में वृद्धि होती है।

पहले इस चीज को प्रकृति के साथ मनुष्य के सम्बन्धों के प्रसंग में देखिए। आदिम अवस्था में मनुष्य को गुज़ारे के लिए सपने करना पड़ता है। भारी परिश्रम के बाद ही वह भूमि में जीवित रहने भर के लिए अन्न आदि जुटा पाता है। प्रतिवर्ष उसे कुछ महीने तक भुखमरी का सामना करना पड़ता है, क्योंकि वर्ष की फसल अगली फसल तक मुन्डिल से ही

चर पानी है। दुर्भिक्ष, प्लेग और महामारी बराबर उम मरती रहती हैं। उसके साथे दक्खे दम बपे की अवस्था तक पहुँचने में पहुँचे ही मर जाते हैं, और उमारी पत्नी चालीस की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते बककर मूढ़ी हो जाती है। आर्थिक विकास के फलस्वरूप उम टम बढमी की स्थिति से छुटकारा मिल जाता है। उनन टेकनीकों की महायता में पाड ही परिश्रम में पर्याप्त मात्रा में और कई प्रकार की भाजन-सामग्री पैदा हो जाती है। दुर्भिक्ष की सम्भावना समाप्त हो जाती है। शिशु मृत्यु-दर ३०० म घटकर ३० प्रति हजार रह जाती है और मृत्यु-दर ८० से घटकर १० प्रति हजार हो जाती है। हैजा, चेचक, मलेरिया, मकुश वृमि, पीडा बुगार प्लेग, कोड और तपेदिक का नामोनिशान नहीं रहता। दृग प्रकार जीवन प्रकृति के कुछ कोपों से मुक्त हो जाता है। लेकिन हर आदमी हम स्थिति को बहतर नहीं समझता। यदि आपका यह विचार हो कि जीन से मर जाना अच्छा है और पैसा न होना उसमें भी अच्छा है तो आप पर इस बात का कोई अग्र नहीं पडगा कि आर्थिक विकास से मृत्यु-दरों में कमी हो जाती है। पर हममें से अधिकांश अभी इतने आदिम विचारों के हैं कि मृत्यु की अपेक्षा जीवन का निर्विवाद रूप में बेहतर मानते हैं।

आर्थिक विकास के फलस्वरूप अवकाश के अवसरों में भी वृद्धि हो जाती है। आदिम स्थिति में जीवित रहने भर के लिए भारी परिश्रम करना पडता है। आर्थिक विकास हो जाने पर हम अधिक अवकाश या अधिक वस्तुओं के उपभोग में में त्रिग चाहें वन सकत है, और स्पष्टतापूर्वक हम इन दोनों के अधिकारिक उपभोग के प्रयत्न करते हैं। लेकिन यदि निरर्थक वृषि-प्रधान देगा और घनी औद्योगिक देशों की तुलना की जाए तो हममें उलटी बात सामन्य मानी है क्योंकि वृषि-प्रधान देश के अर्थिक वृषि के प्रतिफल योग्य म, अर्थात् बपे के अधिकतर भाग में, बेकार रहते हैं, जबकि औद्योगिक देश के लागू पूरे साल लगातार काम करने रहत है, पर बालनव म यह तुलना भ्रामक है। यदि हम उद्योग और वृषि की परस्पर तुलना करने के बजाय घनी और निरर्थक देशों के औद्योगिक क्षेत्रों की तुलना करें और इन्हीं प्रकार दोनों देशों के वृषि क्षेत्रों की तुलना करें, तो हम देखेंगे कि लागू बढने के साथ-साथ दोनों देशों में काम के घटे हुए अवसर ही कम हो जात है, और मर्यादी शक्ति का प्रयोग बढने में परिश्रम भी उतना नहीं करना पडता।

आर्थिक विकास के फलस्वरूप ही हमें अधिकारिक मेलाएँ, पीडा माय हो आर्थिक पदार्थों या अवकाश के अवसर उपलब्ध होते हैं। निरर्थक देशों में उत्पादन बढाने के लिए कुन जनसंख्या के ६० या ७० प्रतिशत को वृषि काम करना पडता है, जबकि घनी देशों में हममें होने शीघ्रता पाठान की अवस्था

कर्म के लिए निरवश १० में १५ प्रतिशत लोगों को ही रोजी कर्ने की आवश्यकता पडती है। अतः धनी दश में अन्य कार्यों के लिए अधिक लोग उपलब्ध किये जा सकते हैं—उपकरण नम और दन्त-चिकित्सक बनने के लिए, अध्यापक का कार्य करने के लिए अभिनय और मनोरंजन करनेवाले पेशे अपनाते के लिए, कलाकार या संगीतज्ञ बनने के लिए। दार्शनिकों द्वारा महत्वपूर्ण समस्याओं का व्याख्यान उच्चतर त्रिधाया म से अनक—कला, संगीत और स्वयं दर्शन का अध्ययन—एक प्रकार में विलासपूर्ण त्रिधाया हैं जिनकी अभिवृद्धि के लिए समाज की ओर स धेवर् उनी स्थिति में प्रदान किया जा सकता है जब आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप अन्न उपजाने के बुनियादी काम में अधिकाधिक लोगों का छुट्टी दी जा सकती हो। यह सही है कि कलाओं के पोषण के लिए अपेक्षाकृत बहुत ही कम लोगों की आवश्यकता होती है, और सर्वोत्कृष्ट कलात्मक उपलब्धियाँ उस पुराने युग की हैं जब समाज के अधिकांश लोग बहुत निर्धन थे। उच्चतम कला की कोटि या मात्रा पर अनिवार्य रूप से अच्छा या बुरा प्रभाव टाले बिना पिछली शताब्दी में रहन-सहन के स्तर ऊँचे होने के कारण लोगों को कलाओं का आनन्द लेने और उनकी साधना करने के अधिकाधिक अवसर प्राप्त हुए हैं। वैसे भी, उच्चतम कला की बात छोड़कर, आम-जनता के अभावसा म निस्सन्देह अत्यधिक वृद्धि हुई है, और पहले जो विलास बहुत ही थोड़े लोगों को प्राप्त था उसके उपभोग के अवसर अब आम जनता को मिलने लगे हैं। मोजार्ट या बैच के जमाने में जितने लोगों ने उनके संगीत को सुना, या रेसब्रेन्ट या एलग्रोसा की कलाओं को जितने लोगों ने देखा उसकी तुलना म आज कहीं अधिक लोग युग के सर्वोत्कृष्ट कलाकारों की कला के सम्पर्क में आते हैं।

पुरुषों की तुलना म स्त्रियों को इन परिवर्तनों में और भी अधिक लाभ होता है। अधिकांश कम विकसित देशों में स्त्री गुलाम की तरह होती है जिसे घर के अन्दर बहुत काम करना होता है जो उन्नत समाजों में मशीनी शक्ति में किये जाते हैं—वह घण्टा चक्की पीसती है, मीनों दूर चलकर पानी लाती है, और इसी प्रकार के दूसरे भारी पश्चिमवाले काम करती है। आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप ये और दूसरे ऐसे काम—कनाई और बुनार, बन्धों की पढ़ाई, बीमारों की तीमारदारी—बाह्य प्रतिष्ठानों में किए जाने लगते हैं जहाँ इसके लिए अधिक विनयप्रता, पूंजी और बड़े पैमाने के उत्पादन के सभी लाभ उपलब्ध होते हैं। विकास की प्रक्रिया में स्त्रियों को गुलामी में छुटकारा मिलता है—घर के एकाग्र म मुक्ति मिलती है, और अन्ततः इन्सान बनने और अपने मस्तिष्क एक प्रतिभाशाली को पुरुषों की भाँति ही उपभोग म लाने का अवसर मिलता है। पुरुषों के विषय में तो कुछ हद तक मतलब ही

भी मकने हैं कि प्राथमिक विकास उनके लिए अच्छा है या नहीं, लेकिन स्त्रियों के बारे में प्राथमिक विकास की वाञ्छनीयता पर तक बरन का अर्थ इसी विषय पर तब बरने के समान होगा कि स्त्रियों को भाड़े का पगु बन रहने की स्थिति से छुटकारा पान और इन्गान बनन का अवसर दिया जाए या नहीं।

प्राथमिक विकास मनुष्य को अधिकाधिक मानवतावाद के विलास की मुजादश भी देता है। उदाहरण के लिए, गुजारे के निम्नतम स्तर की अर्थ-व्यवस्था में दूसरों की सहायता बरन योग्य बहुत ही छोटा बच पाता है, और अशकन लोगों को मरने देन के सिवाय और कोई चारा नहीं होता। बनी उत्पादन में वृद्धि होने के साथ ही मनुष्यों के लिए यह सम्भव होता है कि वे कोढ़ियों, पागलो, लंगड़े, सुत्तों, अन्धों और मुमीबत के मारों पर ध्यान दे सकें। बीमारों, अशक्तों, दुर्भाग्य के मारों, विधवाओं और अनाथों की देखभाल करन की इच्छा आदिम समाजों की अपेक्षा सम्य समाजों में ही अधिक नहीं पाई जाती, लेकिन इन समाजों में इन काम के लिए अधिक साधन अवश्य जुटाए जा सकते हैं। अत इनमें वस्तुतः अधिक मानवतावाद दिखाई पडता है। कुछ लोगों के लिए यह चिन्ता का विषय है, उनका विचार है कि यह समाज के मुजमन के हित में नहीं है कि प्रतियोगिता का सामना न कर सकन वाले लोगों को जिन्दा रक्त जाए, और वे समझते हैं कि यदि ऐसे लोगों का बीझ न बना दिया गया तो उन्हें सरक्षण देने का दीर्घकालीन परिणाम यह होगा कि समाज की जीवात्मक शक्ति घट जाएगी। लेकिन ऐसा विचार रखने वाले लोग अभी थोड़े ही हैं।

जिन देशों में साधना की अपेक्षा राजनीतिक महत्वाकांक्षाएं अधिक बड़ी-चढ़ी हैं वहाँ प्राथमिक विकास का महत्त्व और भी अधिक है क्योंकि विकास के पनस्वरूप के साधन जुटाए जा सकन हैं जिनके अभाव में अग्रगण्य सामाजिक तनातनी पैदा होने का भय है। उदाहरण के लिए, ब्रिटन जैसे कुछ देशों में अमिह-युग या उनके प्रवक्ता अधिकाधिक देशनों की मांग कर रहे हैं, और चाहते हैं कि अग्रगण्य शिक्षा स्वास्थ्य और दूसरी सुविधाओं पर अधिकाधिक खर्च किया जाए। ऐसे समाजों में यदि प्रति-व्यक्ति आय स्थिर रहे तो एक समूह की इच्छा दूसरे समूह में कुछ छीनकर ही पूरी की जा सकती है और इसके पदस्वरूप गृह-तलट हाना अत्यन्तभी है। सोवियतवाद के इस युग में समाज के अधिकांश देश ऐसे दौर में गुजर रहे हैं जिसमें यदि प्रति-व्यक्ति उत्पादन में तेजी में वृद्धि न की गई, और इस प्रकार समाज की आवश्यकता को पूरा करने योग्य साधन न जुटाये गए तो बटु गृह-तलट हान अत्यन्तभी है। प्राथमिक विकास का महत्त्व राजमर्मों पर सबसे अधिक प्रभाव डालता है। यही कारण है कि सोवियतवादी राजमर्मों में सर्वप्रथम प्राथमिक विकास को

बढ़ावा देने की तत्काल आवश्यकता पर एकमत हैं। साथ ही यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि आर्थिक विकास में सदा ही क्षोभ में बर्ती नहीं आती। यह भी सम्भव है कि इसके परिणामस्वरूप स्थायी सामाजिक सम्बन्ध अपेक्षाकृत बिगड़न लगे ईर्ष्या और लोलुपता बढ़े और वर्ग, जाति या धार्मिक मर्प में वृद्धि हो जाए। यह सम्भावना इसी धारणा से सम्बन्धित है कि आर्थिक विकास से अनिवार्यतः सुख में वृद्धि नहीं होती न इससे अनिवार्यतः राजनीतिक स्वाधीनता में वृद्धि होती है। इसमें तानाशाहों को व्यापक संचार-मुदि-धाम्रा के जरिए लोगों के दिमाग पर, और मुसगठित पुलिस के जरिए लोगों के शरीरों पर नियन्त्रण करने का अवसर मिलता है। अतः यह कहना सम्भव नहीं है कि आर्थिक विकास अनिवार्य रूप में राजनीतिक सम्बन्धों को सुधारता है।

आकाशाग्रो और साधनों के बीच अनुपात के अभाव का दूसरा पहलू हीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति वाले देशों की राजनीतिक प्रवृत्तियों के रूप में देखने को मिलता है। उपनिवेशों के लोग अब स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं। स्वाधीन राष्ट्र, जिनकी आवादी तो अधिक है लेकिन प्रति-व्यक्ति आय कम है, अन्तर्राष्ट्रीय सघटनों में अधिक प्रतिष्ठा पाना चाहते हैं। सही हो या गलत, लेकिन ऐसे राष्ट्रों की जनता का खयाल है कि यदि वे धनी होंगे, और विशेषकर यदि वे शक्तिशाली सेनाएँ खड़ी करन योग्य धनी होंगे, तो अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उनकी बात का महत्त्व अधिक होता, और उनके राष्ट्र के प्रति और उनकी जीवन-विधि के प्रति दुनिया का आदर-भाव अधिक होता। कुछ राष्ट्रवादी ऐसे हैं जिनकी प्रतिक्रिया आधुनिक नसार से पलायन करने की है, और वे अपने देशवासियों से पुनः जीवन की पुरानी विधियाँ अपनाते का आग्रह करते हैं। लेकिन अधिकांश ऐसे राष्ट्रवादी, जिनके हाथ में इतना समय मिला है, यह समझते हैं कि द्रुत आर्थिक विकास उनके देश के लिए आवश्यक है। अनेक लोगों का विश्वास है कि धन या आर्थिक विकास की दृष्टि से समार के देशों के बीच भारी अन्तर होने के कारण ही युद्ध पैदा होते हैं और यदि रहन-सहन के स्तरों में इतना अधिक अन्तर न हो तो समार में शान्ति स्थापित करने की सम्भावना बढ़ सकती है। यह धारणा बड़ी सदेहास्पद है, क्योंकि जिन समाजों में तेजी से आर्थिक विकास हो रहा है उनमें अपन पद्धतियों पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। जो भी हो, युद्ध के कारण इतने अधिक हैं, और आर्थिक बातों से इनका सम्बन्ध इतना परोक्ष है कि शांति या युद्ध का हथाला देकर आर्थिक विकास की समस्या पर विचार करना बतई उपयोगी दिखाई नहीं देता।

कभी-कभी यह विचार प्रकट किया जाता है कि समार के सभी राष्ट्रों

मे घपने रहन गहन के स्तरा म निरन्तर वृद्धि करन रहन की आशा भ्रामक है क्योंकि हमने मद्यार क एनिजा और इधत के मचित भण्यार सीध ही समाप्त हो जात का भय है । यह तक दा अतिविचन धारणाधा पर आधारित है । पहली धारणा ता यह है कि एक समय तगा सा शकता है जब मनुष्य की पटुता समाप्त माधना के स्थान पर नयी चीजें दूँठ निकाला म मफन नहीं हो गयेगी । एतद अणु की प्रकृति के वार म और एक दन्व के दूगर तत्त के रूप म बदलन के वार म हमारे बदन हुए विज्ञान का दगन हुए यह धारणा बड़ी मदहजनक मालूम शती है । दूसरी धारणा यह है कि समार क माधना पर प्राग धान वाली पीढ़ियों का भी उतना ही अधिभार है जितना वनमान पीढ़ी का है । प्रश्न यह है कि हम इसीलिए क्यों निर्धन बन रहे कि प्रागे धान वाली कुछ घतान्दियों म मानव-जाति समाप्त न हो जाण, और वह एराध घतान्दी और बने ? क्या यह उचित नहीं है कि वनमान पीढ़ी उपरुध माधना का अध्ये-मे प्रच्छा उपयोग कर और बाद म धान वाली घतान्दिया यो घपनी धिन्ना स्वयं करने द ? यदि इन प्रश्ना का उत्तर नकारात्मक भी हो तो भी इतनी बात विचारणीय रह जाती है कि एनिजा और इधत का सेडी से समाप्त करन वाने दग मद्यार के निर्धननम नहीं बल्कि सर्वाधिन घनी देण है । यदि उपयुक्त ता म मयता है तो उसका फाजत करन क त्रिण यूराध या उत्तर घमरीका का घपन रहन-गहन के स्तरा म और अधि वृद्धि नहीं करनी चाहिए । एनिजावागी और घपनेवावागी लागे के त्रिण हम तक का मरुत्व बहुत कम है क्याकि वे मचित माधना का बहुत ही धाटा भाग उपयोग म ला रहे हैं ।

(घ) घर्जनशील समाज—प्राथमिक विभाग के त्रा नाम उपर त्रिनाम माप है वे बिना कोई मुख्य पुकार उपरुध होन ता हर व्यक्ति प्राथमिक विभाग के पक्ष म शता । सोचते बहन मे लागे का विचार है कि प्राथमिक विभाग के त्रिण जा प्रवृत्तियाँ और मस्थान घपित्त है व स्वयं म घराछनीय है । य लाग त्रियर समाज म प्रचलित प्रवृत्तिया घार मस्थाना का ही बहनर ममभत है । पहली बात ता यह है कि य मितुधुधिया आरणा का पउर नहीं करने जा प्राथमिक विभाग की पत्ती म मयूर है । घय बाई समान रहन पर, विभाग उन समाजों म लघाधिर हुन शता है जहाँ लाग घपनी घामदनियाँ बड़ाकर या उदादा-न्यायन कम करके प्राथमिक नाम के घपनरा का साजो और तुम्बा उपयोग करी के त्रिण प्रवृत्तनीय रहन है । और मितुधुधिया की यह प्रकृति यतनि प्राथमिक परिधम मे बचन की दृष्टा और मन्तरजन दा घाम्यामिक विभाग के त्रिण त्रिण समय त्रिणतत की दृष्टा या नी परिधम हा मकी है, सोचते स्वयंर म दनु म शता है कि ता प्रवृत्ति यो घर्जन त्रिण

होती है इस लार्गो के अन्दर स्वयं धन के लिए, या सामाजिक प्रतिष्ठा या शक्ति अर्जित करने के लिए धन कमाने की आकांक्षा होती है। मितव्ययिता अच्छी बात मानी जा सकती है क्याकि जिन प्रकार मनुष्य का यह पवित्र कर्तव्य है कि वह यह को बुरा माने और विषयाओं एवं अज्ञानों की देव-भान करे, उन्ही प्रकार यह भी उम्मीद बुद्धि है कि यह बर्खादी को बुरा समझे, और अपने साधना का अन्दर-से-अच्छा उपयोग करे—बन्धुन प्रतिभाषा के दृष्टान्त के अनुसार यही ज्ञान चाहिए। हर कोई इस बात में सहमत नहीं होता कि हम साधनों की बरबादी या नशी में गुजरने हुए समय की बर्खादी को रोकना अपना परम कर्तव्य मानना चाहिए, लोगों का कहना तो यह है कि मितव्ययिता में मनासिक ऊर्जा और मानवीय सुख पर बड़ा दुष्प्रभाव पड़ता है, और यह गुण के दशाय दुर्गुण है। वे यह तो मान सकते हैं कि स्वाम्थ्य और आराम की दृष्टि से रहन-सहन का जितना निम्नतम स्तर कायम करना आवश्यक हो उसे प्राप्त करने के लिए मितव्यय या परिश्रम करना मनुष्य का कर्तव्य है (यह भ्रान्त नकल्पना है), लेकिन उनका विचार है कि इस स्तर से परे मितव्ययिता के प्रयत्न करने का कोई विशेष लाभ नहीं होता। वे लोग भी, जो मितव्ययिता को अच्छी बात मानते हैं इस तथ्य (यदि यह तथ्य है) पर संदे प्रकट करते हैं कि यह गुण भौतिकवाद के दुर्गुण (यदि यह दुर्गुण है) से घुला-मिला पाया जाता है। हम यह चाह सकते हैं कि बच्चों की उपलब्ध साधनों और अवसरों का अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना सिखाया जाए (मितव्ययिता का यही तात्पर्य है), और साथ ही उन्हें जितना प्राप्य है उन्से अधिक के लिए मुंह फँलाने को न कहा जाए (भौतिकवाद के दुर्गुण से बचने की दृष्टि से)। यदि बच्चों को इस नीति की शिक्षा दी जाए, और वे इस पर चतने लगे तो धार्मिक विकास तो फिर भी होगा; हाँ, इतना अन्तर आ जाएगा कि निरन्तर बढ़ने हुए रहन-सहन के भौतिक स्तर के रूप में प्रकट न होकर यह स्थिर भौतिक स्तरों पर वर्तमान अवकाश के रूप में व्यक्त होगा, और यदि इस अवकाश के परिणामस्वरूप निरन्तर बढ़ती हुई चाहिनी के दुर्गुण (यदि चाहिनी को दुर्गुण मान लिया जाए) से बच्चों की रक्षा करना अपेक्षित हुआ तो उन्हें यह भी सिखाना पड़ेगा कि वे अपने अवकाश का ऐसे बौद्धिक तरीकों से उपयोग करें जिनसे न तो चाहिनी पैदा हो और न धार्मिक बर्खादी एवं सेवाओं का उत्पादन बड़े। मानव-प्रकृति जैसी है उन्से निम्न मान-कर हम अपने तर्कों को दृढ़ अधिक नहीं दटा सकते। वास्तविकता यह है कि मनुष्य अधिक धन चाहता है, मितापयोग करने का इच्छु होता है, और चाहिनी पसन्द करता है। इनमें से कोई इच्छा अपने-आपने गुण या दुर्गुण नहीं है। लेकिन अन्य कर्तव्यों, दायित्वों या अधिकारों की उद्देश्य करके यदि



इतने से तिसी एक इच्छा का बहुत अधिक बढ़ावा दिया जाय ता हमने मनुष्य का व्यक्तिगत अस्तित्व हो जाता है और दूसरे लोगों को भी ज्ञान पहुँचती है । कोई समाज जिस प्रकार 'बहुत अधिक भौतिकवाद' बन सकता है उसी प्रकार 'आवश्यकता से कम भौतिकवादी' भी हो सकता है । या हमें हम दूसरी तरह यो कह सकते हैं कि आर्थिक विकास वाञ्छनीय है लेकिन यह हमारे ऊपर है कि हम बहुत अधिक आर्थिक विरासत कर लें (उसमें भी अधिक जितना आत्मा या समाज के लिए हितकर है) या बहुत ही कम विभाग करें ।

ठीक यही आशय स्पष्टिवाद के ऊपर भी किया जा सकता है, जो आर्थिक विभाग की निन्दा करते समय दूसरे नम्बर पर आता है । ऐसा लगता है कि आर्थिक विभाग की सम्भावना उन स्थिति में सर्वाधिक होती है जब व्यक्ति अपने-अपने हितों-की ओर केवल अपने अधिक निवृत्त के सिद्धेदारों के हितों को चिन्ता करते हैं, और इसी सम्भावना उन स्थिति में, अपेक्षाकृत कम होती है जब मनुष्य के सामाजिक दायित्व का दायरा व्यापक होता है । इसी लिए, कार्य-कारण दोनों ही दृष्टि से आर्थिक विभाग हान पर व्यापक परिवार और मनुष्य परिवार-प्रणालियाँ समाप्त हो जाती हैं हैमिथन (दासत्व, वृद्धि-दासत्व, जानि, आयु, परिवार, विरासदी) पर आधारित सामाजिक प्रणालियों के स्थान पर मविद्या और अस्वस्व की समानता पर आधारित प्रणालियाँ आ जाती हैं, जैसे दरजे की उदय सामाजिक गतिशीलता पैदा हो जाती है, और बबोला के बचपन एव सामाजिक समूहों के दावों की मान्यता में कमी हो जाती है । यह भी ऐसी समस्या है जिसे तब के किसी एक पक्ष को घबरा और दूसरे को सुरा बहार नहीं मुकभाया जा सकता । कुछ अधिकार हमें हैं जो सभी व्यक्तियों को मिलने चाहिए, और सभी सामाजिक दावों से इनकी सुरक्षा की जानी चाहिए, साथ ही हर व्यक्ति बिगो समूह या वर्ग समूहों में सम्बन्धित होगा है, जिनका बने रहना उनके अपने सामाजिक हित के लिए आवश्यक है, और जो अभी बने रह सकते हैं जबकि व्यक्ति समूह के दावों को मान्यता दे और उगरी मत्ता के प्रति निष्ठावान् बना रहे । पिछले पाँच सौ वर्षों में स्पष्टिवाद के विभाग की अनेक बुराहियाँ सामने आई हैं लेकिन साथ ही यह बड़ा महत्वपूर्ण और स्थायीना दिवाने वाला भी सिद्ध हुआ है । एक आर्थिक विभाग को हम आधार पर धवाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता कि वह स्पष्टिवाद से सम्बन्धित है—मानव-सम्बन्धों की अन्तरी बानें केवल बबीला-वाद, सामाजिक हैमिथन, व्यापक परिवारिक सम्बन्ध और मात्रनीतिव सत्ता-वाद ही नहीं है ।

आर्थिक विभाग पर तीसरा आशय तब के साथ इसके सम्बन्ध पर आधारित है । आर्थिक विभाग प्रौद्योगिक उन्नति पर निर्भर करता है, जो उन लोगों

में मन्त्रों अधिका पाई जाती है, जिनका दृष्टिकोण प्रवृत्ति और सामाजिक सम्बन्धों के बारे में नवीनीकरण होता है। नवीनीकरण मन्त्रों को इसलिए संदेह की दृष्टि में देखा जाता है कि या तो उसमें धार्मिक अनीश्वरवाद या नास्तिकवाद फैलने का भय होता है या वह किसी मन्त्र के अर्थानुसार होने की प्रवृत्ति के प्रतिवृत्त माना जाता है। जहाँ तक धार्मिक विश्वास का सम्बन्ध है यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर या देवताओं के प्रति विश्वास में कभी वर्तमान युग के दुःखों के फलस्वरूप आई है या पिछले जमानों में जबकि लोग आम तौर पर धर्म पर विश्वास करते थे तब आज की अपेक्षा बुराईयाँ कम थीं। जो भी हो यह सही नहीं है कि नवीनीकरण के महत्त्व का मानना ईश्वर में विश्वास करने के प्रतिवृत्त है। ईश्वर की सत्ता का के द्वारा न तो गिना ही जा सकती है और न भूरी ठहरे जा सकती है। इन दोनों कारणों से धर्म में नहीं आता कि धार्मिक-ने प्रतिवृत्त नवीनीकरण भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखने वाले क्यों नहीं हो सकते। नवीनीकरण को नहीं बतलाना को नष्ट करता है और जहाँ सत्ता धर्म पर आधारित होती है वहाँ नवीनीकरण मन्त्रों के विरोध में हो जाता है। लेकिन इस अर्थ में नवीनीकरण मन्त्रों जितना धर्म का विरोध करता है उतना ही विज्ञान का भी करता है, वस्तुतः यह हर ऐसे प्रयत्न का विरोध करता है जिसका दावा यह हो कि वर्तमान सिद्धान्तों का आमूल पुनरीक्षण नहीं किया जा सकता, या इनकी बैधता को चुनौती देना नैतिक नहीं हो सकता है। लेकिन यहाँ भी तर्कों के बारे में वही बात ठीक है जो भौतिकवाद और व्यष्टिवाद के बारे में ऊपर कही जा चुकी है, दो विरोधी तत्त्वों में से किसी एक को अच्छा बनाकर मचाई नहीं निकाली जा सकती, क्योंकि जिस प्रकार भौतिकवाद और धर्म दोनों ही वांछनीय हैं, उसी प्रकार तर्क और सत्ता दोनों ही समाज के लिए उपयोगी हैं। व्यवस्थित जीवन के लिए विरोधी सिद्धान्तों में से कुछ को ठुकराकर दूसरों का ही अनुकरण करने के बजाय सबकी अच्छी-अच्छी बातों को अपना लेना अपेक्षित होता है।

धार्मिक विकास पर चौथा आक्षेप के योग्य बात है जो उनके मान-माप बढ़ाने वाले उत्पादन के पैमाने को पसन्द नहीं करता। उत्पादन के पैमाने के लाभ शुरू-शुरू में धर्म के विभाजन और मशीन के उपयोग के रूप में देखने में आते हैं। इनके प्रति व लोग आश्चर्य नहीं होत कि नवीनीकरण की वनी चीजें घटिया लगती हैं और जो पुराने कारीगरों के हाथों की वनी चीजें हैं वह तब तक समझते हैं। धार्मिक विकास के फलस्वरूप पुरानी कारीगरी नष्ट हो जाती है और यद्यपि इसमें अनेक नये कौशल, मशीन-कौशल, आदि को जन्म मिलता है (क्योंकि विशेषज्ञता के कारण के क्षेत्र में बड़ा विस्तार होता है), पर बहुत

मे लोग पुरानी कारीगरी और पुरान उद्योग की बनी हुई चीजें समाप्त हो जाने पर मोद प्रकट करते हैं और उन्हें नय कौशलों के विकास पर या बड़े पैमाने के उत्पादन के परिणामस्वरूप उपरन्ध बड़ी मात्रा में सस्ती चीजें मिलने पर खुशी नहीं होती। स्वयं विशेषज्ञता के सिद्धान्त पर आशेष किया जाता है क्योंकि इससे लोगों को बार-बार एक ही काम करना पड़ता है और यह काम चाहे डिग्री या काले कसने का हो या चाकलेटो की डिग्री में बन्द करने का हो, या विश्वविद्यालय में बार-बार एक ही भाषण देने का हो, या संगीत के आरोहावरोह के अभ्यास का हो, या घान्त्रपुच्छ निकालने का हो, लेकिन अनिवार्यतः उबसा देने वाला हो जाता है, जब तक कि काम करने वालों को ऐसी आदत न पड जाए कि वे अपने मस्तिष्क पर पूरी तरह जोर दिए बिना ही उसे करने लगें।

बड़े पैमाने का एक और लाभ प्रशासनिक इकाई के आधार में होने वाली वृद्धि है। उदाहरण के लिए व्यवसायों, सरकारों और दूगरे संगठनों की प्रशासनिक इकाइयाँ बढ़ती जाती है। इस प्रक्रिया में मनुष्य अपने औजारों के खुद स्वामी नहीं रह जाते, वे सर्वहारा बन जाते हैं। बड़े पैमाने के संगठन में विचित्र सामाजिक तनावों पैदा होती हैं, दग प्रकार के संगठन पदगोपान के आधार पर चलाने जाते हैं जिसका अर्थ यह होता है कि अनेक लोगों को कुछ दीर्घस्थ व्यक्तिता की आज्ञा में चलना पड़ता है अथवा ही दग प्रक्रिया की अधिकधिक सौरतन्त्रात्मक बनाने का प्रयत्न किया जाए, इन संगठनों को काम बाँटने और पारिश्रमिक देने के ऐग उपाय निबानने पड़ने हैं जो प्रभावशाली भी हैं और न्यायपूर्ण भी। हम अभी तक अज्ञान उत्पन्न किए बिना बड़े पैमाने के संगठनों को चलाने की विधि नहीं जान पाए हैं अतः अनेक लोगों का विचार है कि ये संगठन न रह सभी अच्छा है।

बड़े पैमाने के संगठन का नापसन्द करने का एक कारण यहाँ लागू किया जाने वाला अनुशासन भी है, नित्यप्रति ए सोग एग हो समय जगने हैं, एक ही समय काम पर पहुँचने है एक ही काम करने है और काम को एक ही समय खपग घाने है। कुछ लोगों का विचार है कि इससे जीवन बाधित और उबना देने वाला हो जाता है और मनुष्य एक बड़ पहिरे के दोनो के समान यांत्रिक जीवा बिना लगता है। वे चाहते हैं कि मनुष्य समय के साथ इतना बेपकर न रहे और उसे हर दिन अपना काम चुनने को कुछ अधिक आकारी हो, यद्यपि वह किसी भी प्रकार स्पष्ट नहीं है कि जो व्यक्ति हरनत्र व्यवसाय के रूप में काम करता है उसे समय का उपना पावन नहीं करना पड़ता, या कि नियमित जीवन अपने-आपमें कोई बुरी बात है।

बड़े पैमाने के संगठन में होने वाले लाभ के पराम्यन्त नगरों का विकास

होता है। यह विशेषकर तब देखने में आता है जब प्रति-व्यक्ति वार्षिक आय बढ रही होती है जिससे कृषि-पदार्थों की तुलना में विनिर्मित वस्तुओं और सेवाओं की मांग अधिक बढ जाती है। बड़े नगरों के विस्तृत आवाज उठाने का सम्बन्ध जहाँ तक खेती के धन्धों की प्रश्रय देने में है वहाँ तक यह आवाज प्रौद्योगिक उन्नति के विस्तृत ही समझी जानी चाहिए। बात यह है कि प्रौद्योगिक उन्नति में ही देश को यह सामर्थ्य प्राप्त होती है कि मार्ग जनमस्या के लिए पर्याप्त भाजन केवल पन्द्रह प्रतिशत लोगों को खेती के काम में लगाने में ही पैदा किया जा सकता है। यदि हम उन स्थिति में लौट जाना चाहें जहाँ कृषि-कर्म के लिए ७० प्रतिशत लोगों की आवश्यकता होती थी, तो इनका अर्थ यह है कि या तो हम कृषि-विज्ञान की समस्त उपलब्धियों को भुना दें, या काम के घण्टे मप्ताह में लगभग १० ही रहने दें। कृषि में प्रौद्योगिक उन्नति होने में ही शहरी धन्धे बढते हैं, लेकिन यह बड़े पैमाने के नगरों के नामों का परिणाम है कि शहरी धन्धे बढे-बढे नगरों में केन्द्रित हो जाते हैं। यह क्यों घवाछनीय है यह समझ में नहीं आता। शहर या गाँव में से जहाँ चाहे काम करने का अवसर दिए जाने पर अधिकांश लोग शहर को चुनते हैं—यही कारण है कि गाँव समाप्त होने जाते हैं और शहर बढते जाते हैं, केवल थोड़े-से ही लोग शहर की अपेक्षा गाँव को तरजीह देते हैं और जो लोग शहर को घृणा की दृष्टि में देखते हैं उनमें से अधिकांश वस्तुतः गाँवों से भागने का प्रयत्न करते हैं। यदि आयोजन या नियन्त्रण के बिना ही जल्दीबाजी में नगर बसा दिए जाएँ तो वे गन्दे, भेदे और अस्वास्थ्यकर हो सकते हैं, लेकिन अब ऐसे कोई कारण दिखाई नहीं देने कि नये नगर (या पुराने भी) उतने ही सुन्दर, शानदार, स्वास्थ्यकर और प्रेरक नजर न आएँ जितने गाँव हो सकते हैं और साथ ही उनमें शरीर, मस्तिष्क और आत्मा की उन्नति के लिए उनमें भी अधिक व्यापक अवसर उपलब्ध न हों जितने कि कोई गाँव कभी करने को सोच सकता था।

आर्थिक विकास पर अन्तिम आक्षेप यह लगाया जा सकता है कि इनमें आय की असमानता बढती है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि कठिन परिश्रम, विवेकपूर्ण काम, कौशल, उत्तरदायित्व और पहल के अनुरूप पारिश्रमिक में अन्तर न रहे जाएँ तो आर्थिक विकास या तो बहुत थोड़ा होगा या बिनाशुल नहीं होगा। आर्थिक विकास की अपेक्षित गति को बनाये रखने के लिए आय में जितने अन्तरों की आवश्यकता हो उगसे बहुत अधिक या बहुत कम अन्तर किन्हीं विदोष परिस्थितियों में पाए जा सकते हैं, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता, जैसा कि हम के सामने को जल्दी ही पता चल गया, कि बड़ी हद तक आर्थिक विकास आमदतियों में किन्नी प्रकार का

अन्तर रये बिना ही किया जा सकता है। प्राथिक विकास व विद्वत् म  
 आधार पर किया जाने वाला आशेष अब केवल इतन तक ही सीमित रह  
 गया है कि कुछ विना स्थाना या समय म आमदनियां म जो अन्तर पाए  
 जान है वे विकास के अपक्षित स्तर को दगत हुए आवरणकता म अधिक् है  
 और दोषपूर्ण सामाजिक संगठन का परिणाम हैं। इस रूप म यह तक सामा  
 जिक समस्याओं (सम्पत्ति के उत्तमधिकार भूमि के स्वामित्व कराधान शिक्षा  
 के अवसर आदि) म ऐसे परिवर्तन जाने के पक्ष म किया गया मानुम होता  
 है जिनमे प्राथिक विकास की गति म कमी निय वगैरे ही आम या सम्पत्ति व  
 वितरण को बदला जा सके। लेकिन ऐसी भी परिस्थितियां होती है जिनमे प्राथिक  
 विकास के लिए अपेक्षा आम अन्तर स्वीकार्य नहीं होत भते ही यह निश्चय  
 हो कि अन्तर कम कर देने से विकास की गति म द ह जायेगी—उदाहरण  
 व लिए अब विदेशी अध्यापक या मिस्त्री स्थानीय मानका का तुलना म बहुत  
 ऊंचे वेतन मिये वगैरे उपलब्ध नहीं किए जा सकते या जब अप्रगामी विन्नी  
 या देगी उद्यमकर्ता तब तक विकास-वाय म पहा करने का तैयार नहीं हान  
 जब तक कि उह स्थानीय दृष्टिकोण के अनुरार उचित माना जान वादी  
 दर से बड़ी अधिक् दर पर लाभ न समान लिए जायें। एक मामला म प्राथिक  
 कमीटी सपाई और मांग की है उचित अन्तर के वेतन या लाभ हैं जो  
 किसी परिस्थिति विशेष म कुणन व्यक्तियों की अपेक्षित सपाई उपलब्ध करन  
 या उद्यमकर्ताओं से अपक्षित पहन करान के लिए निरपक्ष मिति म आधारक  
 हैं। लेकिन इस कमीटी पर जो उचित मानुम द वही दूसरे आधारों पर या  
 सामाजिक वाय की कमीटी पर अनुचित ठहराया जा सकता है।

एक विद्वेषण मे हीन निष्कर्ष निकलत है। पहला ता यह कि प्राथिक  
 विकास पर आशय करते समय इसकी जो हानियां गिनती जाती है उनम म  
 कुछ बिगो भी तरह इतक अनियाय परिणाम नहीं माने जा सकत—उदाहरण  
 व लिए पहरो का नद्दा रूप या धमिक-वर्गों की निधनता। दूसरे दमक  
 विद्वत् आरोपित बुरादमा म से कुछ दरअसन अपन आयम बुरादमा नहीं है—  
 उदाहरण के लिए स्पष्टिकार तकनीकता या नगर का विकास। मानव शोषण  
 की और बानों की तरह ही इन चीजा म ना धनि हो सकती है लेकिन अपन  
 आयम व अपन म विपरीत बाना की अपेक्षा हिमो प्रकार कम वाछनीय तथा  
 है। इसी से निश्चय जाता अर्थात् तीसरा निष्कर्ष यह है कि प्राथिक विकास  
 की गति समाज की अलाई को दगत हुए आवरणकता व अधिक् भी हो सकता  
 है। अतः अरुण बाना म न ही प्राथिक विकास नी एक है और इसम धनि  
 की गुंजाइश है। अतः प्राथिक विकास अतः अधिक् भी अन्तर का प्राथिक  
 स्पष्टिकार देनी का अतः प्राथिक गतिमानता, सामाजिक की प्राथिक अममनता

या एसी ही दूसरी बातों का परिणाम या कारण हो सकता है। समाजों के लिए विकास के वर्तमान स्तर की अपेक्षा आर्थिक द्रव्य गति में विकास करना नया ही अच्छा नहीं होता। यदि वे गति बढ़ाने हैं तो उन्हें काफ़ी लाभ होता है लेकिन इसके साथ ही सामाजिक या धार्मिक दृष्टि में काफ़ी बोझ भी बढ़ाना पड़ सकता है। और यह हर मामले का अधिक-से-अधिक सावधानी के साथ अध्ययन करके ही निश्चय करना चाहिए कि सम्भावित लाभ सम्भावित हानियों से अधिक हैं या नहीं। आर्थिक विकास से लाभ भी है और हानियाँ भी। इसीलिए आर्थिक विकास के प्रति हमने से हर व्यक्ति का दृष्टिकोण उन्मुखनीय होता है। हम निर्धनता, निरक्षरता और रोग के उन्मूलन की बातें करते हैं, लेकिन साथ ही अपनी पसन्द के विस्वामो, आदतों और सामाजिक व्यवस्थाओं से बुरी तरह चिपके रहना चाहते हैं, भले ही ये उस निर्धनता के मुख्य कारण हो जिसके उन्मूलन की हम माँग कर रहे हैं।

(ग) संक्रमण-काल की समस्याएँ—उन देशों का आर्थिक विकास उन्ने समय विशेष समस्याएँ पैदा होनी हैं जो पिछली कुछ शताब्दियों में आर्थिक गतिरोध के निम्न-स्तर पर रहते आए हैं। बात यह है कि ऐसी स्थिति में आर्थिक विकास के लिए विस्वामो, आदतों और सामानों का स्वरूप-परिवर्तन करना पड़ता है, और यद्यपि समय पाकर जब नये विस्वामो, आदतों या नये संस्थान जड़ जमा चुकते हैं तो एक नया गत्यात्मक मनुष्यत्व कायम होता है जो हर दृष्टि से पुराने स्थैतिक सामाजिक संन्तुलन से श्रेष्ठ होता है, फिर भी संक्रमण के दौरान अन्धाधुंध बड़ी कष्टकर परिस्थितियाँ पैदा हो सकती हैं।

इनमें से एक अपेक्षाकृत अधिक सम्भावित परिस्थिति काम के प्रति लोगों की आदतों में परिवर्तन नाने से सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए किनी बहुत आदिम देश में ताँबे की खानों का पता चलता है जहाँ सभी लोगों के पास मन्तोष में जीवन व्यतीत करने योग्य उपज देने वाली अर्न्त-अर्न्त जमीनें हैं, भले ही उनका स्वास्थ्य, या भौतिक स्थिति, या मन्वृति बड़े नीचे दरजे की हो। हो सकता है वे लोग ताँबे की खानों में काम करना पसन्द न करें, और खानों को लाभप्रद ढंग से खोदने के लिए दी जा सकने वाली अधिकतम मजदूरी पर भी स्वेच्छा से काम करने के लिए तैयार न हों। दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि यदि उन्हें खानों में काम करने के लिए विवश किया जाए तो उससे प्राप्त धन से उनके भौतिक स्वास्थ्य, स्वास्थ्य, शिक्षा और मन्वृति के स्तर बहुत अधिक ऊँचे किये जा सकते हैं। यह भी मान लीजिए कि यदि शुरू में उन्हें उबरदस्त काम पर लाया जाए तो कुछ समय बाद उन्हें नये काम में इतनी रूचि हो जाएगी, ऊँचे स्तरों के गुणों का इतना बोझ हो

जाएगा, और अपने पिछले जीवन के प्रति इनकी घृणा हो जाएगी कि फिर जोर-जबरदस्ती सतम कर देने पर भी वे खुशी से तानों में काम करते रहेंगे। ऐसी परिस्थितियों में अस्थायी रूप में बल का प्रयोग उचित है अथवा नहीं ? यह काल्पनिक उदाहरण केवल वागजी भाड़ा नहीं है, क्योंकि यह बहुत-कुछ अमीरों के उन भागों में घटी बातों से मिलता-जुलता है जहाँ लोगों को जबरदस्ती तानों या बागानों में काम पर लगाया गया है, चाहे वे अपने मुन्दि-यात्रों के जरिए मिले आदेशों पर भरती हुए, या इसलिए कि इस प्रयोजन में लगाये गए करों की अदायगी केवल तानों में मजदूरी कमाकर दी जा सकती थी, या इसलिए कि उनमें उनकी जमीनें छीन ली गईं। उपर्युक्त काल्पनिक उदाहरण की अपेक्षा अमीरों की वास्तविक घटनाएँ इसलिए अधिक जटिल हैं कि वहाँ बल प्रयोग करने वाले लोगों का दृष्टिकोण अमीरों की भलाई न हाकर स्वयं धन कमाना या। कुछ मामलों में तो अमीरों को भौतिक दृष्टि में भी लाभ नहीं पहुँचा है। इसके विपरीत, उनके पुत्रों में आर्थिक दृष्टि में परवाद हो गए हैं, उनके जीवन का दग नष्ट हो गया है, और वे स्वयं भौतिक और धार्मिक दृष्टि में दरिद्र होकर बैठे हैं, गरीब बस्तियाँ और भोंपड़ों वाले रहते हैं। इस समस्या पर विचार करते समय हम बराबर इस बात पर जोर देना चाहिए कि अधिराज जनता की दशा सुधार बिना भी प्रति-व्यक्ति उत्पादन बढ़ाकर आर्थिक विकास किया जा सकता है, क्योंकि उत्पादन में वृद्धि होने पर केवल कुछ ही अतिरिक्त लोगों के धन में बढ़ोतरी होती है। अधिराज लोग इस बात में महत्त्व देंगे कि इस प्रकार का विकास अनैतिक है, और ऐसी आर्थिक नीतियों की निन्दा करेंगे जो अधिराज लोगों की कीमत पर केवल थोड़ा ही लोगों को लाभ पहुँचाती हैं, भले ही उनसे उत्पादन में चाहे जितनी वृद्धि हो जाए। वैसे यह बात हमारे विचारधारा के काल्पनिक उदाहरण में बिलकुल भिन्न है, क्योंकि उसमें हम यह मानकर चले हैं कि विकास के परिणामस्वरूप लोगों के भौतिक और मातृत्विक दोनों ही स्तरों में भारी वृद्धि होगी, और समय पाकर ये लोग जीवन के पुराने दग की अपेक्षा नये दग को स्वयं पसन्द करने लगेंगे। इस उदाहरण के बारे में तोहरी प्रतिक्रिया अलग-अलग होती है। कुछ लोग बल-प्रयोग का विरोध करने के उपाय कहते हैं कि अन्ततः परिणाम चाहे जितने अच्छे हों, अन्ततः अमीरों को अपनी या अपनी मन्तान की भलाई के लिए बहुत धामान किया जाना चाहिए। कुछ लोग मुझ की बात हमारे अन्दर इन मामलों में जीवन के नये दग को पसन्द करने के बावजूद कि नैतिक महत्त्वों को बर्बाद करने के अन्ततः ही उह कष्ट

इसमें कोई उल्लेखनीय लाभ नहीं हुआ—यह तर्क सदिग्ध है क्योंकि, उँना हन पहले वह चुके हैं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मूत्र परिवर्तन को चित्त बनीटी है। कुछ दूसरे लोगों की प्रतिक्रिया और भी भिन्न है, वे इस बात प्रयोग का समर्थन करते हैं जिसमें उन लोगों को भारी लाभ होने की आशा हो तब पर दान-प्रयोग किया जाता है। जैसे, अमरीका के लोगों उन दान-प्रयोग की निन्दा करते हैं जिनमें उन्हें अमरीका में ला पटका, लेकिन उनमें से अनेक इस बात में दुर्गम नहीं हैं कि उनके पूर्वज पश्चिम अमरीका के जंगली गाँवों में ही नहीं रहने दिये गए। इसी प्रकार ऐसे राजनीतिज्ञ और राजसमर्थक भी मदा मिल जाएँगे जो अन्तः अपनी जनता की भलाई के लिए उन पर दान-प्रयोग करने में नहीं हिचकेंगे।

दान-प्रयोग की अनुमत सीमाओं का प्रश्न अब बड़ा उग्र हो गया है क्योंकि हम ने यह दिखा दिया है कि यदि कोई निर्दयी सरकार अपनी आसोजनाओं का विरोध करने वाले लोगों के विनाश मन्वी कर सके तो साम्यवादी उत्साह में बड़ी तेजी से वृद्धि की जा सकती है। साम्यवादी या दूसरे प्रचारकों के लिए सभी कम विकसित देशों को बनाया जा रहा है कि वे कुछ आर्थिक विकास करना चाहें तो अपनी आजादी छोड़ दें। यह कुछ-कुछ भ्रमपूर्ण है। इन देशों को बनाया जाता है कि उन्हें केवल अस्थायी रूप से ही अपनी आजादी छोड़नी होगी, कि 'सर्वहारा की तानाशाही'—या कोहिलो, या नेनाप्पल, या किनी अन्य की तानाशाही—केवल सशक्तताहीन स्थिति होती है जो बाद में सरकार के जीर्ण होने के साथ समाप्त हो जाती है; लेकिन हमें मन्देह है कि एक बार छोड़ देने पर आजादी इतनी सरलतापूर्वक फिर से प्राप्त की जा सकती है। और फिर इस बात की गारण्टी भी तो नहीं है कि इसमें लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो जाएगा; सम्भव है उत्पादन में तेजी से वृद्धि हो, लेकिन तानाशाह उसे आप लोगों के रहन-सहन को ऊँचा करने की अपेक्षा किन्हीं और कामों में लगाने का प्रयत्न करे। जो भी हो, यह साफ जाहिर है कि आर्थिक विकास के लिए तानाशाही की व्यवस्था दरजे कर्त नहीं है। बर्मा, गोंडकोस्ट आदि कम विकसित देशों की सोच-करें, और आज़कारों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उनमें आर्थिक विकास के लिए तम मजदूरी पर भी उठाने का मकस्य और साहस है, और जनता का ध्यान यह भी सम्भव है कि यथापि नेता लोकतन्त्रात्मक आधार पर इस मस्य को लाएँ तो उससे प्राप्त धन से, लोकतन्त्रात्मक देश भी इनका अनुकरण करके नवृत्ति के स्तर बहुत अधिक ऊँच

कि यदि मुझ में उन्हें उत्तरदायी काम परम्बन्धों में करना होता है। उन्हें की और नये काम में इनकी रक्ति हो जाएगी, : अपेक्षा मजिदा की मान्यता, सामाजिक



स्थिरता से उदग्र सामाजिक गतिशीलता में परिवर्तन आदि सभी परिवर्तन धर्म, धर्म, राजनीतिक आजाकारिता, या पारिवारिक बन्धनों के वर्तमान सम्बन्धों को छिन भिन्न कर देने है। यदि सश्रमण जोरदार श्रान्ति के जरिए हो तब तो ऐसा होना स्पष्ट ही है, लेकिन इसके बिना भी सश्रमण कष्टकर होता है, क्योंकि इसमें हर क्षेत्र में वर्तमान आगाओ और अधिकारों का टैम पहुँचती है। अनेक लोग इसी कारण आर्थिक विकास का विरोध करते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि पुराने सम्बन्ध उतने ही अच्छे हैं जितने कि नये हैं या उनसे भी बेहतर हैं—ये पारिवारिक सम्बन्धों की नयी स्वाधीनता, 'अग्म आदमी के तथा कथित 'अधिकार', और पुराने सामाजिक नामजस्य के नाश को पसन्द नहीं करते। दूसरे लोग जिनका विश्वास है कि पुराने सम्बन्ध कोई विनाश साम-जस्यपूर्ण नहीं थे, और जो नये सम्बन्धों को पसन्द करते हैं, इस बात पर शक करते हैं कि परिवर्तन का कोई वास्तविक लाभ होगा अथवा नहीं। स्पष्टतया इसका निर्णय इस बात पर निर्भर है कि हम आर्थिक ज्ञान, अवसर व सामान्य, बेहतर स्वास्थ्य, दीर्घतर जीवन और आर्थिक विकास के अन्य लाभ को कितना महत्व देते हैं।

इसके अतिरिक्त नैतिक मूल्यों में भी सश्रमण होना है। पुराने व्यवहार बच्चे व्यवहार, वर्तमान और निष्ठा की एक विशिष्ट संहिता माना जा सकता जाते हैं। नये समाज की आचार-संहिता इससे भिन्न होनी चाहिए। पुराने लोग और एक समाज में अच्छा माना जाता है वह दूसरे में बुरा प्रतीत हो जाती है—क्यों है। परिवर्तन के फलस्वरूप हमारे वर्तमान और मूल्यों के स्थान पर मानिक सम्बन्धों के स्थान पर नये लोग और सस्थाओं के स्थान पर मानिक वृद्ध लोगों के स्थान पर मजदूर सप के स्थान पर आदमियों के प्रति। और और नये के प्रति, या परिवार के स्थान पर और वह विछोटी संहिता की प्रति हो आचार-संहिता की जड़ें जम जाती हैं। लेकिन पुरानी नैतिकता व निम्न निम्न गुणरूप से काम करने लगने के बीच का दोर समुदाय के लिए कठि-होन और नयी नैतिकता के भूतकाल में इस तरह व सश्रमण विनाश रूप में कष्ट-नाई वाला हा सकता है। हमारे अन्दर घटनाओं का गमनन की सामर्थ्य नहीं कर रहे हैं, क्योंकि समाज की नैतिकता और नये समाज की नैतिकता के धार थी। यदि पुराने जारी हो और यदि समाज के नैतिक मूल्यों व निर्धारक या में अच्छी जगह (विनाशकर पुरोहिता घटनाएँ और विनाश) परिवर्तन के मरणावस्था में ही नयी नैतिकता का प्रचार करा सके तो सश्रमण बहुत सामान्य प्रतीत जाता है। लेकिन पहली बात ता यह है कि हमारे अन्दर इन सामान्य की गमननवागी सभी हात ही मरना हुई है कि नैतिक संहिताएँ बिना

सीमा तक बिन्ही विशेष सामाजिक और आर्थिक रूपों के साथ सम्बद्ध है, या उनके अनुकूल है। दूसरे जो लागू समुदाय के नैतिक स्तर के सम्बद्ध हैं वे प्रायः पुरानी सभ्यता की रक्षा करना ही अपना मुख्य कर्तव्य समझते हैं, वे परिवर्तन के विरोधी होते हैं और नयी सभ्यता को अनैतिक मानते हैं और तीसरे यदि वे नयी सभ्यता में प्रभावित भी शान्त हैं तो सत्रमण के दौरान उनकी अधिवास नती सम्मान हा गति शान्ति है क्योंकि नए पर लोगों का विश्वास बढ़ गया होता है और जिन सम्मानों और गतिशा क य लागू नए नए सम्बद्ध गते हैं उनमें उनका का विश्वास सम्मान हा गया होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नयी सभ्यता अधिपुर्वक या नती के ऊपर पर लागू नहीं की जाती। यह धीरे-धीरे और थोड़ी धाड़ी करके अपनायी जाती है। पलत सम्मान-काल में नये विश्वासों और पुराने विश्वासों की दोनों निश्चयी बन जाती है, और लोगों को उस समय बड़ी निराशा और परेशानी होती है जब अपने जाने योग्य सम्मान जाने वाला कार्य करने पर उन्हें उनके लिए, हाँट-छपट या मुझा दी जाती है, या उनकी जिन्ती उलट जाती है।

जब समान जीवन का एक टुकड़ा छोड़कर दूसरा उग अपनाता है तो कष्ट-जि परिष्करण के दौर में गुजरना ही पड़ता है, इसमें बचने का एक ही उपाय है बात नहीं है, न कि या ही न जाए। लेकिन परिवर्तन गीन्ना किसी के दस की मनुष्य स्वभाव में परिवर्तनशीलता मनुष्य की महत्-प्रवृत्ति है। बात यह है कि रहता है, जो उसमें जिज्ञासु है, और इर्मालिग वह सदा ज्ञान का संचय करता भी उसकी प्रवृत्ति में है, देने के तरीके में परिवर्तन का कारण बनता है। अनुसंधान करता है, या इधर-उधर ताक, उनके पास जितना है सदा उसमें अधिष्ठ की अभिवादा सम्पत्ति को देखकर स्पृहा करता है, या अपने पदोनी की स्थिति का जिनके बात पर वह तरह-उरह के काम है। उनमें साहस की भावना भी होती है भी होता है जिसके फलस्वरूप वह सोपा, जिस सम्बन्धों को निरन्तर सुनीयी देता रहता है। अतः सामाजिक परिवर्तन को रोकने की बात सोचना मनुष्य की बरबादी है, और पहले में स्थापित नयी सम्पत्ति, उरह हो जाने पर दुःख प्रकट करना भी व्यर्थ है। बात यह है कि दोष जीवना, जिसे मनुष्य की प्रवृत्ति में जो विशेषता है वही सामाजिक परिवर्तन को जन्म देती है।

फिर भी, यद्यपि हम परिवर्तन को रोक नहीं सकते, पर नती के प्रति का तीव्र या मन्द कर सकते हैं। हम इस बात पर पहले ही और दे सकते हैं कि परिवर्तन की गति बहुत तेज भी हो सकती है और बहुत धीमी भी हो सकती है। इस प्रसंग में हमें उपादान-वृद्धि की उचित दर पर विश्वास नहीं करना है बल्कि सामाजिक प्रवृत्तियों और सम्मानों की पूरा रचना में दूसरी रचना के

सक्रमण की उचित अवधि पर अपने विचार प्रकट करने हैं। इस मामले में सरलता से सामान्य मिथ्यात निर्धारित नहीं किये जा सकते। सक्रमण के तजी से होने या धीरे धीरे होने के अपने अपने लाभ हैं।

पवहार में हमें मदन का पक्ष लेने की कोर्त गजाडग नहीं है। आर्थिक परिवर्तन के प्रभाव पहले ही हर समाज में—यहां तक कि निवत में भी—दिदे रहे हैं। इसका श्रम पोती साम्राज्यवात् वायुयानो वताग के तार फ चलचित्र जगत् और साहित्य को है जिहाने पिछने ८० वर्षों में समुई हैं भाग को दूसरे भाग से जाट दिया है। विनेय रूप से दो ऐमा वत्त अति जिनके कारण विकास की गति को मद करन की अपेक्षा तीव्र र त अधिक वाय हो गया है। एक तो यह है कि आकाशाग्रा में उत्पादनयु दर अधिक तजी से वृद्धि हुई है और दूसरी यह है कि जम ग्गे की श तेजी से गिर रही हैं।

इतन को देखने हुए

मभी कम विकसित देगा में वतमान आका ताप्रा रही है। अधिकाधिक बहुत अधिक हैं और उनके बीच की गार्ई चौडी, निधन बन रहना प्रति लोगा को यह विश्वास हाता जा रहा है कि हम दूर किया जा सकता है। वाय नहीं है और निष्ठाग्रा में परिवर्तन करन अपने प्रयत्ना से हा किया कुछ लोग यह भी सोचते हैं कि अपेक्षित परिवृ है जिनका विश्वास है कि जा सकता है लेकिन ऐसे लोगा की मुख्य राजनीतिक गामका की मत्ता जर्मीदारो मानिका पुरोहेहिता य्भव नहीं है। कुछ राजनीतिज्ञा को भी समाप्त किये बिना परिवर्तन ता उद्द्य अपने दगावामिया व भौतिक और बडी आकाशाए हैं चाहे एन या अंतर्राष्ट्रीय मामला में अपने देग की मासृतिव स्तरा को उठान हाशाग्रा और उत्पादन के बीच गार्ई का अधिन स्थिति ऊंचो करना हो। हो सकता है क्याकि हम ऐसी निरागत जम चौडा होना बहुत यत्न हो सकता है। अतः लोगा का नय है कि लेती हैं जिनके परि न कुछ भी हा मतन हैं। अतः लोगा का नय है कि हमका परिणाम स्ववाद होगा (इस गद्ग का प्रय कार् निश्चित प्रय नगा रग गया है) कुछ लोगा का धानका है कि इनग पामिस्ववा व दगी रग गामन प्रा ते है (हमम म न पूर्ती देगा का परग रगन यद् गामनशा और लफि अमरीका का वाहिता भी गामिन मानना चाहिए)। कुछ लोग तेमे ३ हैं जि ह धामिन कट्टरपयिया (मत्ताग्रा महागभग्या रविपो धामि) की मत्ता स्थापित हा जान की नारी सम्भावना गितार्ई दती है। इगतिव यह धान्य का विषय नहा है कि अनेक कम विभिन्न देगा क नेता गताग म तजी से वृद्धि करन क उत्साहा का नयम अधिन अयना रग है। यत्नना न्प्रति है कि व शानतिव गथा उत्साहा करन ता गामम पर नहा का लने

नहीं और उच्च दम न अन्दर या बाहर से आसन्नक समर्पण विवेका या नहीं। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आकाशाएँ उत्पादन के स्तर का पीछे छोड़कर आगे नहीं बढ़ जायँगी। लेकिन जो लोग यह समझते हैं कि सामाजिक सम्बन्धों या नैतिक आचरण-सहिताओं पर पडन वाले प्रभावों को दबाने हुए उत्पादन में वृद्धि करना ठीक नहीं है, व प्रायः यह भूल जाते हैं कि सामाजिक सम्बन्ध और नैतिक आचरण-सहिताएँ पहले ही बढ़ी नैती से बढ़न रही हैं और यह कि आकाशाएँ पूरी न होने के परिणाम उत्पादन-वृद्धि के परिणामों में भी अधिक भयकर हो सकते हैं।

जनसंख्या की दुविधा में बचना और भी मुश्किल है। बाहरी प्रभावों से अटने कम विकसित देशों की जनसंख्याएँ प्रायः स्थिर होती हैं, और वर्तमान मानकों को देखते हुए उनकी जन्म और मृत्यु-दरें दोनों ही बड़ी जँबी होती हैं। यदि एक बार ये देश आधुनिक समाज के सम्पर्क में आ जाते हैं तो स्थानीय दुर्मिथ सम्पन्न हो जाने, और मार्बजनिष्ठ स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-सुविधाएँ मिल जाने से उनकी मृत्यु-दर तेजी से गिरने लगती है, और दो पीढ़ियों में कम से ही चाणोम प्रति-हजार से घटकर दस प्रति-हजार तक हो सकती है। ऐसी स्थिति में दुर्लभ हट जनसंख्या की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ उच्च युग्म एक, दो या तीन प्रतिशत प्रतिदर की बढ़ावगी बनते रहना आवश्यक है। साथ ही, यदि काफ़ी भूमि उपलब्ध न हो तो मृत्यु-दर गिरने के साथ-साथ जन्म-दर में भी उतनी ही कमी लाने के उपाय करना आवश्यक होता है। वैसे, यह लगभग निश्चित है कि जनसंख्या के मुकाबले उत्पादन अधिक तेजी से बढ़ना चाहिए, क्योंकि अधिकतर लोग परिवार-संभाल अपने रहन-सहन का स्तर ऊँचा करने के उद्देश्य से ही अपनाते हैं। ऐसी स्थिति में वस्तुतः उत्पादन-वृद्धि पर रोक लगाने का पत्र नहीं ले सकते, इसके विपरीत, लगभग हर कम विकसित देश में हाथ यह है कि उत्पादन में उचित वृद्धि न हो पान के कारण ही जनसंख्या की समस्या को ठीक से सुलभना मुश्किल हो रहा है। एक बार फिर से यह कहें कि जो लोग विकास की गति मन्द रखना चाहते हैं वे अक्सर बटती-पड़ती जनसंख्या की समस्या को भुला देते हैं, और यह भी भूल जाते हैं कि वर्तमान सामाजिक रचनाओं और नैतिक आचरण-सहिताओं पर उत्पादन-वृद्धि के परिणाम उतने पर्यंत कम हानिकारक होते हैं जितने आवाशों के आवश्यकता से अधिक दड जाने पर हो सकते हैं।

## पारिभाषिक शब्दावली

(प्रस्तुत अनुवाद म अधिकांशतः भारत सरकार द्वारा अनुमोदित पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया गया है।)

### हिन्दी-अंग्रेजी

अक्षय मूल्य	Face value	अधिशेष	Surplus
अन्तर्व्युद्ध अवधि	Inter-war period	अन्य लाइसेन्स	Exclusive license
अन्तर्राष्ट्रीयवादी	Internationalist	अन्य सौदा	Exclusive dealing
अन्तर्राष्ट्रीय निवेश	International investment	अनुज्ञा	Permit
अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक	International Bank for Re-construction and Development	अनुसर	Conservative
अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह	International flow	अनुप्रेषण	Maintenance
अन्तरिम अवधि	Interim period	अनुप्रेषण व्यय	Maintenance expenditure
अन्तर्गमन	Leaching	अन्योन्य संदर्भ	Gross reference
अन्तर्गोष्ठीय अन्तरण	Inter-governmental transfer	अपवर्धित	Obsolete
अर्धकालिक धंधा	Part-time occupation	अप्रत्यक्ष करान	Indirect taxation
अनुगत	Inefficient	अप्रत्यक्ष शासन	Indirect rule
अनुगत मजदूर	Unskilled worker	अप्रत्याशित लाभ	Unexpected profit
अनुष्ठा, अग्रगामा	Pioneer	अभिसमम	Convention
अग्रता	Priority	अर्जनशील	Acquisitive
अचल पूंजी	Fixed capital	अधर धंधा	Gainful occupation
अतिरिक्त आनन्दता	Perquisites	अधुशाल	Semi-skilled
अतिगमन	Hyper-inflation	अल्पकाल	Short run
अध-कटाई	Share-cropping or me-tayer basis	अल्पज्ञान	Dilution of skills
अधिक	Surtax	अल्पज्ञान	Deflation
अधिग्रहण	Requisition	अवितरित लाभ	Undistributed profit
अभिसमम	Preference	अव्यक्ति	Impersonal
		असंतुलन	Disequilibrium
		असंमित देयता	Unlimited liability
		अस्थिर	Instability
		अस्थायी श्रमिक	Casual labour
		आन्तरिक विनियमन	Internal economy

आकास्मिक त्वरण	Sudden acceleration	उद्योगीकरण	Industrialisation
आगमन रीति	Inductive method	उत्पादकता	Creditworthiness
आत्मनिर्भरता	Self sufficiency	उधार प्रणालि	'Credit Mobiliser'
आदर्शवादी	Idealistic	उपजाउपन	Fertility
आनुवंशिक विभागा	Proportional rent	उपदान	Subsidy
आनुवंशिक गुण	Genetic composition	उपनगरीय देश	Metropolitan country
आप्रवासन	Immigration	औद्योगिक विकास निगम	Colonial Development Corporation
आप्रवासिता	Immigrant	उपभोग्य वस्तु	Consumer goods
आय मापदण्ड	Income elasticity	उप-व्यवस्था	Sub-division
आयात नियम सिद्धि	Terms of trade	उप-मंडल	Corollary
आयु आशा	Expectation of life	उपकरण	Equipment
आयु-रचना	Age structure	उद्योग शिल्पी	Master craftsman
आयोजन	Planning	उर्जा	Energy
आयोजित अर्थ व्यवस्था	Planned economy	उच्च गतिशीलता	Upward mobility
आराही कर-भार	Progressive taxation	उत्प-परिहासन	Amortization
आर्थिक कुशलता	Economic efficiency	एकाधिकार	Monopoly
आर्थिक क्रिया	Economic activity	एकाधिकार-रक्षण प्रवृत्ति	Monopolistic tendency
आर्थिक विकास	Economic growth	एकेश्वरवाद	Monotheism
आवर्त	Turnover	औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था	Industrial economy
आवास व्यवस्था	Housing	औद्योगिक क्रांति	Industrial Revolution
आशावादी	Optimist	औद्योगिक क्षेत्र	Industrial sector
आग्नि	Estate	औद्योगिक बस्ती	Industrial estate
आभूत उद्योग	Building industry	औद्योगिक वित्त निगम	Industrial Finance Corporation
आवर्तन	Zoning	औद्योगिक सलाहकार	Industrial consultant
उद्यम	Radical	कच्चा माल, कच्चा सामान	Raw material
उत्पन्न	Piece-rate	कम विकसित	Under developed
उत्पन्न सुरक्षा	Gilt edged security	कर-भार	Tax burden
उत्पादकता	Productivity	कराधान	Taxation
उत्पादन कर	Excise tax	कराधान की मान्य दर	Marginal rate of taxation
उत्प्रवास	Emigration	कराध-वर्धन	Tax evasion
उत्पन्न गतिशीलता	Vertical mobility		
उदारतावादी	Liberalism		
उद्यमकता	Entrepreneur		
उद्यम-कौशल	Entrepreneurial skill		
उद्योग मनोविज्ञान	Industrial psychologist		

करार	Agreement	गुप्तारे लावक मजदूरी	
करारबद्ध	Indentured	Bare subsistence wage	
कारक	I actor	गुणक प्रक्रिया	Multiplier process
कार्ये एकक	Working unit	गुणांक	Coefficient
कार्यकर पूजा	Working capital	गोदी	Dock
अिकायनशारी	Thrift	एक	Factor
किराया नियंत्रण	Rent control	एक प्रक्रिया	Component process
किरायेदारी	Tenancy	घट वृद्धि	Fluctuation
कीमती मूल्यवस्था	Price economy	<del>'घट उत्पादन' पद्धति</del>	"Putting out" system
कीमतीयंत्र	Price mechanism	घरेलू दास्य प्रथा	Domestic slavery
कीमती भेद	Price discrimination	चक्रवर्ती	Consolidation of holdings
कीमतीयुद्ध	Price war	चक्रवर्ती आधार	Revolving basis
कुटीर उद्योग	Cottage industry	चक्राथ घट वृद्धि	Cyclical variation
कुल नियंत्रण निवेश	Gross fixed investment	चर	Variable
कुशासन	Autocracy	चातुर्य	Manoeuvre
कुशल	Skilled	छोटी बचत	Small saving
कृषि अधिकारी	Agricultural officer	जननान्तर	Fertility
कृषि उधार	Agricultural credit	जनाधिक्य	Over population
कृषि काम	Husbandry	जनान्कता	Under-population
कृषि दाय	Serfdom	जन्म दर	Birth rate
कृषि बैंक	Agricultural bank	जमानने	Security
कृषि विस्तार-सेवा	Agricultural extension service	जल निकास	Drainage
केन्द्रीय आयोजन	Central planning	जल संरक्षण	Water conservation
केन्द्रीय बैंक	Central bank	जीवात्मक आनुवंशिकता	Biological inheritance
कौशल	Skill	बावात्मक क्रमिक विकास	Biological evolution
क्रमिक विकास	Evolution	कुड़ाई	Assembling
खान	Mining	जोत	Holding
खरीद कर	Purchase tax	ज्येष्ठाधिकार	Primogeniture
गतिहीन	Stagnation	ठिकाऊ	Durable
गतिशीलता	Mobility	डाकघर बचत बैंक	Post office savings bank
गर्भारण	Child bearing	तरवार	Preference
गहन	Lien	तरवारी प्रतिबन्ध	Preferential restriction
गहन कृषि	Intensive cultivation	नक्शा	Topography
गिराई दलाल	Pawnbroker	दुर्ग	Prompt
गिराई	Decline, slump		
गुप्तार	Subsistence		
गुप्तारे का अर्थ व्यवस्था	Subsistence economy		

दुर्लभता का लागू	Comparative cost	निर्दिष्ट-व्यय	Export subsidy
त्वरण	Acceleration	निर्दिष्ट व्यय-व्यय	
बंदी विवरण			Closed economy
	Wholesale distribution	निर्दिष्ट	Net
दस्तावेज	Grading	निर्दिष्ट	Investment
दस्तावेज	Slavery	निर्दिष्ट व्यय	Investment goods
दस्तावेज	Manumission	निर्दिष्ट	Taboo
दस्तावेज	Long run	निर्दिष्ट व्यय	Idle resources
दस्तावेज का दस्तावेज		निर्दिष्ट व्यय	Performance
	Secular swings	निर्दिष्ट व्यय	Hoarding
दस्तावेज का निर्दिष्ट		निर्दिष्ट व्यय का दस्तावेज	Ethical code
	Secular stagnation	निर्दिष्ट व्यय	Bureaucrat
दस्तावेज का दस्तावेज		निर्दिष्ट व्यय	Bureaucracy
	Long term investment	निर्दिष्ट व्यय	Tribunal
दस्तावेज का दस्तावेज	Secular growth	निर्दिष्ट व्यय	Trust
दस्तावेज का दस्तावेज	Scarcity earning	निर्दिष्ट व्यय	Commodity
दस्तावेज का दस्तावेज	Scarcity profit	निर्दिष्ट व्यय का दस्तावेज	Marketable security
दस्तावेज का दस्तावेज		निर्दिष्ट व्यय	Marketability
	Absentee ownership	निर्दिष्ट व्यय का दस्तावेज	Turnover tax
दस्तावेज का दस्तावेज	Visible import	निर्दिष्ट व्यय	Hierarchy
दस्तावेज का दस्तावेज	Visible export	निर्दिष्ट व्यय	Methodism
दस्तावेज	Liability	निर्दिष्ट व्यय	Fallow
दस्तावेज	Pecuniary	निर्दिष्ट व्यय	Mature
दस्तावेज	Ore	निर्दिष्ट व्यय का दस्तावेज	Mature saving
दस्तावेज का दस्तावेज	Carrying capacity	निर्दिष्ट व्यय का दस्तावेज	Family limitation
दस्तावेज का दस्तावेज	Tenure	निर्दिष्ट व्यय	Outlay
दस्तावेज का दस्तावेज	Runaway inflation	निर्दिष्ट व्यय	Asset
दस्तावेज	Tribute	निर्दिष्ट व्यय	Supervisor
दस्तावेज	Flexible	निर्दिष्ट व्यय	Supervision
दस्तावेज का दस्तावेज	Innovation	निर्दिष्ट व्यय	Environment
निर्दिष्ट व्यय का दस्तावेज	Deductive method	निर्दिष्ट व्यय	Livestock
निर्दिष्ट व्यय	Private	निर्दिष्ट व्यय	Initiative
निर्दिष्ट व्यय	Private sector	निर्दिष्ट व्यय	Soft
निर्दिष्ट व्यय का दस्तावेज	Private backers	निर्दिष्ट व्यय	Ancestor worship
निर्दिष्ट व्यय	Director	निर्दिष्ट व्यय	Patriarchal
निर्दिष्ट व्यय का दस्तावेज	Holding company	निर्दिष्ट व्यय का दस्तावेज	Revivalist
निर्दिष्ट व्यय	Regulator	निर्दिष्ट व्यय का दस्तावेज	Reproduction
निर्दिष्ट व्यय का दस्तावेज	Methodology	निर्दिष्ट व्यय का दस्तावेज	Reproducible capital
निर्दिष्ट व्यय	Determinant	निर्दिष्ट व्यय का दस्तावेज	Reconstruction
निर्दिष्ट व्यय का दस्तावेज	Laissez-faire policy	निर्दिष्ट व्यय का दस्तावेज	



पुनर्निवेश	Reinvestment	प्रतिष्ठा	Prestige
पुनरस्त्राकरण	Rearmament	प्रतिष्ठा	Establishment
पुनर्स्थापना	Restoration	प्रतिष्ठागतवादाः	Anti-imperialist
पुनः प्राप्त अनुपात	Capital income ratio	प्रति-सुधार	Counter-reformation
		प्रत्यक्ष कराधान	Direct taxation
पुनः-संचय क्षेत्र	Capitalized sector	प्रत्यय	Concept
पुनः-संचय सामान	Capital goods	प्रत्यय उपभोग	Conspicuous consumption
पुनः-संचय गठन	Capital formation	प्रदर्शन फार्म	Demonstration farm
पुनः-संचय निवेश	Investment	प्रभावी मांग	Ineffective demand
पुनः-संचय उद्योग	Capital sparse industry	प्रयोज्य आय	Disposable income
		प्रयोज्य बचत	Disposable saving
पुनः-संचय उद्योग	Capital intensive industry	प्रवासन	Migration
पुनः-संचय बाजार	Capital market	प्रवासी श्रमिक	Migrant labour
पुनः-संचय उद्योग	Capitalist enterprise	प्रशिक्षण	Training
		प्राकृतिक एकाधिकार	Natural monopoly
पुनः-संचय मालिक	Capitalist employer	प्राकृतिक बाध	Habitat
पुनः-संचय समाज	Capitalist society	मानक	Estimate
पुनः-संचय संचय	Capital accumulation	प्राथमिक शिक्षा	Primary education
पूर्ण रोजगार	Full employment	प्राधिकार, प्राधिकारी	Authority
पूर्वधारणा	Assumption	परियोजना	Project
पूर्व-पुनः-संचय समाज	Pre capitalist society	पक्षक	Observer
		प्रेरणा	Incentive
पूर्वाग्रह	Prejudice	प्रेरणादायक मरुद्वी प्रणाली	Wage incentive system
स्टर्लिंग बलाने	Sterling balances	प्रौद्योगिकी	Technology
प्रकाश-संश्लेषण	Photosynthesis	फसलों का घेरो-घेरो	Rotation of crops
प्रक्रियाकरण	Processing	स्थिर किराया	Fixed rent
प्रगतिवादी	Progressives	बचत	Saving
प्रगति विरोधी	Non progressives	बचत-वृत्ति	Propensity to save
प्रच्छन्न बेरोजगारी	Disguised unemployment	बचत-संस्था	Saving institution
		बचत स्तर	Level of saving
प्रजनन	Breeding	बदलाव	Replacement
प्रबंधक-वर्ग	Managerial class	बचाव बचत	Forced saving
प्रति-क्रान्ति	Counter revolution	बहु-उद्देश्य नदी घाटी परियोजना	Multi-purpose river valley project
प्रतिक्रियावादी	Reactionary	बहु-वर्षीय योजना	Multi-year planning
प्रतिनिधित्व	Delegations		
प्रतिस्पर्धा	Competition		
प्रतिरोध	Resistance		
प्रति-कर	Capitation tax		

बागान	Plantation	मांग के आय मापदण्ड	
बाजारों सम्बन्ध		Income elasticity of demand	
	Market relationship	मातृवर्ग	Matrilineal
बाल मृत्यु-सुदृश	Child mortality	मापदण्डक सम्बन्ध	
बाल श्रमिक	Child labour	Quantitative relationship	
बाह्य स्टेरिंग क्षेत्र		मात्र परक सिद्धांत	
	Outer sterling areas	Quantity discount	
बिक्रीकार	Salesman	मानक वस्त्र	Standardization
बिना लबा	Intermediary	मानकतावादी	Humanitarian
बुद्धि परीक्षण	Intelligence test	मानव विज्ञान	Anthropology
बर्बादी बाना		मानव विज्ञानवादी	Anthropologist
	Unemployment insurance	माता पण	Freehold tenure
बेकारों पत्तन	Unemployment pay	मार्शल सहायता	Marshal Aid
बेशी	Surplus	मालगुजारी सर्वेक्षण	Cadastral survey
बेशी श्रमिक	Surplus labour	मालिक	Employer
बैंक ऋण	Bank Credit	मिथव्यदिता	Thrift
भण्डार	Stock	मिथव्यता	Economy
भाएवाग	Kinship	मिश्र कृषि	Mixed farming
भारा उद्योग	Heavy industry	मुआवजा	Compensation
सुतने गण	Balance of payment	मुक्त अर्थ-व्यवस्था	Free economy
भूमि कर	Land tax	मुक्त लोग	Free men
भूमि का क्षय	Soil-erosion	मुक्त व्यापार	Free trade
भूमिशास्त्र	Tenancy	मुद्रा-अभिव्यक्त	Devaluation
भूमिधारण का अवधि	Tenure	मुद्रा प्राधिकारता	
भूमि रजिस्टर	Lard register	Monetary authorities	
भूमिहीन वर्ग	Landless class	मुद्रारूपी आय	Money income
भूस्वामि अथवा भूवर्ग	Landed aristocracy	मुद्रारूपी लागत	Money cost
भेदभाव करान		मुद्रा स्फूर्ति	Inflation
	Discriminatory taxation	मूल उद्योग	Key industry
भौतिकवादी	Materialistic	मूलतः आवश्यक वस्तुएँ	
मांदन	Deceleration	Primary products	
मजदूर संघ	Trade Union	मूल शिक्षा	
मजदूरों-सम्बन्ध	Wage relationship	Fundamental education	
मताग्रह	Lobbying	मूल्य	Value
मध्यम	Middleman	मूल्य निरपेक्ष मांग	Inelastic demand
माध्यमिक		मूल्य-आपेक्ष मांग	Elastic demand
माध्यमिकी का शर	Intermediate buyer	मूल्य हानि	Depreciation
मनुष्य-वर्ष	Man year	मूल्य-हानि का दर	Depreciation rate
मांग	Demand	मृत्यु-कर	Death duty
		मृत्यु-दर	Death rate

महान बचने की पद्धति	Labour saving method	बचत	Increasing
घोषिक विद्वेषण परिवार	Elementary patrilineal family	बचत प्रणालि	Increasing returns
सैमसी वृत्त-वर्ष	Seasonal variation	बहु विनिमय	Barter
व्रतित्व	Asceticism	बाण्डा	Longing
व्यथापूर्व स्थिति	Statu quo	बाणिज्य श्रम प्रण	Commercial slavery
यांत्रिक इंजिनियरी	Mechanical engineering	बाणिज्यिक वृत्त-वर्ष	Commercial crop
रक्षित निधि	Reserve fund	बाणिज्यिक बैंक	Commercial bank
रहता मजदूरी का स्तर	Standard of living	बाणिज्यिक बैंक	Commercial bank
राजकोषीय प्रणाली	Fiscal system	वार्षिक निवेश निधि	Annual net investment
राजतंत्र	Monarchy	वास्तविक आय	Real income
राजनीतिक सुरक्षा	Political security	वास्तविक परिश्रम-व्यय	Real asset
राजसमझौता	Statesmanship	वास्तविक मजदूरी	Real wage
राजस्व	Revenue	व्यक्तिक मूल्य	Intrinsic value
राष्ट्रीय आकांक्षा	National aspiration	वास्तविक लागत	Real cost
राष्ट्रीय आय	National income	वास्तविक वृद्धि	Real increase
राष्ट्रीय उत्पादन	National output	व्यक्तिक सामाजिक लागत	Real social cost
राष्ट्रीयकरण	Nationalisation	विकास बैंक	Development bank
रोजगार	Employment	विघटन	Fragmentation
राज्य पूंजीपति	State capitalist	वितरण	Distribution
राज्य पूंजीवाद	State capitalism	वित्त प्रणाली	Finance house
लाभप्रदता	Profitability	वित्त संस्थान	Financial Institution
लाभ-सहभागिता	Profit sharing	वित्तिक कागज	Financial 'Paper'
लाभ-धन	Dividend	विस्तृत अर्थ-व्यवस्था	Open economy
लोक-निगम	Public corporation	विदेशी उधारकर्ता	Foreign borrower
लोक-कार्य	Public works	विदेशी निवेश	Foreign investment
लोक-प्रशासन	Public administration	विदेशी मुद्रा	Foreign exchange
लोक-सेवा	Public service	विनिमय	Exchange
लोक-स्वामित्व	Public ownership	विनियम	Regulation
लोक-उपयोगी वस्तुएं	Public utilities	वित्तीय	Manufacture
व्यवसायिक	Mercantilist	वित्तीय	Layout
वा-नरोपण	Afforestation	वित्तीय	Marketing
बचक शिक्षा	Adult education	विकृत	Distortion
वर्ग-युद्ध	Class struggle	विशेषज्ञता	Specialization
		विस्तार अधिकारी	Extension officer
		विस्तारक-वर्क	Extension worker
		वर्ग-युद्ध	Salary-earning middle class

वैयक्तिक काम	Paid job	सम्भवेना	Potentialities
न विवेक निदान	Discretionary control	समाप्य उपरक्षण	Potential productivity
व्यक्ति-कर	Poll tax	परह्य	Conservation Protection
व्यवहार	Individualism	सुवर्ण	Contract
व्यापक परिवार प्रथा	Extended family system	संविदात्मक संबंध	Contractual relationship
व्यापार-चक्र	Trade cycle	संज्ञ	Statute
व्यापार-संबुद्ध	Commercial service	समाज	Cohesion
व्यापार शर्तें	Terms of trade	संस्थान	Institution
व्यवसायिक गतिशीलता	Occupational mobility	समाप्य कृतज्ञता	Classical economists
शहरीकरण	Urbanisation	समाप्य समापन	Active circulation
राजसक व अतिराजसक	Political aristocracy	संविदात्मक कंपनी	Secretarial company
शिक्षण	Apprenticeship	समा	Speculation
शिशु अर्थ व्यवस्था	Infant economy	समाप्य	Authoritarian
शिशु उद्योग	Infant industry	समाप्य	Bonafides
शिशु-मृत्युसंख्या	Infantile mortality	समाप्य मूल	Sliding scale
शिशु-हत्या	Infanticide	संन्वय	Coordination
शुद्ध किराया	Pure rent	संन्वय समुदाय	Homogeneous community
शृंगार मण्डल	Chain store	समान्तर श्रेणी	Arithmetical progression
गोपन निधि	Sinking fund	समान	Society
श्रम का विभाजन	Division of labour	समाप्य समापन	Social hierarchy
श्रमिक संघबंध	Syndicalism	समानतावाद	Equalitarian
श्रमिकान्तरण	Labour turnover	समानता	Amalgamation
श्रेणी	Guild	समुदाय परिभाषित	Overseas asset
श्रेणी समापन	Guild socialism	समाप्य	Simplification
संकल्पना	Concept	समाप्य	Proletariat
संक्रमण	Transition	समाप्य	Proletarianism
संघर्ष	Impact	सं संवय	Animism
संचय	Cumulative	सं संवय	Cooperator
संचयन	Cumulative interaction	समाप्य	Cooperative credit society
संचयन वृद्धि	Cumulative growth	समाप्य	Grant in aid
संचरण	Circulation	समाप्य	Statistical accident
संचार-माध्यम	Communication	समाप्य	Statutory agency
संज्ञ-निदान	Birth control	समाप्य	
संदर्भ-सूची	Bibliography note	समाप्य	
संबद्ध उपक्रम	Associate undertaking		

सांस्कृतिक विरासत	सामान्य तुष्टि	Marginal satisfaction
Cultural inheritance	सामान्य प्रवृत्ति	Marginal propensity
सांस्कृतिक समेपन	सामान्य मांग	Marginal demand
Cultural fertilisation	सामान्य योजनार्थ	Marginal schemes
सांस्थानिक उधारकता	संघात कर संघ	Customs union
Institutional borrower	संमित दायता	Limited liability
सांस्थानिक निवेशकता	युवननशास्त्र	Eugenist
Institutional investor	सुधार	Reformation
सांस्थानिक परिवर्तन	सुनाम	Goodwill
Institutional change	सूचक	Index
सांस्थानिक ढांचा	सूचकांक	Index number
Institutional framework	स्टॉक	Stock
साझेदार	स्टॉक का आर्जनदा	Stock jobber
Partner	स्त्री श्रमिक	Female labour
म-उत्प-उत्पन्न सारणी	स्थगित उपभोग	Postponed consumption
Input-output table	स्थानापन्न वस्तु	Substitutes
सापेक्ष	स्थानोपकरण	Localisation
Relative	स्थानीय प्राधिकरण, स्थानीय प्राधिकारी	Local authority
सामन्वय	स्थायी परिसंपत्ति	Fixed asset
Feudalism	स्थिति संबंध	Status relationship
सामन्वयकारी अधिकार	स्थूल परिसंपत्ति	Physical asset
Feudal rights	स्वचल नियंत्रण	Automatic control
सामाजिक गतिशीलता	स्वयं प्रभावोत्प्रेरित	Self-reinforcing process
Social mobility	स्वयंशुद्ध	Self liquidating
Social insurance	स्वैच्छा बचत	Voluntary saving
Social harmony	दूरद की आन्दोलन	Enclosure movement
Social security	हरण	Expropriation
Generalisation	हल्का उद्योग	Light Industry
Community development	हाना भरना	Underwriting
Communism	हार्दराइ	Rationalism
Equity	हमियत	Status
Mass education	होड़	Competition
Leisure class	ह्रासमान प्रक्रिया	Decreasing returns
Adventure		
Margin		
Marginal ratio		
Marginal proportionalities		
Marginal expenditure		

## अंग्रेजी-हिन्दी

Absentee ownership	दूरवामी स्वामित्व	Authority	प्राधिकारी, प्राधिकरण
Acceleration	त्वरण	Autocracy	कुलीनतन्त्र
Acceleration, sudden	आवृत्तिक त्वरण	Automatic control	स्वचल नियन्त्रण
Acquisitive	अन्वेषण	Balance of payment	सुगमन-पेप
Adventure	साहस	Bank, agricultural	कृषि बैंक
Afforestation	वनरोपण	Bank, central	केन्द्रीय बैंक
Age structure	आयु-रचना	Bank, commercial	व्यापारिक बैंक
Agreement	करार	Bank, development	विकास बैंक
Agricultural extension service	कृषि विस्तार सेवा	Bank, post office savings	डाकघर बचत बैंक
Agricultural officer	कृषि-अधिकारी	Barter	वस्तु विनिमय
Amalgamation	समासेपन	Bibliography note	सन्दर्भ-लिपि
Amortization	अल्प परिशोधन	Biological evolution	जीवशास्त्रिक क्रमिक विकास
Ancestor worship	पितृपूजा	Biological inheritance	जीवशास्त्रिक आनुवंशिकता
Animism	मूर्त्तमवाद	Birth control	संतान-नियन्त्रण
Anthropologist	मानव विज्ञानवादी	Bonafides	सद्भावपूर्ण
Anthropology	मानव विज्ञान	Breeding	प्रजनन
Anti-imperialist	प्रतिमहाशासकवादी	Bureaucracy	नौकरशाही
Apprenticeship	शिष्यता	Bureaucrat	नौकरशाह
Aristocracy, landed	भूस्वामी अभिजात-वर्ग	Cadastral survey	माल-पुस्तरी सर्वेक्षण
Aristocracy, political	राजकीय अभिजात-वर्ग	Capital, fixed	स्थिर पूँजी
Arithmetical progression	समान्तर श्रेणी	Capital, reproducible	पुनरुत्पादन योग्य पूँजी
Asceticism	व्रतित्व	Capital, working	कार्यकर पूँजी
Assembling	जुड़ाई	Capital accumulation	पूँजी संचय
Asset	परिमन्त्रि	Capital formation	पूँजी निर्माण
Asset, fixed	स्थायी परिमन्त्रि	Capital goods	पूँजीगत माल
Asset, overseas	समुद्रपार परिमन्त्रि	Capital income ratio	पूँजी-आय अनुपात
Asset, physical	स्थूल परिमन्त्रि	Capitalist employer	पूँजीवादी मालिक
Asset, real	वास्तविक परिमन्त्रि	Capitalist enterprise	पूँजीवादी उद्यम
Associate undertaking	सम्बद्ध उद्यम	Capital market	पूँजी बाजार
Assumption	पूर्वधारणा	Carrying capacity	धरती-सहनशक्ति
Authoritarian	सत्तावादी	Central planning	केन्द्रीय आयोजना

Chain store	शृङ्खला भण्डार	Co operative credit society	सहकारी उधार समिति
Child-bearing	गर्भ धारण	Co operator	सहकारा
Circulation	संचरण	Co ordination	समन्वय
Circulation, active	सक्रिय संचरण	Corollary	उपनिदान
Class, landless	भूमिहीन वर्ग	Counter-revolution	प्रतिक्रान्ति
Class, leisure	मात्रकाग वर्ग	Credit, agricultural	कृषि उधार
Class, managerial	प्रबन्धक वर्ग	Credit, bank	बैंक उधार
Classical economists	सम्प्रापक अर्थशास्त्री	'Credit Mobilier'	'उधार प्रबन्धक'
Class struggle	वर्ग संघर्ष	Creditworthiness	उधारयोग्यता
Coefficient	गुणांक	Cross reference	अ-योग्य संदर्भ
Cohesion	समन्वित	Cultural fertilisation	सांस्कृतिक संवेदन
Colonial Development Corporation	औद्योगिक विकास निगम	Cultural inheritance	सांस्कृतिक विरासत
Commercial bill	वाणिज्यिक बिल	Cumulative	संचयी
Commercial crop	वाणिज्यिक फसल	Cumulative growth	संचयी वृद्धि
Commercial sense	व्यापार-बुद्धि	Cumulative interaction	संचयी अन्तर्क्रिया
Commodity	एकक	Customs Union	समावेश-संघ
Communications	संचार साधन	Cyclical variation	चक्रवर्तन
Communism	साम्यवाद	Death duty	मृत्यु कर
Community development	सामुदायिक विकास	Deceleration	मंदन
Company, holding	नियन्त्रक कंपनी	Decline	गिरावट
Company, secretarial	सचिवालय कंपनी	Deflation	अवसादन
Comparative cost	तुलनात्मक लागत	Delegation	प्रतिनिधान
Compensation	सुझावता	Demand	मांग
Competition	प्रतियोगिता, टोड़	Demand, effective	प्रभावी मांग
Component process	घटक प्रक्रिया	Demand, elastic	सूक्ष्म-मापेज मांग
Concept	प्रत्यय, संकल्पना	Demand, inelastic	सूक्ष्म-परिपक्व मांग
Conservation	संरक्षण	Demand, marginal	सीमान्त मांग
Conservative	अनुशासक	Demonstration farm	प्रदर्शन फार्म
Consolidation of holdings	संयोजन	Depreciation	मूल्य-ह्रास
Conspicuous consumption	प्रदर्शन उपभोग	Depreciation rate	मूल्य-ह्रास का दर
Consumer goods	उपभोग्य पदार्थ, उपभोग्य वस्तुएँ	Determinant	निर्धारक
Contract	संविदा	Devaluation	मुद्रा अवमूल्यन
Convention	अभियोग	Dilution of skills	अवतृणन
		Director	निर्देशक
		Discretionary control	संश्लेषक नियंत्रण

Disequilibrium	असंतुलन	Employment, full	पूर्ण रोजगार
Distortion	विकृति	Enclosure movement	खेती के घेरे में परिवर्तन
Distribution	वितरण		
Dividend	लाभ	Energy	ऊर्जा
Division of labour	श्रम का विभाजन	Entrepreneur	उद्योगकर्ता
Dock	बंदरगाह	Entrepreneurial skill	उद्योगकर्ता की कौशल
Drainage	जल निकास	Environment	परिस्थिति
Durable	व्यक्त	Equalitarian	समानतावादी
Economic activity	आर्थिक क्रिया	Equipment	सज्जत
Economic efficiency	आर्थिक कुशलता	Equity	समानता
Economic growth	आर्थिक विकास	Establishment	स्थापना
Economy	आर्थिक व्यवस्था	Estate	राजस्व
Economy, closed	आर्थिक व्यवस्था, बंद	Estimate	अनुमान
Economy, free	आर्थिक व्यवस्था, स्वतंत्र	Ethical code	नैतिक आचार संहिता
Economy, industrial	आर्थिक व्यवस्था, औद्योगिक	Eugenist	युगनिक
Economy, infant	आर्थिक व्यवस्था, शिशु	Evolution	विकास
Economy, internal	आर्थिक व्यवस्था, आंतरिक	Exchange	विनिमय
Economy, open	आर्थिक व्यवस्था, खुला	Exclusive dealing	अनन्य बिक्री
Economy, planned	आर्थिक व्यवस्था, नियोजित	Exclusive license	अनन्य परमिशन
Economy, price	आर्थिक व्यवस्था, कीमत	Expectation of life	आयु का अनुमान
Economy, substance	आर्थिक व्यवस्था, वस्तु	Expropriation	अपहरण
Education, adult	शिक्षण, वयस्क	Extended family system	विस्तृत कुटुंब प्रणाली
Education, fundamental	शिक्षण, मूल	Extension of floor	फ्लोर का विस्तार
Education, mass	शिक्षण, जनसंख्या	Extension on worker	श्रमिक पर विस्तार
Education, primary	शिक्षण, प्राथमिक	Factor	कारक, घटक
Elementary patrilineal family	मूलभूत पुरुषवंशीय कुटुंब	Fallow	सूखी जमीन
Emigration	प्रवास	Family limitation	कुटुंब नियंत्रण
Employer	नियोक्ता	Fertility	जनसंख्या वृद्धि
Employment	रोजगार	Feudalism	फेडरलिज्म
		Feudal rights	फेडरल अधिकार
		Finance house	वित्त संस्थान
		Financial institution	वित्त संस्था
		Financial 'paper'	वित्त का कागज
		Fiscal system	वित्त प्रणाली
		Flexible	लचीला
		Fluctuation	उतार-चढ़ाव
		Foreign borrower	विदेशी उधारकर्ता
		Foreign exchange	विदेशी मुद्रा
		Fragmentation	खंडन



Freehold tenure	माफ़ी पत्ता	Industrial estate	औद्योगिक बस्ती
Free men	मुक्त लोग	Industrial Finance Corporation	औद्योगिक वित्त निगम
Free trade	मुक्त व्यापार	Industrialisation	उद्योगीकरण
Generalisation	सामान्य निकष	Industrial psychologist	उद्योग मनोविज्ञानी
Genetic composition	आनुवंशिक गठन	Industrial Revolution	औद्योगिक क्रांति
Goodwill	सुनाम	Industry, building	इमारत उद्योग
Grading	दृजावली	Industry capital intensive	पूने प्रधान उद्योग
Grant in aid	महायुक्त अनुदान	Industry, capital sparse	पनी वृत्त उद्योग
Guild	श्रेणी	Industry, cottage	कुत्तर उद्योग
Guild socialism	श्रेणी समाजवाद	Industry heavy	भारी उद्योग
Habitat	प्राकृतिक व म	Industry, infant	शिशु उद्योग
Hierarchy	पन्नीषान	Industry, key	मूल उद्योग
Hoarding	निमन्त्र	Industry light	हल्का उद्योग
Holding	चौन	Inefficient	अव्यय
Homogeneous community	समरूप समुदाय	Infanticide	शिशु हत्या
Housing	आवास-व्यवस्था	Inflation	मुद्रा स्थिति
Humanitarian	मानवतावादी	Inflation, hyper	अति स्थिति
Husbandry	कृषि क्रम	Inflation, runaway	उत्साहित स्थिति
Idealistic	आदर्शवादी	Initiative	पहल
Idle resources	निष्क्रिय साधन	Innovation	नवन प्रक्रिया
Immigrant	आप्रवासी	Input output table	साधन उद्योगन मापणी
Immigration	आप्रवासन	Instability	अस्थिरता
Impact	प्रभाव	Institution	संस्थान
Impersonal	अव्यक्तिगत	Institutional borrower	सांस्थानिक उधारकर्ता
Incentive	प्रेरणा	Institutional change	सांस्थानिक परिवर्तन
Income-elasticity	आय-प्रवणता	Institutional framework	सांस्थानिक ढरणा
Income elasticity of demand	माग का आय-प्रवणता	Institutional investor	सांस्थानिक निवेशकर्ता
Income, disposable	प्रदाय्य आय	Intelligence test	बुद्धि परीक्षण
Income, real	वास्तविक आय	Intensive cultivation	घनन कृषि
Increasing	बढ़ना	Inter governmental transfers	अन्तर्सरकारी स्थानान्तरण
Indentured	करारबद्ध		
Index	सूचक		
Index number	सूचकांक		
Indirect rule	अप्रत्यक्ष शासन		
Individualism	व्यक्तिवाद		
Industrial consultant	औद्योगिक सलाहकार		

Interim period	अंतरिम अवधि	Local authority	स्थानीय प्राधिकरण
Intermediary	विशेषज्ञ	Localisation	स्थानीयकरण
Intermediate buyer	मध्यवर्ती खरीदार	Longing	बाढ़
International Bank for Reconstruction and Development	अंतरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास क	Long run	दीर्घकाल
International flow	अंतरराष्ट्रीय प्रवाह	Maintenance	अनुसंरक्षण
Internationalist	अंतरराष्ट्रीयवादी	Maintenance expenditure	अनुसंरक्षण व्यय
Inter war period	अन्तयुद्ध अवधि	Manoeuvre	चातुर्य
Investment	पूंजी निवेश	Manufacture	विनिर्माण
Investment, annual net	वार्षिक निवल निवेश	Manumission	राम मुक्ति
Investment foreign	विदेशी निवेश	Man year	मनुष्य-वर्ष
Investment, gross fixed	कुल निश्चय निवेश	Margin	सामान्य
Investment international	अंतरराष्ट्रीय निवेश	Marginal expenditures	सीमान्त खर्च
Investment, long term	दीर्घकालीन निवेश	Marginal propensity	सीमान्त प्रवृत्ति
Investment goods	निवेश वस्तुएं	Marginal proportionalities	सीमान्त अनुपात
Kinship	भातृकारा	Marginal ratio	सीमान्त अनुपात
Labour, casual	अस्थायी श्रमिक	Marginal satisfaction	सीमान्त तृप्ति
Labour, child	बाल श्रमिक	Marginal schemes	सीमान्त योजनाएँ
Labour, female	स्त्री श्रमिक	Marketability	पस्यता
Labour, migrant	प्रवासी श्रमिक	Marketing	विपणन
Labour saving method	मेहनत बचाने की पद्धति	Market relationship	बाजारी सम्बन्ध
Labour turnover	श्रमिकावत	Marshall Aid	मार्शल सहायता
Laissez faire policy	निबंध नीति	Master craftsman	उस्ताद शिल्पी
Land register	भूमि रजिस्टर	Materialistic	भौतिकवादी
Layout	विन्‍याम	Matrilineal	मातृवर्तीय
Leaching	अभक्षण	Mature	परिपक्व
Liability	देयता	Mechanical engineering	यान्त्रिक इंजीनियरी
Liability limited	सीमित देयता	Mercantilist	व्यक्तवादी
Liability, unlimited	असिमित देयता	Method deductive	निगमन रीति
Liberalism	उदारतावाद	Method inductive	आगमन रीति
Lien	गहन	Methodism	पद्धतिवाद
Livestock	पशुधन	Methodology	निरूपण पद्धति
Lobbying	मताग्रह	Metropolitan country	उपनिवेशवादी देश

Middleman	मचलन	Optimist	आशावादी
Migration	प्रवासन	Ore	धातुक
Mining	खनन	Outer sterling areas	
Mixed farming	मिश्री जुला खेती		बाह्य स्टेरिंग क्षेत्र
Mobility	गतिशीलता	Outlay	परिव्यय
Mobility, occupational	व्यावसायिक गतिशीलता	Paid job	वैयक्तिक काम
Mobility, social	सामाजिक गतिशीलता	Partner	साथदार
Mobility, upward	ऊंच गतिशीलता	Patrilineal	पितृवंशीय
Mobility, vertical	उदय गतिशीलता	Pawnbroker	गिरवा दानान
Monarchy	राजतंत्र	Pecuniary	धन्य
Monetary authorities	मुद्रा प्राधिकारी	Performance	निष्पादन
Money cost	मुद्रास्वी लागत	Permit	अनुमति
Money income	मुद्रास्वी आय	Perquisites	भूमिद्वारा प्राप्त
Monopolistic tendency	एकाधिकारवादी प्रवृत्ति	Photosynthesis	प्रकाश-संश्लेषण
Monopoly	एकाधिकार	Piece-rate	उत्पत्ति
Monotheism	एकेश्वरवाद	Pioneer	अग्रणी, अग्रणी
Mortality, child	बाल मृत्यु-दर	Planting	पौधे रोपण
Mortality, infantile	शिशु मृत्यु-दर	Plantation	बागान
Multiplier process	गुणक प्रक्रिया	Political security	राजनीतिक सुरक्षा
Multi purpose river valley project	बहुमुला नदी घाटी प्रायोजन	Population, over	जनसंख्या
Multi year planning	बहुवर्षीय आयोजना	Population, under	जनसंख्या
National aspiration	राष्ट्रीय आकांक्षा	Postponed consumption	वर्धित उपभोग
National income	राष्ट्रीय आय	Potentialities	सम्भावनाएँ
Nationalisation	राष्ट्रियकरण	Potential productivity	संभाव्य उत्पादन
National output	राष्ट्रीय उत्पादन	Preference	अभिप्रेक्षा, तरकीब
Natural monopoly	प्राकृतिक एकाधिकार	Preferential restriction	तरतरी प्रति
Net	निवल	Prejudice	पूर्वग्रह
Observer	प्रेक्षक	Prestige	प्रतिष्ठा
Obsolete	अपवर्धित	Price discrimination	कीमत भेद
Occupation, gainful	आयकर प्रदान	Price mechanism	कीमत-तंत्र
Occupation, part time	अधकालीन	Price war	कीमत युद्ध
		Primary products	मूल्य उत्पादक वस्तु
		Primogeniture	प्राथमिक वंश
		Priority	अवस्था
		Private	निजी
		Private backers	निजी दाता

Processing	प्रसिद्ध करण	Rearmament	पुनर्गठनीकरण
Productivity	उत्पादन, उत्पादनक्षमता	Reconstruction	पुनर्निर्माण
Profit, scarcity	दुर्लभता लाभ	Reformation	सुधार
Profit, undistributed	प्रतिस्पर्धी लाभ	Reformation, Counter regulation	प्रति-विनियमन
Profit, unexpected	अप्रत्याशित लाभ	Regulator	नियन्त्रक
Profitability	लाभप्रता	Reinvestment	पुनर्निवेश
Profit-sharing	लाभ-संश्लेषण	Relationship, contractual	संविदा-सम्बन्ध
Progressives	प्रगतिवादी	Relationship, status	स्थिति-सम्बन्ध
Progressives, Non-project	प्रगति विरोधी	Relationship, wage	न्याय-सम्बन्ध
Proletarianism	सर्वजनवाद	Relative	सापेक्ष
Proletariat	सर्वजनवादी	Rent, fixed	स्थिर किराया
Prompt	तुरन्त	Rent, proportional	अनुपातिक किराया
Propensity to save	बचत-प्रवृत्ति	Rent, pure	शुद्ध किराया
Protection	सुरक्षण	Rent control	किराया-नियन्त्रण
Public administration	लोक-प्रशासन	Replacement	बदलाव
Public corporation	लोक-निगम	Reproduction	पुनरुत्पादन
Public ownership	लोक-स्वामित्व	Requisition	अधिग्रहण
Public service	लोक-सेवा	Reserve	रक्षित निधि
Public utilities	लोक-उद्योगी सेवाएँ	Resistance	प्रतिरोध
Public works	लोक-निर्माण	Restoration	पुनर्स्थापन
'Putting out' system	'घर-उत्पादन' पद्धति	Return, decreasing	हामनन प्रतिफल
Quantitative relationship	मात्रात्मक सम्बन्ध	Return, increasing	वर्द्धमान प्रतिफल
Quantity discount	मात्रात्मक रिकॉन्ट	Revenue	राजस्व
Radical	उत्सर्धी	Revivalist	पुनरुत्थानवादी
Rate, birth	जन दर	Revolving basis	चक्रवर्ती आधार
Rate, death	मृत्यु-दर	Rotation of crops	फसलों का हेर फेर
Rationalism	हेतुवाद	Salary earning middle class	वेतनवादी मध्य वर्ग
Raw material	कच्चा माल, कच्चा मानान	Salesman	बिक्रीकर्ता
Reactionary	प्रतिक्रियावादी	Saving	बचत
Real cost	वास्तविक लागत	Saving, disposable	इच्छित बचत
Real increase	वास्तविक वृद्धि	Saving, forced	बलापूर्वक
Real social cost	वास्तविक सामाजिक लागत	Saving, level of	बचत-स्तर
		Saving, mature	परिपक्व बचत
		Saving, small	छोटी बचत
		Saving, voluntary	स्वेच्छा बचत